गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R ८५
पुस्तक संख्या आ८शा भा. १६
आगत पंजिका संख्या 20002

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

113016

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHAR BAZAR ROORKEE

स्टाक [illegible] १९८४-१९८५

[illegible]
[illegible] BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

भाग सं. - १६

साहित्य-सन्देश आगरा
की
१९५५-५६ की फाइल की

1973
20005
20005
पुस्तक सं०..........
आगत सं०..........
तिथि..........

विषय-सूची

१. अधुना साहित्य-निर्माण की मूल प्रवृत्तियाँ	—श्री रामवरणसिंह 'सारथी'	१५७
[illegible] अमरबेल—एक आलो० अध्ययन	—श्री सुन्दरलाल	२७२
३. असमिया अंकिया नाटक : एकाङ्की	—प्रो. विरंचिकुमार बरुआ, एम. ए., पी-एच-डी.	७५
४. आचार्य भिखारीदास—रीतिकालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्य	—श्री राधाकृष्ण राय एम. ए.	४६६
५. आचार्य शुक्ल और साधारणीकरण	—श्री कुमार 'विमल' एम. ए.	२३३
६. आधुनिक संसार को रवी[illegible] की देन	—श्री नन्दन झा, 'चाँद'	१७६
७. आधुनिक आंग्ल नाटक की रूपरेखा	—प्रो. तपेशकुमार चतुर्वेदी	८५
८. आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य	—श्री यदुनाथसिंह 'निराध'	४००
९. आलोचना का आधार वाद या शास्त्र	—श्री रामप्रसाद एम. ए.	३११
१०. [illegible]ों से उपेक्षित—ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य	—श्री गंगाप्रसाद कमठान	२५०
११. उपन्यास में मनोविज्ञान	—श्री विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'	१९३
१२. उर्दू साहित्य में नाटक कला	—श्री शाह नसीर 'फरीदी' एम. ए.	५९
१३. उत्कल नाटक का संक्षिप्त परिचय	—श्री अनसुइयाप्रसाद पाठक	७७
१४. उड़िया नाटकों की प्रवृत्तियाँ	—श्री उपेन्द्रकुमार दास एम. ए.	७२
१५. एक विशाल दोहा संग्रह—'दूहा-सार	—श्री अगरचन्द नाहटा	४९२
१६. एकांकी नट्य-कला	—प्रो. त्रिलोचन पाण्डेय एम. ए.	१३१
१७. कचनार एक अध्ययन	—श्री सत्यभूषण एम. ए.	४४९
१८. कहानी की सीमाएँ	—श्री महीवर नाग	४३०
१९. कबीर की साखियों का अध्ययन	—प्रो. उमानन्द सारस्वत एम. ए.	३२०
२०. कवित्त रत्नाकर में ऋतु-वर्णन	—प्रो. राजेन्द्र मोहन 'नलिन' सा० रत्न	२८३
२१. कर्नाटक का दास वांग्मय	—श्री टी. श्रीनिवास	४८९
२२. कन्नड़ का नाटक साहित्य	—श्री एम. एस. कृष्णमूर्ति	१७
२[illegible]ती में नारी का स्वरूप	—श्री ऋषिगोपाल राधाकृष्ण एम. ए.	२०२
२४. काव्य भाषा का स्वरूप	—प्रो. चन्द्रवलीसिंह एम. ए. सा. रत्न	२६८
२५. काव्येषु नाटकं रम्यम्	—श्री गुलाबराय एम. ए.	५
२६. काव्य में वैयक्तिकता	—श्रीधरसिंह एम. ए.	३५१

२७. 'कुरुक्षेत्र' और उसका सर्ग —श्री शम्भुनारायणलाल एम. ए. २६८
२८. कृष्ण काव्य में प्रबन्धकाव्य का अभाव क्यों ? —श्री कृष्णकान्त चौधरी एम. ए. ३६४
२९. क्या हिन्दी का प्रगतिवाद मार्क्स-दर्शन की देन है ? " " ४८२
३०. गद्यकार दौलतराम —श्री रवीन्द्रकुमार जैन एम. ए., सा. रत्न ४७२
३१. गद्य काव्यकार प्रसाद —प्रो. प्रेमचन्द एम. ए. २०५
३२. गीतिकाव्य की आत्मा का स्वरूप —प्रो. तपेशकुमार चतुर्वेदी १५५
३३. गुप्तजी के नारी पात्र —श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम. ए. ३७५
३४. गुजराती नाटक का विकास —श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम. ए., पी-एच-डी. ६१
३५. गुरु गोविन्दसिंहजी की कुछ हिन्दी रचनाएँ —प्रो. महीपसिंह एम. ए. ४५२
३६. घनानन्द-कवित्त का कला पक्ष —प्रो. शिवबालक शुक्ल एम. ए. ४४०
३७. छन्द-विकास पर संक्षिप्त दृष्टि —श्री सन्तकुमार टण्डन 'रसिक' बी. ए. ३९१
३८. छायावाद की त्रुटियाँ —श्री कृष्णनन्दनप्रसाद 'अभिलाषी' एम. ए. २६
३९. छायावाद : विशेषताएँ और सीमाएँ —प्रो. रवीन्द्र एम. ए.
४०. तमिल भाषा के नाटक —प्रो. टी. शेषाद्रि एम. ए. ३६
४१. तुलसी की उपासिका शबरी की भक्ति (मातृ भाव या पत्नी भाव की ?) —प्रो. गोपीनाथ तिवारी एम. ए. २३
४२. तेलुगु के लोक-प्रिय कवि जि० जाषुवा —श्री दुर्गानन्द सा. रत्न ४१५
४३. तेलुगु नाटक साहित्य —श्री न. बि. राजगोपालन ३१
४४. द्विवेदीयुग में प्रसादजी की भूमिका —श्री सौमित्र एम. ए., सा. रत्न २५५
४५. द्विवेदीकालीन नाट्य साहित्य —प्रो. तारकनाथ वाली एम. ए. ११२
४६. दो निबन्धकार —श्री मोहनलाल अवस्थी 'मोहन' २९२
४७. नई कविता पर लोकगीतों का प्रभाव —श्री मुरली मनोहर प्रसादसिंह ४८६
४८. नाटककार प्रसाद और उनका युग —प्रो. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम. ए. ११४
४९. नाटक में अनुकरण की समस्या —प्रो. गोपीनाथ तिवारी एम. ए. ४०९
५०. नाटकों में दुःखान्त तत्व— —श्री म. व. राय तथा श्री ओ. ना. राय १४
५१. नाडहत्तमिल और तमिल नाटक —श्रीमती आनन्दी परमेश्वरन २१
५२. निशा-निमंत्रण और बच्चन —प्रो. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम. ए. २
५३. निराला की प्रयोगशीलता —श्री कृष्णदेव झारी २१
५४. पद्मावत : एक परिशीलन —डा० नगेन्द्र एम. ए., डी. लिट्० ४६
५५. पारिभाषिक शब्द-कोष —डा० कन्हैयालाल सहल एम०ए०, पी-एच०डी० ४७
५६. प्रेमचन्द और मैक्सिम गोर्की की साहित्य-साध की पृष्ठभूमि —श्री शीतल साहित्यालङ्कार ३२
५७. प्रसादोत्तरीय युग के नाटकों की प्रवृत्तियाँ —श्री विश्वम्भरनाथ एम० ए० ११
५८. प्रकृति वर्णन में रस —श्री रामेश्वरलाल खण्डेलवाल एम० ए०, पी० एच० डी० २७

५७. प्रयोगवादी कवि की मानसिक पृष्ठभूमि —श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम. ए. ४८७
५८. बङ्ग-सम्मेलन में हिन्दी परिषद —श्री गुलाबराय एम. ए. उद्घाटन भाषण से २४७
५९. बङ्ग सम्मेलन में हिन्दी परिषद —श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सभा. पद से भा. २४९
६०. बिहारी रत्नाकर में शब्दार्थ सम्बन्धी भूलें —श्री रसिकेन्दु [illegible]
६१. बिहारी सतसई की प्राचीन टीकाएँ —श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, एम. ए. ४३२
६२. भक्तिकाल की निर्गुण ज्ञानभक्ति —श्री विष्णुकान्त शास्त्री एम० ए० १०९
६३. भोजपुरी के शेक्सपीयर : भिखारी ठाकुर —श्री हृदयनाथ 'त्रिपाठी' कुमारेश १२४
६४. भाव, भाषा और साहित्य —श्री नेमिशरण मित्तल एम० ए० २८५
६५. भारतीय काव्य में मानवीकरण की परम्परा —प्रो. गणपतिचन्द्र गुप्त एम. ए., सा० र० ४३६
६६. 'भारत दुर्दशा' क्या नाट्य रासक है ? —श्री गोपीनाथ तिवारी एम० ए० २७६
६७. भारतेन्दु की मुकरियाँ —श्री शीतल साहित्यालङ्कार ४३९
६८. महाकवि स्वयंभूदेव और गो० तुलसीदास —श्री अजबैनीनाथप्रसाद बी० ए० १९२
६९. महाकवि मतिराम और उनकी काव्य-कला —श्री राधाकृष्ण एम० ए० २९९
७०. मम्मट का ध्वनि स्थापन —प्रो० बसन्तलाल शर्मा एम० ए० ३५१
७१. युद्धोत्तर विश्व-उपन्यास की भूमिका —श्री चिदानन्द एम० ए० ६८
७२. यशपाल : उपन्यास विकास रेखा का धरातल —श्री बालमुकन्द मिश्र ७१
७३. राजस्थानी साहित्य में रहस्यवाद की एक झलक —श्री राधेबिहारीलाल सक्सैना 'राकेश' २७४
७४. रासो शब्द की व्युत्पत्ति —प्रो० जयभगवान गोयल एम० ए० ४१३
७५. रीतिकाल में विद्रोही कवि भैया भगवतीदास —श्री रत्नचन्द जैन 'रत्नेश' बी. ए., सा. र. ४६४
७६. लोकगीतों में समान भावधारा —प्रो० श्रीधर मिश्र एम० ए० ७९
७७. व्यङ्गकार निराला —श्री यदुनाथ मिश्र एम० ए० ४५१
७८. वैदिक साहित्य-स्रोत में प्राप्त कृषक जीवन के कुछ शब्द —डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ४७१
७९. शब्द का रूप एवं अर्थ-परिवर्तन —श्री उपेन्द्र साहित्याचार्य ३१४
८०. शब्द शक्ति : उसका सदुपयोग और दुरुपयोग —श्री भवदेव झा एम० ए० (रि० स्कालर) १४५
८१. समस्यामूलक उपन्यास —प्रो० महेन्द्र भटनागर एम० ए० १३
८२. सूरसागर में रामकथा —श्री गार्गी गुप्ता ११२
८३. साहित्य में रेखाचित्र —प्रो० प्रेमचन्द्र एम० ए० ११६
८४. स्थायी साहित्य —प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० १५७
८५. सोवियत उपन्यास —प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए० १७३
८६. सन्त मलूकदासजी रचित पाण्डव विजय —श्री अगरचन्द नाहटा १७७
८७. साहित्य में नीति और दर्शन —आचार्य 'प्रवासी' एम० ए० १८७
सन्त चरणदास के प्रशिष्य नित्यानन्द के दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ —श्री अगरचन्द नाहटा
८९. संस्कृत और अपभ्रंश वांगमय से प्रभावित तुलसी साहित्य —श्री गङ्गाप्रसाद कमठान बी० ए० २२९

९०. साहित्य में संदिग्धता —श्री अप्पालु पी० हिन्दी पण्डित २६५
९१. संस्कृत साहित्य में अलङ्कारों का जन्म और उनकी परम्परा --श्री वीर राधाकृष्ण हुण्डू, शास्त्री ३१०
९२. सर्वोदय क्रान्ति के अग्रदूत गो० तुलसीदास --श्री नेमिशरण मित्तल, एम० ए० ३१७
९३. सिन्ध के महाकवि सन्त 'सचल' —श्री हीरालाल पण्डित, बी० ए०, बी० टी० ३०६
९४. साहित्य में सौन्दर्य —प्रो. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० ३४७
९५. सन्. १९५६ की हिन्दी-कविता —प्रो. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' एम० ए० ३६८
९६. सूरदास व्यक्तित्व, उनके विचार और दर्शन —डा. दीनदयालु गुप्त एम. ए., डी. लिट्. ३९३
९७. सन् १९५६ की कविता की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ --प्रो. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम. ए. ३९७
९८. साहित्य की वस्तु --श्री रामचन्द्रसिंह ४२७
९९. साहित्य और राजनीति --श्री रमेशकुमार ५१
१००. श्रावक निर्मलदास कृत पञ्चाख्यान भाषा --श्री अगरचन्द नाहटा ७३
१०१. हिन्दी के कुछ नये यथार्थवादी उपन्यास --प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम. ए. ३०
१०२. हिन्दी के कुछ प्रयोगकालीन उपन्यास —प्रो० आनन्दनारायण शर्मा ३७
१०३. हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास —प्रो० राजेश्वर गुरु एम० ए० ३१
१०४. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यास --श्री मुरलीमनोहरप्रसाद एम० ए० २७
१०५. हास्यरस के उपन्यास —डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी एम० ए० ४१
१०६. हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास ---श्रीमती विमलेशसहाय आनन्द, एम० ए० ४३
१०६. हिन्दी उपन्यास में सेक्स --श्री मूलचन्द सेठिया ५२
१०८. हिन्दी उपन्यास सा० की नवीन परम्परा —श्री विष्णुकिशोर बेचन, एम० ए० ५७
१०९. हिन्दी उपन्यास कला संक्रान्ति युग --प्रो० नन्दकिशोर राय एम० ए० ६१
११०. हिन्दी उपन्यास में लोकरंजन के नये क्षितिज —डा० रांगेयराघव एम० ए०, पी-एच० डी० ८८
१११. हिन्दी में अभिताभ की आभा --श्री रामप्रकाश अग्रवाल एम० ए० १२२
११२. हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचक स्वरूप --डा० मोहनलाल एम० ए०, पी एच० डी० १६२
११३. हिन्दी साहित्य के अध्यात्मवादी रत्न : कविवर बनारसीदासजी --श्री रतनचन्द्र जैन 'रत्नेश' बी. ए., सा. र. १९५
११४. हिन्दी का नवीनतम महाकाव्य—'पार्वती' —श्री रामरजपाल द्विवेदी, एम० ए० २०९
११५. हिन्दी कहानी में समाज चित्रण --प्रो० जयनाथ 'नलिन' एम० ए० २४१
११६. हिन्दी साहित्य का प्रस्तावना काल —प्रो० गोवर्द्धन शर्मा एम० ए०, सा० र० २६६
११७. हिन्दी निबन्ध : उपलब्धियाँ तथा सम्भावनायें —श्री हरिनारायण मिश्र ३१९
११८. हिन्दी में आज का निबन्ध साहित्य —श्री हेमन्तकुमार एम० ए०, एम० डी० ४४५

मूल्य ५.०० **डाकव्यय पृथक् ।**

इसके अतिरिक्त साहित्य-सन्देश के 'भाषा-विज्ञान विशेषाङ्क' की बहुत माँग रही अतः हमने उसे पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है। पुस्तक का नाम भाषा-विज्ञान परिचय' मूल्य २॥) है।

प्राप्ति-स्थान —साहित्य-रत्न-भण्डार, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

त:प्रान्तीय नाटकांक

जुला
[illegible]
१९५

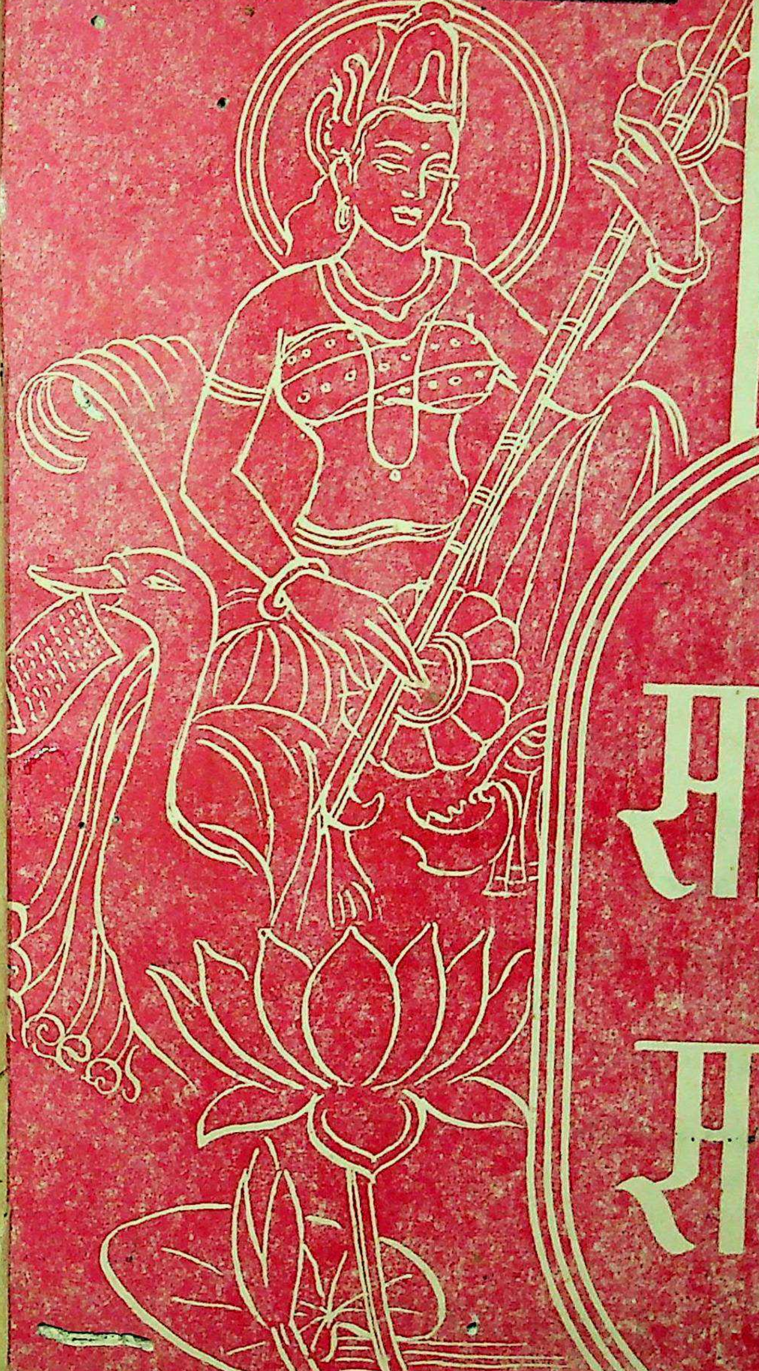

साहित्य सन्देश

वर्ष १७
अङ्क १-

सभी प्रकाशकों की

हिन्दी की पुस्तकें

हमारे यहाँ मिलती हैं

हमें यह बात घोषित करते हुये तनिक भी सङ्कोच नहीं होता कि हमारा भण्डार हिन्दी की पुस्तकों के लिये सबसे पुराना और सबसे बड़ा स्थान है—ऐसे बहुत कम स्थान हैं जहाँ हिन्दी की सभी पुस्तकें रहती और मिलती हैं। आपका यह भण्डार उनमें प्रमुख है।

अतएव

पुस्तकालय, कालेज, या अन्य कोई संस्था हो—यदि वहाँ हिन्दी की पुस्तकों की आवश्यकता है तो सबसे पहले यहीं को लिखना चाहिए। हिन्दी पुस्तकों की सभी विषयों की पूर्ति यहाँ हो जायगी।

आप किसी भी प्रकार की हिन्दी पुस्तक सम्बन्धी सेवा के लिए निःसङ्कोच लिखिये, हमारे यहाँ से सन्तोष जनक उत्तर आपको मिलेगा।

सञ्चालक—

साहित्य-रत्न-भण्डार

२५ गान्धी मार्ग, आगरा।

साहित्य-सन्देश (अन्तः प्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क)

सम्पादक— गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

विषय-सूची—

१—हमारी विचार धारा—	सम्पादक	१
२—काव्येषु नाटकं रम्यम्—	श्री गुलाबराय एम० ए०	५
३—भारतीय रङ्गमञ्च का विकास—	प्रो० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०	८
४—नाटकों में दुःखान्त तत्त्व—	श्री मा० व० राय तथा श्री उ० ना० राय	१४
५—संस्कृत नाटकों में रस—	प्रो० लाल रमायदुपालसिंह एम० ए०	१९
६—नाडहत्तमिल और तमिल नाटक—	श्रीमती आनन्दी परमेश्वरन	२१
७—मराठी रङ्गमञ्च—आरम्भ, उत्कर्ष, पतन—	श्री र० श० केलकर एम० ए०	२५
८—कन्नड़ का नाटक साहित्य—	श्री एम० एस० कृष्णमूर्ति	२७
९—तेलुगु का नाटक साहित्य—	श्री न० वी० राजगोपालन	३१
१०—तमिल भाषा के नाटक—	प्रो० टी० शेषाद्रि एम० ए०	३६
११—मलयालम नाटक साहित्य का विकास—	श्रीमती रत्नमयी देवी दीक्षित एम० ए०	४०
१२—आधुनिक आंग्ल नाटक की रूप रेखा—	प्रो० तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०	४५
१३—संस्कृत नाटकों में सामाजिकता—	प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०	५१
१४—उर्दू साहित्य में नाटक कला—	श्री शाह नसीर फरीदी एम० ए०	५९
१५—गुजराती नाटक का विकास—	डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम. ए., पी-एच. डी.	६१
१६—राजस्थानी नाट्य-परम्परा—	श्री गोवर्द्धन शर्मा एम० ए०	६७
१७—मराठी नाट्य और रङ्गभूमि—	श्री श्रीनिवास नारायण बनहट्टी एम० ए०	६९
१८—उड़िया नाटकों की प्रवृत्तियाँ—	श्री उपेन्द्रकुमार दास एम० ए०	७२
१९—असमिया अंकिया नाट : एकाङ्की—	प्रो० विरंचिकुमार बरुआ एम. ए., पी-एच. डी.	७५
२०—उत्कल नाटक का संक्षिप्त परिचय—	श्री अनसूयाप्रसाद पाठक	७७
२१—भारत के पाँच श्रेष्ठ नाटककार—	श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०	७९
२२—हिन्दी नाटक साहित्य—	डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०	८९
२३—हिन्दी के नाटककार और उनके नाटक— (उनकी अपनी कलम से)	(१) सेठ गोविन्ददास	९२
	(२) श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'	९३
	(३) श्री वृन्दावनलाल वर्मा	९४
	(४) आचार्य चतुरसेन शास्त्री	९५
	(५) पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	९७
	(६) श्री उदयशङ्कर भट्ट	९८
	(७) श्री राधेश्याम कथावाचक	९९
	(८) श्री रामनरेश त्रिपाठी	१००
	(९) डॉ० रामकुमार वर्मा	१०१
	(१०) श्री जी० पी० श्रीवास्तव	१०३

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा के प्रकाशन

आलोचना

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०	६॥)
हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ—रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०	३॥)
ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र	८)
कला कल्पना और साहित्य— ,, ,,	४।)
प्रेमचन्द उनकी कहानी कला— ,, ,,	३)
साहित्य की झाँकी— ,, ,,	१॥)
गुप्तजी की कला— ,, ,,	२)
हिन्दी एकाङ्की— ,, ,,	२॥)
प्रसादजी की कला—गुलाबराय एम० ए०	३)
हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—,,	३।)
साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र	३)
सुमित्रानन्दन पन्त— ,,	३)
आधुनिक हिन्दी नाटक— ,,	२)
लिपि विकास—राममूर्ति मेहरोत्रा	।।।)
रसज्ञ रञ्जन—महावीरप्रसाद द्विवेदी	१।)
भाषा भूषण—जसवन्तसिंह	१)
प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी—कृष्णकुमार सिन्हा	१)
हिन्दी गीति काव्य—ओमप्रकाश अग्रवाल	३)
कालिदास उनका रघुवंश—रा० प्र० सारस्वत	१।)
गङ्गावतरण दीपिका—रामचन्द्र श्रीवास्तव	१।)
परीक्षार्थी प्रबोध (प्रथम खण्ड)—	३)
,, ,, (द्वितीय खण्ड)—	३)
,, ,, (तृतीय खण्ड)—	३)
,, ,, (चतुर्थ खण्ड)—	३)
भारतेन्दु उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवि—किशोरीलाल गुप्त एम० ए०	।।।)

कविता

देवार्चन (महाकाव्य)—करील	५)
अवकाश के क्षण—शकुन्तला वर्मा	।।।)
नैवेद्य—चातक	१॥)
प्रतिच्छाया—होमवती	॥)
रघुवंश (पद्यानुवाद)—रा० प्र० सारस्वत	१॥)
पूजा (खण्ड काव्य)—रामप्रसाद विद्यार्थी	१)
शुभ्रा ,, ,, — ,, ,,	॥)
संक्षिप्त गीतावली—गो० तुलसीदास	॥)

नाटक

सत्य हरिश्चन्द्र (सटीक)—भारतेन्दु	।।।)
सुदामा चरित्र (सटीक)—नरोत्तमदास	॥=)
तुलसीदास—बद्रीनाथ भट्ट	१॥)
चुङ्गी की उम्मेदवारी—,,	।=)
मुद्राराक्षस (सटीक)—भारतेन्दु	१॥)
शकुन्तला नाटक—राजा लक्ष्मणसिंह	१॥)

कहानी

चार मुसाफिर (उर्दू)—शौकत उस्मानी	।।।)
अनमोल कहानियाँ (उर्दू) ,, ,,	।।।)
पुष्प-छटा—प्रो० विमल	२॥)

राजनीति

भारतीय राष्ट्रीयता—देवदूत विद्यार्थी	१।।।)

हास्यरस

न नर न नारी—	।।।)

ग्रामोपयोगी

गाँव की बोली—रमेश वर्मा	।।।)
गाँव की बातें— ,,	।।।)
ढोरों का इलाज— ,,	॥=)
घरेलू इलाज— ,,	॥)
गाँव के गीत (पुरुषों के)	॥)
गाँव के गीत (स्त्रियों के)	॥)
गाँव की सेहत— ,,	॥)

113016

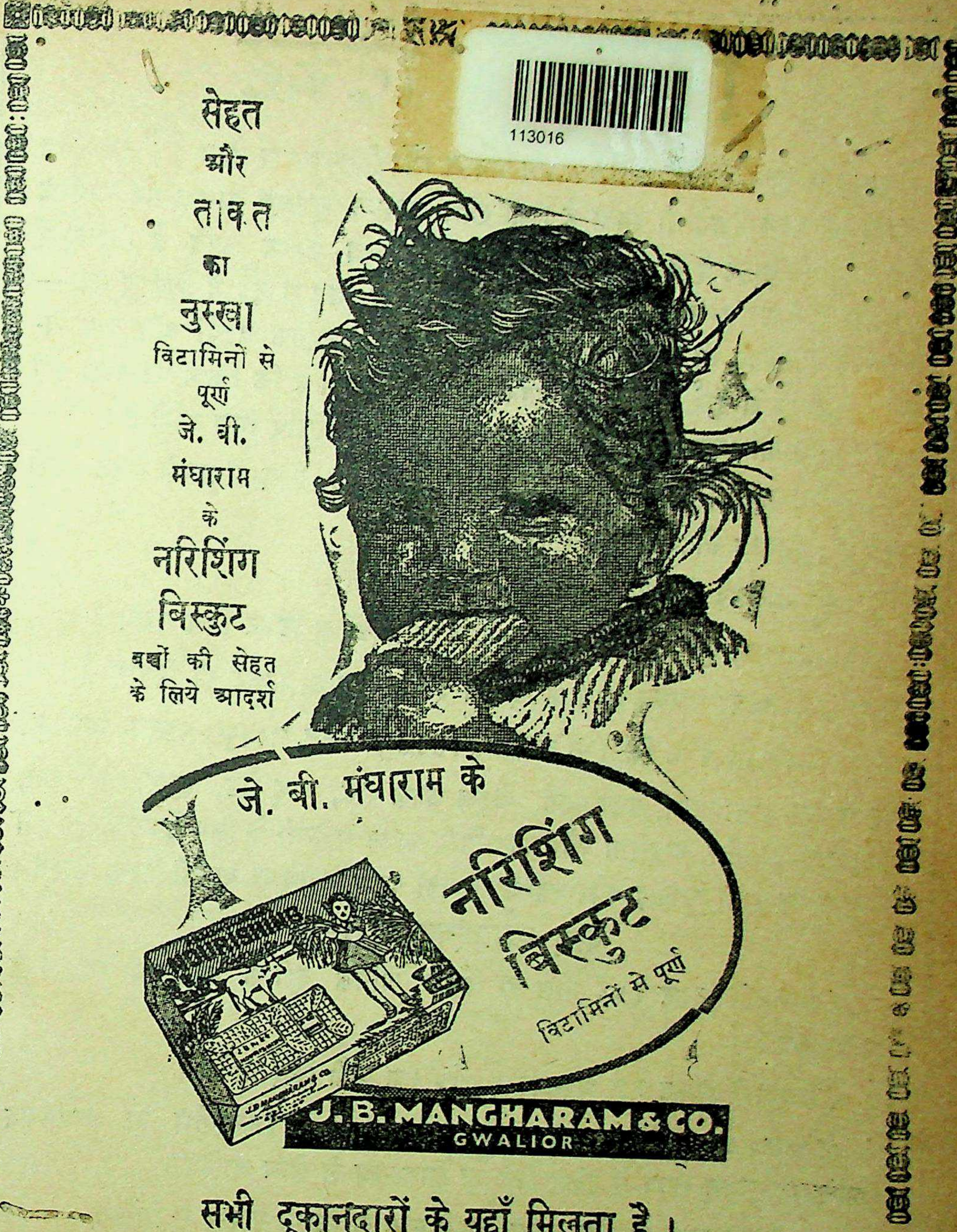
NOURISHING
J.B. MANGHARAM & CO.

सेहत
और
ताकत
का
नुस्खा
विटामिनों से
पूर्ण
जे. बी.
मंघाराम
के
नरिशिंग
बिस्कुट
बच्चों की सेहत
के लिये आदर्श

जे. बी. मंघाराम के
नरिशिंग
बिस्कुट
विटामिनों से पूर्ण

J. B. MANGHARAM & CO.
GWALIOR

सभी दूकानदारों के यहाँ मिलता है।

रियायती टिकट

पहाड़ के लिए सबसे अच्छा मौसम अगस्त और सितम्बर का होता है। उस समय पहाड़ों का दृश्य देखते ही बनता है। जो लोग स्वास्थ्य सुधारने अथवा सैर करने के लिए जाना चाहते हैं वे अधिकतर इन्हीं महीनों को पसन्द करते हैं। उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में उटकमण्ड तथा पश्चिम में आबू से पूर्व में शिलोंग तक—भारतवर्ष के जितने भी पहाड़ी स्थान हैं वे सब सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों और स्वास्थ्य-वर्धक जलवायु से पूर्ण हैं और वहाँ इतनी साधन सम्पन्नता है कि जितने भी यात्री वहाँ जाते हैं सभी को उनकी रुचि और साधन के अनुसार सुविधाएँ मिल जाती हैं।

भारतीय रेलों ने अप्रेल १९५५ से पहाड़ी स्टेशनों के लिए रियायती टिकट जारी किये हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है:—

किराया—ड्योढ़े किराये पर वापसी टिकटें मिलेंगी।

दर्जा—पहला, दूसरा, तीसरा और सर्वेण्ट सभी दर्जों के टिकट मिल सकेंगे।

मियाद—यात्रा प्रारम्भ करने के दिन से ३ माह तक टिकट की मियाद है।

स्थान—भारतवर्ष के किसी भी स्टेशन से शिमला, सोलन, धरमपुर, पञ्जाब, देहरादून, पठानकोट, काठगोदाम, उटकमण्ड, कोडल कवल रोड, आबू रोड, कूनूर, दार्जिलिंग, कुर्सियांग, शिलोंग, पीपरिया और कोटागिरी आउट एजेन्सी के लिए टिकट मिलते हैं। किराया रेल यात्रा में ड्योढ़ा और जहाँ बस है वहाँ दूना किराये पर वापसी टिकट मिलेंगे।

कुछ आवश्यक बातें—

ये रियायती टिकट १५० मील या इससे अधिक दूरी के लिए सभी स्टेशनों से मिल सकते हैं।

ये रियायती टिकट ३१ अक्टूबर १९५५ तक जारी किए जायँगे।

जो सज्जन जम्मू और काश्मीर जाना चाहें उन्हें अपने जिलाधीश या सम्बन्धित अधिकारी से उस राज्य में प्रवेश होने का आज्ञा-पत्र ले लेना चाहिए।

पूरी जानकारी के लिए कृपया अपने पास के स्टेशन मास्टर से मिलिए।

उत्तरीय रेलवे

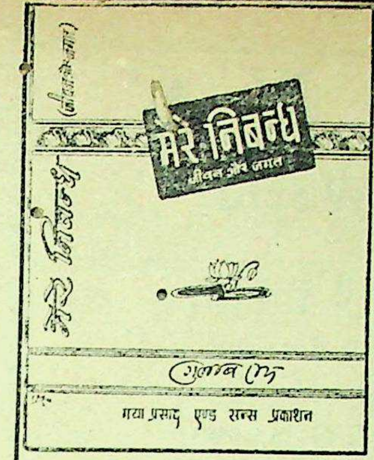

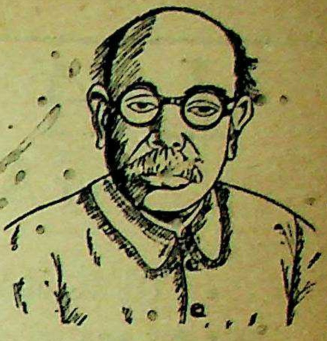

हिन्दी-जगत के प्रसिद्ध लेखक
बाबू गुलाबराय एम० ए० की नवीन रचना

* मेरे निबन्ध *

(जीवन और जगत्)

पृष्ठ २४४, मूल्य ५)

इन निबन्धों में जीवन और जगत् से प्राप्त अनुभूतियाँ हैं और उन पर लेखक की शैली और उसमें व्यक्त होने वाले व्यक्तित्व की छाप है। यही पुस्तक के शीर्षक की सार्थकता है।

हिन्दी के वयोवृद्ध विद्वान् बाबू गुलाबरायजी के वैयक्तिक, व्यापार सम्बन्धी, मनोविज्ञान सामाजिक और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक निबन्धों का यह ग्रन्थ-संग्रह है। इन निबन्धों में अपने जीवन के दीर्घकालीन अनुभव, चिन्तन, विस्तृत अध्ययन है साथ ही हास्य का सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित कर देना उनका एक कौशल है। ……हमारा यह विश्वास है इस संग्रह का स्वागत होगा और इससे लोग ज्ञान के साथ-साथ मनोरञ्जन भी प्राप्त करेंगे।

—प्रकाशन समाचार

'श्रीमान् द्वारा भेजा निबन्ध-संग्रह 'मेरे निबन्ध' मिल गया है। आपकी सरस सजीव लेखनी इस वृद्ध अवस्था में और भी अधिक सरस हो गई है। भगवान से मेरी यही विनती है कि आपको स्वस्थ जीवन और दीर्घायु प्रदान करे ताकि आप इसी प्रकार साहित्य-सेवा करते रहें।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

हमारा उपन्यास-साहित्य

१—मरीचिका—	अनीता चट्टोपाध्याय	३॥)
२—समिधा—	,, ,,	४)
३—जलती चट्टान—	गुलशन नन्दा	३)
४—मोम के मोती—	रजिनी पानिकर	३॥)

हमारा बाल साहित्य

१—सरल अक्षर—	(Alphabet in Hindi)	१)
२—सरल अक्षर बोध—	(Hindi Primer)	।॥)
३—सरल शब्द बोध—	(Nursery Rhymes)	।॥)
४—सरल शब्द बोध—	(संयुक्त अक्षर)	॥)
५—होनहार बच्चे—	(Stories)	॥)
६—आदर्श नगर—	(नाटक)	॥)

सब प्रकार की हिन्दी साहित्य की, सब हिन्दी परीक्षाओं की पाठ्य तथा सहायक पुस्तकों का भण्डार।

सूचीपत्र के लिये हमें लिखियें। पुस्तकालय तथा शिक्षण संस्थाओं को विशेष सुविधा।

शारदा मन्दिर, नई सड़क, दिल्ली।

LAW BOOKS

For Any Law Book in the World

PLEASE CONTACT US.

OUR MAN WILL KNOCK AT YOUR DOOR.

We buy and sell second hand Law Reports (Indian & Foreign)
We are sole distributors of Madras Law Journal Publications
(For Utter Pradesh, M. P., M. B., Vindhya Pradesh & Rajasthan)

AND

Agents for Central & U. P. Govt. Publications.

Some of our latest books :—

1.	Mathrubutham & Srinivasan: Commentary on the Estate Duty Act, 1955.	Rs 25/-
2.	V. B. Raju: Commentary on the Evidence Act, 2 Vols. 1955.	Rs 32/-
3.	Aiyar & Mathrubutham: Advocacy Series :—	
	Vol. I Cross Examination 1953.	Rs. 20/-
	Vol. II Advocate—His Mind & Art, In Press.	
	Vol. III Legal Ethics. In Press.	
4.	S. D. Singh: U. P. Sales Tax Act, 1955.	Rs. 15/-
5.	Johari: U. P. Panchayat Raj Act, 1953.	Rs. 6/8
6.	Doabia: Law of Election and Elections Petitions, 1952.	Rs. 30/-
7.	Doabia: Election Cases, 1864—1950. 4 Vols.	Rs. 70/-
8.	Srivastava: Control of Rent & Eviction Act, 1955	Rs- 7/8
9.	S. D. Singh: U. P. Court Fees Act, 1955.	Rs. 10/-
10.	Srivastava: U. P. Zamindari Abolition Act, 1954.	Rs. 5/-
11.	Aiyar: Special Marriage Act, 1955.	Rs. 12/8
12.	Chadha: Joint Hindu Families and their Assessment, 1955.	Rs. 10/-

ASK FOR A DETAILED CATALGUE.

WADHWA & CO.

Law Booksellers & Publishers

56, M. G. Road,
Indore City.

45, Civil Lines,
Agra.

23, Gandhi Marg,
Allahabad.

❀ हिन्दी साहित्य के ग्यारह रत्न ❀

दीवान गालिब—उर्दू के महाकवि गालिब की रचनाएँ शब्दार्थ सहित। हिन्दी में प्रथम बार प्रकाशित और पाठकों द्वारा प्रशंसित इस सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल २॥)

महापुरुषों की प्रेम कथाएँ—ले० इलाचन्द्र जोशी। विश्व के महापुरुषों के जीवन की रहस्यमयी प्रेम कथाएँ। जिसमें शरतचन्द्र, वर्नार्ड शा, मीराबाई, चण्डीदास, महात्मा बुद्ध, बायरन, गेटे, नादिरशाह और डास्टा एवस्की मुख्य हैं। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥)

ससुराल—शौकत थानवी का हास्यरस का प्रसिद्ध उपन्यास। मूल्य १।॥)

खुदा न खास्ता—शौकत थानवी का दूसरा और नया हास्यरस का उपन्यास मूल्य २॥)

शैतान—शफीकुर्रहमान के प्रसिद्ध हास्य चरित्र 'शैतान' का चरित्र-चित्रण अपने ढङ्ग की अनोखी कृति है। मू० १।॥)

उजाला—सरदार बलवन्तसिंह का नया रोमाण्टिक उपन्यास। मूल्य २॥)

पंजाब की कहानियाँ—बलवन्तसिंह की पंजाब के ग्राम्य-जीवन पर लिखी गई सात कहानियाँ और तीन लघु उपन्यासों का सङ्कलन। मूल्य ३)

रात और शहनाई—प्रसिद्ध कवि रमानाथ अवस्थी के लुभावने गीतों का संकलन। मूल्य २)

हमारा गांधी वापस करो—शरद की वे प्रसिद्ध कहानियाँ जो गांधीजी पर लिखी गई हैं। मू० १)

नारी का रूप—पाल बर्जे के प्रसिद्ध रोमाण्टिक उपन्यास का अनुवाद मूल्य २॥)

निकम्मा—तरुण उपन्यासकार जितेन्द्र का नया उपन्यास। मूल्य २॥)

प्रकाशक—लहर प्रकाशन, इलाहाबाद २

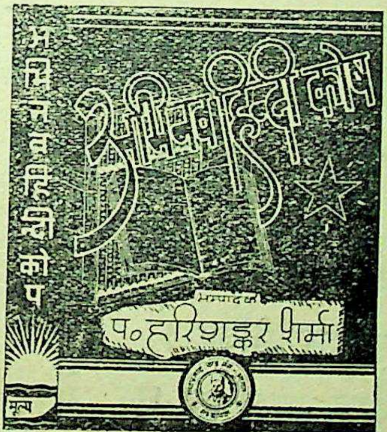

❀ हमारे उत्कृष्ट कोष ❀

* अभिनव हिन्दी कोश *

सम्पादक—पं० हरिशङ्कर शर्मा

इस कोष में हिन्दी-साहित्य में प्रचलित हजारों शब्दों के अर्थ संगृहीत हैं। साथ ही संविधान शब्दावली भी। अपने ढङ्ग का अनूठा प्रयास। पुस्तक साहित्य-प्रेमियों, पुस्तकालयों व सुगम वर्ग पहेली हल करने वालों के लिये सहायक सिद्ध होगी। पृष्ठ ५०८, मूल्य ८)

* हिन्दुस्तानी कोष *

सम्पादक—पं० हरिशङ्कर शर्मा

उर्दू न जानने वालों के लिये नागरी-लिपि में उर्दू-साहित्य का अनुशीलन करने का सुलभ साधन! पृष्ठ संख्या ६३१, मूल्य ६)

हिन्दुस्तानी कोष
आगरा

अभिनव अंगरेज़ी-हिंदी कोश
अभिनव अंगरेज़ी-हिंदी कोश

* अभिनव अंग्रेजी हिन्दी कोष *

वैसे तो बहुत से अंग्रेजी हिन्दी कोष हैं परन्तु अब जब कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी है इस कोष से आपको सही शब्दार्थ ज्ञात करने में बड़ी सुगमता होगी। पृष्ठ संख्या ६८६, मू० ७)

प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड सन्स,

Telegram : "Salesco." *For Your* *Tel-phone 1179*

Scientific Requirements

Please Remember

The Sales Corporation (India) Ltd.
RAJAMANDI, AGRA.

An Institutionalised Servive that you can reckon on from us It is best for you to grip the availablity of :—

CHEMICAL, PHYSICAL, BIOLOGICAL & ZOOLOGICAL
APPARATUSES

Such as :—

- Chemically pure Acids
- Stains dry and Solutions
- Disseciting Instruments
- Incubators, & Ovans
- Porcelain & Sillica wares &
- Barometers, Thermameters
- Prepared Slides
- Chemicals (Organic & inorganic)
- Models & Charts Botonical &
- Glasswares Pyrex, Sigcol & Indian
- Centriguges machines
- Microscopes, Student, Disseciting
- Zoological
- Balances Physical, Chemical & Analitical

Small Deposits are accepted @ 6% to 7½% per annum from Teachers only.
Please write for terms.

बी० टी० घृत परीक्षण यन्त्र

(B. T. BOX)

द्वारा घृत की परीक्षा कर शुद्ध घृत का व्यवहार कीजिए ।

शुद्ध घी व्यवहार में लाने के लिए उपरोक्त यन्त्र हर घर में होना परम आवश्यक है ।

आज ही एक बी० टी० घृत परीक्षण यन्त्र खरीद कर लाभ उठाइए ।

मूल्य बड़ा बक्स
१०)

मूल्य छोटा बक्स
७)

दी सेल्स कारपोरेशन (इण्डिया) लिमिटेड, राजामण्डी आगरा ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

साहित्य-सन्देश

भाग १७] आगरा—जुलाई-अगस्त, १९५५ [अङ्क १–२

हमारी विचार-धारा

हमारा यह अङ्क —

उदार पाठकों की कृपा से साहित्य-सन्देश जुलाई के अङ्क के साथ सत्रहवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इस काल में यह पत्र विद्यार्थियों तथा शिक्षित समाज की सेवा कर सका है, वह सब विद्वान लेखकों तथा गुण ग्राहक पाठकों के योग-दान का फल है। इन सत्रह वर्षों में साहित्य-सरिता ने कई मोड़ लिये और लोगों की साहित्यिक अभिरुचि में भी थोड़ा-बहुत अन्तर आया किन्तु हमने यथा सम्भव अपने पाठकों को साहित्य की बदलती हुई गति-विधि से परिचित रखने का प्रयत्न किया। हमने तीन प्रसिद्ध आचार्यों (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) के व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित और साहित्य की तीन प्रमुख विधाओं (उपन्यास, कहानी और आलोचना) के तीन विवेचनात्मक विशेषाङ्क निकाले थे। उनकी इतनी माँग रही कि उनकी एक भी प्रति हमारे पास शेष न रही। महाकवि प्रसाद और कविता की आधुनिक प्रवृत्तियाँ सम्बन्धी विशेषांक निकले और उनकी भी बड़ी माँग रही है। उपन्यास और कहानी के बाद नाटक ही ऐसी साहित्यिक विधा है जो जन-साधारण के हृदय को स्पर्श करती है। वह विचारों को जनता के हृदय तक पहुँचाने का एक मुख्य साधन है। वह हमारी सभ्यता और संस्कृति का परिचायक रहा है। आदि-काल से उसका मान रहा है। संस्कृत-नाट्य-साहित्य (शकुन्तला) के सहारे ही यूरोप में संस्कृत-साहित्य की लोक-प्रियता बढ़ी। इस महत्त्व को देखकर हमने इस बार साहित्य-सन्देश का नाटक विशेषाङ्क निकालने का सङ्कल्प किया।

नाट्य-साहित्य का विस्तार बहुत बढ़ गया है। सभी प्रान्तीय भाषाओं में इसका सम्पन्न साहित्य है। वह सभी साहित्य राष्ट्र के लिए गौरव का विषय है। राष्ट्र भाषा उनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकती है। उनकी सम्पन्नता से राष्ट्र-भाषा की सम्पन्नता है। इसी दृष्टि से हमनें इस अङ्क में प्रायः सभी प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं के नाट्य-साहित्य की रूप रेखा देने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाट्य-साहित्य की बड़ी लम्बी परम्परा है। उसको थोड़े से पृष्ठों में आबद्ध करना कठिन था फिर भी उसके आदि छोर और अद्यतन छोर की रूपरेखा देने का उद्योग

किया गया है। नाटककारों के वैयक्तिक प्रभावों और उनकी कृतियों की प्रेरणाओं का उनकी ही कलम से सीधा परिचय कराया गया है। फिर भी समय और आकार की सीमाओं के कारण इसमें बहुत-सी न्यूनताएँ रह गई हैं। उनको क्षमा करते हुए इस वृत्ति से काम लेंगे इसी आशा से हम इस अङ्क को अपने पाठकों की भेंट कर रहे हैं।

इस अवसर पर इस अङ्क के विद्वान् और सहृदय लेखकों को धन्यवाद देना और उनका आभार मानना भी हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। भारत की १४ प्रमुख भाषाओं मे से प्रायः सभी भाषाओं के लेखकों ने जिस अल्प समय और जितनी उदारता से हमें सहयोग दिया उसके लिए हम उनके बड़े कृतज्ञ है। केवल बङ्गला भाषा सम्बन्धी लेख बहुत विलम्ब से आने के कारण नहीं छप सका और उसके लिए छोड़े हुए ८५ से ८८ तक के पृष्ठ छूटे ही रह गए, इसका हमें बड़ा खेद है। हिन्दी नाटक साहित्य के सम्बन्ध में भी अनेक विद्वत्तापूर्ण लेख स्थानाभाव से छपने से रह गए हैं। हम इन सब लेखों को परिशिष्टाङ्क के रूप में अगले अङ्क में छापने का प्रयत्न करेंगे। हमें विश्वास है कि हिन्दी के विद्यार्थी और विद्वत् समाज हमारे इस प्रयत्न का स्वागत करेगा और साहित्य सन्देश के और भी अधिक प्रचार में हमें सहयोग देकर हिन्दी के प्रचार में सहायक होगा।

गोस्वामी तुलसीदासजी का राष्ट्रीय महत्त्व—

गोस्वामीजी सबसे पहले भक्त थे उसके पश्चात् और कुछ, किन्तु उनकी भक्ति अनन्य होते हुए भी एकाङ्गी नहीं थी। उसमें नीति को (जो राष्ट्रीयता की जान है) बहुत ऊँचा स्थान था। तुलसी भगवान के दास होते हुए भी उन दासों में न थे जो नीति और नियम की अवहेलना करते थे। सूर ने बाल और यौवन के सौन्दर्य का वर्णन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। किन्तु तुलसी ने जीवन का स्तर ऊँचा उठाया। उन्होंने पारिवारिक जीवन और राजनीतिक जीवन का बहुत ऊँचा आदर्श स्थापित किया। उन्होंने रामराज्य का आदर्श उपस्थित कर उसमें पूर्ण भौतिक सम्पन्नता के साथ मानसिक साम्य का उदाहरण रखा। उन्होंने साहित्य को केवल वाणी का विलास न रखकर लोक मङ्गल का विधायक बनाया है। रामचरितमानस भारतीय वाङ्मय का अमूल्य रत्न है। हमारे अध्यापकों को चाहिए कि तुलसी जयन्ती के अवसरों पर ऐसी महान राष्ट्रीय विभूति के अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत करें। वे चाहे भक्ति भावना से पढ़ें और चाहे साहित्यिक दृष्टि से उसका अध्ययन करें, अध्ययन अवश्य करें। तभी हम तुलसी का ऋण चुका सकेंगे।

राष्ट्रकवि की जयन्ती—

अभी इसी महीने हरियाली तीज के दिन हमारे राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की जयन्ती थी। इस अवसर पर राष्ट्रकवि के सम्मान में उनके प्रति स्नेहाञ्जलि अर्पण करते हुये हमें बड़ी प्रसन्नता है। साथ ही इस बात का दुःख भी है कि इन दिनों उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। अभी १८ जुलाई के पत्र में श्री श्रीनिवास जी (उनके भतीजे) लिखते हैं—“मई के मध्य में बम्बई में उनका प्रोस्ट्रेट ग्लेण्ड का आपरेशन हुआ था। आपरेशन प्रभु कृपा से सफल हो गया किन्तु उसके बाद पूरी शक्ति भी नहीं आने पायी थी कि उन्हें मलेरिया ने घेर लिया। दो-चार दिन अच्छे रहते हैं फिर ज्वर आने लगता है। इसी कारण चिकित्सा आदि की सुविधा के लिये हम लोग झाँसी के घर में हैं। आशा है, भगवान के अनुग्रह से और आप सब की शुभकामना से वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जायँगे।” हमारी और हमारे साथ हमारे समस्त ग्राहक पाठक परिवार की तथा समग्र हिन्दी-जगत की शुभ कामनायें उनके साथ हैं और हमें विश्वास है कि वे शीघ्र स्वस्थ होंगे।

भारत सरकार के हिन्दी साहित्य के उत्थान के लिये प्रयत्न—

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रणालय की हिन्दी के प्रति उपेक्षा की जो आलोचना समय-समय पर निकलती रही है वह सर्वथा निराधार तो नहीं है

किन्तु हाल में जो विवरण सरकार की ओर से निकला है उसके अध्ययन से सरकार के प्रयत्नों का कुछ दिग्दर्शन अवश्य हो जायगा। सरकार पाँच प्रकार से हिन्दी के उत्थान में सहायता दे रही है। (१) योग्य पुस्तकों पर पुरस्कार। (२) मान्य संस्थाओं को बड़े और आवश्यक जानकारी बढ़ाने वाले कोश-ग्रन्थों के लिये अनुदान के रूप में। (३) वृद्ध और अशक्त हिन्दी लेखकों को मासिक सहायता के रूप में। (४) विदेशों में हिन्दी प्रचार, विशेषकर हिन्दी पुस्तकों का वहाँ के पुस्तकालयों को दान देकर। (५) अहिन्दी भाषी प्रान्तों में सरकारी तौर से हिन्दी के अध्ययन और अध्यापन को यथा सम्भव अनिवार्यता देकर।

यह पञ्चमुखी योजना सराहनीय अवश्य है किन्तु इसके सम्बन्ध में कुछ नम्र निवेदन है। जो कुछ सरकार ने किया है उसको हम नगण्य नहीं कहते, किन्तु कार्य की गुरुता देखते हुये पर्याप्त नहीं है। सरकार ने जिन पुस्तकों पर पुरस्कार प्रदान किये हैं वे अच्छी अवश्य हैं, उन पर हम गर्व भी कर सकते हैं किन्तु ऐसी नहीं हैं जो वर्तमान हिन्दी साहित्य की शोचनीय कमियों की पूर्ति करती हों। सरकार के इन प्रयत्नों में विचारपूर्ण आयोजन की कमी दिखाई देती है।

सबसे पहले एक पर्यवेक्षण की आवश्यकता है जिससे मालूम हो कि हिन्दी में क्या है और क्या नहीं है? उसके पश्चात् एक आयोजना बनाना चाहिये कि हमको किन-किन विषयों पर साहित्य-सृजन कराना है। उस साहित्य के कुछ मानदण्ड स्थिर किये जायँ और उनको कार्यान्वित कराने के लिये भिन्न-भिन्न बोर्ड बनाये जायँ। यदि पुरस्कार दिये जायँ तो घोषित विषयों पर दिये जायँ। सरकार कोश-ग्रन्थों का ही निर्माण न करावे वरन् वैज्ञानिक ग्रन्थों का भी निर्माण कराये। सरकार की साधन-सम्पन्नता का उन ग्रन्थों को पूरा-पूरा लाभ दिया जाय। अशक्त लेखकों को सहायता देने का कार्य सर्वथा स्तुत्य है।

भारतीय साहित्य का विदेशों में प्रचार केवल पुस्तकें प्रदान कर ही न किया जाय वरन् उत्तम पुस्तकों के अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद करा कर किया जाय। हिन्दी के संग्रह ग्रन्थ निकाले जायँ और उनके विभिन्न भाषाओं के अनुवाद भी निकाले जायँ। प्रान्तों में जो हिन्दी का प्रचार किया जाय उस में अधिकार की गन्ध न रहे। वह प्रेम पूर्वक और सेवा-भाव से किया जाय। इसके लिये आकर्षक चित्रों से युक्त सुन्दर किस्से कहानियों की पुस्तकें नागरी अक्षरों में निकलवाई जावें। जिससे लोगों का हिन्दी के प्रति आकर्षण बढ़े। कुछ विचारपूर्ण साहित्य के उद्धरणों के अनुवाद भी वितरित किये जायँ। इससे हिन्दी का प्रसार बढ़ेगा और उसके प्रति विरोध भी घटेगा। आशा है शिक्षा मन्त्रणालय इन सुझावों की ओर ध्यान देगा।

आयोग की उपसमितियाँ—

हिन्दी आयोग की पहली बैठक १५–१६ जुलाई को बम्बई में हुई। इस बैठक में प्रश्नावली तैयार करने और प्रारम्भिक बातें करने के साथ तीन उपसमितियों का निर्वाचन भी किया गया है। यह उपसमितियाँ हैं।

१—शासन प्रबन्ध तथा लोक सेवा उपसमिति में सदस्य होंगे :—श्री जयनारायण व्यास, डा० पी० सुब्बारैयन, श्री एम. सी. शर्मा, श्री एम. के. राजा, श्री डी. सी. पवारे, श्री जी. वी. ने ने, डा० अमरनाथ झा, और श्री मगनभाई देसाई।

२—कानून व विधान मण्डली उपसमिति के सदस्य होंगे :—श्री अनन्त शयनम् आयंगर, श्री बालकृष्ण शर्मा, सरदार तेजासिंह, डा० पी. के. पारिजा, और डा० आबिद हुसैन।

३—शिक्षा-उपसमिति में सदस्य होंगे:—डा. आर. पी० त्रिपाठी, श्री एम. सत्यनारायण, डा० बी. आर. सक्सेना, प्रो. पी. एन. पुष्प, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० एस. के. चटर्जी, और डा० बी. के. बरुआ।

हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद—

हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि भारतीय साहित्य एकाडमी जिसके काम की चर्चा हमने गताङ्क

में भी की थी—एक और अच्छा काम कर रही है। उसके द्वारा इसी वर्ष में ग्यारह ऐसे उपन्यासों का प्रकाशन हिन्दी में होगा जो भारत की प्रान्तीय अपनी-अपनी भाषाओं में सर्व श्रेष्ठ माने गए हैं। ऐसे उपन्यासों का चयन उन भाषाओं की परामर्शदात्री समितियों द्वारा कराया गया है। मलयालम भाषा से श्री सरदार पणिक्कर के ऐतिहासिक उपन्यास 'केरलसिंह वर्मा' को, तेलुगु से श्री उन्नवलक्ष्मीनारायण के सामाजिक उपन्यास 'मलपवी' को, उड़िया से श्री कालेन्दुचरण पाणिग्रही के 'माटीर मानुष' को छाँटा गया है। ऐसे चुने-चुने उपन्यासों का अनुवाद श्रेष्ठ विद्वानों से कराया जा रहा है। जैसे उड़िया भाषा से अनुवाद करेंगे हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान भदन्त आनन्द-कौशल्यायन। निश्चय ही यह उपन्यास हिन्दी की श्रीवृद्धि करेंगे और हिन्दी भाषी उनका स्वागत बड़े उत्साह से करेंगे।

अ० भा० लेखकों का शिविर—

जून के महीने में नैनीताल में प्रयाग की साहित्यकार संसद की ओर से एक अन्तःप्रान्तीय लेखक शिविर हुआ था। इस शिविर के अध्यक्ष पद पर मराठी कवि श्री बालकृष्ण बोरकर विराजमान थे। शिविर में विभिन्न भाषाओं के लेखकों ने समय-समय पर जो विचार प्रकट किए, वे राष्ट्रीयता की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। हम सहयोगी 'हिन्दुस्तान' से कुछ विभिन्न प्रदेशीय लेखकों के विचार यहाँ प्रकाशित करते हैं :—

उत्तरप्रदेश विधान-सभा के अध्यक्ष श्री ए० जी० खेर ने कहा कि इस प्रकार के शिविरों से हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं के सम्बन्ध मजबूत करने में बड़ी सहायता मिलेगी। लेखकों के पारस्परिक सम्पर्क तथा हिन्दी व अन्य भाषाओं में पारस्परिक लेन-देन से न केवल हिन्दी ही किन्तु भारत की अन्य भाषायें भीसमृद्ध होंगी।

मराठी नाटककार मामा वरेरकर ने सुझाव दिया कि भारत के साहित्यिक पुनरुत्थान और सांस्कृतिक एकता का सबसे आसान तरीका हिन्दी को अखिल-भारतीय भाषा मान लेना है जिससे भारतीय भाषाओं की सर्वोत्तम कृतियाँ किसी एक भाषा में उपलब्ध हो सकें। उन्होंने कहा कि सब उत्तमोत्तम ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया जाना चाहिए जिसके फलस्वरूप वर्त्तमान १४ भाषाओं में निहित १४ संस्कृतियों के बजाय एक मिश्रित संस्कृति का निर्माण हो सके।

संसत्सदस्य तथा साहित्य अकादमी के सदस्य श्री रामधारीसिंह दिनकर ने कहा कि हिन्दी ने राष्ट्रभाषा की हैसियत बङ्गला और गुजरात के अहिन्दी भाषी नेताओं की बदौलत प्राप्त की है। हिन्दी देश की सांस्कृतिक एकता की प्रतीक है। उन्होंने एक प्रदेश के लेखकों का सद्भावना मिशन दूसरे प्रदेश में भेजने का सुझाव दिया जिससे विभिन्न भाषाओं के लेखकों में अधिक स्नेह सम्बन्ध पैदा हों।

बङ्गाल के उपन्यासकार श्री बोनोफूल ने कहा कि यद्यपि वे पिछली तीन दशाब्दियों से बङ्गाली साहित्य की सेवा कर रहे हैं, तथापि वे भारत-माता और राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य भक्त रहे हैं। उन्होंने कहा कि प्रत्येक लेखक को अपनी भाषा के अतिरिक्त एक और भाषा सीखनी चाहिए।

तेलुगू के विद्वान् और आन्ध्र में हिन्दी के उत्साही कार्यकर्ता श्री राममूर्ति ने कहा कि हिन्दी देश के एक भाग को दूसरे के समीप लाने का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है।

तेलुगू कवि श्री नारायणचार्य ने, जो तमिल, मलयालम, कन्नड़ और मराठी भी अच्छी तरह जानते हैं कहा कि साहित्यिक संसार में भाषा की बाधायें कृत्रिम है।

श्री बोरकर ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा कि एक-दूसरी भाषा के साहित्य में आदान-प्रदान सहज प्रेम और आदर से ही हो सकता है।

श्री राव ने, जो हिन्दी के मँजे हुए कवि हैं, किन्तु जिनकी मातृभाषा तेलुगू है, कहा कि ऐतिहासिक दृष्टि से भारत एक अखण्ड इकाई है और हमें देश की अधिक से अधिक भाषायें सीखने की कोशिश करनी चाहिये। उन्होंने कहा कि देश के विभिन्न भागों को हिन्दी ही बाँधकर रख सकती है।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्'

श्री गुलाबराय एम० ए०

काव्य—रसरूप मनुष्य के हृदयगत आनन्द की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में केवल यही अन्तर होता है कि वह संसार निरपेक्ष और पूर्णतया आत्मगत होता है। काव्य का आनन्द संसार निरपेक्ष तो नहीं होता किन्तु लौकिक से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें व्यक्तित्व रहते हुए भी वह क्षुद्र स्वार्थों से ऊँचा उठा हुआ होता है। कवि का हृदय जन-साधारण के हृदय के साथ स्पन्दित हो मुखरित होता है। विज्ञान की अपेक्षा कवि का दृष्टि-कोण अधिक मानवीय होता है। वैज्ञानिक मनुष्य को भी पत्थर, मेंढ़क, और बन्दर की तुलना में रख उसे प्रकृति के धरातल पर ले आता है और कवि प्रकृति का भी मानवीकरण कर उसे भाव समन्वित बना देता है। काव्य में विज्ञान का सा सामान्यीकरण रहते हुए भी वैयक्तिकता और आनन्द की मात्रा अधिक रहती है। सामान्यीकरण में मानसिक तत्त्व रहता हुआ भी वह बाह्य सापेक्ष अधिक होता है और वैयक्तिकता, अन्तराश्रित है।

विभाग—इसीके आधार पर पाश्चात्य देशों में काव्य के विषयगत या अनुकृत (Epic) और आत्मगत या प्रगीत (Lyric) रूप से दो विभाग किये गये हैं। अनुकृत में जगबीती अधिक रहती है और प्रगीत में अपबीती। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो रूप बताये हैं। यह आधार काव्य की ग्राहकता के ऐन्द्रिक माध्यम पर निर्भर है। इस ग्राहकता के साथ ग्रहण करने वाले के बौद्धिक स्तर के साथ काव्य के प्रभाव क्षेत्र का भी प्रश्न रहता है। दृश्य-काव्य में नेत्र और श्रवण दोनों के हो द्वारा काव्य का आस्वादन किया जाता है। ब्रह्माजी से ऐसे ही खेल की याचना की गई थी जो दृश्य और श्रव्य दोनों हों—क्रीडनकीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् और श्रव्य-काव्य में श्रवण इन्द्रिय का ही काम रहता है। जहाँ दृश्य-काव्य में दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम बल पड़ता है और प्रभाव अधिक सजीव रहता है वहाँ श्रव्य-काव्य और विशेष कर पाठ्य-काव्य का प्रभाव क्षेत्र सीमित रहता है। बालकों और अशिक्षितों को सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त और प्रत्यक्ष अधिक प्रभावोत्पादक होता है। मनुष्य का वर्णन चाहे जितना सजीव हो किन्तु चित्र के सामने उसे हार माननी पड़ती है। जब चित्र चलते-फिरते हाड़-माँस चाम के भावभङ्गिमामय हो तब नकल और असल में विशेष अन्तर नहीं रहता है।

नाटक—दृश्य-काव्य में रूपक नाटक आदि आते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दृश्य-काव्य की ग्राहकता के दो ऐन्द्रिक माध्यम हैं—नेत्र और श्रवण। जो नाटक में दिखाया जाता है वह वास्तव में दृश्य-श्रव्य ही होता है किन्तु वह नितान्त बाह्य जगत से सम्बन्ध नहीं रखता है। उसका मूल स्रोत होता है—भाव-जगत, जो कि काव्य की आत्मा, रस का आधार है। नाट्य-शास्त्र में आचार्य भरतमुनि ने ब्रह्माजी के मुख से, जिनके पास पीड़ा और क्लेश से ग्रस्त संसार के आनन्द सुलभ साधन की याचना करने गये थे, कहलाया है। 'त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' (नाट्यशास्त्र १|१०४) नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। प्रगीत काव्य में भी भाव रहते हैं किन्तु वे वैयक्तिक कुछ अधिक होते हैं। इसमें व्यापक मानवता के भाव रहते हैं। इसमें विषयगतता के साथ भाव-प्रधानता भी रहती है। नाटक का भावानुकीर्त्तन लोक वृत्तानुकरण पर आश्रित होता है।

'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥'

नाट्य शास्त्र १–१०८|१०६

दशरूपककार ने नाटक को अवस्थाओं की (जो मानसिक अधिक होती है) अनुकृति कहा है। साहित्य दर्पणकार ने अभिनय तत्त्व को प्रधानता देते हुए रूप के आरोप के कारण रूपक कहा है—'रूपारोपान्तु रूपकम्'। अलङ्कार में उपमेय पर उपमान का (मुख पर चन्द्र का) आरोप रहता है। रूपक में नट पर अनुकार्य दुष्यन्त आदि का आरोप रहता है। नट से सम्बन्ध रखने के करण नाटक, नाटक कहलाता है। नाटक यद्यपि रूपक का एक भेद है (नाटक दशरूपकों में एक है) किन्तु अब वह व्यापक बन गया है।

अरस्तू की परिभाषा—अरस्तू ने गम्भीर नाटक (Tragedy) को उत्तम नाटक का प्रतिनिधि मानकर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है।

A Tragedy, then is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessaries, each kind, brought in separately in the parts of the work, in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its cotharsis of such emotions.

अर्थात् 'ट्रेजिडी उस कार्य विशेष का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वतः पूर्णता हो और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणों से अलंकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढङ्ग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप में की गई हो (यही गुण उसको महाकाव्य से पृथक कर देता है)। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती है जो करुणा और भय को जाग्रत कर उन भावों का रेचन या निकास कर देती हैं। भावों के रेचन (निकास) द्वारा उनका परिष्कार हो जाना नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इस परिभाषा में ट्रेजिडी के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं।

विश्लेषण—(१) गाम्भीर्य (२) स्वतः पूर्णता (३) अलङ्करण पूर्ण भाषा (४) विवरण के स्थान में अभिनयात्मकता (५) करुणा और भय जाग्रत करने वाली घटनाएँ (६) उद्देश्य रूप से भावों का परिष्कार।

महत्त्व—हमारे यहाँ भावों को प्राधान्य तो दिया गया है किन्तु उनकी परिधि सीमित नहीं बनाई गई है। उसकी कलात्मकता पर काफी बल दिया गया है और उसके साथ उसके ज्ञानात्मक तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। साथ ही इसके उद्देश्यों में नैतिकता को प्रधानता दी गई है।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला॥
न संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते।
—प्रथम अध्याय

नाटक के आनन्द और विश्रामदायी तत्त्व को भी भरतमुनि ने पर्याप्त महत्व दिया है।

दुखार्तानांश्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥
नाट्यशास्त्र १–१११|११२

उसको धर्म अर्थ और काम का भी साधक और दुर्विनीत लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाने वाला, नपुन्सक भीरु और कायरों को बल प्रदान करने वाला तथा शूरों का उत्साहवर्द्धक बताया है। साथ ही अज्ञानियों को ज्ञान देने वाला और पण्डितों को पांडित्य देने वाला, विलासियों के लिए विलास का देने वाला, दुखार्त लोगों के चित्त को स्थिरता और शान्ति का देने वाला कहा है।

धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमन क्रिया॥
क्लीवानां धाष्टर्य करणयुत्साहः शूरमानिनाम्।
प्रबोधननां विबोधश्च वैदुष्य विदुषामपि॥
ईश्वराणां विलाश्च स्थैर्य दुखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो वृत्तिरुद्विग्न चेतसाम्॥
नाट्यशास्त्र १–१०५|१०८

यह महत्त्व भक्तों का-सा श्रुतिपाठ नहीं वरन् वास्तविक है क्योंकि इसकी ग्राहकता और इसका प्रभाव व्यापक है। इसीलिये इसको पञ्चमवेद कहा है और इसका अधिकार शूद्र या कम ज्ञान वाले लोगों को भी बतलाया है—'तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्' नाटक, महाकाव्य, और उपन्यास तीनों ही काव्य रस के साथ जनता में उपदेश की कटु-औषधि को ग्राह्य बनाने के साधन रहे हैं किन्तु तीनों में भेद है।

महाकाव्य, उपन्यास और नाटक—जगबीती का वर्णन गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है। पद्य में जो वर्णन होता है, वह प्रायः महाकाव्य के रूप में होता है। रामायण हमारे यहाँ का आदि महाकाव्य है। महाकाव्य में पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य रहता है। तुलसी के समय की हिंदू जनता की भावनाओं का जैसा जीता-जागता चित्र रामचरितमानस में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता, उसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है। महाकाव्य एक प्रकार से संस्कृति प्रधान होता है। बाल्मीकि रामायण के आरम्भ में जैसे पुरुषोत्तम की महर्षि वाल्मीकि को चाह थी, वे सभी गुण भारतीय संस्कृति के मान्य गुण थे। रघुवंश में भी 'शैशवेऽभ्यति विद्यानां यौवने विषयैषिणां' आदि श्लोकों में भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। साकेत में भी 'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया' सांस्कृतिक पक्ष का ही उद्धार किया गया है।

गद्य के अनुकरणात्मक रूपों में उपन्यास की मुख्यता रहती है। नाटक गद्य और पद्य के बीच की चीज है और अब उनमें गद्य की प्राधान्यता होती जाती है। नाटक शुद्ध गद्य तो नहीं होता तो भी उसकी गणना प्रायः गद्य में ही की जाती है (गीत नाट्यों की दूसरी बात है)। उसमें कथोपकथन की प्रधानता रहने के कारण वह गद्य के ('गद्' धातु बोलने के अर्थ में आता है) शब्दार्थ का अधिक अनुकरण करता है। महाकाव्य की अपेक्षा इन दोनों में व्यक्ति अर्थात् चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। रामायण और उत्तर रामचरित के राम में थोड़ा अन्तर है। रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, जाति-रक्षक और आदर्श पुरुष हैं। उनमें आर्य सभ्यता मूर्तिमान होकर आती है। उत्तर रामचरित के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं। वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वे अपना निजी सुख-दुःख रखते हैं। सब चीजों में उनका निजी सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उत्तर रामचरित में हमको उनके हृदय की अधिक परिचय मिलता है। जब वे कहते हैं कि दुःख के लिये ही राम का जीवन है, तब उनका व्यक्तित्व निखर आता है।

उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, किन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप में हो, भूत से ही सम्बन्ध रखता है। वह आख्यान का ही रूप है। आजकल अंग्रेजी में भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले भी उपन्यास लिखे गये हैं किन्तु उनमें भी लेखक भविष्य को देखकर यानी उसे भूत बनाकर उसका पीछे से वर्णन करता है। नाटक का भी विषय भूत का ही होता है, किन्तु नाटककार उसे प्रत्यक्ष घटना के रूप में दिखाना चाहता है। वह भूत को आँखों सामने घटाने का प्रयत्न करता है। उपन्यास घटी हुई घटना को कहता है। नाटककार कहता नहीं है, वरन् वह घटना की प्रत्यक्ष में आवृत्ति कर द्रष्टाओं को उनकी ही आँख में दिखाना चाहता है। वह सिनेमा के आपरेटर की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है तो वह किसी पात्र के रूप में पाठकों के सामने आता है। उसको अगर पाठक लोग आवरण के भीतर से पहिचान लें तो दूसरी बात है लेकिन वह स्वयं आवरण उतारता नहीं है। इसी आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किए गये।

महाकाव्य में विषय का विस्तार तो उपन्यास का-सा रहता है किन्तु महाकाव्य आदर्शोन्मुख अधिक होता है। उपन्यास और नाटक में यथार्थ की मात्रा अधिक रहती है। उपन्यास जीवन का पूरा चित्र देने का

(शेष पृष्ठ * पर देखिए)

भारतीय रङ्गमञ्च का विकास

प्रो० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०

नाट्य-कला अभिनय प्रधान होती है। वह आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनयों द्वारा दर्शकों के हृदय को आकृष्ट करती हुई एक ओर मानव-जीवन की नाना अवस्थाओं के चित्र उपस्थित करती है तो दूसरी ओर रति, करुणा, हास, वीरता आदि के भावों का प्रदर्शन करके रसाभिव्यक्ति में सफल सिद्ध होती है। जीवन की नाना अस्वथाओं के चित्र प्रस्तुत करने के लिए यहाँ पात्रों को नाना रूप धारण करने पड़ते हैं और ये जिसका रूप धारण करते हैं उसी के अनुसार अपने समस्त व्यापार तथा चेष्टायें दर्शकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। इसी कारण नाट्य-कला में अनुकरण का अत्यन्त महत्त्व माना गया है। यह समस्त अनुकरण या अभिनय जहाँ-जहाँ प्रस्तुत किया जाता है उसे रङ्गमञ्च कहते हैं। रङ्गमञ्च के विना नाट्य-कला का प्रदर्शन सर्वथा असम्भव है। इतना अवश्य है कि जब तक इस कला का विकास नहीं हुआ था, तब तक साधारण रङ्गमञ्च के द्वारा ही नाटक दिखाये जाते थे और रङ्गमञ्च की विशिष्टता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। परन्तु जब यह कला विकसित हुई तो रङ्गमञ्च की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया और उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का अध्ययन करके उसमें परिवर्तन एवं परिवर्द्धन प्रस्तुत किए गये।

भारतवर्ष में रङ्गमञ्च का प्रादुर्भाव भी भाषा की भाँति दैवी ही माना जाता है। इसके विषय में भरतमुनि प्रणीत नाट्य-शास्त्र में एक कथा आई है कि एक बार देवलोक में देवराज इन्द्र के सभा-मण्डप में लक्ष्मी-स्वयंवर नामक नाटक खेला गया। उसमें उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय किया। उस अभिनय में उर्वशी ने इतनी तन्मयता के साथ अपनी कला का प्रदर्शन किया कि वह यथार्थरूप में अपने को लक्ष्मी समझने लगी तथा अपनी समस्त चेष्टायें अनुकरण के रूप में प्रस्तुत न करके वास्तविक रूप में ही दिखाने लगी। इस पर ब्रह्माजी अत्यन्त रुष्ट हो गये और उन्होंने उर्वशी को मर्त्यलोक में चले जाने का शाप दिया। उस शाप के कारण उर्वशी इस पृथ्वी पर चली आई और उसके साथ ही यह नाट्यकला भी मर्त्यलोक में आगई। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने महेन्द्र-विजयोत्सव के अवसर पर सर्व प्रथम 'दैत्य-दानव-नाशनम्' नामक नाटक के खेलने का उल्लेख किया है। यह नाटक देवताओं द्वारा खेला गया था। इस नाटक के अवसर पर दैत्यों ने बड़ा उत्पात मचाया, तब ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा को नाट्य-गृह तथा रङ्गमञ्च आदि बनाने की आज्ञा दी। इस विवरण के आधार पर भी रङ्गमञ्च का प्रादुर्भाव देवताओं द्वारा ही हुआ प्रतीत होता है।

रङ्गमञ्च का प्रादुर्भाव कब और किस प्रकार हुआ यह बतलाना तो सर्वथा कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि नाटक के साथ ही साथ इसकी भी उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि संस्कृत में नाटक दृश्य-काव्य कहलाता है और दृश्य वही कहलायेगा जो देखने योग्य हो और जिसे दिखाया जाता हो। जिस तरह प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य सुनने या सुनाये जाने के कारण श्रव्य-काव्य कहलाते हैं उसी तरह नाटक देखने जाने के कारण दृश्य-काव्य कहलाता है। इसमें अनुकरण एवं अभिनय की प्रधानता रहती है, यह हम पहले ही कह चुके है। अतः किसी स्थान को रङ्गमञ्च के रूप में निर्माण किये विना नाटक का प्रदर्शन संभव नहीं। इसी कारण रङ्गमञ्च भी नाटक के साथ-साथ ही प्रादुर्भूत हुआ ऐसा माना जा सकता है। अब भारतीय रङ्गमञ्च का स्वरूप जानने के लिए हम उसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्वकालीन रङ्गमञ्च, (२) मध्यकालीन रङ्गमञ्च तथा (३) आधुनिक रङ्गमञ्च।

(१) पूर्वकालीन रङ्गमञ्च—पूर्वकालीन रङ्गमञ्च का विवरण नाट्य-शास्त्र में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। वहाँ पर प्रेक्षागृहों का वर्णन करते हुए पहले भरतमुनि ने उन्हें तीन प्रकार का बतलाया है—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इन तीनों को माप के अनुसार पुनः ज्येष्ठ, मध्यम् तथा अवर—इस तरह तीन-तीन प्रकार का कहा है। इस प्रकार ९ तरह के प्रेक्षागृह होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह माप भी दो प्रकार की होती है—हस्तात्मक तथा दण्डात्मक। यदि दो प्रकार की माप मानें तो समस्त प्रेक्षागृह १८ प्रकार के हो जाते हैं। कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र ये तीनों प्रेक्षागृह क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर कहलाते हैं। परन्तु नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका के लेखक आचार्य अभिनवगुप्त ने—"एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि इति केचित्, अन्येतु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः, एतदेव युक्तम्"—लिखकर स्पष्ट ही प्रेक्षागृहों के नौ भेद उपयुक्त माने हैं। इस प्रकार प्रथम विकृष्ट नामक प्रेक्षागृह का उल्लेख करते हुए भरतमुनि ने ज्येष्ठ विकृष्ट को देवताओं के लिए मध्यम विकृष्ट राजाओं के लिए तथा अवर विकृष्ट शेष सामान्य प्रजाजनों के लिए उपयुक्त बतलाया है। यही बात शेष दोनों प्रेक्षागृहों के बारे में भी कही है। इसके साथ ही मध्यम विकृष्ट प्रेक्षागृह को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उसकी लम्बाई चौड़ाई का विवरण देते हुए लिखा है कि वह ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा होना चाहिए। उसकी लम्बाई को दो भागों में विभक्त करके आधा भाग दर्शकों के लिए तथा आधा भाग रङ्गमञ्च के लिए रखना चाहिए। इस प्रकार ३२ हाथ चौड़ा तथा ३२ हाथ लम्बा चौकोर रङ्गमञ्च सर्व श्रेष्ठ माना गया है। रङ्गमञ्च की लम्बाई को पुनः दो भागों में विभक्त करके १६ हाथ नेपथ्यगृह के लिए तथा १६ हाथ रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष के लिए छोड़ना चाहिए। रङ्गमञ्च के निर्माण का विधान बतलाते हुए भरतमुनि ने कहा है कि पहले भूमिशोधन करके, उसे हल से जोतकर और उसमें हड्डियाँ, कील, खपरे, तिनके तथा भाड़ियाँ आदि साफ कर देनी चाहिए। पुनः पुष्य नक्षत्र में भूमि की नाप करके प्रेक्षागृह का प्रारम्भ करना चाहिए। देवताओं का पूजन करके उसकी भित्तियाँ बनानी चाहिए। रङ्गमञ्च में से प्रथम रङ्गपीठ की लम्बाई-चौड़ाई १६×८ होनी चाहिए तथा उसके दोनों पार्श्वों में ८ हाथ चौड़ी, ८ हाथ लम्बी, तथा रङ्गपीठ से १२ हाथ ऊँची मत्तवारिणियाँ बनानी चाहिए। इस रङ्गपीठ के पीछे रङ्गशीर्ष बनाना चाहिए जो ६ खम्भों पर ८ हाथ चौड़ा तथा लम्बा हो। इसमें एक सुसज्जित दीवार होनी चाहिए जिस पर सामने की ओर जवनिका पड़ी रहे। इस रङ्गशीर्ष का निर्माण न तो कछुए की पीठ के समान बीच में अधिक उभरा हुआ और न मछली की पीठ के समान कम उभरा हुआ करना चाहिए, अपितु यह शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातल वाला होना चाहिए। यह रङ्गशीर्ष दो मञ्जिल का बनाना चाहिए तथा उसमें वातायन आदि भी रहने चाहिए। इसकी भित्तियों पर सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाने चाहिए जिनमें लता बन्ध तथा आत्मभोग से उत्पन्न होने वाले चरितों का विशेष अङ्कन हो।

यह रङ्गशीर्ष प्रायः तीन प्रयोजनों से बनाया जाता था। प्रथम तो यहाँ पात्रों के विश्राम करने के लिए व्यवस्था रहती थी, क्योंकि नेपथ्य से तैयार होकर पात्र अपना अभिनय करने के लिए यहाँ आकर कुछ क्षण ठहर सकता था और पुनः रङ्गपीठ पर पहुँच कर अपना अभिनय प्रस्तुत करता था। दूसरे पात्रों के आने-जाने का रहस्य भी इसी के कारण दर्शकों को ज्ञात नहीं होता था। तीसरे, अभिनय सम्बन्धी निर्देशन तथा कुछ आवश्यक पदार्थों के रखने के लिए भी रङ्गशीर्ष उपयुक्त स्थान रहता था। सबसे अधिक महत्त्व मत्तवारिणियों के निर्माण में दिखाई देता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि मदोन्मत्त लोगों को रङ्गमञ्च पर आने से रोकने के लिए इन मत्तवारिणियों का निर्माण किया जाता था। मानसार वास्तुशास्त्र में

भी मत्तवारिणी या मत्तवारण शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) किसी बड़ी इमारत के चारों ओर का बड़ा फैंस, (२) बड़े भवन के ऊपर का एक छोटा सा कमरा, (३) वरण्डा, (४) पैवीलियन आदि परन्तु नाट्यशास्त्र में वर्णित मत्तवारिणी का अभिप्राय वरण्डा से ही प्रतीत होता है । रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष के मध्य में केवल जवनिका रहती थी । यह एक प्रकार का पर्दा था जो सम्भवतः यूनान के बने हुए वस्त्र का बनाया जाता था । इसे पटी, अपटी, तिरस्करणी आदि भी कहा गया है । इसी को 'अपटी क्षेपण' के लिए भी प्रयोग में लाते थे । प्रायः दो मञ्जिल के रङ्गमञ्च बनाये जाते थे, नहीं तो स्वर्ग तथा प्रासाद के ऊपरी भागों के दृश्य दिखाना सर्वथा असम्भव हो जाता । रत्नावली में राजा ऊपर प्रासाद में बैठे हैं और नीचे की ओर प्रजा मदनोत्सव मना रही है । यह दृश्य दुमञ्जिले रङ्गमञ्च के बिना किसी प्रकार दिखाया नहीं जा सकता ।

उस काल में रङ्गमञ्च की सजावट नाटक के विषय एवं उसमें वर्णित प्रधान रस के अनुकूल रहती थी । सारा रङ्गमञ्च लगभग लकड़ियों पर ही बनाया जाता था । उन पर नक्काशी की जाती थी । इतना ही नहीं चारों ओर कलश. पताका, पुतलियाँ, चित्र आदि से भी वह सजाया जाता था । रङ्गमञ्च खम्भों पर फूल मालायें तथा रत्नहार भी बाँधे जाते थे और रङ्गमञ्च पर युद्ध, विवाह, नौकासन्तरण आदि नहीं दिखाये जाते थे ।

इस काल में वर्ण व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी । अतः रङ्गमञ्च के सम्मुख बैठने के लिये प्रत्येक वर्ण का निर्देश करने वाले स्तम्भ होते थे । ब्राह्मणों के बैठने के स्थान पर शुक्ल रङ्ग का, क्षत्रियों के लिये लाल रङ्ग का, वैश्यों के लिये पीले रङ्ग का तथा शूद्रों के लिये नीले रङ्ग का स्तम्भ गढ़ा रहता था । उस काल में प्रायः सभी रङ्गमञ्च राजाओं के द्वारा ही बनवाये जाते थे । अतः प्रेक्षागृह के पूर्वभाग में राजा बैठते थे, उनकी दाईं ओर मन्त्री, कवि, ज्योतिषी तथा व्यापारी लोग बैठते थे, उनकी बाईं ओर स्त्रियाँ बैठती थीं, और वहाँ चिकें पड़ी रहती थीं । बच्चे तथा अन्य राजपुरुष उत्तर में बैठते थे, किनारे पर राजदूत, भाट, आलोचक तथा रक्षक बैठते थे । वहाँ शस्त्र लेकर कोई भी व्यक्ति नहीं आ सकता था । इतना ही नहीं अजनबी व्यक्तियों को भी प्रवेश नहीं मिलता था । उस काल में राजतन्त्र प्रणाली की कठोरता के कारण जनता की अधिक भीड़ प्रेक्षागृह में नहीं आ सकती थी । यूनान में जैसी प्रजातन्त्र प्रणाली प्रचलित थी, उसी के अनुकूल वहाँ रङ्ग-शालाओं में अपार भीड़ भी हो जाती थी, परन्तु यहाँ ऐसी बात न थी । दूसरे यूनान में उस समय रङ्गमञ्च पत्थर के बनते थे, जो आज तक अपनी प्राचीनता का परिचय दे रहे हैं । यहाँ पर रङ्गमञ्च का अधिकांश भाग लकड़ी का ही बनाया जाता था, इसी कारण वे शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो गये । स्मिथ का मत है कि गुप्तकाल में जिस वैभव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता था, वह आज इसीलिये लुप्तप्राय हो गया, क्योंकि उस काल में जितने भव्य भवन तथा सुन्दर रङ्ग-शालायें आदि बनाई जाती थीं वे सभी अधिकांश लकड़ी की होती थीं ।

प्राचीन रङ्गमञ्च का विधान अत्यन्त स्पष्ट और सरल था । रङ्गमञ्च का सारा कार्य सूत्रधार के हाथ में रहता था । वह बड़ा ही कलाविद तथा नृत्य, सङ्गीत एवं अभिनय का आचार्य होता था । समस्त पात्रों को शिक्षा दी जाती थी और नाटक की सफलता तथा असफलता का निर्णय करने के लिये आलोचक भी बैठते थे । परन्तु जैसे यूनान में पारितोषिक की प्रणाली प्रचलित थी, वैसी यहाँ न थी । हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ पर राजा लोग पात्रों तथा नाटककारों का बड़ा आदर करते थे । समाज में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी । अधिकांश पात्र राज्याश्रय में ही जीवन व्यतीत करते थे ।

उस समय अधिकांश नाटक दोपहर बाद होते थे और एक दिन में एक ही नाटक होता था । यूनान में तीन-तीन नाटकों के खेलने का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु यहाँ एक ही नाटक के अनुकूल रङ्गमञ्च का

विधान किया जाता था और उसके लिए अच्छी तरह शिक्षा दी जाती थी। परन्तु रात्रि होने से पूर्व ही नाटक समाप्त हो जाते थे, क्योंकि रङ्गमञ्च पर प्रकाश करने का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता। वैसे उस समय रङ्गमञ्च पर स्त्री का कार्य स्त्री पात्र ही करते थे। प्रधान पात्री तो बहुधा सूत्रधार या नायक की पत्नी ही होती थी। कभी-कभी बूढ़ी स्त्री का अभिनय पुरुष किया करते थे। भरत मुनि ने भी स्त्री को पुरुष पात्र का तथा पुरुष को स्त्री पात्र का अभिनय करने की अनुमति दी है।

राजा हर्षवर्द्धन के समय तक इस प्राचीन रङ्गमञ्च के दर्शन होते हैं। गुप्तकाल में यह अत्यन्त विकसित अवस्था में पहुँच गया था क्योंकि उस काल में भास, शूद्रक, कालिदास, अश्वघोष आदि प्रसिद्ध नाटककारों के समस्त नाटक खेले गये। परन्तु अभी तक राजकीय रङ्गमञ्च ही विकसित हुआ था सर्वसाधारण के लिये नाट्यगृह नहीं बने थे। अतः जन नाट्य-मञ्च कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते थे। हर्षवर्द्धन के उपरान्त देश में विदेशी आक्रमणकारियों ने अपनी सत्ता स्थापित की और भारत की स्वतन्त्रता जाती रही। इस स्वतन्त्रता के साथ पूर्वकालीन रङ्गमञ्च का भी ह्रास होने लगा और अब उनकी विकसित अवस्था नहीं रही।

(२) **मध्यकालीन रङ्गमञ्च**—हर्षवर्द्धन के उपरान्त मुसलमानों के हाथ में भारत के शासन की बागडोर आगई। उस समय मुसलमान लोग कलाप्रिय न थे। उन लोगों के द्वारा नाट्यकला को प्रोत्साहन नहीं मिलता था, वे अपने धर्म के बड़े कट्टर थे, किसी का वेष बना कर नाचना-गाना वे 'कुफ्र' समझते थे। अतः नृत्य, गान आदि में उनकी तनिक भी रुचि न थी उनकी 'कट्टरता एवं कठोरता ने यहाँ के रङ्गमञ्च पर कुठाराघात किया। यही कारण है कि पूर्वकालीन विकसित रङ्गमञ्च अब लुप्त होने लगा। फ्रेजर ने अपनी 'लिटरेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया' में लिखा है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन रङ्गमञ्च में कोई भी सम्बन्ध दिखाई नहीं देता, क्योंकि यहाँ आकर एक ओर तो धार्मिक अभिरुचि के जाग्रत हो जाने के कारण राम, कृष्ण आदि के कथानकों में जनता की रुचि अधिक होगई दूसरी ओर राजाओं का आश्रय समाप्त हो जाने के कारण रङ्गमञ्च की सुव्यवस्था न रही, वहाँ अब भाव और रसपूर्ण नाटकों का स्थान भद्दे नाच, गाली-गलोज, भद्दे-भद्दे कथोपकथन आदि ने ले लिया। रङ्गमञ्चीय विधान सर्वथा लुप्त हो गया और खुले मैदानों में स्वाँग आदि के रूप में नाटक होने लगे। परन्तु फ्रेजर की यह भूल है कि इन स्वाँगों का सम्बन्ध पूर्वकालीन रङ्गमञ्च से नहीं था, क्योंकि रूपक के अन्तर्गत भाण तथा प्रहसन भी आते हैं और वे सदैव स्वाँगों की भाँति ही दिखाये जाते थे। अतः ये स्वाँग भी पूर्वकालीन रूपकों से सम्बद्ध थे।

इस काल में जनता के रङ्गमञ्च का अत्यधिक विकास हुआ क्योंकि राज्याश्रय प्राप्त न होने के कारण भव्य रङ्गमञ्चों पर सुन्दर-सुन्दर नाटक दिखाने की प्रथा तो लुप्त होने लगी, किन्तु वेही अभिनेतागण रामलीला, रासलीला, यात्रा आदि के द्वारा जनता का मनोरञ्जन करने लगे। इस समय उत्तर भारत के अधिकांश गाँवों में रामलीला आदि का श्री गणेश हुआ। बहुधा आश्विन मास में रामचन्द्र जी के जीवन का प्रदर्शन करने के लिए और विशेषकर रावण-बध आदि द्वारा तत्कालीन आततायी शासकों को शिक्षा देने के लिए रामलीला का प्रचार हुआ। दशहरे के दिन बड़ी धूम-धाम के साथ उत्सव भी मनाया जाता था, जिसका स्वरूप आज तक उत्तरी भारत में विद्यमान है। पञ्जाब की ओर इस समय गोपीचन्द, पूरनभगत, हकीकतराय आदि की कथायें स्वाँग के रूप में जनता के सामने दिखाई जाती थीं और बङ्गाल में 'यात्रा' का प्रचार था। यात्राओं में कृष्ण के जीवन से कुछ भावात्मक स्थल चुनकर उन्हें नृत्य तथा कथोपकथन के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसके लिये कोई विशेष रङ्गमञ्च का विधान नहीं होता था। पहले एक जुलूस बनाकर नाचते-गाते हुए भक्त लोग मन्दिर में आते थे और वहाँ मन्दिर के प्रांगण में एक बड़ी

भारी भीड़ के सम्मुख नृत्य तथा संवाद के रूप में श्रीकृष्ण के मधुर जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती थी। डा० सुनीतिकुमार डे का मत है कि यात्राओं में कथोपकथन तथा अभिनय भी सम्मिलित रहता था तथा उसमें एक कथा भी होती थी, जो वर्णनात्मक ढङ्ग से गाते हुए नृत्य के साथ प्रदर्शित की जाती थी इस प्रकार यात्राओं में नृत्य, गीत तथा संवाद सभी सम्मिलित थे। उत्तर भारत में रङ्गमञ्च की तीसरी विधा रास के रूप में प्रचलित थी। इसको प्रदर्शित करने वाले रासधारी कहलाते थे तथा इसका केन्द्र मथुरा-वृन्दावन था। इस रास में रङ्गमञ्चीय विधान तो अधिक न था, परन्तु पात्रों की सजावट, सामूहिक गान तथा सुन्दर नृत्य की योजना रहती थी। संवाद तथा अभिनय भी बराबर साथ-साथ चलते थे और सर्वसाधारण के सामने मन्दिरों, धर्मशालाओं या मैदानों में इनका प्रदर्शन होता था। ये रास बहुधा श्रावण मास में होते थे और रास-मण्डलियाँ घूम-घूमकर दूर-दूर तक अपने रास जनता के सामने प्रस्तुत किया करती थीं। दक्षिण में भी कभी-कभी ये मण्डलियाँ जाया करती थीं। ये रास आज तक मथुरा वृन्दावन में प्रचलित हैं, तथा नाटकीय रङ्गमञ्च के ह्रास का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

दक्षिण भारत में भी इस काल के अन्तर्गत जन-रङ्गमञ्च के दर्शन होते हैं क्योंकि वहाँ पर भी उत्सवों पर ग्रामीण लोग 'यक्षगान' आदि कथाओं को जनता की अपार भीड़ के बीच में अभिनयात्मक ढङ्ग से प्रदर्शित करते थे। 'भागवतम्' भी ऐसा ही जन-नाट्य है जो खुले मैदानों में जनता के सामने स्वाँग के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। परन्तु ११ वीं शताब्दी के अन्तर्गत चोल राजा ने एक शिवमन्दिर के अन्तर्गत एक नाट्य-मण्डली की स्थापना की, जो सुन्दर-सुन्दर नाटक अच्छे रङ्गमञ्च द्वारा उत्सवों के अवसर पर उपस्थित किया करती थी। पश्चिमी भारत में भी राजकीय रङ्गमञ्चों का ह्रास हो गया था। यहाँ पर भी प्रायः महाभारत तथा पुराण की कथायें या दादाजी पन्त आदि की घटनायें मन्दिरों, धर्मशालाओं या खुले मैदानों में जनता के सम्मुख प्रदर्शित की जाती थीं यहाँ पर पूर्वकालीन रङ्गमञ्चीय विधान के अनुसार ही नांदीपाठ, गणेशपूजन या सरस्वती पूजन आदि होते थे, तदुपरान्त नाटक की कार्यवाही प्रारम्भ होती थी। मरहठा लोग युद्ध-प्रिय थे। अतः रङ्गमञ्च पर युद्ध-देखना भी ये लोग पसन्द करते थे। गुजरात की ओर तरगाला भोजक जाति अभिनय में बड़ी निपुण थी और ये लोग भी खुले मैदानों में केवल एक दर्रे के सहारे सिद्धराज तथा रानक की कथा आदि प्रस्तुत किया करते थे। यहाँ पर नवरत्न के अवसर पर दुर्गा देवी के महत्वपूर्ण कृत्यों का भी स्थान स्थान पर प्रदर्शन होता था और यहाँ पर रङ्गमञ्च पर पहले गणपति पूजा आदि की प्रथा भी प्रचलित थी।

इस प्रकार मध्यकाल के अन्तर्गत रङ्गमञ्च का स्वरूप पहले जैसा न रहा। अब यह खुले मैदान में अभिनय प्रस्तुत करने के कारण विवाह, नौका संतरण तथा युद्ध आदि भी दिखाये जाने लगे। पात्रों की सजावट आदि पर तो ध्यान दिया जाता था, किन्तु रङ्गमञ्च की सजावट या उसके लिए देव-पूजा आदि की प्राचीन विधियाँ आदि न रहीं। अब केवल राजा तथा उसके विशिष्ट लोगों के लिए ही रङ्गमञ्च न थे, अपितु सर्वसाधारण के लिये उनका प्रयोग होता था। रङ्गमञ्च के विधान की भी उतनी चिन्ता अब न थी, निर्देशक आदि जनता के सामने ही या तो पात्रों को बताते रहते थे या स्वयं पुस्तक में से पढ़कर कथा जनता को सुनादी जाती थी और पात्र केवल उस कथा में आये हुये विवरण के अनुसार अपने अभिनय जनता के सामने प्रस्तुत करते थे। इस काल में धार्मिकता अधिक बढ़ गई थी, अतः राम, कृष्ण आदि के जीवन सम्बन्धी अभिनय ही प्रायः जनता के सामने प्रदर्शित किये जाते थे। इसके साथ ही इस युग में रस की चिन्ता न करके साधारण ढङ्ग के हँसी-मजाक युक्त कथायें प्रस्तुत की जाती थीं। इस काल में अभिनेताओं को भी बुरी दृष्टि से देखा जाता था।

(३) आधुनिक रङ्गमञ्च—अँग्रेजों के आगमन के उपरान्त आधुनिक रङ्गमञ्च के दर्शन होते हैं। १७४७ ई० में होने वाले प्लासी-युद्ध के पूर्व ही यहाँ अंग्रेजी रङ्गमञ्च की स्थापना कलकत्ते के किले में हो चुकी थी, परन्तु बीच में युद्ध के कारण वह रङ्गमञ्च नष्ट-भ्रष्ट हो गया और १७७५ ई० में जनता तथा प्रमुख अधिकारियों के चन्दे से पुनः उसका निर्माण हुआ। उन चन्दा देने वालों में वारेनहेस्टिंग्ज भी सम्मिलित थे। इसके उपरान्त यहाँ १७९५ ई० में एक रूसी यात्री द्वारा एक रङ्गमञ्च स्थापित किया गया। इन दोनों स्थानों पर अंग्रेजी नाटकों का ही प्रदर्शन होता था। इसके बाद धीरे-धीरे नाटक-कम्पनियाँ बढ़ने लगीं और कलकत्ते में अंग्रेजों के प्रयत्न से अंग्रेजी रङ्गमञ्च पर अंग्रेजी में अनूदित संस्कृत-नाटक भी खेले गये। इधर बम्बई में पारसी नाट्य-कम्पनियों ने अपने रङ्गमञ्च का निर्माण किया। १७७० ई० में बौम्बे थियेटर की नींव पड़ी जो चन्दा द्वारा ही बना था। किन्तु १८४२ ई० में जगन्नाथशङ्कर सेठ ने एक अपने निजी थियेटर का निर्माण करके स्वतन्त्र रङ्गमञ्च की नींव डाली परन्तु इस पर भी अंग्रेजी तथा पारसी रङ्गमञ्च का प्रभाव था। धीरे-धीरे पारसी कम्पनियाँ अत्यधिक बढ़ गईं। ये कम्पनियाँ उर्दू के नाटक प्रायः प्रस्तुत किया करती थीं तथा इनके अभिनय में उछल-कूद, अश्लीलता, आदि अधिक रहती थी।

इधर हिन्दी रङ्गमञ्च का निर्माण अभी तक नहीं हुआ। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की प्रतिष्ठा प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ाई परन्तु वे भी हिन्दी रङ्गमञ्च का निर्माण न कर सके। बनारस थियेटरर्स के अन्तर्गत सन् १८६१ ई० में श्री शीतलाप्रसाद लिखित जानकीमङ्गल नाटक का अभिनय अवश्य हुआ और भारतेन्दु का सत्य हरिश्चन्द्र नाटक पचासों जगह खेला गया। इसके साथ ही हरिश्चन्द्र युग के अन्य नाटककारों के भी नाटक यत्र-तत्र खेले गये, परन्तु हिन्दी रङ्गमञ्च की प्रतिष्ठा नहीं हुई। पारसी कम्पनियों में पहले तो उर्दू के ही नाटक अधिक खेले जाते थे, परन्तु पीछे राधेश्याम कथावाचक के वीर अभिमन्यु, श्रवणकुमार आदि, आगा हश्र के सूरदास, सीता-बनवास आदि हिन्दी नाटक भी खेले गये, फिर भी जिस रङ्गमञ्च पर ये हिन्दी नाटक खेले गये वह पारसी तथा अंग्रेजी रङ्गमञ्च से ही प्रभावित था।

इधर सिनेमा के आगमन से समस्त नाटक-कम्पनियाँ समाप्त होगईं अब केवल उत्सवों के अवसर पर ही कहीं-कहीं नाटक देखने को मिलते हैं। प्राचीन काल में जैसे स्वतन्त्र रङ्गमञ्च का विकास भारत में हो चुका था वैसा अभी तक कहीं दृष्टि नहीं आता। केवल मध्यकालीन रास, रामलीला तथा यात्रायें तो आज भी प्रचलित हैं, परन्तु नाट्यशास्त्र में उल्लिखित पूर्वकालीन रङ्गनञ्च का स्वरूप पूर्णतया लुप्त हो चुका है। पारसी कम्पनियों के अत्यन्त निम्नस्तर के नाटक तथा रङ्गमञ्च की व्यवस्था देखकर भारन्तेन्दुजी के परिवार में से ही श्री ब्रजचन्द ने काशी में एक 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली' की स्थापना की। प्रयाग में भी 'श्री रामलीला नाटक मण्डली' के नाम से नाटक मण्डली की स्थापना हुई, पीछे इसका नाम 'हिन्दी नाट्यसमिति' रख गया। दिल्ली में लाला श्रीराम के परिवार के लोगों ने भीएक नाटक कम्पनी की स्थापना की है, इस कम्पनी का उद्देश्य भारतीय संस्कृति को नृत्य तथा सङ्गीतमय नाटकों के माध्यम से जनता के सम्मुख रखना है। इधर बम्बई में प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज ने पृथ्वी थियेटर की स्थापना की है, जो सुरुचिपूर्ण एवं समसामयिक नाटकों का प्रदर्शन करके एक सुसंस्कृत रङ्गमञ्च का स्वरूप दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। आगरा में भी श्री राजेन्द्र रघुवंशी के प्रयत्न से जन नाट्यसङ्घ की स्थापना हुई है। इधर भारत सरकार ने भी नई दिल्ली में एक कलाकेन्द्र की स्थापना की है। इन समस्त प्रयत्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय रङ्गमञ्च पुनः अपनी विकासशील अवस्था पर पहुँचेगा

नाटकों में दुःखान्त-तत्त्व

श्री मा० ब० राय तथा उ० ना० राय

पाश्चात्य नाटकों से तुलना करने पर भारतीय नाटकों में एक मुख्य बात यह दीखती है कि यहाँ दुःखान्त नाटकों का अभाव रहा है, जबकि योरप में अधिकांश नाटक इसी प्रकार के हैं। सोफोक्लिस, यूरोपिडिस, शेक्सपियर और गेटे प्रभृति के नाटक दुःखान्त ही हैं। कीथ ने इसे संस्कृत-नाट्य-साहित्य का एक बड़ा अभाव माना है। उन्हीं की कोटि के और विद्वान भी ऐसा मानते आये हैं कि कमेडी (सुखान्त) जीवन की सतह से सम्बन्ध रखती है जबकि ट्रैजेडी (दुःखान्त) में जीवन का गम्भीर पक्ष आलोक-भासित होता है। कमेडी में हम व्यक्तियों की विचित्र प्रवृत्तियों एवं त्रुटियों और सामाजिक कुसंस्कारों को देखते तथा उन पर हँसते हैं। सामाजिक हलचलों, व्यक्तियों और राष्ट्रों के महत्व पूर्ण संघर्षों और अदृश्य शक्तियों एवं भाग्य द्वारा जीवन-चक्रों के परिचालन से ट्रैजेडी हृदय में दया तथा आन्तक का भाव जगाती है। होरेस बाल्पोल ने कहा है कि जीवन उसके लिए एक कमेडी है जो सोचता है और अनुभूति प्रवण के लिए वह एक ट्रैजेडी है। ट्रैजेडी जीवन के गम्भीर, उन्नत और महत्वपूर्ण पक्ष से सम्बन्ध रखती तथा हृदय के अन्तरतम केन्द्र को प्रभावित करती है। ट्रैजेडी की प्रशंसा के लिए महाप्राणता आवश्यक है; और एक उन्नत राष्ट्र ही इसकी प्रशंसा करेगा-ऐसा उनका मत हैं।

हमारे भारतीय पंडितों का मत इसके विपरीत हैं। जब दुःखान्त और सुखान्त का प्रश्न उठता है तब वे स्पष्ट देखते हैं कि कर्णभार, उरुभंग-जैसे कुछ नाटकों को छोड़ (जो उच्च कोटि में नहीं गिने जाते) प्रायः सभी श्रेष्ठ नाटक सुखान्त हैं। फिर तो पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार ये सब नाटक महत्वहीन हो जायँगे ! अतः वे यह कहने लगे कि नहीं, दुःखान्त नाटक ठीक नहीं, क्योंकि वे निम्न रुचि के परिचायक हैं; उनमें नृशंसता और वर्वरता के दृश्य निःसंकोच दिखाये जाते हैं जिनसे दर्शकों-पाठकों में भी दुष्प्रवृत्तियाँ जगती हैं आदि। अधिक मार-काट या मृत्यु के दृश्य कुरुचि उत्पन्न करते हैं, लोगों में क्रूरता पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिए हम उस प्लातक दास की घटना को ले सकते हैं जिसे रोमन जनता के समक्ष शेर के सामने अपने भाग्य का निर्णय करने को खुला छोड़ दिया गया था। लोग शेर द्वारा खाये जाते देखने के लिए उत्सुक थे क्योंकि रोज देखते रहने से उन्हें यह एक तमाशा-भर रह गया था। अतः शेर के स्तब्ध रह जाने पर लोग व्याकुल हो उठे थे। भरत मुनि ने इसी से वध, युद्धादि के दृश्य वर्जित कर दिये थे। इस तथ्य में हमें सन्देह नहीं। फिर भी, इनका कियदंशों में होना वांछनीय है ही, अन्यथा नाटक यथार्थ से दूर जा पड़ेंगे। विषय को उत्कर्ष देने के लिए जीवन के बुरे से बुरे पक्ष पर भी प्रकाश डालना ही होगा; दिन की महत्ता रात्रि की अपेक्षा से सिद्ध होती है, अच्छाई का महत्व बुराई के दर्शन से विदित होता है। सुतराम् हिंसा, बर्बरता और नृशंसता को हम स्पृहणीय न मानें यह एक बात है एवं उनका कलात्मक दृष्टि से तद्वत् चित्रित करना दूसरी बात है।

आदर्श को महत्व देने के लिए कुत्सित यथार्थ भी आवश्यक है, तभी तो महाकाव्यों में आदर्श पात्रों के विरोधियों के अनगिनत अनाचारों को वर्णित कर देने में महाकवि न हिचके। समाज में, देश में, जाति में यदि कुत्सा है तो वह छिगने से नहीं, प्रकट करने और उसका उपाय करने से ही दूर होगी। नाटक के सम्बन्ध में यह प्रश्न अधिक महत्व का नहीं कि क्या चित्रित करें, क्या नहीं ? जो सच है, उसे निःसंकोच प्रकट करने में हानि ही क्या है ? यदि रावण के अन्यायों, कंस के कुकृत्यों और शिशुपाल-विषयक

कथाओं से किसी का क्रूर या राक्षस बन जाना प्रामाणिक माना जा सकता है, तो वह बात हम नाटकों के सम्बन्ध में भी लागू कर दें; पर क्या ऐसा संभव है? काव्य का उद्देश्य (नाटक भी काव्य ही है) रसात्मक अनुभूति जाग्रत कर मानव-हृदय को परिष्कृत करना है, और भयानक एवं करुण को भी रसों में ही माना गया है। फिर, सचाई को न मानना, उससे पूर्ण कृतियों को कुरुचिद्योतक कहना कहाँ का न्याय है? अतः भारतीय पण्डितों का दुःखान्त-विरोधी आन्दोलन, यथार्थ एवं रसात्मक अनुभूति दोनों की दृष्टि से ही त्रुटिपूर्ण तथा भ्रामक है।

अब पाश्चात्य पण्डितों के मत को लीजिये। यह सच है कि दुःखान्त नाटकों में जीवन की कठोर वास्तविकता का दर्शन होता है, मनुष्य की कमजोरियाँ स्पष्ट होती हैं, मानव-वृत्तियों का परिष्कार होता है एवं जीवन के प्रति उनसे चेतना जगती हैं या जग सकती है। यह भी सच है कि ट्रैजेडी प्रायः कमेडी की अपेक्षा गम्भीर होती हैं। उनमें अधिक ज्ञान और अनुभव दृष्ट होता है। शेक्सपियर ने अपने दुःखान्त नाटक परिणत अवस्था में ही लिखे; किन्तु यह सच नहीं कि दुःखान्त नाटक सर्वथा और सर्वदैव गम्भीर ही होता है, एवं सुखान्त हलका। वास्तव में सुखान्त या दुःखान्त होने मात्र से कोई नाटक अच्छा या बुरा नहीं बन जाता। हमारे विचार में तो सुखान्त-दुःखान्त का भेद नितान्त कृत्रिम है। इन शब्दों का प्रयोग प्रायः अनियन्त्रित रूप में हुआ है। नाटक का सुखान्त या दुःखान्त नामकरण नायक के पर्यवसान या मार-काट उत्सवानन्द के आधिक्य पर न निर्भर कर दर्शक या पाठक में जैसी अनुभूति पैदा हो, उसके हिसाब से करना हम अधिक समीचीन समझते हैं। मैकवेथ का पतन हमें तनिक भी दुःख नहीं देता। उसकी दुष्प्रवृत्तियों के कारण उसके प्रति हमारी सहानुभूति नहीं हो सकती। अतः रूढ़ि के अनुसार उसे जो भी माना जाय, है वह सुखान्त ही? इसी प्रकार वेणीसंहार के भी सुखान्त होने में किसी को सन्देह की गुञ्जायश नहीं। जूलियस सीजर में यद्यपि हम ब्रूटस से सहानुभूति रखते हैं और इसे उसके दुःखद अन्त के कारण एक शुद्ध ट्रैजेडी कह सकते हैं, पर इसमें भी हमें आशा की किरणें फूटती दीखती हैं। ब्रूटस गुणवान था, नीतिनिष्ठ था, पर साथ ही आदर्शवादी विहायसचारी भी था; और वह उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। वह सफल भी हो जाता तो केसियस-जैसे ढुलमुलयकीनों का बोलबाला रहता और राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना हो पाती, इसमें सन्देह है। उसे छोड़ अन्य सभी षड्यन्त्रकारी ईर्ष्यालु और दुर्वृत्तिपरायण थे जिनसे किसी सदुद्देश्य की पूर्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। इस दृष्टि से उसकी असफलता और मृत्यु हृदय द्रावक होते हुए भी अपना एक उज्ज्वल पक्ष रखती हैं। दूसरी ओर, अन्त समय तक उसको इस बात का सन्तोष रहता है कि जो कुछ उसने किया, अच्छा किया और अपनी पराजय के बाद भी वह उस यश को पा लेगा जिसे एण्टोनी तथा आक्टेवियस अपनी विजय के अनन्तर भी नहीं प्राप्त कर सकते। इस तरह दुःखान्त की स्थिति में भी इसमें आशा की झलक दिखायी गयी है। ओथेलो का घटनाक्रम अत्यन्त रोमाञ्चकारी है तथा वह भी एक विशुद्ध ट्रैजेडी है। साध्वी डेस्डेमोना का अपने ही सर्वथा अनुकूल एवं प्रिय पति के हाथों मिथ्या सन्देह के कारण दुःखद अवसान, महान नायक ओथेलो का करुण अन्त देख दर्शकों-पाठकों के हृदय बोझिल हो बैठ-से जाते हैं। लेकिन अपने दुष्ट पति बकदांभिक इयागो के कुचक्रों का ज्ञान होते ही भोली एमिलिया टोंक दुर्घटना के समय पहुँचकर दुनिया की दृष्टि में उसकी बाहरी साधुता का जिस प्रकार भण्डा फोड़ती है, उससे मरती हुई डेस्डेमीना के साथ ही अपने प्राणान्त द्वारा ओथेलो का प्रायश्चित्त तथा बेचारी एमिलिया का अपनी स्वामिनी के लिए सहज बलिदान मानवता के हित में जो संकेत कर जाते हैं, वे हमारे हृदयों को कुछ सान्त्वना दिये बिना नहीं रह सकते। फिर, पामर इयागो जिस प्रकार अपने ही

बुने विनाश के महाजाल में अकेले छटपटाने को बच रहता तथा संसार की समूची निरीहता उस मक्कार और मदबढ़ में आकर धनीभूत हो जाती है, उससे सामाजिकों को एक सन्तोष की साँस अवश्य मिलती है।

दुःखान्त नाटकों की कुछ चर्चा ऊपर हो चुकी। अब सुखान्त नाटकों को देखिये। शेक्सपियर के 'मिडसमरनाइट्ड्रीम' में जादूगरी के जैसे हलके करतब दिखाये गये हैं, वैसे ही 'ऐज़ यू लाइक इट' में भी नहीं;—उसमें प्रकृति जीवन के गम्भीर पहलू भी आये हैं। 'दि मर्चेन्ट आफ वेनिस' की आलोचना करते समय लोग बैसानियो को नायक और पोर्शिया को नायिका मानते हैं। किन्तु महाकवि ने अपनी इस कमेडी का नामकरण ऐण्टानियो (वेनिस के सौदागर) के पीछे क्यों किया ? उदार एण्टानियो अपने मित्र (बैसानियो) को सुखी बनाने में कुछ भी कसर नहीं रखता, पर अन्त तक हम उसकी मुद्रा संगीन ही बनी पाते हैं। न तो वह ईर्ष्यालु प्रकृति का है, न दूसरों के उत्कर्ष से जलने वाला और न व्यापारिक घाटे या हानि से व्यग्र एवं चिन्तित। फिर उसकी इस उदासी का कारण ? कुछ विद्वानों के अनुसार इसका कारण ऐण्टानियो का यह ख्याल था कि वैसानियो के विवाहित हो जाने के वाद दोनों मित्रों के बीच पहली घनिष्टता न रह जायगी। डॉक्टर झा के अनुसार भी इस जुदाई की आशङ्का ही थी क्योंकि—'Antonio's love towards his friend was almost feminine' जो कुछ भी क्यों न हो, यह नाटक के हलकेपन नहीं वरञ्च उसकी गम्भीरता का द्योतक है। अभिज्ञान शाकुन्तल भारतीय आदर्शों पर आधारित शुद्ध सुखान्त नाटक है, परन्तु उसकी गम्भीरता में आज कौन सन्देह कर सकता है ? महाकवि भवभूति का मलती-माधव सुखान्त होते हुए भी रोचक तथा गम्भीर है। हमारी समझ से तो बङ्किम बाबू की कपालकुण्डला का मूल प्रेरक यही रहा है।

इस तरह, दुःखान्त और सुखान्त का भेद कुछ महत्त्व नहीं रखता, और न इससे नाटक की विशेषता पर कुछ प्रकाश ही पड़ता है। नाटक चाहे जिस प्रकार का हो, सुविधा और स्पष्टता के लिए उसे आशावादी या निराशावादी—इन दो कोटियों में से किसी एक में रखना होगा। आशावादी नाटक ही विशुद्ध सुखान्त हो सकता है जबकि निराशावादी ही पूर्णतः दुःखान्त। इस दृष्टि से दुःखान्त नाटक स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचायक नहीं, क्योंकि निराशावाद एकदम थोथा विचार है, उसमें गम्भीरता तनिक भी नहीं। जीवन में बाधा-विपत्तियों, कष्ट-कण्टकों, अत्याचार-अनाचारों से भी जूझना पड़ता है; पर एक स्वस्थ विचारक उन्हें जीवन का ध्रुव सत्य नहीं मान लेता और न उनकी क्षणिक विजय को शाश्वत-रूप ही देता है। ऐसा करना उसके लिए अपनी पराजय स्वीकार करना होगा। अतएव प्रत्येक युग का स्वस्थ चिन्तक यथार्थ की जटिलताओं, दुःखों की स्थिति स्वीकार करते हुए उनके निवारण का उपाय भी सुझाता है, निशा के उपरान्त सूर्योदय की भी घोषणा करता है। आशावादी या सुखान्त लेखक इसी स्वस्थ विचार का अनुसरण करता है जबकि निराशावादी दुःखान्त नाट्यकार भाग्य का रोना रोने के सिवा कुछ भी नहीं कर पाता। हाँ, अपनी विकृत बुद्धि से औरों को भी हताश तथा मूढ़ बनाकर उनकी प्रवृत्ति को आत्मघाती अवश्य बना सकता है।

अतएव संसार के साहित्य में श्रेष्ठतम रचनाएँ वही हैं जो जीवन-संग्राम की तमाम कटुताओं, कुरूपताओं एवं असफलताओं के बीच सुख, सुन्दरता और आशा का सन्देश सुनाकर स्फूर्ति जाग्रत करें। इस कोटि में ट्रैजेडी और कमेडी दोनों नामों से अभिहित पुस्तकें आ जाती हैं। शेक्सपियर की श्रेष्ठतम कृतियाँ हमारे दृष्टिकोण में सुखान्त ही हैं। मैकवेथ तो स्पष्टतः सुखान्त है ही, जूलियस सीजर में भी ब्रूटस की कमजोरियों का स्थल-स्थल पर संकेत और तदुपरान्त उसकी असफल किन्तु सन्तोषपूर्ण मृत्यु का वातावरण है। यों ही ओथेलो का भी, पूर्णतः निराशाजनक नहीं जैसा कि हम कह चुके। निराशाजनक होने के लिए अच्छे

नायक का पतन मात्र अपेक्षित नहीं। यदि उसमें कुछ कमजोरियाँ हैं या कुछ कारण ऐसे हैं जिन पर वह नियन्त्रण नहीं कर पाता, तो उसका पतन एकदम स्वाभाविक ही है। किन्तु यदि उन त्रुटियों व उनके निराकरण का मार्ग हमें सुस्पष्ट दीखता है, तो रूढ़ि के अनुसार ट्रैजेडी भले कहें हमारी परिभाषा से ऐसा नाटक दुःखान्त (निराशाजनक) न होगा। यहाँ एक बात और कह देना हम आवश्यक समझते हैं। शेक्सपियर संसार के अन्यतम नाटककारों में हैं यह सच है, पर विश्व-साहित्य की अथ-इति उन्हीं तक नहीं। उनमें भी हमें एक त्रुटि दीखती है। उनके प्रायः सभी नाटकों में (यथा मैकवेथ, जूलियस सीजर, हैमलेट आदि में) भूत-प्रेत एवं परियों का सन्निवेश है जो खटकने वाला है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि यह उस युग की भावधारा के अनुकूल है; जो लोग उस विचार के हैं इन्हें न खटकेगा। जर्विस और हडसन—जैसे लोग तो इसकी सङ्गति नये वैज्ञानिक विचारों से भी भिड़ाने में लगे हैं; किन्तु हैमलेट का अपने पिता के साथ लम्बा वार्तालाप और होरेशियो—जैसे तार्किक द्वारा उस भूत का देखा जाना उनके मत की निर्मूलता प्रमाणित करते रहेंगे। भूत-प्रेत मानने वालों के लिए ये न खटकते हों, लेकिन इस बुद्धिवादी युग में कोई भी उन पर शङ्कित हुए बिना न रहेगा। इसी प्रकार नाटकों में जहाँ उन्होंने पात्रों के चरित्रों पर विशेष ध्यान दिया है और उनकी विशेषताओं से ही असफलता या सफलता का होना दिखाया है, वहाँ तो ठीक है; किन्तु जहाँ भाग्य के हाथ में अन्तिम निर्णय सौंप दिये हैं और पात्र अपने सद्गुणों के बावजूद वाम-विधि के क्रीड़ा-कन्दुक बन गये हैं, वहाँ उनकी कला का पतन स्वीकार ही करना पड़ेगा। इस भाँति और भाग्यवादी नाट्यग्रन्थ भी अब सर्वोच्च नहीं माने जा सकते। अतः शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों की प्रशंसा इग्लैंडादि की महाप्राणता एवं उन्नत-दशा की अलामत भी नहीं।

भारतीय नाटक न तो पूर्णतः ट्रैजेडी या कमेडी के भेदों में आते हैं और न वे उस अर्थ में दुःखान्त ही हैं जिसे हमने गर्हित बताया है, जब कि पाश्चात्य नाटक ट्रैजेडी की भ्रान्त महत्ता के पीछे वास्तव में 'दुःखान्त' बन गये हैं। भारतीय नाटकों में जीवन के हर्ष-विषाद, नीति-अनीति, सुन्दर-असुन्दर का तीव्र सङ्घर्ष, घात-प्रतिघात दिखाया गया है और अन्त में विषाद की कालिमा पर आह्लाद की ज्योति बिखेरी गयी है, तथा उसकी विजय का सन्देश दिया गया है। उत्तर रामचरित जैसे नाटक में, जो आदि से अन्त तक बड़ा भाव-पूर्ण और विषाद-मिश्रित है, एक सुखद उपसंहार दृष्ट होता है। वेणीसंहार, शकुन्तला प्रभृति सभी रूपकों में इस नियम का पालन किया है। यह सब कोरी नैतिकता की दृष्टि से ही नहीं, वरन् इसका अपना मनोवैज्ञानिक आधार भी है। आदर्श की जय हृदय में आशा और स्फूर्ति का जो सञ्चार करती है वह क्या योंही ठुकराने की चीज है? इसके दार्शनिक पक्ष की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इसके विरुद्ध यह प्रश्न कदापि न उठाना चाहिये कि नाट्यकार दार्शनिक नहीं; क्योंकि कलाकार का लक्ष्य दार्शनिक से कुछ नीचा नहीं है, भेद कार्य-क्षेत्र भर का है। इसके विपरीति, यदि मनोरञ्जन को ही नाट्य का ध्येय मानें तो भी सस्ती ट्रैजेडी द्वारा निराशावाद की विषैली घूँटी पिलाना कहाँ तक उचित है? अतःएव नाटक अच्छा हो इसके लिये उसका ट्रैजेडी या कमेडी होना जरूरी है। यथार्थ जगत् में कुत्सा, कुरूपता और दुःख का भी अस्तित्व है; उनके बिना जीव में कभी भी पूर्णता नहीं आ सकती, केवल इसीलिये दुःखद तत्त्वों का समावेश आवश्यक नहीं। अपितु, इसलिये भी कि दुःखद तत्त्वों का ही जीवन में प्राधान्य है। कलाकार भी दार्शनिक की भाँति ही, यद्यपि भाव-प्रधान ढङ्ग से, उनका समाधान रखता है एवं मानव-हृदय की दुर्बलताओं का विश्लेषण कर उनके परिष्कार का उपाय सुझाता है, इसी हद तक रूपकों में सीमित रह यह उनकी अनुभूति तीव्र करता है। इस इयत्ता

को लाँघ जाने पर यह काव्य-सौन्दर्य को नष्ट ही करेगा, बढ़ायेगा नहीं ।

काव्य की उत्तमता का निर्णय इसलिये तथा कथित ट्रेजेडी और कमेडी के रूढ़ भेदों के आधार पर करना ठीक नहीं । हलकी कमेडी और सस्ती ट्रेजेडी—दोनों ही समान रूप से हेय नहीं तो अवांछनीय जरूर हैं । जीवन पर एकाङ्गी, अपूर्ण, अतिरञ्जित दृष्टि के कारण सु साहित्य की गौरवपूर्ण परिभाषा को चरितार्थ करने में अशक्त रह जाती हैं । स्वस्थ मार्ग दोनों सीमाओं के बीच से है । इससे झूठी बात दूसरी नहीं कि कोई राष्ट्र केवल ट्रेजेडी या कमेडी की प्रशंसा करता है अथवा यह कि इसका मूल कारण उसकी बौद्धिक उन्नति या अवनति है । उच्च साहित्य यद्यपि बीच का मार्ग अपनाता है, किन्तु इतना निःसन्देह सत्य है कि देश या समाज की विभिन्न परिस्थितियों के कारण रुचि में अन्तर आ जाता है । शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में जीवन के सुखद क्षणों की ओर ही ध्यान केन्द्रित रहता है, जबकि असाधारण परिस्थितियों एवं सामाजिक उथल-पुथल के समय यथार्थ से किनारा कसने में सफल न होने के कारण कलाकार का ध्यान जीवन की असंगतियों, संघर्षों, आपदाओं पर विशेष रूपेण आकृष्ट हो जाता है । योरप में मध्य युग से आज तक ऐसी ही स्थिति रही है । भारत में भी २० वीं शती के आरम्भ से कुछ असाधारण परिस्थिति में अपना असर दिखाना शुरू किया है । यह भारतीय नाटककारों, कवियों, उपन्यासकारों सभी पर देखा जा सकता है । हाँ, एक बात में वे पुराने पाश्चात्य नाटककारों से भिन्न हैं । वह है वही आशावादी भावना । प्रसाद के नाटकों पर विषाद की प्रगाढ़ छाया पड़ती देखना कुछ कठिन नहीं, पर उससे भी महत्वपूर्ण है उनका स्फूर्तिदायक सन्देश । हम सोफोक्लीज, यूरिपिडिस और शेक्सपियर की अवमानना नहीं करते, क्योंकि वृत्तियों के परिष्कार तथा जीवन की गम्भीरता में बैठने के कारण उनका अपना महत्व है, पर इस बात को निःसंकोच कहेंगे कि नाटक (काव्य) के लिए वैसी किसी रूढ़ि की पुष्टि जरूरी नहीं । हमने आशावाद की आवश्यकता भी मानी है, पर इससे यह न समझें कि परियों की कहानी वाला आशावाद ही हमारा अभिप्रेत है । इसके विपरीत, हम चित्रण और वस्तु-विश्लेषण की मर्मिकता को ही आशावाद नाम देते हैं जैसा कि जूलियससीजर विषयक हमारे मन्तव्यों से स्पष्ट हो गया होगा । वह विजय की भावना को आबद्ध रखता है, सामाजिक जीवन की व्यवस्था विश्वास और आशा पर आधारित रख सम्भव बनाता है, वह उस उद्देश्य को पूरा करता है जिसे कपोलकल्पित-पाखण्डपूर्ण 'धर्म' नहीं कर सकते । नाटक की भी महत्ता इसी में है कि विश्लेषण में विज्ञान की भाँति ही पर्याप्त सक्षमता तथा अवकाश के कारण उसकी दृष्टि साहित्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा ज्यादा मार्मिक और पूर्ण हो सकती है ।

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

प्रयास करता है । यद्यपि उपन्यास में भी चुनाव रहता है तथापि नाटक में चुनाव की कला अधिक परिलक्षित होती है । वह ऐसे दृश्य चुनता है जिनसे कथन का तारतम्य टूटे बिना संक्षेप में पात्रों का चरित व्यञ्जित होजाय और रस की अभिव्यक्ति हो जाय । इसीलिए नाटक में तीन मुख्य तत्त्व माने गए हैं । वस्तु, नायक और रस । इन्हीं के आधार पर रूपकों का विभाजन होता है । उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस की अभिव्यक्ति कुछ अधिक होती है । कम से कम भारतीय नाटकों में । पाश्चात्य नाटकों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है । यह प्रभाव भारत में भी प्रचलित है । नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी बाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रों की प्रगीत काव्य जैसी भाव परायणता भी रहती है । नेत्रों के अनुरञ्जन के साथ शिक्षा और उपदेश 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे' की उक्ति को सार्थक करता है । नाटक में उपन्यास की सी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के से आदर्श की व्यञ्जना रहती है । नाटक एक साथ मनोरञ्जन और शिक्षा का कारण बन जाता है ।

संस्कृत नाट्य का सर्वस्व रस : क्यों और कैसे ?

डॉ० लाल रमायदुगालसिंह एम० ए०, डी० फिल, आचार्य, साहित्यरत्न

इस निष्कर्ष में तो किसी को कोई 'ननुनच' करने का अवकाश नहीं है। रस ही संस्कृत नाट्य का सर्वस्वायमान तत्त्व है। सभी शास्त्रकारों ने इस बात को सिद्धान्त रूप से उपन्यस्त किया है कि वह तत्त्व जिसका एक नाट्यकार को सर्वदा-सर्वथा ध्यान रखना चाहिये रस ही है। और यह भी एक संशयरहित तथ्य है कि समग्र संस्कृत-नाट्यकारों ने एक विचित्र ऐकमत्य के साथ इस सिद्धान्त का अनुवर्तन किया है। संस्कृत नाट्यवेद के महर्षि आचार्य भरत ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि 'रस की अनुपस्थिति में कोई भी नाट्यार्थ (तत्त्व विशेष) प्रवृत्त हो ही नहीं पाता'—रस ही सर्वतत्त्वसर्वस्व सर्वाधार है :—

" न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तत इति।"

ना० शा० ६, (पृ० ९२)

आचार्य धनञ्जय ने रस की प्रधानता न मानने वाले 'एजुकेटिव वैल्यू' ढूँढ़ने वाले महाप्रभुओं की गहरी चुटकी लेते हुए कहा है :—

"आनन्द निस्यन्दिषु रूपकेषु
व्युत्पत्तिमात्रम्फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाहसाधुः
स्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय॥"

—द० रू० १, (पृ० ३)

[जिस कम समझ महाशय ने इतिहास-पुराण की तरह आनन्द का स्पन्दन करने वाले रूपकों में व्युत्पत्ति (आचारशिक्षा) को ही वास्तविक उपलब्ध बता रखा है उस सुखपराङ्मुख (समीक्षक) को मेरा दूर से नमस्कार है।]

अक्षराज का कहना है—"इस संसार में सुख ग्रहण करने योग्य वस्तु है और दुःख त्यागने योग्य, यह एक मानी हुई बात है। और इसीलिए सुख में परिणत होने वाले दुःख को इष्ट समझा जाता है औरों को नहीं। सुख भी दो प्रकार का कहा गया है एक नित्य और दूसरा अनित्य। नित्य सुख ब्रह्मरूप है और विषयों से उत्पन्न सुख अनित्य है। ब्रह्मरूप सुख केवल योगियों को प्राप्त होता है और उसकी प्राप्ति इस विषयरत संसार में बहुत कम ही होती है। रुचि-वैचित्र्य का सहारा लेने वाला विषयजन्य सुख कई तरह का होता है और इसका अन्त बहुत अच्छा नहीं होता। रस उन दोनों कोटियों के बीच का सुख है। इसकी विवेचना प्राचीन आचार्यों ने अनिर्वचनीय सुख के रूप में की है। इसी कारण से निःसार संसार में सार सिर्फ रस ही माना गया है और इसके बारे में अभिरुचि दिन-दिन बढ़ती ही जाती है।"

—(रसरत्नप्रदीपिका १, पृ० २)

'रसार्णवसुधाकर' में शिङ्गभूपाल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'रसोत्कर्ष ही नाट्य का प्राण है—(रसोत्कर्षो हि नाट्यस्य प्राणाः—पृ० ६) अस्तु, इस निगमन में किसी भी तरह के सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। रस को समग्र शास्त्रकार नाट्य का सर्वस्व मानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि रस को ही इतने महत्त्व का स्थान क्यों प्रदान किया गया था? इसमें कोई भी शक नहीं कि इस तत्त्व का सन्निवेश करके नाट्यकार अपनी कृति की कीमत समीक्षकों की दृष्टि में काफी बढ़ा लेता था और इसमें भी शक नहीं कि इस रस की ही वजह से उसमें एक सर्वातिशायिनी मनोरमता आ जाती थी जिससे कि वह अन्य मनोरञ्जन के साधनों के बीच सर्वश्रेष्ठ हो उठती थी और जिससे उसमें वह शक्ति भी आ जाती थी कि वह एक सहृदय के हृदय-पटल पर हेम-रेखा-सी जम जाय। तथापि इसके इस महत्त्वमय पद की प्राप्ति का हेतु कुछ और ही था।

श्रुतियों ने रस को एक अप्रतिम दार्शनिक महत्त्व

प्रदान कर रखा था। उपनिषदों के अनुसार परमात्मन् रस रूप है—'मोदनीय' है, 'आनन्दरूप' है, 'प्रिय' है, 'प्रमोद' है।

१—यद्वैतत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं सेवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। —तैत्तिरीयोपनिषद्।

२—स एव रसानां रसतमः। —छान्दोग्योपनिषद्।

३—स मोदते मोदनीयम् हि लब्ध्वा विवृतम् सद्म नचिकेतसम्मन्ये। —कठोपनिषद्।

४—तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा।

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

भारतीय चेतस् पर इन वेदवाक्यों का अमिट प्रभाव हुआ। कुछ नास्तिकों को छोड़ कर सारे भारत वासी वेदों को असीम श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनको धर्मग्रन्थों की प्रतिष्ठा अर्चना उपलब्ध थी। यही नहीं, भारतीय चिन्तकों ने वेदों को पूर्ण प्रमाण की भी प्रतिष्ठा प्रदान कर रखी थी। हिन्दू दर्शन की अनीश्वरवादिनी शाखाओं ने भी उन्हें यथार्थ प्रमा का प्रमापक मान रखा था। सांख्यकारिका के गौड-पाद भाष्य में स्पष्ट कहा गया है—

"आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु। आप्ता आचार्या ब्रह्मादयः श्रुतिर्वेदे आप्ताश्च श्रुतिश्चाप्तश्रुतिस्तदुक्तमाप्तवचनमिति।" —(पृ० १६१)

पूर्व मीमांसा के अनुसार—

"तस्मादपौरुषेयो वेदः तथासति पुरुषबुद्धि दोषकृतस्य अप्रामाण्यस्यानाशङ्कनीयत्वाद् विधिवाक्यस्य धर्मे प्रामाण्यं सुस्थम्।"

—जैमिनीयन्यायमालाविस्तर (पृ० २२)

भारतीय मेधा की इसी प्रवृत्ति ने रस को दिये गये महत्त्व के विषय में लेशमात्र भी संशय के लिए अवकाश न रहने दिया। रस, उपनिषदों के अनुसार, परमतत्त्व था और यही था 'काम्यतम ब्रह्मधाम'। नाट्यशास्त्रियों ने भी मन्त्रद्रष्टा महर्षियों का अनुगमन किया और अपने नाट्यवेद में एक सच्चे महर्षि की भाँति रस को काम्यतम परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार रस को वह महनीय-कमनीय स्थान उपलब्ध हो सका। वेदों ने आत्मन् को रस कह कर पुकारा और नाट्यवेद ने रस को आत्मन् के रूप में स्वीकारा; यह है दोनों का गङ्गायमुनी सङ्गम।

रस को आज संस्कृत-नाट्य की तत्त्वावच्छेदक विशेषता के रूप में स्वीकार किया जाता है। डा० कीथ तथा डा० दे ने इस वस्तुस्थिति के 'क्यों और कैसे' पर विचार करते हुए इसे ब्राह्मणों की 'अध्यात्मवादिनी-प्रवृत्ति' की ही देन के रूप में निदर्शित किया है। परन्तु यह अध्यात्मवादिनी-प्रवृत्ति-मात्र संस्कृत-नाट्य के इस सर्वगत सत्य को निगमित करा सकने में नितान्त असमर्थ प्रतीत होती है। एक समूचे राष्ट्र की सहस्रों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान पीयूष-मन्दाकिनी के उत्स के ऊपरी पार्थिव रूप को देख कर उसके अन्तस् की सरसता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उस संस्कृति सुरसरिता का अन्तस् ऋषियों-मनीषियों की अमूल्य चिन्तामणियों एवं प्रतिपल पल्लवित होने वाली तारराशियों के सहारे ही गवेषित किया जा सकेगा। हमारी संस्कृति के वे शाश्वत तत्त्व जिन्होंने कि हमारी समग्र चिन्ता-धाराओं को घेर कर छा रखा है; इस सर्वगत सत्य की किम्मूलकता का समुचित उत्तर दे सकते हैं। अन्यथा यदि अध्यात्मवाद और रसवाद के बीच कोई नियतसहचरता सम्भव हो सकती तो प्लैटो और अरिस्टाटल ने भी रसवाद का समुद्भावन किया होता और काव्य-नाट्य को हेय बताने की हिमाकत न की होती। अध्यात्मवाद भारत मात्र की बपौती नहीं है, वह तो सारी बसुन्धरा की निजी सम्पत्ति है। अतएव रसवाद को अध्यात्मवादिनी-प्रवृत्ति की देन मानने का मतलब होगा इसे सार्वभौम साहित्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में अङ्गीकार करना और इस तरह यह संस्कृत-नाट्य की कोई विशेषता रह ही न जायगी और वह दोष आ जायगा जिसे संस्कृत में वदतोव्याघात कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त जिस यथार्थवाद की संस्कृत-नाट्य में एकान्त कहीं देखने की कोशिश विद्वद्वर्य ने की है

(शेष पृष्ठ × पर देखिये)

R
२८
ओ ८ सा
मा०२६
11301
40004

नाडहत्तमिल और तमिल नाटक

श्रीमती आनन्दी परमेश्वरन

तमिल भाषियों को इस बात का बड़ा गर्व रहता है कि उनके तमिलनाड में तमिल, मुत्तमिल के रूप में विकसित हुई। मुत्तमिल का मतलब तीन प्रकार की तमिल से है—जो अलग रूप से इयल-तमिल, इशै-त् तमिल और नाड (ट) ह (क)-त्-तमिल के नाम से जानी जाती है।

तमिल साहित्य का यह त्रिविध विभाजन, तमिल की प्राचीनतम उपलब्ध रचना तोलकाप्पियम् में किया गया है और परवर्ती काल में, तमिल के साथ एक अविभाज्य विशेषण सा जुड़ा पाया जाता है।

तोलकाप्पियम् तमिल भाषा का प्राचीन विलक्षण व्याकरण है जिसमें एक साथ भाषा और साहित्य का मार्मिक विश्लेषण किया गया है पर उसके 'मुत्तमिल' वर्गीकरण का आधार क्या था—यह स्पष्ट नहीं है। इतना ही ज्ञात है कि तोलकाप्पियम काल—तमिल साहित्य का सङ्घकाल था जिसमें सङ्घकालीन तीन रूप में तमिल-मुत्तमिल फूली फली। जिन लक्ष्य ग्रन्थों को लेकर 'तोलकाप्पियम' मुत्तमिल की स्थापना करता है उनके अस्तित्व ही अब न रहे। लेकिन सङ्घ युग के अन्त में रचित एक काव्य में 'मुत्तमिल' का का निर्वाह किया गया है और वही 'मुत्तमिल' के एक एक प्रकार पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र आधार आज रह गया है। हाँ, सौभाग्य से 'शिलप्पदिकारम' अब हस्तगत है और उसी के झरोखे से हम सङ्घ (त्) तमिल-तीन, मुत्तमिल की इमल, इशै और नाटक की झाँकियाँ पाते हैं।

नाडह (त्) ह (क) त्-तमिल की चर्चा के लिए 'मुत्तमिल' का इतना परिचय आवश्यक था एक तो इसलिए कि—नाडह-त्-तमिल मुत्तमिल का एक अङ्ग है और दूसरा उसका दिग्दर्शन-मुत्तमिल के दो और अङ्ग इयल और इशै से जुड़ा मिलता है।

'इयल'-तमिल की रचना शैली का वह रूप है—जो काव्यात्मक होने पर भी मुक्त छन्द सा अधिक सीधा और स्पष्ट—गद्य के निकट होता है।

'इशै'—गीतात्मक पद्य का नाम है। लेकिन 'नाटक' का स्वरूप कुछ विचारणीय है। नाडह-तमिल के नाम से तमिल की किसी नाटकीय शैली की ओर संकेत है या नाटक के तत्वों से यह बात स्पष्ट नहीं है।

'शिलप्पदिकारम' (दूसरी शती)—जो मुत्तमिल माधुर्य भरा अनूठा काव्य माना जाता है—नाटकीय काव्य नाडह क्-काप्पियम के नाम से भी विख्यात है।

लेकिन उसको यह आदर उसकी विशेष चामत्कारिक कथा-विथाक शैली के कारण दिया जाता है या उसमें पाये जाने वाले नाटक के अंश—जैसे रङ्ग-मञ्च का वर्णन, नृत्य-प्रदर्शन का चित्रण, विविध लोक नृत्यों का गीत समेत प्रतिपादन इत्यादि के लिए, इस पर विद्वान एकमत नहीं हैं। नाडह-त्-तमिल, शैली के नाटकीय चमत्कार को दिखलाए या नाट्यकला की बारीकियों को दर्शाये—तमिल नाटकों के आरम्भकाल की चर्चा में, शिलप्पदिकारम की नाडह-त्-तमिलवाली विशेषता उल्लिखित हुए बिना न रहती। नाडह-त्-तमिल का आज यही महत्त्व है। आखिर, नाटक से परिचित हुए बिना—'नाडह-त्-तमिल' का नामकरण भी तो असम्भव था। किन्तु प्रश्न है, यहाँ पर 'नाटक' दश-रूपकों के एक भेद के रूप में जाना गया या नहीं। शिलप्पदिकारम में नाटक की अपेक्षा नाट्य या नृत्य कला का विशेष विवरण है—नृत्य सम्बन्धी बातों का बड़ा कुशल समावेश है।

शिलप्पदिकारम के टीकाकार अडियाकु नल्लार—नाडह तमिल के स्थलों की व्याख्या करते हुए जिन लक्षणग्रन्थों का आधार लेते हैं—वे भी प्रथमतः नाट्य-ग्रन्थ हैं न कि नाटक—जैसे 'भरतम्', 'पञ्च

भारतीयम्', 'भरतसेनापतीयम्' जयन्तिम् इत्यादि। भरत का नाम लेते ही, भारतीय, नृत्य और नाटक के महा शास्त्र कार भरत मुनि का स्मरण हो आता है, जिन्हें ही बहुत सम्भवतः तमिल ग्रन्थ भी मान्यता दे रहे हैं। भरत कृत नाट्य शास्त्र में—नृत्य-कला का ही नहीं नाटक कला का भी विवेचन है, पर यह मानना अनुचित नहीं होगा कि नाटक, नृत्य की ही विकासावस्था का परिणाम है। अवस्थानुकृति नाँट्यम्' वाला सिद्धान्त नृत्य की अपेक्षा 'नाटक' में व्यापक और विशद हो जाता है। फलतः नाटक नृत्य या नाट्य से भिन्न जा पड़ता है किन्तु 'नाडह-त् तमिल में नृत्य (नाट्य) और नाटक की भिन्नता लक्षित नहीं होती। उस समय में शायद भाव-राग-ताल युत अभिनयात्मक नृत्य का, नाटक तक पर्यवसान न हुआ हो और इसलिए नृत्य का पर्यवेक्षण और सूक्ष्म निदर्शन जहाँ हुआ वहाँ 'नाडह-त्-तमिल'—शैली का बखान होने लगा हो। इस विषय में ज्यादा गहराई से उतरने की जरूरत नहीं पड़ती नाडह-त्-तमिल का निर्वाह शिलप्पदिकारम तक ही रहा। उसकी कोई परम्परा न बनी न तमिल-नाटक के विकास क्रम में उसका कोई योग ही रहा। तमिल नाटक साहित्य को प्राचीन काल से जोड़ने वाली नाडह-त्-तमिल का यह कैसा रूप और कैसी रेखा जो न पृष्ठभूमि के रूपमें उभरी है न स्पष्ट अङ्कित है लेकिन फिर भी जिसका अस्तित्व वहाँ है।

तमिल साहित्य के आलोचक अ० च० ज्ञान-सम्बन्दन का कथन है कि तमिलनाड में नाटक-सर्जन के लिए अनुकूल वातावरण ही कभी न रहा। मध्य-काल में (३००—१३०० ई०) जब साहित्य के रथ को जैन, बौद्ध साधु हाँक रहे थे, तब और उनके बाद आलवार नायनमारों के भक्ति मार्ग में भी, 'नाटक' नाम की वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं था। यह विभिन्न धार्मिक सङ्घर्षों का युग रहा जब एक ओर जैन और बौद्ध तथा दूसरी ओर शैव और वैष्णव अपने-अपने सिद्धान्तों को जन कण्ठ तक पहुँचाने के लिए कभी व्यग्र और कभी उग्र हो एक दूसरे से टकरा जाते और साहित्य के अखाड़े में मिलकर द्वन्द्व करते थे।

दुखमय संसार से निवृत्त होने के लिए ऐहिक सुखों को तिलाञ्जली दे, इन्द्रिय निग्रह की कठोर तपस्या में निरत होने वाले जैन-बौद्ध भिक्षुओं को नाटक जैसे सामाजिक साहित्य-सर्जन में अभिरुचि की सम्भावना कम थी ही, लेकिन लीलामय जगत में श्रीमन्नारायण की क्रीड़ा-विलास और त्रिपुरारी के आनन्द-ताण्डव की अलौकिक अनुभूति पाने वाले वैष्णव और शैव भी नाडह-त्-तमिल को बढ़ाने से रह गये।

शिलप्पदिकारम के बाद मुत्तमिल की त्रिवेणी—एक इशै-त्-तमिल (गेय साहित्य) भक्ति रूपी गङ्गा-धारा में एकीभूत हो जाती है।

१२वीं शती के तमिलनाड के सुयोग्य शासक चोलवंशीय राजाओं के समय, उनका आश्रय प्राप्त होकर, तमिल साहित्य को कंबन की 'रामायण', पुहलेन्दी का 'नलवेण्बा', ओट्टक्कूत्तन की 'पिव्वैत्तमिलं', जयंकोण्डार की 'कलिंगत्तु परणी—जैसी अमर निधियाँ प्राप्त हुईं, पर दृश्य-काव्य अब भी दृष्टिगोचर न हुआ। 'साहित्य' के स्तर पर नाटक अज्ञात ही रहा। इन दिनों नाटक की कोई परम्परा चल भी रही थी तो वह गाँवों में, खुली सड़कों पर खेले जाने वाले—तेरुकू कहलाने वाले लोक नाटकों के रूप में ही। 'अरिश्चन्दिरन नाडहम', 'नल्लतंगाल नाडहम्' इसी कोटि की वस्तुएँ थीं जो प्रायः गीत-प्रधान अधिक होती थीं। कभी कथोपकथन गद्य में भी होता था और गद्य-पद्य मिश्रित भी। ये अभिनय प्रदर्शन—'वाचकप्पा वाडहम्' कहलाते थे।

इस लोक परम्परा से उठ कर तमिल साहित्यका ने नाटक-सृष्टि की तरफ कभी ध्यान भी दिया तो वह अठारहवीं शती में, जब वह अंग्रेजी साहित्य के सम्प में आया। और तब लोक-नाटकों की प्रचलित गीता त्मकता और पद्यात्मकता के अस्वाभाविक आवरण हटा कर, नाटकों को गद्य-भाषा में लिख कर खेल का प्रयत्न किया गया और 'विलासम्' के नाम

नाटकों का एक क्रम चालू हुआ। 'रुक्मांगद विलासम्', माणिक्कस्वामी विलासम्', 'वल्लियम्मै विलासम्', 'मार्कण्डेय विलासम्' जैसे नाटकों का प्रचलन आगे चल कर पौराणिक कथाओं का अञ्चल छोड़, सामाजिक वस्तुओं को लेकर भी किया गया। सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों को लक्ष्य कर सुधार की आवाज उठाने वाले ये नाटक बड़े लोकप्रिय हुये। मोहनांगी विलासम, ताशिलदार विलासम, कूत्ताडिच्ची विलासम, डम्बाच्चारी विलासम जैसे नाटक उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण के बड़े ही सफल नाटक माने जाते हैं, जिनमें मनोरञ्जन के साथ समाज सुधार का दृष्टिकोण भी प्रमुख लक्षित होता है। हालांकि ये नाटक भी साहित्यिक स्थायी महत्त्व लिए हुये नहीं थे। तमिल साहित्य में नाटक-पथ के प्रवर्तन में इनकी महत्ता भुलाई नहीं जा सकती। इस सिलसिले में उल्लेखनीय बात यह भी है कि लोक नाटक की परम्परा के अति निकट पनपने के कारण तमिल नाटक कभी रङ्गमञ्च से से दूर नहीं जा पड़ा। नाटक लिखे गये तो खेलने के लिए ही परन्तु काव्य के समान नाटक को भी एक कलामय रूप देने की प्रवृत्ति, जिससे कि वह साहित्य की शोभा बने—अभी दूर ही थी। समाज में नाटक पर अभिजात वर्ग की छाप अभी नहीं लगी थी।

किन्तु ज्यों ज्यों शिक्षित जनता संस्कृत के समृद्ध नाटक साहित्य का रसास्वादन लेने लगी और पाश्चात्य उज्ज्वल नाटक साहित्य की चकाचौंध में आने लगी, नाडहत्तमिल को सच्चे मानी में नाटक के रूप में ढलने का अवसर मिलता गया।

कालिदास, भास और हर्ष के नाटकों का तमिल रूपान्तर हुआ। विश्व-विख्यात शेक्सपियर के नाटक भी हाथ लगे। ई० १८७६ में सर्वप्रथम श्री वेणुगोपालाचारी ने 'मरचेंट आफ वेनिस' का तमिल अनुवाद 'वेनिस वणिहनं प्रस्तुत किया। उसके बाद श्री नारायणसामि पिलै द्वारा 'मिड समर नाइट्स ड्रीम'—वेनिर्कालत्तु नल्लिरुहु कनवु' के रूप में ढला। श्री सरसलोचन चेट्टियार ने सिंबलैन को तमिल में सरसांगी बनाया। फ्राँसीसी नाटककार मोलियर की रचनाएँ भी अनूदित हुईं।

किन्तु इस अनुवाद कार्य से असन्तुष्ट और तमिल में मौलिक नाटक लिखने के लिए उत्सुक और आतुर दो व्यक्ति ऐसे निकले जिनको ही सच्चे मानी में तमिल नाटक साहित्य के जन्मदाता कहा जा सकता है।

प्राध्यापक सुन्दरं पिलै और सूर्यनारायण शास्त्री तमिल और अंग्रेजी दोनों के प्रकाण्ड विद्वान थे और तमिल में नाटक साहित्य के अभाव को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो नाटक रचना में जुट पड़ने वाले मनस्वी साहित्यिक थे। इन दोनों कलाकारों में से सुन्दरम पिल्लै की लेखनी से प्रसूत हुआ—मनोन्मणीयम् (रचना ई० १८९१) जो तमिल का प्रथम साहित्यिक नाटक होने का गौरव रखता है। 'परिदिमान कलैञन' के नाम से प्रसिद्ध सूर्यनारायण शास्त्री ने रूपावती, कलावती मान विजयम् (रचना ई० १९०२) जैसे नाटक लिखे और 'नोडह-इयल' के नाम से नाटक के लक्षण ग्रन्थ की भी रचना की। पर पिल्लै और शास्त्रीजी के ये आरम्भिक प्रयास नाटक क्षेत्र को विशेष उर्वर नहीं बना पाये।

ऐसे समय में, जब तमिल नाटक रंगमञ्च और साहित्य के बीच अपनी दिशा खोज रहा था, तमिल नाड में अन्य प्रान्तों के नाटक खेले जाने लगे। इनमें आन्ध्र और महाराष्ट्र की नाटक मण्डलियों ने तमिल जनता को विशेष आकर्षित किया। यहाँ तमिल का अपना रङ्गमञ्च हीन क्षीण अवस्था में रहे और देश में अन्य भाषा के नाटक अपना अड्डा जमाये—यह किसी भी तमिल अभिमानी को कम ठेस पहुँचाने वाली बात नहीं थी। और तब, तमिल नाड में तमिल नाटक की लुप्त प्राय प्रतिष्ठा को फिर जीवित करने की प्रतिज्ञा लेकर, कुछ शिक्षित युवक आगे बढ़े और सुगुण विलास सभा की स्थापना की। इन युवकों के नेता और सभा के सञ्चालक श्री पं० संबंद मुदलियार कुशल अभिनेता भी थे और अपनी सभा की आवश्यकताओं को पूरा करने स्वयं नाटककार भी बने। मुदलियारजी

ने छोटे-बड़े, मौलिक और अनूदित पौराणिक और सामाजिक कई नाटक तैयार किये और उन्हें रङ्गमञ्च पर सफलता पूर्वक प्रदर्शित कर जनता के प्रशंशा-पात्र भी बने। नाटक देखकर मन बहला लेने की अपनी रुचि के बावजूद भी जिस समाज ने नाटककार और अभिनेताओं का बहिष्कार सा कर रखा था, उससे जूझकर, नाटक कला को और कलाकारों को सम्मानित पद पर अधिष्ठित करने का जो महान प्रयास मुदलियारजी ने किया उसके लिए तमिल नाटक कला उनकी चिर ऋणी रहेगी। उनका लिखा नाडह 'गेडै यनैवुहक' (मेरे रङ्गमञ्च के संस्मरण) तमिल नाड में नाटक की प्रतिष्ठा के लिए उनके किये संघर्ष की रोचक कहानी कहता है। इतना कुछ होते हुए भी, संबंद मुदलियार के नाटक साहित्य की कोटि में सम्मिलित नहीं किये जाते। इस प्रकार रङ्गमञ्च और साहित्य के दोहरे पंथ में तमिल नाटक का यह दूसरा प्रयास भी लड़खड़ा गया।

यहाँ उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, तमिलनाड में, पारसी आपेरा थियेट्रिकल कम्पनी की धूम सी मची। उसकी रंगीन भड़कीली सेटिङ्ग, आकर्षक दृश्य विधान, नाटक में दृश्य परिवर्तन की क्षिप्रता, बीच-बीच में आतिशबाजियों की चकाचौंध, गेस और बिजली की बत्तियों के चमत्कार इत्यादि अपने प्रभाव डालने से न चूके। फलतः उनके अनुकरण पर इस शताब्दी के आरम्भ में कन्नैया नायुडु, श्रीनिवास पिल्लै आदि ने अपनी-अपनी बाइस कम्पनी की स्थापना की। इनके प्रदर्शित 'दशावतारम्', भगवद्गीता, कृष्णलीला जैसे नाटक बहुत ही लोकप्रिय रहे। पारसी कम्पनियों के ढङ्ग पर चलकर इन कम्पनियों ने तमिल नाटककला को व्यवसाय पथ पर अग्रसर किया अवश्य, फिर भी जनता में नाटक की अभिरुचि बढ़ाने, उसकी रसिकता को उभारने तथा अभिनय कला को विकसित करने में इनके मार्गदर्शन की बिलकुल उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज रङ्गमञ्च की वही परम्परा, नवाब राजमाणिक्कम्, टी० के० एस० भाई जैसे नाटक कला सेवियों के हाथों जीवित एवं विकासशील बनी हुई है।

इस प्रकार आधुनिक काल में तमिल नाटक के लिये रङ्गमञ्च की नवीन स्थापना तो हो चली पर नाटक साहित्य पिछड़ा ही रह गया। तमिल साहित्य में नाटक का अपना कोई क्षेत्र ही नहीं बना है और आज भी स्थाई महत्त्व के, मौलिक नाटकों का अभाव खटकता है। जहाँ और भाषाओं के साहित्य में नाटक का अङ्ग उपन्यास और कहानी के ही समान लोकप्रिय और उसी कारण बहुप्रकार से विकसित होता जा रहा है, वहाँ तमिल साहित्य में यह अङ्ग एक प्रकार से रीता है। एस० डी० सुन्दरम् का लिखा कवियिन कनवु (कवि का स्वप्न), 'जीवा' रचित 'उधिरोवियम्' (जिन्दा चित्र), कु० शा० कृष्णमूर्ति का अन्दमान कैदी—कुछ गिने-चुने ही नाटक हैं जिनका साहित्यिक मूल्य आंका जा सकता है।

तमिल कवि, कहानीकार, एकांकीकार श्री पेरियसामी 'तूरन' के विचार में "तमिल जनता नाटक पढ़ने की अपेक्षा उन्हें देखना अधिक पसन्द करती है और इसलिये साहित्यिक महत्त्व को नाटक रचना की प्रेरणा तमिल लेखक को बहुत कम मिलती है।" नाटक-मण्डलियों को क्या, अपने काम के लिये उन्हें सामयिक कामचलाऊ कोई वस्तु चाहिये जो किसी प्रसिद्ध उपन्यास या कहानी को तमिल में या किसी और भाषा से सहज रूपान्तरित किया जा सकता है।

नाटक की आधुनिक उपज एकांकी, आज सर्वत्र प्रसिद्धि पा रही है और कहना पड़ेगा कि कुछ निष्ठावान तमिल साहित्यिक, अपनी भाषा में, इस रूप को लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'तूरन' जी का अलहु मच्चकंम (सौन्दर्य मोह), गुरुस्वामी का 'उपगुप्त', सी० आर० गच्चिलेरु का 'एन्न वालकै इदु ?' (यह कैसा जीवन है ?) मु० वरदराजन का 'मनचान्रु' (मन की गवाही) आदि कुछ प्रकाशित एकांकी संग्रह हैं जिनमें लेखकों की नाटकीय प्रतिभा को क्रियाशील देख पाते हैं। यहाँ रेडियो की माँग ने भी कई रूपक लेखक उत्पन्न किये हैं जो रेडियो की सीमाओं को भली-भाँति परिचित होकर सफल और प्रभाव-पूर्ण नाटक लिखते हैं।

मराठी रङ्गमञ्च : आरम्भ, उत्कर्ष, पतन

श्री र० श० केलकर एम० ए०

मराठी रंगमंच का आरम्भ १७ वीं शताब्दी से माना जा सकता है। उसके पूर्व उत्तर, पूर्व और दक्षिण भारत में रास, यात्रा नाटक एवं राम-कृष्ण लीला आदि के नाटकीय प्रकार प्रचलित थे। पर उनमें नाट्य कला का सर्वथा अभाव था और केवल नाच गानों की ही भरमार थी। अभिनय की दृष्टि से मराठी का 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक १७ वीं शताब्दी में प्रकाश में आया। उसके बाद १८४२ के लगभग 'सीता स्वयंवर' का अभिनय हुआ। इस काल में बाणासुर वध, इन्द्रजीत वध, रावण वध, कीचक वध, सीता हरण आदि पौराणिक नाटक ही खेले जाते थे तथा यह काम लगभग बीस पचीस नाटक मंडलियाँ कर रही थीं। इस प्रकार इस समय मराठी रंगमंच को कुछ-कुछ व्यवस्थित रूप मिलने लगा था।

१८५५ के लगभग बम्बई की एक नाटक मंडली ने पौराणिक नाटकों की एकरसता (Monotony) को दूर करने के लिए पौराणिक नाटकों के अन्त में एक 'फर्शं' दिखाने की नई योजना निकाली। उधर पुणेकर नामक नाटक मंडली ऐतिहासिक नाटक खेलने लगी थी। १८६१–६५ के बीच 'माधव राव पेशवे' और 'जयपाल' ऐतिहासिक नाटक लिखे गए और संस्कृत तथा शेक्सपीयर के अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद हुआ। १८७१ में पूना डेकन कालिज के विद्यार्थियों ने गर्मी की छुट्टियों में संस्कृत नाटक खेलने की प्रथा चालू की। विषय वस्तु की दृष्टि से इस काल तक आकर मराठी नाटक पौराणिक आकाश में ही न रह कर सामाजिक धरातल पर भी उतरने लगे थे। लगभग इसी समय आर्योद्धारक नामक एक गद्य नाटक मंडली काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी। १८७८ के उपरान्त 'डाक्टर-वैद्य प्रहसन', 'मोर एल० एल० बी०' आदि प्रहसन भी लिखे गए। १८८० में किर्लोस्कर नाटक मंडली द्वारा 'संगीत शाकुन्तलम' का अभिनय हुआ। मराठी रंगमंच की दृष्टि से यह वर्ष अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह वर्ष न केवल शकुन्तला नाटक के सफल अभिनय के लिए स्मरणीय है बल्कि आधुनिक मराठी रंगमंच का आरम्भ भी इसी वर्ष से माना जा सकता है।

लगभग इसी समय गद्य नाटकों के रंगमंच का भी निर्माण हुआ। अब तक के अधिकतर नाटक पद्य में हुआ करते थे और इसलिए उनमें संगीत की अधिकता हुआ करती थी। अब मराठी रंगमंच स्पष्टतः पद्य और गद्य दो रूपों में विभाजित हो गया। गद्य रंगमंच का आरम्भ शेक्सपीयर के हेमलेट के अनुवाद से माना जा सकता है। पद्य रंगमंच पर किर्लोस्कर नाटक मंडली का आधिपत्य रहा और गद्य रंगमंच पर महाराष्ट्र नाटक मंडली का। महाराष्ट्र नाटक मंडली ने लोक शिक्षा और लोक-जाग्रति का पर्याप्त काम किया। इस मंडली के नाटककार अभिनय कला के ज्ञाता थे। पद्य नाटकों की परम्परा का विरोध करते हुए गद्य नाटकों को उतनी ही सफलता से अभिनीत करके जनता का चित्त हरण करने का अपूर्व काम इस नाटक मंडली ने किया। महाराष्ट्र नाटक मंडली ने कई नाटक खेले। यथा, 'कीचक वध', 'भाइ बंद की', 'फाल्गुन राव', 'कांचनगढ़ की मोहना' आदि-आदि जो बहुत ही लोकप्रिय हुए तथा वर्षों तक मराठी जनता का मनोरंजन करते रहे।

१८८२ में किर्लोस्कर नाटक मंडली ने 'संगीत सौभद्र' नाटक खेला जो बहुत ही सफल बन पड़ा। किर्लोस्कर नाटक मंडली जिसमें प्रायः सभी संगीतज्ञ, कुशल अभिनेता और नाटककार थे, मराठी रङ्गमञ्च के विकास में अपना निजी स्थान रखती है। इसका कार्य क्षेत्र संगीत नाटकों के अभिनय तक ही सीमित रहा। अण्णासाहब किर्लोस्कर की मृत्यु के पश्चात भाऊराव

कोल्हटकर ने किर्लोस्कर संगीत मंडली में जो अपने पूर्व कलाकारों के सेवा निवृत्त होने के कारण मृतप्राय सी हो रही थी नई जान फूँकने का प्रयत्न किया। उनके पहले के नाटक पौराणिक हुआ करते थे तथा संस्कृत नाटकों का अनुकरण करने की एक प्रथा सी चल पड़ी थी। इसी प्रकार गद्य रङ्गमञ्च पर अधिकतर ऐतिहासिक नाटकों का अधिकार था। कोल्हटकर, इस प्रथा को तोड़ कर 'वीर तनय' 'शाप सम्भ्रम' तथा 'शारदा' आदि नाटकों को रंगमंच पर लाए। भाऊराव कोल्हटकर के निधन के पश्चात नारायणराव राजहंस ने (जिन्हें लोक मान्य तिलक ने 'बाल गन्धर्व' सम्बोधन दिया था और जो आगे चलकर इसी नाम से प्रसिद्ध हुए) इस नाटक मंडली में प्रवेश किया और अपनी अद्वितीय प्रतिभा, कण्ठ माधुरी और अभिनय-कुशलता से बहुत ही शीघ्र ख्याति प्राप्त कर ली। बाल गन्धर्व के नाट्य और संगीत से मुग्ध होकर नाट्याचार्य खाडिलकर किर्लोस्कर नाटक मंडली की ओर झुक पड़े और उस मंडली के लिए संगीत नाटक लिखने लगे। उनकी प्रथम संगीत नाट्यरचना 'मानायमान' बहुत ही लोकप्रिय हुई।

१९१०-११ में सङ्गीत रङ्गमञ्च पर किर्लोस्कर नाटक मण्डली और गद्य रङ्गमञ्च पर महाराष्ट्र नाटक मण्डली बहुत ही सफल प्रयोग कर रही थी। विषयवस्तु, नाट्यकला अभिनय, सङ्गीत, दिग्दर्शन, रङ्गमञ्च-योजना आदि की दृष्टि से यह काल मराठी रङ्गमञ्च का उत्कर्ष काल माना जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के आरम्भ होते ही जनता का ध्यान सङ्गीत की माधुरी और कथानक की रोचकता से हट कर सामाजिक समस्याओं, जैसे—स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार, मद्यपान आदि की ओर आकृष्ट हुआ और रङ्गमञ्च पर सामाजिक नाटक आने लगे। यथा—'शारदा' (वृद्ध-विवाह), 'मूक नायक', 'सञ्जीवनी' (मद्यनिषेध) 'विद्याहरण' आदि जो बहुत ही लोकप्रिय हुए। अंग्रेजी सरकार के प्रति आक्रोश व्यक्त करा और ऐसे प्रयासों को जब्त होने से बचाने के लिए ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों का आधार लिया गया। यथा—'कांचनगढ़ की मोहना', खाडिलकर का दूसरा नाटक, 'कीचक वध' जो लार्ड कर्जन द्वारा दिल्ली के प्रथम दरबार में दिए गए भाषण को सम्मुख रख कर लिखा गया था, अतः ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया।

रामगणेश गडकरी, मामा वरेरकर, अत्रे आदि ने कई नाटक लिखे जो बहुत ही लोकप्रिय हुये। विशेषकर गडकरी के 'एकत्र प्याला' नाटक ने दर्शकों को पागल बना छोड़ा। फिर भी समय के साथ-साथ मराठी रङ्गमञ्च दिन पर दिन अवनति की ओर अग्रसर होने लगा। मराठी रङ्गमञ्च का वह उत्कर्ष जो किर्लोस्कर नाटक-मण्डली तथा महाराष्ट्र नाटक-मण्डली के समय था फिर कभी भी नहीं आया। रङ्गमञ्च की इस अवनति का कारण अँग्रेजी सरकार की दमन की कठोर नीति, पुलिस द्वारा नाटकों की जाँच तथा उनमें काट-छाँट एवं सिनेमा का प्रचलन है। टाकीज के क्षेत्र में आते ही रङ्गमञ्च को उससे मुकाबला करना कठिन हो गया जिसके फलस्वरूप कई कुशल अभिनेता—नाटककार रङ्गमञ्च को तिलांजलि देके सिनेमा संसार में जा बसे।

मराठी रङ्गमञ्च की गिरती हुई अवस्था को देखकर उसे सँभालने का बराबर प्रयत्न किया जा रहा है। १९४१ में रांगणेकर ने बम्बई में 'नाट्य निकेतन' की स्थापना करके एक नये रङ्गमञ्च का निर्माण किया है तथा आधुनिकतम टेकनीक का प्रयोग करके घरेलू विषयों को लेकर मनोरञ्जक और सफल नाटकों का अभिनय वह बराबर कर रहे हैं। 'माऊघर', 'कुलवधू', 'वहिनी', 'रम्भा' आदि उनके कुछ ऐसे ही नाटक हैं। 'नाट्य निकेतन' के अतिरिक्त अन्य कई छोटी-बड़ी मण्डलियाँ मराठी रङ्गमञ्च को बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील हैं।

कन्नड़ का नाटक साहित्य

श्री एम० एस० कृष्णमूर्ति

'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' कह कर संस्कृत के लाक्षणिकों ने तो दृश्यकाव्य का गरिमा गान किया है। परन्तु यह देख कर आश्चर्य होता है कि उस रम्यकाव्य की परम्परा संस्कृत साहित्य क्षेत्र मात्र के लिए सीमित रह गई। कन्नड़ पर संस्कृत का अनल्प प्रभाव पड़ा है। कन्नड़ साहित्य का अरुणोदय ही संस्कृत व प्राकृत से स्फूर्ति पाकर हुआ है। कन्नड़ में संस्कृत के अनेकों ग्रंथों का अनुवाद हुआ है। यहाँ तक कि कर्णाटक के ही व्यक्तियों ने संस्कृत में काव्य रचना की है। तथापि कन्नड़ साहित्य के प्रारम्भिक युग में नाटक का नितान्त अभाव है।

कन्नड़ में लिखित साहित्य का आरम्भ पाँचवीं शताब्दी से होता है। परन्तु कन्नड़ में सत्रहवीं शताब्दी तक नाटकों का शोचनीय अभाव दृष्टिगोचर होता है। कन्नड़ में संस्कृत साहित्य के प्रभाव के कारण चम्पू-काव्य, प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक सभी काव्य प्रभेदों का सर्वतोमुखी विकास हुआ है। परन्तु दृश्यकाव्य का अभाव विचारणीय है।

कन्नड़ साहित्य का आरम्भ तथा चरमोत्कर्ष संस्कृत साहित्य के पतन के समय हुआ—'काव्यालपंश्च वर्जयेत्' की ध्वनि जब गूँज रही थी तब हुआ। स्त्री रूप ही रूप है, शृङ्गार ही रस है कहने वाला युग था वह। इस मनोभाव की धार्मिक प्रतिभटना के रूप में जैनियों ने साहित्य की रचना की। कन्नड़ में प्रथमतया काव्य निर्माण करने का श्रेय जैनियों को मिलता है। कन्नड़ के रत्नत्रय पम्प, रन्न, पोन्न जैन मतावलम्बी थे। इन रत्न त्रयों ने ही कन्नड़ काव्यलोक के आलोक स्तम्भों का निर्माण किया। कन्नड़ के आदिकाल में जैन कवियों ने अधिकांश काव्य की रचना की है। अतः हम कन्नड़ के आदिकाल को जैन युग कह सकते हैं। जैनियों के अनुसार 'रसमोंदे शान्तमे' शान्त रस ही सच्चा रस था। संसार के विलास जीवन को क्षणभंगुर मानने वाले जैन कवियों ने अपने मत प्रचार के लिए काव्य रचना की, न कि सौन्दर्य साक्षात्कार के लिए। अतः उन्होंने नाटकों की रचना नहीं की। कुछ प्राच्य विद्वानों का कथन है कि नाटक को वैदिक कला समझ कर जैन, बौद्ध आदि धर्मावलम्बियों ने उसे अवहेलना की दृष्टि से देखा। यह कहाँ तक सत्य है यह विचारणीय बात है। भारत की अन्य भाषाओं में भी जैन साहित्य में या जैनियों द्वारा प्रणीत अनल्प साहित्य राशि में नाटकों की संख्या अल्प है। यह भी कन्नड़ नाटकों के अभाव का एक कारण हो सकता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कन्नड़ में नाटकों का नितान्त अभाव था। ग्रंथों की अनुपलब्धी का अर्थ ग्रंथों का अभाव कहना साहस की बात होगी। वास्तव में सोचेंगे तो 'कन्नड़' शब्द ही 'नट' शब्द से बना है। कन्नड़ के शिलालेखों में, शिल्पों में, काव्यों में कन्नड़ की जनता के नाट्य-प्रेम का पूर्ण परिचय मिलता है। यद्यपि पण्डित मण्डलियों में नाटक का अभाव था तथापि लोकगीतों की भाँति 'लोक-नाटक' कन्नड़ की साधारण जनता में प्रचलित थे। वे आज भी 'यक्षगान' 'दोनिदासर कुणित' आदि के रूप में कन्नड़ में प्रचलित हैं। 'यक्षगान', 'कथकली' आदि शुद्ध द्राविड़ शैली के नाटकों के प्रकार हैं।

उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर 'मित्राविन्दा गोविन्द' को ही हमें कन्नड का प्रथम नाटक मानना पड़ता है। वह श्रीहर्ष के 'रत्नावली' का कन्नड़ रूपान्तर है। उसके रचयिता मैसूर नरेश चिक्कदेवराज ओडेयर के (१६८० ई०) दरबारी कवि सिंगरार्य थे।

कन्नड़ के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री गोविन्द पैजी के अनुसार कन्नड़ के सुप्रसिद्ध वैयाकरण 'केशिराज'

(१२६० ई०) 'सुभद्रापहरण', 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटक लिखे थे। कन्नड़ के सुप्रसिद्ध लाक्षणिक नागवर्मा ने (१२०० ई०) कुछ नाटकों के उद्धरण भी अपने काव्यशास्त्र के उदाहरण के रूप में दिये हैं। उसके अनुसार कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय', भवभूति का 'मालतीमाधव', श्री हर्ष का 'नागानन्द' आदि का अनुवाद कन्नड़ में पहले ही हो चुका था। कन्नड़ के सुप्रसिद्ध जैन महाकवि रत्नाकर वर्णी ने (१५५० ई०) अपना महाकाव्य 'भरतेश वैभव' में नाट्यशाला का वर्णन किया है, अपने नाटक को पूर्व नाटक संधि उत्तर नाटकसंधि इस प्रकार विभाजित किया है। महाकवि रन्न (६९० ए. डी.) का 'गदा युद्ध' काव्य इतना नाटकीय है कि उससें कुछ पंक्तियों को निकाल देने से वह एक उच्चकोटि का नाटक बनता है (स्व० प्रो० बी० ए० श्री कंठैयाजी ने उसे एक नाटक के रूप में परिवर्तित किया है) गोविन्द वैद्य ने (१६४६) में 'कंठीरव नरसराजविजय' नामक काव्य नाट्य शाला का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। कन्नड़ का सुप्रसिद्ध वैयाकरण भट्ट कलङ्क ने (१६०४) (जिसने कन्नड़ का व्याकरण संस्कृत में लिखा है) नाटकों के अस्तित्व के बारे में अपने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ में कन्नड़ ग्रन्थ समृद्धि के बारे में बताते हुए कहा है, 'शब्दागम, युक्त्यागम, परमागम, विषयागम कथा-काव्य नाटकालङ्कार कला शास्त्र वियाणांय बहूनाम् ग्रन्थानामपि भाषा कुताना मुपलभ्यमानत्यात्। इसके अतिरिक्त कर्णाटक के कई शिला लेखों में भी कन्नड़ के नटों को भूमिदान करने का उल्लेख है। उपर्लिखित बातों से स्पष्ट है कि कन्नड़ भाषी नाटकों से अनभिज्ञ नहीं थे, कन्नड़ में नाटकों का अभाव नहीं था। अतः जब तक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते तब तक हम पाँचवी सदी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक के काल को अज्ञात युग मान सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम-दशक में सारे भारत वर्ष में भारतीय रङ्गभूमि का पुनर्जीवन होता है। भिन्न-भिन्न नाटक मण्डलियों के उत्साह के कारण उस समय दृश्य-काव्य सच्चे अर्थ में 'रम्यकार्य' बनता है, जन मनोरंजन करता है। मैसूर नरेश चामराज ओडेयर ने एक नाटक मण्डली की स्थापना करवाई। उस समय अपने कलापूर्ण अभिनय द्वारा सामान्य जनता में नाटक के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने वालों में श्री ए० वि० वरदाचार्यजी का नाम सर्वोपरि है। तत्समय रचित नाटकों में 'निरुपमा' रामवर्मा-लीलावती (Romeo-Juliet) 'विष्णुलीले' 'कृष्णलीले' गुले 'बकावलि' 'सदारमे' बहुत ही जनप्रिय हुए।

१७७३ (1883 A.D.) में मैसूर नरेश चामराज ओडेयर के दरबारी कवि श्री बसप्प शास्त्रीजी ने 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। तत्पश्चात संस्कृत के नाटकों के अनुवादों की भरमार पड़ गई। इस युग में पौराणिक नाटकों की ही प्रधानता रही। अतः हम को 'अनुवाद युग' या 'पौराणिक युग' मान सकते हैं। धोंडू नरसिंह मुलबागिलूजी ने भट्टनारायण कृत 'वेणी संहार' का अनुवाद किया। १७७६ में श्री सुब्बराय शास्त्रीजी ने 'मृच्छकटिक' का अनुवाद किया। कृष्ण मिश्र विरचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' का आनुवाद श्री ए कृष्णाप्पाजी ने किया। भास महाकवि के 'स्वप्न वासवदत्ता', 'प्रतिमा नाटक' आदि नाटक श्री देवशिखामणि, अलसिंग्राचार्यजी द्वारा अनूदित हुए। श्री नंजुण्ड शास्त्रीजी ने 'दूतवाक्य' का अनुवाद किया।

विंश शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेजों के कारण भारतीय साहित्य में एक प्रकार का युगान्तर होता है। प्रथम महायुद्ध के कारण संसार के साहित्य जीवन का ढाँचा ही बदल जाता है। चतुर्दिक नवोदय का शब्द सुनाई देता है।

इस विचार क्रान्ति के लिये कर्णाटक भी अपवाद न रहा। इस युग में कन्नड़ दृश्य काव्य व्योम में धूमकेतु की भाँति उद्भावित होकर नूतन क्रान्ति करने वालों में कर्णाटक प्रहसन पितामह स्व० टी० पि० कैलासम् जी अग्रगण्य हैं।

जब कन्नड़ में मौलिक नाटकों का नितान्त अभाव

था तब श्री कैलासम् जी ने साठ नाटकों का प्रणयन करके कन्नड़ की कमी को पूरा किया। बाबू भारतेन्दु जी ने हिन्दी में जो काम किया वही कन्नड़ में श्री टी० पी० कैलासम् जी ने किया। कैलासम् जी के नाटकों में हास्यरस की प्रधानता है। परन्तु उसके साथ-साथ समाज की कुरीतियों पर कुठाराघात भी है।

कैलासम् जी की कला राम, सीता, हरिश्चन्द्र, चन्द्रमणि, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि पौराणिक चरित्रों के काल्पनिक जगत से बाहर आकर साधारण जनता की वास्तविक भूमिका में विचरने लगी। कैलासम् स्वयं नट थे। उन्होंने जनता को यह दिखाया कि नाटक देखने के लिये पढ़ने के लिये नहीं 'प्रयोग प्रधानं हि नाट्यम्' है। विदेश में अनेकों वर्ष रहने के कारण प्रातीच्य नाटकों से प्रभावित हुए। उनके टेकनिक, सम्भाषण, रङ्ग सजा आदि के गहरे अध्ययन के कारण उनके नाटक, कला की दृष्टि से, तान्त्रिक दृष्टि से श्रेष्ठ माने जाते हैं, रसस्पन्दि माने जाते हैं। उनके नाटकों में डिकन्स की हास्य रीति है, व्यंग्य है, अनुकम्पा है। समाज की कुरीतियों पर, समाज के बाह्याडम्बरों पर आघात है। उच्चवर्ग के लोगों की कृत्रिम सभ्यता, विदेशी सभ्यता का अनुकरण आदि पर कुठाराघात है तो दूसरी ओर समाज की कुटिल कठोर कुरीतियों से पीड़ित, अत्याचारियों से त्रस्त विधवा, वेश्या आदि पर उन्होंने अपार अनुकम्पा प्रकट की है। 'टोल्लु-गट्टी' (ठोस और खोखला) में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की निरुपयोगिता पर प्रकाशपात किया है। 'सूले' (वेश्या) में एक वेश्या के जीवन का कठोर करुणाकर, वीभत्स-भयङ्कर चित्र है। 'ताली कट्टोक्कूली ने' में दहेज की प्रथा पर कुठाराघात किया है। 'नं ब्राह्मणिके', 'गंडस्कनी', 'हुत्तदल्लि हुत्त', 'अप्टुडेट अम्मय्या', 'पोली किट्टी', 'बंडवालविल्लद बडाई', 'हों रूल', 'नं कंपनी', 'वैद्यन व्याधि' आदि उनके उल्लेखनीय नाटक हैं। तांत्रिक दृष्टि से तो कहना ही क्या कैलासम् जी अँग्रेजी, संस्कृत तथा कन्नड़ के प्रकाण्ड पण्डित थे। अतः इनकी कृतियों में आर्य, द्रविड़, यूरोप्य शैलियों का त्रिवेणी संगम हुआ है। उन्होंने अँग्रेजी में भी नाटकों की रचना की है। उनमें परपस (Purpose) कर्ण आदि मुख्य हैं। कैलासम् जी एक प्रयोगपटु थे। अतः उन्होंने नए-नए प्रयोगों द्वारा कन्नड़ काव्य लोक को अमर प्रतिभादान किया है।

कन्नड़ में मौलिक नाटकों को जन्म देने वाले आधुनिक युग प्रवर्तकों में श्री टी० पी० कैलासम, मास्ति वेंकटेश ऐंगार, डी० वी० गुंडप्पा, ए० आर० श्री निवास मूर्ति, 'संस' आदि मुख्य हैं। इन लोगों ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों के प्रणयन के द्वारा नूतन निर्माण में योग दिया। इस काल के प्रतिनिधि नाटकों में श्री मास्ति जी के 'शांता', 'उषा', 'सावित्री', यशोधरा, डी० वी० गुंडप्पाजी का 'विद्यारण्य विजय', संस जी के 'वगड विक्रमराय', 'बिरुदंतेनर गंड' आदि उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक युग में भी पूर्ववर्ती युग की अनुवाद परम्परा चालू रही। उनमें श्री एल. गुडप्पाजी के 'भासन एकांक नाटकगलु' (भास के एकांक नाटक) 'प्रतिज्ञा यौगंधरायण', ती० नं० श्री कंटैयाजी का 'राक्षसन मुद्रिके' (राक्षस की मुद्रिका), डा० एन० एस० नारायण शास्त्रीजी का 'पांचरात्र' मुख्य हैं।

इसी नूतन निर्माण के पथिकों में 'श्रीरङ्ग', अ. न. कृष्णराव के नाम उल्लेखनीय हैं। 'श्रीरङ्ग' जी की कृतियों में चतुरोक्ति (wit) की प्रधानता है। 'संध्यकाल', 'संपुट रामायण', 'हरिजन्वार' आदि नाटकों में श्रीरंगजी ने हास्य के द्वारा ही समाज की कुप्रथाओं को हमारे सामने लाने का यत्न किया है। अ. न. कृष्णराव जी ने पौराणिक चरित्रों को नूतन दृष्टिकोण से देख कर नाटकों की रचना की है। उनके पौराणिक नाटकों में 'स्वर्णमूर्ति', हिरण्यकश्यपु, 'सूत पुत्र कर्ण' आदि मुख्य हैं। अपने सामाजिक नाटकों में कैलासमजी की भाँति उन्होंने समाज का नग्न चित्रण तथा पाश्चात्य सभ्यता के कुप्रभाव को दर्शाने के लिए यत्न किया है। उनमें 'मदुवैयो मनेहारो' 'आहुति', 'गोमुख व्याघ्र', 'बणद्र बीसरिणगे', आदि मुख्य हैं।

इसी बीच में कुछ लोगों ने पौराणिक व ऐतिहासिक नाटकों की उत्कृष्ट रचना की थी। उनमें श्री सी० के० वेंकटरामैयाजी का 'नचीकेत', 'मन्दोदरी., 'ब्रह्मवादिनी', वी सीतारमैयाजी का 'आग्रह' आर० एस० मुगुलोजी का 'अक्क-महादेवी' आदि मुख्य हैं।

कन्नड के उपन्यास सम्राट श्री शिवरामकारंत एक सफल नाटककार भी हैं। उनके नाटकों में कटु व्यंग्य, बिडम्बना की प्रधानता है। 'गर्भगुडि', 'देपदूतरु' आदि कृतियों में उन्होंने देवालय, मठ आदि पवित्र स्थलों में होने वाले अत्याचार की पोल खोली है। कारंतजी ने नाटक क्षेत्र में नूतन प्रयोग भी किए हैं जिनमें 'किसा गौतमी' उनका सुप्रसिद्ध गीत नाटक है। 'मुक्तद्वार', 'यारो अंदर', (किसी ने कहा) उनका जनपद या लोकगीतात्मक नाटक (Folklore) है। इह प्रकार कैलासम 'कारंत', 'श्रीरंग' आदि ने अपने प्रयोगों द्वारा कन्नड़ नाटक साहित्य में विविधता तथा नूतनता लाने का यत्न किया है।

श्री रङ्गजी पर वर्नार्ड शा का प्रभाव लक्षित होता है। उनके नाटकों में नाट्य-कला तथा साहित्य-कला का अपूर्व सङ्गम हुआ। कारतजी का व्यंग्य कथा-प्रहार की भाँति चोट करने वाला है, परिणामकारी है। कैलासमजी की कृतियों में मानवीय हृदय की स्निग्धता है, सजगता है, बुद्धि का चमत्कार है। इन त्रिमूर्तियों के कारण कन्नड़ का मस्तक ऊपर उठा है।

कन्नड़ नाटक क्षेत्र के प्रयोगवादी नाटककारों में महाकवि कुवेंपुजी का नाम भी उल्लेखनीय है। श्री कुवेंपुजी प्रथमतः कवि हैं, बाद को नाटककारों अतः उनकी कृतियों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों की भाँति हृदय की प्रधानता है, भाव की प्रधानता है। उनके गीत नाटकों में 'जलगार', 'महारात्रि', 'बेरलगे कोरल', 'शूद्र तपस्वी', 'बालमीकिय भाग्य', 'यमन सोलु' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। शेक्सपियर के आदर्श पर उन्होंने कुछ ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी की है जिनमें 'रक्ताक्षि' प्रसिद्ध है। शेक्सपियर की सुन्दर कृति टेम्पेस्ट का अनुवाद भी किया है।

पाश्चात्य नाटकों के अनुवादों में श्री एस.जी. शास्त्रीजी ने इब्सन के डाल्सहौस का अनुवाद 'सूत्रदगोंबे' नाम से किया है। 'साक्रटीसन मरण' हौसमन की कृति का अनुवाद है। स्व० प्रो० बी० ए० श्रीकण्ठैयाजी ने ग्रीक दुरन्त नाटकों के आदर्श पर 'अश्वत्थामन', 'गदा युद्ध' आदि उत्कृष्ट नाटकों की रचना की है।

रङ्गमञ्च की दृष्टि से श्री ए० एन० मूर्तिरावजी का 'आषाढ भूति', वेंबर वेंकटाचार्यजी का 'साविन समस्ये' 'मृत्यु की समस्या' आदि मुख्य हैं। ए० एन० मूर्तिरावजी मोलियर की प्रहसन पद्धति को कन्नड़ में लाने में सफल हुए हैं।

हास्य प्रधान नाटकों के रचयिताओं में श्री वा० कस्तूरी एक और सिद्धहस्त नाटककार हैं। उनके 'वरपरीक्षे', (वर परीक्षा) 'काडाने', 'गग्गैयन गडिबिडि' आदि सुन्दर अभिनेय नाटक हैं।

वर्तमान युग के नाटककार भिन्न-भिन्न शैली के नाटकों के प्रयोग में लगे हैं। इस युग को हम 'प्रयोग युग' भी कह सकते हैं। इस युग में एकाङ्कियों की प्रधानता है। इस धारा के तैराकुओं में सर्व श्री यी० 'सदाशिवैया', 'क्षीरसागर', 'निशाकान्त' आदि प्रमुख हैं। यी० सदाशिवैयाजी के नाटकों में 'शान्ति', 'मांगल्य', 'जयश्री', 'सौभाग्य' मुख्य हैं।

केवल हास्य-रस को प्रधान मान कर लिखने वाले एकाङ्की नाटक लोगों में श्री 'पर्वत वाणी', 'क्षीरसागर' आदि बहुत ही जन-प्रिय हैं। इनके नाटकों में 'हगहद्दु' 'उंडाडिगुण्ड' तथा क्षीरसागर के 'श्यामण्णन साहस' 'काशीयात्रे' आदि मुख्य हैं। कैवार राजाराव के 'गंडन जुल्माने', 'बुडुबुडिके', वधुपरीक्षे आदि मुख्य हैं।

कन्नड के कुछ ख्यातनामा कविगण ने भी नाटक क्षेत्र में काफी सफलता के साथ रचना की है। श्री गोविंद पैजी का 'हेब्बेरलु' पु० ती० नरसिंहाचार्य जी के 'गोकुल निर्गमन' 'अहल्या', कन्नड के हालावादी कवि श्री जी० पी० राजरत्न का 'गंडुगोडलि' गोपाल कृष्ण अडिग का 'जनतेय शत्रु' वि० के० गोकाक का

(शेष पृष्ठ XX पर देखिये)

तेलुगु का नाटक साहित्य

श्री न० वी० राजगोपालन

तेलुगु भाषा के नाटक-साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है। आधुनिक तेलुगु साहित्य में नाटक-वाङ्मय एक प्रधान तथा विशाल स्थान प्राप्त कर चुका है। अपना यह वर्तमान रूप प्राप्त करने में तेलुगु नाटक को कई मंजिलें पार करनी पड़ी हैं। उसके अति प्राचीन तथा अति आधुनिक रूप में आकाश पाताल का अन्तर दृष्टिगत होता है। इस विकास क्रम का अध्ययन अभी यद्यपि पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है; तथापि जो कुछ अब तक इसके सम्बन्ध में समालोचकों के द्वारा खोज निकाला गया है, वह बहुत ही उपयोगी और कौतूहल-जनक है।

“न राजके जनपदे प्रभूत नटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धते राष्ट्र-वर्धनाः।”

वाल्मीकि रामायण के इस श्लोक से यह संकेत मिल रहा है कि उस समय में भारत के विविध भागों में नाट्य और नृत्यों का प्राचुर्य था। आंध्र प्रदेश की जनता नृत्त, नृत्य एवं नाट्य के प्रति अधिक आसक्ति दिखाती रही। उस युग में आंध्र प्रदेश घने अरण्यों से व्याप्त रहता था जहाँ कई आटविक और पार्वत्य जातियाँ निवास करती थीं। उनकी परम्परा अभी तक 'कोय' या 'चेंचु' कहे जाने वाले लोगों में देखी जा सकती है। प्रकृति की गोद में बाल-सुलभ सरलता के साथ खेलता रहने वाला यह जन समुदाय नृत्य-नाट्यों में गाढ़ प्रेम रखता था, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जावा देश में प्राचीन काल की बनी कुछ ऐसी लकड़ी की प्रतिमायें मिली हैं जिनमें नृत्य-अभिनय की मुद्रायें अङ्कित हैं। इतिहासज्ञों का कथन है कि जिस समय दक्षिण भारत के राजाओं का प्रभाव जावा द्वीप में अधिक था उस समय की बनी हैं ये प्रतिमायें। इस आधार पर कुछ समालोचकों का कथन है कि आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व ही दक्षिण भारत में कई प्रकार के अभिनयों से युक्त नृत्य प्रचलित थे। परन्तु इस युग के नृत्यों व नाट्यों के सम्बन्ध में कोई पुष्ट साहित्यिक प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इस समय नृत्य-नाट्य सम्बन्धी गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी; परन्तु कदाचित् असभ्य जाति के इन पदों के लिये उच्च-साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला हो।

वैसे तो तेलुगु भाषा और साहित्य का विकास ईस्वी पाँचवीं शती के आस-पास ही प्रारम्भ हो चुका था। लेकिन ईस्वी ५०० से लेकर १००० तक के काल की कोई साहित्यिक रचना प्राप्त नहीं है। इस युग के तीन शिलालेख तथा तमिल जैसी अन्य भाषाओं में उल्लिखित तेलुगु ग्रन्थकारों के नाम ही उपर्युक्त कथन के आधार हैं। ईस्वी ग्यारहवीं शताब्दी से तेलुगु का सर्वतोमुखी विकास होने लगा था। लगभग उसी समय से तेलुगु नाटक का—ठीक कहें तो नाटकों के किसी पूर्व रूप का, विकास होने लगा था। भीमकवि (ई० १०७७) के 'कलिंग गंगु कथ' से विदित होता है कि उस समय के आंध्र प्रदेश में कई रूपक विद्यमान थे। सोमनाथ कवि (ई० ११८०) की प्रसिद्ध रचना “पंडिताराध्य चरित” में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है कि उस समय आंध्र देश में रूपकों के अभिनय की कैसी रीतियाँ प्रचलित थीं। उसमें 'वीधिनाटकमु' 'तोलबोम्मलाट' (चमड़े की पुतलियों का खेल), और गन्धर्वों, यक्षों तथा विद्याधरों का वेष धारण करके किये जाने वाले कुछ अभिनयों का उल्लेख मिलता है। परन्तु इस समय के नाट्यों अथवा रूपकों में जो गेयपद या सम्भाषण प्रयुक्त होते थे उनका कोई अंश अब प्राप्त नहीं है। तेलुगु नाटक को एक पूर्व आकार “यक्षगान” है जिसका लिपिबद्ध साहित्य ई० १७वीं शती का मिला है। उसके बाद के युग में प्रसिद्ध

तेलुगुकवियों के द्वारा कई 'यक्षगान' रचे गये जिनमें से कुछ कृतियाँ अब प्राप्त हुई हैं। उपर्युक्त सामग्री के अवलोकन से तेलुगु नाटक साहित्य के विकास का जो क्रम अवगत हुआ है उसका संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास करेंगे।

कुरवंजि—तेलुगु रूपकों के विकास में पहली दशा थी 'कुरवंजि' अथवा 'कोरवंजि' की। उस युग में, जब द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तेलुगु का पृथक एवं स्पष्ट विकास नहीं हुआ था, तभी 'कुरवंजि' का समस्त दक्षिण में प्रचार होता था। अब भी तमिल-भाषा 'कुरवंलि' नाम से गेयपद विद्यमान हैं जो नृत्यों में काम आते हैं। तेलुगु में ऐसे गेय पद यद्यपि अवशिष्ट नहीं रहे, तथापि प्राचीन काव्यों में यत्र-तत्र उनका उल्लेख हुआ है।

'कुरवर' (तमिल) या 'कुरवलु' (तेलुगु) एक आरण्यक जाति के लोग थे जिनको 'कोय' समुदाय में अन्तर्गत किया गया है। ये बड़े ही नृत्य प्रिय होते थे। इनके नृत्य की रीति 'कुरवंजि' कही गयी। ये लोग पहाड़ों की तलहटी या अरण्य में वास करते थे और किसी तीर्थ स्थान पर पर्व-दिनों में जब यात्री लोग एकत्रित होते थे, तब वहाँ आकर अपने नृत्यों का प्रदर्शन करते और धन कमा लेते थे। इनके नृत्यों में पहले केवल अङ्ग विन्यास रहते थे; उनमें वेष-धारण या गीताभिनय नहीं रहते थे। कुछ समय बाद छोटे छोटे गेय पद गाते हुए अभिनय दिखाने लगे जिन्हें 'नृत्य' कहा गया। बाद को इन नृत्यों में वेश-भूषा की सज्जा के साथ पात्रों के रूप में अभिनय होने लगा तो 'नाट्य' की उत्पत्ति हुई। इन्हीं नाट्यों से रूपकों अथवा नाटकों का विकास हुआ। †

'कुरवंजि' नाट्यों दो ही पात्र होते थे; पुरुष को 'सिंगडु' और स्त्री को 'सिंगी' कहते थे। संस्कृत के नाटकों के नटी-सूत्रधारों के जैसे ये भी पति-पत्नी होते थे। कभी तीसरे एक पात्र का भी प्रवेश होता था जो हास्य रस पूर्ण अभिनय करता था; उसका नाम 'कोणंगि' होता था। कुरवंजि में छोटे इतिवृत्त भी होते थे। जो आरण्यक जीवन से सम्बन्ध रखते थे। 'कुरव' लोग विष्णु की नृसिंह मूर्ति की उपासना करते थे। उनके इतिवृत्तों में एक कहानी यह भी है जिसमें नृसिंह स्वामी एक 'चेंचु' (आरण्यक जाति की) कन्या के साथ विवाह करते हैं। तमिल साहित्य में भी बिलकुल ऐसे ही एक प्रसङ्ग का उल्लेख है; जिसमें 'मुरुगन' (आगे चलकर 'कार्तिकेय' और 'मुरुगन' एक ही देवता माने) 'वल्ली' नामक आटविक कन्या का पाणि-ग्रहण करते हैं। ये नाटक असंस्कृत और अपरिष्कृत होते थे। अब भी दक्षिण भारत में उपर्युक्त दोनों नाटक कुछ परिवर्तित रूप में खेले जाते हैं।

यक्षगान—'कुरवंजि' का प्रचार जब नगरों में होने लगा तो नगर के कवियों ने उसी प्रकार की कुछ नई रचनाएँ कीं। 'कुरवंजि' असभ्य जाति के दृश्यकाव्य थे। इन नये दृश्यकाव्यों में सभ्य जीवन के अनुकूल परिवर्तन और परिष्कार दिखाई पड़े। इनका नाम रक्खा गया "यक्षगान"। "कुरवंजि" में नृत्य की प्रधानता थी; यक्षगान में संगीत की। यक्षगान के इतिवृत्त थे पुराण प्रसिद्ध नल, हरिश्चन्द्र तथा रामायण, महाभारत आदि की कहानियाँ इसमें अनेक पात्रों का प्रवेश हुआ। घटनाओं का संबन्ध बनाये रखते हुए गेय पदों के बीच-बीच में गद्य का भी प्रयोग होता था जिन्हें अभिनय के समय "सूत्रधार" पढ़ता था—जैसे कैकेयी-दशरथ के प्रसंग में सूत्रधार

---

† धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' में वृत्त, नृत्य और नाट्य—इन तीनों दशाओं की परिभाषा उपर्युक्त विकास-क्रम के आधार पर यों दी है—वृत्त केवल ताल और लय से युक्त होता है। नृत्य में 'पदार्थाभिनय' होता है; अभिनय करने वाला विभिन्न मुद्राओं से पदार्थों का अभिनय दिखाता है। नाट्य 'कार्याथाभिनय प्रधान' होता है; विभिन्न क्रियाओं का अभिनय सङ्गीत और वेष-धारण के साथ होता है। नाटक नाट्य से भिन्न है; नाटक में कोई इतिवृत्त होता है और संभाषण भी रहता है।

बीच-बीच में पढ़ता कि "दशरथ महाराज कहते हैं", "कैकेयी कोपाविष्ट होकर बोलती हैं" इत्यादि । यक्षगान में कवि के स्वतंत्र वर्णन भी यत्र-तत्र रहते थे। जब कोई नया पात्र रंग पर प्रवेश करने वाला है तो कवि उस पात्र की वेश-भूषा, पराक्रम आदि का वर्णन करता है । कवि स्वयं इन वर्णनों को पढ़कर दर्शकों को सुनाता रहता या कभी पात्र स्वयं ही इन वर्णनों को सुनाते हुए रंगपर आते हैं । जिन यक्षगानों में कवि के ऐसे स्वतंत्र वर्णन कम हैं वे वर्तमान नाटकों के बिलकुल समीप हैं । इनमें गेय पदों और पद्यों की रचना संस्कृत के वृत्तों में न रहकर "देसी छंदों" में रहते हैं । अंकों का विभाजन एक-दो यक्ष-गानों को छोड़कर अन्यत्र नहीं हुआ है ।

आंध्रप्रदेश में "जक्कुलु" (यक्ष) नामक जाति के लोग ही इन नाटकों का प्रकाशन करते थे जिससे "यक्षगान" नाम पड़ा । श्रीनाथ महाकवि (१५वीं शताब्दी का आरम्भ) ने अपने "क्रीडाभिराममु" में "जक्क" जाति की नारी का वर्णन किया है ।

एक समालोचक ने ६७ यक्षगानों के नाम गिनाये हैं और कहा है कि ये सभी वर्तमान समय में प्राप्त होते हैं । इनमें कुछ मुख्य हैं "सुग्रीव विजयमु" (१६ वीं शताब्दी) "हनुमंत विजयमु", "कुशलव नाटकमु", "अहल्या संक्रंदनीयमु", "रामानुज विजयमु", "शशिरेखा परिणयमु" आदि ।

तेलुगु के महान भक्त कवि श्री त्यागराज ने (१७६४–१८४६) दो यक्षगान नाटक लिखे थे एक "प्रह्लाद विजयमु" और दूसरा "नौका-विजयमु" । इस दूसरे नाटक में कृष्ण लीलाओं में से "गोपिका वस्त्रापहरण" लीला की नई दार्शनिक व्याख्या दी गई है ।

तोलुबोम्मलाट—यक्षगानों का देश में जब प्रचार बढ़ा, तभी एक दूसरे प्रकार के रूपक का भी प्रचार हो चला था । इस खेल में चमड़े की कई पुतलियाँ बनाकर नचाया जाता था । परदे के पीछे खड़े होकर "सूत्रधार" इन पुतलियों को परदे के आगे इस ढंग से नचाते हैं कि दर्शकों को विदित होता है जैसे पुतलियाँ स्वयं ही चलती-फिरती हों । पीछे से संभाषण, गीत, पद्य आदि बोले व गाये जाते हैं । तेलुगु रूपकों के विकास में इन खेलों का बड़ा हाथ रहा है । तेलुगु देश में यह कला अब भी लुप्त नहीं है ।

वीथिनाटकमु"—चमड़े की पुतलियों के खेल और यक्षगान से और एक प्रकार का नाटक प्रस्फुटित हुआ जिसका नाम "वीथिनाटकमु" पड़ा । इसमें आधुनिक नाटकों और यक्षगान दोनों का संमिश्रण दिखाई पड़ता है । महाभारत और रामायण की कहानियाँ इसके इतिवृत्त थीं ।

संस्कृत के नाटकों का अनुवाद—संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों के साथ ही दृश्य-काव्यों का भी अनुवाद तेलुगु में चलता रहा । नन्दि मल्लय एवं घंटसिंगय नामक दो कवियों ने "प्रबोध चन्द्रोदय" नाटक का अनुवाद श्रव्य-काव्य के रूप में १५वीं शती में उपस्थित किया था । वीरन नामक कवि ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का प्रबन्धात्मक अनुवाद लगभग इसी समय प्रस्तुत किया । १६वीं और १७वीं शताब्दियों में इस प्रकार संस्कृत नाटकों के प्रबन्धानुवाद तेलुगु में बहुत हुए हैं । इन्हीं के साथ ये नाटक 'वीथिनाटकम्' के रूप में प्रदर्शित होते थे । ऐसे अनूदित वीथि नाटक लिखने वालों में 'बल्लभराय' का नाम उल्लेखनीय है ।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त 'यक्षज्ञान', 'वीथिनाटकमु' आदि का साहित्य तेलुगु भाषा-भण्डार में सुरक्षित नहीं हो सका; क्योंकि कला के रूप में इन्हें राजादरण और प्रजादरण भली भाँति मिलने पर भी उच्च साहित्यिक पद प्राप्त नहीं हो सका । 'अप्पकवि' जैसे लक्षणकार और श्रीनाथ 'महाकवि' जैसे कवि शेखर ने जो यक्षगान लिखे थे उनकी भी उतनी महत्ता नहीं मानी गयी जितनी उनकी अन्य रचनाओं की मानी गयी थी । ललित कलाओं के प्रति मध्ययुग के भारत में जो अतिपावनता का दृष्टिकोण था उसका यह परिणाम है ।

आधुनिक युग—ई० उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ पाद ने आन्ध्र नाटक साहित्य में बड़े भारी परिवर्तन को देखा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के आदरण में बम्बई में नाटकों का नवीन अभिनय आरम्भ हुआ। उसकी देखा-देखी फारसी कम्पनी के नाटकों की धूम मची। तेलुगु युवकों का ध्यान इन नाटकों की ओर आकृष्ट हुआ। एक 'धारवाड़ कम्पनी' की स्थापना हुई। बल्लारी में 'सरस विनोदिनी सभा' की नींव डाली गई जिसके कर्ता-धर्ता 'आन्ध्र नाटक पितामह' धर्मवरम् कृष्णमाचार्य थे। इधर दूसरे प्रसिद्ध नाटककार श्री कोलाचलम् श्री निवासाचार्य के तत्वावधान में 'सुमनोरम नाटक सभा' की स्थापना हुई। ऐसी कई नाटकसभाएँ छोटी बड़ी अन्यान्य नगरों में स्थापित हुईं। इनमें खेलने के लिए पचासों सुन्दर नाटकों का निर्माण हुआ।

आधुनिक नाटकों का प्रारम्भ धर्मवरम कृष्णमाचार्य से होता है। इन्हें 'आन्ध्र नाटक पितामह' बिरुद देकर आन्ध्र देश ने इनके प्रति अपना समुचित आदर दिखाया है। इन्होंने कोई तीस नाटक रचे थे। इनमें से सात नाटकों का जैसा प्रचार हुआ वैसा और किसी नाटक का नहीं हुआ। चित्रनलीयमु, विषाद सारङ्गधर, सावित्री, चन्द्रहास, पादुका-पट्टाभिषेकमु, मुक्तावली और प्रमीला। ये हजारों बार (इसमें अत्युक्ति नहीं है) रङ्गमञ्च पर खेले जा चुके हैं। इन नाटकों में सफल अभिनेयता के साथ ही काव्य-गत महत्त्व भी असमान है। कृष्णमाचार्य रस सिद्ध कवि थे; जीवन की विविध दशाओं का सजीव दृश्य प्रस्तुत करने में इनकी प्रतिभा अमोघ थी; सङ्गीत के मर्मज्ञ भी थे और सबसे बढ़ कर एक सफल अभिनेता। इन्हीं के समकालिक श्री निवासाचार्य ने भी कोई तीस नाटक लिखे थे; उनका 'विजय नगर साम्राज्य पतनमु' एक बे-जोड़ चीज है। चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम कृत 'प्रसन्न यादवमु', वीरेशलिंगम पन्तुलु कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलमु', दासु श्रीराम पन्तुलु कृत 'उत्तर रामचरितमु' वेदं वेंकटराय शास्त्री कृत 'प्रताप रुद्रीयमु' आदि तेलुगु साहित्य के चिरन्तन आभूषण हैं।

इन नाटकों में बहुत कुछ संस्कृत नाटकों के लक्षणों का पालन किया गया है। प्रायः पाँच अङ्क होते थे। पद्यों और गीतों की अधिक संख्या होती थी। संभाषण पात्रोचित होने पर भी कहीं कहीं उन की शैली में अनुप्रासों की छटा अधिक है। आगे चलकर बहुत कुछ परिवर्तन हो गये। कृष्णमाचार्य के उत्तरकालीन नाटकों में नांदी, प्रस्तावना आदि नहीं हैं। यहाँ तक कि उनके एक नाटक 'अजामिल' में बिलकुल पद्य ही नहीं रक्खे गए।

कृष्णमाचार्य और श्री निवासाचार्य के नाटकों को सबसे अधिक लोक प्रियता प्राप्त हुई। इन दोनों के नाटकों को जो स्वरूप मिला उसके पीछे तीन मुख्य तत्व हैं—(१) पाश्चात्य नाटक-पद्धतियों का अनुकरण (२) अपने नाटकों का अभिनय करने का भार स्वयं पर रहना और (३) जनता को नीति की शिक्षा देने का उद्देश्य।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तेलुगु नाटक के आकार में नवीनता आ गई; उसका दृष्टिकोण बदल गया, उसका उद्देश्य नई दिशा में था। शैली, कथानक, उद्देश्य, आकार-प्रकार और अभिनेयता सभी में नवीनता दिखाई पड़ी। यह परिवर्तन 'गुरजाड अप्पाराव' के 'कन्याशुल्क' से आरम्भ हुआ। कहना चाहिए, यह नाटक साहित्य रङ्ग में आंधी के जैसे आया; और आंधी के जैसे ही पुराने को हिला दिया और नवनिर्माण के लिए जनता को बाध्य किया। इसकी भाषा-शैली 'व्यावहारिक' थी। आंध्र भाषा की अब तक दो शैलियाँ हो गई थी; एक 'ग्रांथिक शैली' और दूसरी 'व्यावहारिक शैली"। व्यावहारिक शैली यानी बोलचाल की शैली साहित्य रचना के लिए त्याज्य मानी जाती थी। 'कन्याशुल्क' के रचयिता ने यह सोचकर कि नाटक जनता के मनोरञ्जन एवं शिक्षा के लिए है और जनता की बोली में ही वह रहना चाहिए, अपने नाटक का निर्माण व्यावहारिक शैली में कर दिया। ग्रांथिक और व्यावहारिक शैलियों के

पक्ष-विपक्ष में आंध्र भाषा के पण्डित-दिग्गजों ने जो महान् सङ्घर्ष चलाया था, उसका वर्णन यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। इतना कहना पर्याप्त है कि 'कन्या-शुल्क' नाटक के द्वारा साहित्य क्षेत्र में जो नई क्रांति उपस्थित हुई उसकी विजय अब सिद्ध हो चुकी है।

इस नाटक की दूसरी विशेषता उसके उद्देश्य-गत है। समाज की कुरीतियों का इसमें निर्मम खण्डन किया गया है। किसी कन्या से विवाह करने के लिए कन्या के पिता को शुल्क देने की प्रथा (दहेज प्रथा की जैसी यह प्रथा आंध्र में प्रचलित थी) जोरों पर थी। उसी का खण्डन इस नाटक में किया गया है।

आंध्र नाटक साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण भी इसी नाटक से आया था।

'कन्या-शुल्क' के पश्चात् जो नाटक लिखे गये उन्हें निम्न प्रकार से बाँट सकते हैं :—

(१) विषादांतनाटकमु (दुःखांत) (२) चारित्रिक नाटकमु (ऐतिहासिक) (३) सांघिक नाटकमु (सामाजिक) (४) विनोदनाटकमु (प्रहसन) (५) व्यंग्यनाटकमु (Satyre) और (६) तत्व-नाटकमु (दार्शनिक)। इनमें एकांकी नाटक भी हैं और पंचाकी भी। पिछले तीस, पैंतीस वर्षों में जो प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं उनमें से कुछेक का नामोल्लेख मात्र हम यहाँ पर कर सकते हैं।

'बलिजेपल्लि लक्ष्मीकांतम्''—इनका 'हरिश्चन्द्र' नाटक अधिक सफल रहा। ये स्वयं अच्छे कवि और सफल अभिनेता थे। इधर कुछ सिनेमाओं में भी इन्होंने अभिनय किया है।

'श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री' इनके पंचांकिक नाटकों में 'वारकांत' 'प्रेमपाशम्' 'निगल बंधनम्' 'राजराजु' आदि हैं। इनका एकांकी 'कलंपोटु' (कलम की चोट) प्रसिद्ध है।

'पी. वी. राजमन्नार'—ये अब मद्रास हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस हैं। इनके कई एकांकी नाटक सफलता के साथ खेले जा चुके हैं। एक-दो नाटकों का हिन्दी-अनुवाद भी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'दैयाल लंक' 'वैकुण्ठाचार्य' आदि प्रसिद्ध हैं।

'नार्ल वेंकटेश्वर राव'—ये मद्रास से निकलने वाले प्रसिद्ध दैनिक 'आंध्रप्रभा' के सम्पादक हैं। इनके कई एकाङ्की नाटक सफलता के साथ अभिनीत हो चुके हैं। 'तोलु बोम्मलु' प्रसिद्ध एकांकी है।

सिनेमा—डायलाग लिखने में 'समुद्राल राघवाचार्युलु' प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त विश्वनाथ कविराजु, पिङ्गलि नागेन्द्रराव, मल्लादि अवधानि, भमिडिपाटि कामेश्वरराव आदि अनेक नाटककार विख्यात हैं।

इस बीच में प्राचीन संस्कृत नाटकों का अनुवाद भी यथामूल प्रस्तुत किया जाता रहा। श्री मानवल्लि रामकृष्ण कवि और श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री के नाम स्मरणीय हैं जिन्होंने भासकृत 'प्रतिमा' आदि नाटकों का एवं 'भगवदज्जुकमु' (बोधायन महर्षि रचित एक प्रहसन) 'मत्तविलास प्रहसनमु' आदि का अनुवाद किया है।

तेलुगु नाटकों की सफलता का यह मुख्य कारण है कि अधिकतर नाटककार बड़े कवि, बहु भाषा विद् और जीवन के अनुभवी होने के साथ ही स्वयं अभिनेता थे। अतः इन नाटकों का रङ्गमञ्च पर जैसा आदर हुआ, वैसा साहित्यिक गौरव भी प्राप्त हुआ है। आइरिश नाटककार 'शान् ओकासी' ने बताया है—"A good stage-play, not good enough to be enjoyed in the study, is no worth a dying thinker's dream." इस कथन में बड़ी सचाई है। अच्छे नाटक की कसौटी सफल अभिनेयता मात्र नहीं है; परन्तु उसके पढ़ने में भी वैसा ही रस प्राप्त होना चाहिए। तेलुगु के अधिकांश आधुनिक नाटक इस कसौटी पर खरे उतरते हैं।

तमिल भाषा के नाटक

प्रो० टी० शेशाद्रि एम० ए०

तमिल का निर्देश मुत्तमिल नाम से किया जाता है। मुत्तमिल का अर्थ हुआ—तीन तमिल जिसका विस्तार है तीन रूप वाली तमिल। यह एक दिलचस्प नाम है जो किसी भी अन्य भाषा में नहीं पाया जाता यद्यपि अन्य कितनी ही भाषायें इस नाम की अधिकारिणी हैं।

ये तीन रूप इयल, इशै और नाटक हैं। इयल साधारण गद्य या पद्य है जो सिर्फ भाव-वाहक होता है। इशै में भाव भी होता है तथा सङ्गीत भी। नाटक में भाव, सङ्गीत तथा अभिनय ये तीनों होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये तीनों रूप क्रमशः हुए।* इयल तमिल तथा इशैत्तमिल नाटक-तमिल के पहले की हैं। और इयल इशै दोनों मिलते हैं तभी नाटक-तमिल का उद्भव होता है। इसी कारण तमिल भाषा को 'इयलिशैनाटकम्' में वर्गीकृत करके अध्ययन किया जाता है।

लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि यह वर्गीकरण सिर्फ तमिल भाषा का प्रकृति सम्बन्धी है। हम नाटक को साहित्य का एक विभाग मानते हैं और उसी अर्थ में इस लेख का विषय लिखा जाता है। उस अर्थ में पुराने साहित्य में न तो नाटक अधिक मिलते हैं न नाटक सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन या लक्षण ग्रन्थ या समालोचनात्मक ग्रन्थ ही मिलते हैं। इसी कारण जब पीछे, विद्वानों ने नाटक के सम्बन्ध में लिखना चाहा तो उनको संस्कृत तथा अँग्रेजी भाषा के ग्रन्थों का आधार लेना पड़ा।

दिल्ली से हाल में निकली 'तमिल साहित्य का इतिहास'—पुस्तक में शायद जिक्र आता है कि 'शिलप्पधिकारम्' में नाटक का प्राचीन रूप मिलता है। यह गलत फहमी पैदा कर सकता है। 'शिलप्पधिकारम्' में आप सिर्फ तमिल भाषा के उस रूप को देख सकते हैं जहाँ वाक्य भाव-वाहक होने के साथ, गेय भी होते हैं तथा अभिनय करने योग्य भी। इसलिए पुराने साहित्यों में नाटक को उस रूप में पाने का प्रयास करना जिस रूप में वह आज जाना जाता है, वृथा है।

तेरुक्कूत्तु—साहित्य में नाटक का अभाव होते हुए भी दृश्य-काव्य कला के रूप में पुरातन काल से पाला जाता आरहा है, इसमें सन्देह नहीं है। 'तेरुक्कूत्तु', उस प्रयास का प्राचीन रूप है जो आजकल अपने पुराने रूप में भी यत्र-तत्र हो रहा है और जिसका मँजा-सुधरा हुआ रूप आजकल के ड्रामा या नाटक में मिल गया है।

अब तेरुक्कूत्तु का शाब्दिक अर्थ हुआ सड़क या गली का नाटक। ऐसे नाटक खास मण्डलियाँ खेलती हैं। यह उनका परम्परागत पेशा है और उनकी एक जाति सी बन गयी है। दिन-रात परिश्रम करके वे कला सीखते हैं। वे दल के दल जगह-जगह जाते, रात को नाटक खेलते और जो कुछ वसूल होता उससे अपना गुजर करते हैं। या किसी गाँव का मुखिया या गाँव के प्रतिष्ठित पुरुष, सार्वजनिक या धार्मिक उत्सव या मेले में 'कूत्तु' का प्रबंध कराते और इन लोगों को बुलाते हैं।

उनके नाटक—ये मण्डलियाँ अधिकतर हमारे पुराण या इतिहास से पात्र तथा घटनायें चुनतीं और उपदेश तथा सुन्दर भावों से भरे नाटक रचती हैं। 'कुरवंजि', 'अल्लि अरशाणी', सावित्री-सत्यवान', 'पवलक्कोडी'; आदि नाटक महाभारत से सम्बन्ध रखते हैं; 'कोवलन चरित्रम्' तमिल के प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिलप्पधिकारम्' के नायक का चरित्र है। 'रामायण' या तो संपूर्ण रामायण के रूप में की जाती है या 'सीता-विवाह', 'सती-सुलोचना', आदि उसके विभिन्न अंग दर्शाये जाते हैं।

---

* वी० गो० सूर्यनारायण शास्त्री—नाटक वियल

जैसे पहले कहा गया उनके लिए तेरु या गली ही हॉल होती है। नारियल के पत्तों से ढका एक छोटा सा कमरा तैयार कर लिया जाता है जो तीनों ओर से उन्हीं पत्तों से बन्द होता है और मुहाने पर एक पर्दा गिरा रहता है। उसी कमरे में अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ अपने पात्रोचित बनाव कर लेते हैं। पर्दे के बाहर आकर वे अभिनय करते हैं। उनके लिए साज-सामान की कम आवश्यकता होती है। एक टूटी कुर्सी या चार पैरों पर टिका एक तख्ता रावण का क्या इंद्र का सिंहासन तक बन जाता है।

उनका साहित्य—ऐसी मण्डली का हर सदस्य पल भर की नोटिस में किसी भी पात्र का अभिनय कर सकता है। उसका नायक प्रधान पात्र लेता है। वह भी उतना ही चतुर होता है। मुझे अब भी स्मरण आता है एक घटना का। हमारे गाँव में तीस बरस पहले एक ऐसी मण्डली आयी थी। तब हम बच्चे थे। नाटक शुरू हुआ और सूत्रधार भी आ चुका। वह कह रहा था कि सती-सुलोचना का नाटक होगा। लेकिन हमारे गाँव के मुखिये ने कहा—'नहीं कोवलन चरित्रम् होने दो' बस अन्दर जो इन्द्रजित बैठा था वह कोवलन बन गया। इससे नाटक के रस में कोई कमी नहीं हुई। मतलब है वे उसके अभ्यस्त थे और एक नहीं अनेक नाटकों की कहानियाँ, पात्र आदि का अच्छा ज्ञान रखते थे। उनमें कितने ही आशु कवि होते थे। उनका अभिनय, उनका साहित्य उनकी पोशाक सब में से सभी रसों का रसास्वादन किया जा सकता है। यह तेरुक्कूत्तु उस रूप में आज कल अधिक प्रचलित नहीं है।

तेरुक्कूत्तु के अन्य रूप—तेरुक्कूत्तु गली बाजारों में किया जाता था। वह धार्मिक होते हुए भी लौकिक था; सभ्य होते हुए भी 'ग्राम्य' था। इसलिए मन्दिरों तथा उच्च घराने में जो नाटक होते थे। उनमें ये दोनों दोष कम कर दिये गये। मन्दिरों में धार्मिकता अधिक कर दी गयी और उच्च घराने के नाटकों में शिष्टता अधिक। उनमें साहित्य को कम करके अभिनय और वेशभूषा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। ये दोनों रूप भी क्रमशः अब तंजाऊर के मन्दिर में और तञ्जौर जिले के मेलटूर गाँव में सुरक्षित मिलते हैं।

उन्नयन—धीरे-धीरे, इसकी उपयोगिता के कारण बढ़ती हुई लोकप्रियता से आकृष्ट होकर कुछ कलाविद इस क्षेत्र में आये जिन्होंने इसको सँवार-सुधार कर एक नया रूप प्रदान किए। इनके कारण अब यह तेरुक्कूत्तु न रह कर अच्छे-पक्के मकानों के अन्दर, सुन्दर रङ्गमञ्च तैयार करके खेला जाने लगा। साहित्य में भी जहाँ अभिनेता समयानुकूल बोलने में स्वच्छन्दता बरतते थे वहाँ निश्चित वाक्य याद करके बोलने की प्रथा आ गयी। साहित्य स्थिर होता गया। और भी सीन बदलने लगे और साज-सामान भी। नाटक खेलना सचमुच परिश्रम तथा खर्च का विषय हो गया। जहाँ नाटक मण्डली दर्शक के पास जाती थी वहाँ दर्शकों ही को नाटक मण्डली के पास जाना पड़ा। पहले जो दर्शक देते थे उसको ससन्तोष नाटक मण्डली लेती थी। अब नाटक मण्डली जो माँगती थी वह दर्शक को देना पड़ा।

ऐसी मण्डलियों में 'कण्णैया कम्पनी नाम की मण्डली बहुत प्रसिद्ध रही। उनकी ख्याति अब तक तमिलनाड नहीं भूला है। उनकी शिष्य परम्परा में आये कितने ही लोग आज नाटक या सिनेमा के क्षेत्रों में 'सितारे' बन कर चमक रहे हैं।

कण्णैया ने खूब कमाया। वे एक धार्मिक पुरुष थे। जितना कमाया वह सब मन्दिरों में ही खर्च कर चुके थे। आज कितने ही मन्दिरों के हनुमान, गरुड़ आदि के सोना चाँदी के पत्रावृत्त वाहन कण्णैया की भक्ति का साक्षी दे रहे हैं। 'दशावतार', 'सम्पूर्ण रामायण' ये दो उनके प्रसिद्ध नाटक है।

उनके बाद 'नवाब राजमाणिक्कम पार्टी' की धूम मचने लगी। जब राजमाणिक्कम ने अपनी मण्डली स्थापित की तब तक सिनेमा आ चुका था, इसलिए उनको और भी परिश्रम करना पड़ा और अपने नाटकों में चलचित्र का सा वातावरण लाना पड़ा। इसमें

वे बहुत कुछ सफलता पा गये। उनको 'कृष्णलीला' ने उनको बहुत नाम तथा दाम दिलाया। वे अब भी क्षेत्र में हैं तथा उनके 'रामदास' 'येशु क्रिस्तु', 'अय्यप्पन' आदि नाटक प्रसिद्ध हैं।

साहित्य—अब तक हम देखते हैं कि नाटक में धार्मिकता तथा दृश्य की सफलता दोनों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। अब से उसका प्रबल अङ्ग साहित्य पर भी ध्यान दिया जाने लगा। यहीं से नाटक का साहित्य छपने भी लगा और नाटक-पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। जब साहित्य पर ध्यान दिया जाने लगता है तब तीन परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं। पात्रों को मानव या मानवगुण युक्त बनाना पड़ता है; विषय चयन में स्वर्ग लोक से उतर कर भूलोक में आना पड़ता है, जहाँ कारण-कार्य का सम्बन्ध विश्वास पर नहीं ज्ञान तथा तर्क पर अवलम्बित रहता है।

तीसरा भाषा-शक्ति या शब्द-शक्ति का उपयोग करने का प्रयास होने लगता है। जहाँ नाटक या अभिनय का सम्बन्ध है वहाँ भी कुछ परिवर्तन होना अनिवार्य है।

ऐसे दृश्य नाटककारों में नवाब राजमाणिक्कम पार्टी, 'टी० के० एस० पार्टी', 'शक्ति नाटक सभा', 'रामसामी नाटक मण्डली', वगैरह प्रसिद्ध हैं।

टी० के० एस० का पूरा नाम श्री षण्मुखम् है जिनकी मण्डली का 'औवैयार', 'इमयत्तिल् नाम' (हिमवान पर हम) 'मनिदन' आदि मशहूर हैं।

शक्ति नाटक सभा का 'कवि का स्वप्न', 'विधि' आदि बहुत सुन्दर नाटक हैं। इन मण्डलियों के प्रसिद्ध नाटक छपकर पुस्तकाकार प्रकाशित होगये हैं।

मनोरञ्जन मण्डलियाँ—ये पेशेवर मण्डलियाँ हैं। इसी समय ऐसी मण्डलियाँ भी स्थापित हुईं जिनके सदस्य कहीं नौकरी करते थे और कला के लालित्य से आकृष्ट होकर इस में भाग लेते थे। ऐसी मण्डलियों की एक लहर सी उठी और लगभग सभी प्रधान शहरों में नाटक मण्डलियाँ स्थापित हुईं। उनमें मद्रास का सेक्रेटरियट पार्टी, कुम्भकोणम वाणी विलास सभा, मदुरा की सभा—ये सब प्रसि हैं। अब भी मद्रास तथा कुम्भकोणम की सभा जीवन्त हैं और नाटक खेल रही हैं।

मद्रास की सभा के प्राण शी० पी० सम्ब मुदालियर थे जिनको सरकार ने रायबहादुर की उपा से विभूषित किया था। यह महाशय अपने अभिन लिए ही नहीं बल्कि अपने रचे नाटकों के लिये प्रसिद्ध हैं। उनके लिखे नाटकों में 'राजभक्ति', 'म हरन' आदि गम्भीर रचनाएँ, 'चन्द्रहरि', 'सभाप आदि हास्य रस के नाटक प्रसिद्ध हैं। उनके लि नाटक लगभग पचास हैं। वी० सी० गोपालरत्न नाटक भी प्रसिद्ध हैं।

कुम्भकोणम की सभा भी कई नाटक खेल चुकी उसने कई हिन्दी नाटकों का अनुवाद किया है। कर बँगला के प्रसिद्ध नाटक नूरजहाँ, शाहजहाँ, मे पतन आदि का उसने सफलतापूर्वक अभिनय किया

पाठ्य-नाटक—अब तक इनकी रचनाएँ 'दृ काव्य' का सारा गुण रखती थीं। उनको अपना ना खेलना था अतः रचनाएँ उसी उद्देश्य से की थीं। अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ये काट-छाँट कर निश्चित रूप दिये जा रहे थे। अब साहित्य के दरबार में स्थान पाकर नाट अपना स्थान थोड़ा बदल लिया। अब वह सिर्फ न रह कर श्रव्य भी होने लग गये। हिन्दी में शङ्कर प्रसादजी के नाटकों की जो हालत है वही नाटकों को प्राप्त हुई। वे उच्च कक्षाओं में पढ़ाये हैं। उन पर समालोचनायें लिखी जाती हैं, ले रङ्गमञ्च पर नहीं खेले जाते।

पहले पहल नाटकों को यह गौरव दिलाने में गण्य महोदय तिरूवांकूर के सुन्दरम पिल्लैजी मद्रास स्थित मथुरा वासी वी० गो० सूर्यना शास्त्री दोनों हैं। सुन्दरम पिल्लैजी ने 'मनोन्म नामक नाटक शेक्सपियर की नाटक पद्धति पर

कान्त पद्य तथा गीतों में लिखा। सूर्यनारायण शास्त्री ने सिर्फ लक्ष्य ग्रंथ ही नहीं लिखे बल्कि लक्षण ग्रन्थ भो लिखा। उनको खेद था कि अब तक तमिल में नाटक साहित्य का अभाव था। उसे दूर करने के विचार से ही उन्होंने 'कलावती', 'रूपावती', 'मानविजयम्' आदि नाटक रचे। 'नाटक इयल' नामक उनके रचे नाटक-शास्त्र (लक्षण ग्रन्थ–पद्य भाषा में) अंग्रेजी तथा संस्कृत के सिद्धान्तों पर आधारित है।

अब दोनों तरह के नाटक तैयार हो रहे हैं—वे नाटक जो खेलने ही के लिए तैयार हो रहे हैं और वे जो दृश्य, श्रव्य दोनों तरह के काम आते हैं।

सिनेमा—सिनेमा के आगमन ने पहले पहल नाटकों में प्राण फूँका फिर उसे सुखा भी दिया। कितने ही ड्रामा के क्षेत्र से सिनेमा में चले गये। उनमें टी० के० षण्मुखम् (जो अब नाटक को भी अपनी सेवा समर्पित करने लगे हैं) जी० पट्टु अय्यर, एन० एस० कृष्णन आदि मुख्य हैं। कितने ही नाटक अब फिल्म बन गये हैं। 'औवैयार मनोहरन आदि इनमें बहुविश्रुत नाटक हैं। अब फिर से नाटकों की सर्वप्रियता बढ़ने लगी है।

प्रचार—नाटक प्रचार का बहुत ही प्रभावपूर्ण साधन है। नाटक के उसी प्रभाव के कारण पहले धार्मिक तत्त्वों के प्रचार के लिए वे उपयोग में लाये जाते थे। अब राजनीतिक लोग उसका उपयोग करने लगे हैं। कम्यूनिस्ट तथा द्राविड़-दल अपनी-अपनी पार्टी के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए नाटक तैयार कर चुके हैं। आज तमिलनाड में द्राविड़ दलों की रामायण जिसमें श्रीराम पर कीचड़ उछालने का प्रयास किया गया है बहुत तहलका मचा रही है।

आज उपलब्ध नाटकों में ख्याति प्राप्त नाटकों का ल्लेख मात्र करूँगा—

साहित्यिक—मनोन्मणीयम्—सुन्दरम पिल्लै
मानविजयम्—सूर्यनारायण शास्त्री
रूपावती— " "
कालवती— " "
मुद्राराक्षस—अनूदित
हास्य नाटक—वी. सी. गोपालरत्नम्
सामाजिक—कदिथिन कनवु—शक्ति नाटक सभा
मनिदन—आदि सुन्दरम्
कलावल्ली—षण्मुखवेलन्
निपलूहल—श्रीनिवरसरघवन्
ऐतिहासिक—राजेन्द्र—गोविन्दराय
आदि कवि—कम्बदास
मंगयर्कराशि—कोदण्डपानी
पृथ्वीराज—सी० आर० मुदालियार
कौशाम्बी का राजा—रुद्रापति
मीरा विजय—शुद्धानन्त भारती
भोज—नारायण शास्त्री
पौराणिक—कीचक—नमशिवायम्
धार्मिक—स्वामीजी महाराज—कुप्पु स्वामी।

आजकल एक नया प्रयास हो रहा है। सिनेमा के संभाषण को ज्यों का त्यों लिपिबद्ध करके 'तिरैवचनम्' के नाम से पुस्तकें तैयार हो रही हैं। वे भी बहुत हद तक सर्वप्रिय हो चुकी हैं।

एकांकी—कुछ काल पहले तक तमिल में एकाङ्की का अभाव था। अब एकांकी तैयार हो रहे हैं। लेकिन अधिकतर एकाङ्की गम्भीर नहीं होते। पूर्ण सोम सुन्दरम्, गोमती स्वामीनायन दोनों हास्य रस के हलके एकाङ्की लिखने में सिद्धहस्त हैं।" ए श्रीनिवासराघवन यदा-कदा गम्भीर भावों को लेकर एकाङ्की लिखते हैं।

अब समालोचनात्मक रीति से तमिल के नाटक साहित्य के बारे में कहने को कुछ अधिक नहीं है। जैसे हिन्दी में संस्कृत, अङ्गरेजी आदि भाषा के ज्ञानभण्डार से प्रभावित होकर नाटक लिखे जा रहे हैं। सिनेमा नाटक में जो दृश्य विभिन्नता पर जोर लाया है वह तो सर्वत्र एक ही बात है। इसलिए संक्षेप में इतना कहकर यह परिचयात्मक लेख समाप्त करूँगा।

मलयालम नाटक साहित्य का विकास

श्रीमती रत्नमयी देवी दीक्षित एम० ए०

प्राचीन काल से ही साहित्य रसिकता के अनेक उदाहरण हमें प्राप्त हैं। सङ्गीत तथा साहित्य दोनों का एक साथ रसास्वादन कराने वाली अनेक रचनाएँ ऐतिहासिक काल के सैकड़ों वर्ष पूर्व कैरली-श्री के चरणों पर समर्पित की जा चुकी थीं। परन्तु गद्य-साहित्य की उत्पत्ति के लिए उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रतीक्षा करनी आवश्यक हुई। नाटक साहित्य ने भी लगभग इसी समय केरल-भाषा का अलङ्कार बनना आरम्भ किया।

इसका अर्थ यह नहीं है कि दृश्य-काव्य अथवा अभिनय योग्य साहित्य के क्षेत्र में कैरली दरिद्र थी। जिस काल में देवी-देवताओं के रूप की कल्पना नहीं की गई थी उस समय में भी किसी एक देवी और उसके शत्रु असुरराज दारिक का वेश धारण करना धार्मिक उत्सवों का मुख्य अङ्ग हुआ करता था।

ऐतिहासिक काल के आरम्भ में पाठकं, चाक्यार-कूत्तु, कूट्टियाट्टं आदि का मन्दिरों के आँगनों में सुचारु रूप से प्रदर्शित किया जाना साधारण रीति थी। इन विविध कला-विशेषज्ञों का उद्देश्य दर्शकों को विज्ञान, विवेक तथा विनोद का एक साथ रसास्वादन कराना होता था। पुराण-कथाओं में से किसी प्रसङ्ग को चुन कर एक या अधिक व्यक्ति उसका अभिनय किया करते थे। प्रदर्शन करने वाले चाक्यार नामक जाति-विशेष के स्त्री-पुरुष हुआ करते थे। आगे चल कर कथकली और तुल्लल भी मनोरम अभिनय कला-विशेष के रूप में विकसित हुए। परन्तु यह सब नाट्य-साहित्य की नांदी मात्र थी। वास्तविक नाट्य-साहित्य का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ। या, यों कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में केरलीय नाट्य-साहित्य की अपनी मौलिक शैली में एक ऐसी क्रान्ति हुए जिसका ऊपरी ढाँचा संस्कृत तथा पाश्चात्य भाषाओं के नाट्य-साहित्य के ढाँचे से मिलता-जुलता था।

मलयालम में इस नई शैली में लिखा जाने वाला सर्वप्रथम नाटक है—'चन्द्रमुखी विलास' इसके सुविख्यात रचयिता थे श्री सी० वी० रामन पिल्लै, जिन्होंने अनेकानेक ऐतिहासिक उपन्यासों से भी केरली को अलंकृत किया है। इस नाटक की रचना कालेज के विद्यार्थियों के अभिनय के लिए की गई थी। समाज की कुछ कुरीतियों का उपहास करके तरुणों में उन्हें दूर करने की प्रबल इच्छा जाग्रत करने के उद्देश्य से लिखा यह नाटक कथानक, साहित्य-गुण तथा अभिनय-योग्यता की दृष्टि से पूर्णतया सफल रहा। विज्ञान और विनोद एक साथ प्रदान करने वाले इस नये प्रस्थान ने विद्वज्जनों का भी ध्यान आकर्षित किया। इसके कुछ समय बाद ही महामहिम श्री केरल वर्मा वलियकोयित् तम्पुरान ने महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का वृत्तानुवृत्त अनुवाद किया। संस्कृत पद-प्राचुर्य और संस्कृत-शैली के अनुकरण के कारण उनकी यह कृति जन-साधारण के लिए तो सुबोध नहीं थी, फिर भी विद्वानों में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई और तम्पुरान की 'कैरल-कालिदास' उपाधि और भी उज्ज्वल हो उठी। मूल कवि कालिदास और अनुवादक 'कैरल-कालिदास' दोनों की प्रशस्ति, कथानक की मनोमुग्धकारिता और प्रस्थान-विशेष की नवीनता ने जनता को इस प्रकार के साहित्य के आस्वादन तथा निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया। मौलिक रचना सुसाध्य नहीं थी। एक ओर 'नाटकांतं कवित्व' के अनुसार नाटक-रचना की दःसाध्यता और दूसरी ओर संस्कृत से मलयालम् में अनुवाद करने की अपेक्षा-कृत सुगमता ने साधारण विदानों को अनुवाद की ओर ही प्रेरित किया।

केरल में संस्कृत भाषा का अध्ययन एक अनिवार्य आवश्यकता थी। अनेक शताब्दियों तक से मलयालम

भाषा पर संस्कृत का प्रभाव चला आ रहा था और वह दृढ़मूल हो गया था। अतएव संस्कृत के प्रायः सभी सरल शब्द मूल रूपों और मूल अर्थों में ही भाषा में प्रचलित हो गये थे। उदाहरणार्थ 'विचिन्तयन्ती यमनन्य मानसा' आदि संस्कृत श्लोक का अनुवाद देखिए—

गणिच्चिडातें मुनियायोरेन्नेनी
निनच्चिडन्नू यमनन्यमानसा।
स्मरिच्चिडा निन्ने अवन कथिविकलुं
अमिच्चवन पूर्वकथां कृतामिव।

गद्य और पद्य में इस प्रकार के असंख्य उदाहरण पाये जा सकते हैं। संस्कृत भाषा के प्रति केरलीय जनता को जो अनन्य प्रेम और आदर था उसके कारण भी उसकी काव्य जैसी मधुर नाट्य-कृतियों के अनुवाद करने के उत्साह की वृद्धि हुई। 'केरल-कालिदास' के भागिनेय 'केरल-पाणिनी' ने भी मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका, स्वप्नवासवदत्ता आदि अनेक गणनीय नाटकों को मलयालम् में विवर्तित किया। श्री चम्पत्तिल चात्तुकुट्टि मन्नाटियार नाम के एक महान् कवि ने भवभूति की केवल एक ही कृति 'उत्तर राम चरित' का अनुवाद करके अमर यश प्राप्त कर लिया। मूल ग्रंथ के प्रत्येक वैशिष्ट्य को परिस्फुट करने वाला यह अनुवाद, भाषा-नाटक साहित्य के लिए एक अमूल्य निधि हैं। उदाहरण के लिए, "रे! हस्तदक्षिण! मृतस्याशिशोर्द्विजस्य" आदि श्लोक का अनुवाद देखिए—

रे रे! दक्षिण हस्त! विप्रतयन जीविक्कुवान वेणिटनी
घोरं खड्गमयक्क शूद्रमुनितन नेरे मडि केण्टे डो,
पारं गर्भ भरार्तयां क्षितिजये कैविट्ट केकेमना-
मीरामण्टे योरङ्गमाकियनिनक् कंडन्नु वन्नू कृपा?

इसी प्रकार—'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' का अनुवाद—

करुण मोरु रसं तान हेतु भेदेन. नाना-
परिणति ये वहिच्ची डन्निते मारि मारि
तिरनिर चुड्डियेन्नी रूपभेदं ङ्ङ काणाय-
वरिकिलु भव येन्नां वेल्लम निनचाल।

इस प्रकार यदि अधिक उद्धरण देने हों तो प्रत्येक पद और प्रत्येक श्लोक यहाँ दे देना होगा।

संस्कृत के प्रायः सभी श्रेष्ठ नाटकों का अनुवाद भाषा में हो गया। जब दृश्य-काव्य के प्रति लोगों की प्रतिभा जाग्रत हो गई तो विद्वजनों ने अनुवाद को छोड़ कर मौलिक रचनाओं की ओर ध्यान दिया। सरस-गायक-कवि विरुद से समलंकृत श्री के० सी० पिल्लै ने प्रथम मौलिक सङ्गीत नाटक 'सदारामा' को भाषा-योषा का कण्ठाभरण बनाया। इसका इतिवृत्त एक राजा और राजकुमारी के परस्पर प्रेम, उसमें अनवधि बाधाओं और अन्त में घोर विपत्तियों को पार करके नायिका तथा नायक के समागम का है। रचना-शैली, भाषा-वैशिष्ट्य, अभिनय योग्यता तन्मयी भाव रस व्युत्पत्ति और औचित्यानुसार मनोहर गीतों के समावेश आदि गुणों से यह नाटक केरल में सर्व-प्रिय हो गया और दीर्घ काल तक अपनी विजय-पताका फहराता रहा। इसके पश्चात् भागवत कथा के आधार पर राधा-माधव और कल्पित आधार पर 'लक्ष्मी कल्या' नाम के एक सामाजिक नाटक की भी इन्होंने रचना की। इस समय तक स्कूलों और कालेजों में भी नाटक खेलने की अभिरुचि बढ़ने लगी थी अतः समय-समय पर विद्यार्थियों के अभिनय करने योग्य नाटकों की रचना भी होने लगी थी। परन्तु ये सब संस्कृत नाटकों की छाया ही थे। कभी-कभी तमिल नाटकों का अनुकरण करके गीति-नाट्यों की भी रचना की जाती थी।

नाटकों के प्रति जनता का अनुराग जाग्रत हुआ तो सभी लोग नाटक रचना करने लगे। एक ओर उत्तम नाटकों के उत्तम अनुवादों से साहित्य-वाटिका सुशोभित हो रही थी। दूसरी ओर नामधारी पण्डित समाज का तूलिका-प्रसव उसे छत्र-पादपों के समान निकृष्ट श्रेणी की रचनाओं से आच्छादित करने लगा। जो थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना सीख गया वही अपने-आपको नाटककार मानने लगा। इस प्रकार के

नाटककारों और नाटकों से नाट्य-साहित्य के विकास की गति तीव्र होने के बदले कुण्ठित ही हुई । जब यह स्थिति सीमा को ही पार करने लगी तब श्री राम-कुरुप्प मुन्शी नाम के हास्य-रस के एक महाकवि को एक उपाय सूझा । उन्होंने 'चक्की चकर' नाम का एक नाटक लिखा, जिसमें साधारण नाटकों की अत्यन्त प्रभावशाली ढङ्ग से बिडम्बना की गई । उसमें उन्होंने ऐसे पात्रों की रचना की जिन्हें देख कर नामधारी पण्डितों और नाटककारों को अपने-अपने नाटकों के पात्रों का विचार करके लज्जित होना पड़ा । इतना ही नहीं, उन्होंने कुभाण्ड नामक एक पात्र से नाम ले-ले कर इस प्रकार के प्रश्न पुछवाये हैं—'इस प्रकार भाषा की बाधा बनोगे ?" और उसे "अब नहीं, अब नहीं" कहते हुए दुहाइयाँ करते हुए, भयभीत हो कर रङ्ग-मञ्च से भागने के लिए बाध्य किया है । सन्तोष की बात कि इस नाटक के प्रकाशित होने के बाद कवि-ूषकों की बाधा भी समाप्त हो गई ।

जब एक ओर संस्कृत नाटकों का अनुसरण करके द्य-पद्य सम्मिश्र नाटकों की रचना हो रही थी उसी मय 'चन्द्रमुखी विलास' के लेखक की लेखनी समाज शुद्धीकरण और उन्नयन को लक्ष्य बनाकर, नई णाली से, स्वाभाविकता को मानदण्ड बना कर, गद्य ाटकों के निर्माण में प्रवर्तित हो रही थी । पाश्चात्य ंस्कृति और आंग्ल भाषा के अध्ययन से तरुणों की भिरुचि बदलने लगी थी । समय की गति के अनु-ार विचार-गति में भी नवीनता आई । तरुणों को ण-दोष सम्मिश्र उस नई संस्कृति की क्षणिक ज्योति में तङ्ग बनते देखकर उस साहित्य गुरु का हृदय तड़पने गा । फलतः 'कुरुप्पिल्ला कड़री', 'चेरुतेन कोलम्बस', डाक्टर्कु किट्टिय मेच्चं' आदि नाटक 'प्रहसन' नाम से मशः प्रकाशित होने लगे । लेखक और अभिनेता, नों के रूप में सी० वी० ने स्वयं इन नाटकों को नता के समक्ष प्रस्तुत किया । हँसाने की शक्ति और नोल्लीपन्न के कारण इन नाटकों का नाम ही 'प्रहसन' ड़ गया । वैसे भरत मुनि ने प्रहसन के जो लक्षण बताये हैं उसमें से एक भी सी० वी० रामन पिल्लै के 'प्रहसनों' का मापदण्ड नहीं था ।

इसी समय बङ्ग-भाषा से द्विजेन्द्रलाल राय आदि प्रसिद्ध नाटककारों की और अँग्रेजी से शेक्सपियर आदि की प्रसस्त रचनाओं का भी मलयालम में जोरों से अनुवाद आरम्भ हो गया था । परन्तु साहित्य की दृष्टि से ये सब रचनायें आदरणीय तथा अभिलषणीय होने पर भी समाज तथा मनःशास्त्र की दृष्टि से जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये अपर्याप्त थीं । साथ ही, जब विस्तृत गगन में प्रोज्वल तारों के समान मौलिक कृतियों के दर्शन भी होने लगे तो सहज ही जनता का हृदय उस नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का स्वागत करने के लिये उतावला हो उठा । आवश्यकता प्रबल होने पर सर्जन भी स्वयं ही हो जाता है । फलतः गद्य-पद्य सम्मिश्र भाषा में पुराणों के इतिवृत्त लेकर जो रचनायें हो रही थीं उनके स्थान पर अब समाज के मौलिक प्रश्नों के आधार पर लोक-चरित का यथार्थ चित्रण करने वाले गद्य-नाटक प्रकट होने लगे । द्विजेन्द्रलाल राय के 'सीता' के साथ-साथ कैनिक्कर कुमार पिल्लै के 'हरिश्चन्द्र' ने रङ्गभूमि में प्रवेश किया । 'मणिमङ्गलं', कलपवारियिले कल्प-पादप' आदि रचनायें गद्य-नाटक वेदी के अनश्वर स्तम्भ बन गये ।

केरलीय इतिहास का भूतकाल भी पर्दे के पीछे से निकल कर साहित्याराधकों को प्रेरणा देने लगा । वयनाट्टु राज्य के पुरुष-सिंह, केरल-स्वातन्त्र्य के आजीवनान्त युद्ध करने वाले वीर-श्रेष्ठ, कौट्टयं केरल वर्मा राजा के अन्त्यकाल के आधार पर विरचित 'केरल वर्मा पड़श्शि राजा' नाम का गद्य-नाटक इस दिशा के सफल प्रयत्नों का एक मुकुटोदाहरण है । इस नाटक के आदरणीय लेखक श्री कप्पन कृष्णमेनोन की अन्य ऐतिहासिक कृतियाँ भी अत्यन्त आदरणीय मानी जाती हैं । केरल के हास्य-सम्राट् स्व० श्री ई० वी० कृष्ण पिल्लै के 'इरवि कुट्टि पिल्लै', 'सीता-लक्ष्मी',

'राजा केशवदान' और 'वेलुत्तम्पि दलवा' आदि नाटक भी स्मरणीय हैं।

इस समय नाटकों में आदर्श और व्यवहार को औचित्य-दीक्षा के साथ मिलाने की वृत्ति प्रबल थी। जैसे-जैसे समय में परिवर्तन होता गया, इन आदर्शवादी कृतियों की ओर से जनता में एक अरुचि भी पैदा होती गई। संसार पुष्प-शैया नहीं, कण्टकाकीर्ण आस्तरण ही इसमें अधिक है—इस तथ्य की अनुभूति करने वाले पाठकों और लेखकों ने कला द्वारा 'दरिद्र सहजीवियों के आक्रन्दन को भी सुविस्तृत संसार के कर्णों में प्रतिध्वनित करना आवश्यक समझा। अतएव 'प्रतिफलं', 'विशप्पिण्टे विलि' (भूख का आह्वान) आदि नाटक एक के पश्चात् एक प्रकाशित तथा अभिनीत होने लगे। आज भी इस दोनों धाराओं के पृथक प्रवाह गति मन्द होने पर भी चलते जा रहे हैं।

बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल और राष्ट्रभाषा हिन्दी के समान मलयालम् को भी यह गौरव प्राप्त है कि उसके कुछ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के सुपुत्रों ने उसकी उपेक्षा नहीं की। मलयालम् के ऐसे वरेण्य पुत्रों में सरदार के० एम० पणिकर का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने साहित्य की गद्य-पद्य दोनों शाखाओं में अनेक अनुपम रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं का प्रसाद-गुण अन्यत्र दुर्लभ है। उनमें नई कल्पनाओं और जगत के अनुभवजन्य ज्ञान का जो स्रोत प्रवाहित होता दिखलाई पड़ता है वह नये लेखकों के लिए प्रेरणा-प्रद और पाठकों के लिए सर्वथा हितावह है। उनके नाटक—ध्रुवस्वामिनी, नाटक त्रयं (तीन नाटकों का समाहार) और मण्डोदरी आदि संस्कृत नाट्य-शैली में लिखे गये हैं, किन्तु इन प्राचीन कथानकों में आधुनिकता का अपूर्व समन्वय हुआ है। सरदार पणिक्कर की कृतियाँ कैरली की निधि हैं, और इस रूप में दीर्घकाल तक सञ्चित रहेंगी। जीवन के प्रश्नों और अभिमुख जीवन समस्याओं का चित्रण करने वाले नाटकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। मलयालम् का नाट्य-साहित्य और रङ्गमञ्च दूसरी भारतीय भाषाओं की तुलना में आज भी जाग्रत है, और लोकप्रिय भी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संख्या के हिसाब से उच्चकोटि का भी निर्धारण कर लिया जाये। वास्तव में सर्वादरणीय मौलिक कृतियों की संख्या अंगुलियों पर गिनने योग्य ही है। हाँ, साहित्याराधकों के लिए इतना आश्वासन अवश्य उपलब्ध है कि मलयालम् के पाठक व्यावहारिकता के छत्र के नीचे पनपने वाले निम्न कोटि के साहित्य से विरक्त होकर अब असमञ्जस, विवेकपूर्ण, सुरुचिवर्धक साहित्य की कामना करने लगे हैं। उनकी रुचि के बदलने के साथ साथ नाटक-रचयिताओं की बेलगाम भागने वाल लेखनी भी अब संयम का अवलंबन करती दिखला पड़ने लगी है। नये नये नाटक संख्या में कम किन्तु गुणों में आगे बढ़े हुए दिखलाई पड़ते हैं।

केरल की निष्ठा और उसकी बुद्धि, कल्पना तथ भावना के वैभव को देखते हुए उससे यह आश करना वृथा न होगा कि वर्तमान संक्रान्ति-काल को पार करते करते वह साहित्य की अन्य शाखाओं के साथ साथ नाट्य-शाखा में भी संसार की किसी भाष से पीछे न रह जायेगा।

इस चर्चा में यह विशेष स्मरण रखने की आव श्यकता है कि अनूदित नाटकों के अतिरिक्त अधिकत मौलिक नाटक समय समय पर उच्च कोटि की विद्वत परिषद् के समक्ष अभिनय के लिए लिखे गये हैं अनेक तो तिरुअनन्तपुरम् की चित्र-ग्रंथ-शाला के वार्षिक समारोहों पर अभिनय के उद्देश्य से लिखे ग थे। इनके प्रथम प्रदर्शनों पर महाराजा स्वय प्रेक्षक मंच पर विराजमान होते थे।

रङ्ग-विधान के विषय में विशेष उल्लेखनीय कु भी नहीं है। नाटक-कम्पनियों के लोग अपनी कु वेश-सामग्री आदि के साथ एक स्थान से दूसरे स्था की यात्रा किया करते थे और जहाँ भी जाते, अप तम्बू गाड़ कर पुरानी रूढ़ि के अनुसार जो कुछ चाह प्रदर्शन करके संतोष कर लिया करते थे। परन्तु युग परिवर्तन हुआ और लोगों की रुचि भी बदलक

स्वाभाविकता, सौन्दर्य और परिष्कृत कला की आराधक बन गई। इससे उचित रंग-विधान और वेश-भूषा के बिना अभिनय की विजय असम्भव होने लगी और आवश्यक परिवर्तन सहज ही होने लगा।

यद्यपि आज भी हम यह तो नहीं कह सकते कि केरल के रङ्गमञ्च में कोई बहुत बड़ी विशेषता है, फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज उसमें लोक-चरित के चित्रण का यथार्थ अनुभव करना असम्भव नहीं रहा, वरन् सुसम्भव हो गया है।

केरल के बाहर फैले हुए एक भ्रम को दूर कर देना आवश्यक है। कथकली, तुल्लल और चाक्यारकूत्त आदि नाटक हैं या नृत्य ? उत्तर भारत में कुछ लोग इन्हें नाटक समझते हैं कुछ नृत्य कहकर पुकारते हैं। वास्तव में ये न तो नाटक हैं न नृत्य ही हैं। जहाँ तक कथा के अभिनय का सम्बन्ध है, ये नाटक की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। जिस हद तक इनमें नृत्य होता है उस हद तक इन्हें नृत्य कहा जा सकता है। संगीत भी साथ ही साथ चलता है। अतएव ये नाटक, नृत्य और संगीत के सम्मिश्रण हैं। प्राचीन केरल की यह सांस्कृतिक विरासत उसकी एक अनौखी सम्पत्ति है और इसके साथ अनेकानेक वीरों के जीवन-मरण, उत्थान-पतन, आशाओं-आकांक्षाओं का संयोग है।

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

'युगांतर' मुख्य हैं।

वर्तमान युग के तरुण तथा उदीयमान नाटककारों में श्री एम० एन० बाबू निशाकांत, राव श्री निवास, त० श० सुब्बाराव, एस अनंतनारायण आदि मुख्य हैं।

रेडियो रूपकों के रचयिताओं में श्री० राय० के० रङ्गनाथ, वल्लारी बीची आदि मुख्य हैं।

वर्तमान नाटककार अणुयुग की नवीन विचार धारा के प्रति उदासीन नहीं है, सजग है। एक युग था जब पौराणिक घटनाओं का प्रतिपादन करना ही नाटककार का उद्देश्य रहा। परन्तु आज का नाटककार अधिक मनोविज्ञानी दीख पड़ता है। अपनी प्रखर बुद्धि से मन, उपचेतना का भी विश्लेषण करके मानवीय भिन्न-भिन्न मुखों को हमारे सामने लाने का यत्न किया है। कन्नड के मनोवैज्ञानिक नाटककारों में श्री रामचन्द्र शर्मा जी का नाम उल्लेखनीय है। उनका नाटक 'सेरगिन केंड' (अंचल की आग) राष्ट्रीय एकांकी की प्रतियोगिता में कन्नड़ क्षेत्र से प्रथम रहा है।

इस प्रकार अनंतमुखी जीवन के भिन्न-भिन्न मुखों को दर्शाने में कन्नड के नाटककार सफल हुए हैं। तथापि कन्नड में मनोवैज्ञानिक नाटकों की कमी है। कन्नड़ साहित्य की यह कमी अवश्य खटकती है। परन्तु मानवीय हृदय वीणा का स्पंदन, मानव की आत्मा का क्रंदन, रागद्वेष का संघर्ष आदि विषयों के प्रतिपादन में कन्नड के नाटककार पीछे नहीं पड़े हैं। मानवीय जीवन के संघर्ष की दृष्टि से वास्तव में कन्नड का दृश्यकाव्य 'जीवन की व्याख्या' एवं 'समाज का दर्पण' बना है, 'रम्य' बना है।

आधुनिक आंग्ल नाटक की रूपरेखा

प्रो० तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०

आंग्ल नाटकों का वास्तविक उदय आँग्ल साहित्य के मध्ययुग में हुआ। इस युग में नाटक धार्मिक बेड़ियों से जकड़े हुए थे; धार्मिक ग्रन्थों की कथा जनसाधारण को समझाने के साधन-मात्र थे। धार्मिक नाटकों का समय चौदहवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ होकर लगभग एक सौ पचास वर्ष तक रहा। इतने समय में इङ्गलैण्ड के लगभग प्रत्येक भाग में यह चमत्कारात्मक नाटक अपूर्व सफलता से खेले जाते रहे। इनमें अलौकिकता का समावेश विशेष रूप से रहता था। चमत्कारात्मक नाटकों में सर्वप्राचीन नाटक न्यूयार्क में खेले जाने वाले यार्क नाटक माने जाते हैं जिनका रचनाकाल सन् १६३४ मानते हैं। धार्मिक नाटकों का दूसरा रूप है उपदेशात्मक नाटक। हेनरी षष्ठम के समय में इनका प्रचार मुख्य रूप से हुआ था।

मध्ययुग के धार्मिक नाटकों के पश्चात् ऐलिजाबेथ युग का प्रारम्भ सन् १५५० में 'निकोलस यूडल' द्वारा रचित 'रँल्फ रयोस्टर डयोस्टर' से होता है; जिसमें ग्रीक प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। हम शेक्सपीयर द्वारा रचित व्यङ्गात्मक नाटकों का पूर्व रूप कह सकते हैं। इसी के पश्चात् नाटक संसार में एक ऐसा दुखान्त नाटक आया जो आगे आने वाले दुखान्त नाटकों का आदर्श बन गया। यह था थौमस नौरटन और थौमस सेकबिल के समन्वित प्रयास का फल 'गौरबौडक'। यह पाँच अङ्कों में विभाजित किया गया था जो ढङ्ग आगे सर्वमान्य हुआ। ऐलिजाबेथ के समक्ष सन् १५६२ में सर्वप्रथम खेला जाने वाला दुखान्त नाटक यही था। शेक्सपीयर का 'बादशाह लीयर' इसी की देन है।

ऐलिजाबेथ-युग का विकास काल सन् १५८५-१५९४* (शेक्सपीयर के प्रथम नाटक का प्रकाशन) तक माना जाता है जिसमें विश्वविद्यालय के पाँच स्नातकों ने नाटकों में नूतन चेतना का सञ्चार किया। यह हैं मार्लोकिड, लिली पील तथा ग्रीन। इसमें मार्लो विशेष है। सन् १५८७ में 'तैमूर-लङ्ग' लिख कर उन्होंने नाटक को एक नया ऐतिहासिक मोड़ दिया। छन्द में भी इन्होंने परिवर्तन किया और सर्वप्रथम अनुप्रासरहित पद्य में नाटक की रचना की।

इस विकास काल के तत्पश्चात् ऐलिजाबेथ-युग आता है जो नाटकों का स्वर्णयुग कहा जाता है। यही वह युग है जबकि नाटक अपने सर्वोच्च शिखिर पर खड़ा मुस्करा रहा था। इस युग के परिवर्तक हैं विलियम शेक्सपीयर। इन्होंने सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार के नाटकों की रचना की है। सुखान्त नाटकों में प्रायः शेक्सपीयर की कल्पना ही मिलती है परन्तु दुखान्त नाटकों में हम उन्हें पूर्वकाल की ओर झाँकते हुए पाते हैं। यह पूर्वकालीन प्रभाव 'मन भावन' ग्रीष्म निशीथ का स्वप्न, वेनिस का व्यापारी, सुखान्त नाटकों और 'बादशाह लीयर' 'ऐण्टोनी और क्लिओपेट्रा', रोमियो और जूलियट' दुखान्त नाटकों पर स्पष्टतः मिलता है। शेक्सपियर ने अरस्तू द्वारा निर्धारित नियमों का यथा सम्भव पालन किया है। दुखान्त नाटकों में नायक धीरोदात्त और उच्च पद का रखा है। सुखान्त नाटक गद्य और दुखान्त प्रायः अनुप्रासहीन पद्य में लिखे हैं। लगभग सभी सुखान्त नाटक प्रेम से सम्बन्धित हैं। बीच में कथानक कुछ उलझा प्रतीत होता है और अन्त परिणय में होता है। इस प्रकार के नाटक हैं—'मन भावन', 'बारहवीं रात' और 'वेनिस का व्यापारी'। दुखान्त नाटकों में अन्त दुखात्मक इसलिए नहीं होता है कि नायक कमजोर है अपितु यह होता है—नायक के चरित्र में किसी गुण विशेष की कमी अथवा किसी गुण विशेष

---

* यह कहा जाता है कि शेक्सपीयर का प्रथम नाटक 'ग्रीष्म निशीथ का स्वप्न' था।

के आधिक्य के कारण। इस विशेषता में नायक ऐसी अवस्था में जा पहुँचता है जहाँ से वह बाहर निकलना असाध्य समझता है।* इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के 'सुखान्त' अथवा 'दुखान्त' दोनों प्रकार के नाटकों में स्त्री ही कथानक का साधन है और सुखात्मक अथवा दुखात्मक अन्त का कारण है।

ऐलिजाबेथ-युग में नाटक अपने परिपक्व रूप में था। परन्तु समय की गति के साथ-साथ उसकी गति में भी परिवर्तन आने लगा। इस युग के अवसान के साथ-साथ नाटक की शक्ति का ह्रास होने लगा। इसके अनुपम तरु में उस समय के एक नीतिवादी गुट्ट विशेष का ऐसा घुन लगा कि जिसने उसे खोखला ही बना दिया होता यदि इसे सींचने के लिए पुनर्निर्माण-काल अपना हाथ न बढ़ाता। इस काल में प्रायः सुखात्मक नाटकों का ही बाहुल्य रहा। इसका कारण था काल विशेष की अभिरुचि। इन सुखान्त नाटकों में घृणित तथा निम्नकोटि के कथानकों को स्थान मिला। इसमें बौद्धिक तत्त्वों का भी समावेश किया गया है। इस काल के नाटक स्टुअर्ट राजाओं की वासना पूर्ण रुचि की पूर्ति करने का कारण और तुच्छ भावनाओं के प्रकाशन तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करने के प्रयास के कारण जनता से दूर जा गिरा।

इस समय के महत्त्वपूर्ण नाटककार विलियम कौनग्रीव ने नाटक के क्षेत्र में पहला कदम 'बूढ़ा कुमार' के साथ रखा। यह इन्द्रिय जनित वासनाओं के प्रकाशन का पहला साधन था जिसने रङ्गमञ्च को घृणा का केन्द्र बना दिया। कौनग्रीव द्वारा अन्य उल्लेखनीय नाटक हैं—'प्यार के लिए प्यार' और 'संसार का ढङ्ग'। कौनग्रीव में प्रतिभा अवश्य थी परन्तु सामयिक परिस्थितियों का दास बन जाने के कारण वह अपने नाटकों को अनन्त और शाश्वत रूप न दे सका, उसके सामयिक नाटककार वाइकरले, ब्यूमो और फ्लेचर भी सामयिक परिस्थितियों के शिकार बने रहे। यही कारण है कि नाटक लगभग पचास वर्ष के बाद जाग कर पुनः गहरी नींद सोने की तैयारी करने लगा। नाटकों को पुनः निद्रा देवी की गोद से उठा कर रङ्गमञ्च पर नित्य रूप से ले जाने का प्रयास अठारहवीं शताब्दी में शैरीडन और गोल्डस्मिथ ने किया। शैरीडन ने अनेक नाटक मुख्यतया 'प्रतिस्पर्धा' 'निन्द सम्प्रदाय' तथा 'आलोचक' जनता के सम्मुख प्रस्तुत किये। गोल्डस्मिथ अपने प्रसिद्ध नाटक 'विजय प्रयास' को लेकर आगे बढ़े। परन्तु नाटक की गिरती दशा को न रोक सके।

विक्टोरिया युग में काल विशेष के फलस्वरूप नाटक रङ्गमञ्च से इतनी दूर जा गिरे कि उसे वहाँ तक लाने की आशा ने आत्म समर्पण-सा कर दिया। जनसाधारण की प्रवृत्ति रूढ़िवादिता तथा सुदृढ़, कठोर नियमों की ओर झुकी हुई थी। गद्य तथा काव्य साहित्य का यह स्वर्ण-युग ही कहा जा सकता है। कतिपय विद्वानों ने नाटकों की ओर ध्यान दिया; परन्तु यह अधिक लाभप्रद सिद्ध न हो सका क्योंकि टेनिसन, ब्राऊनिङ्ग तथा स्विनबर्न जैसे भावुक साहित्यकारों द्वारा लिखे गये। यह जरूरत से ज्यादा साहित्यिक होने के कारण रङ्गमञ्च तक न पहुँच सके, पाठकों के हाथों में ही रह गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नाटकों के पुनरुत्थान के लिए कदम बढ़ाने वाला नाटककार था थॉमस विलियम रौबर्टसन। यद्यपि इस नाटककार को हम भूल सा गये हैं; तथापि इसका सुखान्त नाटक 'समाज' रङ्गमञ्च में प्राण लाने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् दो नाटककार हेनरी आर्थर जोन्स और आर्थर विङ्गपिनरो भावुकता और कल्पना के संसार से निकल कर यथार्थ तथा वास्तविकता के क्षेत्र में उतरते से दीख पड़े। इन दोनों नाटककारों ने अपने नाटकों में सामाजिक दृश्यों का समावेश किया है। वस्तुतः जोन्स ने 'माइकेल और उसके बिछुड़े साथी' तथा 'मिथ्यावादी' और पिनरो ने 'आँख का तारा'

---

* इसके उदाहरण हैं—हैमलेट, औथैलो, मैकबेथ तथा बादशाह लीयर।

'न्यायाधीश' तथा 'श्रीमती ट्रेन्करे द्वितीय' लिख कर नाटककारों के समक्ष एक नमूना रख दिया।

जोन्स तथा पिनरों के यथार्थवाद को प्रगति देने के लिये नाटकक्षेत्र में नार्वे निवासी हैरिक इब्सन ने प्रथम चरण १८७९ में 'मूर्तिगृह' के साथ रखा। इसी के पीछे पीछे उनके अन्य नाटक 'प्रेतात्मा' आदि प्रकाश में आये। रूढ़िवादी आलोचकों में एक अजीब खलबली सी मच गई। बुद्धिवादी नाटक जीवन के प्रति नया संदेश लेकर आये थे। इब्सन ने उन्हीं में से समाज की दशा की ओर झाँका, समाज का मूल्यांकन किया और उसकी कमियों और बुराइयों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया। उसने जीवन के प्रति यथार्थवादी तथा प्रतीकवादी दृष्टिकोण जनता के सम्मुख रखा और यह बताया कि सामाजिक बुराइयाँ तथा न्यूनताएं ही जीवन को बड़ा नीरस और खोखला बना देती हैं। इन नाटकों के द्वारा इब्सन ने नूतन कथाओं तथा रचना-प्रक्रिया का आविर्भाव किया जिसमें आगम-नाटकों को बहुत प्रभावित किया, इसमें व्यक्ति और व्यवस्था का द्वन्द्व मिलता है। यह एक प्रकार से विक्टोरिया युग की रूढ़िवादिता तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के काल्पनिक तत्वों के विरुद्ध एक बौद्धिक आन्दोलन था। इसने जीवन सम्बन्धी धारा का रुख ही बदल दिया। इसका सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य आलोचनात्मक विश्लेषण और सूक्ष्म निरीक्षण की ओर झुका और उसने चारों ओर की वस्तुओं को एक बार फिर से देखा।

इस नवान्दोलन के प्रवर्त्तक, आधुनिक नाटक के पथप्रदर्शक, मनोवैज्ञानिक तत्वों का समन्वय करने वाले, नाटककार थे जार्ज बर्नाड शॉ। इब्सन का शॉ पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। वह इब्सन की रचना-प्रक्रिया सम्बन्धित नवीनता से अधिक प्रभावित हुए; उसके नाटकों में सहज स्वाभाविक रेखाओं के साथ साथ प्रेम और भावुकता के विरुद्ध एक आन्दोलन मिलता है। वह अन्धविश्वास अथवा-प्रचलित नियमों की अपेक्षा विवेक का सहारा लेता है। इसलिए हम देखते हैं कि उसके नाटक 'शस्त्र और मानव' में युद्ध तथा सिपाही का रूप उत्तेजित भावनाओं से आच्छादित नहीं होता। सिपाही की जेब चाकलेट से भरी रहती है। वह युद्ध से अधिक अपनी जान समझता है। इसमें वास्तविकता का चित्र खींचा गया है। इसी प्रकार 'केन्डीडा' में विवेक को अलङ्कारिक भावुकता से उच्च स्थान दिया है, नाटकीय तत्वों में जीवन-तत्व का विशेष रूप से समन्वय किया है और पूर्वकाल की ओर देखने की बजाय, स्वकाल की ओर विशेष ध्यान दिया।

बर्नाड शॉ 'कला, कला के लिये' वाले कथन को नहीं मानता,' उसके मतानुसार 'कला, जीवन के लिए' अधिक तथ्यपूर्ण है। उसने 'मानव और अतिमानव' नामक नाटक की प्रस्तावना में लिखा है—"केवल कला के लिये मैं एक पंक्ति भी लिखने का श्रम उठाना नहीं चाहूँगा"।* इसलिये 'मुकद्दर का इन्सान' नामक नाटक में नैपोलियन एक साधारण पुरुष के रूप में हमारे सम्मुख आता है। अरस्तू के नियमों अथवा शेकसपीयर प्रचलित धारा के अनुसार शॉ ने अपने नायक के लिये न तो कथानक किसी काल्पनिक संसार से बटोरे हैं; न ही अपने नायकों को अत्यधिक उच्च प्रदर्शित किया है। उनके कथानक तथा नायक भी संसार के साधारण पुरुषों से ही हैं। इसी प्रकार शॉ ने अनेक नाटक जो दो जिल्दों में बाँध दिये गये हैं—'दुखात्मक नाटक' और 'सुखात्मक नाटक' लिखकर आगामी नाटकों के लिये भूमि तैयार कर दी। दुखान्त नाटकों में तीन नाटक प्रसिद्ध हैं—'विधवा का घर', 'क्षुद्र प्रेमी' 'मुकद्दर का इन्सान'। सुखात्मक नाटकों में विशेष हैं। 'शस्त्र और मानव' 'केन्डीडा' और 'शस्य और मानव'। इन नाटकों के द्वारा शॉ ने अपनी इच्छाओं एवं मतों का स्वस्थ-प्रकाशन किया है। वह चाहते थे कि स्त्री पुरुष की वासनाओं को ही लक्ष्य न कर अपना

---

* For sake art's alone I would not face the toil of writing a single sentence.

व्यक्तित्व दृढ़ बनाये। वे स्त्री को आर्थिक रूप से भी स्वतन्त्र देखना चाहते थे। उनकी निगाह में प्रेम मनुष्य की पाशविक वृत्तियों का व्यञ्जित रूप है। उन के मतानुसार मनुष्य जीवन-शक्ति द्वारा सञ्चालित होता है। यह शक्ति मनुष्य के हृदय पर पूर्णरूप से अधिकार रखती है, उसके जीवन को अधिक सुन्दर तथा पूर्ण बनाने का निरन्तर प्रयास करते हैं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि शॉ नाटकों के लिये निर्माण-शक्ति न होकर विनाश-शक्ति थे। पर यह कहना असम्भव है। यह शॉ की ही शक्ति थी जिसने मृत दशा में पड़े हुये नाटक में प्राण फूँक दिये और आधुनिक नाटकों की सुदृढ़ आधार-शिला स्थापित करदी। वह एक नया दृष्टिकोण लेकर नाटक-क्षेत्र में आये थे। उन्होंने पुराने कथानकों के स्थान पर नये कथानक को जन्म दिया। उन्होंने एक उच्चवर्ग विशेष में नायकों को ढूँढने का प्रयास नहीं किया। मध्यवर्ग के चरित्रों को अपने नाटकों में स्थान दिया और नाटकों को भली-भाँति अग्रसर करने के लिये नूतन प्रणाली का आविर्भाव हुआ।

इस नूतन प्रणाली को समझकर उसका अनुसरण करने वाले बीसवीं शताब्दी में सर्व-प्रथम नाटककार जौन गैल्सवर्दी हुये। उन्होंने मानव-जीवन की स्वाभाविक वृत्तियों की अतिरोचक ढङ्ग से व्यञ्जना की है और जीवन के विविध पहलुओं की ओर ध्यान दिया है। समाज की लोलुपता का जीता-जागता चित्र उनके अनेकों नाटकों में मिलता है। उदाहरणार्थ 'द्वन्द्व' (१९०९) में धनवानों का गरीबों पर अत्याचार और दोनों वर्गों का द्वन्द्व दिखाया है। 'न्याय' (१९१०) में अपने समय के कारावासों की हीन दशा का चित्र खींचने में गैल्सवर्दी अति सफल हुये हैं। यह अपने नाटकों द्वारा वास्तव में जीवन और समाज को प्रकाश में लाना चाहते थे; आनन्द ही नहीं प्रदान करना चाहते थे। इसलिये अपने चरित्रों को व्यक्तिगत न बनाकर समाज का प्रतिनिधि रूप बनाया है। इनके नाटकों में विधान अथवा अदृष्ट शक्तियों को कोई स्थान नहीं मिला है। इनके सङ्घर्ष का उदय मनुष्यगत तृष्णा स्वयंसिद्धि, लोलुपता आदि के कारण नहीं होता है। गैल्सवर्दी के नाटकों में नायक कोई नहीं मिलता। इनके कथानक समाज सम्बन्धी होते हैं, जिनमें ये मुख्य हैं—सामाजिक अन्याय, सामाजिक अवनति, सामाजिक असफलतायें, जाति भेद-भाव तथा पारस्परिक विच्छेद। संक्षेप में कहा जा सकता है कि गैल्सवर्दी के नाटकों में यथार्थता, सामाजिक उत्थान की आकांक्षा तथा दलित के प्रति दयाभाव व सहानुभूति का समुचित समावेश मिलता है। नाटककार मनोरञ्जन के साथ-साथ शिक्षा देते हुये अपने नाटकों को आदर्श का प्रतीक बनाने में सफल हुआ है।

गैल्सवर्दी के समसामयिक अनेकों नाटककारों ने विभिन्न नाटकों की रचना की और उनके द्वारा विभिन्न मानव-दशाओं को दिखलाने का प्रयत्न किया। अनेकों के नाम गिनाये जा सकते हैं जैसे विलियम बटलर, मिस ऐ० ई० एफ० हार्नीमन, जे० एम० सिंज, स्टैनले हौटन तथा ग्रेंविल बार्कर। इनमें अन्तिम तीन उल्लेखनीय हैं। ग्रेनविल बार्कर के विषय में यहाँ तक कहा जाता है कि ऐसा प्रतीत हुआ मानों ये ही अपनी पीढ़ी के अग्रणी होंगे। इनका सबसे पहला नाटक 'ऐनलीटी की शादी' सन् १८९९ में जनता के समक्ष आया। इसी के बाद 'क्षय' और 'बोसी का दान' क्रमशः १९०७ तथा १९०५ में प्रकाश में आये। द्वितीय नाटक आधुनिकों में ऊँचा स्थान रखता है। इसमें शॉ के नाटकों का नैतिक अथवा बौद्धिक उत्साह तो नहीं परन्तु वह प्राकृतिक उल्लास और जीवन-शक्ति है, जो समसामयिक नाटकों में देखने को बहुत कम मिलती है। १९०७ और १९२५ के बीच बार्कर ने केवल दो उल्लेखनीय उपन्यास और लिखे—'मद्रास-भवन' १९११ और 'रहस्यमय जीवन' १९२३। इसमें चरित्रों का जीवन-रस, गैल्सवर्दी के चरित्रों के जीवन-रस से अधिक लाल है और अधिक तेजवान है। स्टैनले हौटन ने १९०८ में एकाङ्की नाटक 'प्रिय बिछुड़ गया' लिखा, जिसने एकाङ्की नाटकों की सुदृढ़ नींव डाली।

इसी के पीछे-पीछे दो अन्य उल्लेखनीय नाटक प्रकाश में आये—'हिंडल जागता है' और 'कनिष्ठ पीढ़ी'। इसमें लङ्काशायर के जीवन और चरित्र का वास्तविक चित्रण मिलता है।

जे० एम० सिंज ने अपने अनेक नाटकों में आयरलैण्ड के खेतिहारों का विश्लेषण सुचारु रूप से किया है। सिंज ने खेतिहारों के साथ रहकर उनके जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया था। जीवन की स्वाभाविक झलक सिंज के नाटकों को देखने से मिलती है। इनके नाटक 'अश्वारोही समुद्र की ओर' की गणना बीसवीं शताब्दी के कुछ गिने-चुने दुखान्त नाटकों में की जाती है। इसमें इनकी नायिका मोर्य एक-एक करके गृह के पुरुष वर्ग को खो बैठती है और अन्त में अपने अन्तिम बच्चे की लाश के पास बैठी दिखाई देती है। यह दुःख कल्पना नहीं है; यथार्थ है। नाटक 'घाटी की छाया' में सिंज ने आयरलैण्ड की स्त्रियों की निम्न दशा का वर्णन किया है और यह दिखाया है कि यहाँ की स्त्रियाँ इङ्गलैण्ड से निम्न हैं। इस वास्तविकता के भण्डाफोड़ ने एक तूफान सा मचा दिया जो रङ्ग-मञ्च के लिये अति हानिकारक सिद्ध हुआ।

बीसवीं शताब्दी के इस चरण में एक नाटककार ऐसा भी हुआ जिसने अपनी नवीन तथा भिन्न धारा बहायी। यह था जीवन का तटस्थ दर्शक जे० एम० बैरी। इसके ऊपर बर्नार्ड शॉ द्वारा उत्पन्न तथा गौल्सवर्दी, ग्रेनविल बार्कर आदि द्वारा अनुसरणित समस्या-प्रधान पद्धति का कोई प्रभाव न पड़ा। वह सामयिक समस्याओं को समझता अवश्य था परन्तु वह इन समस्याओं को गिना कर, मानव को इससे मुक्त कराने के लिए सङ्घर्ष छेड़ने में विश्वास नहीं रखता था। उसने अपना एक नया संसार बनाने का प्रयत्न किया। जिसमें इस संसार के मनुष्यों का कोई स्थान नहीं है। उसने इस नूतन संसार से जनता को बहुत प्रभावित किया और शान्ति प्रदान की जो शॉ और उसके अनुगामियों के तीक्ष्ण बौद्धिक तीरों से बिंध चुकी थी। वैसे तो बैरी ने अनेक नाटक लिखे हैं। परन्तु उनकी क्षमता तथा उनका व्यक्तित्व केवल दो नाटकों में मिलता है—'प्रियब्रूटस' और 'मेरी रोज' जो क्रमशः १९१७ और १९२० में लिखे गये। इन दोनों नाटकों को देखने से पता चलता है कि बैरी ने अपना एक नया काल्पनिक संसार बनाया है, जिसमें उसकी रुचि के अनुसार मनुष्य रहते हैं। वह इस संसार से ऊब कर ऐसे संसार में विचरण करता है जहाँ उसकी भावनाओं को चोट के स्थान पर सुमन-स्पर्श मिलता है। इस प्रकार जेम्स मैथ्यू बैरी ने अपने समय की प्रचलित पद्धति को छोड़ नयी पद्धति अपनायी इसी कारण सबसे अलग एक नया स्थान ग्रहण किया।

एलिजाबेथ युग के पश्चात्, बीसवीं शताब्दी में ही नाटक पनप सका था और निरन्तर पनपता रहा था; परन्तु महायुद्ध इसके उन्नति-पथ में एक बाधा बन कर रह गया। युद्ध ने मानव वृत्तियों में एक अजीब परिवर्तन ला दिया। बौद्धिक तत्वों से पूर्ण समस्या-प्रधान नाटकों से रुचि हट गई; और युद्ध के लौह वातावरण में मनुष्य हल्के प्रकार के आनन्द पाने को तरस उठा। समय के अभाव के कारण लम्बे नाटकों के निर्माण का कोई महत्त्व नहीं रह गया। इसका परिणाम यह हुआ कि नाटककार हल्के कथानकों को लेकर हास्यात्मक अथवा व्यङ्गात्मक ढङ्ग से नाटकों की रचना करने लगे। ऐसे समय में 'जौन्स मैसफील्ड' अपना दुखात्मक नाटक 'नैन की दुर्दशा' को लेकर नाटकक्षेत्र में उतरे जिसे कुछ महत्त्व न मिल सका। इसके पश्चात् उन्होंने 'गुड फ्राइडे' तथा 'जीसस की जाँच' लिख कर एक प्रयास और किया परन्तु सफल न हो सके। यह दोनों नाटक धार्मिक कथानकों को लेकर लिखे गये। इसमें कला का अभाव है। फिर भी कहीं-कहीं हीरो, पाइलेट और उसकी पत्नी के चरित्रों में मानसिक शक्ति और नाटकीय प्रेरणा मिलती है।

अरनोल्ड बैनेट ने एक नया ढङ्ग अपनाने का प्रयत्न किया और इस प्रयास का फल निकला 'मील प्रदर्शक'। यह ऐतिहासिक नाटक तीन पीढ़ियों

(१८६०—१८८५—१९१२) में परिवर्तन दिखाता हुआ एक अनूठा व्यङ्ग उपस्थित करता है। इस नाटक के पश्चात् जो दो नाटक 'महान साहस' और 'जनता की रुचि' प्रकाश में आये। इनमें व्यङ्ग और हास्य का पूर्ण सामञ्जस्य देखने को मिलता है और आधुनिक विषयों के ऊपर एक अनूठे ढङ्ग की आलोचना मिलती है।

आधुनिक समय में जनता की रुचियों का विश्लेषण करने वाले तीन नाटककार विशेष रूप से जनता की रुचि को तुष्टि प्रदान कर सके। हास्य एवं विनोदात्मक नाटकों का प्रादुर्भाव करके वे जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल हुए। इसमें सर्वप्रथम एम० ए० मिने का नाम आता है। इन्होंने अनेकों हल्के सुखात्मक नाटकों की रचना की जिनमें मुख्य हैं 'श्रीमान पिम सिधारते हैं' 'डोवर-मार्ग' और 'ब्लायज विषयक सत्य'। इनके नाटक अत्यन्त स्वाभाविक होते हुए भी आनन्दप्रद हैं। ये लेखक की अपूर्व लेखन-क्षमता तथा विनोद प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इन नाटकों में नये ढङ्ग का विनोद और हास्योत्पादक प्रणाली का सृजन किया गया है। इस प्रकार के हल्के सुखात्मक नाटकों द्वारा मिने जनता की परिवर्तित रुचियों की पूर्ति करते रहे।

आधुनिक काल के प्रसिद्ध लेखक सोमर्सट मौम ने भी बीस वर्षों तक इसी प्रकार के नाटकों की रचना की। इसमें पिनरों की रचना प्रकृति और औस्कर वाइल्ड की कथन प्रणाली का सामञ्जस्य देखने को मिलता है। इनके नाटकों में जनता की वह रुचि निहित है जिसके द्वारा वह अपने ही समय के जीवन को रङ्गमञ्च पर देखना चाहती थी। इन्होंने पुराने और नए समाज का तुलनात्मक रूप हमारे सम्मुख रखा है और इसी रूप में आधुनिक समाज का रूप समन्वित किया हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक 'सीजर की पत्नी' में न तो केवल आदर्शवादिता मिलती है और न केवल प्रेम की तुच्छता; दोनों का सन्तुलित सामञ्जस्य ही इसकी विशेषता है। इनके दो नाटकों 'घेरा' और 'हमसे अच्छे' जिसमें समाज की कड़ी आलोचना मिलती है, प्रशंसनीय है।

सूक्ष्मरूप में अभी तक लिखे गये नाटकों में मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार से गिनी जा सकती हैं—

१—सामाजिक समस्या-प्रधान, निर्धन की महत्त्वहीनता, जाति सङ्घर्ष, युद्ध पाखण्ड आदि।

२—गद्य शैली में रचित।

३—धीरोदात्त एवं ऐश्वर्यशाली नायक के स्थान पर-साधारण चरित्रों का विश्लेषण।

४—चरित्र में व्यक्तिगत प्रधानता का अभाव; वर्ग की व्यञ्जना।

५—प्रकृतिवाद का अनुसरण; वास्तविकता की अभिव्यक्ति।

अब द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् नाटक का रुख बड़ा अजीब सा हो गया है। रङ्गमञ्च अन्तिम साँसे ले रहा है और नाटक मस्तिष्क की भूख को आध्यात्मिक भोजन के द्वारा काव्यात्मक ढङ्ग से पूरी कर रहा है। इसमें मुख्य है—टी० एस० इलियट द्वारा लिखित 'गिरजाघर में वध'। यह नाटक रङ्गमञ्च पर खेलने योग्य नहीं है। इसमें पठन द्वारा मनोवैज्ञानिक शक्ति की सहायता समझने योग्य सामग्री मिलती है। चरित्र की विश्लेषणता का अभाव है और काव्यात्मक ढङ्ग से अग्रसर होने के साथ-साथ कार्य की कमी भी।

सारांश यह है कि मध्यकालीन नाटक धार्मिक जञ्जीरों से मुक्त हो कर ऐलिजाबेथ-युग के स्वच्छन्द वातावरण में आया; पुनर्निर्माण-काल की ऐन्द्रिक वासनाओं के जाल में जा फँसा। वहाँ से छूट कर विक्टोरिया-युग की रूढ़िवादिता एवं कठोर नियमों के पाटों में कुचला गया; उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पारिवारिक समस्याओं एवं सामाजिक द्वन्द्वों के बौद्धिक वस्त्रों से सजाया गया और बीसवीं शताब्दी में सामाजिक वर्गों के सङ्घर्ष, समाज की न्यूनताएँ नैतिक आदर्शों तथा रूढ़िवादिता पर लक्षित व्यंगों की प्रदर्शिनी बनाया गया और आधुनिक युग के मध्य में बना, लगभग सभी युग के समन्वय का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण विद्वानों के हाथों में बौद्धिक व्यायाम का एक साधन।

संस्कृत नाटकों में सामाजिकता

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०

लोक-चेतना व्यक्ति के माध्यम से साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है, अतः साहित्य में उसके स्रष्टा तथा तत्कालीन समाज की अनेक वास्तविकताओं का चित्रण रहता है। लोक-चेतना का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है और व्यक्ति दृष्टिकोण विशेष को लेकर उसे मूर्त रूप देता है, अतः विचारक का कार्य उस व्यक्ति विशेष की लोक-चेतना पर होने वाली प्रतिक्रिया विशेष, उसकी ग्राहिका-शक्ति विशेष तथा उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित लोक-चेतना विशेष का अध्ययन करते समय दुष्कर हो जाता है, उसे एक ओर व्यक्ति-दृष्टिकोण को समझना, समझाना पड़ता है और साथ ही समाज की तत्कालीन परिस्थिति क्या थी, उसे किस रूप में उस व्यक्ति ने ग्रहण किया—इसे भी स्पष्ट करना पड़ता है और यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब तत्कालीन समाज का इतिहास साहित्य के अतिरिक्त अपने वैज्ञानिक इतिवृत्त के रूप में प्रस्तुत नहीं रहता।

संस्कृत नाट्य-साहित्य का प्रारम्भ शास्त्र के रूप में भरत के नाट्य-शास्त्र से तथा कला के रूप में भास के नाटकों से प्रारम्भ होता है। नाट्य-शास्त्र एक समय की रचना नहीं है परन्तु अपने वर्तमान रूप में भी उसके मूल रूप का ही विस्तार हुआ है। नाट्यशास्त्र ने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था, संस्कृत के नाटककार उसी को कला के रूप में प्रस्तुत करते रहे। इसे समझ लेने पर नाटकों में प्रतिबिम्बित सामाजिकता के स्वरूप के अध्ययन में बड़ी सहायता मिल सकती है क्योंकि जैसा मैंने कहा कि व्यक्ति के दृष्टिकोण को समझ कर ही साहित्य से समाज का अध्ययन करना वैज्ञानिक पद्धति है। भरतमुनि ने कहा है कि त्रेता युग के आरम्भ में सभी लोग असभ्यता का कार्य करने लगे, कामी, लोभी, ईर्ष्यालु और क्रोधी होकर सुख-दुःख में लीन हो गए, लोकपालों से पीड़ित जम्बूद्वीप पर देव, दानव, यक्ष, राक्षस और महानागों ने अधिकार कर लिया। उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी के पास पहुँच कर कहा कि हम लोग कोई ऐसा खेल देखना चाहते हैं जो देखा भी जा सके और सुना भी जा सके क्योंकि जितने भी वैदिक कार्य हैं वे शूद्र जातियों को सुनाए नहीं जा सकते। इसलिए आप एक ऐसा नया पाँचवाँ वेद रचिए जिसमें वर्ण भाग ले सकें।

स्पष्ट है कि यह समाज का चित्रण है, और त्रेता-युग के नाम से भारत के उस युग की झलक है जो महाभारत के बाद का समय है। महाभारत-युग से लेकर ईसा के आस पास तक के युग का यह चित्रण है। जब ब्राह्मण धर्म को दानवों से भय था (प्रथम नाटक जो भरत ने खेला उनका नाम था 'दैत्य-दानव-नाशन') दानवों की परिभाषा ब्राह्मणों की अपनी है, वे लोग जो ब्राह्मणवादी परम्परा को स्वीकार न करते थे। किन्तु समाज का वह श्रमिक वर्ग जो मूलतः कभी ब्राह्मणवादी आर्य परम्परा से बाहर का था जो आदि निवासियों से आया था और कालान्तर में जो अपनी उत्पादक शक्ति के कारण समाज का अनिवार्य निम्नतम अङ्ग स्वीकृत होगया था, उस शूद्र वर्ग के लिए नाट्य शास्त्र चिंतित दिखलाई पड़ता है। चूँकि वेद-पाठन उनके लिए वर्जित था अतः एक ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी, जो समाज के सभी वर्गों का मनोरञ्जन कर सके परन्तु साथ ही इन्हीं पंक्तियों से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि समाज के जिस भाग को वेद-पाठन का भी अधिकार था, उन्हें भी मनोरञ्जन की आवश्यकता थी। साथ ही लोक में बढ़ते अनाचारों को दूर करने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जिसमें जीवन की अनेक दशाओं की अनुकृति इस

प्रकार उपस्थित की जाएं जिससे मनोरञ्जन के साथ-साथ मनुष्य की कुत्सित प्रवृत्तियों का नाश हो, भावों में उन्नयन हो और मानवता का स्तर ऊँचा उठे। परन्तु इसके साथ ही एक और भावना भी ध्वनित होती है कि एक विशेष संस्कृति का, एक विशेष विचारधारा का, एक विशेष सामाजिक व्यवस्था के प्रति आस्था का प्रचार हो जिससे ब्राह्मणों के अनुसार स्थापित समाज का कार्यक्रम अबाध रूप से चलता रहे, संस्कृत नाट्य-साहित्य पर श्री अमृतपाद डाँगे ने जो लेख लिखे हैं उनमें केवल अन्तिम बात पर जोर दिया है किन्तु उसके मानवतावादी तत्त्वों पर जोर नहीं दिया गया। इसीलिए मैंने कहा कि ललित साहित्य द्वारा समाज के अध्ययन करते समय अपने को तटस्थ रखकर देखने की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

तो संस्कृत नाटकों का उद्देश्य स्पष्ट होगया, सभी संस्कृत नाटकों में निम्न बातें आपको मिल ही जायंगी। १—मनोरञ्जन, २—वैदिक साहित्य के समानान्तर ललित साहित्य का सृजन। ३—सभी वर्णों के प्रति सहानुभूति ४—ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था व संस्कृति का प्रचार।

यह बात इस तथ्य से पुष्ट होती है कि वैदिक साहित्य में, यदि केवल नाट्य-साहित्य के प्राचीन-तत्त्वों का हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि निम्न जातियों के प्रति कितनी घृणा विद्यमान थी। यद्यपि उन्हें शूद्र रूप में ऋग्वेद के अन्तिम काल में स्वीकार कर लिया गया था। वे दैत्य-दानव न रहकर विराट के पैर बन गये थे। तथापि वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों का जो दृष्टिकोण शूद्रों के सम्बन्ध में दिखाई पड़ता है वह कठोर है। उन्हीं में एक ब्राह्मण-ऋषि महाभारत के बाद कहता है—'न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्र जातिषु, तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।' वह इसलिए कहता है कि समाज का विकास बहुत आगे तक हो चुका था, नई परिस्थिति में शूद्रों के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण सम्भव नहीं था, महाभारत के पश्चात् दास-प्रथा टूट रही थी, दास घरेलू सेवकों के रूप में तथा स्वतंत्र शिल्प जीवियों या कमकर वर्गों में परिणत होगये थे। इसके साथ बौद्ध तथा जैन मतों ने ब्राह्मण पौरोहित्य को चुनौती दी थी। उन्होंने सभी जातियों के लिए धर्म के द्वार खोल दिए थे। ब्राह्मण-पौरोहित्य के समानान्तर एक नवीन क्षत्रिय पौरोहित्य संगठित हो गया था जिसका सहायक व्यापारी वर्ग व अब्राह्मणवादी शासक वर्ग था। यह शासक वर्ग प्रायः गणतंत्रों से सम्बन्धित था। इनसे बाहर भी मगध पर एक शूद्र राजा नंद ने शासन स्थापित कर लिया था अतः ब्राह्मण वर्ग जहाँ एक ओर ब्राह्मणवादी क्षत्रियों के साथ मिलकर इस क्षत्रिय पौरोहित्य को समाप्त करना चाहता था (शुङ्गवंश में सम्भव होगया) वहाँ दूसरी ओर प्राचीन वैदिक-साहित्य की प्राचीन महत्ता का गौरव-गान करता हुआ, धर्म के क्षेत्र में पौराणिक-साहित्य तथा साहित्य के क्षेत्र में ऐसे काव्य व नाटकों को जन्म देने लगा जिसमें शोषित वर्णों को भी अधिक से अधिक सुविधाएँ दी जाने लगीं। परन्तु इस शर्त पर कि वे ब्राह्मणवादी शिकंजे में ही रहें, उनकी विचार-धारा व कार्यक्रम को स्वीकार करें, इसीलिए—नाट्य-शास्त्र सभी वर्णों की दुहाई देता है। यह बात वैदिक साहित्य में प्राप्त नाट्य-साहित्य में नहीं मिलती। वेदों में प्रायः १५ संवाद प्राप्त होते हैं। यहाँ यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, नेमभार्गव व इन्द्र, अगस्त व लोपामुद्रा, सरमा-पणिस, अग्नि व देवता, विश्वामित्र व नदियों आदि के संवाद मिलते हैं। इन संवादों के साथ-साथ 'सोम-विक्रम' का भी नाटकीय प्रसङ्ग आता है। इसमें एक शूद्र को पतित विक्रेता के रूप में दिखाया गया है। महाभारत में भी एक वैश्य व शूद्र में झगड़ा होता है जिसमें वैश्य की विजय होती है। अन्य संवादों से आगे विकसित नाट्य-साहित्य की अन्य बातों पर प्रकाश पड़ता है परन्तु सोम-विक्रय की कथा से स्पष्ट है कि शूद्र के प्रति आर्य क्या सोचते थे। भरत तक आते-आते यह दृष्टि बदल जाती है।

संस्कृत के नाटक उस युग में लिखे गए जिसमें

वैदिक साहित्य को एक ओर रख कर ब्राह्मणों ने नयी परिस्थितियों में भागवत धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था और वह प्रचार धर्म के क्षेत्र में अनेक पुराणों को जन्म दे चुका था, जिनका आगे चल कर बराबर विस्तार होता रहा। बौद्ध-धर्म के ह्रास के युग में (पतञ्जलि के युग में) शैव व वैष्णव धर्म अत्यन्त प्रबल हो गये थे। इनको वैदिक मत माना जाता था और ब्राह्मणों की विलक्षण साधारणीकरण की प्रवृत्ति ने इन मतों के द्वारा जहाँ एक ओर निम्न जातियों को अनेक सुविधाएँ दी थीं वहीं इनमें वैदिक यज्ञ-भाग प्रक्रिया को भी अक्षुण्ण रखा था। भक्ति-ज्ञान कर्म का समन्वय बहुत पहले गीता कर चुकी थी। नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में वैदिक कर्मकाण्ड की निन्दा करते हुए तथा भक्ति पर जोर देते हुए भी भक्तिमार्ग को वैदिक धर्म के ही क्रोड़ में विकसित किया था। इस प्रकार पूर्वेसा प्रथम शताब्दी से आगे के उपलब्ध नाट्य-साहित्य में शैव व वैष्णव धर्मों का प्रचार ही नाटकों का उद्देश्य बनता गया। इस प्रकार संस्कृत नाट्य-साहित्य की पृष्ठभूमि में मानवतावादी प्रवृत्तियाँ भी सुरक्षित थीं और साथ ही उसमें वैदिक-पौराणिक संस्कृति की रक्षा की भी प्रवृत्तियाँ थीं, इसे हम यथा स्थान देखेंगे।

इस तथ्य के प्रमाण हैं वे नाटक, जिनका सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। यद्यपि पाणिनी में तथा बौद्ध-साहित्य में भी नाटकों के उल्लेख हैं। तथापि पतञ्जलि में स्पष्टतः कंस-वध व बलि-वध नाटकों का उल्लेख है। दोनों पौराणिक धर्म का प्रचार करते हैं।

बौद्ध लोग भी धर्म प्रचार के लिए नाटकों का प्रयोग करते थे, शोभावती के राजा के सम्मुख बुद्ध के जीवन को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसी प्रकार बिम्बसार के सम्मुख बुद्ध पर नाटक खेला गया था।

इन सूचनाओं के अतिरिक्त सर्वप्रथम प्राप्त नाटकों में भास के नाटक हमारे सम्मुख हैं, यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये नाटक भास के ही हैं।

भास के नाटकों में पौराणिकधर्म के प्रचार को देखकर तथा राजा में विलास, स्वेच्छाचार, बहुपत्नीवाद आदि के होने पर भी उसके प्रति जनता की श्रद्धा देख कर यह बात पुष्ट होती है कि मौर्यों की शक्ति का विनाश हो जाने के पश्चात् विदेशी जातियों के आक्रमणों का विरोध जो राज्य-वर्ग कर रहा था, उस समय जनता की रक्षा का भार जो राजा ले लेता था, जो प्रजा को युद्धों से उत्पन्न भयङ्कर विनाश से बचा लेता था, सुरक्षा और शान्ति की गारण्टी देता था, उस राजा के अन्य अनेक दोषों को जनता केवल क्षमा ही नहीं कर देती थी अपितु उसके उन दोषों को गुण के रूप में वह गाया भी करती थी। ललित कलाओं का केन्द्र राजा होता था, विलास व वैभव राजा या उच्च राज कर्मचारियों या सामन्तों के पास रहता था। अतः इस वर्ग के विलास, वैभव, प्रेम की कथाएँ नाटकों का विषय बनती थीं और जनता उन्हें हर्ष से देखती थी। उस युग में जबकि दास प्रथा टूट चुकी थी और सामन्तवाद जाग गया था, अर्ध-दास या 'सर्फ' दासों की जगह ले चुके थे, जब विदेशी आक्रमण कर रहे थे उस समय सामन्तवाद का गुणगान सुरक्षा के प्रतीक के गुणगान रूप में होता था। यह परम्परा भास के पूर्व में भी रही होगी परन्तु भास में तो वह स्पष्ट दिखाई पड़ती है और इसीलिए 'स्वप्नवासवदत्ता' में एक विचित्र अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। नाटककार बहुपत्नीवाद के सिद्धान्त की रक्षा करता है, कैसे? उदयन का रानी वासवदत्ता से प्रेम है, परन्तु ज्योतिषी ने घोषणा की कि मगध की राजकुमारी का जिससे विवाह होगा उसका भविष्य उज्ज्वल होगा। मन्त्रियों ने षडयन्त्र किया क्योंकि एक पत्नी के रहते (कहना चाहिए, एक पट्टमहिषी के रहते) पद्मावती का विवाह उदयन से असम्भव था। अतः वासवदत्ता आग लग जाने से जल कर मर गई, इसका प्रचार किया गया और पद्मावती से विवाह कर लिया गया और साथ में मजा यह कि उदयन का प्रेम वासवदत्ता के प्रति पूर्ण

रूप से दिखाया जाता रहा और पद्मावती को इससे एतराज हो ही क्या सकता था। स्पष्ट है कि राजाओं के बहुपत्नीवाद व विकराल—विलास के जघन्य कृत्यों का समर्थन भास कर रहा है पर यह परम्परा आगे ऐसी चली कि पट्ट महिषी के अतिरिक्त अन्य दासियों, प्रेमिकाओं, राजकुमारियों को हरम में लाकर उनके प्रति राजा का प्रेम दिखा कर और साथ ही पट्टमहिषी के प्रति राजा का डर व आदर दिखा कर अन्त में पट्ट-महिषी के द्वारा ही राजा का विवाह किसी प्रेमिका से करा देना आवश्यक हो गया। मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि नाटिकाओं में आप सर्वत्र यही प्रवृत्ति देख सकते हैं।

नाटककार को राजा के रनिवास के बाहर जनता के जीवन के अनेक रूपों, उसकी आशा-अकांक्षाओं के वर्णन का अवकाश ही नहीं है। और साथ ही विशेषता यह कि राजाओं की जघन्यता का वर्णन करते समय उसके प्रति जनता की श्रद्धा जगाने का प्रयत्न भी बराबर नाटककार करता है। राजा में अनेक गुणों की स्थापना वह साथ ही करता चलता है। शृङ्गार की ललित छटा के साथ-साथ सामन्तवाद के सारे अन्तर्विरोध यहाँ स्पष्ट हैं। घोर वीररस प्रधान नाटकों में भी अश्लील कामुकता का वर्णन अनिवार्य होगया। भास के नाटकों में तपस्वियों का, वेदपाठ का, यज्ञ का, शास्त्रों का अत्यधिक आदर है। अध्ययन अध्यापन को भी राजा संरक्षण प्रदान करते थे, साहित्यकार उनके गीत गाते थे। उसमें इतनी ही गतिशीलता मिलती है कि राजा सुरक्षा के प्रति जागरूक रहता था किन्तु यह कार्य उसके योग्य मन्त्री व सेनापति करते थे, राजा के विलास में इससे कोई बाधा नहीं पड़ती थी। राजाओं के वैभव के साथ जनता की दशा का पता इन नाटकों में नहीं चलता। पौराणिक नाटकों यथा 'बालचरित' आदि से उस समय की दशा का विशेष पता नहीं चलता। केवल धार्मिक दृष्टिकोण का पता चलता है कि किस प्रकार भास पौराणिक ब्राह्मण धर्म का प्रचार कर रहा था। इस पौराणिक धर्म का पालन जब ब्राह्मण नहीं कर पाते थे तो कम से कम उन्हें घोर पश्चाताप होता था। शूद्रक का चारुदत्त ब्राह्मण व शर्विलिक ब्राह्मण दोनों अपने पतन पर घोर पश्चाताप करते हुए दिखाये गये हैं।

संस्कृत रूपकों में नाटक नामक रूपकों में सामाजिक दशा अप्रत्यक्षरूप से चित्रित की गई है और 'प्रकरण' नामक रूपकों में प्रत्यक्ष पद्धति पर उसका वर्णन किया गया है। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इस दृष्टि से उच्चकोटि का सामाजिक रूपक है। कालिदास के पूर्व समाज की दशा पर इस नाटक से सबसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मृच्छकटिक में यद्यपि मुख्यपात्र उच्चवर्ग के हैं परन्तु दरिद्र व्यापारी की दशा, तथा अनेक निम्न वर्गों के व्यक्तियों के जीवन का चित्रण भी विस्तार से किया गया था। प्रो० लेवी मृच्छकटिक में प्रतिबिम्बित समाज को कल्पित मानते हैं परन्तु अतिशयोक्ति के साथ-साथ बहुत कुछ यथार्थ इस नाटक में अवश्य है। शूद्रक के समय राज्य निरंकुश था, स्वेच्छचार का बोलबाला था, राज्य-व्यवस्था का सञ्चालन स्वार्थी कर्मचारियों पर आधारित था, सेनापति व मन्त्री मुख्य कर्मचारी थे। राज्य के विभाग थे, यथा राजस्व, न्याय, पुलिस। न्याय विभाग विकसित था, जूरी की प्रथा थी, गवाही की प्रथा थी। तथ्यों के संग्रह व गवाहों के बयान पर निर्णय होते थे, झूठी गवाही पर न्यायाधीशों के न चाहने पर भी गलत निर्णय हो जाते थे, न्याय विभाग स्वतन्त्र न था, राजा व उसके सम्बन्धी उन पर प्रभाव डाल सकते थे, अन्तिम निर्णय राजा करता था। गवाही न मिलने पर कठिन परीक्षायें ली जाती थीं, आर्थिक दण्ड देकर बड़े अपराधों में मुक्ति मिल सकती थी। व्यक्तिगत विवेक का प्रयोग होता था। जनता अदालतों से डरती थी। चारुदत्त न्यायालय को भयानक समुद्र के समान देखता था, उसे मन्त्री जल के समान, दूत लहर व शङ्ख के समान, गुप्तचर नक्र व मकरों के समान, कायस्थगण (मुन्शी) सर्पों के समान लगते थे।

शूद्रक के युग में जाति प्रथा थी, परन्तु चारुदत्त ब्राह्मण व्यापारी था, वेश्या का प्रेमी, व्यसन-प्रिय। शर्विलिक ब्राह्मण चोरी में निपुण था, उस समय वेश्याओं से विवाह कर लेने पर वे 'वधू' पद पा जाती थीं। पर कुलवधुओं का आदर अधिक था। जुआरी, व्यापारी व राजनैतिक वर्ग सुखी था। व्यापार विस्तृत था। उच्चवर्ग सम्पन्न था परन्तु अधिकतर समाज धन-हीन था। व्यापारियों के पुत्र सोने की गाड़ियों से खेलते थे। वसन्तसेना का भवन इन्द्रभवन के समान था जो वेश्या थी। दासप्रथा उस समय भी थी। मदनिका वेश्या को दासी बनना पड़ा था। अन्ध-विश्वासों, जुआरियों तथा राज्य-कर्मचारियों से जनता पीड़ित थी। ललित कलायें उच्चवर्ग में पलती थीं। वेश्यायें कुल-कन्याओं से अधिक सुखी थीं। धूर्तों विटों, शकारों, पुलिस-कर्मचारियों तथा भेदियों का राज्य-मार्गों पर जमाव रहता था। बहु-विवाह की प्रथा थी, कई अनुचित पत्नियों को रखना शान समझी जाती थी। ब्राह्मण वर्ग से वैदिक क्रिया-काण्ड नष्ट हो गया था। क्षत्रिय व्यसनी व कलह-प्रिय थे, वैश्य अभिमानी, प्रपञ्ची व वेश्यागामी। सामन्तवाद के सारे दोष शूद्रक के युग में दिखाई पड़ते हैं। मृच्छकटिक का सूत्रधार अपनी भूख का वर्णन मञ्च पर ही करता है और शकार राज्य-मार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करता है। धार्मिक व्यक्तियों का आदर कम था। बौद्धों की प्रतिष्ठा घटगई थी तो भी वेश्याओं के घरों में भी धार्मिक कार्य होते थे और साथ ही शर्विलिक जैसे ब्राह्मण यज्ञोपवीत से चोरी करते समय रस्सी का काम लिया करते थे।

शूद्रक के समय तक बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ती थी। वैदिक धर्म व बौद्ध धर्म दोनों का आदर होता था। 'संवाहक' जैसे व्यक्ति जो चरण दबाने का काम करते थे, बौद्ध भिक्षु बन जाने पर आदरणीय बन जाते थे चाहे राज्य कर्म-चारी भले ही उनकी उपेक्षा करते हों। आगे के नाटकों में यह स्थिति नहीं रही। आगे चल कर ब्राह्मणवाद उग्र होता गया जिसका रूप हमें भवभूति के प्रकरण 'मालती माधव' में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः बौद्ध-धर्म जब तान्त्रिक मतों में परिणत हो गया तो उसके प्रति जनता घृणा व्यक्त करने लगी। कालिदास में बौद्धधर्म की चर्चा नहीं मिलती। उसने जान बूझकर बौद्धधर्म को उपेक्षित रख कर वैदिक धर्म व वैष्णवधर्म का प्रचार किया। कालिदास शूद्रक की तरह राज-नैतिक हलचल के युग में उत्पन्न नहीं हुआ था। गुप्त-वंश के स्थिर राज्य-शासन में जन्म लेने के कारण उसके नाटकों में उस प्रेम की चर्चा ने जोर पकड़ा जिसकी पूर्व परम्परा यम-यमी के संवादों में वैदिक युग में दिखाई पड़ती है और जिसका प्रारम्भ भास के 'स्वप्न वासवदत्ता' जैसे नाटकों में बहुत पहले हो चुका था।

भारतवर्ष में महाभारत के बाद दास प्रथा टूट कर जब एक बार कृषि-व्यवस्था (Serfdom) आगई तो वह स्थिर होगई। उत्पादन के साधन न बदलने से यह व्यवस्था पूँजीवाद के प्रारम्भ (१९वीं शताब्दी) तक यहाँ अखण्ड रही, यद्यपि इस्लामी शासन में व्यापार के सन्तुलन के बदलते रहने से समाज में परि-वर्तन दिखाई देते रहे। जब तक विदेशियों के आक्र-मण होते रहे तब तक सामन्तवाद जाग्रत अवस्था में रहा, उसमें सशक्त राजाओं का आदर रहा, निर्बलों को अपदस्थ होना पड़ा। आक्रमणों का सामना करने के लिए केन्द्रीय राज्य की आवश्यकता थी। गण-व्यवस्था इसमें बाधक थी, चाणक्य ने गण व्यवस्था का नाश कर चन्द्रगुप्त की तलवार के द्वारा केन्द्रीय सत्ता की नींव डाली थी, और साथ ही ब्राह्मणवाद सदा सामन्तवाद में ही पलता रहा अतः उसे चुनौती देने वाले गणों को नष्ट करना भी आवश्यक था। इसीलिए संस्कृत साहित्य के निर्माता ब्राह्मणों ने सामन्तों के गीत गाए। कालिदास ऐसी ही सामन्त-व्यवस्था का गायक था जिसके राजा यज्ञ में सर्वस्व दान कर देते थे, जो घोर विलासी और प्रचण्ड वीर थे, जो तपोवनों की रक्षा करते थे, और वेद-शास्त्रों के नियमों को मानकर वर्ण व्यवस्था के संरक्षक थे। अभिज्ञान शाकुन्तल में

जो वातावरण कवि ने प्रस्तुत किया है उसमें इसी ब्राह्मणवादी दृष्टि की प्रधानता है। कण्व का आश्रम, मारीचि का आश्रम व दुष्यन्त की इनके प्रति भक्ति एक ओर है और उपेक्षिता वसुमती का रुदन-गीत, शकुन्तला का अनादर, दूसरी ओर है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला पर क्यों मुग्ध हुआ, विदूषक इसका उत्तर देता है—

यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिडिकायामभिलाषोभवेत्।
तथा अन्तःपुरस्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत् इयमभ्यर्थना॥

राजा अन्तःपुर की रानियों से ऊबकर कभी-कभी प्रकार वन-वासिनी शकुन्तलाओं की खोज करते थे जैसे मधुर व्यञ्जन खाकर कोई इमली की तलाश करता है। भारत में सामन्तवाद के लम्बे युग में नारी की दुर्दशा का आदर्श शकुन्तला में मिलता है। आदिम साम्यवाद में उसकी स्थिति अच्छी थी। सामन्तवाद में नारी विलास का साधन बन गई परन्तु सामन्तवाद के गायक कालिदास ने दुर्वासा ऋषि के शाप की कल्पना कर दुष्यन्त के पाप को धोने का प्रयत्न अवश्य किया। परन्तु साथ ही अपनी कला से कर्त्तव्य व प्रेम का द्वन्द्व उपस्थित कर जो प्रतीक हमारे सम्मुख रखा उसका आज भी आदर होगा। रवीन्द्रनाथ टेगोर ने इसी दृष्टि से शकुन्तला को देखा था।

राजा के सामान्य गुणों में यह उदारता दुष्यन्त में दिखाई गई है कि वह पुत्र-विहीन धनिक की सम्पत्ति को सहसा अपने खजाने में जमा नहीं कर लेता। वह वीर धीर भी है और इन्द्र तक की युद्ध में सहायता करता है। मैंने पहले ही कहा है कि सामन्तों की युद्ध-शक्ति जनता के हित के अनुकूल थी अतः उसकी प्रशंसा अनिवार्य थी। कालिदास के समय ब्राह्मणधर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था अतः उसके प्रति कवि की भक्ति यत्रतत्र बिखरी मिलती है और चूँकि राजा इस धर्म के रक्षक थे अतः उनकी वन्दना विष्णु तक के रूप में की गई है। मालविकाग्निमित्र में अश्वमेध का वर्णन मिलता है। परन्तु यहाँ अग्निमित्र स्पप्नवासवदत्ता के उदयन की परम्परा में है। अशोक वृक्ष की जड़ में छिपकर मालविका का आलिं करता है, वह राजमहिषी इरावती से डरता है। पु मित्र युद्ध में व्यस्त है और अग्निमित्र प्रेमिका प्राप्ति में। विचित्र संयोग है! विक्रमोर्वशी में विशु प्रेम की कहानी है। अप्सराओं के स्वतंत्र प्यार चर्चा है। अप्सरा जाति में विवाह का बंधन स्वीकृत था। मुक्त सम्बन्ध होते थे। उर्वशी ने भी पुरुरवा बहुत भटकाया था। यहाँ ऋग्वेद व शतपथ की कथा रोमांटिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। शकुन्तला शराबी व रिश्वतखोर कर्मचारियों का यथार्थ व किया गया है। कालिदास ने सामन्तों के उज्ज्व पक्षों को सम्मुख रखा है, परन्तु उस उज्ज्वलता कुत्सितता स्पष्ट झलकती है।

अश्वघोष के नाटकों में बौद्ध-धर्म का प्र अधिक है, इन नाटकों में जो समन्वय का कार्य प्रार हुआ उसका चरम रूप 'नागानन्द' में पाया जाता है गुप्त साम्राज्य के पश्चात् बौद्ध-धर्म समन्वय खोज में था और ब्राह्मण भी इसी ओर प्रयत्नशी था अतः हर्ष के 'नागानन्द' में यह समन्वय, स्पष्ट में मिलता है परन्तु सामन्तवादी विलास यहाँ भी पूरा है। दरबार, रनिवास, उपवन को छोड़, संघर्ष जीवन में उतरने के दृश्य प्रियदर्शिका व रत्नावली नहीं मिलते। राजा की वीरता इसमें है कि वह में जलती हुई रत्नावली को बचा लेता है। सब प्रशं करते हैं। मालविकाग्निमित्र के आदर्शों पर ये ना काएँ लिखी गई हैं, नाटक के नियमों को पूरा के लिए अनेक रूढ़ियों की कल्पना करली गई है प्रियदर्शिका (आरण्यका) को मक्खी न काटती राजा आलिंगन न कर पाता और रत्नावली में बन्दर न भागता तो आरभटी वृत्ति कैसे दिखाई सकती थी, नाटिका में युद्ध वर्जित था। चित्रक इन्द्रजाल, ज्योतिष, संगीत, हार-निर्माण आदि कलाओं में दरबारी वातावरण दक्ष था, यह भास नाटकों से लेकर आगे के नाटकों में बराबर दिख

गया है। इसी वातावरण में राजा विवाहिता रानियों से बच कर नई-नवेलियों से प्रेम का स्वाँग करने में तत्पर रहते थे। रानियाँ सपत्नी दाह से सदा जला करती थीं। इन नाटकों के विदूषक, निर्लज्ज, पतित ब्राह्मण हुआ करते थे परन्तु उनका आदर व विश्वास तब भी रहता था। नागानन्द में विट के बहुत कहने पर भी ब्राह्मण विदूषक सुरा-पान नहीं करता परन्तु वेद मंत्र कहने की प्रार्थना करने पर वह टाल जाता है। राजा के प्रेम की क्रीड़ाओं में ये ब्राह्मण अन्तरङ्ग मित्र का कार्य करते थे।

भास, कालिदास, हर्ष के पश्चात् भवभूति के मालती-माधव प्रकरण का सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्त्व है। उत्तररामचरित, प्रतिमा नाटक की परम्परा में है, पौराणिक कथाओं पर आधारित जहाँ कवि केवल भाव विशेष के वर्णन करने का अवसर खोजता है। कालिदास बौद्ध धर्म की निन्दा नहीं करता, हर्ष दोनों का समन्वय करता है परन्तु भवभूति कालिदास से अधिक कट्टर ब्राह्मण था। ८वीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध-साधना भ्रष्ट हो चुकी थी। चमत्कार व श्मसानसाधना प्रबल हो रही थी। भवभूति ने अघोर-घण्ट व कपालकुण्डला जैसे पात्र उसी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कल्पित किए हैं। भारत में सामन्तवाद का स्वरूप ७वीं शताब्दी के पश्चात् अपनी प्रगतिशीलता खोता गया क्योंकि विदेशियों के आक्रमण नहीं हुए और देश विभिन्न सामन्तों की ईर्ष्या, द्वेष, आत्माभिमान, विलास, सङ्कीर्णता, दम्भ व व्यर्थ के गौरव की अग्नि में जलने लगा। कवियों का जनता से सम्पर्क छूट गया। राज-दरबारों में उन्हें शरण मिल गई अतः काव्य के क्षेत्र में जैसे शिशुपालवध और बाद में 'नैषध' जैसे चमत्कार प्रधान काव्य लिखे गए, वैसे ही नाटकों में भी पतन दिखाई पड़ा, नाटकीय तत्त्वों के स्थान पर कृत्रिम काव्य शैली का ही व्यवहार होने लगा। उत्तर रामचरित में काव्य के सभी चमत्कार दिखाई पड़े। अतः मौलिकता और नाटकीयता के स्थान पर या तो प्रतीकात्मकता बढ़ी, यथा प्रबोध-चन्द्रोदय जैसे नाटकों में, या नाटक काव्य-कलाप मात्र रह गया। पांडित्य की प्रखरता व भावना के गाम्भीर्य की चिन्ता में मृच्छकटिक जैसे प्रकरण व शकुन्तला जैसे नाटक नहीं लिखे जा सके। मालती-माधव में भवभूति विदूषक को नहीं निभा सका। सामन्तवाद जब दास प्रथा को नष्ट कर आगे बढ़ा था तब भास व कालिदास ने उसके गीत गाये थे अतः उनके काव्यों व नाटकों में शृंगारप्रियता के साथ देश का भव्य चित्रण, राष्ट्र-प्रेम तथा अनेकरूपता की रक्षा हो पाई थी। अब सामन्तवाद के पतन का समय था अतः ७वीं शताब्दी के पश्चात् दरबारी नाटक जो उच्चवर्ग की जन-रुचि के लिए लिखे जाते थे, नाटक ही नहीं रह गए। सामन्तों से अपमानित भवभूति जैसा नाटककार 'करुणा' और वह भी विरह में जाग्रत 'करुणा' को काव्य का आधार मान बैठा। भाग्यवाद ने भवभूति की दृष्टि को जनता की ओर नहीं आने दिया।

भवभूति के पश्चात् विशाख के मुद्राराक्षस मे राजनैतिक जीवन के प्रपञ्चों का अच्छा वर्णन किय गया है। षड्यन्त्रों के सभी प्रकार यहाँ वर्णित हैं परं इसका आदर भारत में कभी नहीं हुआ। भवभूति के बाद ९वीं शताब्दी के बाद मुरारि के 'अनर्घराघव' को महत्त्व नहीं मिला क्योंकि इसमें पौराणिकता अधि थी। भवभूति की मार्मिकता यहाँ नहीं। समाज क ओर मुरारि ने देखा तक नहीं। राजशेखर ने भी बाल रामायण, बालभारत में पौराणिक कथाएँ लीं। द बारी विद्वत् समाज से नाटकीय कला बँधकर पति हो गई। देशी भाषाओं का उदय हुआ। संस्कृत पण्डित वर्ग-प्रिय व्यक्ति थे वे वर्गों के अनुसार भाषा का वितरण कर नाटक लिखते थे। संस्कृत, राजा पुरे हित आदि ही बोल सकते थे, निम्न जाति के लो नहीं, रानियाँ तक नहीं। वर्ग-विषमता का उग्र स इन संस्कृत नाटकों में सुरक्षित मिलता है। पौराणि पुरुषों के चरित्र-चित्रण का मोह बढ़ता गया, केव 'प्रसन्नराघव' में राम व सीता के प्रेम की खुली च अवश्य है अन्यथा उन्हें असामान्य धरातल पर दिखा

गया है। कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित नाटकों में भी 'रुक्मिणी-परिणय' जैसे नाटक लिखे गए जो निम्नकोटि के हैं। भाण, प्रहसनों व प्रकरणों में कल्पित विट, चेटकों की धूम होती रही। धूर्तसमागम, धूर्तनर्तक ऐसे ही प्रहसन हैं।

नाटक जीवन की अनुकृति है परन्तु संस्कृत नाटकों में एक विशेष वर्ग के जीवन के विशेष पहलू का ही चित्रण मिलता है। महाकाव्य की प्रवृत्तियों को नाटकों में भरने के कारण सहज जीवन की अनुकृति के चिह्न यत्र-तत्र ही मिलते हैं। काव्य की दृष्टि से अवश्य ये अद्वितीय हैं। कीथ का यह कहना सही है कि संस्कृत नाटक ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं यदि संस्कृत भाषा पर जनता का भी अधिकार होता तो वात्सायन व भरत के नियमों पर लिखा जाने वाला नाट्य-साहित्य विविधता पूर्ण होता। नियतिवादी प्रवृत्तियों ने जीवन की कुरूपता का चित्रण नहीं होने दिया। कोरा आदर्शवाद ही सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

आनन्द को जीवन का ध्येय मानने के कारण अनेक कष्टों का वर्णन करके अन्त में आनन्द की विजय सर्वत्र दिखाई पड़ती है। कीथ की यह बात सही नहीं है कि योरोप के ढङ्ग के दुःखान्त नाटक ही श्रेष्ठ हैं। परन्तु उनका यह कहना युक्ति-युक्त है कि ब्राह्मणवादी आदर्शवाद के कारण जीवन की विविधतापूर्ण वास्तविकताओं का चित्रण असम्भव हो गया। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कीथ के विरुद्ध तर्क रक्षात्मक हैं। हमें आत्म-आलोचन के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिए। संस्कृत नाटकों में विराट समाज की अनुकृति नहीं प्रस्तुत की जासकी, एक वर्ग विशेष का भी साङ्गोपाङ्ग चित्रण नहीं हो सका, परम्परा-युक्त शैली को ही सब दुहराते रहे। यह कहना मूर्खता है कि योरोप के दुःखान्त नाटकों में रुचि लेने वालों की रुचि निम्नकोटि की है और यह कहना भी व्यर्थ है कि भारत के नाटकों में कहीं जीवन है ही नहीं, आदर्शों के आवरण में भी जीवन नहीं छिपा रह सकता वह सम्मुख झलक उठता है अभी इस दृष्टि से देखा ही नहीं गया। हाँ यह सत्य है कि ब्राह्मणवादी सामन्तवादी दृष्टि ने नाट्यपरम्परा के विकास में बड़ी बाधा प्रस्तुत की है। हमारे यहाँ प्रति नायक के सफल व्यक्तित्व का कभी आदर नहीं किया गया क्योंकि वह मान्य धर्म के विरुद्ध था। रावण को तुच्छ शेखी खोर, मूर्ख प्रति नायक के रूपमें बराबर दिखाया गया है जिसका उपहासास्पद रूप हमें रामलीलाओं में दिखाया जाता है। और इसी दृष्टि को हम भारतीय संस्कृति कह देते हैं और वह हमें कहीं भी दोष पूर्ण नहीं दिखाई पड़ती। संस्कृत-नाटकों में जो संस्कृति दिखाई पड़ती यदि वही आदर्श है, यदि वही आनन्दजनक है तो निश्चित रूप से हम परम्परावादी हैं जिसके कारण संस्कृत नाटकों का पतन हुआ। बौद्ध धर्म के दुःखवाद की अस्वीकृति के कारण आनन्द की झोंक में कामशास्त्र की आराधना होने लगी। ब्राह्मणवाद वैयक्तिकता को कभी स्वीकार नहीं करता इसीलिए विविधता व अनेक रूपता के दर्शन संस्कृत नाटकों में नहीं मिलते।

(पृष्ठ ६० का शेषांश)

और कितने ही अंग्रेजी कानून से सम्बन्धित हैं। 'जखमी पञ्जाब' और 'अलबर्टबिल' अधिक प्रसिद्ध है।

सामाजिक नाटककारों में अब्दुल माजिद दरया- और बृजमोहन 'कैफ़ी' बहुत मशहूर हैं। इन नाटककारों के नाटकों में सामाजिक बुराइयाँ दिखाई गई हैं।

बहरहाल उर्दू ड्रामे ने बहुत जल्द उन्नति की थी परन्तु अब वैसी उन्नति नहीं दिखाई देती है। यह बड़े अफ़सोस की बात है। कारण यह है कि फ़िल्मों की उन्नति से थ्येटर कम्पनियों को बहुत नुकसान पहुँचा जिससे नाटकों की कला को भी धक्का लगा। इसीलिए अच्छे नाटक नहीं तैयार हो पारहे हैं। दूसरे इनकी खराबियों को दूर करने की बड़ी आवश्यकता है।

अन्त में यह कह देना काफ़ी है कि उर्दू नाटकों का भविष्य बहुत उज्ज्वल है और आशा की जाती है कि अच्छे नाटकों की काफ़ी संख्या हो जायगी।

उर्दू साहित्य में नाटक कला

श्री शाह नसीर फरीदी एम० ए०

साहित्य समाज का दर्पण होता है । इसीलिये नाटक की साहित्य में वही महत्ता है जो साहित्य की दूसरी शाखाओं की है । उर्दू साहित्य में नाटकों का स्वागत बड़ी आन-बान से किया गया । चूँकि उर्दू-भाषा भारतवर्ष में उत्पन्न हुई इस कारण उर्दू में जितने भी नाटक हैं उनमें भारतीय संस्कृति का अधिक प्रभाव मिलता है । उर्दू और इसके सम्बन्ध में श्री रामबाबू सक्सेना एक स्थान पर लिखते हैं । "उर्दू ड्रामानिगारी के लिये एक खास मौजूनियत (विशेषता) रखती है। उर्दू जबान बड़ी जोरदार चीज है । उसकी तर्जेअदा (शैली) निहायत दिलकश और काबिले तारीफ (सराहनीय) है । वह रज्म और बज्म दोनों मौकों के लिये मुनासिब है ।"

उर्दू के वातावरण में नाटक एक विदेशी पौधे के के तौर पर आया है और उन्नीसवीं शताब्दी में इसको इस परिश्रम से सींचा गया कि यह पौधा अधिक समय तक अपनी बहार दिखा सके ।

नक्ल हर देश में आम रही है चाहे वह बहुत अधिक सभ्य रही हो या कम सभ्य । बहरहाल नक्ल करना मनुष्य के नेचर में शामिल है । यह और बात है कि इसे दबा दिया गया हो । उदाहरण के लिये इस्लाम धर्म में नक्ल करने को रोका गया है । अतः इस नक्काली में नाटक, बुततराशी, तस्वीरकशी, नाच और गाने आदि आते हैं जिन्हें रोका गया है । इसी प्रकार बौद्ध और जैनी भी नाटक से नफरत करते थे ।

भारतवर्ष में ड्रामा अपने कमाल तक पहिले ही से पहुँचा हुआ था । शुरू-शुरू में संस्कृत नाटकों का प्रभाव इस पर न हो सका जिसके कई कारण थे ।

सच तो यह कि संस्कृत ड्रामों का सुनहला काल बीत चुका था और वह केवल किताबों ही तक रह गया था । देश की देशी जबानों में अच्छे नाटक मौजूद नहीं थे और जहाँ तक नाटकों के खेल का सम्बन्ध है वह भी खत्म हो चुका था क्योंकि बौद्ध और जैनी इसे पसन्द नहीं करते थे यद्यपि बाद में बौद्ध धर्म में नाटक बहुत उन्नति कर गया । ब्राह्मणों को सफलता जब हुई तो नाटक उस प्रकार उन्नति न कर सका जैसा कि पहले था क्योंकि बाहरी हमलावरों के आक्रमण शुरू हो चुके थे ।

इसके अलावा मामूली दर्जे के लोगों ने नाटक कम्पनियाँ खोल लीं तो ड्रामे का स्तर और भी नीचा होगया । दूसरे इस जमाने में उर्दू पर फारसी का असर बहुत अधिक था । जिससे लोग संस्कृत के नाटकों की ओर कम गये । परन्तु फिर भी धीरे-धीरे जब उर्दू में नाटकों का रिवाज हुआ तो संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक हो गया और कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद हुआ ।

समय के साथ-साथ उर्दू की नाटक कला में भी अन्तर पैदा होता गया । इस प्रकार उर्दू नाटकों के पाँच सिलसिले होगये जो निम्नलिखित हैं :—

१—संस्कृत नाटक—उर्दू पर संस्कृत का प्रभाव पड़ते ही कितने ही संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया गया और फिर थोड़े ही दिनों में इन प्राचीन ड्रामों का स्तैमाल होने लगा । जैसे सूत्रधार का अपनी स्त्री के साथ स्टेज पर आना और किस्से को संक्षिप्त में बताना या विदूषक का होना आदि उन्हीं पुराने नाटकों की नकल है ।

२—हिन्दू धार्मिक नाटक—उर्दू नाटक की उन्नति में हिन्दू धार्मिक नाटकों का बहुत बड़ा हाथ है । प्राचीन काल में लोग इन्हीं ड्रामों द्वारा देवों और देवियों के किस्से पेश करते थे ताकि लोगों में अच्छी अच्छी बातों का प्रचार हो सके । इसीलिए श्रीकृष्णजी और गोपियों के किस्से नाटकों में दर्शाये जाते थे ।

इस तरह या तो उर्दू भाषा में सीधे इन्हीं नाटकों का अनुवाद मौजूद है या फिर इनकी सहायता लेकर ड्रामे लिखे गये और उन्हें खेला भी गया और उर्दू ड्रामों की संख्या भी अधिक हो गई। कुछ लोगों का ख्याल है कि वाजिद अली शाह इन्हीं नाटकों से प्रभावित हुये थे और इस प्रकार 'इन्द्र-सभा' के लिखे जाने की आज्ञा दी जिसे अमानत लखनवी ने लिखा और जो कैसर बाग में खेला जाता था। खुद वाजिद अलीशाह इन्द्र बनते थे और सुन्दर स्त्रियाँ परियों का पार्ट करती थीं।

३—स्वाँग और नकलें आदि—पुराने जमाने के नक्काल या मसखरे धनवान लोगों की मुलाजमत करते थे और हँसी मजाक की बातें करके उनका दिल खुश करते थे। यही रिवाज एलिजावेथ के काल में भी था और कलाऊन नकाली करते थे। ये नक्काल जिस बात को कहना चाहते थे उसे तुरन्त किस्से के रूप में ढाल लेते थे या फिर कोई और तरीके निकाल लेते थे। इस प्रकार हँसी ठट्ठे से भरे हुये नाटकों को भी रिवाज दिया गया।

४—इस्लामी नज्में और कहानियाँ—उर्दू नाटक-कला आशिकाना रङ्ग भी रखती है। इन नज्मों में नाटक-कला की झलक मौजूद है और ये नाटकों के अन्दाज में लिखी गई हैं।

५—अँग्रेजी स्टेज—आज कल उर्दू नाटक अँग्रेजी असर से भरा हुआ है। स्टेज सेटिङ्ग एक्ट सभी चीजें अँग्रेजी ढङ्गों की पाई जाती हैं। अँग्रेजी ढङ्ग के नाटक या तो अनुवाद से आये हैं या खुद लिखे गये हैं। इसके अन्दर सब से अच्छे नाटक आते हैं।

ड्रामों के किस्से पुराण, हिन्दू देव माला, फारसी अरबी किस्से भारतीय प्राचीन रस्म, अँग्रेजी कहानियाँ और आधुनिक समाज की राजनैतिक या सामाजिक खराबियों से लिये गये हैं।

उर्दू नाटकों की उन्नति में दरबारों का भी हाथ रहा। एक कवि ने शकुन्तला का अनुवाद फरुखसियर के जमाने में ब्रजभाषा में किया। अमानत ने 'इन्द्र सभा' लिखी इसके अलावा योरूप वालों ने उर्दू ड्रामों की उन्नति में हाथ बटाया। यद्यपि इसको कुछ लोग नहीं मानते परन्तु फिर भी यह मानना ही होगा कि नाटकों को आधुनिक रूप में ढालने का बड़ा काम योरुप वालों ने किया। अमानत की 'इन्द्र सभा' के बाद मदारीलाल ने भी एक दूसरी इन्द्र सभा लिखी जो साहित्यिक रूप से पहली इन्द्र सभा के बराबर नहीं परन्तु बहुत प्रसिद्ध है। इसका अनुवाद देवनागरी गुजराती गुरमुखी और अन्य भाषाओं में हुआ। इन नाटकों की उन्नति में पारसियों ने भी हाथ बटाया और ईरानी किस्सों को भी रिवाज दिया। अब यहाँ पर कुछ प्रसिद्ध नाटककारों का संक्षित में वर्णन दिया जाता है।

विनायक प्रसाद 'तालिब' बड़े नाटककार हुए हैं। उनके नाटकों में विक्रमविलास, नाजाँ दिलेर, दिलशेर और गोपीचन्द विशेष हैं। अहसन लखनवी के प्रसिद्ध ड्रामे फीरोज गुलनार, चन्द्रावली, दिल फरोश और भूलभुलैया आदि हैं। पण्डित नरायणप्रसाद 'बेताब' देहलवी के प्रसिद्ध नाटक कतले नजीर, महाभारत, जहरी साँप, फरेबे मुहब्बत, कृष्ण सुदामा, रामायन, गोरख धन्धा खास हैं। इनके अलावा इस समूह में सबसे विख्यात हुए हैं, जिन्हें उर्दू ड्रामों का मालों कहा जाता है, पण्डित ब्रजनरायण 'चकबस्त' जिनका मशहूर नाटक 'कमला' है। सैय्यद इमतेयाजअली 'ताज' का नाटक 'अनारकली' उर्दू साहित्य में अमर रहेगा। पण्डित सुदर्शन का नाटक 'सिकन्दरे आजम' इस में बहुत पसन्द किया गया है।

अब तीन प्रकार के नाटकों का ध्यान देना जरूरी है—साहित्यक, सामाजिक और राजनैतिक। साहित्यिक नाटकों की यद्यपि कमी है फिर भी कितने ही अच्छे नाटक लिखे जाचुके हैं। शहीदे-वफा, रूसो जापान, जूलियस सीजर काफी प्रसिद्ध है।

राजनैतिक नाटकों की भी संख्या बहुत अधिक है। कुछ के अन्दर कांग्रेस के सिद्धान्त बतलाये गये हैं

('शेष पृष्ठ ५८ पर देखिए)

गुजराती नाटक का विकास

डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए०, पी-एच० डी०

अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति गुजराती में भी नाटक का विकास अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य के आगमन के कारण हुआ है। इसलिए उसका इतिहास बहुत लम्बा हीं कहा जा सकता। हाँ आधुनिक-काल से पहले गुजराती में नाटकों के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए प्रेमानन्द का नाम अवश्य लिया जाता है। लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि प्रेमानन्द के नाम पर प्रचलित नाटक प्रेमानन्द के लिखे हुए नहीं है। प्रेमानन्द के नाम पर प्रचलित तीन नाटक हैं—'रोष दर्शिका सत्यभामाख्यान', 'पाञ्चाली प्रसन्नाख्यान' और 'तपत्याख्यान'। इनमें से प्रथम दो बड़ौदा से प्रकाशित 'प्राचीन काव्यमाला' के अन्तर्गत सन् १८९१-९२ में और तीसरा १८९४–९५ में प्रकाशित हुए थे। उनके प्रकाशन काल ही में मणिलाल द्विवेदी और राजाराम शास्त्री ने उनकी प्रामाणिकता पर शङ्का उठाई थी। सन् १९०९ में गुजराती साहित्य परिषद के तृतीय अधिवेशन में नरसिंह राव ने 'कवि प्रेमानन्द के नाटक' शीर्षक से जो निबन्ध पढ़ा उससे यह धारणा पूर्णरूपेण दृढ़ हो गई कि नाटक प्रेमानन्द के नहीं हैं। केशवलाल ध्रुव, छोटालाल भट्ट, अम्बाईदास पटेल, अम्बालाल जानी, मनुभाई काँटावाला आदि इन नाटकों को प्रेमानन्द लिखित मानते हैं। यदि ऐसा हो जाता तो गुजराती नाटक के उद्भव काल को दो सौ वर्ष पीछे खींचकर ले जाया जा सकता था पर दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हो सका। कारण, एक तो प्रेमानन्द के नाटकों के बाद नाटक की परम्परा ही नहीं मिलती। दूसरी बात यह है कि आख्यानकार प्रेमानन्द पुराणों के ही पण्डित थे पर नाटकों से वे नाट्य-शास्त्र और संस्कृत तथा प्राकृत के सूक्ष्म भेद के ज्ञाता ठहरते हैं, जो सम्भव नहीं। तीसरी बात यह है कि उन नाटकों का आधुनिक रङ्ग-मञ्च के अनुकूल निर्माण हुआ जान पड़ता है, जिससे यह प्रकट है कि ये प्रेमानन्द के लिखे नहीं हैं क्योंकि तब रङ्ग-मञ्च का इतना विकास नहीं हुआ था। इन बाह्य-कारणों के अतिरिक्त आन्तरिक कारणों में इन नाटकों की गद्य-शैली, शब्द-भण्डार वाक्य-रचना भी प्रेमानन्दी नहीं है। इसकी भाषा कहीं अधिक संस्कृतमय है, कहीं उसमें फारसी और मराठी के शब्दों का बाहुल्य है, 'परेड' जैसा अँग्रेजी शब्द भी उसमें विद्यमान है, अनुप्रास और यमक की भी उसमें प्रधानता है। ये और ऐसी ही अन्य बातों से विद्वानों ने इन नाटकों को प्रेमानन्द का लिखा नहीं माना है।

तब क्या गुजराती साहित्य में नाटक की कोई परम्परा ही नहीं? ऐसा कहना गलत होगा। गुजरात में विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में 'वर्ण-सुन्दरी' और 'नल विलास' आदि रामचन्द्र सूरि के लिखे ग्यारह नाटकों का पता चलता है। उस परम्परा में 'मोह पराजय', 'पार्थ पराक्रम व्यायोग', 'द्रौपदी स्वयंवर', 'दूतांगद' आदि कितने ही धार्मिक और पौराणिक नाटक लिखे गये हैं। लेकिन ये सब संस्कृत में थे और उनका अभिनय बसन्तोत्सव, यात्रा, महोत्सव या राजाओं के विजयोत्सव के समय ही होता था। इनके दर्शक भी अभिजात वर्ग के व्यक्ति होते थे।

सामान्य वर्ग के मनोरञ्जन के लिये गुजरात में नाटक का जो रूप आधुनिक काल से पहले प्रचलित था उसे 'भवाई' कहा गया है। भवाई गुजरात में वैसे ही प्रचलित रहा है, जैसे उड़ीसा बङ्गाल में जात्रा, बिहार–उत्तर प्रदेश में रामलीला, रासलीला और महाराष्ट्र में ललित। भवाई गुजरात का लोक नाट्य है। नाटक के अभाव में जन-मन-रञ्जन के लिये 'भवाई' ने बड़ा भारी काम किया। अपने यहाँ नौटङ्की और स्वांग

का जैसा मञ्च बनता है वैसा ही भवाई का मञ्च बनता है। मैदान में चारों ओर से खुले हुए इस मञ्च के आसपास रात को खा-पीकर निश्चिन्तता से जनता अभिनय देखती है। भवाई में एक ही लम्बी कथा वाला सम्पूर्ण नाटक नहीं होता वरन् कई प्रसंग मिले रहते हैं, जिन्हें 'वेश' कहा जाता है। आरम्भ गणपति के वेश से होता है और एक रात में कम-से-कम पाँच वेशों का अभिनय किया जाता है। हर वेश के आरम्भ में मुख्य पात्र के आगमन का गीत गाया। जाता है, जिसे 'आवणु' कहते हैं। भवाई में सङ्गीत, नृत्य, वेश-भूषा और अनुकरण को पूरा-पूरा अवकाश मिलता है। गीतों की इसमें भरमार रहती है। मुख्य रस हास्य और शृङ्गार रहते हैं। अनमेल विवाह ढोंगी साधुओं के कारनामे, विधवाओं का कुलटापन आदि भवाई के खास विषय हैं। यद्यपि इसमें मानव की असत्वृत्ति को अतिरञ्जित रूप में प्रस्तुत किया जाता है तथापि समाज के यथार्थ स्वरूप का दर्शन इससे भली प्रकार हो सकता है। भाषा यों तो गुजराती ही होती है पर हिन्दी (गुजराती हिन्दी) का प्रयोग उनमें प्रचुर मात्रा में किया जाता है। कुछ वेशों में मुसलमानों से उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा और मारवाड़ियों से मारवाड़ी भाषा भी बुलवाई गई है।

लेकिन भवाई को नाटक का मार्ग प्रशस्त करने वाला तो माना जा सकता है, नाटक नहीं कहा जा सकता। नाटक का वास्तविक आरम्भ, जैसा कि कहा गया है, अँग्रेज़ों के आगमन के साथ हुआ। नये युग की नई शिक्षा ने लोकरुचि का परिष्कार किया और भवाई के स्थूल शृङ्गार और हास्य से ऊब कर उसने नाटक की ओर दृष्टि की। यूनीवर्सिटियों में संस्कृत और अँग्रेजी के नाटकों का पठन-पाठन होने से उनके अनुकरण की भावना जगी और रङ्गमञ्च की स्थापना की आवश्यकता अनुभव हुई।

नाटकों और रङ्गमञ्च का विकास एक साथ हुआ है। अतः यदि आरम्भ में रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लिया जाय तो असङ्गत न होगा। रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि आधुनिक रङ्गमंञ्च पाश्चात्य रङ्गमञ्च की नकल है। कारण, प्राचीन काल के नाट्यगृह या अभिनय शाला तो नष्ट हो गये थे और मुस्लिम काल में नाट्यगृह के विकास का कोई प्रश्न नहीं उठता। अँग्रेजों के आगमन के बाद कलकत्ते में और फि बम्बई में विलायती कम्पनियाँ आकर नाटक खेलतीं थीं, जिनका प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ता था औ उनके मन में वैसे ही नाट्यगृह बनाने की बात उठती थी। परिणाम स्वरूप अँग्रेजी ढङ्ग पर नाट्य गृह बने। और नाट्यगृह बने तो फिर खेलने के लिए नाटक होने चाहिए। यों नाटक भी लिखे जाने लगे। आरम्भ में तो ऐसा शौकिया किया गया पर बाद मे पेशेवर नाटक कम्पनियों का जन्म हुआ।

इसमें सबसे बड़ा हाथ पारसियों का है। पारसं युवकों ने पहले तो अमेच्योर क्लब स्थापित किये औ फिर उनमें पेशेवर कम्पनियाँ निकलीं। विक्टोरिर नाटक मण्डली, शेक्सपीयर नाटक मण्डली, अल्फ्रे नाटक मण्डली और पारसी रिपन थियेट्रिकल कम्पनं जैसी अनेक नाटक कम्पनियों का जन्म इसी प्रका हुआ। इन कम्पनियों में पहिले अँग्रेजी नाटक फि अँग्रेजी नाटकों का पारसी गुजराती में रूपान्तर, फि शुद्ध गुजराती नाटक इस क्रम से इन कम्पनियों नाटक खेले गये। बाद में इन कम्पनियों ने उर्दू औ हिन्दी में भी नाटक खेले। केखुशरू काबराजी नाटक उत्तेजक मण्डली ने मात्र गुजराती के नाटकों अभिनय करने का ही निश्चय किया था। काबरा स्वयं गुजराती में नाटक लिखते थे। गुजराती ना के प्रवर्तक रणछोड़भाई उदयराम के नाटक भी कम्पनी ने खेले थे।

तदनन्तर गुजराती नाटक कम्पनियाँ भी जन्म लगीं। एक सज्जन से हिन्दू नाटक मण्डल की स्था कर दलपतरामकृत 'बेनचरित्र' और रणछोड़भाई 'हरिश्चन्द्र' नाटक खेले थे। रणछोड़भाई की काबरा से कुछ अनबन हो गई, जिसके फलस्वरूप उन्हं

अपनी एक नाटक कम्पनी आरम्भ की। यों गुजराती नाटकों को रङ्गमञ्च मिला। बम्बई के अनुकरण में काठियावाड़ में भी कितनी ही नाटक कम्पनियाँ प्रकाश आईं। यह पारसी और गुजराती नाटक कम्पनियों की कहानी है। वैसे इससे भी अस्सी-नव्वे वर्ष पूर्व सांगलीकर, किर्लोस्कर और रानभाऊ की मराठी नाटक कम्पनियों ने गुजरात तक पहुँच कर रङ्गमञ्च के अभाव को एक बड़ी सीमा तक दूर किया था। इनके मञ्च निर्माण की कला, पर्दे आदि पारसियों से भिन्न थे। नाटकों के संवादों की भाषा हिन्दी और गीतों की भाषा मराठी थी। इन्होंने भवाई से कुछ ऊँचे प्रकार का नाट्य रस देकर लोक-रुचि का परिष्कार किया। इन्होंने अँग्रेजी ढङ्ग के रङ्गमञ्च और भवाई के बीच की कड़ी का काम किया। यों भवाई, दक्षिणी नाटक मण्डली, पारसी नाटक कम्पनियाँ और गुजराजी नाटक कम्पनी गुजराती रङ्गभूमि के विकास का क्रम है।

रङ्गभूमि के इस संक्षिप्त परिचय के बाद अब गुजराती नाटक-सामग्री पर दृष्टिपात किया जा सकता है। यह बात तो कही ही जा चुकी है गुजराती नाटक आधुनिक काल की देन है। उसमें भी प्रारम्भिक काल के नाटकों में लेखकों प्रतिभा की अपेक्षा उनकी संख्या की अधिकता हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है। उन पर संस्कृत नाटकों, भवाई और दक्षिणी नाटकों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। वे नाटक पन्द्रह-सोलह पृष्ठ से लेकर दो सौ पृष्ठों तक के हैं। उनकी लेखन पद्धति भी विचित्र है। कुछ संवाद दे कर बहुधा कहानी के रूप में यह बता दिया जाता है कि 'आगे ऐसा हुआ'। संवादों में कविता की अधिकता है। संवाद लम्बे भी हैं। जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है वह पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक हैं। नर्मद, रणछोड़भाई, काबराजी आदि ने आरम्भ में ऐसे ही नाटक लिखे। आरम्भ के नाटकों में दलपतराय का 'मिथ्याभिमान', नर्मद का 'बालकृष्ण विजय', रणछोड़भाई का 'ललिता दुःख दर्शक', नवलराम का 'वीरमती', मणिशङ्कर पण्डित का 'अनलराय अने लालबा' और 'कलियुग न्याय दर्शन', गणपतराम भट्ट का 'प्रताप नाटक', मणिलाल द्विवेदी का 'कान्ता', भीमराव का 'देवल देवी', हरिलाल ध्रुव का 'प्रह्लाद' और दौलतराम पण्ड्या का 'अमर सत्र' प्रसिद्ध हैं।

इनमें ललिता दुःख दर्शक, वीरमती, प्रताप और कान्ता ये चार श्रेष्ठतम कृतियाँ हैं। ललिता दुःख दर्शक (१८६६) में कुलीन तथा मूर्ख पति और कर्कशा सास-ननद के पल्ले बँधने वाली सुशील ललिता की कष्ट-गाथा है, जो दर्शकों के हृदय हिला देती है। यह गुजराती का प्रथम दुःखान्त नाटक है। 'वीरमती' (१८६९) ऐतिहासिक नाटक है जिसमें वीर, शृंगार, करुण और अद्भुत रस का समावेश है। 'प्रताप' (१८८३) में अकबर प्रताप का सङ्घर्ष है। इसमें नायक पत्नी के अतिरिक्त दूसरा स्त्री पात्र नहीं है। भील, मुसलमान और वैश्य सब अपनी-अपनी बोली बोलते हैं। 'कान्ता' (१८८६) बाह्य रूप में संस्कृत नाट्य शैली और आन्तरिक दृष्टि से शेक्सपियर की दुःखान्त प्रणाली से पूर्ण नायक-नायिका के मिलन में कला का चरम विकास प्रदर्शित करता है। शेष नाटकों में 'मिथ्याभिमान' (१८७१) ग्रीक नाटकों के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर लिखा गया है। जिसमें व्यंग्य-विनोद के द्वारा उपदेश देने की चेष्टा की गई है, 'बालकृष्ण विजय' (१८७८) विशिष्ट प्रस्तावना और तृतीय-चतुर्थ अङ्क की श्रेष्ठ कविता के कारण प्रसिद्ध है। 'वे जंन अने मनीजेह' (१८६९) शाहनामा की एक प्रसिद्ध ईरानी ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। 'अनलराय अने लालबा' (१८८१) भी पारसी गुजराती में लिखा राजपूती शौर्य पर प्रकाश डालने वाला नाटक है। 'कलियुग न्याय दर्शन' (१८८३) तो ऐसा है जो आज भी खेला जा सकता है। 'प्रह्लाद' संस्कृत प्रणाली के अनुकरण पर लिखा गया है। इसमें मारवाड़ी हलवाई आदि अपनी-अपनी भाषा बोलते हैं। अमर सत्र (१९०२) में भी संस्कृत नाट्य-शैली का आधार लिया गया है पर उसमें तत्कालीन राजनीति का अच्छा चित्रण है।

यह गुजराती नाटक के शैशव काल का वर्णन है। इस काल की विशेषता यह है कि नाटक ने प्रत्येक विद्वान् लेखक और कवि को आकर्षित किया था। नर्मद और दलपतराम से लेकर दौलतराम पण्ड्या तक प्रत्येक साहित्य में अन्य दृष्टि से भी प्रतिष्ठित था।

सन् १९०० के बाद गुजराती नाटक का यौवन आरम्भ होता है। इस काल में रमणभाई, नानालाल, कन्हैयालाल मुन्शी, उमर वाड़िया, रमणलाल देसाई, चंद्रवदन मेहता, श्रीधराणजी, उमाशङ्कर जोशी आदि के द्वारा नाट्य-धारा गम्भीर और विस्तृत बनी है। यदि हम १९०० के बाद के ४०-५० वर्षों के नाट्य-साहित्य को देखते हैं तो हमें यह कहने में सङ्कोच नहीं होता कि गुजराती नाटक ने सन्तोषजनक विकास किया है। इस को हम १९०० से १९२० और १९२० से अब तक दो भागों में बाँट सकते हैं।

१९०० से १९२० तक के काल में रमणभाई और नानालाल के नाटकों की धूम रही है। इनमें रमणभाई की एकमात्र कृति 'राई नो पर्वत' है। यह गुजराती की गर्व योग्य कृति में। ऐसा लगता है कि लेखक ने गुजगती में कोई एक उच्च-कोटि की रचना न देखकर उसके अभाव की पूर्ति 'राइ नो पर्वत' लिख कर की है। इसका बाह्याकार संस्कृत शैली का और आन्तरिक स्वरूप शेक्सपीयर के ढङ्ग का है। यह नाटक सोद्देश्य लिखा गया है। इसमें लेखक की समाज-सुधार-भावना और नैतिक दृष्टि का मणिकांचन संयोग है। मध्यकालीन वातावरण और रियासती पात्रों में समाज सुधार की आधुनिक भावना का समावेश बड़ी कुशलता के साथ इसी नाटक में हुआ है। कला की दृष्टि से यह अत्यन्त सन्तुलित कृति है। कथा-सङ्गठन, पात्र, हास्य, शृङ्गार, करुण आदि रस आवश्यक अनुपात में हैं, जो लेखक के उद्देश्य को सिद्धि में सहायक है। यह गुजराती नाटक साहित्य में एक सीमा चिन्ह बनकर आया और सदा अमर रहेगा।

नानालाल के नाटक मुक्तछन्द शैली में लिखे हुए भावनाट्यों की कोटि के हैं। इनके नाटकों में भावना पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वस्तु चरित्र-चित्रण, संवाद आदि पर नहीं। भावाभिव्यक्ति का सौन्दर्य और भाषा सौष्ठव उनकी शैली की विशेषतायें हैं। शैली और गेटे जैसे कवियों के पथ पर ही नानालाल अपने नाटकों में दिखाई देते हैं। स्वयं कवि ने अपने नाटक 'इन्दुकुमार—अङ्क १' की प्रस्तावना में लिखा है—"यह दृश्य नहीं श्रव्य, 'क्लासिकल' नहीं 'रोमांटिक', कालिदास या शेक्सपीयर के ढङ्ग का नहीं शैली के 'प्रोमिथियस अनबाउण्ड' और गेटे के 'फाउस्ट' के ढङ्ग का भाव-प्रधान नाटक है।"

नानालाल ने इस प्रकार के ग्यारह नाटक लिखे हैं। इनमें 'इन्दु कुमार', 'जया अने जयंत', 'प्रेमकुञ्ज', 'गोपिका', 'पुण्य-कथा' और 'जगत्प्रेरणा' कल्पित कथा-वस्तु वाले हैं, 'राजर्षि भरत', 'संघमित्रा', 'जहाँगीर', 'नूरजहाँ', 'शहनशाह अकबर शाह' ऐतिहासिक हैं और 'विश्वगीता' के कई अङ्क पौराणिक हैं। इन सभी में कवि की स्नेह, सेवा, संयम और समन्वय की भावना रहती है। युग की छाप भी सतत साथ रहती है। रवीन्द्रनाथ की भाँति नानालाल ने भी भारतीय संस्कृति की आत्मा को अपने नाटकों में उतारा है। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'जया अने जयन्त' है। द्वापर और कलियुग के संधिकाल को नाटक का विषय बनाया गया है।

गुजराती के प्रसिद्ध कवि 'कान्त' ने भी रमणभाई और नानालाल के साथ इस युग में नाटक की सेवा की है। 'रोमन-स्वराज' और 'गुरु गोविन्दसिंह' इनके दो प्रसिद्ध नाटक हैं जो दोनों अभिनेय हैं। दोनों ऐतिहासिक हैं। इनमें दूसरा नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ कृति है। हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य को शान्त करने के लिये वह लिखी गई है।

नानालाल के बन्द गत २५—३० वर्षों में नाटक भावात्मकता या आदर्शवादिता से यथार्थवाद की ओर मुड़े हैं। इब्सन और शॉ के प्रभाव से उनके कला-विधान में भी अन्तर आया है। कथावस्तु यथार्थ जीवन के प्रसंगों से ली गई है। संवादों में कवित्व के स्थान पर बोलचाल की भाषा का व्यवहार हुआ है।

व्यक्ति का परिवार और समाज के साथ सङ्घर्ष इन नाटकों के मूल में रहा है। नाटक का उद्देश्य मनोरञ्जन न होकर जीवन का विश्लेषण और उसकी समस्याओं का निराकरण हो गया है। संक्षेप में नाटक जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब बन गया है। लम्बे और एकांकी दोनों प्रकार के नाटक इस ध्येय की पूर्ति के लिये लिखे गये हैं। वटु भाई उमर वाडिया, चन्द्रवदन मेहता, उमाशङ्कर जोशी आदि ने इस प्रकार के नाटकों के प्रचार-प्रसार में विशेष योग दिया है।

यथार्थवादी शैली के नाटक और एकांकी का सब से पहला सफल प्रयोग वटु भाई उमर वाडिया ने किया है। इनके नाटक विचार-प्रधान और समस्या प्रधान है। उन्होंने 'मननां भूत', 'अशक्य आदर्शो', 'शकुन्तला रसदर्शन' आदि में नवीन और प्राचीन के मेल की विडम्बना दिखाई है। 'हंसा' 'दाम्पत्य', 'रक्षा' और 'सती' में दाम्पत्य प्रेम को आधार बनाया गया है। 'लोमहर्षिणी' में वाणभट्ट की कादम्बरी से प्रेरणा लेकर जन्म जन्मान्तर के प्रेम सौन्दर्य की कथा कही है। इन नाटकों में संवाद की छटा उनका सबसे बड़ा आकर्षण है। बौद्धिक तेजस्विता दूसरी विशेषता है, जिससे ये नाटक सजीव हो गये हैं। इनके स्त्री पात्र पुरुष पात्रों की अपेक्षा विशेष महत्व के हैं। गुजराती नाटक को नवीनता देकर विकास की दिशा में अग्रसर करने में वटु भाई उमर वाडिया का विशेष हाथ है।

इनके बाद श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का नाम आता है। उपन्यासकार मुंशी ने बारह नाटक लिखे हैं। इनमें ऐतिहासिक नाटक 'ध्रुवस्वामिदेवी' को पौराणिक नाटकों के साथ मिलालें तो छः सामाजिक नाटक हो जाते हैं और छः पौराणिक 'काका नी शशी', 'ब्रह्मचर्याश्रम', 'प्रोफेसर नी पत्नी' आदि सामाजिक नाटकों में व्यङ्ग और हास्य से युक्त मुंशी के व्यक्तित्व की झलक है जबकि पौराणिक नाटकों में मुंशी के भावनाशील-हृदय का दर्शन होता है। ये नाटक रङ्गमञ्च पर सफलतापूर्वक खेले गये हैं। इसलिये अभिनेता इनकी अपूर्व विशेषता है। उनके पौराणिक नाटक भावना प्रधान है। 'अविभक्त आत्मा' में स्त्री और पुरुष की तप और वैराग्य की जड़ता में लिप्त आत्मायें विश्व-सेवार्थ दाम्पत्य रूप में बँधती हैं। 'पुरन्दर पराजय' और 'तर्पण' में दिखाया गया है कि व्यक्ति और उसके एकाङ्गी प्रेम की अपेक्षा समाज और राष्ट्र के लिये बलिदान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'पुत्र समोवड़ी' में मानव स्वातन्त्र्य का शङ्खनाद है, तो 'लोपामुद्रा' आर्य-अनार्य भावना पर चोट है। मुंशी के पौराणिक नाटकों में प्राचीन वातावरण की उपस्थित तो है पर उनका संदेश आधुनिक है। उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' है। ये नाटक कला की दृष्टि से बहुत ऊँचे हैं। उनका चरित्र-चित्रण, संवाद तथा सङ्घर्ष और चरम विकास से गुम्फित कथावस्तु अद्वितीय है और इससे भी बड़ी बात है उनकी रङ्गमञ्च पर अभिनीत हो सकने की क्षमता। ऐसा लगता है कि कुछ घटनाएँ और कुछ पात्र रङ्गमञ्च पर अभिनीति हो सकने के कारण ही मुंशी के नाटकों में आये हैं।

श्री चन्द्रवदन महता गुजराती के आधुनिक नाटककारों में इसलिए सबसे अलग खड़े दिखाई देते हैं कि उन्होंने नाट्य-कला की साधना में ही जीवन बिताया है। पेशेवर नाटक कम्पनियों के नाटकों की बुराइयों से ऊब कर उन्होंने आमेच्योर्स के खेलने योग्य नाटक लिखे हैं। स्वयं एक कुशल अभिनेता होने से उनको यह ज्ञान है कि श्रेष्ठ नाटक के लिए किस-किस बात की आवश्यकता है। उनके नाटकों की संख्या काफी बड़ी है। उनमें 'अखो' और 'नर्मद' जैसे चरित्र-सम्बन्धी नाटक हैं। 'सान्ताँ कुकड़ी' और 'रमकडानी दूकान' जैसे बालकों के नाटक हैं, 'मूँगी स्त्री' और 'त्रियाराज' जैसे प्रहसन हैं, 'संध्याकाल' और 'सीता' जैसे ऐहिहासिक नाटक हैं और 'आग गाड़ी' तथा 'नागा बावा' जैसे यथार्थवादी नाटक हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'आग गाड़ी' है। इसमें रेलवे मजदूरों के जीवन को नाटक का विषय बना कर लेखक ने गुजरात में पहला यथार्थवादी नाटककार होने का गौरव

प्राप्त किया है। इस नाटक में समस्त रेलवे मशीनरी के पहलुओं का दिग्दर्शन कराया गया है। दो अङ्कों के 'नागा बाबा' में भिखारियों की दुनियाँ की झाँकी है। इनके नाटकों ने साहित्यिक और रङ्गमञ्चीय नाटकों के भेद को कम करने में भगीरथ श्रम किया है। गुजराती साहित्य चन्द्रवदन महता का इसलिए ऋणी रहेगा कि उन्होंने नाटक में अभिनेयता के तत्त्वों का चरम विकास किया।

प्रसिद्ध उपन्यासकार रमणलाल वसन्तलाल देसाई चन्द्रवदन मेहता के विपरीत आधुनिक युग के ऐसे नाटककार थे जिन्होंने पेशेवर कम्पनियों के लिए नाटक लिखे उनकी लिखी चार प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनमें एक 'शङ्कित हृदय' गुजरात में अनेक बार खेला जाकर शिष्ट अभिनेय नाटक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका है। इनका दूसरा नाटक 'अञ्जनी' तो एक नाटक कम्पनी के लिए ही लिखा गया था। 'संयुक्ता' ऐतिहासिक नाटक है। 'परी और राजकुमार' में छह छोटे नाटक हैं। रमणलाल के नाटकों की विशेषता है, आवेशपूर्ण संवाद, शृंगारपूर्ण दृश्य, 'कॉमिक' का समावेश और गीत। रङ्गभूमि के अनुकूल होते हुए भी उनमें स्थूल शृंगार की कमी है और गीतों में सङ्गीत और कवित्व दोनों हैं।

नाटक के क्षेत्र में अन्य नवीन प्रयोग करने वालों में प्राणजीवन पाठक, यशवन्त पण्ड्या, कृष्णलाल श्रीधराणी, इन्दुलाल गांधी, उमाशङ्कर जोशी आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्राणजीवन पाठक ने 'आरण्यक' नाम से अपने नाटकों का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें कुछ पर टैगोर की और कुछ पर इब्शन की छाप है। यशवन्त पण्ड्या ने पाँच नाटक लिखे हैं। जिनमें 'पड़दा पाछल' और 'मदन मन्दिर' शैली की विचित्रता और विषय की नवीनता के कारण हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'रस-जीवन' में संवादमय दृश्यों का सङ्कलन मात्र है। 'अखण्ड सौभाग्यवती कुमारी' नाटक विशेष सफल है। 'घर दीवड़ी' में किशोरों के अभिनय योग्य नाटक हैं। शेष तीन नाटककार कवि हैं। श्रीधराणी के एकाङ्की नाटक 'वडला' के गीतों में पक्षी, पेड़-पौधे, तारे सब परस्पर बात करते हैं। यह अपने ढङ्ग का प्रथम गुजराती गीति-नाटक है। 'मोर नां इंडा' में इब्शन और टैगोर की शैली का विचित्र मिश्रण है। इन्दुलाल गांधी के 'नारायणी और बीजा नाटको' नामक कृति से लेकर 'गोमती अने बीजा नाटको' तक पाँच नाटक संग्रह निकले हैं। कवित्व और संवाद-कौशल इनके नाटकों की विशेषता है। उमाशङ्कर जोशी कवि हैं पर नाटक लिखते समय इन्होंने अपने कवित्व को नाटक के विकास में बाधक नहीं होने दिया। 'साप ना भारा' नामक नाटक संग्रह से उन्होंने गुजराती साहित्य में यथार्थवादी एकाङ्की नाटक का सूत्रपात किया है। जैसे गुजराती का पहला लम्बा यथार्थवादी नाटक 'आग गाड़ी' है वैसे ही पहला यथार्थवादी एकाङ्की संग्रह 'साप ना भारा' है। उसमें ग्राम्य-जीवन को नाटक का विषय बनाया गया है। इसमें ग्रामीण पात्रों की बोली—विशेषकर ईडर प्रान्त की बोली—संवादों में प्रयुक्त हुई है। ये सब नाटक करुणरस से पूर्ण हैं और समाज का सच्चा दर्शन कराते हैं।

अन्य नाटककारों में इन्दुलाल याज्ञिक, गजेन्द्रशङ्कर पण्ड्या, मेघाणी, धूमकेतु, ललित, लीलावती मुंशी, हंसा महता, धनसुखलाल मेहता, गोविन्द भाई अमीन, दुर्गेश शुक्ल, गुलाबदास ब्रोकर और चुन्नीलाल भड़िया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने एक-एक नाटक ही लिखा है। धनसुखलाल मेहता अँग्रेजी नाटको के स्वतन्त्र रङ्गभूमि के उपयुक्त रूपान्तर करने वालों में अग्रणी हैं 'धूम्रशेर' नामक उनका एक मौलिक नाटक अभी-अभी पुरस्कृत हुआ है, जिसे इन्होंने गुलाबदास ब्रोकर के साथ लिखा है। श्री चुन्नीलाल भड़िया आधुनिक नाटककारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'वानी मारी कोमल' और 'हुं ने मारी बहू' इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य कितने ही कलाकार नाटक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

राजस्थानी नाट्य-परम्परा*

श्री गोवर्द्धन शर्मा एम० ए०

अपभ्रंश की लीक से हट कर जब देश भाषा अपना निजी स्वरूप महत्ता के साथ व्यक्त कर उठी थी। उसी समय से राजस्थानी में अपनी नाट्य परम्परा के अंकुर स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। डॉ० दशरथ ओझा ने अपने विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में हिन्दी शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए हिन्दी नाटक का उत्पत्तिकाल सत्रहवीं शताब्दी के स्थान पर तेरहवीं शताब्दी संवत् १२८६ वि० माना है। उनके उक्त निष्कर्ष का आधार 'गयसुकुमार रास' नामक एक ग्रन्थ है, जिसकी रचना लगभग संवत् १३०० में हुई थी। यह रासग्रन्थ उस समय का है जब कि अपभ्रंश और राजस्थानी का सन्धिकाल था। डॉ० ओझाजी ने इसे ही हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। इसे ही राजस्थानी का प्रथम नाटक माना जा सकता है क्योंकि इसकी भाषा अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी है। राजस्थानी साहित्य में तब से आज तक अनेक रास और ख्याल लिखे जाते रहे हैं और यह नाट्य परम्परा इतनी अधिक समृद्ध है कि उसका एक छोटे से निबन्ध में उचित मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। अस्तु!

राजस्थानी की अपनी नाट्य परम्परा है। आज दिन भी उन देहातों में, जहाँ आधुनिक युग के वैज्ञानिक साधन और सुविधायें नहीं पहुँच पायी हैं, साँझ होने के बाद ढोलक पर थाप पड़ती है, मँजीरा झनकार उठता है और मशालों के आलोक में ग्रामीण अभिनेता गा उठता है—'आयो अयो रे हरकारो राजा गोपीचन्द रो'। रङ्ग जमता है, सरस कण्ठ से मधुर आलाप, रङ्ग बिरंगे कपड़े, सुनहले जेवर और प्रकृति का खुला हुआ रङ्गमञ्च। जननाट्य सङ्घ ने खुले रङ्गमञ्च का आन्दोलन चलाया था। राजस्थान के लिये यह कोई नई बात नहीं है। ये 'रास' और 'ख्याल' गीत नाट्य की श्रेणी में ग्रहित किये जा सकते हैं।

'ख्याल' संज्ञा से पुकारे जाने वाली ये राजस्थानी रचनायें अनेक प्रकार की और असंख्य हैं। जोधपुर, जयपुर, अजमेर, किशनगढ़, मथुरा, अलीगढ़, कलकत्ता आदि स्थानों से विभिन्न विषयों पर ये ख्याल प्रकाशित होते हैं, और हजारों की संख्या में होते हैं। अनेक प्रकाशक इन्हें बेचकर मालामल हो गये हैं। ये ख्याल इतने अधिक प्रकार के हैं कि शायद ही किसी प्रकाशक के पास अपने प्रकाशित गीति नाट्यों की सूची हो। इसी से उनकी बहुलता का अनुमान लगाया जा सकता है। गन्दी लोक रुचि को उभारने वाले अनेक अश्लील ख्याल छापे गये और अपनी गर्हित वृत्ति के कारण साहित्यिक उपेक्षा के पात्र बने। पढ़ेलिखे लोगों द्वारा इन्हें उपेक्षा से देखा जाने लगा। फिर भी अर्धशिक्षित ग्रामीण जनता के लिए 'ख्याल' कण्ठहार हैं। इस बात को बिना किसी हिचक के स्वीकार किया जा सकता है कि ख्याल लोक-साहित्य के अत्यधिक निकट हैं।

प्रत्येक ख्याल का सङ्घटन एक ही प्रकार का है। प्रत्येक पात्र मञ्च पर आकर स्वयं अपना परिचय जन-समुदाय को देता है। लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के द्वारा 'इन्दर सभा' नामक नाटक खेला गया था। कहा जाता है कि इसकी रचना अमानत द्वारा की गई थी। पात्र का प्रवेश और परिचय जैसा उसमें है, राजस्थानी ख्यालों में भी वैसा ही है। 'इन्दर-सभा' का इन्द्र कहता है—

राजा हूँ मैं कौम का, इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों के दीद के, मुझे नहीं आराम॥

---

* राजस्थानी स्वतन्त्र भाषा नहीं, हिन्दी की ही एक धारा है। इस लेख से हिन्दी नाटकों पर भी प्रकाश पड़ता है। —सम्पादक

ठीक इसी प्रकार 'ख्याल राजा चन्द मलियागिरी' का नायक मञ्च पर प्रवेश करते ही कह उठता है—

'सोम वंश में जनम हमारा,
आया राजा चन्द्र सी।'

इस प्रकार कथनक आगे बढ़ा चलता है। विभिन्न पात्र आते हैं, वार्तालाप होता हैं। मञ्च का रिक्त हो जाना ही नवीन दृश्य का सूचक होता है।

ख्यालों की भाँति ख्याल-लेखकों की भी संख्या बहुत बड़ी है। हिन्दी में आये दिन निकलने वाले जासूसी उपन्यास लेखकों के समान ही इन ख्याल लेखकों को पारिश्रमिक के रूप में बहुत कम मिल पाता है। प्रकाशक २५) अथवा ३०) में अधिकार खरीद लेते हैं और स्वयं मालदार हो जाते हैं। ये ख्याल विभिन्न प्रकार के हैं। यथा—

धार्मिक नाटक—ख्याल पूरनमल भगत को, ख्याल मीरा मङ्गल को, ख्याल नरसी सुता को, ख्याल भगत प्रल्हाद को आदि।

पौराणिक रोमांस—ख्याल नल दमयन्ती को, ख्याल राजा डिङ्ग उरबसी को, ख्याल किसन रुकमणि को आदि।

विशुद्ध प्रेममूलक रोमांस—ख्याल ढोला-मारू को, ख्याल राजा चन्द मलियागिरी को, ख्याल विक्रम नागवन्ती को, ख्याल निहालदे सुलतान को, खेमसिंह आमलदे को, जगदेव कङ्काली को आदि।

ऐतिहासिक—ख्याल राजा चन्द्रसेन को, ख्याल राव रिडमल सोढ़ी को, ख्याल वीरमदे को, ख्याल जैसल तोलादे को।

वीर-पूजा के प्रतीक—ख्याल चौहान को, ख्याल सरवण कुमार को, ख्याल तेजाजी, ख्याल पाबूजी राठोड़ को आदि।

विशुद्ध मनोरञ्जन हेतु—नौटङ्की सहजादा को, ख्याल बुलिया भटियारण को, ख्याल चार भंगेड़ी को।

आदर्शवादी—ख्याल सत् हरिचन्द्र को, ख्याल राजा भरथरी पिङ्गला को, ख्याल राजा मोरधज को, ख्याल राजा बलि को।

वर्तमान समस्या मूलक सुधारवादी—ख्याल रिश्वतरानी को, ख्याल बेटी बेचा को, ख्याल गंजेड़ी भंगेडी को, ख्याल चोर बाजारी को।

यह वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण नहीं है। रामायण और महाभारत कथा भी ख्यालों के रूप में बाजार में मिल सकती हैं। इनके प्रकार बहुत हैं। यहाँ वर्गीकरण करने का उद्देश्य केवल राजस्थानी गीतिनाट्यों अथवा ख्यालों की विषय विविधता की झांकी देना मात्र है। अस्तु।

प्राचीन भारतीय नाटकों की भाँति ही प्रायः सभी ख्याल सुखान्त हैं। कारण स्पष्ट है। भारतीय वातावरण आध्यात्ममय है। हमारी मनसा सदैव 'सत्यमेव जयते' को साकार होते देखना चाहती है। इसीलिए अधर्म पर धर्म की, असत्य पर सत्य की, भौतिकता पर आध्यात्मिकता की, यथार्थ पर आदर्श की विजय दिखाना ही प्राचीन वागीशों व नाटककारों का ध्येय रहा है। राजस्थानी ख्याल इन्हीं लीकों पर चल रहे हैं। इनका लीक से परे हटना ही आश्चर्य की बात होती। इनकी भाषा सदैव सरल और बोलचाल की राजस्थानी (स्टेंडर्ड मारवाड़ी) ही होती है। बहुत से ख्यालों के प्रारम्भ में ग्रंथकर्ता अपना संक्षिप्त परिचय, नाटक लिखने का उद्देश्य आदि का परिचय पाठकों को दे देता है। घटनायें सरल और भाषा सुबोध होती है। चूंकि ख्यालों को अभिनीत करते समय किन्हीं बाह्य उपकरणों पर्दों, सीन सिनेरी के साधनों की आवश्यकता नहीं होती अतः आश्चर्य और कौतूहल के दृश्यों का समावेश नहीं किया जाता। किया जा भी नहीं सकता। हाँ ऐसी घटनायें सूक्ष्म रूप में रखदी जाती हैं।

आधुनिक नाटक का उत्थान श्री शिवचन्द जी भारतीया के प्रयत्नों से आरम्भ होता है। श्री श्रीनाथ मोदी, प्रो० गोविन्दलाल माथुर, श्री गणेशलाल व्यास 'उस्ताद' लक्ष्मण सिंह, गणपतलाल व्यास आदि विद्वान लेखक एकांकी व नाटक लिखते रहे हैं, किन्तु इस क्षेत्र में बहुत कम प्रगति हुई है।

मराठी नाट्य और रङ्गभूमि

श्री श्रीनिवास नारायण बनहट्टी एम० ए०

साधारण तौर पर यह मानी हुई बात है कि मराठी नाट्य और रङ्गभूमि ने भारत के साहित्य और कला सृष्टि में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए रखा है। मराठी प्रदेश में शायद ही ऐसा कोई गाँव होगा जिसमें नाटक के शौक़ीन लोग नहीं होंगे। इस आत्यंतिक नाट्य-प्रेम का सबूत एक बात से हमें मिलेगा। यह निर्विवाद है कि अभी का जमाना रङ्गभूमि के ह्रास का है। सिनेमा ने रङ्गभूमि को ठुकराया और बोलने वाली फ़िल्में जब से आईं तबसे नाटक कम्पनियों का धंधा बरबाद हो गया। अब भी एक व्यवसाय के रूप में नाट्य प्रयोगों का व्यवहार नहीं चल सकता। लेकिन इस हालत में भी यह देखने में आया है कि १९४७ से १९५४ तक बम्बई राज्य के मराठी अंश में कम से कम १२५ मराठी नाटक प्रकाशित हो गए थे और उनमें से बहुसंख्य नाटकों के प्रयोग भी हो चुके थे। नाट्य के बारे में लोगों की लगन इतनी है कि नए नाटकों के प्रयोग जितनी धूम से खुलते हैं उतने ही जोर से पुराने नाटकों के प्रयोग रङ्गमञ्च पर भीड़ मचाते हैं। अगर हम यह ध्यान में लें कि यह क़िस्सा रङ्गभूमि की अवनत दशा का है, तो हम अनुमान कर सकेंगे कि रङ्गभूमि के उत्कर्ष काल में महाराष्ट्र में नाट्य कितने हद तक जारी रहा होगा। ऐसे कई नाटक मराठी रङ्गमञ्च पर आए जिनके अब तक १००० से ज्यादह प्रयोग हो चुके हैं। अण्णा साहब क़िर्लोस्कर का 'सौभद्र', गोविंद बल्लाल देवल का 'शारदा', कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर का 'कीचक वध', 'मानापमान' और 'स्वयंवर', रामगणेश गडकरी का 'एकच प्याला' इन नाटकों के कितने प्रयोग अब तक हुए हैं, उसकी गिनती शायद ही की जा सकेगी। वीर धामनराव जोशी का एक नाटक राक्षसी महत्त्वाकांक्षा ललित-कलादर्श नाटक मंडली के रङ्गमञ्च पर केशवराव भोसले के कार्यकाल में इतना लोकप्रिय था कि उसके सिर्फ़ उस जमाने में ७०० प्रयोग हो गए थे।

मराठी रङ्गभूमि की एक विशेषता शुरू से रही है जो कि अन्य प्रान्तीय रसिकों को विचित्र बेढङ्गी सी लगती है। वह विशेषता है 'सङ्गीत'। हालांकि गद्य नाटक बड़ी संख्या में मराठी रङ्गमञ्च पर प्रयुक्त हुए और उनमें से काफ़ी यशस्वी और लोक प्रिय भी हुए, तो भी आमतौर पर मराठी रङ्गभूमि 'सङ्गीत' रङ्गभूमि ही रहा। रङ्गमञ्च पर प्रभाव संगीत नाटकों का ही रहा और संगीत नाट्य की परम्परा शुरू से १९३० तक अखण्डित रही। अब भी अभिजात (Classical) संगीत नाटक, जैसे कि सौभद्र, शारदा, संशयकल्लोल, विद्याहरण इत्यादि, जब प्रयुक्त होते हैं तब प्रेक्षकों की बड़ी तादाद खींच लेते हैं।

अन्य भारतीय रसिकों के सामने जब मराठी 'संगीत नाटक' आता है तब उन्हें यह एक अनोखी सी चीज मालूम होती है। पात्रों के भाषण गद्य और पद्य इन दोनों से मिश्रित होते हैं; और पद्य राग-ताल सहित शास्त्रीय गायन के तरीके से गाया जाता है। ख्याल कीजिए कि रङ्गमञ्च पर नाटक के एक प्रवेश में पात्रों का सम्भाषण चला है; उनमें एक जन, जो अक्सर नाटक की मुख्य भूमिकाओं में से हुआ करता है, गद्य भाषण करते हुए एकाएक रुककर संगीत में फूट जाता है और आलापों के साथ रागदारी गाना आरम्भ करता है। तान-मींड-आलापों से भरा हुआ उसका गाना कई मिनिटों तक चलता है। इस अवकाश में बाक़ी जो नट रङ्गमञ्च पर होते हैं, उनमें से कोई गाने वाले नट का चेहरा ताकता रहता है, कोई प्रेक्षकों के तरफ़ और कोई विंगों के तरफ़ देखता रहता है। गायन समाप्त होते ही ये सब लोग सतर्क

होते है और फिरसे अभिनय के साथ गद्य सम्भाषण शुरू कर देते हैं। गाने के समय में सब नजारा स्तम्भित हो जाता है, नाट्य वस्तु की गति रुक जाती है और प्रेक्षकगण संगीत के आस्वादन में मशगूल हो जाते हैं। संगीत और गद्य भाषण की ऐसी आवृत्तियाँ नाटक में शुरू से अन्त तक होती चलती हैं; प्रेक्षकगण होश और बेहोशी में आते-जाते चक्राकार मानसिक गति अनुभव करते हैं।

हकीकत में सङ्गीत नाटकों में एक तरह की कृत्रिमता तो है ही; खुद मराठी प्रेक्षकों को भी वह महसूस होती है। लेकिन इसकी दूसरी बाजू भी है। सङ्गीत नाटक में अगर कुछ भी कला-सौन्दर्य न होता तो वह इतने कालावधि तक लोक-प्रिय नहीं रहता। पहली बात जो ध्यान में रखने लायक है वह यह है कि सङ्गीत नाटक का वातावरण अद्भुत और काव्यात्मक-सा रहता है जो गायनानुकूल होता है। सङ्गीत-नाटक के कथानक अक्सर पौराणिक कथाओं पर आधारित या बिलकुल काल्पनिक हुआ करते हैं। दूसरी बात यह है कि सङ्गीत नाटक के पद्य गाने के समय गायक नट या नटी अगर कुशल हो तो वह गाने के साथ अभिनय भी करता या करती है और उसके साथी नट उसे प्रतियोग भी देते है। तीसरी बात जो ठीक पर्यालोचन करने से ध्यान में आयगी वह यह है कि उच्चश्रेणी के नाटककार जो हैं उनके पद्य प्रसंगानुकूल, प्रसाद पूर्ण और सुन्दर होते हैं। अच्छे ढङ्ग के गायक नट की सुन्दर आवाज से उन्हें सुनकर सचमुच ही श्रोता को कलापूर्ण आराम मिलता है। मराठी नाटक की परंपरा ही ऐसी है कि प्रेक्षक गण जब संगीत नाटक देखने जाता है तब वह अच्छा नाट्य और अच्छा अभिनय देखने के अलावा अच्छे संगीत को सुनने की भी अपेक्षा रखता है।

इन सब बातों का अगर हम खयाल करें तो यह प्रतीत होगा कि संगीत नाटक जितना कृत्रिम और त्याज्य कई लोग समझते हैं उतना तो नहीं है बल्कि उसमें एक निराला सौंदर्य है। उसमें अवास्तविकता है। उसमें कृत्रिमता और विकृतता आती है जब संगी का या गाने का अतिरेक होता है, इतना कि नाट् का भाव दबाया जाता है, मारा जाता है। नट अग ठीक समझकर उचित अभिनय के साथ रस के अनु कूल गाएगा तो नाट्य की क्षति नहीं होगी। लेकि इन मर्यादाओं का उल्लंघन कर वह जब तानभीड़ साथ अपना गान कौशल्य दिखाने की जिद करेगा नाट्य तो बरबाद होगा ही, लेकिन सङ्गीत का आस्वा भी उससे पूरा नहीं मिलेगा। संगीत का ऐसा अतिरे और अनौचित्य मराठी प्रेक्षक भी नहीं पसंद करते।

मराठी नाट्य का प्रारम्भ सन् १७४३ में विष् दास भावे ने सांगली में किया। सरदार पटवर्धन रियासत की राजधानी सांगली एक छोटा शहर पूने दक्षिण में १६० मील पर है, वही मराठी नाट्य औ रङ्गभूमि का जन्म स्थान है। विष्णुदास का नाटक पौ णिक था और पद्य ही उसका मूलाधार था। पौराणि कथाओं पर विष्णुदास ने पद्यमय आख्यान रचे थे आख्यान के पद्य सूत्रधार गाता था और बाकी सब पा रङ्गमञ्च पर आकर गाने के अर्थ के अनुसार भाव और क्रिया करते थे। इस तरीके से सूत्रधार का गा और पात्रों का अभिनय बारी बारी से चलता था।

अंग्रेजी विद्या पढ़े लिखे सुशिक्षित लोगों तादाद जब बढ़ने लगी तो पौराणिक नाटकों का जमाना पीछे पड़ने लगा। १७६०—६१ में इचलक जीकर नाटक मण्डली ने गद्य नाटकों को प्रयोग लाने का उपक्रम किया। उनका स्वरूप वाङ्मया और अधिक सुरंगा था। नाटक थे कई स्वतंत्र ऐ हासिक और कई शेक्सपियर के नाटकों से अनुवादि कुछ संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी प्रयोग में लाए ग

रङ्गभूमि के संसार में बड़ा परिवर्त्तन क्रांति समझिए—अण्णा किर्लोस्कर के संगीत नाटक किया। विष्णुदास के पौराणिक नाटकों का गाना गद्य नाटकों का वाङ्मयात्मक सुसंघटित सुडौल स्व इन दोनों का मिलाप किर्लोस्कर ने अपने संगीत ना में किया। पर्दे और सीन-सीनरी का प्रबंध [भारी

का किया। उच्च श्रेणी के गायक और अभिनेता नटों का समुदाय एकत्रित किया। ऐसी सामग्री के संयोजन से किर्लोस्कर का नाटक एक सुस्वादु मेजवानी बन गई।

किर्लोस्करी संगीत नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि उसने मराठी रङ्गभूमि के ऊपर अपना अतुलनीय प्रभाव करीब २५ वर्ष जारी रखा था। उनकी मृत्यु १७७५ में हुई। लेकिन उनकी किर्लोस्कर नाटक मण्डली उनके अनुयायियों में प्रमुख भाऊराव कोल्हटकर ने अपनी मृत्यु (१८०१) तक बड़ी तेजी से और इतमाम से चलाई। नाट्यलेखन में किर्लोस्कर के सम्प्रदायी गोविन्दराव देवल इस जमाने में किर्लोस्कर मण्डली के प्रमुख नाटककार थे।

गद्य-नाटकों का प्रवाह भी इस कालावधि में काफी तौर पर चलता था, अगरचे उसकी तुलना सङ्गीत नाटक से नहीं हो सकती थी। शाहनगरवासी नाटक मण्डली शेक्सपीयर के हैमलेट (विकार विलसित) और ऑथेल्लो (झुंझारराव) इन नाटकों के प्रयोग करती थी; इस मण्डली के प्रमुख गणपतराव जोशी नायक के रूप में और स्त्री भूमिका करने वाले बालाभाऊ जोग नायिका के रूप में अतुलनीय थे। गणपत राव जोशी के अभिनय नैपुण्य की प्रशंसा नाट्याभिज्ञ अंग्रेज लोगों ने की थी।

गद्य रङ्गभूमि में १९०४ में 'महाराष्ट्र नाटक मण्डली' ने एक बड़ा परिवर्तन घटवाया (Brought about)। कृष्णजी प्रभाकर खाडिलकर के लिखे हुए नये ढङ्ग के उच्च श्रेणी के नाटक उसने प्रयोग में लाये। प्रयोग का सुसङ्घटित स्वरूप, पात्रों का परस्पर मेलजुल व समझदार अभिनय इन विशेषों के लिये महाराष्ट्र नाटक मण्डली का रङ्गमञ्च उस समय में ख्यातनाम हुआ था।

भाऊराव कोल्हटकर के बाद सङ्गीत नाटक शास्त्रीय सङ्गीत की तरफ ज्यादा झुकने लगा। सङ्गीत नाटक का एक-एक गाना रागदारी गायन की बैठक समान होने लगा। सङ्गीत की ज्यादा मात्रा और उसका गायकी ढङ्ग नाट्य को हानि पहुँचाता था। यह प्रवृत्ति १९०५ साल से चलकर—जिस साल में नारायण श्रीपाद राजहंस यानी 'बालगन्धर्व' ने रङ्गमञ्च पर प्रवेश किया—आगे बढ़ने लगी। बालगन्धर्व और केशवराव भोसले इन दोनों उच्च गायकों की स्पर्धा में रङ्गभूमि रङ्गभूमि न रही, गायन-भूमि बन गई।

सङ्गीत रङ्गभूमि की इस अवस्था में खाडिलकर सङ्गीत नाटक लिखते थे जो बालगन्धर्व अपने गन्धर्व नाटक मण्डली के रङ्गमञ्च पर प्रयोग में लाते थे। रामगणेश गडकरी के नाटक इसी जमाने के हैं। सङ्गीत नाटक का परम उत्कर्ष १९२० से १९२५ तक के काल में हुआ। इसके बाद जनसमाज की अभिरुचि पलटने लगी।

नए जमाने का नया प्रयत्न १९३४–३५ में हुआ। योरप में उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी हिस्से में नवनाट्य का जो 'टेकनिक' उदित हुआ था उसके अभ्यासी और अभिमानी, नई कल्पनाओं के अनुसार अधिक वास्तववादी और बुद्धिगम्य कला निर्माण करने के लिए बद्ध परिकर होकर, नाट्य का एक तेजस्वी अनूठा प्रयत्न करते देखे गए। 'नाट्यमन्वन्तर' इनके इस प्रयत्न का नाम। सुप्रसिद्ध अभिनेता और दिग्दर्शक केशवराव दाते, नाटककार श्री दि० वर्तक और नाट्य-चिकित्सक के० नारायण काले इसमें शामिल थे। परम्परागत रङ्गभूमि की गिरती हुई इमारत को कुछ आधार देने का प्रयत्न आचार्य प्र० के अत्रे के नाटकों द्वारा हो रहा था।

करीब पन्द्रह वर्ष हो चुके हैं, मोतीराम गजानन रांगणेकर और सौ ज्योत्स्ना भोले इन्होंने 'नाट्य-निकेतन' नामक व्यावसायिक नाट्य संस्था स्थापन करके रंगभूमि को सजीव रखने का श्रेय प्राप्त कर लिया है।

अभी-अभी रङ्गभूमि फिर से जाग्रत हो उठी है। निरन्तर व्यावसायिक रूप में, नाट्यनिकेतन को छोड़कर, कोई सङ्घटना खड़ी हुई देखने में नहीं आती। सन् १९४३ से ४५ तक रङ्गभूमि का शतसांवत्सरिक समारोह बहुतेरे शहरों में ठाटबाट से मनाया गया, उससे लोगों की नाट्यप्रवृत्ति को उत्तेजना मिली है।

उड़िया नाटकों की प्रवृत्तियाँ

श्री उपेन्द्रकुमार दास एम० ए०

उड़िया नाटकों का जन्म हाल में ही हुआ है। पहले भी नाटक किसी न किसी रूप में लिखे जाते थे परन्तु नाटकों का जैसा रूप आजकल है, पहले नहीं था। मुक्त आकाश में जो जन नाट्य होते थे वे मिलकर गाने वजाने और जन साधारण को संतुष्ट करने भर के लिए होते थे। उनमें वार्त्तालाप पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और पात्र या तो राजाओं का। रूप धारण करते थे या हंसी-मजाक करने वालों का इन प्रदर्शनों में नाटकत्व बहुत कम होता था। इनका उद्देश्य केवल पौराणिक व्यक्तियों से जनता को परिचित करना भर था। वैष्णव पाणी और बालकृष्ण महन्ती जैसे कुछ लेखकों ने अवश्य सामाजिकता की ओर ध्यान दिया। वैष्णव पाणी ने कुछ सुखान्त नाटक लिखे। मोहन गोस्वामी ने भक्ति पूर्ण नाटक लिखे जिनमें राधा और कृष्ण के प्रेम की चर्चा रही। किन्तु उनमें भावों की प्रबलता, वास्तविकता या मनोविज्ञान के दर्शन तक नहीं होते थे और न उनमें जीवन जागृति के चिन्ह दिखाई देते थे। इन नाटकों से एक ही लाभ हुआ कि उनके द्वारा जनता में नाटकों के प्रति प्रेम पैदा हो गया।

मध्यकाल में नाटक मुक्त आकाश से हटकर बन्द रङ्गभूमि की ओर आकर्षित हुआ। इनमें सबसे पूर्व लेखक अस्विनी कुमार घोष थे जिन्होंने कई विषयों पर लेखनी चलाई। उन्होंने उड़ीसा के विगत गौरव पूर्ण इतिहास की ओर ध्यान दिया और पुराणों से इतिहास तक दृष्टि डाली। उनका लिखा हुआ 'कोणार्क' अभी तक एक अच्छा नाटक माना जाता है। उसमें जीवन की मात्रा भले ही उतनी न हो पर उसकी उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हैं और विगत गौरव की गाथाओं का सुन्दर प्रदर्शन किया है। अश्विनी कुमार घोष ने नाटक को एक अनिश्चित अवस्था से हटाकर एक स्थिर रूप प्रदान किया। यद्यपि उनमें ज्ञान की बड़ी प्रतिभा नहीं मिलती न उसके वार्त्तालाप में उतनी सजीवता है, पर उन्होंने इतने नाटक लिखे जितने और किसी लेखक ने नहीं लिखे। उन्होंने पाठकों को विगत गौरव का अनुभव कराया। उनका 'भाई' उससे भी बढ़िया गार्हस्थिक नाटक है।

प्राचीन गौरव का वर्णन और भी अनेक लेखकों ने किया है। डॉ० मायाधर मानसिंह का 'बारावटी' और सदाशिवनन्द का 'गजपति' इसी श्रेणी के नाटक है। मानसिंह के वार्त्तालाप में अधिक बल और प्रेरणा है। कालिन्दी चरण पाणिग्रही का 'अम्मपद' अधिक यथार्थवादी नाटक है। उनका अशोक एक मानव है और कलिङ्ग विजय के पश्चात् उसका प्रायश्चित उसकी सज्जनता का द्योतक है। उसका मानसिक विद्रोह मानव मन का पूर्णरूप से परिचायक और आत्मा की विशुद्धता की ओर ले जाने वाला है।

इसके पश्चात उड़िया नाटकों का प्रवेश रङ्गभूमि के द्वार में होता है। इस काल में अधिकतर यथार्थवादी नाटक लिखे गए हैं। विषय और शैली कोई रही हो पर इस काल में जो नाटक लिखे गए उनमें वास्तविकता का ही प्रदर्शन अधिक मिलता है। इस प्रकार प्रयोग करते हुए नाटकों ने वर्त्तमान रङ्गमञ्च का रूप ग्रहण किया। इस बीच निरन्तर उद्योग से नाटकों में मानवता का मान बढ़ता गया और कला का भी विकास हुआ। निश्चय ही नाटकों ने लेखन और प्रदर्शन दोनों में उन्नति की।

इस युग की नाटकीय रचनात्मक कल्पना इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है कि लेखकों ने नाटकों की रचनात्मक शक्ति को लचीला बनाया है और नाटक में सहायक सङ्गीत, प्रकाश और मञ्च-सज्जा का अधिक प्रयोग किया है। युद्ध के बाद के युग में लेखकों ने मञ्च

अभिनेता को अधिक सौन्दर्य प्रदान किया है और सामाजिकचेतना तथा जीवन के यथार्थ तत्त्व नाटककारों की रचनात्मक शक्तियों में मुख्य साधन बने। लेखक अपनी स्वाभाविक शक्ति और सहानुभूति के चित्रण के साथ सामान्य ज्ञान का अधिक ध्यान रखता है। पार्थिव समस्याओं पर ही वस्तु-विधान अधिक तर निर्मित है। इस युग के नाटकों में लेखक की सहानुभूति का सर्वत्र विस्तार मिलता है।

आधुनिक नाटककारों में कालीचरन पटनाइक सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी भाषा शुद्ध उड़िया है हैं जो लाखों व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है और जो सुन्दर है। उनके पात्र जन साधारण की भाषा बोलते हैं। कालीचरन पटनाइक को दृश्य-विधान में श्रेष्ठता प्राप्त है। स्पष्ट ही उनके विषय उधार लिए हुए हैं लेकिन अलङ्कारों का प्रयोग, शुद्ध सम्भाषण और सामाजिक चेतना का भाव, उस विषय को प्रभावोत्पादक और चिरस्मरणीय बना देता है। कालीचरन पटनाइक उड़िया के एक ऐसे नाटककार हैं जिसने आत्मा की वेदनाओं को व्यक्त किया है और भावनाओं का ऊहापोह स्पष्ट किया है। इन्द्रियाँ उनके चरित्र-चित्रण और संवादों से एक लय हो जाती हैं। उनके पात्रों की भाषा सङ्गीतात्मक है और वह सङ्गीत दिव्य है। उनके प्रकृतिवाद के परिणाम स्वरूप स्टेज को आधुनिक नाट्यकला की रचनात्मक योग्यता मिल सकी। उनका 'बेकार' जीवन से पूर्ण है उदारता के साथ ही जिसमें उत्साह, शङ्काओं और भावनाओं का चित्रण है। इनका काल्पनिक दिग्दर्शन कराते हुए लचीले नाटकीय रूप में, जोकि यथार्थवादी दृश्यों से भरपूर है, नाटककार ने सामान्य-विषय को एक अच्छे थियेटर में बदल दिया है। भौतिक भावनाओं को प्रदर्शित करते समय उसने वैयक्तिक निराशा और दीनता में सामाजिक कारणों को भी जोड़ कर नाटककार ने इसे दुखान्तिक तत्त्वों से परिपूर्ण किया है।

भौतिक इच्छाओं को समाज निर्माण का तथा व्यक्तिगत निराशा का मुख्य कारण बताते हुए लेखक ने नाटकों में अत्यन्त करुणात्मक तत्त्वों को भरा है। उसके संवाद तीखे हैं और उसकी तर्क शक्ति सम्पन्न। उसके 'भात' नामक नाटक में जीवन की आधार भूत आवश्यकताओं के लिये रोजी-रोटी की प्राप्ति के लिए वर्ग का सङ्घर्ष चित्रित है और इस प्रकार पूंजीपतियों में अनिवार्य सङ्घर्ष दिखाया गया है। यहाँ सामाजिक चेतना सामाजिक द्वन्द को उत्पन्न करने के लिए चित्रित है। यहाँ धनी वर्गों के लिये विद्रोह पूर्ण घृणा पाई जाती है। उसका 'जयदेव' एक सङ्गीत प्रधान रचना है जिसे नाटक का रूप दिया गया है। लालित्य और भाव सम्पन्नता इसकी विशेषता है।

उड़ीसा की प्रतिमा उसके महान पुत्रों में से एक जयदेव में दिखाई पड़ती है जो प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' का रचयिता था। उड़ीसा के नाटकों में प्रकाश के दान करने में यह नाटक अद्वितीय है। नाटकीय कला की शक्ति एवं दृश्यों की प्रभावोत्पादक शक्ति अद्वितीय है। पुरी के मन्दिर में पूजा का दृश्य यथार्थता से युक्त है। नाटककार की देश भक्ति असीमित है। भाषा, कल्पना तथा अन्य वस्तुयें उड़िया की प्रादेशिक विशेषता को स्पष्ट करती हैं। उड़िया की प्रादेशिक कला सर्वत्र दिखलाई पड़ती है उसका 'अविजन' एक ऐतिहासिक नाकट है जो उड़ीसा के वैभव शाली अतीत का चित्रण करता है उड़ीसा में मञ्च इतने आकर्षक हैं कि केवल साहित्यिक नाटक बहुत कम मिलते हैं। फिर भी श्री कालीचरन पट नाइक इस अभाव की पूर्त्ति के लिये 'फटभूइँ' नामक पद्यात्मक नाटक लिखा है। सुन्दर संवादों और सगीतात्मक शब्दों के द्वारा लेखक ने सुन्दर कवित्व उपस्थित किया है जो श्रवण-सुखद और अभिनेय है।

भञ्जकिशोर पट नाइक 'गोपाल छत्राइ' और रामचन्द्र मिश्रा मुख्य रूप से मञ्च के लिए लिखते हैं। ये मध्यकाल को दर्शकों के सामने लाते हैं। नाटक शान्त किन्तु करुणापूर्ण भावों से प्रारम्भ होता है जो असाधारण भाव दशा की स्थिति तक पहुँचते है। इनमें सामयिक यथार्थता और प्रेरणा

तथा विश्वास मुख्य रूप से रहते हैं। सामाजिक दुर्बलताओं को अनावृत करके उनके विरुद्ध वर्तमान असन्तोष को विश्वास के साथ जगाया जाता है। भाई भानजा, वैरागीर संसार, मानिक जोड़ी, सुलिया तथा अन्य पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और समाज में इनके वर्त्तमान स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

यथार्थवाद स्पष्ट, प्रकृत चित्र तथा शिल्प-कुशलता इन नाटकों को शक्ति देता है। मनोरञ्जनदास देश भक्त है उसका बख्शी जगबन्धु तथा नवाँ अगस्त, भात्रप्रेस्क व देश भक्ति से पूर्ण है। इनके संवाद सीधे और शिल्प सामान्य हैं। उनका 'आगामी' अधिक प्रौढ़ नाटक है। इसमें सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति की गई है।

नरसिंह मोहपात्र आदि मञ्च के लिये लिखते हैं। इनमें सामान्य व्यंग्य और जीवन के सामान्य सत्य रहते हैं। कुछ अन्य नाटककार शाश्वत द्वन्द्वों को भी अपना विषय बनाते हैं। ये न शक्तिपूर्ण है न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उच्च हैं क्योंकि यह प्रौढ़ भावनाओं को अप्रौढ़ जनता के लिए उपस्थित करते हैं जो उसमें भाग नहीं ले सकती या उनका आनन्द नहीं उठा सकती।

एकाङ्की नाटकों का प्रचलन अभी कुछ समय से ही हुआ है। प्राचीन व्यापारिक थियेटरों की रचना का [illegible] नहीं है। और यह अनुभव किया जा रहा है कि एकाङ्की नाटक खड़े नाटकों के समान ही अभिनेय, नाटकीयता की दृष्टि से परिपूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक है।

सूरेन महन्ते का 'सेनापती' गोपीनाथ का 'सरसज्ञा' इस दृष्टि से लिखे गये हैं कि कोई विचार किस प्रकार समर्थ और गम्भीर रूप में रखा जा सकता है। संवाद और ध्वनि की दृष्टि से ये अच्छे हैं। हरेकृष्ण महताब का एकाङ्की नाटक जो कला और पद के द्वन्द को उपस्थित करता है, एक महान् मानसिक चित्र को उपस्थित करता है। यह अपने विचार तत्त्व की दृष्टि से श्रेष्ठ है। इसमें बौद्धिक तत्त्व को नाटक के रूप में रखा गया है।

कभी-कभी एकाङ्की नाटकों के क्षेत्र में दृश्य ही पूरे नाटक को उपस्थित करता है। शिल्प-चातुर्य तथा साधारण अभिनेयता इसे मञ्च के योग्य बनाती है। एक स्थान पर ही पूरे कथा-विधान का अभिनय होजाता है।

नवीनतम आविष्कारों में रेडियो-रूपक बहुत ही प्रचलित हुये हैं जिन्होंने जनता की रुचि का परिष्कार किया है। ये आर्थिक सामाजिक तथा मनोरञ्जन सम्बन्धी विषयों को चित्रित करते हैं। ये बिना पढ़ी-लिखी जनता का साहित्य है और सच्ची जनवादी अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसकी अपनी सीमाओं में बड़ी सुविधा से कलाकार अपनी कला को अभिव्यक्त करता है। शब्द सङ्गीत और पूर्ण प्रभावोत्पादकता इसके साधन हैं। ये उत्तेजनात्मक, लचीले और विचारों की ध्वनियों के अभिव्यक्ति के साधन हैं। ध्वनियों के प्रभाव के कारण ये बड़े मर्म स्पर्शी होते हैं। सरन महन्त नरसिंह, महापात्र, जतीनदास, सेमुअल नायक, नित्यानन्द महापात्र, नवकुमारदास तथा नगेन्द्रराय मुख्य रेडियो-रूपक लेखक हैं। जतीनदास का 'आविष्कार' आधुनिक युद्धास्त्रों की विनाशक शक्ति को दिखाता है। उसका 'मीमांसा' समाज की कृत्रिम सीमाओं का नाश करके, समाज के श्रेष्ठ स्वरूप को उपस्थित करता है। नरसिंह महापात्र का 'सिन्दूर' एक सुन्दर प्रेम कथा को उपस्थित करता है। नगेन्द्रराय का 'नारी' नामक रूपक नारियों की उच्च स्थिति को चित्रित करता है। रेडियो रूपक किसी भी विचार को लेकर लिखे जाते हैं। माइक्रोफोन पर अभिनीत करने के लिये नाटकों और एकाङ्की नाटकों को ढाला जाता है। आकाश वाणी से प्रसारित करने के लिये पद्यों गीतों और सङ्गीत का उनमें समावेश किया जा रहा है। ये अधिक से अधिक जनता का मनोरञ्जन करते हैं।

असमिया अंकिया नाट : (एकाङ्की)

प्रो० विरंचिकुमार बरुआ एम० ए०, पी-एच० डी०

पञ्चदश ई० के आखिरी चरण में श्री शङ्करदेव ने असम में नव वैष्णव धर्म का प्रवर्त्तन किया। धर्म-प्रचार कार्य सुविधापूर्वक चलाने के लिए उन्होंने गीतों, पदों, घोषा (धर्मार्थियों) की रचना के साथ-साथ अंकीया नाटों (एकाङ्की) की रचना प्रणाली चलाई। मैथिली कवि उमापति के 'पारिजात हरण' एकाङ्की से इसकी बहुत कुछ सादृश्यता है।

इन अंकिया (एकाङ्की) नाटों के प्रधान जन्मदाता हुए श्री शङ्करदेव और 'चिह्न यात्रा' उनका सर्व-प्रथम नाटक हुआ। चिह्न यात्रा की पाण्डुलिपि अब भी अप्राप्य है। गुरुचरित से जो कुछ जाना जा सकता है उसके अनुसार उन्होंने कपड़े पर सप्त बैकुण्ठ के पट या चिह्न चित्रित कर मञ्च पर प्रस्तुत किया। सामने रखा गया था एक पर्दा।

श्री शङ्करदेव के अनुयायियों ने भी उनके अनुकरण पर अंकिया नाटों की रचना की। आगे चल कर सत्राधिकार (मठाधीश) होने तथा सत्ता हस्तगत करने के लिए अंकिया नाटों की रचना करना अनिवार्य-सा हो गया। सत्र (मठ) का यह एक आवश्यक नियम मान लिया गया। आज भी यह पद्धति अक्षुण्ण है। इस प्रकार अंकिया नाटों की विशेष चर्चा रही। फलस्वरूप गत पाँच सौ वर्ष के भीतर सैकड़ों नाटक लिखे गये। आज वे कहाँ, कैसे, किस रूप में बिखरे पड़े हैं, कौन बतलावें। उनका कोई पता नहीं लग रहा है।

श्री शङ्करदेव तथा उनके शिष्यों द्वारा रचित नाटकों में जो प्रधान तथा उल्लेखनीय हैं उनकी सारिणी इस प्रकार है :—

१—कालिय दमन, २—रामविजय, ३—रुक्मिणी हरण, ४—पारिजात हरण, ५—केलि गोपाल, ६—पत्नी प्रसाद, ७—भोजन विहार, ८—भूमि लोटोवा, ९—अर्जुन भंजन, १०—पिम्परा गुचोवा, ११—रास झुमुरा, १२—चोर धरा, १३—कोखेरा खेलोवा, १४—भुषण हेरोवा, १५—जन्म यात्रा और १६—उद्धव संवाद।

वैष्णव—धर्म प्रचारार्थ, साधन रूप में इन नाटकों की रचना हुई। ये नाटक वैष्णव धर्म के हथियार थे। राम-कृष्ण के लीला-माहात्म्य का वर्णन, एकशरण भागवती धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तथा भक्त और भगवान सम्बन्धी रहस्योद्घाटन—इन नाटकों का प्रधान विषय हुआ करता था। धर्म के इन पहलुओं का प्रचार करना इन नाटकों की रचना का एक मात्र उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति एवं सामञ्जस्य स्थापन के लिए उन्होंने श्रीमद्भागवत्, हरिवंश, रामायण और महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थों से आख्यान लिये। लौकिक जगत से परे एक अलौकिक जगत की सृष्टि उन्होंने की तथा अपने नाटकों में एक विचित्र अध्यात्म का पुट दिया। आध्यात्मिक जगत की स्वप्निल झाँकी के साथ-साथ सामाजिक जीवन का जीता-जागता चित्र भी इन नाटकों में मिलता है जो बहुत ही मधुर और मर्मस्पर्शी हैं। माधवदेव के सभी नाटकों में श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन बहुत ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है।

इन नाटकों की भाषा भी अपनी एक विशिष्टता रखती है। असमयिा नाटकों की भाषा (व्रजबुली) मैथिली और असमिया भाषा के शब्दों का मिश्रण है। इस प्रकार नाटकों के लिए एक अलग कृत्रिम भाषा की गयी है।

असम के गाँवों, कस्बों जहाँ महापुरुषों के सत्र हैं—वे सत्र ही अङ्कीया नाटों के अभिनय के प्रधान केन्द्र रहे। पर्व-त्यौहारों तथा महापुरुषों की जन्म-तिथि

या मृत्यु-तिथि के अवसर पर अङ्कीया नाट खेलने की प्रथा थी वह आज भी मौजूद है।

अङ्कीया नाटों की कथावस्तु चार भागों में बाँटी गयी है—(१) संस्कृत श्लोक, (२) सूत्र, (३) गीत, (४) कथा।

श्लोक में होनेवाली घटना की ओर इङ्गित किया जाता है। सूत्र में उसका असमिया अनुवाद, गीतों में नायक के कार्यों की रसपूर्ण व्याख्या और कथा में कथोपकथन का सिलसिला रहता है। श्लोक, सूत्र और गीत की मुख्य बातों के बयान, सूत्रधार खुद गाकर सुनाता है। इसके द्वारा अभिनेता के बारे में दर्शकों को स्पष्ट समझने का प्रयत्न करता है।

अङ्कीया नाट के उपर्युक्त वर्णित चार अङ्गों का उदाहरण रुक्मिणी हरण नाटक से उद्धृत किया जाता है—

आज रुक्मिणी का स्वयंवर है। रुक्मिणी स्वयं सभा में आती है। सभा में उपस्थित राजे-महाराजे उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठते हैं। नाटक में इस घटना का वर्णन इस प्रकार है—

"श्लोक—

सखीभिः सह बैदर्भी कृष्ण-दर्शन-लालसा।
ललिता लीलया गत्या जगाम चाम्बिकालयात्॥

सूत्र—तदनन्तर राजनन्दिनी रुक्मिणी सखि सब सहिते कर्पूर ताम्बुल भोजन कय एक सखीक हाते धरिये कहु कृष्ण दरशन निमित्ते परम आकुल चित्ते, लीला गति करिये राजसभा समीप चलल। ता देखह शुनह।

गीत--राग माहुर धनश्री—दोमानि परिताल।
घूँ— चान्दमुखी पेखिते मधाइ,
चललि लीला गति भुवन भुलाइ॥
पद—कनक किंकिनी ध्वनि झलके मञ्जीर मनि
दोले हृदये हेम माला।
चञ्चल लोचन मन हेरये रमणी घन
हरि बयन बर माला॥

सखी सब संगे खेले येचन नक्षत्र मेले
सुचान्द चान्दके कला शोहे॥
रूप रुकमिनी केरि राज समाजे हेरि
परल सबहि मन मोहे॥

सूत्र—तदनन्तर रुक्मिणी नवीन रूप यौवना पेखिये यत राजा सब कामबाणे मूर्च्छित हुया आसन हन्ते ढलि परल। बिह्वल भावै केहो कर जुरि बोलल।

राजासब—हे प्राणेश्वरी, काम सागर निस्तार करह।"

पहले ही कहा जा चुका है कि श्री शङ्करदेव के समय में गाँवों के सत्र समूह ही अभिनय के प्रधान स्थान थे। आगे चलकर आहोम राजाओं की पृष्ठ-पोषकता की नीति के कारण राजसभा और राजनगर में भी नाट्याभिनय का प्रचार शुरू हुआ। फलस्वरूप अंकीया नाटकों में परिवर्तन के दो चिह्न दिखाई पड़े—

१—राम कृष्ण या भगवान को नायक मानकर धर्म विषयक आख्यानों की जगह साधारण लौकिक घटनाओं के आधार पर नाटकों की रचना होने लगी। नायक भी अब भगवान नहीं होने लगा।

२—आगे चलकर राजनीतियों की मनःस्थिति शृङ्गारिक तथा रसात्मक होने लगी।

अंग्रेजों के समय अङ्कीया नाटकों को केवल शहरों से ही नहीं बल्कि देहातों से भी विदा होना पड़ा। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के प्रति लोगों का झुकाव अधिकाधिक होता गया। फलस्वरूप वर्त्तमान बहुतेरे अङ्कीया नाटकों की जनप्रियता कम होती गयी। किन्तु हर्ष का विषय है कि उक्त प्रभाव से मुक्त अङ्कीया नाटकों की चर्चा उन सूत्रों में अब भी सुरक्षित है। असम साहित्य भाण्डार में इन वेजोड़ ग्रन्थों का अपना खास महत्त्व है। लम्बे पाँच सौ वर्षों की पुरानी चीज होते हुये भी जातीय जीवन को एक अपूर्व आलोक दे रही है। हमारे साहित्य के उच्चादर्शों का संस्मरण इन ग्रन्थों में निहित है। इस साहित्य को पाकर असम वासी अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

उत्कल नाटक का संक्षिप्त परिचय

श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

नाटक का शाब्दिक अर्थ होता है अङ्ग परिचालन की भाव-भङ्गी। किसी हूबहू कूढ़काढ़न, ताल लय से मन मुग्धकर भाव से, जो शृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वीर नव-रसों से सम्बन्ध रखता हो और दर्शन से दर्शकों, पाठकों और श्रोताओं के मन में वही भाव पैदा कर दे, उसी को नाटक और कलात्मक दर्शन कह सकते हैं। व्यापक दृष्टि से या दार्शनिक विवेचन से परख की जाय तो सारी दुनिया एक रङ्गमञ्च है और प्रकृति के सारे कार्य-कलाप एक मञ्च के दो नाटक हैं। ये नाटक एक तो शुरू होता है सुबह से शाम तक और दूसरा शुरू होता है रात से भोर तक। लेकिन मानव ने अपने श्रम को शान्त करने के लिये केवल कुछ घण्टों के ललित कलात्मक नाटक की रचना की और मन बहलाने लगा। नाटक विलास की सामग्री रनिवास की वस्तु, और श्रीमानों की क्रीड़ा भूमि बन गया।

अवश्य भारतीय नाट्य-कला में उक्त विचार नहीं थे। वह योगियों, देवताओं के भ्रू-भङ्गी के इशारे की वस्तु था, एक-एक रस की प्रतिमा थे। शिव का ताण्डव दुनिया में प्रलय की निशानी है, विश्वामित्र के क्रोध से लटकते त्रिशंकु चमकता उज्ज्वल तारा है। इन सब नाटकों के लिये शक्ति की जरूरत थी, इसीलिये देवियाँ कभी रङ्गमञ्च में नहीं उतरी हैं। वे मोहक दर्शक थीं। शिव नाचते शिवा देखती, ब्रह्मा नाचते तो ब्रह्माणी देखती और विष्णु नाचते तो लक्ष्मी देखती, इन सब नाटककारों में विष्णु का अभिनय खूब ललित हुआ करता था। कारण वे विलासी थे, मनमौजी थे, सुन्दर-रत्न-शिरोमणि लक्ष्मी के रूप-लावण्य आसव के आश्रयी थे। इसे खुश करना इनका काम था।

भाषाबद्ध नाटक सबसे प्रथम संस्कृत भाषा में आये हैं और उसके प्रथम आचार्य थे भरत मुनि, जो नाटककला जनमङ्गल दृष्टि से कला प्रेमियों के सामने रखा है वह आज भरत नाट्यम के नाम से प्रसिद्ध है। भाषा के नाटकों में मुद्राराक्षस और मालविकाग्निमित्र इसके उदाहरण हैं। जैसे-जैसे जनपद बनते गये जनपदी की भाषा भी बनती गई। उसके मनोरञ्जन के लिये अभिनय भी बनते चले हैं। उसमें उड्रू वा उत्कलिङ्ग जो कलिङ्ग और उड्रू के समन्वय से उत्कलिङ्ग बना और आगे चलकर इंग गायब हो गया, महज उत्कल रह गया, वह भी पीछे नहीं रहा, बल्कि कहा जाय तो आगे ही रहा है। उसका निदर्शन है यात्रा, पाला, गोटिपुअ और दशकाठिया। इस दृश्य काव्य में आज भी नाटक जैसी प्रतिबन्धक नियम नहीं हैं। आज भी इनको बड़े-बड़े कलाप्रेमी, कलाकार और कलाविद इसे घण्टों देखते हैं सुनते हैं परन्तु किसी की हिम्मत आज तक नहीं पड़ी कहें इसमें इतनी मात्रा है, तादिनाता थेई थेई, में ता नहीं बोलता। कम से कम यात्रा तो निरक्षरों की कला साक्षरों का मनोरंजन है, किसी एक कहानी को लेकर ४, ६, घण्टे उसी का अभिनय दिखलाते चले जाते हैं। यह कला भारत के किसी प्रान्त में शायद ही हो, इसमें नृत्य और सङ्गीत की प्रधानता कम होती है, राजे-महाराजे के चरित्र का प्रदर्शन ज्यादा रहता है। इसके लिये रङ्गमञ्च की आवश्यकता नहीं होती। एकदम जनपदी पथ को ही मञ्च और मुक्त आकाश को चाँदनी बना लेते हैं। लाखों रुपये खर्च करके नाट्य-कला का प्रदर्शन और उन्नति साधन करने वाले कलाविद अगर चाहेंगे तो कुछ मिल भी सकेगा। बिल्कुल विशुद्ध जनता का यह नाट्य अभिनय जिसमें न तो एक कौड़ी का शुल्क होता है, न प्रलोभन और विज्ञापन नाट्य-कला प्रेमी बसन्तकाल में या ग्रीष्मकाल में कुछ पुरस्कार देकर बुलाते हैं। आम मार्ग में अभिनय करते हैं, गरीब से

गरीब और अमीर से अमीर अभिनय देखते हैं, सुनते हैं, आनन्द लेते हैं और अपने मुरझाये अखाड़े की झुर्रियों की संकिलन को हास्य मुखरित आनन को प्रसन्नतामय बनाते हैं, वे कुछ घण्टे के लिये सही, भूल जाते हैं कि कल हमारी रोजी का क्या हाल होगा।

यों तो उत्कल साहित्य के प्रधान अंग नाटक की उत्पत्ति का कोई शृंखला बद्ध इतिहास नजर नहीं आता है, परन्तु संस्कृत नाट्य संगीत के आचार्य भरतमुनि की कला से प्रभावित कुछों ने इस ओर नजर घुमाई है।

रामशङ्कर राय ने लिखा है "उत्कल भाषा में कोई नाटक नहीं लिखा गया था। मैंने साहस करके १८८१ में फरवरी १ के दिन प्रथम अभिनय 'कांची कावेरी, नामक नाटक खेला था। यह अभिनय इतना सफल रहा है कि मैंने प्रसन्न हो ११ नाटक लिखे, फिर तो औरों की कलम चली। अच्छे बुरे बहुत से नाटक आए।"

कामपाल मिश्र आश्विनी कुमार घोष, गोदावरीश मिश्र, कविचन्द कालीचरण पट्टनायक, लाला नगेन्द्र कुमार राय, उदयनाथ मिश्र आदि प्रसिद्ध नाटककार हैं।

उत्कल भाषा में जो फिल्में हैं वे सभी असफल रही हैं लेकिन नाटक अभी भी अच्छी अवस्था में हैं। आज भी अच्छे रङ्गमञ्च हैं जहाँ प्रतिदिन नाटक अभिनय होता है जबकि हिन्दी का मञ्च सिनेमा ने लेलिया है।

नाटक मञ्च में प्रसिद्धि लाभ किया है मोहन गोस्वामी, कविचन्द, कालीचरण पट्टनायक। अब इनके रङ्गमञ्च बन्द हैं और खरीद बिक्री में कलाकार कुछ तो बावरी बन्धु के अर्णपूर्णा में गये हैं और कुछ जनता में।

उत्कल में नाटक की हालत शोचनीय नहीं है। डेढ़ करोड़ जन संख्या वाले प्रान्त में जितने नाटक हैं, जितने नाटक लेखक हैं और जितने नाटक अभिनीत होते हैं उससे यह अनुमेय है कि उत्कल का नाट्य रङ्गमञ्च अच्छा है। आजकल कुछ एकाङ्की नाटक लिखने की प्रथा भी चल पड़ी है इनमें डा० हरेकृष्ण महताब, कविचन्द कालीचरण पट्टनायक, उदयनाथ मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(पृष्ठ २० का शेषांश)

यह भी शास्त्रगत लोकधर्मी एवं साहित्यगत प्रकरण, प्रहसन, भाण, प्रहसनी, भाणिकादि के अनालोचन का ही परिणाम है। अन्यथा नाट्य में लोकधर्मी यथार्थ के अभाव में सामाजिक की आश्रय के साथ तादात्म्यापत्ति कैसे सम्भव हो सकती? और फिर भरत के 'लोकानुकरणन्नाट्यम्' के सहस्रधा-आवर्तन का क्या प्रयोजन निकलेगा !!!

हम यह भलीभाँति जानते हैं कि संस्कृत-नाट्य के अन्य तत्त्वों—वस्तु, नेतृ और सङ्गीत—का जीवन के ऊँचे मानों से कोई सम्बन्ध नहीं है, न तो धार्मिक दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से। संस्कृत नाट्य का अकेला सांस्कृतिक तत्त्व जिसे दार्शनिक एवं धार्मिक महत्त्व भी उपलब्ध है, अल्लराज ने अपनी 'रसरत्न प्रदीपिका' (पृ० २—३) में सम्यक् विशकलित विवेचित किया है—"मुनिगण रस का फल पुण्य-मात्र मानते हैं क्योंकि रस के द्वारा रसाधिष्ठित कल्याणमय देवगण तृप्त होते हैं। शृङ्गार के देव विष्णु, हास्य के प्रमथ, रौद्र के रुद्र, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र और अद्भुत के परमेष्ठी हैं। परमपुरुष के तृप्त होजाने से अभीष्ट पुण्य की उत्पत्ति होती है। रस की अनुभूति के आरम्भ से ही जो सुख होने लगता है वह तो एकदम गौण है। जिस प्रकार दान में पुण्य को मुख्य एवं कीर्ति को गौण-फल माना जाता है उसी प्रकार रस में भी पुण्य प्रधान और सुख गौण फल माना जाता है। नाट्याश्रयी देवों की इन रसों से दर्शनजन्या तृप्ति होती है, जब कि यज्ञों से रसनाजन्या।"

उपनिषदों का ब्रह्मन् रसरूप है और रूपकों का रस ब्रह्मरूप है; अल्लराज की दृष्टि में रस वह तत्त्व है "जो अनन्त आनन्द प्रदान करने वाला है एवं साथ ही पुण्य व कीर्ति का भी संवर्द्धन करता है", इसीलिये तो उसने समस्त इस संसार से सुखदायी रस का निषेवण करने की अपील की है :—

"तस्मादनन्तसुखदम्पुण्यकीर्तिप्रवर्द्धनम्।
भजन्तु सरसा लोका रसं संसारसौख्यदम्॥"

—रसरत्न प्रदीपिका (पृ० ३)

भारत के पाँच श्रेष्ठ नाटककार

श्री प्रभाकर माचवे एम० ए०

श्री महेन्द्रजी ने मुझे लिखा था कि मैं 'भारत के पाँच बड़े नाटककार' विषय पर लिख सकूँ तो अच्छा रहे। बहुत विचार करने पर मैंने जो पाँच नाटककार चुने हैं वे अलग-अलग कारणों से 'बड़े' नाटककार हैं। नाट्य-गुणों का एकसा पैमाना सब पर लगाना उचित नहीं होगा। संस्कृत से शूद्रक, मलयालम से कुंचन नंबियार, बँगला से द्विजेन्द्रलाल राय, मराठी से रामगणेश गडकरी और हिन्दी से 'प्रसाद'।

शूद्रक—मृच्छकटिक के कर्ता शूद्रक के बारे में हमें कुछ भी न मालूम होते हुए; और उनकी अन्य कोई कृतियाँ उपलब्ध न होते हुए भी भारत के श्रेष्ठ नाटककारों का जब हम विचार करते हैं तो सबसे पहले शूद्रक का नाम हमारे सामने आता है। यह पहली ऐसी कृति है जो पौराणिकता की अलौकिकता और चमत्कारों से मुक्त है। यह ऐसी रचना है कि जिसमें प्रेम की शक्ति जाति गत तथा आर्थिक बन्धनों को तोड़कर विजयिनी होती है। शर्विलक जैसे पात्र का निर्माण अपने आप में नैतिक मर्यादाओं की रूढ़ियों को तोड़ने वाला है। जब वह दीवाल में संध लगाता है तो अँधेरे में अपने जनेऊ का उपयोग संध नापने के लिए करता है, तब के उसके विचार आज के किसी समाज सुधारक के लिए भी माननीय है। व्यंग की इस तीव्र शक्ति के कारण मृच्छकटिक विदेशों में भी बहुत लोकप्रिय हुआ। जर्मन भाषा में उस पर आधारित एक सम्पूर्ण गीति नाट्य है ऐसा भी मैंने सुना है। यदि विदेश में भारतीय प्राचीन नाट्य परम्परा के कोई तीन श्रेष्ठ नमूने दिखाने हों तो शाकुन्तल, उत्तररामचरित और मृच्छकटिक का चुनाव उत्तम होगा।

मृच्छकटिक के पहले चार अङ्क भास के चारुदत्त का रूपांतर मात्र हैं। संस्कृत का प्राकृत में संक्रमण किस प्रकार से हुआ यह सूत्रधार के भाषण से हम जान सकते हैं। गोपाल आर्यक वाला राजनैतिक अंश जुड़कर कुल कथानक दशांक तक बढ़ता गया। भास के चारुदत्त से मृच्छकटिक में जो अन्तर हैं वे बहुत थोड़े से हैं। राजशासक को यहाँ संस्थानक कहा है और बसंत सेना के अलङ्कार चुराने वाले को शर्विलक कहा है। मुझे एक बार आकाशवाणी दिल्ली के लिए मृच्छकटिक का रेडियोरूपांतर करना पड़ा; तब एक घण्टे के भीतर मृच्छकटिक की सारी विविधता और विभिन्न सामाजिक स्तरीय विशेषताएं संक्षिप्त रूप से दिखलाना कितना कठिन है, यह पूरा पता चला। मृच्छकटिक संस्कृत नाटकों में एक ऐसा नाटक है, जिसमें से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का बहुत पता चलता है; और उसका संक्षेपीकरण इसीलिए सहज संभव नहीं। मैंने प्रतीक मासिक में सन् ५१ में शूद्रक-कालीन समाज-स्थिति पर एक विस्तृत लेख लिखा था।

कुञ्चन नम्बियार—जब मैं शूद्रक से एकदम मध्ययुग में केग्लीय नृत्यनाट्यकार और कवि कुञ्चन नम्बियार पर आता हूँ तो बहुत पाठकों को आश्चर्य होगा कि भारतीय श्रेष्ठ नाटककारों में और बहुत से नाम छोड़कर इस विशिष्ट नाटक पद्धति पर मैं क्यों जोर दे रहा हूँ। एक कारण तो यह है कि मृच्छकटिक की जो जनतन्त्रीय परम्परा है, जो हास्य व्यङ्ग की सूक्ष्म कला से मण्डित समाज-परिष्कार की शुद्ध मानवीय भावना है उसका सर्वोत्तम प्रमाण कुञ्चन नम्बियार में हमें मिलता है। दूसरा कारण यह है कि संस्कृतियों के आदान-प्रदान में जैसे शूद्रक भारतीय-यूनानी नाट्य-परम्पराओं का अद्भुत मिश्रण है; नम्बियार के काल की कला भारतीय चीनी नाट्य परम्पराओं का सम्मिश्रण उपस्थित करती है।

कुञ्चन नम्बियार परिहास पूर्ण रचनाओं के लिये

विख्यात है। राजा आकत पुष्प के दरबार में एक परदेशी ब्राह्मण शास्त्री आये। तब 'कुञ्चन नम्बियार के गुरू को बुलाया गया। उन्होंने रातों रात बारह सर्गों का 'श्री कृष्ण चरित काव्यम्' मणिप्रवाल शैली में लिख दिया। कुञ्चन की रचनाओं में रीतिकालीन कवियों जैसी अनुप्रास और श्लेषादि शब्द-चातुरी खूब है। एक बार सम्मानित कवि, पण्डित, कलाकारों को रोज मिलने वाला सवा दो सेर चावल का सीधा कुञ्चन को पूरा नहीं मिला। सीधा बाँटने वाला 'पण्डाल' (पण्डा) सिर्फ दो ही सेर चावल देता था। तो नम्बियार ने शिकायत राजा के पास की—

'रंडे कालेन्नु कल्पिच्चु, रंडे कालामि नेरखुं।
उंडे कालेन्नु पंडाल, उंडिल्लि नेरखुं॥

[हुक्म मिला था कि 'सवा दो' (रंडे काल) मिलें। पर आज दुपहर के सवा दो (रंडे काल) हो चुके फिर भी पंडाल पूछ ही रहा है कि 'काल्' (सवा) कहाँ है? अभी तक इसीलिये भोजन नहीं मिला।] राजा ने खुश होकर सबके सीधे शुरू कर दिये। नम्बियार 'थुल्लस' नृत्य-नाट्य के जन्मदाता माने जाते हैं। उसमें सामाजिक व्यङ्ग और बुराइयों पर शाब्दिक कशाघात विपुल मात्रा में हैं। चाक्यार और नम्बियार की परस्पर स्पर्द्धा में से थुल्लस का जन्म हुआ। अठारहवीं शती के अन्त में सामन्ती समाज व्यवस्था में घनघोर विलासिता और अधःपतन शुरू हुआ था, उसका खाका नंबियार अपनी रचना में उतारता है। शीतकन, परयन्, ओट्टन् ऐसे तीन वृत्तों का बन्ध इसमें होता है। पहले दोनों बिलम्बित में और तीसरा द्रुत गति से गाया जाता है। 'कुचेल' या सुदामा के चरित पर भी थुल्लस लिखा गया है—गरीबी-अमीरी का और अच्छा चित्रण किस कथा के आधार पर किया जा सकता था।

धनतृष्णा में मग्न ब्राह्मणों पर कुञ्चन नम्बियार ने एक थुल्लस में खूब व्यंग किये हैं। 'सत्या-स्वयंवर' थुल्लस में नम्बियार कहता है—

"ब्राम्हन को पैसे की याद ही काफी है! बुड्ढे जवान हो जाते हैं! केरल से काशी के उस पार जाक भी अगर एक पैसा मिलता हो तो ये वहाँ जायें। यह अठहत्तर बरस का बुड्ढा देखो:—थाली की तर चमकने वाली इसकी खल्वाट् चाँद धूप में ऐसे चमक रही है कि कोई भड़भूँजा मुट्ठी भर चना इस प फेंके तो उसे खीलें मिल जायँ। न छाता, न कुछ। एक लकड़ी पर झुका, खाँसता हुआ धूल से सना यहाँ तक माँगता हुआ आया। और अब अगर इसे एक कौड़ी भी न मिली तो इसके दग्ध हृदय से ऐसा शाप निकलेगा कि मानो पूरा कोसलराज्य हो जाय।"

नंबियार के ये 'थुल्लस' इतने प्रचलित हैं कि आज भी केरल में राजनैतिक दल चुनावों के सम इन 'हनुमान्-भीम-संवादादि थुल्लस का आधुनिक रू काम में लाते हैं। "मैं मन्त्री क्यों न बना?" नामक थुल्लस दस-दस हज़ार की तादाद में जनता रात रात भ देखती है। और दर्शकों में से हर तीसरे मिनट प हँसी के फव्वारे उठते रहते हैं। यह प्रभावशाली गीत नाट्य-प्रकार दर्शनीय है।

केरल का जन-नाट्य जिस पर कुंचन नंबिसार ने अपनी प्रतिभा की मुद्रा लगाई। मूलतः चीनी नाट्य से भिन्न नहीं है। चीन में ईसा पूर्व ग्यारहवीं शती में नृत्य संगीतमय नाट्य प्रचलित था। परन्तु ५८ ईस्वी में बनते बादशाह ने नाट्य को अधिक प्राधा दिया। पहले काल-विभाग में ७२० ईस्वी से ९० तक तअङ्गराज वंश काल में 'तच्युएनखाई' नाम नाट्यग्रंथ रचे गये। वे वीर रस प्रधान थे। शुङ्गवंश के बाद 'हीखिओ' नाटक शुरू हुए, जिसमें एक मु गाने वाला पात्र अवश्य होता था। किन या यु राजवंश-काल में; बारहवीं शती में 'युएन्पेन' औ 'सातकि' नाटक शुरू हुए। 'येन् किया' एकाङ्की हो थे। १२६० से १३६८ में ८५ नाटककार चीन में हु जिनके ५६४ नाटक उपलब्ध हैं।

चीनी नाटकों की विशेषतायें थीं—चेहरे पहनकर अभि नय करना, पीछे से गाने वाले दूसरे पात्र, एक ही ना

में पौराणिक-अतिलौकिक पात्रों के साथ सामाजिक व्यंग-प्रधान पात्रों का प्रयोग, रङ्गमञ्च पर मृत्यु, जादू, चाबुक मारना, भूत इत्यादि दिखाना, राजा या सामन्त का दासियों और हलकी स्त्रियों के साथ गुप्त प्रेम इत्यादि, पात्रों की अनेक स्थानों में यात्राएँ आदि। स्थल-काल इत्यादि त्रिसंकलनों का पूरा निषेध मिलता है। यह बातें थुल्लस कथकली आदि में भी पाई जाती हैं। किसी शोध-कर्ता को चाहिए कि वह भारत की गीति-नाट्य परम्परा का एशिया के बृहत्तर परिपार्श्व में पूरा अध्ययन करे। जिसमें 'पुत्तलिका नृत्य' और जावा मलय आदि द्वीपों की 'वयंग' आदि छाया नाटकों का भी अध्ययन हो।

४ 'द्विजेन्द्रलाल राय'—क्लासिक-युग के शूद्रक और मध्ययुग के नम्बियार के बाद एक दम बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय की चर्चा, सहसा हमें आधुनिक काल और अँग्रेजी शिक्षा और शेक्सपीयर के अध्ययन के प्रभाव पर ले आती है। अध्यापक प्रियरञ्जनसेन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'वेस्टर्न इन्फ्लूएन्स इन बंगाली लिटरेचर' में पृ० १९१ पर द्विजेन्द्रलाल के सम्बन्ध में उल्लेख है। उनकी गद्य-शैली पर भी अंग्रेजी गद्य-शैली का गहरा असर है।

श्री हंसकुमार तिवारी ने अपने बंगला और उसका साहित्य में सही बात कही है—"नाट्यकारों में द्विजेन्द्रलाल राय बड़े मशहूर हुए और उनके नाटक भी बड़े लोकप्रिय हुए। रङ्गमञ्च पर उनका बार-बार अभिनय होता रहा और आज भी वे चाव से खेले जाते हैं। किन्तु सच पूछिये तो नाट्य-कला की दृष्टि से उन नाटकों में काफी दोष हैं। चरित्रों का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है, कथानक में प्रवाह नहीं है। देश-काल-पात्र का सामंजस्य नहीं रह पाया है और कथनोपकथन में बड़ी कृत्रिमता है। इस सब-कुछ के बावजूद जो उनको इतनी प्रसिद्धि मिली, उसका एक कारण उनकी काव्यकुशलता है।" (पृ० १०६)।

ना० प्र० सभा के हीरक-जयन्ती ग्रंथ में श्री उपेंद्रकुमार दास ने विगत साठ वर्षों के बँगला साहित्य का सिंहावलोकन' करते हुए जो ५४ पृष्ठ लिखे हैं उनमें नाटककार द्विजेन्द्रलाल पर दो वाक्य हैं—'ज्योतिरीन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रलाल और क्षीरोद प्रसाद ने शेक्सपीयर के आदर्श पर ऐतिहासिक अथवा इतिहास का सहारा लेकर नाटकों की रचना की। इनमें भी द्विजेन्द्रलाल राय और क्षीरोदप्रसाद के नाटक अधिक लोकप्रिय हुए। (पृ० ४६५)।

द्विजेन्द्रलाल राय की नाट्यसृष्टि की लोकप्रियता का क्या रहस्य है? वह न केवल शेक्सपीयर की अनुकृति में है; न उनके देशभक्तिपूर्ण-समूहगानों में। उन्होंने 'बंग-जननी' की एक साकार मूर्ति सी जनता के सामने खड़ी कर दी। द्विजेन्द्रलाल राय ने युग की नब्ज को पहचाना, उस समय के उठते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में जो पुनरुत्थानवादी स्वर था उसको अभिव्यंजित किया। जनता को जैसे उसके मनकी प्रतिगूँज मिली। द्विजेन्द्रलाल राय न केवल बंगाल में, पर हिन्दी में भी अनूदित हुए। और मैंने अपने बचपन में और कालेज के दिनों में हिन्दी में धूम-धाम से डी० एल० राय के मेवाड़-पतन, दुर्गावती और चन्द्रगुप्त के अभिनय होते देखे हैं।

बाद में हमने अपने कालेज की पढ़ाई में शेक्सपीयर पढ़ा। तब इंदौर क्रिश्चियन कालेज में १९३४ तक हिन्दी नाम का कोई विषय था ही नहीं। और बाद में सन ४२ में अंग्रेजी साहित्य के एम० ए० के लिये विशेष अध्ययन शेक्सपीयर का किया; और टी० एस० इलियट महोदय का प्रसिद्ध निबन्ध 'शेक्सपीयर एन्ड स्टाईसिज्म' भी पढ़ा। तब पता लगा कि क्यों किंग-लीयर और इतजाहान अपने नाटकीय संवादों में किस तरह 'आत्म-दया' (सेल्फ-पिटी) के भाव से प्रपीड़ित हैं, और जिसे इलियट ने 'ची अरिंग वनसेल्फ अप' कहा है, वह करते हैं। इस सारी चर्चा को लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?' भूमिकायें (राक्षस का मन्दिर) द्विजेन्द्रलाल राय के शेक्सपीयर से लिये मृत्यु-प्रेम और अर्द्ध-रोमांटिकता की जो प्रखर आलोचना की है, उसके प्रकाश में पढ़ जाइये तो

लगेगा कि द्विजेन्द्र को हम श्रेष्ठतम पाँच नाटककारों में रखें या नहीं।

राम गणेश गडकरी—डी० एल० राय के बाद हमारा ध्यान मराठी के रोमांटिक कवि और नाटककार रामगणेश गडकरी की ओर जाता है। अपने छोटे से जीवन में—वे केवल चौंतीस बरस जिये—इस प्रतिभा के धनी लेखक ने सिर्फ पाँच नाटक लिखे। जिनमें का अन्तिम नाटक तो अपूर्ण ही है; परन्तु साहित्य-मन्दिर में उनका स्थान अमर हो गया। प्रथम महायुद्धोत्तर काल के मराठी साहित्य में रामगणेश गडकरी और भार्गवराय विट्ठल बोरकर यह दो प्रतिभाशाली नाट्यकार सामने आये, मामासाहेब बोरकर अभी जीवित हैं। अतः उन्हें इस पञ्चक में हमने नहीं लिया परन्तु गडकरी ने मराठी में एक नये प्रकार के सामाजिक समस्या नाटक की, काव्यात्मक संवादों की और गहरे दुःखान्त परिणाम कारक अन्त की नयी परम्परा निर्माण कर दी। उनके पाँच नाटकों में केवल 'वेडयांचा बाजार' (पागलखाना) एक प्रहसन है, जिसमें हर पात्र को कोई न कोई खब्त सवार है और वह औरों को भी उसी में रँगना चाहता है। इसी की प्रेरणा से आगे चलकर प्रह्लाद केशव अत्रे ने 'साष्टाङ्ग नमस्कार' लिखा जिसमें हर पात्र का अपना प्रिय व्यवसाय है, और वह अतिरेक तक उसे ले जाता है और हास्यास्पद बन जाता है। गडकरी का हास्य भी अपने ढङ्ग का था। 'बालकराम' नाम से उन्होंने परिहासमय निबन्ध लिखे हैं, वे अनोखे हैं। उनके हास्य पर उर्दू थियेटर में छनकर आयी हुई मोलियर परम्परा का प्रभाव दिखाई देता है। पर उनके निर्माण किये हुए कुछ हास्य के पात्र साहित्य के इतिहास के ही नहीं परन्तु महाराष्ट्र के जीवन के अङ्ग बन गये हैं; जैसे हमेशा भूलने वाला गोकुल; स्त्री जाति को सन्देह से सदा देखने वाला सुदामा, शराबी तलीराम इत्यादि।

परन्तु गडकरी की प्रतिभा के सच्चे दर्शन गम्भीर नाटकों में मिलते हैं। वि० खांडेकर ने 'गडकरी' पर जो साढ़े चारसौ पृष्ठ का बृहद् आलोचनाग्रंथ लिखा है, उसमें उनकी प्रतिभा के चमत्कार के स्फुलिंगों का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर को गडकरी गुरु मानते थे और वि० स० खांडेकर भी उसी शिष्य परम्परा में हैं। गडकरी ने अछूते विषयों को छुआ और सामाजिक आशय की दृष्टि से रङ्गमञ्च पर जैसे क्रान्ति कर दी। नाटक अब निरे मनोरञ्जन का नहीं पर समाजोत्तोलन का भी एक प्रमुख अस्त्र बन गया।

हिन्दी के उपन्यास 'परख' की तरह, या हाली के काव्य 'मुनजते बेवा' की तरह, या मलयालम के लेखक की कथा 'इन्दुलेखा' की तरह 'प्रेमसन्यास' नामक गडकरी के नाटक का विषय भी हिन्दू विधवा है। बाल-विधवा की अतृप्त लालसाएँ और प्रेम का प्रसङ्ग नया नहीं है। परन्तु गडकरी उसे 'रोमियो एण्ड जूलिएट' की हद तक पहुँचा देते हैं। परख का नायक सत्य कष्टों से विदा लेता है—दोनों के रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं। पर प्रेमसन्यास के जयन्त और लीला जहर ले लेते हैं—और मृत्यु में उनका अखण्ड मिलन होता है। गडकरी का यह पहला नाटक कुछ अनगढ़ है, रङ्ग इसमें भड़कीले हैं। पर उत्तरोत्तर उनकी कला विकसित होती है।' 'पुण्य प्रभाव' में सतीत्व की समस्या है—नारी और पुरुष के परस्पर सन्देह का चिर-प्राचीन, फिर भी चिर नवीन विषय है। अर्थल्लो और सहायकल्लोल उसी में से थे। इस नाटक में एक प्रकार की क्लासिक भव्यता है, जो उनके अन्तिम नाटक 'राजसन्यास' के लिए उनकी लेखनी की धार को पैना बनाती है।

अगले तीन नाटक गडकरी की प्रतिभा का सर्वोच्च चमत्कार हैं। 'एकत्र प्याला' (एक ही प्याला) वैसे तो नशेबंदी या शराबखोरी के विरोध में लिखा हुआ समाज सुधार वाला नाटक जान पड़ता है; परन्तु उसमें चरित्र-चित्रण की खूबी ऐसी है कि एक-एक रेखा स्पष्ट उभरती जाती है :—सुधाकर, सिंधु, रामलाल, गीता, तलीराम—सब महाराष्ट्र के चिर-परिचित पात्र हैं। इस अकेले नाटक के आज तक अक्षरशः हजारों

'प्रयोग' (अभिनय या खेल के लिए मराठी शब्द) हो चुके होंगे। कई हजारों सिंधुओं ने अपने दुर्व्यसनी पति सुधाकर की मदिरा-प्रियता के आगे अपने शिशु की निर्घृण हत्या देखी होगी और फिर भी सतीत्व के किस प्रचण्ड, पुरातन, महासंस्कार के पुण्य से इतना बड़ा ज़हर का घूँट वह पी गयी होगी! सिंधु भारतीय नारी की सजीव प्रतिमा है। शरतचन्द्र के नारी-पात्र जैसे उसमें सिमिटकर समा गये हैं। गडकरी की भाषा का कमाल इस नाटक में देखते ही बनता है। आश्चर्य है कि जब राष्ट्रीय सरकारें शराबबंदी पर नये गान-नाटक 'पर आर्डर' लिखवाले रही हैं तब इस जबर्दस्त कलाकृति का अनुवाद की तरह उपयोग वह क्यों नहीं करतीं? इस नाटक की समूची रचनायें ऐसी एक अनिवार्यता है, एक नियतिप्राय: अबाध्य गतिमयता है कि इसे स्टेज पर देखकर कोई भी व्यक्ति गडकरी की इस अमर कृति को भूल नहीं सकता। और जब सोने में सोहागे की तरह गडकरी की लेखनी के साथ-साथ बाडेस-बालगंधर्व जैसे नटवर्यों की जोड़ी उसे मिली होगी। उन दिनों इस एक अकेले नाटक ने गन्धर्व नाटक कम्पनी को ५७०००) का मुनाफा दिया, यह बात अविश्वसनीय नहीं जान पड़ती। 'भावबंधन' में आकर गडकरी की प्रतिभा कई समस्याओं को एक साथ गूँथने गयी और उतनी सफल न हो पाई। यद्यपि सफल नाटक के लिए आवश्यक मसाला इसमें भी खूब था और कामण्णा जैसे पात्र ने बरसों तक दर्शकों को झुलाया। परन्तु कथानक इसमें झीना पड़ जाता है। 'राजसन्यास' गडकरी की सर्व श्रेष्ठ कृति है। उसका गद्य सुपुष्ट और समृद्ध गद्य का एक अद्वितीय नमूना है आजतक कोई इस अधूरे नाटक को पूरा नहीं कर सका है।

जयशङ्कर 'प्रसाद'—अब अन्त में मैं 'प्रसाद' पर आता हूँ। काल-क्रम से वे अन्त में आते हैं। प्रसाद में शूद्रक की-सी समाज के व्यङ्गों पर आघात करने वाली छिद्रान्वेषी दृष्टि नहीं है; प्रसाद में कुञ्चन नंबियार का हलका फूलका ग्राम्य कला की श्री से आप्यायित ताजा गाथा-रस नहीं है; प्रसाद में प्राचीन और मध्ययुग का वह 'साधारणीकरण' नहीं है, जो उन्हें 'विशिष्ट' बना देता। पर प्रसाद में द्विजेन्द्रलाल राय और गडकरी के सब गुण मौजूद हैं जो कि रोमांटिक लेखक में होते हैं। एक अलस-मदिर तन्द्रिलता एक अर्द्ध-स्वप्निल दृष्टि; जीवन के यथार्थ से बचती हुई, अर्धोन्मीलित, अतीत की छाया कुहेलिका में रमने वाली वृत्ति; टूटती हुई सामान्ती व्यवस्था की चरमराहट को प्राणों की विकल वीणा की क्रीड़ा से ढाँकने की कसमसाहट; सन्धिप्रकाश के समय का प्रतीचीके क्षितिज पर ठिठका सा अस्तोन्मुख दिनमान का म्लान-सिन्दूर बदन; तलछट से छक कर वेदना का और सार निकालने की मधुमती भूमिका; कला के रूप शिल्प पक्ष पर वर्णों के अतिरिक्त संवार-सिङ्गार पर आग्रह; सभी पात्रों में स्वयम् बोल रहे हों—सभी पात्र छायावादी संभाषण-कथनोपकथन कर रहे हों ऐसा आभास; अघटनीय को घटित और चमत्कृति को सहज बनाकर दिखाने का इन्द्रजाल—ये हैं प्रसाद की तूलिका के उपकरण! स्पष्ट है कि ये स्वच्छन्दतावादी गीति-काव्य-प्रवेण कलाकार के उपकरण हैं। नाटक का माध्यम इन नवनीतकोमल उँगलियों में आकर कोई और ही आकार ग्रहण करेगा। नाटक तो आर्केस्ट्रा है; वहाँ यह सारङ्गी की झीनी पर्देदारी कहाँ! नाटक में तो कई संवादी-विसंवादी स्वरों का सङ्गम है, वहाँ प्रसाद की एकान्त में चाँदनी में बजाई हुई उस पार की दर्दभरी बाँसुरी कहाँ? फल यह है कि आलोचकों को सन्देह होने लगता है कि प्रसाद सफल महाकवि थे या सफल नाटककार?

इस प्रसङ्ग में प्रसाद की तुलना अन्य रोमांटिक नाटककारों से करनी चाहिये: शैले से, रवीन्द्र से, मैजलिङ्क से, बेन जानसन से। हम एक विचित्र निर्णय पर पहुँचेंगे। ये भाव वेग प्रधान कवि नाटककार वस्तुतः दार्शनिक नहीं हैं। (जैसा कि उनके प्रशंसक खींचतान कर उन्हें सिद्ध करना चाहते हैं), वे निरे संवेदनशील रसज्ञ हैं। रस भी यहाँ ब्रह्मानन्द सहोदर

नहीं, 'नाना रूप-वर्ण-गन्ध-रसमय पृथ्वी का स्वाद ग्रहण करने वाले' ये इन्द्रिय-सुख से पराजित परन्तु पराजय स्वीकार न करने वाले लेखक हैं। इनकी आदर्शवाद की पहनी हुई प्रतिसीरा बहुत झीनी है। इनकी प्रतिभा का यौवन उसमें से फूट-फूट पड़ता है। मूलतः और अन्ततः ये निरे आनन्दवादी लेखक हैं।

परन्तु आनन्दवाद का खुले समर्थन वे कैसे करें? सो अलग-अलग तरह से प्रतिभा प्रयोग कर उठती है। 'करुणालय' पहला गीति-नाट्य बन जाता है, 'कामना' पहला अन्यापदेशिक रूपक, 'एक घूँट' पहला समस्या-एकाङ्की।

'प्रसाद' की ओट लेकर हमारे कई दर्शन से कोरे, छिछले रसाभासवादियों ने बड़ी गहरी डुबकियाँ ली हैं, और इन्द्रिय-सुखवाद (हिडोनिज्म) को ब्रह्मानन्द का पर्यायवाची मान लिया है। पर 'प्रसाद' के निकट वे पर्यायवाची नहीं थे। उनके मत के भीतर निरन्तर एक पुनरुत्थानवादी भेरी बजाता हुआ 'हिमाद्रितुंग श्रंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' ललकारता जाता था। तभी उन्होंने लिखा 'विशाख' की भूमिका में—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है। उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण संदेह है।" रोमांटिक दृष्टि का इतिहास के प्रति यही रुख होता है। वह जितना धुँधला अतीत हो, उतना ही वह प्रिय है। रोमांस का सारा खेल ही इस बात पर निर्भर करता है कि 'मंजिल' या 'साहित्य' सदा अज्ञेय रहती है। 'कामायनी' में इस वृत्ति के पूरे दर्शन होते हैं। वेद की इडा या वेद के मनुवैवस्वत कुछ भी रहे हों, प्रसाद ने उन पर अपनी स्वप्न पुरी (ड्रीम लैंड) की मोहिनी पूरी तरह डाल दी है।

इसलिए प्रसाद के ऐतिहासिक पात्र ऐतिहासिक नहीं रहते—वे काल्पनिक गाथाओं की रङ्ग-बिरङ्गी काष्ठ-पुत्तलिकाओं की भाँति सङ्कल्पशून्य, सहसापरिवर्ती, विचित्र, अर्धेकमानवी तुमी अर्धेक कल्पना हो जाते हैं। इसका भी अपना एक आनन्द है, महत्त्व है, माना, पर आलोचक बड़ी भूल करते हैं। जब वे स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, या अजातशत्रु को इतिहास के उन्हीं नामों वाले पात्रों से तौलने लग जाते हैं। 'प्रसाद' की प्रतिभा के रसायन की प्रसादी पाकर ये पात्र 'और ही गति' प्राप्त कर लेते हैं। देवसेना, विजया, जयमाला, मंदाकिनी सब एक दम प्रसाद की मानस पुत्रियाँ हैं। भटार्क और अनन्तदेवी के संबंध का, तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मिलन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। और इसी तरह के रोमांटिक चिंतन का परिणाम है। 'उग्र' के महात्मा ईसा में बेचारे ईसामसीह को भारतवर्ष में ले आना।

रोमाण्टिक चिंतन का एक अनिवार्य परिणमन है नियतिवाद में विश्वास। 'प्रसाद' के सारे अवसाद-विषाद का कारण वही अंधी 'नियति-नटी' है। वह जब चाहे तब बनारस की किसी भी गली में चली आने वाली सुहागिन की अर्थी की भाँति प्रकट हो जाती है। मूलतः देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास या चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का शब्द-छटा-मोह इन उपकरणों से औत्सुकता निर्वाह की इस प्रबल लालसा से बहुत दूर नहीं है। परन्तु यह अच्छा ही हुआ कि 'प्रसाद' अभिनीत नहीं हुए। नहीं तो बहुत सी बातें ऐसी विपरीत लगतीं कि लेखक एक रस निर्माण करना चाहता है और स्टेज पर उससे विपरीत सृष्टि होती। लेखक रुलाने को कहता, दर्शक हँसते। क्योंकि आधुनिक नाटक दर्शक की अभिरुचि प्रसाद-काल से बहुत भिन्न हो चुकी है।

हिन्दी-नाटक साहित्य

डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी में नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से माना जाता है। उससे पूर्व के नाटक अधिकांशतः ऐसे थे जिन्हें या तो नाटक कहा ही नहीं जा सकता था, या ऐसे थे जो अनुवाद थे, या हिन्दी की किसी बोली विशेष में लिखे हुए थे।

हिन्दी के आधुनिक युग का आरम्भ भारत में अँग्रेजों के पैर जमने के समय से ही हुआ माना जाना चाहिए। कलकत्ते में अँगरेजों ने अपने मनोरञ्जन के लिए रङ्गमञ्च स्थापित किये। इनके अनुकरण में कितने ही प्रदेशों में रङ्गमञ्च बनाये गये। हिन्दी के क्षेत्र में राजाओं और नबाबों ने भी इस प्रकार के प्रयत्न किये। अवध के नबाब के यहाँ 'इन्दर सभा' के अभिनय का आयोजन हुआ। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के पति को नाटकों के अभिनय में अभिरुचि थी। उनके निर्देशन में राज-भवन में नाटक होते थे। अतः हिन्दी-क्षेत्र में भी रङ्गमञ्च की स्थापना के उद्योग हुए, पर इस आरम्भिक-काल में वे राजाओं और नबाबों की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करते रहे। ऐसे रङ्गमञ्चों पर जो नाटक खेले गये उनका उद्घाटन अभी नहीं हुआ। उन पर अभी कोई विचार नहीं प्रकट किया जा सकता। अतः यह कह सकना कठिन है कि रङ्गमञ्च की दृष्टि से लिखे गये इस काल के नाटकों का क्या स्वरूप था।

किन्तु यहीं से हिन्दी में नाटकों की दृष्टि से द्वैत प्रस्तुत हो गया। रङ्गमञ्च राजाओं और नबाबों के क्षेत्र में से निकल पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के हाथ में चला गया। इन रङ्गमञ्चों पर व्यावसायिक नाटक खेले जाने लगे। इतिहास इस बात को जानता है कि एक ऐसी ही कम्पनी में एक नाटक का अभिनय देखते समय भारतेन्दुजी को मर्मान्तक पीड़ा हुई थी। वे नाटक के नाम से होने वाले उस तमाशे को पूरा देख भी न सके थे। यहीं से उन्होंने अभिनेय नाटक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अपने रङ्गमञ्च की स्थापना भी की। उस पर कितने ही नाटक खेले भी, पर यह साहित्यिक रङ्गमञ्च पनप न सका। यह साहित्यिक रङ्गमञ्च तो मृत प्राय हो गया, पर हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की परम्परा का जन्म अवश्य हो गया। पारसी स्टेजों के लिए लिखे जाने वाले नाटक, उस रङ्गमञ्च तक ही आरम्भ में सीमित रह गये—साहित्य के क्षेत्र में उन पर चर्चा करना भी असाहित्यिक कार्य समझा गया। इधर साहित्यिक नाटक रङ्गमञ्च के प्रकृत क्षेत्र से विलग हो कर साहित्य की एक विधा के रूप में पनपने लगे।

भारतेन्दुजी के समय के नाटकों पर दृष्टि डालने से यह तो स्पष्ट विदित होता है कि इस युग में नाटकीय हलचल प्रमुख थी, क्योंकि इस काल के साहित्य का एक विशाल अंश नाटकों के रूप में मिलता है। उन नाटकों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट विदित होता है कि इस काल में नाटकों में शैली-वैविध्य भी प्रचुर था, उनके उद्गम का क्षेत्र भी इस वैविध्य से भिन्न प्रतीत होता है।

भारतेन्दु जी के समय में एक शैली 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की थी, दूसरी 'चन्द्रावली' की, तीसरी 'भारत दुर्दशा' की, चौथी पाखण्ड-विडम्बन की, पाँचवीं 'महाराणा प्रताप' की, छठी 'प्रल्हाद' नाटक की, 'अन्धेर नगरी' की सातवीं—इन शैलियों के स्रोतों और प्रवृत्तियों को यों समझा जा सकता है—

(१) सत्य हरिश्चन्द्र—(मौलिक नये निर्माण का पूर्व रूप) आचार के आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए।

(२) चन्द्रावली—(रास परम्परा के नये निर्माण के संकेत के लिए) व्यक्तित्त्व के अध्यात्मिक तत्त्व को भक्तिमय करने के लिए।

(३) **भारत दुर्दशा**—(बङ्गाली लघु नाटकों की परम्परा में) राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने के लिए।

(४) **पाखण्ड विडम्बना**—(प्रबोध-चन्द्रोदय की आध्यात्मिक रूपक शैली की परम्परा में, अनुवाद की शृङ्खला की एक कड़ी) धार्मिक दार्शनिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए।

(५) **महाराणा प्रताप**—(मौलिक ऐतिहासिक, नवीन शैली को परिमार्जित करने के प्रयत्न के रूप में) वीर भावों को जागृत करने के लिए।

(६) **प्रह्लाद नाटक**—(स्वाँगों की परम्परा का एक लिखित रूप) मनोरञ्जन के तत्त्व से युक्त धार्मिक।

(७) **अन्धेर नगरी**—(प्रहसन) व्यञ्जना लिये हुए हास्य।

इस विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस युग के नाटककार विविध प्रेरणाओं से युक्त होकर विविध शैलियों में प्रयोग कर रहे थे, जैसे वे ढूँढने की चेष्टा में हों कि किस शैली में नाटक-कला सबसे अधिक सफलता पूर्वक अभिव्यक्त हो सकती है। यथार्थ बात यह थी कि इस युग का कलाकार जीवन के बहुत घनिष्ठ सम्पर्क में था और वह जीवन के प्रवाह में उपस्थित विविध लहरों की उपेक्षा नहीं कर सकता था, जीवन में इस समय एक उत्साह और जागरण था। जीवन स्वयं विविध प्रकार से समृद्ध होकर बलवान होना चाहता था। इस युग के विचारक में तर्कणा प्रबल हो उठी थी। वह प्रत्येक बात को परख कर देखना चाहता था, पर परख की कसौटी किसी न किसी रूप में आदर्शवाद का परिणाम थी। इस काल में ऐसी नाटक-सम्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु इस समृद्धि में से परम्परा केवल कुछ प्रवृत्तियों की ही चल सकी। नाटकों का यह युग १९१२ * तक चला ऐसा माना जा सकता है। १९१२ से १९२० या १९२२† तक हिन्दी के नाटकों का संधिकाल था।

भारतेन्दु-युग की नाटक परम्परा १९१२ तक चली। इस परम्परा में एक तो 'महानाटक' की परिपाटी का परित्याग हमें मिलता है। हनुमन्नाटक अथवा महानाटक की परिपाटी अनुवाद रूप में भारतेन्दु युग से पूर्व ही समाप्त होगयी। हनुमन्नाटक की परिपाटी से लोक-क्षेत्र के स्वांग या भगत या नौटंकी प्रस्तुत हुई; या लोक-नाट्य के अनुकरण पर हनुमन्नाटक का निर्माण हुआ, यह तो निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता पर इसमें सन्देह नहीं कि महानाटक की शैली में लौकिकता विशेष दिखायी पड़ती है। इस 'लोक-नाट्य' के समानान्तर इस महानाटक का अनुकरण भारतेन्दु युग के लिखित नाटकों में नहीं दिखायी पड़ता। इसी प्रकार 'इन्दर-सभा' वाली अति शृङ्गारिक असंयत नाटक की प्रणाली भी उपेक्षित रही है। किन्तु इस १९१२ तक के समय में, जैसा उल्लेख हो चुका है, प्रथम बौद्धिकता के दर्शन होने लगे थे, जिससे एक हलकी तटस्थता वृत्ति उदित होती दिखायी पड़ती है, यह वृत्ति उपहास और व्यंग्य के लिए अच्छी होती है। इस वृत्ति से उद्भूत व्यंग में चोट होती है, पर तीखापन नहीं होता। इसी बौद्धिकता के प्रथम उन्मेष के परिणाम से इस काल में नवोदित आर्यसमाज ने इसको और भी शान पर चढ़ा दिया। खण्डन-मण्डन की प्रणाली ने प्रचण्ड रूप धारण किया। भारतेन्दु के नाटकों में पाखण्ड-खण्डन, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि में उस खण्डन-मण्डन वाली वृत्ति के कुछ दर्शन होते हैं।

१९१२ से आगे इस सामान्य खण्डन-मण्डन वाली वृत्ति का संकुचन हुआ, और यह एक संप्रदाय से संबद्ध होकर रह गयी। उधर इसके साथ साहित्य क्षेत्र में जो हास्य उद्भूत हुआ था, वह नाटकों में उभरा। इसी काल में जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों की धूम हुई। उन्होंने अपनी कला का आदर्श मौलियर से प्राप्त किया था। इस कला में हास्य का मर्म व्यञ्जना नहीं था। स्थूल विद्रूपता के तन्त्र पर यह हास्य खड़ा हुआ था। वाणी की विद्रूपता और

---

* १९१२ में प्रसाद का करुणालय प्रकाशित हुआ।

† १९२२ में प्रसाद का अजातशत्रु निकला।

कार्यों की विद्रूपता। यह हास्य बहुत लोक-प्रिय भी हुआ, क्योंकि इस हास्य के पीछे भी सर्वत्र सुधारवादी मनोवृत्ति व्याप्त थी। जो परिस्थितियाँ सामाजिक नव-उन्मेष में यथावत् नहीं बैठ रही थीं, उन्हें चित्रित करके हँस लेने की बात इन नाटकों में मिलती है।

किन्तु एक दूसरी प्रवृत्ति पारसी रङ्गमञ्चों को भी ऊँचा उठाने की ओर अग्रसर होती दिखायी पड़ती है। एक मौलिक परिवर्त्तन फारसी रङ्गमञ्च में यह प्रतीत होने लगा कि अब 'हिन्दी' के नाटकों का अभिनय हो उठा। 'बेताब' और 'बेताब' से भी अधिक पं० राधेश्याम कथावाचक ने इन रङ्गमञ्चों को हिन्दी के अनुकूल बना दिया।

'प्रसाद' युग विशद और महान नाटकों का युग था। दीर्घकाय नाटक लिखे जाने लगे। नाटकों में वह वैविध्य नहीं रहा जो पूर्व युग में दिखाई पड़ता था। ऐतिहासिक कथानकों की ओर ही विशेष आकर्षण था। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक यथार्थ को मेरु-दण्ड स्वीकार किया गया, उसे कला के कलित आदर्श को जीवन की दार्शनिकता के साथ अभिमण्डित किया गया विशद कथानक और पात्रों की भीड़; काव्यमय दार्शनिक उक्तियाँ, चरित्र में कला की रङ्गीनी और वाणी में भावों का आवेश। युग धर्म जैसे इन्हीं में अभिव्यक्ति पा रहा था। एक 'एकश्चन्द्रतमोहन्ति' के समान प्रसाद साहित्याकाश में देदीप्यमान हो उठे। उनकी लेखनी से महान पात्रत्व से युक्त महान नाटक प्रसूत हुए, पर इन्होंने नाटकों को समस्त नाटकत्व के साथ 'पाठ्य' श्रेणी में ही खड़ा किया; वे कल्पना के नेत्रों के लिए तो दृश्य बन सके, पर चर्मचक्षुओं के लिए नहीं। हिन्दी के नाटकों में बल आगया, ऊर्जस्विता आगयी। इतिहास ने जैसे नाटकों में पुनरुज्जीवन प्राप्त कर लिया। नाटक पात्रों के गौरव को चित्रित करते-करते गरिमामय होते चले गये। इतिहास को प्राणवान करके प्रसाद ने आधुनिक युग के लिए विचार-सामग्री दी; उसको दिशा-दर्शन कराया। समस्यानाटक उन्होंने नहीं लिखे पर समस्याओं से वे पीछे नहीं हटे। ऐसी कौनसी सामयिक समस्या थी जो उनके नाटकों में शाश्वत मानवी समस्या के धरातल पर प्रस्तुत न हुई हो। छायावादी युग का स्त्रीत्व इन नाटकों में भी प्रबल है; प्रबल स्त्रीत्व की कल्पना ने ही इन ऐतिहासिक नाटकों को शक्तिशाली बना दिया। प्रसाद युग के नाटक हिन्दी के नाटकों के मौलिक विकास के उत्कृष्टतम परिणाम है। इसी युग में नाटकों की दीर्घकाया ने 'लघुकाया' की पृथक-सत्ता के अभिज्ञान की ओर प्रेरित किया। एकांकी नाटकों का सूत्रपात होता हुआ दिखायी पड़ा।

इस महान् ऐतिहासिक युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी शीघ्र नहीं हुई। हिन्दी का साहित्यकार विश्व की नवीन चेतना के स्पन्दनों से अछूता नहीं था। बौद्धिकता का दूसरा युग वैज्ञानिक पृच्छा से युक्त होकर खड़ा हुआ। वह प्रत्येक पदार्थ को तथा प्रत्येक स्थिति को विश्लेषण करके ही समझने की चेष्टा करेगा। विश्व में इब्सन आदि के द्वारा सामाजिक पाखण्ड की जो चीरफाड़ हुई, वह बौद्धिक जिन्न बर्नार्ड शा के हाथों अप्रतिहत हो गयी। उस मर्म से मुक्त होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भारतीय जीवन के सामाजिक सम्बन्धों के मूल को उधेड़ डालने की चेष्टा अपने कल्पना प्रसूत आरम्भिक नाटकों में की और सब में से वे जीवन के भारतीय आदर्शों तक ही पहुँच सके। जैसे समस्या स्वयं ही समस्या का निदान बन गयी हो। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जो नाटकीय क्रान्ति प्रस्तुत की, और प्रसाद कालीन नाट्य-कला के भावुक वातावरण को छिन्न करके यथार्थ के निकट आने की चेष्टा की, पर मिश्र जी वस्तुतः आदर्शवादी थे, यथार्थ की केंचुल ही उन्होंने धारण की थी, क्योंकि शीघ्र ही उनकी कल्पना अपने व्यवसाय से विरक्त होगयी और उन्हें ऐतिहासिक खण्डहरों में भटकना पड़ा पर ऐतिहासिक यथार्थ मिश्रजी के हाथ नहीं लग सका—और उनके ऐतिहासिक नाटक इतिहास के व्यंग्य बनकर कुछ चुभती युक्तियों के नाटकीय रूप में अभिनन्दनीय हो उठे। फिर भी यथार्थ तो

अवतीर्ण हो चुका था, और इसी कारण एकाङ्कियों ने उसे विशेष रूप से पकड़ लिया। एकाङ्कियों के इस आग्रह ने एकाङ्कीकारों के दो वर्ग तो कर दिये—एक आदर्शवादी स्वरूप के लिए व्रती, तो दूसरा यथार्थ के लिए। डा० रामकुमार वर्मा और उ. शं. भट्ट की कला निर्माण के लिए आदर्श के साथ उतरी, अश्क की कला ने ठेठ यथार्थ को उतारा। नाट्य-कला अपनी सुललित सुनियोजित टीमटाम के साथ एक ओर चली तो दूसरी ओर जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ अपनी निहित महत्ताओं के साथ पूर्णतः यथार्थ को व्यक्त करने चली कि यह कहना कठिन हो चला कि कलाकार का कृतित्व और जीवन की ईमानदार विवरणिका में कहीं अन्तर भी है। इसने जैसे कला को अवरुद्ध कर डाला। वह जीवन के एक अंश का विवरण प्रस्तुत करने वाले स्वरूप में कहाँ अपने अस्तित्त्व को प्रकट करे! इसी द्विविधा के क्षण में 'भोर का तारा' दिखाने वाले नाटककार जगदीशचन्द्र का 'कोणार्क' प्रकाशित हुआ जैसे ऐतिहासिक यथार्थ ने कल्पना को वाहन बना लिया हो और कला का अभिनन्दन करते करते उसकी आरती उतारने लगा हो। 'कोणार्क' हिन्दी नाटक क्षेत्र में पुनः मौलिक विकास का परिणाम है। वह किसी परिपाटी का अनुकरण नहीं। 'प्रसाद' के महनीय जीवन स्वर्ग की जगमगाती ऐतिहासिक झलकों के बाद, यथार्थ के धरातल पर इतिहास के ऐसे ही विषादान्त खण्डहर अपनी आन्तरिक कला सौम्यता और सौन्दर्य की सञ्जीवनी से युक्त होकर आ सकते थे। हरिकृष्णप्रेमी, उदयशङ्कर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास से अवशेष लेकर अपने नाटकों के अद्भुतालय को सजाया, उनमें अपने प्राण फूंकने की चेष्टा की, उनमें कला का कौतुक प्रस्तुत हुआ। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' से महाराणा प्रताप और पद्मिनी से होकर जो हिन्दी की मौलिक नाट्यकला प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में चरम पर पहुँची, उसका यथार्थवादी अवतार 'कोणार्क' में ही हो सकता था। कोणार्क इस समय हिन्दी नाटक-कला का नवीन तम उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करता है और इस समय एक प्रश्न उपस्थित करता है—आगे क्या?

प्रसाद के बाद के लिखे नाटकों पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता कि वे अभिनेय नहीं। डा० रामकुमार वर्मा के सभी नाटक अभिनीत हुए हैं, और रङ्गमञ्च पर अपनी समृद्धता के कारण यश के भागी बने हैं। अश्क तो स्वयं ही अपने नाटकों की अभिनेयता के सम्बन्ध में अत्यन्त मुखर हैं। हरिकृष्णप्रेमी के सभी नाटक खेले गये हैं, पूर्ण सफलता के साथ। यही दशा सेठ गोविन्ददास के नाटकों की है। किन्तु ये सब भी रङ्गमञ्च नहीं खड़ा कर सके। रङ्गमञ्चों पर इनके अभिनय हुए हैं, इनका रङ्गमञ्च नहीं खड़ा हो सका। किन्तु इस काल एक अभिनन्दनीय प्रयत्न रङ्गमञ्च खड़ा करने का भी हुआ है, पृथ्वीराज कपूर द्वारा। उनके नाटक रङ्गमञ्च से अभिन्न होकर अवतीर्ण हुए हैं, रङ्गमञ्च ही जैसे नाटक में परिणत हो गया है या नाटक ही रङ्गमञ्च में। ऐसी उत्कृष्ट अभिन्नता कभी नाटकों के जगत में पायी जा सकी है; कहना कठिन है। आज हिन्दी का नाटककार नये नये प्रयोगों में अपने नये उन्मेषों को उंड़ेल रहा है पर हिन्दी में नाटक-क्षेत्र का कालिदास तभी अवतीर्ण होगा जब हिन्दी का अपना रङ्गमञ्च स्थायी रूप से स्थापित हो चुकेगा।

हिन्दी के नाटककार और उनके नाटक

उनकी अपनी कलम से

—१—

सेठ गोविन्ददास—

मेरी नाटक लिखने की प्रवृत्ति कदाचित् स्वाभाविक ही है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ललित साहित्य में नाटक का माध्यम अत्यन्त कठिन है, पर मुझे यह सबसे सरल जान पड़ता है। मैंने बड़े, छोटे, पूरे और एकाङ्की—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक समस्यामूलक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं और बड़े से बड़े नाटक के लिखने में भी मुझे कदाचित ही एक सप्ताह से अधिक लगा हो। यों तो नाटक लिखने की दिशा में मुझे पहले प्रेरणा मिली पारसी नाटक कम्पनियों के नाटक देखने से और तदुपरान्त बँगला के नाटककार श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक पढ़ने से। मैंने अपना पहला नाटक 'विश्वप्रेम' सन् १९१५ में लिखा जो उस समय की एक स्थानीय संस्था 'शारदा भवन' पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव में सफलतापूर्वक खेला गया। दूसरा मेरा 'विश्वासघात' नामक नाटक सन् १९२२ में लिखा गया, यह पलासी के युद्ध पर है। ये दोनों नाटक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुये। इसके पश्चात् सन् १९३० में जब मैं प्रथम वार जेल गया तबसे नाटक विषयक अध्ययन और लेखन दोनों ही गत पचीस वर्षों से लगातार चलते रहे हैं। और मेरी अधिकांश कृतियाँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनमें से अनेक नाटक खेले जा चुके हैं, कुछ के फिल्म भी बने हैं और कई भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी नियुक्त हैं।

मुझे संस्कृत के भास कवि, कालिदास, भवभूति, बँगला के द्विजेन्द्रलाल राय, मराठी के गडकरी, और पश्चिम के इब्सन तथा उनके अनुयायी इङ्गलैंड के बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, फ्रांस के ब्रूईक्स, जर्मनी के हाप्टमैन, इटली के पिरैन्डिलो, स्वीडन के स्ट्रिन्ड बर्ग अमरीका के यू० जी० 'ओ' नील के नाटक पसन्द आये हैं और इनसे मुझे प्रेरणा भी मिली है। पचासी नाटक लिखने के पश्चात् मेरे लिए यह कहना कि मुझे अपनी कौन कृति कैसी जान पड़ती है, अथवा मुझे इस क्षेत्र में कितनी सफलता मिली है, अत्यन्त कठिन है। कुछ मित्रों की प्रेरणा से अब मैं पन्द्रह नाटक और लिख इस शतक को पूर्ण करने में लगा हुआ हूँ। इन पन्द्रह में से गत छः सप्ताहों में मैंने पाँच पूरे नाटक और एक एकांकी लिख भी डाले हैं। इन नाटकों में से एक नाटक हिन्दी के प्रथम सफल नाटककार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पर भी है।

—२—

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'—

नाटक लिखने की प्रेरणा मुझे व्यावहारिक आवश्यकता ने दी। सन् १९२८—२९ के लगभग देश के तरुणों ने स्वतन्त्रता के लिये त्याग और बलिदान करने की प्रवृत्ति के प्रतीक के रूप में प्रतापसिंह को अपनाना चाहा। देश भर में उनके जयन्ति-समारोह का आयोजन नये उत्साह से हुआ। उसी सिलसिले में मेरे जन्म-स्थान मुरार (ग्वालियर) के तरुणों ने प्रताप-सम्बन्धी किसी नाटक का अभिनय करना चाहा। बहुत ढूँढ़ने पर भी जब उनकी आवश्यकता की पूर्ति करने वाला नाटक न पाया जा सका, तब मुझ पर यह भार डाला गया कि मैं उन्हें प्रताप पर ऐसा नाटक लिख दूँ, जो साम्प्रदायिकता से दूर और राष्ट्रीयता से पूर्ण हो, जो छोटा हो और जिसमें स्त्री पात्रों का अभाव हो। फलतः, उन्हीं दिनों मैंने अपना पहला नाटक 'प्रताप-प्रतिज्ञा' लिखा। यह ऐतिहासिक नाटक है। अभिनय के बाद प्रकाशित होने पर यह मेरी आशा से कहीं अधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी हजारों प्रतियों के एक दर्जन से भी अधिक संस्करण अभी

तक प्रकाशित हो चुके हैं। इस एकमात्र नाटक से ही बीस वर्षों तक मुझे नाटककारों में गिना जाता रहा। उसकी सफलता के कारण प्रकाशकों ने मुझसे और भी नाटक लिखने का आग्रह किया। किन्तु, फिर भी, मैं बहुत दिनों तक दूसरा नाटक न लिख सका।

बीस वर्ष बाद मैंने दूसरा नाटक लिखा, जो 'समर्पण' के नाम से सन् १९५० में प्रकाशित हुआ। यह सामाजिक नाटक है। इसमें स्त्री पात्र भी हैं और इस दृष्टि से यह 'प्रताप-प्रतिज्ञा' से अधिक पूर्ण है। इसमें इसके प्रकाशक की दिलचस्पी 'प्रताप-प्रतिज्ञा' की अपेक्षा कम होने पर भी इसकी खपत काफी हुई। इसका जो अभिनय मुरैना विद्यालय के छात्रों ने किया, उसकी काफी प्रशंसा मुझे सुनने को मिली।

सन् १९५२ में मैंने अपना नाटक 'गौतम नन्द' लिखा, जो उसी वर्ष प्रकाशित हुआ। यह ऐतिहासिक नाटक है। इसमें पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के पात्र हैं और पात्रों तथा दृश्यों की संख्या मेरे पिछले दोनों नाटकों से कम है। मेरी राय में अभिनय की दृष्टि से यह और भी अधिक सुकर है। मेरे कुछ अभिनेता मित्रों ने भी इसे अभिनय के सर्वथा योग्य बताया है। किन्तु, इस दृष्टि से अभी इसका विशेष उपयोग नहीं है, क्योंकि हिन्दी के साहित्यिक नाटकों के अभिनय के लिये अभी ऐसे राष्ट्रीय रङ्गमञ्च की स्थापना नहीं हुई, जो ऐसे नाटकों के साथ न्याय कर सके। फिर भी, केवल पाठकों के सहारे, सन् १९५२ से लेकर १९५४ तक तीन वर्षों में इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें तीसरा संस्करण तो दस हजार प्रतियों का है।

नाटक लिखने में मुझे किसी व्यक्तिविशेष से प्रेरणा नहीं मिली है। मेरी इस प्रवृत्ति के प्रेरक मेरे संस्कार हैं, जो बाल्यकाल से विकसित होते रहे हैं और जिनके लिये मैं अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी प्रतिष्ठित नाटककारों और अभिनेताओं का ऋणी हूँ।

मैंने बचपन में रामलीला और रासलीला देखी हैं। और उसके बाद यौवन और प्रौढ़ावस्था में हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं के विभिन्न नाटकों के अभिनय भी देखे हैं। सिनेमा देखना मुझे नापसन्द है। फिर भी, जब किसी भाषा की किसी फिल्म की मर्मज्ञों के मुख से विशेष प्रशंसा सुनता हूँ, तब उसे भी देख लेता हूँ।

शौकिया नाटक करने वालों में सम्मिलित होकर मैंने प्रारम्भिक दिनों में कुछ अभिनय भी किये हैं और अपने अध्यापक जीवन में कुछ नाटकों के निर्देशन भी। इस अनुभव ने भी मुझे नाटक रचना में काफी लाभान्वित किया है।

अपने नाटकों की तुलना करके उनमें समालोचनात्मक तारतम्य बताना मेरा काम नहीं है। यह समीक्षक का काम है, स्रष्टा का नहीं। फिर भी मैं इतना कह सकता हूँ कि जहाँ 'प्रताप-प्रतिज्ञा' में भावपक्ष प्रबल है, वहाँ 'समर्पण' में विचारपक्ष और गौतम नन्द' में दोनों पक्षों का सामञ्जस्य है।

—३—

श्री वृन्दावनलाल वर्मा—

(१) सन् १८९५ में जब मैं छः वर्ष का था सबसे पहले झाँसी में एक अभिनय देखा। मञ्च पर एक बुढ़िया आई। झाड़ू लगाने लगी। पुरुष अभिनय कर रहा था। ओठों पर काली रेखा और सिर पर खड़िया के रङ्ग के सफेद बाल! इस वीभत्स से मैं डर गया। अपने अभिभावकों से पूछताछ की। मालूम हुआ कि बनावट थी। यह कैसी बनावट? हो तो सब कुछ ठिकाने से हो नहीं तो यह क्या? और वह झाड़ू क्यों लगा रही थी? कहानी की कड़ियाँ मेरी समझ में बिलकुल नहीं आई थीं।

(२) आठ वर्ष की आयु में मैं तुलसीदासजी की रामायण पढ़ने लगा था। उसमें कथा की कड़ियाँ सब मजबूत; समझ में आने वालीं, अकस्मात बँगला से अनूदित 'अश्रुमती' नाम का नाटक हाथ पड़ गया। उसमें राणा प्रताप और मानसिंह का विवाद था और राणा प्रताप की पुत्री तथा सलीम (आगे का जहाँगीर) के प्रेम की कहानी के दृश्य थे। सुना कुछ और था, 'अश्रुमती' में पढ़ा कुछ और। अभिभावक

से प्रश्न किये। उन्होंने कहा कि यह सब नाटककार की मन गढ़न्त है, बिलकुल झूठ। क्योंकि सलीम उस समय या तो पैदा ही नहीं हुआ था, यदि हुआ था तो बहुत छोटा-सा बालक था। मेरे मन में उठा कि बड़ा होने पर मैं लिखूँगा सच्ची घटना के आधार पर नाटक। दूसरे वर्ष एक मराठी-कम्पनी का नाटक देखा। वह बहुत भला लगा। बस नाटक लिखने के बीज मन में जा पड़े।

(३) १९०५ में जब मैं १६ वर्ष का था तीन छोटे छोटे नाटक लिखे जिनके मूल में देश-प्रेम की प्रेरणा थी। इस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कई नाटक पढ़ चुका था। 'मुद्राराक्षस' और 'शकुन्तला' के अनुवाद भी। नाटक के रङ्गढङ्ग की उत्तेजना इन्हीं से प्राप्त हुई।

(४) सन् १९०७ तक शेक्सपियर के छः नाटक पढ़ चुका था। १९०६ में शेरी उनके पढ़े। १९०८ में पाँच नाटक लिखे। जिनमें से एक 'सेनापति ऊदल' लखनऊ से छपते ही सरकार द्वारा जब्त होगया। इसमें ऐसे राजनीतिक मत व्यक्त किये गये थे जो उत्तर-प्रदेश (उन दिनों का संयुक्त प्रान्त) की सरकार को बहुत नापसन्द आये।

सन् १९११ में 'उत्तर रामचरित' संस्कृत में ही पढ़ा। अच्छा लगा। १९२२ से १९३६ के बीच में इब्सन, ऑस्कर वाइल्ड, मौलिये, शेक्सपियर के अन्य नाटक, बर्नार्डशॉ, गॉल्सवर्दी इत्यादि के नाटक पढ़े। इनमें शॉ और गॉल्सवर्दी को अत्यधिक पसन्द करता हूँ।

(६) मैंने नाटकों में अभिनय भी काफी किया है। प्रत्येक नाटक में पात्रों की विभिन्नता का पक्षपाती हूँ। मैंने अपने नायकों में भिन्न-भिन्न चरित्रों के चित्रण का प्रयत्न किया है। अपने चारों ओर के जीवन के अनुभवों में जो नर-नारी लक्षित किये हैं, उन्हीं को घटा बढ़ाकर नाटकों में लाया हूँ। ऐतिहासिक नाटकों के कुछ पात्र इसके प्रवाद हैं। वे भाव और कल्पना की भूमि पर खड़े किये गये हैं। कुछ एकाङ्की किसी वाद, तर्क या युक्ति के विकास की धारणा पर आधारित हैं जैसे 'टंटागुरु', 'कनेर'।

(७) मेरे कई नाटक साधारण जन-द्वारा साधारण मञ्च पर खेले गये हैं इसलिए कहने में सङ्कोच नहीं कि मजे में खेले जा सकते है। भूले हुये भले युग की चमत्कारपूर्ण बातों को सामने रखने का आकर्षण मुझ से ऐतिहासिक नाटक लिखवाता रहता है।

(८) यह कहना मेरे लिये बहुत ही सङ्कोच की बात है कि मैं सफल कहाँ तक हुआ हूँ। दर्शक, पाठक या आलोचक ही कह सकते हैं। यह तो मैं अपनी कृति को कैसा मानता हूँ। इस प्रश्न के उत्तर में मुझे वही कहना है जो मैं अपने उपन्यासों के सम्बन्ध में कहा करता हूँ। मैंने सजाकर एक खोन्चा लगाया है, उसमें मिठाई, खटाई, नमकीन, चटपटे, सभी पदार्थ, रखने का आयोजन किया है। खोन्चे के पास आने वाले की रुचि पर निर्भर है जब जौनसी चीज उसे भावे। यही बात आलोचक के लिए भी लागू है।

(९) समाज के उत्तरोत्तर विकास का पक्षपाती और पर शोषण का विरोधी होने के कारण मुझे जो उपाय समाज का ढाँचा बदलने के लिये अच्छे लगे उनकी प्रेरणा का परिणाम 'मङ्गलसूत्र' 'राखी की लाज' 'सगुन' 'पूर्व की ओर' इत्यादि नाटकों में है।

(१०) अभी तक प्रकाशित अप्रकाशित अट्ठाईस तीस नाटक लिखे हैं।

(११) अब मेरा विचार है कि मञ्च पर पर्दे कम से कम कर दिये जावें। एक ही सैट (पृष्ठभूमि) पर अभिनव हो तो और भी अच्छा। अब इस ढङ्ग पर सामाजिक ऐतिहासिक नाटक लिखने का सङ्कल्प है।

—४—

आचार्य चतुरसेन शास्त्री—

मैं अपने को प्रथम श्रेणी का नाटककार नहीं समझता। परन्तु उपन्यास लिखने से पहले मैंने नाटक ही लिखने शुरू किए थे। मेरा सबसे पहला नाटक 'उत्सर्ग' था, जो सन् १२ या १४ में पहली बार छपा। यह नाटक राजपूती जीवन पर था, इसके बाद भी

'अजीतसिंह', 'अमरसिंह' 'राजसिंह', 'छत्रसाल', ये चार मेरे प्रमुख नाटक राजपूती जीवन पर समय-समय पर लिखे गए। इन नाटकों के लिखने में न तो कोई साहित्यिक प्रेरणा ही थी और न मैंने इनमें साहित्य-संदर्भ का ही कुछ विचार रखा। अबसे ४० वर्ष पहिले जब सारे देश में 'उठो और जागो' का नाद गूँज रहा था तब मेरा मन राजपूती उत्सर्ग की ओर गया। यों तो बङ्गला कलाकारों ने राजपूती जीवन पर बहुत-बहुत आधार रखा, परन्तु मेरे ऊपर उनका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव न था। अलबत्तः पिछले दिनों द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों की शैली ने मुझे अनुप्राणित किया। 'अजीतसिंह' और 'राजसिंह' पर श्री राय की शैली का काफी प्रभाव है, परन्तु मौलिक रूप में राजपूती जीवन की ओर मुझे हाथरस की नौटंकियों ने प्रेरित किया। जिन्हें अपने बचपन में बहुधा मैं चाव से सुनता था। यह बात सन् ७-८ के लगभग की होगी। 'उत्सर्ग' और 'अमरसिंह' नाटक उसी समय की प्रेरणा का फल हैं, परन्तु आगे चलकर जिस सफलता से मैंने कहानियों में राजपूत और मुगल संस्कृति का चित्रण किया और उसमें जो साहित्य सौष्ठव का समावेश हुआ, वह नाटकों में नहीं हो पाया। नाटकों में सारा ही भाव कथनोपकथन पर आधारित रहा। कथनोपकथन को स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए मैंने बोल-चाल ही की भाषा का सहारा लिया और यह वह भाषा थी जो आमतौर से दिल्ली में बोली जाती है।

'मेघनाद' नाटक माइकेल मधुसूदन के प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद-वध' पर आधारित है। माइकेल मधुसूदन ने पहिली ही बार रावण के घर में बैठकर रामचरित को चित्रित किया। यह मुझे बहुत आकर्षक लगा और इसी से मैंने 'मेघनाद' नाटक लिखा।

श्रीराम और सीताराम अनुक्रम से भास के प्रतिमा नाटक और भवभूति के उत्तररामचरित के भावानुवाद हैं।

'गान्धारी' नाटक में सबसे पहिले साहित्यिक रेखाओं को मैंने नाटक में स्पर्श किया है।

'स्त्रियों का ओज' एक मौलिक शैली पर, एकाङ्की पद्धति पर अब से कोई ३० वर्ष पूर्व लिखा गया था। उस समय तक एकाङ्की लिखने की पद्धति का हिन्दी में चलन नहीं हुआ था। इसमें राजपूत बालाओं के उत्सर्ग और साहस का ध्वनि-पद्धति पर प्रयोग है।

'राधा-कृष्ण' एक छोटा सा नाटक है, किन्तु उसका भाव सौष्ठव बहुत है। राधा-कृष्ण के अतिन्द्रिय प्रेम की ये एक मौलिक और प्रभावशाली कृति है।

'गान्धारी' पौराणिक नाटक है। पर उसमें अधिक साहित्य शृङ्गार है।

'पगध्वनि' मेरी एक सबसे नवीन नाटिका है। जिसमें मैंने सर्वथा नई पद्धति का प्रयोग किया है। नाटकों की पुरानी सब परम्पराओं का इसमें मैंने उल्लङ्घन किया है। एक अङ्क में केवल एक दृश्य है। दृश्यों का परस्पर सम्पर्क नहीं है। नाटिका में कोई कथानक ही नहीं है, केवल भावना के रेखाचित्र हैं, भूमि में केवल प्यार की पीड़ा है, प्रस्तावना में पूजा है, प्रथम अङ्क में गान्धी दर्शन, दूसरे में गान्धी भावना, तीसरे में गान्धी प्रभाव, चौथे में गान्धी जीवन, पाँचवें में विरोध निराकरण और छठे में गान्धी आदर्श है। देश काल से अङ्क परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। नाटिका में कुछ गहरे तत्त्व हैं, उनका सम्बन्ध गान्धी दर्शन से है। गान्धी दर्शन धर्म और राजनीति के कूट सम्बन्धों पर आधारित हैं। उसी का किञ्चित् रूप इस नाटिका में प्रगट किया है।

नाटक लिखने के लिए बहुधा प्रेरित किया जाता है परन्तु नाटक लिखने में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। उपन्यास लिखने ही में मेरा मन रमा है। और मैं समझता हूँ जीवन की सच्ची और परिपूर्ण व्याख्या उपन्यास ही में हो सकती है, नाटक में नहीं। आधुनिकतम साहित्य में नाटक लँगड़ाता चलता है। वह उपन्यास की धीर मन्थर गति का किसी हालत में मुकाबला नहीं कर सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

—५—

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'—

मुझे नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, प्रहसन, कविता, तुकबन्दी कुछ भी रचने की इच्छा लड़ने के लिए हुई। लड़ने के लिए अंग्रेज नौकरशाही से और उस समाज से जो अंग्रेज नौकरशाही के चुल्लू से पानी पीने में जीवन साफल्य मानता था।

मेरा पहला नाटक है 'महात्मा ईसा' जिसमें गांधीजी के सत्याग्रह की पुट है और देशभक्ति के नारे बुलन्द किए गये हैं। यह नाटक सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ था। इस नाटक के विषय के चुनाव में ही समाज को चेलेंज है और कथानक के विस्तार में तत्कालीन ब्रिटिश राज को चेलेंज था। 'महात्मा ईसा' के बाद 'चुम्बन', 'गङ्गा का बेटा', 'अन्नदाता' और 'आवारा' ये चार नाटक और मेरे नाम से प्रकाशित हैं। मेरा विश्वास है मेरे लिखे सभी नाटक ज्यों का त्यों स्टेज किये जायँ, तो फेलमफेल हो कर रहेंगे। फिर भी, 'महात्मा ईसा', 'गङ्गा का बेटा' और 'अन्नदाता' कुछ हेरफेर से स्टेज किये जा सकते हैं। 'महात्मा ईसा' कलकत्ता, पटना और बनारस में 'एम्येच्योरों' द्वारा कई बार अभिनीत भी किया जा चुका है, पर, उससे मुझे सन्तोष नहीं। मेरे लिखे आधा दर्जन नाटक, बीसियों एकाङ्की नाटक और दर्जनों प्रहसन, मेरे लिखे सिनेमाओं के अनेक खेल—मेरा जीवन बड़ा रङ्गीन, बड़ा नाटकीय। पर, जब अच्छे नाटककार से भेंट हुई, तब पता चला कि मेरे नाटक तो अक्सर नाटक कहलाने काबिल भी नहीं! उन्हें कथात्मक-संवाद कहलें, प्रचार के महत्त्व से भी उनकी कद्र किसी कद्र हो जाय, हिन्दी के अन्धों में काने भाई की पदवी भी मिल जाय; पर दुनिया में जिसे 'नाटक' कहा जाता है और जिसका निर्माण महाकाव्य रचने से कम मुश्किल काम नहीं, वह कुछ और ही चीज है। कुपड्ढा मैं, पहले, बङ्गाल [illegible] महान यशस्वी, बहुमुखी कलाकर श्री द्विजेन्द्रलाल राय को ही सबसे बड़ा नाटककार मानता था। पर जब 'इब्सन' के नाटक पढ़े तब आँखें खुल गयीं और स्पष्ट हुआ कि अब तक नाटक के नाम पर मैंने जो कुछ लिखा है वह दुस्साहस मात्र है। मेरे एक सुन्दर एकाङ्की नाटक के कारण 'मतवाला' के मुद्रक और सम्पादक पर सन् १९२८ में बंगाल सरकार ने केस चलाया। नाटक का नाम है—'अफ़जल वध'। इसके भी पहले सन् १९२३–२४ में मैंने गोरखपुर के 'स्वदेश' का 'विजय अङ्क' सम्पादित किया था। उस अङ्क के कारण 'स्वदेश' के प्रकाशक पं० दशरथ प्रसाद जी द्विवेदी को और मुझे क्रमशः ढाई साल और एक साल जेल काटनी पड़ी थी। 'स्वदेश' के उस विशेषाङ्क में भी विदेशी सरकार को खटकने वाला एक एकाङ्की नाटक मेरा था—'लाल क्रान्ति के पंजे'। सन् १९२९ में मैं सिनेमा कम्पनियों में चला गया था। सिनेमा-जीवन का मेरे साहित्य निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ा। सिनेमा के लिए लिखे जाने वाले नाटक का आदर्श और प्रणाली साहित्यिक-निर्माण के आदर्श और प्रणाली से आज भी भिन्न है, मेरे समय की तो बात ही न पूछिये। हिन्दी में 'रङ्गमञ्च' नहीं; अतः हिन्दी लेखक जाने ही क्या कि उसका नाटक 'रङ्गमञ्च' के योग्य है या नहीं। हिन्दी के पाठक इतने सीमित, कि पुस्तक की बिक्री से भी रचना की सफलता का अनुमान लगाना खतरे से खाली नहीं। नाटक का कोर्स की किताबों में आना सफलता मानें तो, जयशङ्कर 'प्रसाद' ही के नहीं, ऐरे-गैरे के नाटक भी कोर्स में लग जाते हैं, लगे हुए हैं। कोर्स की किताबों के लिए प्रतिभा या पाण्डित्य उतने आवश्यक नहीं, जितने कि प्रभाव, पैरवी और पूजा। मगर मैं अपने नाटकों की कहता हूँ, उनमें से मुझे एक भी पसन्द नहीं, उनके दीर्घ जीवन का मुझे जरा भी विश्वास नहीं और इसका पूर्ण विश्वास है, कि मैं अपने अनेक रचना-सन्तानों को, मर-भुखे गरीब के मरियल, [illegible] बच्चों की तरह अपने ही हाथों जलाने, दफनाने के [illegible] विवश पाऊँगा।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

—६—

श्री उदयशङ्कर भट्ट—

नाटक लिखने से पहले इसका ढांचा तैयार करता हूँ। नाटक के पात्र या प्लाट घूमते घामते मुझे मिल जाते हैं। दिमाग उसी समय चलने लगता है। जब 'फ्रेम' तैयार हो जाता है तभी लिखता हूँ। लिखने के लिये लिखना मुझे पसन्द नहीं है। दिमाग पर जब 'प्रेशर' पड़ता है, बेचैनी होती है, तभी लिखता हूँ। कभी यह बेचैनी इतनी तीव्र हो जाती है कि रात को सोते से उठकर लिखना पड़ता है। न लिखूँ तो नींद नहीं आती। पर अब वैसे लिखना बन्द कर दिया है। एक बार तीन महीने तक नींद नहीं आयी इन्सोम्निया (उन्निद्र रोग) हो गया। नहीं तो इससे पूर्व रात-रात भर लिखता रहा हूँ।

मेरे लिखने के दो प्रकार हैं—नियमित रूप से, और जब इच्छा हुई जब कोई लम्बी चीज हुई तब ठीक उसी समय लिखने की स्फूर्ति होती है। और छोटी चीज जब प्रेरणा हो तब।

कई नाटक और कवितायें हैं जो वर्षों से अधूरी पड़ी हैं। उनकी रचना के समय या तो प्रेरणा समाप्त हो गई या प्लाट कमजोर निकला और नाटक के ढाँचे में फिट नहीं बैठा। पहले तो यह क्रम था कि मैं ६ मास तक पढ़ता था, दो मास मनन करता था और चार मास लिखता था, पर अब वैसा नहीं होता। कुछ आलसी भी हो गया हूँ। कभी-कभी नाटक का कोई प्लाट दिमाग में आया पर ठीक समय उसका उपयोग न होने पर उसकी हत्या भी हो जाती है। मेरे नाटकों में चरित्र के अनुसार घटनायें होती हैं, घटनाओं के अनुसार चरित्र नहीं। इससे यह न मानना चाहिये कि मैं घटना प्रधान नाटकों के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करता। मेरे शक विजय, दाहर, अथवा सिन्ध पतन आदि कुछ नाटक घटना प्रधान ही हैं। नाटक को मैं साहित्य का सबसे सबल अङ्ग मानता हूँ। क्योंकि यह पठित-अपठित सभी पर अपना प्रभाव डालता है। जबकि उपन्यास, कहानी, कविता केवल पढ़े लिखे रसिकों के लिये हैं। युग निर्माण में नाट का बड़ा महत्त्व होता है। यही कारण है नव जा चीन रूस आदि देशों की जनता ने नाटक के प्र अधिक ध्यान दिया है। फिर नाटक लिखना ब कठिन भी है। न तो मामूली मनोरञ्जन उसका है न उपदेश देना। मैं नाटक को आज के युग लिए सोद्देश्य रचना मानता हूँ। केवल कला को कभी महत्त्व नहीं दिया।

युग निर्माण के लिये साहित्यकार का विद्रो होना आवश्यक है जो दुष्प्रवृत्त सामाजिक शरीर फोड़े को दबा न दे बल्कि उसका शल्यी-करण सके, पर कला के माध्यम से। आज तो कभी-क लगता है कि कला ने हमारा अहित भी कम किया है उसके द्वारा उत्पन्न आनन्द और मनोरञ्जन वास्तविक वस्तु की हत्या हो जाती है और पाठक दर्शक उतना भर आनन्द तो ले लेते हैं पर साहित्य का देय भूल जाते हैं। शायद इसमें साहित्यकार देय और कला के रूप विधान में एक त्रुटि है, कहना होगा। आज नाटक के लिये हमें अपने को और भी तीखा करना होगा उसे शल्य के औ की तरह तेज करना होगा। साहित्य का उद्देश्य व्य और समाज के विकार का शल्यीकरण है।

मैंने कई तरह के नाटक लिखे है। प्रागैतिहासिक आदिम युग, मनु और मानव, प्रथम विवाह आ मध्यकालीन—कालिदास, कुमार सम्भव, शशि आदि, ऐतिहासिक—दाहर अथवा सिन्धपतन, वि दित्य, शकविजय आदि, सामाजिक—कमला, अन्त अन्त तथा अन्य। मत्स्यगन्धा मेरा सबसे प्रिय नाट्य है। मेरे एकांकी नाटक अधिकतर साम हैं जिनमें व्यंग को अपनाया गया है। सबसे मैंने १९२१ के असहयोग आन्दोलन के दिनों में चि दास नामक बड़ा नाटक लिखा। इस नाटक को जाने पर स्थानीय असहयोग आन्दोलन को गति मि कई बार खेला गया। वैसे वास्तविक नाटक लि का क्रम १९२९ से शुरू होता है। और एकांकी

मैंने कब लिखना शुरू किये यह ठीक याद नहीं है, फिर भी 'एक ही कब्र में' या 'दस हजार' शायद मेरा पहला एकांकी नाटक है। अब तक मैं चौदह बड़े नाटक और लगभग पचास एकांकी नाटक लिख चुका हूँ। ढेर कम नहीं है। लेखक समय की आवश्यकता के अनुसार साहित्य निर्माण करता है। वह निर्माण समय को प्रेरणा देकर समाप्त हो जाता है, यदि उसमें प्रेरणा देने की क्षमता हो। समय की काल दाढ़ में कुचले जाने पर भी जो फौलादी शक्ति सम्पन्न साहित्य अक्षत रहता है या काल के समुद्र में स्वयं उसे उभार कर प्रकाश स्तम्भ की तरह आने जाने वालों को मार्ग दिखा सकता है। ऐसा साहित्य और ऐसे साहित्यकार कम ही हैं—मैंने कभी गर्व नहीं किया कि एक या सवा फुट की उठान का मेरा यह लघु दीपक-साहित्य दो चार गज से अधिक प्रकाश बिखेर सकेगा। फिर इसके प्रकाश में किसी को कोई खोई चीज मिल जाय तो मेरा सौदा बुरा नहीं कहलायगा।

—७—

श्री राधेश्याम कथावाचक—

सन् १९११ से मेरा नाटकों से लगाव हुआ। पहला नाटक 'रामायण' ही था जिसका मैंने संशोधन सम्पादन किया—पञ्जाब की 'न्यू अल्बर्ट' नाटक कम्पनी के मालिक श्री नानकचन्द खत्री के आग्रह पर बरेली में। तब मैंने यह अनुभव किया कि दर्शक 'गानों' से ज्यादा आकर्षित होते हैं—यदि एक-दो गाने भी उनके मन और मस्तिष्क में बैठ जायें तो वे बार-बार उस नाटक को देखने आते हैं।

'वीर अभिमन्यु' मेरा पहला नाटक था—सबसे ज्यादा हिन्दी और हिन्दुत्व से भरापूरा। यही पहला ऐसा नाटक भी था जो बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड' में सफलता के साथ खिलता रहा और पञ्जाब यूनीवर्सिटी के इण्टरमीडियट क्लास का 'कोर्स' भी बना। 'राधेश्याम प्रेस' से भी अब तक यह एक लाख के लगभग छप चुका है। 'ग्रामोफोन' और 'कोलम्बिया' कम्पनियों ने इसे रेकार्डस में भी निकाला है जिसकी अब तक बिक्री हो रही है। दिल्ली रेडियो से भी प्रायः ब्राडकास्ट होता रहा है। सन् १९१६ से सन् १९५५ तक इसकी माँग कायम रहने से यह दृढ़ होता है कि जनता अच्छा कथानक भी चाहती है, साथ ही अच्छे भाव भी।

'श्रवण कुमार', इसके बाद, 'सूर विजय नाटक समाज' में निकला। मुझे अब 'स्टेज' का ज्ञान हो चुका था। इस नाटक की सफलता इसी बात के आधार पर नहीं थी कि इसमें 'मातृ-पितृ-भक्ति' का रङ्ग था। बल्कि सीनों का सिलसिला ठीक कायम किया गया था—यह भी इस विषय के लिये आवश्यक है। इसकी जानकारी वाले लेखक और निर्देशक अपनी वस्तु को जनता से 'पास' करा ही लेते हैं। 'स्टेज' की जानकारी ही नाटककार की सफलता है। यह अनुभव दृढ़ हो गया 'श्रवण कुमार' से। 'बालकृष्ण' और 'ऊषा अनिरुद्ध' दो नाटक 'सूर विजय' ही को और एक मास्टर पीस 'परमभक्त प्रह्लाद' जब मैंने 'न्यू अल्फ्रेड' को दिया तब यह अनुभव हुआ कि बालकों के पार्ट जनता को बहुत प्रिय होते हैं; उनमें यदि शिक्षाओं की अधिकता हो तो प्रत्येक माँ-बाप अपने बालकों को ऐसे नाटक दिखाने ले जाते हैं।

'परिवर्तन' मेरा सामाजिक नाटक था—अब जनता कथानक, भाव के साथ-साथ नाट्य कुशल नटों को भी चाहती थी, इस नाटक में वही सब उसे मिला। तब मैंने उर्दू में 'मशरिकी हूर' लिख कर मुसलमान भाइयों को भी आदर्श नाटक की ओर खींचा। फिर तो 'कृष्णावतार'—'रुक्मिणी मंगल' इन दोनों नाटकों को मैंने हिन्दी की दृष्टि से खूब सजाया। प्रख्यात नाटककार का नाटक देखने को भी जनता खूब दौड़ती है, यह अब मैंने समझा। आगे तो मैंने—पौराणिक गाथा लेकर उसे सामयिक रंग में रँग कर 'ईश्वर भक्ति' खिलवाया। इसका प्रारम्भिक उद्घाटन त्याग मूर्त्ति श्री मोतीलाल जी नेहरू से कराया—जिसके कारण इसकी पब्लिसिटी खूब हुई। फिर 'द्रौपदी स्वयंवर' देकर मैंने 'न्यू अल्फ्रेड' को छोड़ दिया। 'प्रेस' भी चलाऊँ, 'कथायें' भी कहूँ—फिर नाटक लिख-लिखकर स्वयं

उन्हें स्टेज कराया करूँ इतना भार मेरा स्वास्थ्य सहन न कर सका।

कई वर्ष बाद फिर चाव हुआ तो 'सती पार्वती' 'शकुन्तला' के बाद—मैंने 'महर्षि वाल्मीकि' स्टेज कराया—'मेडन थिएटर कलकत्ता' में। अब नाटकों का विकास हो चुका था। इसी कारण इस नाटक में मैंने काफ़िया हटा दिया लम्बे-लम्बे भाषण (बंगला, मराठी जैसे) लिखे और विशुद्ध हिन्दी में इसे पेश किया और सफलता मिली।

बरसों के परिश्रम के बाद हम लोग 'स्टेज' को 'इन्दर सभा' से उठाकर 'महर्षि वाल्मीकि' तक लाए परन्तु 'हिन्दी भाषी' हमारे 'पोषक' न बने—इसलिए हम और न बढ़ पाए।

—८—

श्री रामनरेश त्रिपाठी—

'जयन्त' मेरा पहला नाटक है। दिसम्बर १६३३ में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा मद्रास के वार्षिकोत्सव में दीक्षान्त भाषण देने गया था। महात्मा गान्धी सभापति थे। वहाँ से मैं गुजराती साहित्य-परिषद में भाग लेने राजा-कवि कलापी की जन्मभूमि लाठी रियासत में गया। वहाँ गुजराती के प्रायः सभी प्रमुख लेखक और कवि, जिनमें हमारे राज्यपाल श्री मुंशी और श्रीमती मुंशी भी थे, उपस्थित थे। मद्रास से लेकर गुजरात तक साहित्यिकों से मुझे यही शिकायत सुनने को मिली कि हिन्दी में मौलिक नाटकों का बड़ा अभाव है। कितने ही मित्रों और साहित्य-रसिकों ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं क्यों न एक नाटक लिखूँ?

प्रयाग से लौटते ही मैंने 'जयन्त' में हाथ लगा दिया। यह ता० ११-१-३४ को प्रारम्भ हुआ और कुल पाँच दिनों में लगातार लगकर १६-१-३४ को बिहार में भूकम्प आने के ठीक समय पर समाप्त किया। पत्रों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिससे मैं बहुत उत्साहित हुआ।

प्रेमलोक—'जयन्त' के बाद १६३४ में मैंने यह दूसरा नाटक लिखा। इसको भी 'जयन्त' के समान ही लोक-प्रियता प्राप्त हुई। यह भी कई नगरों में खेला गया। पत्रों ने भी प्रशंसा छापी। फिर तो नाटक लिखने का मेरा हौसला बढ़ता गया और मैं बच्चों के लिए एकाङ्की नाटक लिखने में प्रवृत्त हुआ।

पेखन—यह बच्चों के लिये आठ एकाङ्कियों का संग्रह है। इसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई और यह कई प्रान्तों में कोस में रक्खा गया। इसकी करीब एक लाख प्रतियाँ बिकी होंगी।

वफाती चाचा—यह इस नाम की मेरी एक सच्ची कहानी के आधार पर लिखा गया है। कहानी का अनुवाद अँग्रेजी में महात्मा गांधी ने महादेव भाई से कराया था और उसे 'हरिजन' में छपवाया था। यह नाटक, जहाँ तक याद पड़ता है, १६३५ या ३६ में लिखा गया। इसकी भी बहुत प्रसिद्धि हुई और एक महाराष्ट्र सज्जन ने मराठी में इसका अनुवाद भी किया। यह मालूम नहीं कि यह कहीं खेला भी गया या नहीं, पर समालोचकों ने इसकी भी अच्छी आलोचना की। यह हिन्दू-मुसलिम एकता का समर्थक है।

अजनबी—'वफाती चाचा' के बाद मैंने 'अजनवी' नाम का एक नाटक लिखा, जिसका विषय हिन्दी-साहित्य ही में नहीं संभवतः भारतीय साहित्य मैं भी बिलकुल नया होगा। इसका मुख्य विषय है असभ्य की दृष्टि में हमारा सभ्य-समाज कैसा लगता है? १६४१ में मैं साहित्य-क्षेत्र से अलग हो गया पर यह विषय मेरे मस्तिष्क में चढ़ा ही रहा। जिसे मैंने कागज पर उतार दिया।

पैसा परमेश्वर—यह 'अजनबी' का ही परिष्कृत रूप है। 'अजनबी' में विषय तो यही था, पर संवाद लम्बे-लम्बे हो गये थे, इससे रोचकता मुझे कम जँची और मैंने उसका सुधार कर दिया, कुछ घटाया-बढ़ाया भी। इसका प्रकाशन १६५२ में हुआ। इसको बड़ी ख्याति मिली—यहाँ तक कि मनीषी डॉ० भगवानदासजी ने भी इसे पढ़ा और प्रशंसा-पत्र भेजा।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, साहित्य-सन्देश, पाञ्चजन्य और कल्पना आदि पत्रों ने भी अच्छी समालोचनायें प्रकाशित कीं ।

कन्या का तपोवन : ससुराल—यह नाटक 'प्रेमलोक' का परिस्कृत रूप है । 'प्रेमलोक' का कथानक जरा पुराना पड़ गया था । इस नाटक में कुछ दृश्य घटा-बढ़ा कर मैंने उसे नया कर दिया है ।

बा और बापू—मैंने कुछ एकाङ्की नाटक भी लिखे थे, यह उन्हीं में से पाँच एकाङ्कियों का संग्रह है, जिनमें 'बा और बापू' भी एक है । यह १९५३ में प्रकाशित हुआ । इनमें 'बा और बापू' और 'समानाधिकार' शीर्षक एकाङ्कियों को बड़ी ख्याति मिली ।

यही मेरे नाटकों का संक्षिप्त इतिहास है । अभी-तक प्रशंसा ही प्रशंसा मिली है; किसी नाट्य-कला-विशारद ने मेरे नाटकों में त्रुटियाँ नहीं बताईं, इससे मैं समझता हूँ सफल ही हुआ हूँ ।

—६—

डा० रामकुमार वर्मा—

अपनी यात्रा के मोड़ पर घने पेड़ों की शीतल छाया में विश्राम लेते हुए किसी यात्री के मन में यह बात उठती है कि आज सुबह जब मैं चला तो सामने जो कुछ दीख रहा था उसकी लताएँ बड़ी सुहावनी जान पड़ती थीं, लेकिन जब मैं पास आया तो उसी लता की कोमल पत्तियों के बीच मैंने काँटे भी देखे और वह पेड़ जो नृत्य की भङ्गिमा में खड़ा था, पास आने पर अष्टावक्र की भाँति दीख पड़ा । दूर की सुहावनी चोटियाँ जिन पर नीलिमा और हलकी हरीतिमा छाई हुई थी, समीप आने पर पत्थर की टेढ़ी-मेढ़ी बेतरतीब राशियों से भरी पड़ी थीं । उसी तरह साहित्य-क्षेत्र के दर्शन दूर से तो बड़े सुहावने जान पड़ते हैं, लेकिन समीप आने पर उनमें साधना की कठिन चट्टानें हैं, सहयोगी साहित्यिकों की ईर्ष्या और द्वेष की कटीली झाड़ियाँ हैं, और दलबन्दियों के दूर तक फैले हुए दलदल हैं ।

जब नाटक लिखने की भावना मेरे हृदय में उठी, तो लोगों ने उसका परिहास किया । मेरे पात्रों के सम्भाषणों को विकृत स्वर में पढ़ कर मेरे उत्साह के अंकुरों को अपनी असभ्य आलोचना के तेज नाखूनों से नोचा और जमीन पर सूखने के लिए छोड़ दिया, लेकिन वे अंकुर सूखे नहीं, क्योंकि उनके रेशों में संस्कारों का जो रस था वह शक्ति शालिनी जड़ों से खींचा गया था ।

बचपन में मेरे संस्कारों में नाटकों के लिए प्रेम उत्पन्न हो गया था । मेरे पिताजी उच्च-सरकारी पद पर थे । वे नगर में आई हुई मण्डलियों द्वारा रामलीला और रासलीला के अच्छे-अच्छे प्रसङ्ग घर पर ही अभिनीत कराते थे । मैं अभिनेताओं की सज्जा में योग देता था । मेरी यह इच्छा रहती कि कोई पात्र अस्वस्थ हो जावे और मुझे सजने और 'पार्ट' करने का अवसर मिल जाय । लेकिन कभी कोई पात्र बीमार न पड़ा ।

इन संस्कारों ने मुझमें नाटक के बीज भर दिये । कुछ बड़ा हुआ तो नाटक की किताबें पढ़ने का शौक हुआ । एक बार जब मेरे चाचा, जो डिस्ट्रिक्ट-कौंसिल के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे, स्थानीय पुस्तकालय से 'हरिश्चन्द्र-कला' लाए, तो मुझे लगा जैसे मेरे हाथों स्वर्ग आ गया हो । खाना-पीना भूलकर मैंने उन नाटकों का एक-एक अक्षर पढ़ा । उस समय मुझे सबसे अधिक अच्छे लगे—'अन्धेर नगरी' (प्रहसन) और 'भारत-दुर्दशा' । मैंने उन्हें कापी पर उतारकर मोहल्ले के मित्रों से मिलकर उनके अभिनय की तैयारी की और उसका असफल अभिनय भी किया । लोगों ने जी भर हँसी उड़ाई । स्वर्गीय बदरीनाथ भट्ट के 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' प्रहसन मैंने कई बार पढ़ा और कई बार उसे कीमती नोटबुकों पर उतारा ।

जब हाई स्कूल में आया तो बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' में 'मन-संतोष में सुख मान' गीत गाने वाले भिक्षुक का अभिनय किया । इस पर लोगों ने मुझ से कहा कि 'डिप्टी साहब का लड़का होकर भिक्षुक का पार्ट करता है ? मंगता कहीं का !' आदि !

इसके बाद मैंने श्री माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'श्री कृष्णार्जुन-युद्ध' में श्रीकृष्ण का अभिनय किया, जो काफी सफल रहा।

ग्रीष्मावकाश में मैं प्रायः अपने घर नरसिंहपुर (म० प्र०) जाया करता था। वहाँ के पुस्तकालय की सहायतार्थ प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में नाटकों का अभिनय करने की योजना बनाई और इस प्रकार वहाँ 'नवयुवक-मण्डल' की स्थापना हुई। वहाँ ही मैंने श्री राधेश्याम के 'परिवर्त्तन' नाटक में नायक श्यामलाल का अभिनय किया, जो अपनी साध्वी पत्नी को छोड़कर एक वेश्या से प्रेम करता है। उस अभिनय पर मेरी बड़ी बहन श्रीमती लेला ने मेरी घोर भर्त्सना की और भविष्य में ऐसे अभिनय न करने की शपथ दिलाई।

यूनीवर्सिटी में आकर डी० एल० राय तथा राधेश्याम के नाटकों में 'हीरो' बना और श्रीजयशङ्कर 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अभिनय का सफल आयोजन किया।

यह मेरे कार्यों और संस्कारों का इतिहास है; जिसके बल पर मैं अनेक परिहासों के पत्थरों से, द्वेष की झाड़ियों से, और निन्दा के काँटों से बचकर भी आगे बढ़ा हूँ। रङ्गमञ्च की सारी असुविधाओं से मैंने सङ्घर्ष किया है। अतः जब कभी नाटक की कल्पना मेरे हृदय में आती है, तो रङ्गमञ्च मेरे मानस-पटल पर पहले ही आ खड़ा होता है और पात्रों की अथवा कथावस्तु की माँग करता है। फल यह होता है कि मशीन के पुरजों की भाँति मेरी कथा-वस्तु अथवा पात्र आप से आप यथा स्थान आ सिमटते हैं, और फ्रेम में जड़े हुये चित्र की तरह मेरे नाटक की कल्पना पृष्ठों पर उतर आती है।

नाटक के क्षेत्र में मेरा पहला कदम था 'बादल की मृत्यु' जो एक 'फैन्टेसी' है। आज से पच्चीस वर्ष पूर्व लिखित इस एकाङ्की को आज भी मेरे पाठक पसन्द करते हैं। मैंने ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे हैं, इसका कारण एक तो राष्ट्र की संस्कृति में मेरा विश्वास है जिसका विकास करने में हमारे ऐतिहासिक महापुरुषों का विशेष हाथ रहा है। दूसरे ऐतिहासिक जीवन के एक निरूपण से हमारे वर्त्तमान जीवन को एक नैतिक धरातल प्राप्त होता है।

नाटक के क्षेत्र में मैं बढ़ता गया। रङ्गमञ्च पर आने वाला हिन्दी का प्रथम एकाङ्की 'दस-मिनट' सन् १९३४ में प्रयाग-विश्वविद्यालय ड्रमेटिक-एसोसियेशन के रङ्गमञ्च पर आया। उसकी सफलता ने मेरा उत्साह बढ़ाया। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि रङ्गमञ्च के अनुरूप नाटकों की रचना मेरे द्वारा होती है। मेरे अधिकांश एकांकी रङ्गमञ्च पर आचुके हैं। वास्तविकता तो यह है कि मैं अपने पाठकों और अभिनेताओं की मांग के अनुरूप अधिक नाटक लिखने में असमर्थ रहा हूँ।

जब मैं अपने नाट्य-साहित्य की आलोचना पढ़ता हूँ तो मुझे आलोचकों की संकुचित मनोवृत्ति पर क्षोभ और आश्चर्य होता है। कुछ आलोचकों ने तो मेरी सम्पूर्ण कृतियों को पढ़े बिना ही अपना मत बना डाला। मैंने सभी तरह के नाटक लिखे हैं। इस क्षेत्र में मैंने कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। सन् १९५३ में फिल्मीकरण के लिए लिखा मेरा चित्र-रूपक 'सत्य का स्वप्न' काफी लोकप्रिय हुआ है। हास्य-रस के नव सिद्धान्तों का निरूपण करके मैंने अपने नये-संग्रह 'रिमझिम' में हास्य के भेदोपभेदों का अन्तर स्पष्ट किया है।

इन चौदह प्रमुख कृतियों के अतिरिक्त अनेक संग्रह तीन-चार-पाँच एकाङ्कियों के निकले हैं। मैंने लगभग सौ एकाङ्की लिखे होंगे। आजकल मैंने 'अशोक' पर एक नाटक लिखा है; जिसमें उसकी क्रूरता सम्बन्धी भ्रामक प्रवादों का खण्डन कर उसको उसका महान् व्यक्तित्व प्रस्तुत किया है। शीघ्र ही वह प्रकाशित हो जायगा, ऐसी आशा है।

रस-सिद्धान्त का नाटक में विशेष स्थान है। मैं इसे संस्कृत नाट्य-साहित्य की सबसे बड़ी देन समझता हूँ। इसे अनुभव कर मैं मनोविज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य का समन्वय कर नाटक की रचना करता हूँ। सामाजिक विषयों पर नाटक किसी

समस्या के हृदय में चुभने पर लिखे जाते हैं। पात्र अपने मनोविज्ञान की समस्त सम्भावनाओं में आगे बढ़ आते हैं, और अपनी गति में प्रभावों के आधार पर कम या अधिक बढ़ते हैं और एक निश्चित तथ्य का निरूपण सुखान्त या दुःखान्त में कर देते हैं।

मेरी दृष्टि में 'कौमुदी-महोत्सव' मेरी सर्व श्रेष्ठ रचना है। रङ्गमञ्च पर भी इसे सफलता मिली है किन्तु पाठकों ने 'चारुमित्रा' को बहुत पसन्द किया, अतः उसके लगभग पन्द्रह संस्करण हो गये हैं। उसका अनुवाद अँग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में हो चुका है। रङ्गमञ्च पर सन् १९५४ में 'पृथ्वी का स्वर्ग' ने दर्शकों की बहुत प्रशंसा प्राप्त की; प्रयाग में सफलता का उसने नया रेकार्ड बनाया।

आधुनिक एकाङ्की के शिल्प में मैंने सङ्कलन नाम को विशेष महत्त्व दिया है जिसमें एक ही स्थान पर समय के एक ही संक्षिप्त क्रम में एक घटना धरातल से उठ कर आकाश तक पहुँचती है। यद्यपि यह शिल्प अपने विटामिन में प्राचीनता की छाप लिए हुए है और सम्पूर्ण नाटक के व्यापक क्षेत्र में इसका निर्वाह कठिनता से हुआ है, तथापि प्राचीन एकाङ्की रूपकों एवं वर्त्तमान एकांकी नाटकों में यह शिल्प विशेष सौन्दर्य के साथ प्रयुक्त हो सका है। इसका कारण यह है कि घटना या पात्र की तीव्र अनुभूति दृश्यों के व्यवधान में या तो कुण्ठित हो जाती है या पार्श्ववर्ती घटनाओं के विन्यास में विशृङ्खलित होकर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। घटना या पात्रों को विविध दृश्यों में बाँटने से उसकी गन्तव्य दिशा भी स्थानान्तरित हो जाती है और नाटक की संवेदना अनेक धाराओं में विभाजित सरिता की भाँति अपना वेग खो देती है। मैं समझता हूँ कि यह एकांकी के शिल्प की विशेषता है, जो न तो सम्पूर्ण नाटकों में आ सकती है और न उसकी परिणति ही सफलता के लायक हो सकती है।

यह सत्य है कि मेरे अनेक सहयोगियों ने एकाङ्की में विविध दृश्य-शैली का अनुसरण किया है और कुछ एकाङ्कीकारों ने तो एक अङ्क में तीन से लेकर चौदह दृश्यों की सृष्टि की है। एकाङ्की में ऐसा करना मैं एकांकी-शिल्प के भविष्य के लिए हितकर नहीं समझता।

इस क्षेत्र में मुझे जो सफलता मिली है, उसका कारण यह नहीं है कि मुझ में कोई विशेष प्रतिभा है, वास्तविक कारण यह है कि हिन्दी में अच्छे नाटकों की कमी है। क्या मैं आशा करूँ कि मेरी इस चुनौती को ग्रहण कर हिन्दी नाट्य क्षेत्र के महारथी अपना शिल्प-कौशल प्रदर्शन करने के लिए इस क्षेत्र में अग्रसर होंगे?

—१०—

श्री जी० पी० श्रीवास्तव—

एक दिन जब मैं कैनिङ्ग कॉलेज के बी० ए० के प्रथम वर्ष का छात्र था अर्थात् १९१० में, तभी मुझे संयोग से फ्रान्सीसी 'मौलियर' के नाटकों का अँग्रेजी अनुवाद कॉलेज की लाइब्रेरी में पढ़ने को मिला उसी से मुझे नाटक लिखने का शौक पैदा हो गया उसी के साथ अपनी लेखनी के लिये हास्य-क्षेत्र भी प्राप्त हुआ।

लेखक बनने की धुन तो मुझपर १३ वर्ष की उम्र ही में जब मैं आठवें दर्जे में था, सवार हो चुकी थी। मगर हास्य-क्षेत्र को स्थाई-रूप से अपनाने के लिए 'मौलियर' ही ने उभारा।

अँग्रेजी के दर्जे में शेक्सपियर के नाटक 'रिचर्ड द्वितीय' और 'वेनिस का व्यापारी' और संस्कृत के दर्जे में भवभूति का नाटक 'उत्तर रामचरित' पढ़ना ही पड़ता था। उस पर शेक्सपियर के पढ़ाने वाले मिले सौभाग्य से 'कैमरन' साहब जो एक-एक शब्द में कला का वह चमत्कार दिखलाते थे कि मैं समझने लगा कि 'नाटक' सचमुच साहित्य का शिरोमणि है।

जब से चरित्र-चित्रण तथा स्वाभाविकता का कुछ ज्ञान हुआ तब से हिन्दी और उर्दू पुस्तकों से मेरी तबियत उचट गई। हाँ, श्री डी० एल० राय ने बँगला नाटकों का तथा बंकिम बाबू के बँगला उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद और पण्डित रतननाथ सरशार के

उर्दू उपन्यासों में हास्यमय स्वाभाविक वार्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण अलबत्ता अंग्रेज़ी के टक्कर का मिला। और इनकों मैं विशेष ध्यान और आदर की दृष्टि से अध्ययन करता। यहाँ तक कि कोई लेख या प्रहसन लिखने के पहले मैं पण्डित रतननाथ सरशार के 'खोजी का वार्तालाप' अवश्य पढ़ लेता था।

दूसरे साल जब मैं बी० ए० फाइनल में पहुँचा तब कैनिङ्ग कालेज में पहले-पहल नाटक खेलने की योजना हुई और उसके साथ 'प्रहसन' खेलने का भार मुझ पर डाला गया। उस समय तक मैं मौलियर लिखित 'मार मार कर हकीम', 'आँखों में धूल' और 'नाक में दम' इन तीन प्रहसनों को अपना चुका था। एक मौलिक प्रहसन 'गड़बड़झाला' भी लिखा था जिसमें से शायद 'आँखों में धूल' किसी पत्रिका में निकला था, जिसके कारण अश्लीलता का मुझ पर कलंक लग गया। क्योंकि फ्रांसीसी समाज को अपनाते समय मुझे अपने समाज के ढोंग की उस समय पूरी जानकारी न थी।

सुधार के उद्देश्य के लिए मुझे अपने प्रहसनों और नाटकों में बुराइयों पर ही चोट करनी थी। और इसके लिये उन्हीं के उपयुक्त चरित्र भी रखने पड़ते थे। इस तरह मुझ पर फूहड़पन, भद्देपन इत्यादि का भी टीका लगाने का समालोचकों को अवसर मिल गया।

जब देखा कि मेरे अब तक के लिखे हुए प्रहसन रङ्गमञ्च पर काम नहीं दे सकते मैंने मारे गुस्से के फाड़ कर फेंक दिये और एक उर्दू की कहानी के आधार पर रङ्गमञ्च की आवश्यकतानुसार एक नया प्रहसन लिखा और खेला। इसी प्रहसन में मुझे पहले-पहल नाट्य करने का भी अवसर मिला। जैसे ही में रङ्गमञ्च पर आया वैसे ही हृदय पर एक बिजली का सा धक्का लगा और ऐसा जान पड़ा मानो मैं आकाश से यकायक अथाह समुद्र में गिर पड़ा। 'प्राम्पटर' की आवाज ने जब मेरे 'पार्ट की सुधि दिलाई तब मैं चौंका और फिर तो जन्नाटे से काम करता गया।

× × ×

जिन प्रहसनों को मैंने फाड़डाला था। उनको मैंने दुबारा लिखा। और उस समय से जब कभी मुझे प्रहसन लिखने की आश्यकता पड़ी, प्रत्येक वाक्य को मैं स्वयम् ही अभिनय करके लिखता था और लिखता हूँ। सन् १९१५ में जब एल-एल० बी० पास करके गोंडे में वकालत शुरू की तब सौभाग्य से महापूर्वी भाषाओं के ज्ञानी श्रीमान् आर० पी० ड्यु हर्स्ट जज थे। उन्हें नाटकों का बड़ा शौक था। उन्हीं के उत्साह दिलाने पर यहाँ वकीलों ने नाटक-क्लब खोला उस क्लब द्वारा यहाँ बराबर नाटक खेले जाने लगे। और प्रत्येक तमाशे के लिये मुझे एक नवीन प्रहसन लिखना पड़ता था। इस प्रकार मौलियर के आधार पर मैंने २१ नाटक लिख डाले। प्रत्येक मौलिक प्रहसन व नाटक किसी न किसी के आग्रह पर ही लिखे।

मेरे प्रहसन और नाटक साहित्यिक दृष्टि से चाहे जैसे भी हुए हों मगर इतना जरूर है कि अभिनय की दृष्टि से सफल होने के कारण वे लोकप्रिय हुए। इसके अतिरिक्त उनकी लोकप्रियता का एक कारण और भी कहा जा सकता है। मेरे प्रत्येक प्रहसन या नाटक की नाट्य-कला में कहीं न कहीं कुछ न कुछ नवीनता अवश्य होती है जो दर्शकों को यकायक चकित करके मुट्ठी में ले लेती है।

पहले मेरा 'साहित्य का सपूत' नाटक के रूप में था। मगर अब मैंने उसे छोटा करके 'प्रहसन' के रूप में ढाल दिया है। इसी प्रकार मौलियर के आधार पर लिखे हुए 'नाक में दम' तथा 'मियाँ की जूती मियाँ का सर' दोनों को मिला कर 'नकदम' नामक प्रहसन का रूप दे दिया है।

❀ हमारी प्रकाशित कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें ❀

लोक जीवन और साहित्य—
—डा० राम विलास शर्मा ३।)

सुमित्रानन्दन पन्त और उनका 'आधुनिक कवि'—तारकनाथ बाली एम० ए० ३॥)

सुमित्रानन्दन पन्त (अध्ययन)—
—तारकनाथ बाली एम० ए० १॥)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना—
—डा० रामविलास शर्मा ५)

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—
—डा० रामविलास शर्मा ३॥)

काव्य कला और शास्त्र—डा० रांगेय राघव ३)

काव्य, यथार्थ और प्रगति—डा० रांगेय राघव ३)

समीक्षा और आदर्श—डा० रांगेय राघव ३)

चिन्तामणि दर्शन—[द्वितीय संशोधित संस्करण]
(चिन्तामणि प्रथम भाग की टीका तथा समालोचना)
—प्रो० हरिहरनाथ टंडन एम० ए० ३)

हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ —[द्वितीय संस्करण]
—श्री जयकिशनप्रसाद एम० ए० ५)

भ्रमर गीतसार—व्याख्या और विवेचन—
[भ्रमरगीतसार की टीका]
—डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री—प्रो. राजेन्द्र शर्मा एम. ए. ४)

गीतकार विद्यापति—प्रो० राम वाशिष्ठ एम० ए० २॥)

महाकवि घनानन्द— ,, ३॥)

रस अलंकार पिंगल—डा० शम्भुनाथ पाण्डेय २॥)

काव्य-शास्त्र— ,, ३)

प्रेमचन्द और कर्मभूमि—रामवाशिष्ठ एम० ए० २)

समीक्षा और आदर्श —डा० रांगेय राघव ३)

पन्त और उत्तरा—प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय २॥)

विनय-पत्रिका दर्शन—
(तुलसीदास कृत 'विनय-पत्रिका' पर एकमात्र आलोचनात्मक पुस्तक).
—प्रो० तपेश कुमार चतुर्वेदी एम० ए० १॥)

हिन्दी और उसके कलाकार—
—प्रो० फूलचंद्र जैन 'सारङ्ग' एम० ए० ४)

हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास—
—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए० १॥)

हिन्दी निबन्ध—
[द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]
—प्रो० रामजीलाल बघोतिया एम० ए० ३॥)

हमारे प्रमुख साहित्यकार— [द्वितीय संस्करण]
श्री रामनारायण मिश्र एम० ए० २॥)

साहित्यिक निबन्ध—श्री राजनाथ शर्मा एम० ए० ७॥)

आलोचनात्मक अध्ययन (प्रश्नोत्तर में) प्रत्येक १॥)

तुलसीदास, सूरदास, कवि प्रसाद, नाटककार प्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दी भाषा का इतिहास, भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, बिहारी, जायसी, उद्धवशतक, संस्कृत साहित्य का इतिहास, कामायनी १), प्रियप्रवास १), साकेत १॥),

आधुनिक तीन महाकाव्य— ३)

चन्द्रगुप्त : एक अध्ययन— २)

नाटक

इन्द्र धनुष १॥), चन्द्रावली नाटिका १॥), भारत दुर्दशा ।॥), मुद्राराक्षस १॥), शकुन्तला १॥)

उपन्यास—ले० डॉ० रांगेय राघव

देवकी का बेटा : (श्रीकृष्ण) ३), यशोधरा जीत गई : (गौतम बुद्ध) ३), लोई का ताना : (कबीर) ३), रत्ना की बात : (तुलसीदास) ३), भारती का सपूत : (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) ३)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सभी पुस्तकें आप हमारे यहाँ से मंगा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, तथा B. A. और M. A. आदि उच्च परीक्षाओं की हिन्दी पुस्तकें आप एक ही स्थान से प्राप्त कर सकते हैं।

[सूचीपत्र अमूल्य मँगाइए]

विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा।

विभिन्न विश्व-विद्यालयों एवं शिक्षाबोर्डों के नये पाठ्य-क्रमानुसार लि

हमारे कुछ छात्रोपयोगी नवीन प्रकाशन

Agra University—Text-Books and Syllabuses prescribed for 1956-57

Arts (B. A., M. A., B. T.) ,,	-/6/9
Science (B. Sc., M. Sc.) ,,	-/3/6
Commerce (B. Com., M. Com.)	-/3/6
Law (LL. B., LL. M.) ,,	-/2/6
Agriculture [B. Sc. (AG.), ,, M. Sc. (AG.)] ,,	-/4/-
Medicine (M. B., B. S.) ,,	-/3/-
B. V. Sc. & A. H. ,,	-/3/-
Engineering (B. Sc.)	-/3/-
Statutes & Regulations of 1954 (latest)	-/7/-
काव्यानुशीलन—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी	२।।।)
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारत दुर्दशा नाटक	१।)

For Degree & Post Graduate Mathematics Students—

Infinite Series by Dr. J. C. Chaturvedi	2/8/–
Spherical Harmonics ,,	2/8/–
Determinants ,,	–/8/–
Uniform Convergence ,,	-/12/-
Mathematical Statistics ,,	8/–/–
Theory of Equations ,,	3/8/–
Differential Calculus ,,	4/8/–
M. Sc. Previous & Final Mathematics Papers	3/8/–

For M.A Students of English Literature

(For all India Universities)

Studies in Poets by Dr. B. R. Mullik,

,, Vol I	Chaucer	,,	1/8/–
,, ,, II	Spenser	,,	1/8/–
,, ,, III	Milton	,,	1/8/–
,, Vol IV	Pope	,,	
,, ,, V	Gray	,,	
,, ,, VI	Collins	,,	
,, ,, VII	Wordsworth	,,	
,, ,, VIII	Shelley	,,	
,, ,, IX	Keats	,,	
,, ,, X	Browning	,,	
,, ,, XI	Tennyson	,,	
,, ,, XII	M. Arnold	,,	

Agra University Selection of Le
Cases for LL. B. (Previous).

M. A. Economics Solved Papers–

M. A. History of Economic tho
by Prof. M. C. Vaish

M. A. Principles of Economics

A Handbook of International T
& Foreign Exchange

Selected Essays on Current E
mic problems

Economic Aspect of Estate Du
India

English Grammar by J. N. Ta

Higher Algebra by
J. C. Chaturvedi

Practical Statistics by ,,

Governments of Various State
Dr. S. R. Nigam

आधुनिक विश्व की प्रमुख शासन प्रणालियाँ
प्रो० डी० एन० गैरड व प्रो० आर० पी०

भारतीय राजनीति और शासन—डा० वी०
रघुवंशी तथा प्रो० आर० के० अवस्

राजनीति प्रदीप—गिरीशचन्द्र माथुर

राज्य विज्ञान के मूल सिद्धान्त—डा० वी०
एस० रघुवं

Macbeth. by Prof. B. B. Jain 4/8/-
As You Like It. by Prof. R. P. Kamthan 4/8/-
भारत में व्यापार तथा यातायात—प्रो० ए० पी० मिश्र तथा पी० एल० गोलवलकर ४॥)
भारत में यातायात (प्रश्नोत्तर) ३)
भारत में व्यापार ,, २॥)
भारत में यातायात २॥।)
भारतीय व्यापार का संक्षिप्त एवं सरल अध्ययन—२॥)
निबन्ध रत्नाकर—डा० सत्येन्द्र २॥।)
हिन्दी साहित्य का आदर्श इतिहास—रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' १।)
मध्यभारत, नागपुर, बिहार व अजमेर बोर्ड के लिए—
प्रथम भाग (प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत)— ३॥)
भारतीय इतिहास दिग्दर्शन (प्रश्नोत्तर) ५)
रामचन्द्र पाण्डेय तथा इकबाल नारायन श्रीवास्तव
द्वितीय भाग (आधुनिक काल)— २)
नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त तथा भारतीय संविधान दिग्दर्शन—शान्तिस्वरूप जैन व सत्यनारायण टंडन ३)
Ratan Guide to General English by S. R. Sharma & P. D. Pathak 3/-/-
New High School English-Grammar. by P. D. Pathak & S. L. Sharma 2/12/-

New Patterns of High School Essays and Letters. by P. D. Pathak 1/-/-
New Patterns of Parsing Teacher by C. L. Golash -/8/-
Text book of Physics. by Prof. Beni Prakash Singhal 3/8/-
प्रारम्भिक रसायन—डा० एम० एम० बांकाडिया तथा ए० एम० अग्रवाल २॥)
भारत का नवीन इतिहास—डा० कृष्णस्वरूप ३)
New Patterns of English Translation, Grammar & Composition by P. D. pathak
Part I For Class VI 0-9-6
,, II ,, ,, VII 0-12-6
,, III ,, ,, VIII 0-15-6
Basic—Translation, Grammar & Composition. by H. C. Sharma & M. L. Agarwal
Part I For Class VI 0-11-0
,, II ,, ,, VII 0-15-0
,, III ,, ,, VIII 1-4-0
रचना-विकास—बलवीरसरन शर्मा १।)
घरेलू शिक्षा—डा० (श्रीमती) किरण कुमारी गुप्ता—
भाग १ कक्षा ६ के लिए ॥)
,, २ ,, ७ ,, ॥।)
,, ३ ,, ८ ,, ॥।)

We Publish Agra University Syllabuses, Statutes and Ragulations
All other Text Books, Help Books, Notes Solved and
Unsolved Papers are also available.

Apply to:— *Phon . 1173*

RATAN BOOK DEPOT.

Educational Publishers & Booksellers,
Raja Mandi, AGRA. (U. P.)

Branch :— **Chaura Rasta, JAIPUR (Rajasthan)**

हिन्दी-साहित्य के दो अनमोल ग्रन्थ

अनुसन्धान के विद्यार्थियों के लिए साहित्य मनीषी मिश्रबन्धुओं की अपूर्व देन !

हिन्दी नवरत्न (सम्पूर्ण)

हिन्दी की विभिन्न काव्य-धाराओं के प्रवर्तक, प्राचीन युग के नौ महा कवियों—तुलसी, सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव, चन्द और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—का जीवन-दर्शन तथा उनकी रचनाओं की सुविस्तृत व्याख्या। हिन्दी में ऐसा प्रामाणिक ग्रंथ अभी तक दूसरा नहीं निकला। साहित्य-प्रेमियों तथा साहित्य-जिज्ञासुओं के निरन्तर अनुरोध पर यह वृहत्, संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण हमने नई सज-धज के साथ निकाला है। मूल्य १२)

मिश्रबन्धु-विनोद

[नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण] हिन्दी साहित्य का सबसे प्रथम एवं प्रामाणिक इतिहास!

हिन्दी के आदि-काल से लेकर द्विवेदी-युग तक के समस्त कवियों, समालोचकों, कहानीकारों, उपन्यासकारों, निबन्धकारों और पत्रकारों का संक्षिप्त जीवन दर्शन तथा उनकी रचनाओं का सार-गर्भित, निष्पक्ष आलोचनात्मक परिचय। छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा कोई भी साहित्यकार मिश्रबन्धुओं की पैनी दृष्टि से छूटा नहीं, यही इसकी विशेषता है। प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्य के इतिहासकारों ने भी इसे प्रामाणिक माना, और इसी के आधार पर अपने इतिहास की रचना की।

मिलने के पते—

गंगा पुस्तक माला कार्यालय,
गौतम बुद्ध मार्ग, लखनऊ।

साहित्य-रत्न-भण्डार,
आगरा।

भारती (भाषा) भवन,
चर्खेवालाँ, दिल्ली।

पुस्तक विक्रेताओं के लिए नया आकर्षण

नये वर्ष की नई घोषणा!

कमीशन दर में भारी परिवर्तन

२५% जनरल पुस्तक

१५% पाठ्य पुस्तक

२००) की पुस्तक एक साथ लेने पर २½% अतिरिक्त कमीशन और F. O. R.

५००) की पुस्तक एक साथ लेने पर २½% पाठ्य पुस्तक और ५% जनरल पर अतिरिक्त कमीशन और F. O. R.

विशेष जानकारी के लिए पत्र-व्यवहार करिये।

व्यवस्थापक—

साहित्य-भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद।

भारत देखिये!

प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी के

रिआयती भाड़े पर....

गोल यात्रायें

टिकट तीन महीने तक चलेंगे

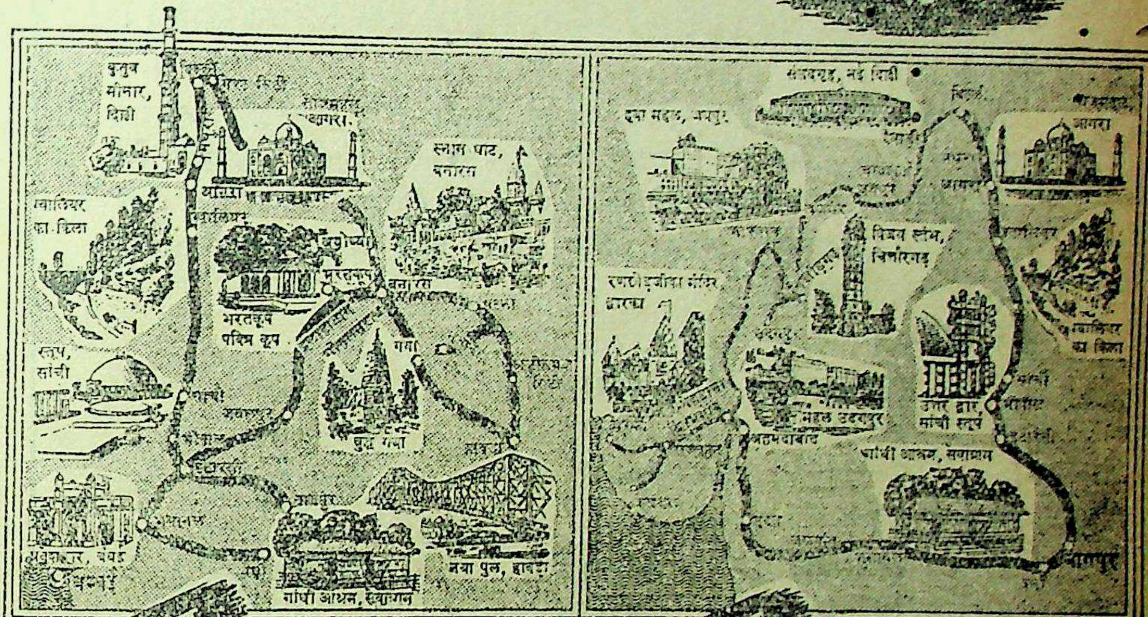
कुतुब मीनार, दिल्ली
लाल किला
ताजमहल, आगरा
ग्वालियर का किला
स्नान घाट, बनारस
भरतकूप पश्चिम कूप
स्तूप, सांची
बुद्ध गया
गांधी आश्रम, सेवाग्राम
नया पुल, हावड़ा
संसद भवन, नई दिल्ली
हवा महल, जयपुर
विजय स्तंभ, चित्तौड़गढ़
महल उदयपुर
उत्तर द्वार, सांची स्तूप
गांधी आश्रम, सेवाग्राम
ग्वालियर का किला
नागपुर

यात्रा नं. २

मील: ३,८२५

स्टेशनों के नाम

बंबई, नासिक रोड, वर्धा, नागपुर इटारसी, जबलपुर, इलाहाबाद, गया, हावड़ा, पटना, बनारस, लखनऊ, कानपुर, दिल्ली, मथुरा, आगरा, भोपाल, बंबई.

प्रौढ़का	प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी
भाड़ा—	रु. २३०-८-६	रु. १४५-८-६	रु. ७६-१३-६

बच्चों के लिये आधा भाड़ा

यात्रा नं. ७

मील: २,८४२

स्टेशनों के नाम

नागपुर, भोपाल, सांची, आगरा, दिल्ली, बाँदीकुई, जयपुर, अजमेर, चित्तौरगढ़, उदयपुर, मारवाड़, विरमगाँव, द्वारका, जूनागढ़, वेरावल, राजकोट, अहमदाबाद, सूरत, जलगाँव, नागपुर.

प्रौढ़का	प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी
भाड़ा—	रु. १७०-१४-०	रु. १०८-१-०	रु. ५७-४-०

बच्चों के लिये आधा भाड़ा

ये दो उदाहरणीय रिआयती भाड़ेवाली गोल यात्रायें हैं। इस रेलवे ने कुल देसी ८ निश्चित रिआयती भाड़ेवाली यात्रायें चालू की हैं। इन आठों यात्राओं के संबंध में पूर्ण विवरण संबंधित स्टेशन मास्टरों से प्राप्त हो सकता है।

मध्य रेलवे

भ्रमण करने वालों के लिए

रियायती भाड़ा

सरकूलर टूर टिकट के नाम से दो रास्तों के लिये पहले, दूसरे और तीसरे दर्जे के रियायती रेल भाड़े के टिकट अहमदाबाद से निम्न स्टेशनों के लिये जारी किये जा रहे हैं।

रास्ता नं० २

अहमदाबाद, डाकोर, गोधरा, बड़ौदा, सूरत, दादर, नासिक रोड, होशङ्गाबाद (इटारसी होकर), ग्वालियर, आगरा छावनी, मथुरा, दिल्ली, पठानकोट (मुकेरिया होकर) हरद्वार (जलन्धर छावनी जङ्कशन, लुधियाना जङ्कशन, और लक्सर जङ्कशन होकर) दिल्ली, जयपुर (रेवाड़ी और बाँदीकुई होकर) अजमेर, अबूरोड, ऊँभा और अहमदाबाद।

रास्ता नं० ३

अहमदाबाद, पलिताना, जूनागढ़, तारङ्गा हिल (सुरेन्द्र नगर और महसाना होकर) आबूरोड, रानी, जोधपुर (मारवाड़ जङ्कशन होकर) देहली (कुचामन रोड और रेवाड़ी होकर) आगरा फोर्ट (बाँदीकुई होकर), मथुरा (अछनेरा होकर) चितौड़गढ़ (अजमेर होकर), उदयपुर, इन्दौर, उज्जैन, डाकोर और अहमदाबाद (नागदा, गोधरा और आनन्द होकर)।

भाड़ा रास्ता नं० २

	पहला दर्जा	दूसरा दर्जा	तीसरा दर्जा
आदमी का	१६१–७–०	१०१–१३–०	५४–२–०
बच्चे का	८०–११–६	५०–१५–०	२७–१–०

भाड़ा रास्ता नं० ३

	पहला दर्जा	दूसरा दर्जा	तीसरा दर्जा
आदमी का	१४६–३–०	६२–६–०	४६–३–०
बच्चे का	७३–१–६	४६–३–३	२४–१०–०

यदि रास्तों में कोई परिवर्तन न किया जाय तो रास्ता नं० २ के यह टिकट डाकोर, गोधरा, जयपुर, अजमेर, आबूरोड, ऊँभा और रास्ता नं० ३ के लिए पलिताना, जूनागढ़, तारङ्गाहिल, आबूरोड, रानी, आगरा फोर्ट, मथुरा, चित्तौड़गढ़, उदयपुर, इन्दौर और उज्जैन से भी मिल सकेंगे।

इन टिकटों की मियाद खरीदने की तारीख की आधी रात से ३ महीने तक की है। यदि टिकट पहले ही लिये गये हों तो सफर प्रारम्भ करने वाली आधी रात से मियाद समझी जायगी।

रियायती सरकूलर टूर टिकट बम्बई सैन्ट्रल और अजमेर से भी दिये जायँगे। इसके रास्ते और किराये आदि के विवरण के लिये इन स्टेशनों के सुपरिन्टेन्डेण्टों से अथवा चीफ कमर्सियल सुपरिन्टेन्डेंट, चर्चगेट बम्बई से पूछ सकते हैं।

पश्चिमीय रेलवे

F:1

हिन्दी साहित्य सम्मेलन (सं० २०१२) तथा हिन्दी के विभिन्न प्रान्तों की
एम० ए०, बी० ए० आदि सभी उच्च परीक्षाओं का

उपयोगी साहित्य

हिन्दी सा०-सम्मेलन पथ-प्रदर्शक सं० २०१२

प्रथमा पथ-प्रदर्शक-(पथ-प्रदर्शक सं० २०१२)—
लें० श्री कुमुद विद्यालङ्कार तथा अन्य ६)
मध्यमा पथ-प्रदर्शक-(हिन्दी साहित्य सं० २०१२)-
ले० श्री कुमुद विद्यालङ्कार तथा अन्य सजिल्द
पृष्ठ १२०० मू० ६)
साहित्यरत्न प्र० ख० पथ-प्रदर्शक—(हिन्दी साहित्य)
ले० श्री कुमुद विद्यालङ्कार आदि १०)
साहित्यरत्न द्वि० ख० पथ-प्रदर्शक-(हिन्दी साहित्य)
ले० श्री कुमुद विद्यालङ्कार आदि ८)
बंगला पथ-प्रदर्शक—(गाइड)—बँगला की प्रत्येक
पुस्तक का हिन्दी सार किया गया है
ले० श्री दयानन्द शास्त्री ५)

टीकायें

सूर-संग्रह की टीका—श्री यतीन्द्र एम० ए० २)
काव्य-संग्रह प्रथम भाग—श्री सत्यपाल 'निराश' ३)
काव्य-संग्रह द्वितीय भाग—श्री शिवप्रसाद शास्त्री ४)
अलङ्कार प्रदीप—श्री जयनारायण गौतम १।।)
अलङ्कार-चार्ट, छन्द-चार्ट— ,, प्रत्येक ।=)
हिन्दी भाषा सार की कुञ्जी—श्रीनारायण सार० १।।)
व्रज माधुरी सार की कुञ्जी—शिवप्रसाद शास्त्री ३)
आधुनिक काव्य-संग्रह की टीका-श्री सुगणचन्द्र १।।)
उत्तर काण्ड सटीक—श्री भवानी शङ्कर त्रिवेदी २)
प्रिय प्रवास की टीका— ,, ,, ४)

एम० ए०, बी० ए० की सहायक पुस्तकें

साहित्य

जायसी ग्रन्थावली—(सटीक)
श्री मनमोहन गौतम एम० ए० ८)
विद्यापति पदावली-(सटीक) श्री कुमुद विद्यालङ्कार ६)
कसौटी पर—श्री भगवतशरण उपाध्याय एम ए.
'साकेत सौरभ'—(साकेत के सम्पूर्ण सर्गों की साहि
त्यिक आलोचना) श्री नगीनचन्द्र 'प्रदीप' एम० ए०

आलोचनात्मक अध्ययन—प्रश्नोत्तर रूप

सूरदास-एक अध्ययन—श्री भारतभूषण सरोज
जयशङ्कर प्रसाद-एक अध्ययन—श्री 'व्यथित'
भाषा विज्ञान समीक्षा—'द्वारिकेश' एम. ए.
हिन्दी साहित्य का एक अध्ययन-श्री सारस्वत
अजातशत्रु एक अध्ययन-श्री हरनारायण कोकंचा
प्रेमचन्द—एक अध्ययन-श्री लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'
भारत का सांस्कृतिक इतिहास—श्री वृहद्बल
उत्तमा के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—
साहित्यालोचन— श्री राजेन्द्र शर्मा
हिन्दी साहित्य का इतिहास— ,, ,,

निबन्ध

निबन्ध-रत्नाकर—श्री उदयभानु हंस तथा अन्य
लेखन-कला—सु-श्री दमयन्ती गर्ग एम० ए०
सरल निबन्ध-माला—श्री रघुवर दयाल गुप्त
निबन्ध-प्रबन्ध—श्री रामकृष्ण शिलीमुख एम० ए०

रत्न, भूषण तथा प्रभाकर की सहायक पुस्त

प्रामाणिक प्रभाकर गाइड—
हिन्दी के चार प्रान्तों के ३० विद्वानों द्वारा रचि
सजिल्द पृ० सं० ११५० मू०
प्रामाणिक भूषण (गाइड)—
लेखक श्री कुमुद विद्यालङ्कार, तथा देवधारीसिंह मू
प्रामाणिक रत्न (गाइड)—
ले० श्री सत्यपाल "निराश" तथा अन्य मू०
रत्न, भूषण प्रभाकर की पुस्तकों की कुञ्जी भी प्राप्त

विशेष विवरण के लिये सूची पत्र विना मूल्य मँगायें।

मिलने का पता—रीगल बुक डिपो, १ नई सड़क, दिल्ली ६।

हमारी दो अमूल्य भेंट

१—साहित्य-रत्न पथ-प्रदर्शिका

द्वितीय खण्ड, पृष्ठ संख्या लगभग १०००, मूल्य १०)

लेखक—(१) प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्य-रत्न (श्रीधर स्वर्ण पदक प्राप्त)
(२) प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०, साहित्य-रत्न (स्वर्ण पदक विजेता)
(३) श्री लक्ष्मणदत्त पाठक शास्त्री, साहित्य-रत्न

तथा अन्य परीक्षा मर्मज्ञ विद्वानों ने प्रस्तुत गाइड में प्रत्येक पाठ्य- पुस्तक का सार, समालोचना, तुलनात्मक अध्ययन आदि परीक्षा में पूछी जाने वाली सम्पूर्ण सामिग्री दी है। परीक्षार्थी यदि एक बार भी इस गाइड का अध्ययन करेगा तो अवश्य सफल होगा।

२—साहित्य रत्न निबन्ध माला

पृष्ठ संख्या ४४०; सजिल्द; मूल्य ४॥)

लेखक—प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न (Shridhar Gold Medalist)

यह साहित्यिक सामाजिक और राजनैतिक तथा सभी प्रकार के आधुनिकतम विषयों पर निबन्ध की अनुपम पुस्तक है। पुस्तक साहित्य-रत्न द्वितीय खण्ड के चतुर्थ पत्र में सफलता की गारण्टी है।

हमारे यहाँ हिन्दी का प्रत्येक प्रकार का साहित्य मिलता है। वी० पी० भेजने का सुन्दर नियम है।

हिन्दी साहित्य संसार

नई सड़क, दिल्ली।

हमारे प्रकाशन

विश्व परिचय

लेखक—हरिबाबू कंसल, एम० ए०

सामान्य ज्ञान के विषय में ऐसा विस्तृत ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इसमें संसार भर का भौगोलिक, ऐतिहासिक, पारिभाषिक और सामाजिक विवरण तथ्यों सहित प्रकट किया गया है। इसके अतिरिक्त भारत सम्बन्धी सम्पूर्ण सामान्य ज्ञान का अध्ययन करने पर तो लगता है कि भारत का समूचा मानचित्र चित्र-पट की भाँति सामने आ गया है॥ विद्यार्थियों एवं प्रतियोगिता परीक्षाओं (Competitive Examination) के छात्रों के लिए परम उपयोगी है। नगरपालिका, ग्राम पञ्चायतों तथा अन्य सार्वजनिक पुस्तकालयों एवं वाचनालयों के लिए संग्रहणीय। सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य ६) रु०, डाक-व्यय अलग।

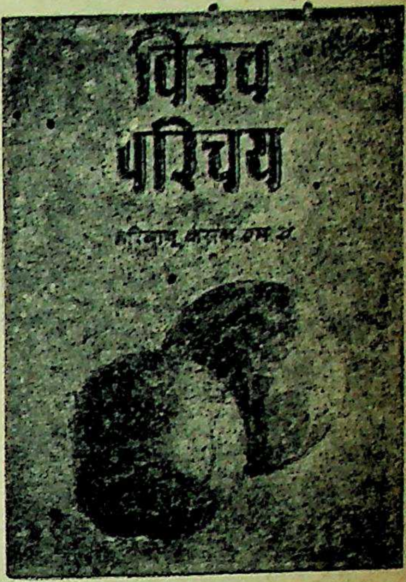

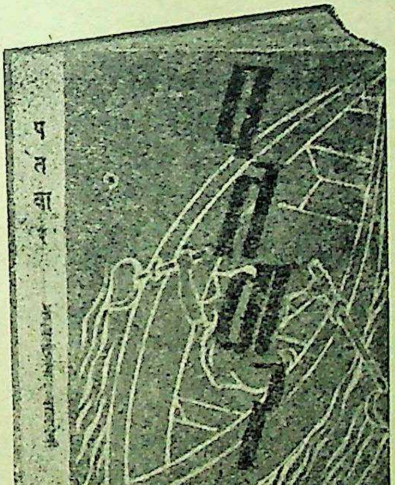

पतवार

गांधीवादी विचार-धारा का
मनोविश्लेषण-प्रधान सामाजिक
भौतिक उपन्यास

मूल्य ५)

लेखक

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

मुन्शीराम मनोहरलाल

सूर-समीक्षा—	डॉ० रामरतन भटनागर	आलोचना	३)
प्रेमचन्द और उनका युग—	डॉ० रामविलास शर्मा	,,	३)
समीक्षा के सिद्धान्त—	डॉ० सत्येन्द्र	,,	३॥)
काव्य कौमुदी—	श्री धरानन्द शास्त्री	अलंकार	३॥)
हिन्दी गद्य-विकास और इतिहास—	योगेन्द्रकुमार मल्लिक	गद्य इतिहास	१॥)
साहस-सञ्जीवनी—	उदयवीर शास्त्री	साहसी जीवनियाँ	२)

मुन्शीराम, मनोहरलाल, नई सड़क, देहली ६।

HAWAI GHORA
PURE
MUSTARD OIL
हवाई घोड़ा शुद्ध सरसों तैल
सर्वोत्तम शुद्ध स्वादिष्ट
झालदार सरसों तैल
FOR NOURISHMENT, FLAVOUR & QUALITY
A PRODUCT OF
CHHITARMAL RAMDAYAL OIL MILLS MOTILAL NEHRU RD. AGRA
छीतरमल रामदयाल ऑइलमिल्स मोतीलाल नेहरू रोड . आगरा

संक्षिप्त रामचरितमानस मुफ्त लें

३१ अगस्त तक नये ग्राहक बनने वाले ग्राहकों को संक्षिप्त रामचरितमानस मूल् १।) नामक पुस्तक मुफ्त भेंट की जायगी। यह पुस्तक साधारण डाक से पोस्टल सार्टी-फिकेट से भेज दी जायगी।

इस पुरस्कार के वही ग्राहक अधिकारी होंगे जो २० जून से ३१ अगस्त ५१ तक अपने डाकखानों से ४) का मनीआर्डर हमारे पास भेज देंगे तथा मनीआर्डर कूप पर पुस्तक का नाम लिख देंगे।

एजेण्टों द्वारा ग्राहक बनने पर उन्हें भी यह सुविधा दी जायगी एजेण्ट महाश अधिक से अधिक ग्राहक बना कर हमारे पास भेजें। एजेन्सी नियम मुफ्त मँगायें।

व्यवस्थापक—साहित्य-सन्देश, आगरा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद (पटना) के सोलह अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	अ.	२॥।)
२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा	स.	३।)
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन-डा. वासुदेवशरण अग्रवाल	स.	९॥)
४. विश्वधर्म-दर्शन—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा	स.	१३॥)
५. सार्थवाह—डा. मोतीचन्द्र	स.	११)
६ वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा. सत्यप्रकाश	स.	८)
७. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन-डा. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	स.	१४)
८. काव्यमीमांसा (राजशेखर-कृत)–अनुवादक, पं. केदारनाथ शर्मा	स.	९॥)
९. श्री रामावतार शर्मा-निबन्धावली–स्व. रामावतार शर्मा	स.	८॥।)
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा. देवसहाय त्रिवेदी	स.	७।)
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा. अनन्त सदाशिव अलतेकर मूल्य	स.	९॥)
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा. उदयनारायण तिवारी	स.	१३॥)
१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्री गोरखनाथसिंह····	स.	२॥)
१४. रबर—श्री फूलदेवसहाय वर्मा	स.	७॥)
१५. ग्रह-नक्षत्र—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ. सी. एस.	स.	४।)
१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरखप्रसाद (प्रयाग-विश्वविद्यालय)	स.	४।)

आटा की चक्की के पाट

FLOUR MILL STONES

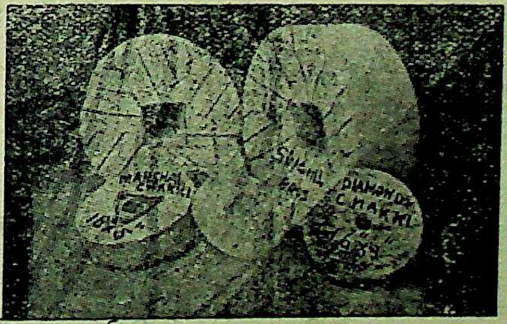

मोटा दाना, कड़े, गुनिया में बने

थोक व खेरीज में

सिंघल ब्रादर्स यमुना रोड, आगरा (उ० प्रदेश)

अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल के महत्वपूर्ण प्रकाशन

१. ब्रज की लोक-कहानियाँ—(सम्पादक डा० सत्येन्द्र)

ब्रज में प्रचलित चुनी हुई लोक-कहानियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण-पद्धति पर सङ्कलन; भूमिका आवश्य टिप्पणियों तथा उपयोगी शब्द-कोश सहित, अपने विषय की सर्वप्रथम पुस्तक। रङ्गीन आवरण; डिमाई सा० पृष्ठ सं० १०+१८७। सजिल्द मूल्य ३)

२. ब्रज लोक-संस्कृति (सचित्र)—(सम्पादक डा० सत्येन्द्र)

ब्रज-साहित्य-मण्डल द्वारा आयोजित लोक-शिक्षण-शिविर में अधिकारी विद्वानों द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य, कला, संगीत, इतिहास और लोक-वार्ता पर दिये गये भाषणों का सङ्कलन। आर्ट पेपर पर छपे ३ चित्रों सहित, डिमाई साइज़, पृष्ठ संख्या २२७। सजिल्द मूल्य केवल ५)

३. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—(सम्पादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के सम्मान में ब्रज जनपद के बहुमुखी अङ्गों पर ८० से अधिक विद्वानों के लेखों का संग्रह। यह ग्रन्थ ब्रजभाषा साहित्य एवं संस्कृति के विश्वकोश के रूप में कई वर्षों के परिश्रम से तैयार किया गया है। सुपर राइल साइज में चिकने कागज पर छपा हुआ, सैकड़ों चित्रों सहित, पृष्ठ संख्या ११५४। मूल्य ३०

४. ब्रज का इतिहास—(श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

यह ब्रज का प्रथम प्रामाणिक विस्तृत इतिहास है, जिसमें ब्रज का भौगोलिक एवं प्राकृतिक विवरण ब्रज के इतिहास की सामग्री, शूरसेन प्रदेश तथा श्रीकृष्ण के समय से लेकर आज तक का ब्रज का क्रमब इतिहास अनेक मानचित्रों सहित दिया गया है। ब्रज का पूरा परिचय जानने वालों के लिये ग्रन्थ अत्य उपयोगी है। डिमाई साइज, पृष्ठ २६०। मूल्य ५)

५. श्रीकृष्ण जन्म-स्थान का इतिहास

(श्री कृष्णदत्त वाजपेयी)

मूल्य ≡)

६. ब्रज-भारती

ब्रज-साहित्य-मण्डल की त्रैमासिक शोध-पत्रिका। वार्षिक मूल्य ३) मात्र, एक प्रति का ॥)

सं० २००० से सं० २००८ तक के पिछले अङ्क एक जिल्द में बँधे हुए हैं, मूल्य १५)

(ब्रज जनपद तथा ब्रजभाषा सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए ब्रजभारती के ये अङ्क अपरिहार्य हैं। थोड़ी सी जिल्दें बची हैं)

विशेष—केवल ५) वार्षिक देकर ब्रज-साहित्य-मण्डल के सक्रिय सदस्य बनने वालों को 'मंडल' के सभी प्रकाशित ग्रन्थ पौन मूल्य में ही प्राप्त होते हैं तथा ब्रजभारती निःशुल्क मिलती है।

उक्त तथा ब्रजभाषा सम्बन्धी सभी प्रकार के साहित्य के लिए निम्न पते पर पत्र-व्यवहार करें—

प्रकाशन मन्त्री, अ० भा० ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा।

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

(१) सत्य की खोज
डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् १)

(२) कुछ उथले और कुछ गहरे (निबन्ध)
बा० गुलाबराय एम० ए० ५)

(३) दिल्ली सल्तनत (द्वितीय संस्करण)
डा० आशीर्वादीलाल एम० ए०, पी-एच० डी०, डी-लिट्० ७)

(४) मुगल कालीन भारत भाग १ ६॥)
" " २ ५)

(५) सूरदास
डा० सत्येन्द्र, रीडर हिन्दी इन्स्टीट्यूट, आगरा विश्वविद्यालय ५)

(६) निराला
डा० रामविलास शर्मा एम० ए०, डी० फिल् ३)

(७) शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा (हिन्दी संस्करण)
ले० श्री जेम्स एस० रौस ५)

(८) हमारा निर्माण
डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी एम० ए०, पी-एच० डी० ॥)

शिवलाल अग्रवाल एन्ड कं० लि०

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता,
हॉस्पीटल रोड, आगरा।

टेलीफून नं० २४२

तार का पता—प्रकाशक

REGD. No. A. 26 . July-August 1955. LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to Post without Prepayment

हमारा साहित्य

साहित्य-प्रकाशन का सभ्य, सुरुचिपूर्ण और कलात्मक साहित्य, यह साहित्य जो न केवल मानव के दिल को ही गुदगुदाता है वरन् दिमाग़ी ग्रन्थियों को भी खोलता है।

महल और मकान [यज्ञदत्त शर्मा] सजिल्द ३)

इस युग की यह समस्या है कि भविष्य में महल टिकेंगे या मकान ? इसी पृष्ठभूमि पर लिखित उपन्यास

बदलती राहें [यज्ञदत्त शर्मा] सजिल्द ३)

सामाजिक-बन्धनों को बदल जाना होगा, नहीं तो समय इन्हें स्वयं बदल देगा। इस उपन्यास में पढ़ें।

मधु [यज्ञदत्त शर्मा] सजिल्द ३)

वेश्या-वृत्ति देश और समाज का कलंक है। मधु वेश्या वृत्ति पर एक निखरा हुआ उपन्यास है।

झुनिया की शादी [यज्ञदत्त शर्मा] सजिल्द ३)

झुनिया की शादी गरीब परिवार की विवाह-समस्या पर लिखित रोचक उपन्यास है।

इन्साफ [यज्ञदत्त शर्मा] सजिल्द ३)

जमींदारी-उन्मूल पर किसान को क्या मिला ? अब किसान 'इन्साफ' के लिए किस ओर देखे ! यही इस उपन्यास में पढ़ें।

हवेली की ईंटें [श्री चन्द्र अग्निहोत्री] सजिल्द ३॥)

सामन्तवादी पारिवारिक व्यवस्था के टूटते हुए ढाँचे और बिखरती ईंटों का जीता-जागता रूप।

कर्म-साधना [रामसागर शास्त्री] सजिल्द ४)

करमू और जगनी [हर्षनाथ] सजिल्द ४॥)

इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का सजीव चित्र लेखक ने अंकित किया है।

प्रदीप [हितवल्लभ गौतम] सजिल्द ५)

इस उपन्यास में जमींदारी के अन्तिम युग की कलात्मक झांकी की पृष्ठ-भूमि पर एक विधवा और अविवाहित युवक की प्रेम-कहानी वर्णित है।

कमला [देवेन्द्र शर्मा] सजिल्द

श्रीमती विश्वास [लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी] सजिल्द

यह उपन्यास एक मनोवैज्ञानिक चित्र है, जिसमें कथा की रोचकता और चरित्र-चित्रण की सजीवता है।

फूल और पतझर [नरोत्तम नागर] सजिल्द

इस उपन्यास की रचना भारत की स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठ-भूमि पर लेखक ने की है।

परिवार [यज्ञदत्त शर्मा]

सम्मिलित परिवार मनुष्य की प्रगति में बाधक है। इस समस्या पर अपने ढग का अनोखा उपन्यास है।

विश्व-उपन्यास माला

धरती के लाल [मिखाइल सादोवीनू] सजिल्द
काले बादल [रोमन किम] सजिल्द
मुक्ति मार्ग [हावर्ड-फ़ास्ट] सजिल्द
पतिता [सॉमरसेट मॉम] सजिल्द
राजनेता [स्तीफेन ज्विग]
सुबह श्याम [गेठे]
मण्टो की कहानियाँ
ताबीज [वाल्टर स्काट]
आइवन हू ,,

नोट—श्री प्रभूदयालजी मीतल रचित सूर-साहित्य के अमूल्य आलोचना-ग्रन्थ सूर बालक पदावली १॥), सूर रामचरित्र १॥), सूरदास की वार्ता १॥), सूर-विनय-पदावली १॥), सूर-निर्णय ५), अष्ट परिचय ५), ब्रजभाषा साहित्य तथा ऋतुसौदर्न्य ४) तथा भक्त कवि व्यासजी के हम समस्त भारत के सोल एजेण्टस् हैं।

पुस्तक विक्रेता एजेन्सी के लिए पत्र-व्यवहार करें

साहित्य-प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा के लिए साहित्य प्रेस, आगरा में मुद्रित।

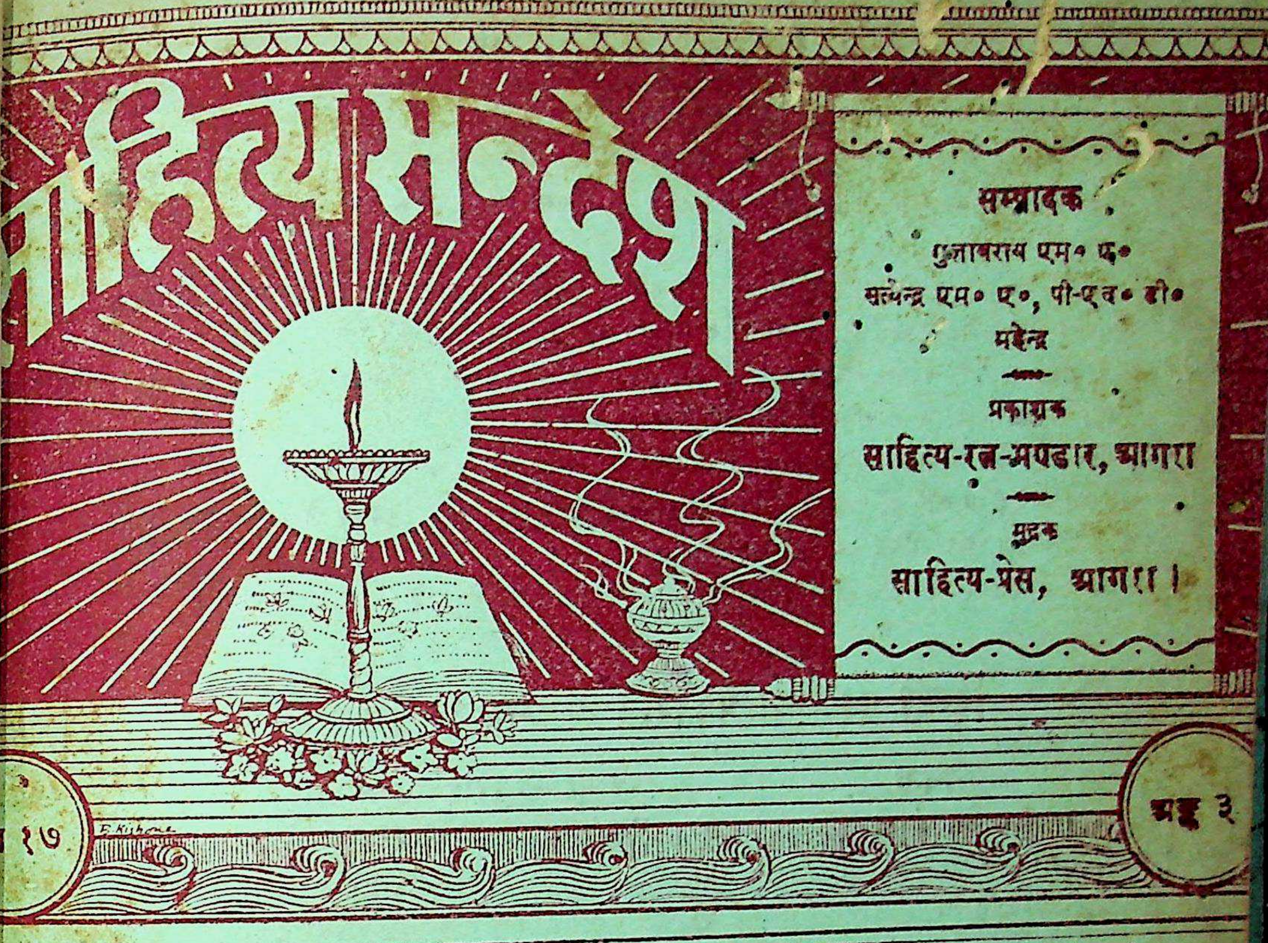

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

१७
अङ्क ३

षिक मूल्य ४)] आगरा — सितम्बर १९५५ [विशेष संस्करण

नाटक परिशिष्टाङ्क

इस अङ्क के लेख

—हमारी विचार-धारा	सम्पादक
—भारतेन्दु कालीन नाटक तथा परवर्ती नाटकों पर उनका प्रभाव	प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०
—द्विवेदी कालीन नाट्य साहित्य	प्रो० तारकनाथ बाली एम० ए०
—नाटककार प्रसाद और उनका युग	प्रो० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०
—प्रसादोत्तरीय युग के नाटकों की प्रवृत्तियाँ	प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०
—हिन्दी में समस्या-नाटकों की परम्परा	श्री इन्द्रपालसिंह एम० ए०
—हिन्दी में रेडियो नाटक	प्रो० त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०
—एकाङ्की नाट्य-कला	प्रो० महेन्द्र भटनागर एम० ए०
—भारतीय भाषाओं में विकसित नाट्य-कला पर दिङ्गावलोकन	प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०
—बङ्गीय नाट्य-साहित्य तथा रङ्गमञ्च	श्रीमती अपर्णालता राय एम० ए०
—साहित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक मास की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की २० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन अगस्त १९५५

आलोचना

हिन्दी निबन्ध—प्रभाकर माचवे	२)
शरत् के नारी पात्र—	४॥)
शिक्षा—डा० जाकिरहुसैन	३)

कविता

कदली वन—नरेन्द्र शर्मा	२)
काव्यधारा—शिवदानसिंह चौहान	६)
कवितायें (१९५४)—सङ्कलन	२॥)

उपन्यास

गुंठन—गुरुदत्त	५)
सीधा साधा रास्ता—रांगेय राघव	६॥)
मुर्दों का टीला— ”	७॥)
बोलते खंडहर— ”	३)
नादिरा—गिरजादत्त शुक्ल गिरीश	५)

कहानी

पाकिस्तान—रघुपतिसहाय फिराक	३॥)

नाटक

वाह रे मैं वाह—के० एम० मुन्शी	४)
चक्रव्यूह—रघुवरदयाल श्रीवास्तव	३)
नया समाज—उदयशङ्कर भट्ट	१॥)

स्फुट

हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी	६॥)

बालोपयोगी

नटखट के गीत—चिरंजीत	१)
एक था राजा एक थी रानी—,,	१)
चरित्र-निर्माण की कहा०—राय बहादुरसिंह	१)
उत्तर भारत की लोक कथाएँ-३ भाग प्रत्येक	१)
मनोरञ्जक कहानियाँ—सावित्री देवी	१)

विज्ञान

पक्षियों का जीवन—अली सफदर	॥)
हमारी फसलें—सत्यप्रकाश गुप्ता	॥)
पेड़ पौधे—मुनीस सक्सैना	॥)
कीड़े मकोड़े और मक्खी मच्छर—,,	॥)
फल और सब्जियाँ—सूर्यकुमार जोशी	॥)
चींटी चींटों की दुनिया—जगपति चतुर्वेदी	२)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

सेहत
और
ताकत
का
नुस्खा
विटामिनों से
पूर्ण
जे. बी.
मंघाराम
के
नरिशिंग
बिस्कुट
बच्चों की सेहत
के लिये आदर्श

जे. बी. मंघाराम के
नरिशिंग
बिस्कुट
विटामिनों से पूर्ण

NOURISHING
J. B. MANGHARAM & CO.

J. B. MANGHARAM & CO.
GWALIOR

सभी दूकानदारों के यहाँ मिलता है।

एम० ए०, बी० ए०; साहित्यरत्न आदि के परीक्षार्थियों के लिये लाभदायक पुस्तकें

सूर और उनका साहित्य—हिन्दी संसार में एक अद्वितीय प्रकाशन । लेखक-डा० हरवंश-लाल शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ । मूल्य ७)

जिन भारतीय मनीषियों ने 'सूर और उनका साहित्य' पर सम्मतियाँ भेजी हैं वे निम्न प्रकार हैं—डा० अमरनाथ झा, डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० सत्येन्द्र, डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० बाबूराम सक्सेना, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० टी० एन० दीक्षित, महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य तथा राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त । इनके अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इस ग्रन्थ की एक स्वर से प्रशंसा की है ।

आर्थिक विचारों का विकास—(A development of economics thought) लेखक श्री यतेन्द्रकुमार एम० ए० । पृष्ठ संख्या ३५०, डिमाई आकार, मूल्य ५)

पुस्तक अपने विषय पर अनूठी है । एम० ए० के छात्रों के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। हिन्दी में अर्थशास्त्र की अपनी जैसी यह अकेली ही पुस्तक है ।

विशारद दीपिका—ले० श्री रमाशंकर जैतली एम० ए०, तथा देवर्षि सनाढ्य एम० ए० आदि मूल्य ६)

'विशारद दीपिका' आपकी सहायता को तैयार है । हिन्दी के चारों प्रश्नपत्रों की पाठ्य पुस्तकों का सार तथा उनके विषय में जानने योग्य बातें 'विशारद दीपिका' में प्रस्तुत करदी गई हैं । विद्वान और अनुभवी लेखकों ने पुस्तक को इस कुशलता के साथ तैयार किया है कि दीपिका पढ़ने के बाद और कुछ पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती । विशारद (मध्यमा) करने वालों की यह आज की पहली आवश्यकता है ।

हिन्दी आलोचना में एक नया प्रयास

भावना और समीक्षा—(आलोचनात्मक निबन्ध) ले० डा० ओमप्रकाश, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हंसराज कालेज, देहली । मूल्य ४)

पुस्तक में हिन्दी काव्य के एक हजार वर्ष, वीर काव्य की परिस्थितियाँ, विद्यापति और चण्डीदास, कबीर का जीवनचरित, विनयपत्रिका, सूर की राधा, तुलसी का दार्शनिक मत, बिहारी का काव्य-कौशल, हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्य, शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध, कहानीकार जयशङ्करप्रसाद, कुरुक्षेत्र, चाणक्य और चन्द्रगुप्त, आदि २१ निबन्धों का मौलिक विवेचन और संस्कृत, बँगला, गुजराती साहित्य से तुलना दर्शनीय है।

बी० ए० के हिन्दी छात्रों के लिए अत्युपयोगी पुस्तकें

१—मध्यकाल के पाँच श्रेष्ठ कवि—आगरा वि० वि० के बी० ए० (प्रथम वर्ष) के हिन्दी पाठ्यक्रम में निर्धारित पाँचों कवियों—जायसी, सूर, तुलसी, केशव, घनानन्द और उनके कृतित्व का सांगोपांग विवेचन । १९५५ ई० के परीक्षार्थियों ने इस पुस्तक से बड़ा लाभ उठाया है । मूल्य १।।)

२—आधुनिक काल के चार श्रेष्ठ कवि—यह पुस्तक बी० ए० (द्वितीय वर्ष) के हिन्दी-छात्रों के लाभार्थ लिखी गई है । रत्नाकर, मैथिलीशरण, प्रसाद और पन्त इन चारों कवियों की आलोचनात्मक विवेचना । पुस्तक शीघ्र प्रकाशित होगी । दोनों पुस्तकों के लेखक हैं धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ के प्राध्यापक, श्री रमाशङ्कर जैतली और श्री देवर्षि सनाढ्य । मूल्य १।।)

३—दो प्रतिनिधि हिन्दी नाटक—बी० ए० (द्वितीय वर्ष) हिन्दी में निर्धारित 'भारत-दुर्दशा' और 'अजातशत्रु' का पूरा-पूरा विवेचन । लेखक श्री देवर्षि सनाढ्य ।

प्राप्तिस्थान—भारत प्रकाशन मन्दिर, सुभाष रोड, अलीगढ़

भाग १७] आगरा—सितम्बर १९५५ [अङ्क ३

हमारी विचार-धारा

नाटक-विशेषाङ्क का परिशिष्ट—

'साहित्य सन्देश' के अन्तःप्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क का स्वागत जिस प्रेम से हुआ है उससे हमें बड़ी प्रसन्नता है। इस विशेषाङ्क में स्थान के अभाव से नाटक सम्बन्धी कई आवश्यक लेख छपने से रह गए थे। 'बँगला नाटक' लेख के लिए तो हमें पृष्ठ छोड़ देने पड़े। इन्हीं सब के लिए हमें इस विशेषाङ्क का यह परिशिष्टाङ्क निकालना पड़ा। इनके विना नाटक विशेषाङ्क सचमुच अधूरा था, जैसा हमने स्वयं उस अङ्क के सम्पादकीय में स्वीकार किया है। समस्या नाटक, एकाङ्की नाटक और रेडियो नाटक पर स्वतन्त्र चर्चा होने की आवश्यकता थी। और हिन्दी नाटक के क्रमिक विकास को विस्तार से बताना भी जरूरी था। यह कमी इस अङ्क से पूरी हो जाती है। विशेषाङ्क और परिशिष्टाङ्क मिला कर नाटक की गतिविधि का संक्षेप में पूर्ण चित्र पाठक के सामने आ जाता है। इस प्रकार १५० पृष्ठ की यह सुपाठ्य सामग्री जो पुस्तकाकार प्रकाशित की जाय तो चार रुपये की स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जायगी—'साहित्य-सन्देश' की इस वर्ष की देन है। हमारे सहयोगी सम्पादक इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए साहित्य सन्देश की चर्चा अपने पत्रों में कर सकें तो हम उनका बड़ा आभार मानेंगे। हमारे पाठक भी इसकी ओर ध्यान देकर ग्राहक बढ़ाने में हमारी कुछ सहायता करेंगे तो निश्चय ही वे 'साहित्य-सन्देश' की सहायता ही नहीं करेंगे हिन्दी के सत्साहित्य के प्रचार में भी सहायक बनेंगे। साहित्य सन्देश आर्थिक दृष्टि से घाटे पर निकल रहा है यह घाटा तभी पूरा हो सकता है जब हमारे सभी ग्राहक बन्धु इसे अपना पत्र समझ कर इसके प्रचार में सहायक बनें।

इस विशेषाङ्क में जिन विशिष्ट लेखकों के लेख छपे हैं उनके प्रति आभार मानना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। श्री प्रभाकर माचवे के हम विशेष आभारी हैं जिनकी कृपा के विना यह अङ्क इस रूप में नहीं निकल सकता था।

राजधानी में हिन्दी प्रदर्शनी—

१२ अगस्त को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने दिल्ली में एक प्रदर्शनी का उद्घाटन किया था, जिसमें हिन्दी की उन पुस्तकों को रक्खा गया था जो पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित हुई हैं, विशेषकर अहिन्दी भाषी प्रान्तों में। राष्ट्रपति ने अपने भाषण में इस बात पर बहुत बल दिया कि हिंन्दी दूसरे प्रान्तों पर लादी नहीं जायगी। इस अवसर पर आपने कुछ मौलिक सुझाव भी दिए जिनमें एक यह है—इस प्रकार की प्रदर्शनी और भी की जायँ और उनमें केवल हिन्दी की ही नहीं भारत की सभी भाषाओं की पुस्तकें रक्खी जायँ। हमारा विश्वास है कि राष्ट्रपति के इस सुझाव के अनुसार आगे भी ये प्रदर्शनियाँ होंगी। और होनी भी चाहिए। यही सोच कर कि भविष्य में भी ये प्रदर्शनियाँ होंगी हम शिक्षा-मन्त्रालय से निवेदन करते हैं कि—

१—प्रदर्शनी में प्रयत्न कर सभी विषयों की सभी पुस्तकें इकट्ठी की जायँ। अच्छी पुस्तकों को किसी हालत में न छोड़ा जाय। वर्तमान प्रदर्शनी के बारे में यह आम शिकायत है कि उसमें पुस्तकें बहुत ही कम थीं। अगर हिन्दी साहित्य की सम्पन्नता के स्थान पर उसकी दरिद्रता की घोषणा करनी हो तो बात दूसरी है। इन पुस्तकों को इकट्ठा करने के लिए प्रकाशकों की दया पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। मन्त्रालय को पुस्तकें स्वयं उपलब्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए। सरकार को इस कार्य में सफलता लाने के लिए एक स्वतन्त्र अधिकारी नियुक्त करना चाहिए। हिन्दी के सभी कार्यों को अकेले श्री यदुवंशीजी के भरोसे छोड़ना ठीक नहीं।

२—प्रदर्शनी को आकर्षक बनाने के लिए भी कुछ उपाय खोजना चाहिए। अभी तो जैसी प्रदर्शनी थी वैसे ही कम दर्शक पहुँचे। दिल्ली जैसे स्थान में एक सप्ताह में केवल चार हजार दर्शकों का पहुँचना साहित्यिक अभिरुचि का दिवालियापन तो है ही प्रदर्शनी की दरिद्रता का भी द्योतक है।

३—यह प्रदर्शनी केवल राजधानी ही में न हो हर तीसरे महीने देश के भिन्न-भिन्न भागों में की जानी चहिए जिससे समग्र देश के लोग उससे लाभ उठा सकें।

४—प्रदर्शनी में सभी भारतीय भाषाओं की पुस्तकें रक्खी जायँ और अलग-अलग विषयों को अलग-अलग कक्षों में बाँटा जाय।

५—जो पुस्तकें प्रदर्शित की जायँ उनकी एक सूची भी प्रकाशित की जाय।

प्रादेशिक भाषाओं के उपन्यास—

"राष्ट्रीय साहित्य अकादमी इस वर्ष के अन्त तक भारत की प्रादेशिक भाषाओं में से कुछ चुने हुए उपन्यास प्रकाशित करेगी।

"इन उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद होरहा है। सरदार के० एम० पणिकर के ऐतिहासिक उपन्यास 'केरलसिंह वर्मा' का मलयालम भाषा से हिन्दी में अनुवाद प्रायः तैयार हो चुका है।

"तेलुगु के एक सामाजिक उपन्यास 'मलपल्ली' का अनुवाद कराया जा रहा है जिसके लेखक श्री उन्नव लक्ष्मीनारायण हैं।

"उड़िया के सलाहकार बोर्ड ने 'माटीर मानुष' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की सिफारिश की है जिसके लेखक हैं श्री कालेन्दुचरण पाणिग्रही और अनुवादक भदन्त आनन्द कौसल्यायन।

"अकादमी इस वर्ष ११ उपन्यास प्रकाशित करना चाहती है।"

इस संवाद का हम हृदय से स्वागत करते हैं। ये ग्रन्थ राष्ट्रभाषा की सम्पन्नता ही नहीं बढ़ावेंगे वरन् राष्ट्र के अङ्ग स्वरूप उन-उन भाषा-भाषी प्रान्तों के जन-जीवन का परिचय कराकर पारस्परिक सौहार्द में वृद्धि करेंगे।

साहित्य एकादमी के इस कार्य का स्वागत करते हुए हम यह विनम्र निवेदन करेंगे कि यह परिचय एकाङ्गी न होना चाहिए। उसको चाहिए कि हिन्दी की गद्य और पद्य की चयनिकाएँ तैयार कराकर उनका विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद करावे,

जिससे कि हिन्दी न जानने वाले भी उसकी साहित्यिक निधि के कुछ नमूनों से परिचित हों और उनके हृदय में उनके मूल भाषा में पढ़ने की अभिलाषा जाग्रत हो। यह कार्य किसी अंश में देवनागर कर रहा था किन्तु उसके भी दर्शन अब दुर्लभ से हो रहे हैं।

रामचरित मानस का अँग्रेजी पद्यानुवाद—

यद्यपि यह ठीक है कि 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।' तथापि जो ख्याति और सफलता रामचरित लिखने में तुलसी ने पाई वह वाल्मीकि को छोड़ कर और किसी को उपलब्ध नहीं हुई। अँग्रेजी पाठकों के लिए इसके दो अँग्रेजी अनुवाद हुए, एक ग्राउस साहब का जिससे बहुत से अँग्रेजी पढ़े भारतीयों के हृदय में रामचरित मानस के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई, दूसरा पादरी हिल साहब का। किन्तु ये दोनों ही गद्य में थे। वाल्मीकीय रामायण का तो पद्यानुवाद ग्रिफिथ द्वारा हुआ था किन्तु रामचरितमानस का ऐसा कोई अनुवाद नहीं हुआ था। गद्य में भाव व्यञ्जना हो सकती अवश्य है किन्तु उसमें वह सहज प्रवाह नहीं आता जो भावपूर्ण सामग्री के लिए अपेक्षित होता है।

पादरी ए० जी० एटकिन्स एम० ए०, बी० डी० ने, जो मैथोडिस्ट सम्प्रदाय के ईसाई हैं, दस वर्ष के निरन्तर उत्साह पूर्ण परिश्रम के साथ रामचरित का पद्यानुवाद श्री देवदास गान्धी को सौंप दिया था जो अब मूल हिन्दी सहित हिन्दुस्तान टाइम्स से प्रका- हो गया है। यह अनुवाद सोलह आने शाब्दिक तो नहीं है किन्तु व्याख्यात्मक है। जिसके द्वारा गोस्वामीजी के भावों की गहराई में प्रवेश करने का प्रयत्न किया गया है। एक भाषा का दूसरी भाषा में शाब्दिक अनुवाद, विशेषकर पद्य प्रायः अपना सौन्दर्य खो बैठता है। इसीलिए इस अनुवाद में यह बात नहीं होने पाई है। इसमें भाव सौन्दर्य के साथ मूल के वाद सौन्दर्य की भी रक्षा की गई है। पादरी एटकिन्स भक्त हृदय हैं। सच्चा भक्त साम्प्रदायिक नहीं होता। इस अनुवाद में ईसाइयत की गन्ध नहीं आने पाई है वरन् इसमें अनुवादक के हृदय का ओज झलकता है।

रामचरित मानस का बरान्कोफ द्वारा रूसी भाषा में भी अनुवाद हो चुका है। ये दोनों ही अनुवाद यूरोप वालों को भारत की आत्मा से परिचित कराने में सहायक होंगे। यदि कोई महानुभाव सूर के भी चुने हुए पदों का पद्यानुवाद निकालने का प्रयत्न करे तो बड़ा अच्छा हो। परिचय के बिना प्रीति नहीं होती। हिन्दी ग्रन्थों का अँग्रेजी अनुवाद हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाने में सहायक होगा।

साहित्य-शिविर—

साहित्यकार संसद् प्रयाग के मुख-पत्र 'साहित्यकार' के दूसरे अङ्क के दर्शन हुए हैं। वह भीतर-बाहर दोनों ही ओर से सुरुचिपूर्ण और कलामय है। वैसे तो इसके सभी लेख साहित्यिक महत्व रखते हैं किन्तु उसके सम्पादकीय में उल्लिखित साहित्य-शिविर का, जिसकी प्रेरक शक्ति श्रीमती महादेवी वर्मा हैं, विवरण जिसे श्री जितेन्द्रसिंह ने लिखा है विशेष महत्व का है। ऐसे शिविर विभिन्न प्रान्तों के साहित्यिकों की पार्थक्य भावनाओं और पूर्वाग्रहों को (यदि वे साहित्यकारों में भी होते हैं) दूर करने और एक दूसरे के प्रति सौहार्द और आदर भावना बढ़ाने में सहायक होंगे। यह शिविर नैनीताल के पास ताकुला में २० मई से पहली जुलाई तक रहा। इसमें जो विचार-विमर्श हुआ उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"मानवता की सच्ची परम्परा मूलतः गतिशील रही है। प्रयोग प्रक्रिया है, प्रगति परिणाम। सच्चा प्रयोग परम्परा को विकास देता है और विश्व मानव की प्रगति का पथ प्रशस्त करता है। प्रयोग के लिए प्रयोग या मात्र विलक्षणता के लिए प्रयोग नहीं होने चाहिए। आवृत्ति मात्र न तो प्रयोग है और न परम्परा। सच्चा प्रयोग स्वानुभूत सत्य के रूप में साहित्य में व्यक्त होना चाहिए—तभी वह जीवन्त परम्परा को गति दे सकता है।"

'नयी कविता' के सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त ने 'मानवता की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया' के रूप में साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता का उल्लेख करते हुए **कहा** :

"साहित्य में ही मानव को पूर्ण बनाने का सामर्थ्य है। धर्म, दर्शन और राजनीति को भी साहित्य के आगे झुकना पड़ता है।....साहित्य-सृजन में आत्माभिव्यक्ति के साथ आत्मोपलब्धि होती है। सम्प्रदायों या वर्गों से ऊपर उठकर सत्य की उपलब्धि साहित्यकार ही कर सकता है। पुराने मूल्यों को भी आज हमें नयी अनुभूति की कसौटी पर कसना है—तभी नया साहित्य आत्मोपलब्ध—सत्य को व्यक्त करेगा।"

कवि एवं आलोचक श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने कहा : "मेघ की भाँति सच्चे साहित्य का लक्ष्य 'सर्वात्म-समर्पण' है। ऐसे साहित्य में 'स्वचेतन' और 'परचेतन' के समन्वय के साथ 'परम चेतन' की अभिव्यक्ति होती है।"

रङ्गवाणी—

"सांस्कृतिक दृष्टि से ताकुला साहित्य-शिविर की सफलता सबसे अधिक इस बात में है कि शिविर ने हिन्दी रङ्गमञ्च के विकास के लिए उचित दिशा-निर्देश किया। वस्तुतः आँधी और तूफान में भी मुस्काने वाले ७३ वर्षीय तरुण नाटककार मामा वरेरकर पूरे साहित्य शिविर के प्रेरणा-केन्द्र थे। मामाजी ने नाट्य-लेखन और रङ्गमञ्च के निर्माण के सम्बन्ध में जो बहुमूल्य संस्मरण सुनाये और उनसे इस सम्बन्ध में अन्य साहित्यकारों की जो निरन्तर चर्चा हुआ करती थी, उससे यह स्पष्ट था कि मामाजी को पिछले ५० वर्षों में मराठी रङ्गमञ्च के अभिनय उत्थान के लिए अनेक सङ्घर्षों का सामना करना पड़ा, फिर भी वे अपनी साधना में अडिग रहे। उन्हें मराठी रङ्गमञ्च का महर्षि कहा जा सकता है। मामाजी की गरिमा से सभी हिन्दी साहित्यकार प्रभावित थे। उनकी सक्रिय प्रेरणा से 'रङ्गवाणी' नामक संस्था का निर्माण हिन्दी रङ्गमञ्च के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। साहित्यकार संसद प्रयाग के तत्त्वावधान में काम करने वाली इस संस्था की 'तदर्थ समिति' की अध्यक्षता मामाजी ने स्वयं स्वीकार की है। समिति को हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री दिनकर, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, रायकृष्णदास, श्री अमृतलाल नागर, डा० धर्मवीर भारती (संयोजक) और डा० लक्ष्मीनारायणलाल आदि—का सहयोग प्राप्त है। हर्ष की बात है कि समिति में कर्णाटक के श्री आद्य रङ्गाचार्य, महाराष्ट्र के श्री रङ्गणेकर, गुजरात के श्री जयशङ्कर भोजक तथा बङ्गाल के श्री शम्भुमित्र को भी मनोनीत किया गया है। अहिन्दी प्रदेशों के ये मान्य कलाकार हिन्दी रङ्गमञ्च को राष्ट्रीय रङ्गमञ्च के स्तर पर पहुँचाने में हमारा साथ दे सकें, यह हमारे लिए गौरव की बात है। आगामी 'भारतेन्दु जयन्ती' के अवसर इस संस्था के उद्घाटन का निश्चय कर आयोजकों ने एक पवित्र कर्तव्य का पालन किया है। हिन्दी रङ्गमञ्च के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पावन जन्मतिथि से प्रेरणा ग्रहण कर हम अपने रङ्गमञ्च को सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय रङ्गमञ्च बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

राष्ट्रीय नवजागरण और पुनर्निर्माण के इस युग में रङ्गमञ्च का कितना महत्त्व है, यह हम सब जानते हैं। परन्तु दुःख की बात है कि जहाँ चित्रपट के प्रभुत्व से रङ्गमञ्च की प्रगति अवरुद्ध हो रही है, वहाँ कतिपय व्यावसायिक संस्थाएँ राष्ट्रीय रङ्गमञ्च की विधायिका बनने का स्वाँग रचती हैं। ताकुला साहित्य-शिविर में सम्मिलित लेखकों और कलाकारों ने रङ्गमञ्च सम्बन्धी अपने प्रस्ताव में विकास का उचित दिशा-निर्देश किया, जब उन्होंने कहा—

"राष्ट्रीय रङ्गमञ्च के विषय में हम साहित्यकारों की स्पष्ट धारणा है कि वह किसी भी व्यक्ति, किसी भी शासन-सत्ता, किसी भी राजनीतिक दल या किसी भी व्यापारी की महत्वाकांक्षा मात्र या धनोपार्जन मात्र का साधन न होकर राष्ट्र की समस्त विकासोन्मुख सांस्कृतिक परम्पराओं को समन्वित करता हुआ उच्चतम साहित्यिक संवेदनाओं को साक्षर तथा निरक्षर जनता तक पहुँचाकर उदार मानवीय स्तर पर उसके कल्याण-विकास में सहायक होना है।"

भारतेन्दु कालीन नाटक तथा परवर्ती नाटकों पर उनका प्रभाव

प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

हिन्दी गद्य-साहित्य के साथ ही हिन्दी नाटक-साहित्य का आरम्भ होता है। उस आरम्भ की सीमा को हम भारतेन्दु की नाटक-रचना से निर्धारित कर सकते हैं। भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में नाटक कहे जाने योग्य न तो नाटक ही थे और न हिन्दी का अपना कोई रङ्गमञ्च ही था। नाटक रचना आरम्भ करते समय भारतेन्दु के सम्मुख विदेशी तथा प्रान्तीय भाषाओं का विशेषकर बँगला भाषा का नाटक-साहित्य एवं संस्कृत नाटक साहित्य प्रेरणा-स्रोत के रूप में विद्यमान था। अस्तु भारतेन्दु ने विषय तथा शैली दोनों ही दृष्टियों से नितान्त समीचीन परिस्थितियों के अनुकूल संस्कृत एवं विदेशी तथा विदेशों से प्रभावित प्रान्तीय भाषाओं के नाटकों से सङ्गत तत्त्वों को ग्रहण कर हिन्दी नाट्य-कला का रूप-सँवार किया। उनके द्वारा निर्धारित रूप ही उस काल के अन्य नाटककारों ने ग्रहण करली थी।

अर्से से नाटक की परम्परा लोप रहने के कारण पाठक जनता ही नहीं लेखकों के हृदय में भी नाटकों के प्रति एक अरुचि उत्पन्न होगई थी। जब भारतेन्दु का नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' खेला गया तो उस युग के प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र ने ही उसका विरोध किया था।

किन्तु शीघ्र ही भारतेन्दु के प्रभावशाली व्यक्तित्व और सशक्त लेखनी ने हिन्दी नाटककारों के एक मण्डल को जन्म दिया और शीघ्र ही न सिर्फ हिन्दी में नाटकों की रचना ही प्रचुर मात्रा में होने लगी वरन् हिन्दी का अपना एक रङ्गमञ्च भी निर्मित हो गया। जिन प्रतापनारायण मिश्र ने भारतेन्दु के नाटक का विरोध किया था वे स्वयं भारतेन्दु मण्डल के एक समर्थ और सशक्त नाटककार बन गए।

भारतेन्दु काल के प्रमुख नाटककारों में हम काशीनाथ, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', तोताराम, केशवराम भट्ट और राधाकृष्णदास आदि का नाम ले सकते हैं।

भारतेन्दु ने प्रायः १७ नाटक लिखे थे, जिनमें से छः—'रत्नावली' (अपूर्ण), 'पाखण्ड विडम्बन', 'धनञ्जय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमञ्जरी', 'दुर्लभ-बन्धु', अनुवादित एवं ग्यारह—'विद्यासुन्दर', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'प्रेम जोगिनी' (अपूर्ण), 'विषस्य विषमौषधम', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्री चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'नील देवी', 'अन्धेर नगरी', 'सती प्रताप' (अपूर्ण) मौलिक नाटक लिखे थे। विषय की दृष्टि से इन सभी नाटकों को तीन वर्गों में—पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक में बाँट सकते हैं। सभी नाटकों में अन्धविश्वास, पाखण्ड एवं गतानुगत रूढ़िवादिता विरोधी सत्यवादिता, नव चेतना एवं देश भक्ति का स्वर मुखरित हुआ है। देश की नयी प्रगति में बाधक पुरानी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर भारतेन्दु ने करारे व्यंग्य किए हैं और इन सब से मुक्त नई चेतना के स्तर पर देश के विकास का पथ-संकेत दिया है।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु ने प्राचीन एवं नवीन दोनों का ही प्रयोग किया है। कुछ नाटकों में नितांत प्राचीन शैली का प्रयोग हुआ है, कुछ में नवीन का और कुछ में दोनों के समन्वित रूप का।

भारतेन्दु की इसी देश जागरण की नई चेतना से प्रेरित समाज के यथार्थ चित्रण तथा इतिहास एवं पुराण से ऐसे प्रसङ्गों को आधार बनाकर ही उस काल के अन्य लेखकों ने नाटक रचना की थी।

प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक', 'सङ्गीत शाकुन्तल', 'भारत दुर्दशा', 'हठी हम्मीर', 'गोसङ्कट', 'कलि प्रभाव' और 'ज्वारी ख्वारी' नाटक और प्रहसन लिखे थे। मिश्रजी विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से भारतेन्दु को आदर्श मानते थे। आपने

भारतेन्दु विरचित 'भारत दुर्दशा' के आधार पर 'भारत दुर्दशा' नाटक की रचना की थी। दोनों नाटकों के पात्रों में भी बहुत कुछ समानता है जैसे— एडिटर, बङ्गाली, आलस्य आदि जैसे प्रतीक पात्र उसमें भी हैं। मिश्रजी के नाटकों का कथानक भी तत्कालीन यथार्थ जीवन पर ही आधारित है। भाषा, हास्य व्यंग्यपूर्ण सरल एवं मुहावरेदार तथा पात्रोनुकूल है। 'कलि कौतुक' में मिश्रजी ने भारतेन्दु से एक पग आगे बढ़ कर कथा का यथार्थ जीवन से मूर्त रूप ग्रहण किया है। भारत दुर्दशा की तरह इसके पात्र भावात्मक और अमूर्त नहीं वरन् मूर्त और सत्य हैं। इसका गठन इस लाघव से हुआ है कि तत्कालीन जीवन की यथार्थ विकृतियाँ कथा के घात-प्रतिघात से स्वतः उभरती चलती हैं।

पं० बद्रीनरायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', 'प्रयाग समागमन', 'वीरांगना रहस्य', 'महानाटक' (अथवा वैश्य विनोद महानाटक, अपूर्ण) नाटक लिखे थे। आपके नाटकों की भाषा, शिल्प गठन एवं विषय-चयन पर भारतेन्दु का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आपके नाटकों में भी तत्कालीन जीवन की विकृतियों पर बड़े तीखे व्यंग्य हुए हैं।

लाला श्रीनिवासदास ने 'प्रह्लाद-चरित्र', 'तप्ता संवरण', 'रणधीर प्रेममोहिनी', नाटक लिखे थे। आपके नाटक यद्यपि पौराणिक और ऐतिहासिक हैं किन्तु उन पर तत्कालीन जीवन की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। आपका सबसे उत्कृष्ट नाटक 'रणधीर प्रेम-मोहिनी' माना जाता है। उस नाटक के सूत्रधार एवं नटी आदि का संवाद स्वयं भारतेन्दु ने लिखा था। शुक्लजी के शब्दों में उस नाटक के नायक नायिका के नाम से मित्रों और जूलियट की ओर ध्यान ले जाते हैं। इस नाटक में भारतेन्दु की चेतना अधिक विकसित रूप से मुखरित हुई है। भारतेन्दु के नाटक में 'प्रेम-जोगिनी' के पात्र 'जनपारिया' की धर्म की रामनामी' में जनता के शोषण और दुराचार पर जिन्दा रहने वाले 'झपटिया' जैसे लोगों के प्रति चुनौती को हम 'रणधीर' और 'रिपुदमन' पात्रों में और भी मू पाते हैं। मानव मात्रा की समानता का पक्ष स्थापि करता हुआ रणधीर कहता है—"जैसे आपके ऊँचे ऊँचे महलों पर सूर्य की धूप पड़ती है तैसे ही हमारी गरीब झोंपड़ी में भी सूर्य भगवान प्रकाश करते हैं हमारा आपका सब संसारी हाल एक सा है और हम तुमको ये झूँठा झगड़ा छोड़कर एक दिन अवश्य यहाँ से जाना पड़ेगा।"

बाबू तोताराम ने केवल दो ही नाटक लिखे थे 'कीर्तिकेतु' (मौलिक), 'केटोकृतान्त' (अँग्रेजी से अनुवादित)। आपके नाटक की भाषा, शैली, विषय सभी दृष्टि से भारतेन्दु परम्परा के ही नाटक हैं।

राधाचरण गोस्वामी द्वारा रचित मौलिक नाटक हैं—'सुदामा', 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण', 'बूढ़े मुँह मुँहासे'। व्यङ्ग पूर्ण भाषा-शैली, यथार्थ चित्रण, सरल दृश्य विधान, नवीन समन्वित गठन-शैली, आदि आपके नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। मिश्रजी की ही भाँति आपने भी समाज की मूर्त सत्य कथाओं को नाटकों का कथानक बनाया है।

काशीनाथ खत्री ने 'ग्राम पाठशाला' और निकृ नौकरी' 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ', 'बाल विधवा संताप', गुन्नौरी की रानी', 'लवजी का स्वप्न' नामक नाटकों की रचना की थी। भारतेन्दुकी ही भाँति आपने भी तत्कालीन जीवन से प्रभावित कथानक ही चुने थे और देश-सुधार की चेतना का संदेश दिया था। आपकी शैली व्यङ्गात्मक और भाषा सरल एवं मुहाविरेदार है।

इस प्रकार तत्कालीन सम्पूर्ण नाटककारों की रचनाओं को देखते हुए यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वे सब भाषा-शैली एवं विषय चयन की दृष्टि से भारतेन्दु परम्परा के ही नाटककार थे और भारतेन्दु उनकी चेतना के स्रोत थे।

जब भारतेन्दु ने नाट्य कला को जन्म दिया था उस समय वे प्रायः अकेले ही नाटककार थे, परन्

शीघ्र ही उनके चारों ओर नाटककारों का एक मण्डल निर्मित होगया था जिन्होंने नयी चेतना के पौराणिक, एतिहासिक एवं सामाजिक नाटकों की प्रचुर मात्रा में रचना की थी। सभी नाटकों में गतानुगत रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों, पाखण्डों आदि सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की जोंकों के विरुद्ध तीखे व्यङ्ग किए हैं जो जनता को सजग कर अपने जीवन में सुधार करने की चेतना देते हैं। वह काल था जब देश, समाज, धर्म तथा जीवन के नये मान-मूल्यों की स्थापना के लिए जूझ रहा था। उन नये मान-मूल्यों की स्थापना में जनता के दृष्टिकोण को स्पष्ट और प्रखर करने में उन नाटकों ने बड़ा कार्य किया था। भले ही साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि की कला वे न उपस्थित कर पाए हों।

तथापि कला की दृष्टि से भी इन नाटककारों का प्रयास तथा कार्य अवहेलनीय नहीं है। उन्होंने भाषा, पात्र योजना, कथा विन्यास, दृश्य-विधान सभी दृष्टियों से नाट्य-कला को एक नया रूप प्रदान किया था जो न तो नितान्त प्राचीन संस्कृत परिपाटी थी और न विदेशी नाट्य-कला की ही नकल थी। भारतेन्दु ने प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-कला के स्वरूप अपनी देशी परिस्थितियों के अनुकूल तथा जन-रुचि के अनुकूल तत्त्वों को ग्रहण कर दोनों के मिश्रण से नितान्त मौलिक एवं नवीन हिन्दी नाट्य-कला को जन्म दिया था। कला के उसी रूप को उस काल के सभी नाटककारों ने ग्रहण और विकसित किया था।

यही नहीं प्रसाद पर भी भारतेन्दु युगीन नाटकों का कला की दृष्टि से प्रभाव पड़ा था। वरन् यों कहना अधिक ठीक होगा कि प्रसाद-कालीन नाटक भारतेन्दु-कालीन नाटक साहित्य के विकास का अगला चरण थे। प्रसाद स्वयं एक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार थे। उन्होंने नाट्य-कला को अपनी प्रतिभा से एक अभिनव रूप प्रदान किया था; किन्तु भारतेन्दु ने प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के जिस समन्वित रूप के हिन्दी नाट्य-काल को सँवारा था उसी परम्परा पर आगे चल कर प्रसाद ने अपने नाटकों में दोनों शैलियों के सुन्दर समन्वय का रूप विकास किया है।

भारतेन्दु का दृष्टिकोण नाटक के प्रति अभिनय पर था। वे खेले जाने के लिये ही नाटकों की रचना करने के पक्ष में थे और यही विशेषता उस काल के सभी नाटककारों की थी। प्रसाद कालीन नाटककारों में इस दृष्टि का अभाव था। जिस तेजी से नाट्य रचना का विकास हुआ उस तेजी से हिन्दी रङ्गमञ्च का विकास न हुआ; परिणामतः नाटक और रङ्गमञ्च में एक विभेद उत्पन्न होगया।

प्रसादोत्तर कालीन नाटककारों पर तो नाटक-साहित्य एवं रङ्गमञ्च दोनों ही दृष्टियों का प्रभाव पड़ा है। प्रसादोत्तर कालीन नाटककारों—रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, अश्क का नाटकों को रङ्गमञ्च के उपयुक्त बनाने उनके खेले जाने के प्रति उत्साह दिखाने आदि की प्रवृत्ति निःसन्देह भारतेन्दु युगीन विशेषता है। आधुनिक नाटककार भारतेन्दु की व्यङ्गात्मक यथार्थवादी शैली, नाटकों को अधिक से अधिक रङ्गमञ्चीय बनाने में तथा सरल रङ्गमञ्चीय विधान में, सरल मुहाविरेदार भाषा में, सामाजिक यथार्थ के चित्रण में भारतेन्दु परम्परा पर ही आगे बढ़ते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज एकांकी नाटकों और सम्पूर्ण जीवन का चित्रण प्रस्तुत करने वाले लघु नाटकों (कैद और उड़ान) की जो टेकनीक विकसित होरही है उसके बीज हमें भारतेन्दु एवं उनके समकालीन नाटककारों के नाटकों में ही मिल जाते हैं। भारतेन्दु ने नाट्य-कला को जो सरल तथा जन रूप प्रदान कर उन्हें जनता में नयी चेतना का सन्देश वाहक बनाया था, वही उपयोगिता आज पुनः नाटककारों को आकर्षित कर रही है और आज पुनः नाटकों को रङ्गमञ्च के उपयुक्त बनाकर उन्हें जन चेतना का सबल सन्देश-वाहक बनाने का प्रयास किया जा रहा है। भारतेन्दु युग में उनके प्रचार का स्वर अधिक था कला का निखार कम था, आज उनमें दोनों का ही समान रूप से विकास हो रहा है।

द्विवेदीकालीन नाट्य-साहित्य

प्रो० तारकनाथ बाली एम० ए०

हिन्दी साहित्य में नाटकों की विकास दिखाने के लिए उनके इतिहास को चार कालों में विभाजित किया जाता है—

१—भारतेन्दु काल ।
२—द्विवेदी काल ।
३—प्रसाद काल, और
४—प्रसादोत्तर काल ।

किसी भी एक काल के नाट्य-साहित्य का बँधा हुआ विवेचन करने का अभिप्राय होगा विकास के सत्य से इन्कार करना । इसलिए किसी विशिष्ट काल पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए भी विकास के सत्य के अनुरोध से काल के आगे और पीछे की ओर दृष्टिपात कर लेना अपेक्षित समझा जाएगा । इसके अतिरिक्त एक अन्य बात भी महत्त्व की है । नाटक ही नहीं, सम्पूर्ण गद्य-साहित्य के विकास के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह सुतरां आवश्यक है कि खड़ी-बोली के विकास को ध्यान में रखा जाए । क्योंकि जब भी साहित्य-सृजन के लिए किसी नवीन भाषा को स्वीकार किया जाएगा, उसकी आरंभिक अवस्था में उसे साहित्यिक भाषा की सी अर्थोद्बोधन शक्ति प्राप्त नही हो सकती ।

भारतेन्दु काल में गद्य-भाषा के स्वरूप का निर्णय हो चुका था । भारतेन्दुजी ने स्वयं ही इस महान कार्य को किया था और इतना ही नहीं नाटकों और निबंधों में उसका प्रयोग कर उसकी शक्ति को प्रकाशित और विकसित करना भी आरम्भ कर दिया था । इस काल में नाटकों के विषय प्रायः ऐतिहासिक और पौराणिक ही रहते थे । किन्तु भारतेन्दु के सजग कलाकार ने सामयिक समस्याओं को भी नाटकों में मुखरित किया । गद्य की भाषा खड़ी बोली थी और पद्य की व्रज भाषा । नाटकों की रचना-शैली संस्कृत-नाटकों की-सी थी । नाटकों के अनुवाद भी किए गए ।

द्विवेदी काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान खड़ी बोली को व्याकरण-सम्मत बनाकर उसे व्यवस्थित करने की ओर ही रहा । भारतेन्दु युग के नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं एक प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार थे और अपने युग के प्रति सचेष्ट थे । द्विवेदी-काल के नायक आचार्य द्विवेदी युग-सचेष्ट महान साहित्य-प्रदर्शक थे । वे नाटककार न थे । फलतः इस काल के नाटकों को अपने काल के नायक की प्रतिभा से गौरवान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । इसलिए नाटकों की दृष्टि से इस काल को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता ।

जयनाथ नलिन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "भारतेन्दु के बाद और प्रसाद के पूर्व तक हिन्दी नाटकों का संक्रान्ति काल रहा । इस युग में नाटकों की प्रगति तो हुई ही नहीं, दुर्गति अवश्य हुई ।" नलिन जी की यह बात तो ठीक है कि द्विवेदी-काल नाटकों का संक्रान्ति काल है किन्तु उनकी यह बात मान्य नहीं है कि इस काल में नाटकों की दुर्गति हुई । उनके इस निष्कर्ष का कारण यह है कि वह द्विवेदी काल को एक इकाई के रूप में देख रहे हैं, चूँकि आगे के प्रभाव की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई । द्विवेदी-कालीन नाटकों के महत्त्व को आँकने के लिये पहले यह देखना चाहिये कि उनमें भारतेन्दु युग के नाटकों से क्या भेद है । प्रथम महत्त्वपूर्ण बात तो यह हुई कि इस काल में आकर पद्यों की भाषा भी खड़ी बोली हो गई । इसके साथ ही खड़ी बोली का स्वरूप भी अधिक निखर गया । केवल एक यही बात द्विवेदी-युगीन नाट्य साहित्य की प्रगति और महत्ता को भली-भाँति प्रकट कर देती है । क्योंकि इस काल के साहित्य की अवस्था को देखते हुए हमें उसकी प्रगति को दो

रूपों में देखना चाहिए। प्रथम प्रगति की कसौटी है प्रयुक्त भाषा का स्वरूप और द्वितीय गृहीत विषयों की युगानुरूप अनेकरूपता। भाषा के स्वरूप का निखार तो इन नाटकों में मिलता ही है। अब रही बात विषयों की अनेकरूपता की। यद्यपि अधिकांश नाटकों के कथानक ऐतिहासिक और पौराणिक थे फिर भी माखनलाल चतुर्वेदी के नाटक 'कृष्णार्जुन युद्ध' में "आधुनिक युग के राष्ट्रीय जागरण की भावना बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुई है।" इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में भी राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना के यत्र-तत्र दर्शन हो जाना स्वाभाविक ही है।

भारतेन्दु काल के समान ही इस काल में भी हमें दो प्रकार के नाटक मिलते हैं :—

(१) अनुवादित नाटक और (२) मौलिक नाटक।

अनुवादित नाटकों को भी हम तीन धाराओं में बाँट सकते हैं :—

(क) संस्कृत के अनूदित नाटक,

(ख) बंगला के अनूदित नाटक और

(ग) अंग्रेजी से अनूदित नाटक।

(क) संस्कृत नाटकों के अनुवाद करने वालों में प्रमुख हैं—रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए०, श्री सत्यनारायण कविरत्न और पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र। अनुवादित नाटक हैं—मृच्छकटिक, उत्तर रामचरित, मालती माधव, मालविकाग्निमित्र, नागानन्द, अभिज्ञान शाकुन्तल और वेणी-संहार आदि।

(ख) बंगला नाटकों के अनुवाद करने वाले हैं—सर्व श्री रामकृष्ण वर्मा, गोपाल राम, रूपनारायण पाण्डेय आदि। अनूदित नाटक हैं—'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रांगदा', 'पतिव्रता' आदि। अब खड़ी बोली में इतनी शक्ति आ गई थी कि वह मूल भावों को अभीप्सित अभिव्यक्ति दे सके। बंगला के नाटकों का तीव्र भाववेश प्रायः सभी अनुवादों में लक्षित होता है।

(ग) अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद करने वाले हैं—सर्वश्री गोपीनाथ एम० ए०, मथुराप्रसाद चौधरी, प्रेमचन्द आदि। अनुवादित नाटक हैं—'मैकबेथ', 'हैमलेट', 'रोमियो जुलियट' आदि।

(२) मौलिक नाटककार हैं सर्वश्री देवीप्रसाद, बद्रीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी। कुछ नाटकों के नाम हैं—'चन्द्रकला भानु कुमार', 'गोस्वामी तुलसीदास', विवाह-विज्ञापन', 'मिस अमेरिकन', 'चन्द्रहास' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन प्रकार के नाटकों की धाराएँ अलग-अलग कहीं कुछ मिलती-मिलाती भी चलती हैं। एक भावुकता-प्रधान बङ्गला के नाटकों की धारा है, द्वितीय सङ्घर्ष-प्रधान अङ्गरेजी के नाटकों की धारा है और तृतीय आनन्द प्रधान संस्कृत के नाटकों की धारा है। तीनों धाराओं का हिन्दी खड़ी बोली में प्रस्तुत किये जाने से सचेष्ट नाटककारों को अपना मार्ग निर्धारण करने तथा सभी धाराओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ। हमें अब एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो इन तीनों धाराओं को आत्मसात कर उनका समन्वित रूप प्रस्तुत करता। प्रसाद में हमें भावुकता, आनन्द और सङ्घर्ष तीनों का समन्वय मिलता है। यह सुरम्य समन्वय एक आकस्मिक घटना नहीं कही जा सकती। यह भी बहुत सम्भव है कि प्रसाद ने भावुकता का तत्त्व भारतेन्दु के 'चन्द्रावली नाटिका' आदि रचनाओं से ग्रहण किया हो।

अब एक प्रश्न रह जाता है, और वह है द्विवेदी युगीन नाटकों की कला का। 'कृष्णार्जुन युद्ध' को छोड़कर अन्य नाटकों की कला शिथिल और कहीं-कहीं दोषपूर्ण भी है। कला की दृष्टि से निस्संदेह यह युग नाटकों के लिए ह्रास का युग था किन्तु नाट्य-कला के तीनों रूपों आनन्द-प्रधान, भावुकता-प्रधान और सङ्घर्ष प्रधान को प्रस्तुत कर आने वाले साहित्यकारों के समन्वय कार्य को प्रेरित भी किया और उसे सुगम भी बनाया।

नाटककार प्रसाद और उनका युग

प्रो० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना एम० ए०

सरस्वती के अनन्य उपासक श्री जयशङ्करप्रसाद एक युग-प्रवर्तक एवं युग-स्रष्टा के रूप में हिन्दी जगत के अन्तर्गत अवतीर्ण हुए थे। आपकी बहुमुखी प्रतिभा ने सरस्वती के मन्दिर में नाटक, कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना आदि साहित्य की समस्त विधाओं के दिव्य सुगन्धिपूर्ण पुष्प चढ़ाये और आज उनकी अनन्त व्यापी सुरभि ने विश्व-साहित्य का कोना-कोना सुरभित बना दिया है।

प्रसाद की नाट्यकला का विकास—नाटककार के रूप में प्रसादजी का प्रवेश 'सज्जन' नाटक के द्वारा सं० १९६८ वि० में हुआ। उस समय आपकी अवस्था २२ वर्ष की थी और इससे पूर्व आप उर्वशी, चंपू तथा प्रेम-राज्य कविता की रचना कर चुके थे। प्रसादजी के इस नाटक को देखने पर पता चलता है कि वे हरिश्चन्द्र के नाटकों से प्रभावित होकर हिन्दी में नाटक लिखा करते थे। उस समय प्रसादजी पर प्राचीनता की पूरी-पूरी छाप विद्यमान थी, क्योंकि सज्जन नाटक में नान्दी, सूत्रधार, भरतवाक्य आदि के साथ-साथ कथोपकथन भी कविता में ही मिलते हैं। दूसरा नाटक 'कल्याणी परिणय' के नाम से सं० १९७० वि० में रचा गया। इसका संविधान भी अत्यन्त सरल और प्राचीनता को लिए हुए है, क्योंकि यहाँ पर भी नान्दीपाठ, भरतवाक्य आदि विद्यमान हैं। इससे एक वर्ष पूर्व प्रसादजी ने एक गीतिनाट्य 'करुणालय' का और निर्माण किया, जो एक अनुपम शैली में कविता के अन्तर्गत लिखा गया है तथा जिसके लिए 'अमित्राक्षर अरल्लछन्द' का प्रयोग हुआ है। यह नाटक सं० १९६९ वि० में लिखा गया था। इसका संविधान अत्यन्त सरल है यहाँ एक वैदिक गाथा को नाट्य रूप दिया गया है। इसके अनन्तर सं० १९७१ वि० में 'प्रायश्चित' नामक नाटक प्रकाशित हुआ, जिसका निर्माण शेक्सपीयर के 'मेक्बेथ' से प्रभावित होकर भारतीय इतिवृत्त को लेकर हुआ है। इसमें जयचन्द के प्रायश्चित का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर हम प्रसादजी को प्राचीनता से दूर नयी दुनियाँ में प्रवेश करते हुए पाते हैं। परन्तु इसके उपरान्त राज्यश्री (१९७२ वि०) में पुनः प्राचीन परिपाटी के आधार पर रचना की गई है। इस नाटक के दो संस्करण निकले हैं। प्रथम संस्करण में तो नान्दीपाठ भरतवाक्य आदि विद्यमान थे, परन्तु द्वितीय संस्करण में ये सभी बातें निकाल दी गईं तथा दृश्य-विधान एवं अन्य त्रुटियों का भी सुधार कर दिया गया। प्रसादजी का यही सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटक है।

इसके अनन्तर ६ वर्ष तक प्रसादजी नाटकों की ओर से मौन रहे। परन्तु १९७८ वि० में आपने 'विशाख' का निर्माण किया, जिसमें काश्मीर के इतिहास से कथानक लेकर बौद्धों के पतन एवं नारी-जीवन के भव्य चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ तक प्रसादजी की साधारण नाट्यकला के ही दर्शन होते हैं। इसके बाद सं० १९७९ वि० में प्रसादजी का उच्चकोटि का नाटक 'अजातशत्रु' प्रकाशित हुआ। यहाँ आकर प्रसादजी एक सफल नाटककार के रूप में दिखाई देते हैं। अभी तक प्रसादजी एक ही राज्य के कथानक को लेकर प्रायः नाटक लिखा करते थे, परन्तु यहाँ आकर कई राज्यों की घटनायें लेकर उनका सफल समन्वय किया गया है। साथ ही नाटक-संविधान भी अत्यन्त उन्नत एवं सफल दिखाई देता है। 'अजातशत्रु' के उपरान्त प्रसादजी ने 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९८३ वि०) लिखा। यहाँ पर पौराणिक युग की संस्कृति एवं सभ्यता का चित्रण करके प्रसादजी ने इतिहास की अपरिचित घटनाओं

को पाठकों एवं दर्शकों के सम्मुख रखा है। यहाँ राज्यों की क्रान्ति का विकट घोष सुनाई देता है परन्तु कला की दृष्टि से इस में दृश्य-विधान अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसी वर्ष प्रसादजी ने एक प्रतीकात्मक नाटक 'कामना' (१९८३ वि०) की और सृष्टि की जिसमें विलास-प्रधान संस्कृति पर सरल-स्वाभाविक जीवन सम्परिपूर्ण भारतीय प्रकृति की विजय दिखाई गई है तथा जीवन में शान्ति प्राप्त करने का सुगम उपाय भी बतलाया है। इसके अनन्तर आपने सं० १९८५ वि० में 'स्कन्दगुप्त' नाटक का निर्माण किया, जो शास्त्रीय दृष्टि से नाटकों के सभी लक्षणों से परिपूर्ण है, परन्तु प्राचीन रूढ़िवादिता से सर्वथा परे है। यहाँ भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यकला का सफल सामञ्जस्य हुआ है। सं० १९८६ वि० में प्रसादजी ने एक समस्यामूलक नाटक 'एक घूँट' का भी निर्माण किया, जिसमें राजनीति के साथ-साथ पारिवारिक जीवन की समस्या भी उठाई गई है। यहाँ प्रसादजी के यथार्थवादी रूप के दर्शन होते हैं किन्तु इस यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में आदर्शवाद भी विद्यमान है। इसके अनन्तर सं० १९८८ वि० में प्रसादजी का 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व सं० १९६६में प्रसादजी का एक निबन्ध सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' के ऊपर निकल चुका था। अतः इस नाटक की रूपरेखा बहुत पहले से ही बनाई जा चुकी थी। यह नाटक प्रसादजी की प्रौढ़तम कृति है, इसमें नाट्यकला का चरम उत्कर्ष तथा घटनाओं का सफल सामञ्जस्य दिखाई देता है। प्रसादजी का अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' के नाम से सं० १९९० वि० में प्रकाशित हुआ। यह नाटक स्त्री के पुनर्विवाह की समस्या के आधार पर ऐतिहासिक साक्षी प्रस्तुत करने के लिए लिखा गया है। इसका दृश्य-विधान अत्यन्त उन्नत एवं सफल है। इसमें प्रचुर मात्रा में नूतनता भी विद्यमान है तथा यह अभिनय की दृष्टि से भी अत्यन्त सफल रचना है। इतना ही नहीं इसमें इतिहास एवं कल्पना दोनों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय किया गया है। इनके अतिरिक्त प्रसादजी ने वैदिककालीन 'इन्द्र' सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री सङ्कलित करली थी, परन्तु असमय में ही काल-कवलित हो जाने के कारण वह अपनी इन्द्र सम्बन्धी नाटकीय भेंट हिन्दी-जगत को न दे सके, फिर भी इसका कुछ आभास प्रसादजी के 'आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट' नामक लेख से मिल सकता है, जो 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में संग्रहीत है।

नाटकों का वर्गीकरण—प्रसादजी ने इस प्रकार कुल १३ नाटकों का प्रणयन किया है, जो उनके अल्प-जीवन की महान् भेंट के रूप में विद्यमान हैं, क्योंकि इनमें प्रसादजी की प्रगल्भ प्रतिभा अभी अपना थोड़ा सा ही विकास प्रस्तुत कर पायी थी कि दुर्दैव ने उन्हें बीच में ही उठा लिया। ये समस्त नाटक कथा-वस्तु के आधार पर चार भागों में बाँटे जा सकते हैं—

(१) वैदिक—करुणालय।

(२) पौराणिक—सज्जन तथा जनमेजय का नागयज्ञ।

(३) ऐतिहासिक—कल्याणी परिणय. प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी।

(४) प्रतीकात्मक समस्यामूलक—कामना और एक घूँट।

इसके साथ ही रूपक-रचना की दृष्टि से उपर्युक्त नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

(१) नाटक—राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग यज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना तथा ध्रुवस्वामिनी।

(२) एकाङ्की नाटक—सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित और एक घूँट।

(३) गीति-नाट्य—करुणालय।

प्रसाद के नाटकों की विशेषताएँ——प्रसादजी के उपर्युक्त नाटकों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि प्रसादजी ने अपने समस्त नाटकों का निर्माण जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य के अभाव की पूर्ति

करने के लिए किया, वहाँ उनके हृदय में कुछ ऐसी समस्याएँ, धारणाएँ एवं घटनाएँ भी हिलोरें लेती रहती थीं जिनसे प्रेरणा लेकर उन्हें मूर्तरूप देने के लिए वे साहित्य की किसी न किसी विधा को अपनाते रहते थे। उक्त बातों के लिए नाटक सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन ज्ञात हुआ, इसी कारण प्रसादजी ने अपने हृदयगत कोष को 'नाटकों में ही सर्वाधिक सञ्चित करने का प्रयत्न किया। उनकी नाटक सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश का दिग्दर्शन—प्रसादजी अपने देश के इतिहास का सच्चा रूप प्रदर्शित करने के लिए छटपटाया करते थे। कारण स्पष्ट ही है कि प्रसादजी के समय तक देश का सच्चा इतिहास अन्धकार के गर्त्त में ही पड़ा हुआ था, और विद्वान उसे प्रकाश में लाते हुए झिझकते थे। परन्तु प्रसादजी ने नाटकों के माध्यम से पहले अपने अतीत जीवन के उन अंशों को सामने लाने का प्रयत्न किया, जो सर्वथा उपेक्षित हो कर समाज की दृष्टि से बाहर थे। इसके बारे में आपने स्वयं विशाख की भूमिका में भी लिखा है—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है और जिन पर कि वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।" इस प्रकार वैदिक युग से १२वीं शताब्दी तक का इतिहास आपने नाटकों में प्रस्तुत किया है।

(ख) भारतीय संस्कृति के स्वरूप की झाँकी—प्रसादजी को अपनी सांस्कृतिक परम्परा पर बड़ा गर्व था। विदेशी संस्कृति एवं सभ्यता की चकाचौंध में भारत का परिवर्तित होना प्रसादजी की मानसिक पीड़ा को अधिकाधिक बढ़ाया करता था। यही कारण है कि आपने जहाँ 'कामना' में विलासिता से भरे हुए जीवन का तिरस्कार कर के स्वच्छन्द प्रकृति की गोद में रह कर जीवन व्यतीत करने को श्रेयस्कर बतलाया है, वहाँ 'एक घूँट' में उच्छृङ्खल प्रेम को बाँधने का प्रयत्न किया है और ऐसे प्रेम को भारतीय समाज के लिए हानिप्रद बतलाया है। इसी तरह अजातशत्रु में मल्लिका एवं गौतम के द्वारा विश्वमैत्री, करुणा, शान्ति तथा मुदिता का सन्देश दिया है, जो अपनी सांस्कृतिक परम्परा के स्तम्भ हैं। अहिंसा एवं सत्य के आचरण की झाँकी स्कन्दगुप्त में अच्छी प्रकार मिलती है तथा प्रेम, त्याग, बलिदान आदि की अपनी उदात्त भावनाओं का समावेश 'चन्द्रगुप्त' नाटक में किया गया है। यहाँ पर विश्वप्रेम, राष्ट्रप्रेम, तथा जातिप्रेम की उदात्त भावनायें भी बड़े समुन्नत रूप में विद्यमान हैं। अपने धार्मिक पतन का रूप विशाख तथा स्कन्दगुप्त में देखने को मिल जाता है। इसके साथ ही तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता का सफल रूप भी स्कन्दगुप्त में दिखाई देता है जहाँ पर राजपुरुष परमभट्टारक, परमभागवत, परमवैष्णव आदि उपाधियों से भूषित किये जाते हैं, पर्णदत्त 'गरुड़ध्वज' लेकर आगे बढ़ता है जहाँ महाबलाधिकृत, नायक, महानायक, कुमारामात्य, महाप्रतिहार, महादण्डनायक आदि अधिकारियों के नाम दिये गये हैं। इस प्रकार प्रसादजी ने अपनी सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न किया है।

(ग) अतीत के सहारे वर्तमान को शिक्षा एवं उपदेश—प्रसादजी ने प्रायः ऐसी ही घटनायें अतीत के गर्भ से चुनी हैं, जिनके उद्धृत करने से वर्तमान जीवन में आई हुई बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। उनके लगभग सभी नाटक ऐसी-ही घटनाओं को लेकर चले हैं, जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हमारे वर्तमान जीवन से भी सम्बन्ध है। 'सज्जन' के अन्तर्गत आई हुई युधिष्ठिर की सज्जनता विदेशी शासकों के दुर्जनतापूर्ण व्यवहार के लिए उपदेश रूप में आई है, क्योंकि युधिष्ठिर अपने शत्रु दुर्योधन को मुक्ति दे देते हैं। इतनी उदारता और सज्जनता देश के लिए अपेक्षित भी थी। इसी तरह 'प्रायश्चित' में जयचन्द का प्रायश्चित भारतवासियों को दुष्कर्म से विरत करने

के लिए लिखा गया एक उपदेशपूर्ण नाटक है। करुणालय में धर्म-भीरु, कपट-चातुरी करने वाले हरिश्चन्द्र का चित्रण किया है जो अपने पुत्र को बचाने के लिए कपट-जाल रचता है। 'राज्यश्री' में दया-दाक्षिण्य तथा प्रेम एवं घृणा-द्वेष का रूप प्रस्तुत किया है। ऐसे ही अजातशत्रु में राजनैतिक, सामाजिक समस्याओं का सुझाव, स्त्री-आन्दोलन में स्त्री का स्थान आदि वर्तमान समस्याओं के सुझाव रखे गये हैं। स्कन्दगुप्त में देश-प्रेम तथा राष्ट्र-प्रेम की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न है तो चन्द्रगुप्त में विश्व प्रेम और राष्ट्र प्रेम के साथ साथ राजनीति का भी भव्य रूप प्रदर्शित किया गया है। इस तरह सर्वत्र वर्तमान को समुन्नत बनाने का प्रयत्न आपके अतीत के कथानकों पर रचे हुए नाटकों में विद्यमान है।

(घ) दार्शनिकता का पुट—प्रसादजी के नाटकों में दर्शन का समावेश अत्यन्त मार्मिक वातावरण की सृष्टि करता है। जीवन के लिए दर्शन ने जो एक स्थायी चिन्तन की परम्परा दी है उसका समुचित उपयोग प्रसादजी ने किया है। वे दार्शनिक भित्ति पर जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन करते हुए पाठकों को सचेत एवं सावधान करते रहते हैं। अजातशत्रु के बिम्बसार के दार्शनिक विचार कितने मार्मिक एवं उपयुक्त हैं—"आह! जीवन की क्षणभंगुरता को देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे ये अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है।" इन शब्दों में कोरी दार्शनिकता ही नहीं है, अपितु आगामी कथा के बीज भी सन्निहित हैं। प्रसाद की ऐसी दार्शनिकता सभी उन्नत नाटकों में देखने को मिलेगी। जनमेजय के नागयज्ञ में कृष्ण तथा अर्जुन के संवाद के अवसर पर तथा 'चन्द्रगुप्त' में मालविका, अलका, चाणक्य, कार्नेलिया आदि के कथनों में दर्शन का पर्याप्त पुट दिया गया है। इसका मूल कारण प्रसादजी की भावुकता है जिसके परिणामस्वरूप उनके नाटकों में दार्शनिकता की गहरी छाप दिखाई देती है। 'कामना' नाटक में तो यह दार्शनिकता चरम सीमा पर पहुँच गई है। साथ ही इसके कारण एक ओर वे कर्मवाद का सन्देश पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर 'नियतिवाद' की पुष्टि करते चलते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में एक ऐसी शक्ति समस्त विश्व का सञ्चालन करती रहती है, जो अज्ञात एवं अप्रत्यक्ष रहती है तथा जिसके नियम अटल हैं।

(ङ) भारतीय तथा पाश्चात्य कला का समन्वय—प्रसादजी अपने यहाँ की प्राचीन नाट्यकला से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने प्राचीन परम्परा के आधार पर ही अपने प्रथम ३, ४ नाटकों का प्रणयन किया, जिनमें नान्दी, सूत्रधार, भरतवाक्य तथा पद्यात्मक कथोपकथन आदि रखे गये। किन्तु जैसे-जैसे वे इस क्षेत्र में बढ़ते गये, वैसे ही वैसे उनकी कला सम्बन्धी जानकारी भी विकसित हुई और राज्यश्री के उपरान्त उनकी प्रौढ़तम रचनाओं में वे प्राचीन बातें लुप्त होने लगीं। पाश्चात्य नाटकों में नृत्य, गीत, नान्दी, भरतवाक्य आदि नहीं होते। प्रसादजी ने भी प्राचीनता का निर्मोक छोड़ दिया, परन्तु भारतीयता का सर्वथा परित्याग नहीं किया अर्थात् नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि तो नहीं रखे, परन्तु गीत और नृत्य अन्त तक सभी नाटकों में विद्यमान रहे। इसके साथ ही पारसी थियेट्रीकल कम्पनियों के लिए रचे हुए नाटकों में जो हलके हास्य के दर्शन होते थे, उसके स्थान पर अपने यहाँ के प्राचीन उच्च हास्य को स्थान दिया, आदर्श के साथ-साथ यथार्थ चित्रण की ओर भी उन्मुख हुए, एक ही घटना न रखकर अनेक घटनाओं का समावेश किया और दृश्य-विधान में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की। प्रसादजी के समय तक हिन्दी रङ्गमञ्च का पूर्णतया अभाव था, अतः वे एक उन्नत रङ्गमञ्च की स्थापना के लिए लालायित रहते थे

और इसी कारण कुछ साधारण नाटकों से क्लिष्ट भाषा एवं गहन विचारों का समावेश आपने अपने नाटकों में किया। उनके नाटक कवित्व से अधिक आक्रान्त हो गये और दार्शनिकता भी अधिक मुखर हो गई। ये सभी बातें पाश्चात्य नाट्यमञ्च की भाँति भारतीय नाट्यमञ्च को भी समुन्नत बनाने की चेष्टा के कारण उत्पन्न हो गईं। दूसरी ओर अंग्रेजी की भाँति सुखान्त एवं दुःखान्त नाटकों की ओर भी प्रसादजी अग्रसर हुए, परन्तु भारतीय दृष्टिकोण ने उन्हें अन्त में नाटक को 'मधुरेण समापयेत' के लिए बाध्य किया और अजातशत्रु जैसे दुःखान्त नाटक को भी हम पूर्णतया दुःखान्त न कहकर 'ट्रैजो-कामेडी' कह सकते हैं। उनका ध्यान समस्या-नाटकों की ओर भी गया तथा इतिहास के साथ-साथ समस्या-नाटक का सृजन करने में भी आप सफल सिद्ध हुए। आपका 'ध्रुव-स्वामिनी' नाटक इसका प्रमाण है। चरित्र-चित्रण के लिए आपने पाश्चात्य कला की भाँति अपने यहाँ भी कलात्मक विकास दिखाने का प्रयत्न किया और अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी में आप पूर्ण सफल रहे। इन नाटकों में एक और विशेषता दिखाई देती है, वह है अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण। यह अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण की प्रणाली पाश्चात्य नाटकों से अधिक प्राप्त हुई और प्रसाद जी ने उसे अपनाकर नाटकों में सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित किये। आपने मृत्यु, विवाह, नौकासंतरण आदि भी रङ्गमञ्च पर दिखाने का प्रयत्न किया, जो पाश्चात्य नाटकों में बराबर दिखाये जाते हैं। इस प्रकार आप पाश्चात्य तथा भारतीय कला के समन्वय में पूर्ण सफल रहे। इतना अवश्य है कि रङ्गमञ्च का अभाव होने से आपके नाटकों की सफलता का पूरा-पूरा परिचय जनता को प्राप्त नहीं हुआ और चल-चित्रों ने भी इस कार्य में बड़ी बाधा उपस्थित की।

प्रसाद युग के नाटककार—प्रसादजी ने ऐतिहासिक नाटकों की जिस परम्परा को स्थापित किया उसमें हरिकृष्ण प्रेमी का स्थान सर्वोच्च है। शुक्लजी ने दोनों को समान स्थान दिया है। प्रेमीजी ने मुस्लिम काल को चुन कर अपने नाटक लिखे हैं। इनमें 'रक्षाबन्धन', 'शिव साधना', 'उद्धार' आदि श्रेष्ठ नाटक हैं। इनके अतिरिक्त इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में जगन्नाथ मिलिन्द का प्रताप-प्रतिज्ञा (१९८५ वि०), चतुरसेन शास्त्री का उत्सर्ग (१९८६ वि०), उदयशङ्कर भट्ट का चन्द्रगुप्त मौर्य (१९८८ वि०) और दाहर (१९९१ वि०), गोविन्दवल्लभ पन्त का राजमुकुट (१९९२ वि०), परिपूर्णानन्द का रानी भवानी (१९९५ वि०), मिश्रबन्धु का शिवाजी (१९९५ वि०), रूपनारायण पाण्डे का पद्मिनी (१९९९ वि०) और मारवाड़ गौरव (१९९९ वि०) आदि प्रसिद्ध हैं।

दूसरे, प्रसादजी ने 'करुणालय' में जिस गीति-नाट्य शैली को अपनाया है, उसकी परम्परा में आगे मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान' और उदयशङ्कर भट्ट के 'कालिदास', 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' गीति-नाट्य में आते हैं।

तीसरे, प्रसादजी ने जिस सांस्कृतिक रूप का प्रदर्शन करने के लिए राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि नाटकों का प्रणयन किया उसकी भी परम्परा सजीव बनी रही। प्रेमीजी ने रक्षाबन्धन, शिवा-साधना, प्रतिशोध, स्वप्नभङ्ग तथा आहुत में, लक्ष्मीनारायण मिश्र ने वत्सराज, नारद की वीणा, गरुड़ध्वज, दशाश्वमेध, वितस्ता की लहरें तथा अशोक में उसका निर्वाह किया है। उदयशङ्कर भट्ट के मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र, सगर विजय तथा वृन्दावनलाल वर्मा के हंसमयूर तथा पूर्व की ओर और उदयशङ्कर भट्ट के 'शकविजय' आदि नाटक भी इसी परम्परा में आते हैं।

चौथे, प्रसाद जी ने 'एक घूँट' एकाङ्की द्वारा जिस एकांकी नाटक की शैली का सफल रूप प्रस्तुत किया, उसकी परम्परा भी बड़ी समुन्नत दिखाई पड़ती

(शेष पृष्ठ × पर देखिए)

प्रसादोत्तरीय युग के नाटकों की प्रवृत्तियाँ

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०

यद्यपि हिन्दी में नाटकों की परम्परा १३ वीं शताब्दी में लिखित 'संदेश-रासक'[1] से प्रारम्भ होती है तथापि प्रबोध चन्द्रोदय, हनुमन्नाटक, शकुन्तला नाटक (नेवाज) आदि को लेखक नाटक के आधुनिक अर्थों में ग्रहण नहीं करते और भारतेन्दु युग से आधुनिक नाटकों का प्रारम्भ मानते हैं। भारतेन्दु युग में आदर्शवादी, यथार्थवादी, स्वच्छन्दतावादी, समाज-सुधारवादी और राष्ट्रवादी नाटक लिखे गए। भारतेन्दु युग के अन्त में माइकेल मधुसूदनदत्त, गिरीशचन्द्र घोष, दीनबन्धु मित्र, द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का प्रचार होरहा था। रवीन्द्र प्रतीकात्मक नाटक लिख रहे थे। द्विजेन्द्रलाल राय पर शेक्सपियर की नाट्यकला का प्रभाव अधिक था, प्रसादजी पर इन दोनों का प्रभाव पड़ा। भावुकता, करुणा, अंतर्द्वन्द्व, दार्शनिक प्रवृत्ति तथा रोमाण्टिक दृष्टिकोण के साथ साथ अलंकृत शैली, विस्तृत संवाद, पात्रों व दृश्यों की अधिकता तथा कवित्वपूर्ण भाषा आदि प्रवृत्तियाँ प्रसाद के नाटकों में सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। प्रसादजी ने पाश्चात्य शैली पर ही चरित्र-चित्रण की पद्धति स्वीकार की। प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को विश्व के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया। इतिहास के अनुभवों को दुहराकर राष्ट्रीय मोर्चे को मजबूत किया और साथ ही रोमानी प्रवृत्ति तथा सौन्दर्य बोध को भी कवित्वपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया। प्रसाद के नाटकों में 'राष्ट्रीयता' व भारतीय संस्कृति को ही सर्वत्र वाणी मिली।

प्रसादजी के पश्चात् आज तक के नाटकों को डा० दशरथ ओझा ने निम्नलिखित भागों में विभाजित किया है—

१—वृत्त नाट्य (Ballet) २—नृत्य नाट्य, ३—भाव नाट्य, ४—गीति नाट्य Lyric drama ५—ऐतिहासिक नाटक, ६—सामाजिक नाटक, ७—पौराणिक नाटक, ८—एकांकी, ९—स्वगत नाटक, १०—रेडियो रूपक।

गीति नाट्य में आंतरिक सङ्घर्ष को गेयता में बद्ध कर अभिनेय बनाया जाता है। मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण का 'उन्मुक्त', प्रेमी का 'स्वर्ण-विहान' तथा उदयशङ्कर भट्ट के नीति नाट्य इसी नाट्य शैली में रचे गए।[2]

एकांकी नाटकों का प्रसाद के बाद बहुत प्रचार हुआ। सेठ गोविन्ददास[3], डा० रामकुमार वर्मा[4], उपेन्द्रनाथ अश्क, चतुरसेन शास्त्री, विष्णुप्रभाकर के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। बेनीपुरी का 'नेत्र-दान' तथा विष्णुप्रभाकर का 'क्या वह दोषी था' नवीनतम रचनाएँ हैं। पाश्चात्य कला को आत्मसात कर ये नाटक लिखे गए हैं।

स्वोक्तिपरक (Monodrama) नाटकों में, एक ही पात्र अपने विचारों को प्रकट करता है। सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' नामक संग्रह में[5] प्रलय और सृष्टि, नामक नाटक स्वोक्तिपरक है। 'अलबेला' 'शाप व वर', तथा 'सच्चा जीवन' भी इसी श्रेणी में आते हैं।

---

१. हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास—
डा० दशरथ ओझा।

२. भट्टजी के गीति नाट्य—कालिदास, मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा। राधा को 'भावनाट्य' माना जाता है क्योंकि इसमें मधुर गीतों को माध्यम बनाया गया है।

३. सप्तरश्मि, पञ्चभूत।

४. पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्रा।

५. देखिए—हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास पृष्ठ ४६१।

(२) बेनीपुरी का 'सीता की माँ' प्रसिद्ध स्वोक्ति-परक नाटक है।

रेडियो-रूपक रेडियो के लिए लिखे जाते हैं। इसमें विष्कम्भक व प्रवेशक का कार्य स्वयं लेखक करता चलता है और बीच-बीच में आकर्षक संवादों का विधान रहता है, इसमें 'समय की एकता' का ध्यान नहीं रखा जाता। यह प्रयोग अत्यधिक आकर्षक प्रमाणित हुआ है। रेडियो रूपकों में ही फीचर की गणना होती है, फीचर कला का आविष्कार किलर कॉच के द्वारा हुआ। इसमें प्रसिद्ध उपन्यासों को नाटक-रूप में उपस्थित किया गया था। हिन्दी में प्रेमचन्द के उपन्यासों पर कई फीचर प्रसारित किए गए। इसमें सूचना देने व प्रचार करने की प्रवृत्ति होती। है सुशील का 'पञ्चायत राज' इसका उदाहरण है। (डा० ओझा)

'भाव-नाट्य' (Fantacy) कला का विकास भी नवीनतम है। विष्णुप्रभाकर के अनुसार इसमें 'रोमानी चित्रण' रहता है। अनुभूति या घटना को भावात्मक रूप में चित्रित किया जाता है। विष्णु प्रभाकर के 'अर्द्धनारीश्वर' तथा 'शलभ और ज्योति'[1] इस विधा के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। परन्तु मञ्च पर जिसे 'भाव-नाट्य' कहा जाता है वह इस विधा से भिन्न है उसमें हाव-भावों की प्रधानता रहती है। उदयशङ्कर भट्ट का "विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य" इसका उदाहरण है।

'ध्वनि काव्य रूपक' भी एक नवीन शैली है इसमें आन्तरिक सङ्घर्ष की प्रधानता रहती है। सुमित्रानन्दन पन्त का 'शिल्पी', 'रजत शिखर', 'शुभ पुरुष' भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण' उदाहरण हैं। इनमें कविता में ही संवाद प्रस्तुत किए जाते हैं बीच-बीच में ध्वनियों के विशेष संकेत रहते हैं।

कुछ लेखक 'रिपोर्ताज' को भी रूपकों में ही रखना चाहते हैं जो गलत है क्योंकि इसमें संवादात्मकता के स्थान पर वस्तुस्थिति की आकर्षक रिपोर्ट मात्र रहती है जो कथा के अन्तर्गत आती है।

व्यंग्य-नाटक भी एक विशेष शैली है इसमें विचारों को जगाने की शक्ति रहती है, ये सर्वदा सोद्देश्य होते हैं, और प्रतिपक्षी को चिढ़ाने, बनाने तथा उसके कमजोर पक्ष पर कटाक्ष करने के लिये लिखे जाते हैं। अश्क का 'अधिकार रक्षक', भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', विष्णुप्रभाकर का 'कांग्रेसमैन बनो' तथा उदयशङ्कर भट्ट का 'दस हजार' इसके उदाहरण हैं।

प्रसाद व भारतेन्दु युग में रङ्गमञ्च के लिए नाटक लिखे गए परन्तु रङ्गमञ्च के लिए लिखे गए नाटक रेडियो पर सफल नहीं हो सकते, अतः उपर्युक्त नई विधाओं का रेडियो पर अधिक प्रयोग होता है।

जन-नाटकों में रास, स्वाँग, ढोलामारू, निहालदे, नौटङ्की आदि भी बराबर प्रसारित होते रहते हैं।

ऐतिहासिक, सामाजिक नाटकों में सेठ गोविन्द दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उग्र, सियारामशरण, उदयशङ्कर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा, मिलिन्द, प्रेमी आदि के नाटक प्रसिद्ध हैं।

शैली की दृष्टि से प्रसादोत्तरीय नाटकों का विव-रण प्रस्तुत करने के पश्चात् विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।

भारतेन्दु युग के नाटकों का स्वर सुधारवादी था प्रसादजी का पुनरुत्थानवादी। सामाजिक सुधारों के प्रति भारतेन्दु युग का लेखक बहुत अधिक जागरूक था। 'प्रसाद' जी के युग में युग-चेतना अधिक गम्भीर हो गई थी अतः प्रसाद ने वर्तमान की समस्याओं के हल करने के लिए इतिहास के अज्ञात अध्याय दृश्यों का उद्घाटन किया। राष्ट्रीय एकता का स्वर प्रबल हुआ और 'प्रेमीजी' ने मध्यकाल के इतिहास को अपना विषय बनाया। द्विजेन्द्रलाल राय ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार किया था। राष्ट्रीय व कलह का अन्तर्द्वन्द्व राय महोदय के नाटकों बराबर मिलता है।[1] हरिकृष्ण प्रेमी ने भी हि

---

[1] १—अप्रकाशित—डा० ओझा द्वारा सूचित।

[1] १—मेवाड़ पतन में गजसिंह से महावत कहता है—

मुस्लिम एकता का प्रचार किया। रक्षाबन्धन, शिवा-साधना, प्रतिशोध, स्वप्न भङ्ग, आहुति, उद्धार ऐसे ही नाटक हैं।

प्रसाद व प्रेमी के नाटकों के पश्चात् हिन्दी में 'समस्याप्रधान' नाटकों का अधिक महत्त्व माना जाता है। परन्तु समस्या प्रधान नाटकों की परम्परा अधिक चल न सकी जैसे वह भारतीय-मन के अनुकूल नहीं बन सकी। हिंदी में समस्या प्रधान नाटकों के प्रवर्तक हैं लक्ष्मीनारायण मिश्र। मिश्रजी मूलतः पुनरुत्थानवादी कलाकार हैं। हिन्दू संस्कृति के वर्तमान रूप को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और आधुनिक तर्क-जाल खड़ाकर विधवा-विवाह जैसी प्रथा का भी विरोध करते हैं।[1] वे प्रसादजी के घोर-विरोधी हैं क्योंकि प्रसादजी पर पाश्चात्य कला का प्रभाव था। वे शेक्सपियर की तरह पात्रों की आत्महत्या करा देते थे, उनके नाटकों में मिश्रजी के अनुसार भारतीय संस्कृति का कुत्सित रूप चित्रित हुआ है, रोमाँस, वेदना, करुणा, गलदश्रु, भावुकता व कवित्वपूर्ण प्रलाप ही नाटकों का पर्याय बन गया है। मिश्रजी में ये दोष नहीं हैं।

मिश्रजी बड़े गर्व से कहते हैं कि छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव था, अतः उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। नाटकों की जिस शैली पर डी० एल० राय व प्रसाद का प्रभाव था उसे भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए समस्या नाटक लिखे। उनके अनुसार उन पर इब्सन, शॉ आदि का कोई प्रभाव नहीं रहा। वे शुद्ध भारतीय लेखक हैं। परन्तु फिर भी हिन्दी के लेखक उनके नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव सिद्ध करते रहते हैं। इतने महान सांस्कृतिक लेखक होते हुए भी मिश्रजी ने 'प्रसाद' पर कठोरसे कठोर (और भद्दे भी, गलत भी) आक्षेप किए हैं। उनके अनुसार ऐसा लगता है कि 'प्रसाद' ने नाटक लिखकर हिन्दू संस्कृति के साथ घोर विश्वासघात किया है, जिसके एकमात्र रक्षक मिश्रजी हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' ने उदयन को लम्पट के रूप में चित्रित किया है, मिश्रजी ने वत्सराज में उसे कर्म-योगी के रूपमें चित्रित किया है। 'गरुड़ध्वज' में शुङ्ग सेनापति विक्रम-मित्र को भीष्म के समान महान चित्रित किया गया है जो बाल-ब्रह्मचारी है, न्यायी, वीर, सदाचारी, प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' की तरह अतृप्त आकांक्षा से पीड़ित नहीं। एक और महान सांस्कृतिक कार्य मिश्रजी ने 'नारद की वीणा' में यह किया है कि आर्यों को कच्चा माँस खाने वाला बताया है और अनार्यों को अधिक सभ्य बताया है क्योंकि उनके अनुसार विजेता सदा असभ्य रहे हैं और विजित सर्वदा सभ्य रहे हैं। भक्त प्रह्लाद ने ही षडयन्त्र कर अपने शैव पिता हिरण्यकश्यप का वध कराया था, यह भी महान् सांस्कृतिक खोज है। 'दशाश्वमेध' में 'अश्वमेध' यज्ञ की पुनर्स्थापना का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

'वितस्ता की लहरों में' मनमानी कल्पनाओं से मिश्रजी ने सिकन्दर की जघन्यताओं तथा भारतीयों की महानताओं का चित्रण किया है जबकि 'प्रसाद' यह कार्य 'चन्द्रगुप्त' में नहीं कर सके (?)। इस प्रकार मिश्रजी की राय में भारतीय संस्कृति का जो रूप प्रसाद ने कलुषित कर दिया था उसका उद्धार उन्होंने अपने पवित्र नाटकों द्वारा कर दिया। यह उनकी ऐतिहासिक नाटकों की देन है। यह कार्य भी 'प्रसाद' से परेशान होकर ही उन्होंने किया यद्यपि वह प्रतिज्ञा कर चुके थे कि "इतिहास के गढ़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं"।

महावत—मुझे इसलिये फख्र हो रहा है कि मुसलमान होने पर भी मैं राजपूत कौम का हूँ और इन्हीं अमरसिंह का भाई हूँ.......अपने मुल्क के लिए ऐसी बेखौफी और ऐसी हिम्मत का काम राजपूत ही कर सकते हैं और मैं भी इन्हीं राजपूतों में हूँ।"

[1] १—मिश्रजी जिन प्रथाओं में मनोविज्ञान की दृष्टि से मानसिक उच्चता की रक्षा का अवसर खोजते हैं, वे प्रथायें प्राचीन युगों में इसी रूप में प्रचलित न थीं, क्या उस युग की अनेक प्रथाओं में मनोविज्ञान की दृष्टि से अच्छाइयाँ नहीं खोजी जा सकतीं।—लेखक

समस्या नाटकों में भी मिश्रजी ने भारतीय संस्कृति का पवित्र रूप प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'प्रसाद' कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ मानते थे, आत्म-हत्या करा देते थे, उनमें उन्माद, कोरी कल्पनायें, व्यर्थ की बकझक बहुत मिलती है। मिश्रजी ने 'कौमार्यभङ्ग' का अध्याय खोलकर संस्कृति का उद्धार किया है। 'संन्यासी' में राष्ट्रप्रेमी मुरलीधर किरणमयी का 'कौमार्यभङ्ग' करते हैं।

राक्षस के मन्दिर में पिता की वेश्या 'अस्गरी' से पुत्र प्रेम करने लगता है। 'मुक्ति के रहस्य' में कुमारी आशादेवी का कौमार्यभङ्ग प्रोफेसर उमाशङ्कर द्वारा कराया है। 'राजयोग' में बिहारीसिंह की स्त्री अपने नौकर गजराज से गुप्त प्रेम कर चम्पा नामक पुत्री उत्पन्न करती है। नरेन्द्र राजयोगी है जो बाद में कर्मयोगी बना दिया गया है। हिन्दू संस्कृति के रक्षक मिश्रजी के नाटकों में इन असांस्कृतिक बातों का वर्णन पढ़कर आश्चर्य होता है। इसलिए और भी कि आपने 'प्रसाद' को असांस्कृतिकता के लिए बदनाम करने के लिए कठोर से कठोर शब्दावली का प्रयोग किया।

'प्रसाद' जी की शैली, चरित्र-चित्रण, दृश्यविधान, संवाद आदि की भी मिश्रजी ने कटु आलोचना की है। मैं यह नहीं कहता कि 'प्रसाद' जी में सब कुछ अच्छा था, या उनके नाटकों में कोई दोष नहीं है। परन्तु केवल अवगुणों को बढ़ा-चढ़ा कर कहना, केवल इसलिए कि मिश्रजी को 'प्रसाद' जी से बड़ा नाटककार मान लिया जाय, अनुचित है। वास्तव में प्रसादजी कौमार्य के पक्षपाती थे, कौमार्यभङ्ग के नहीं।

यह ठीक है कि प्रसाद के नाटक बड़े हैं, पात्र अधिक हैं, भाषा कठिन है परन्तु सबसे बड़ी बात वहाँ यह है कि प्रसाद के पात्रों में जीवन है। वे वाद-विवाद में कुशलता दिखाकर कल्पित समस्याओं को मुख्य बनाकर पाठकों के सम्मुख नहीं प्रस्तुत करते बल्कि क्रिया द्वारा पात्रों के गुणों का समर्थन करते हैं। प्रसाद के पात्र लड़ते हैं, प्रेम करते हैं, परिस्थितियों के बीच में पड़कर अनुभव प्राप्त करते हैं, उनके चरित्र का विकास होता है, उनके खल-पात्रों में भी स्वाभाविकता व जीवन है, उनका व्यक्तित्व है, वे हमें याद रहते हैं। राष्ट्र-प्रेम अच्छे पात्रों के प्रेम में बाधक नहीं बनता, वीरता, शालीनता में, सज्जनता, शासन-कुशलता में बाधा नहीं बनती। नारियों में क्षमा, त्याग, विनय और प्रेम करने की शक्ति है—यह है भारतीय संस्कृति। मिश्रजी के नाटकों में पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली मात्र हैं, उनके विचार क्रियाहीन हैं, उनमें व्यक्तित्व नहीं है। चाहे मिश्रजी स्वीकार न करें उन पर प्रभाव है बर्नार्डशॉ और इब्सन का। शॉ के पात्रों के समान ही उनके पात्र भी विचारक और बौद्धिक अधिक हैं, व्यावहारिक कम, वे जीवन से सीखते नहीं, जीवन को अपनी पूर्वनिश्चित विचारधारा के दान देने का प्रयत्न करते हैं। मिश्रजी ने जिन समस्याओं को लिया है, वे वर्तमान समय में प्रचलित हिन्दू धर्म के प्रकाश में हल की गई हैं, अतः उनके समाधान साम्प्रदायिक हैं, भारतीय संस्कृति के सामान्य तत्त्वों को 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत किया था, बौद्ध व ब्राह्मण धर्म दोनों की उन्होंने आलोचना की थी, मिश्रजी ने उस परम्परा को अधिक संकीर्ण बना दिया है। वस्तुतः उन्हें केवल शैली की दृष्टि से योरोप से प्रभावित मानना चाहिए। विचार के क्षेत्र में उन्हें 'हिन्दुत्ववादी' लेखक कहना अधिक सङ्गत होगा।

किन्तु मिश्रजी ने एक नूतन विधा का तो प्रचार किया ही, समस्या नाटकों की परम्परा उन्होंने ही प्रचलित की चाहे उसका रूप कितना भी असांस्कृतिक व प्रतिक्रियावादी क्यों न हो।

इस परम्परा में वृन्दावनलाल वर्मा के 'बाँस की फाँस', 'पीले हाथ', 'लो भाई पञ्चो लो' आदि नाटक आते हैं। वर्माजी समस्या का चुनाव ठीक करते हैं परन्तु मिश्रजी जैसी नाटकीय प्रतिभा उनमें नहीं है। अतः विचारोत्तेजकता जैसी मिश्रजी में मिलती है, वैसी वर्माजी में नहीं मिलती। अश्क ने 'छुटा बेटा', 'कैद व उड़ान', 'विद्रोहिणी अम्बा' आदि नाटकों में

सामाजिक समस्याओं पर लिखा है। अश्क की सामाजिक चेतना वर्माजी व मिश्रजी दोनों से अधिक विकसित है।

सेठ गोविन्ददास ने समस्या नाटकों में गान्धीवादी चेतना का प्रचार किया है। हृदय-परिवर्तन, अहिंसा, सत्याग्रह, साम्यवाद की पराजय, गांधीवाद की विजय उनके विषय हैं। 'भूदान यज्ञ' में ये सभी बातें देखी जा सकती हैं। 'धीरे-धीरे' में काँग्रेस पर व्यंग्य किए गए हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त की 'अंगूर की बेटी' में मद्यपान की समस्या है। उदयशङ्कर भट्ट ने 'पर्दे के पीछे' में आधुनिक नारी तथा आधुनिक व्यवस्था की कुरूपताओं पर सुन्दर एकांकी लिखे हैं जो बहुत ही सफल हुए हैं।

प्रेमी व मिश्रजी के ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त सेठजी के 'हर्ष' नाटक में हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। उग्र का 'ईसा' भी इसी कोटि में आता है। भट्टजी का 'शक-विजय' भी एक ऐतिहासिक नाटक है। वर्माजी के 'पूर्व की ओर', 'हंसमयूर', प्रेमी का 'शपथ', मिलिन्द का 'गौतम नन्द', रांगेयराघव का 'रामानन्द' अच्छे ऐतिहासिक नाटक हैं। पगध्वनि (चतुरसेन शास्त्री) व भूदान-यज्ञ (सेठ गोविन्ददास) में जीवित पात्रों का भी प्रयोग किया गया है।

प्रतीकात्मक नाटकों की परम्परा हमारे साहित्य में प्राचीन है—पुण्य-पर्व (सियारामशरण) मृत्यु की ओर (सन्तोष) ज्योत्सना (पन्तजी) आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। प्रसादजी के 'कामना' के पश्चात् प्रतीकात्मक नाटक बहुत अच्छे नहीं लिखे गये।

विषय वस्तु की दृष्टि से 'प्रसाद' जी के बाद नाटकों में सामाजिक प्रश्नों—आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता, बेकारी, अशिक्षा, अन्धविश्वास, संयुक्त परिवार प्रथा का स्वरूप, प्रेम की समस्या, विवाह व तलाक, विवाहित जीवन, मध्यवर्ग की मानसिक दशा, वर्ग-सङ्घर्ष आदि विभिन्न विषयों पर नाटक लिखे गए हैं। प्रगतिवादी लेखकों ने व्यंग्य-प्रधान नाटक बहुत ही मार्मिक लिखे हैं यथा अमृतलाल नागर के नाटक। आजकल गीत, कविता, लम्बे संवाद, अनेक दृश्यों का विधान आदि तत्त्व त्याज्य माने जाते हैं। जनता के जीवन को चित्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। 'प्रसाद' के नाटकों की रोमानी भावना, मिश्रजी के नाटकों की कल्पित समस्याएँ अब ग्रहीत नहीं हैं।

हिन्दी में रङ्गमञ्च के अभाव के कारण अब भी अभिनय के योग्य नाटक नहीं लिखे जा सके। अतः मञ्च पर खेलते समय उपन्यासों को नाटक के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है, या फिर उसी अवसर के लिए नाटक लिख लिए जाते हैं। डा० सत्येन्द्र ने ऐसे कई नाटक लिखे हैं जिनका अभिनय विभिन्न संस्थाओं में हुआ है। उदयशङ्कर भट्ट के नाटकों का भी अभिनय सफलतापूर्वक होता है। ऐतिहासिक नाटकों में प्रेमी व मिलिन्द के नाटक अभिनेय हैं अन्यथा अधिकतर नाटक पाठ्य हैं। हिन्दी में नाटक का भविष्य उज्ज्वल है परन्तु रङ्गमञ्च के अभाव में रेडियो रूपकों का विकास जिस द्रुतगति से हो रहा है उस गति से मञ्च के लिए नाटकों का विकास नहीं हो रहा है, यह चिन्तनीय है।

साहित्य-सन्देश के ग्राहक बढ़ा कर
आप सत्साहित्य के प्रचार
में सहायक होंगे।

हिन्दी में समस्या-नाटकों की परम्परा

श्री इन्द्रपालसिंह एम० ए०

हिन्दी में भारतेन्दु युग से प्रसाद युग तक यों अनेक सामाजिक राजनैतिक समस्याओं पर नाटक लिखे गए, तथापि योरोप के समस्या नाटकों (Problem Plays) के अनुकरण पर समस्या नाटकों का आरम्भ प्रसाद, प्रेमी आदि के नाटकों के पश्चात् हुआ। इन नाटकों का उत्कृष्ट एवं प्रौढ़ रूप हमें लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में मिलता है। मिश्रजी हिन्दी में समस्या-नाटककार के नाम से ही प्रख्यात हैं। इन्होंने योरोप के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ के नाटकों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने नाटकों की रचना की है और हिन्दी-नाटक साहित्य को एक नूतन मोड़ दिया है। यद्यपि मिश्रजी से पूर्व प्रसादजी ही पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली को अपना चुके थे। उन्होंने भारतीय नाट्य-शास्त्र की कितनी ही सैद्धान्तिक बातों को छोड़ दिया था। प्रस्तावना, नान्दी, प्रवेशक, विष्कम्भक, अङ्कावतार और भरत वाक्य आदि को नमस्कार कर दिया था, तथापि रस सिद्धान्त की पूर्ण रक्षा की थी। उनके नाटकों में काव्य और दर्शन का अपूर्व सामञ्जस्य था तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य शैलियाँ सन्धि स्थल पर खड़ीं थीं। लेकिन मिश्रजी ने भारतीय नाट्य-शास्त्र के रस सिद्धान्त को भी छोड़ दिया। उन्होंने किसी भी समस्या को यथा तथ्य रूप में चित्रित करना अधिक उपयुक्त समझा और काव्य तत्त्व को अवहेलना की दृष्टि से देखा। मिश्रजी ने पाश्चात्य समस्या नाटकों से प्रभावित होकर जिस प्रकार के समस्या नाटक हिन्दी साहित्य के चरणों में अर्पित किए वे अपनी निजी विशेषताएँ रखते हैं। इन समस्या तथा स्वगत, अश्राव्य एवं नियतश्राव्य जैसे अस्वाभाविक कथोपकथनों का प्रयोग भी नहीं हुआ है। कथानक का विभाजन अनियन्त्रित और उसकी गति अनिश्चित सी है। गीतों का प्रयोग भी नहीं के बराबर हुआ है। भावावेश एवं रोमान्स की प्रतिक्रिया स्वरूप ये नाटक लिखे गए हैं। अतएव इनमें जीवन की बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या मिलती है, साथ ही सत्य का तीखापन भी कहीं-कहीं स्पष्ट झलकता है। पात्रों के कथोपकथन में मनोविश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया गया है। अतः कथोपकथन छोटे, स्वाभाविक एवं अपूर्ण वाक्यों तक में मिलते हैं। नाटकों के दृश्य विधान के लिए अत्यन्त विस्तृत किन्तु सूक्ष्मता लिए हुए रङ्ग-संकेत दिए गये हैं। हाँ, रङ्ग-मञ्च का प्रत्यक्ष अनुभव न होने के कारण उनमें त्रुटियाँ अवश्य पाई जाती हैं। कहीं-कहीं ऐसे दृश्यों का विधान भी मिलता है, जिनको दिखाया जाना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। इन समस्या नाटकों का अन्त या तो दुख में होता है या अनिश्चय एवं निराशा के वातावरण में, क्योंकि समस्याओं का उपयुक्त समाधान नहीं हो पाता।

मिश्रजी के समस्या नाटकों में सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, आधारित और सिन्दूर की होली प्रमुख हैं। इन सभी नाटकों की मूल समस्या यौन-समस्या है, जिसको उन्होंने चिरन्तन नारीत्व की समस्या कहा है। मिश्रजी ने अपने नाटकों में जिस समस्या को उपस्थित किया है, वह भारतीय जीवन की व्यावहारिक समस्या नहीं है अपितु ऐसे व्यक्तियों की समस्या है जो अपने जीवन व्यापार में स्वाभाविक गति की अपेक्षा बौद्धिक प्रवाह को अधिक महत्व देते हैं। यौन सम्बन्धी ये समस्यायें, हिन्दू समाज की रुढ़िबद्ध विवाह संस्था से सम्बद्ध हैं, जहाँ यौन आवश्यकताओं को नीति-विधान के नाम पर अप्राकृतिक रूप से दमन किया जाता है। अतः उससे पीड़ित होकर व्यक्तित्व स्वतन्त्रता के लिए

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

विस्फोट करना चाहता है। विदेशी प्रभाव उसे प्रेरणा देता है और नैतिक संस्कार उसे दबाने की चेष्टा करते हैं। फलतः यौन सम्बन्धी अनेकों जटिलतायें उपस्थित हो जाती हैं। इस प्रकार की घटनायें भारतीय समाज में सामान्यतः घटित नहीं होती। अतः इन नाटकों की ये समस्यायें व्यक्ति विशेष की ही समस्यायें हैं। मिश्रजी ने सर्वत्र चिरन्तन नारीत्व की और बुद्धि के द्वारा नारीजीवन की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है। 'सन्यासी' में मालती और किरणमयी की अवस्थाओं से मिश्रजी ने नारी जीवन के इन पहलुओं पर प्रकाश डाला है—नारी को अपने व्यक्तिगत विवाह सम्बन्ध में, समाज में तथा संसार में अपना व्यक्तित्व बनाने के लिए क्या अधिकार प्राप्त होना चाहिए ? राजयोग में नारी जीवन की वर्तमान दशा का चित्र इन शब्दों में प्रकट किया गया है—"पुरुष का सबसे बड़ा पौरुष और गुण स्त्री का अविश्वास करना, उसे सदैव सन्देह की दृष्टि से देखना, उसके आचरण पर पहरा बैठाना और अन्त में अपमान और लांछन से उसके हृदय को चूर-चूर करदेना है।" लेकिन आज नारी इस परिस्थिति में नहीं रह सकती। वह विद्रोह करती है और वह ललकार उठती है—"सैकड़ों हजारों वर्षों बाद नारी की जीभ अब खुलना चाहती है। स्त्री शिक्षा और साथ-साथ उसके अधिकार पर्वत फोड़कर नदी बाहर निकली है—समतल भूमि में वह रोकी नहीं जा सकती। अब तो स्त्री तर्क करेगी, प्रतिवाद करेगी और जरूरत पड़ेगी तो युद्ध करेगी।" यह है नारी की भावना। किन्तु कोरी भावना से नारी की समस्या सुलझ नहीं सकती। नारी की समस्या को सुलझाने का उपाय 'राजयोग' में नरेन्द्र बताते हुए कहता है—"नारी समस्या व्याख्यानों और प्रस्तावों से तब तक नहीं सुलझाई जा सकती, जब तक कि स्त्री स्वयं अपना हृदय न बदले। अपनी आँखों का आँसू और हृदय का उद्वेग रोककर अपने से ऊँचे न पहुँच जाय।" दूसरे शब्दों में उसे भावना पर हृदय पर बुद्धि का अंकुश रखना होगा। मुक्ति का रहस्य और सिन्दूर की होली में नारी की चिरन्तन समस्या का अपेक्षाकृत अधिक सफल व्याख्यान है। 'सन्यासी' की किरणमयी, 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी, 'राजयोग' की चम्पा आदि सभी इन्हीं समस्याओं में विकसित हुई हैं और असफल नारी जीवन की व्याख्या करती हैं तथा अन्त में प्रेम तथा विवाह में समझौता करके अपनी समस्या हल करती हैं। सभी नारी पात्रों में हृदय और बुद्धि का द्वन्द्व मिलता है, उनकी चिरन्तन नारीत्व की उद्बुद्ध भावना समान है। नाटकों में आदर्शवादी दृष्टि से लांछित नारी अपने हृदय को संयत कर बुद्धि और आत्मा के बल से अपने प्रेमियों पर विजय प्राप्त करती है। इसी प्रकार सभी नाटकों में एक भावुक व्यक्ति कवि की योजना की गई है जो बुद्धि का सम्यक उपयोग न करने के कारण अपने जीवन में विफलता प्राप्त करता है किन्तु उसी विफलता से शक्ति पाकर वह अपने को उठा लेता है। 'राक्षस का मन्दिर' का रघुनाथ, 'सन्यासी' का विश्वकान्त, 'सिन्दूर की होली' का मनोज शङ्कर, 'मुक्ति का रहस्य' का उमाशङ्कर बहुत कुछ समान हैं। यद्यपि अपने नाटकों में मिश्रजी ने सर्वत्र बुद्धिवाद को अपनाया है तथा अपने नाटकों के प्राक्कथनों में अपने को बुद्धिवादी घोषित भी किया है किन्तु भावना का वेग कहीं-कहीं बुद्धिवाद को दबाता सा दृष्टिगत होता है। वे अपने चेतन में तो बुद्धिवादी हैं, लेकिन उनका अवचेतन भावना से पूर्ण है। इसी कारण समस्याओं के अन्तर में बैठते हुए भी वे बर्नार्डशॉ की भाँति किसी परम्परा पर करारी चोट नहीं कर पाये हैं।

चिरन्तन नारीत्व की समस्या के अतिरिक्त उनके नाटकों में अन्य छोटी-मोटी समस्यायें भी अनमिल ढङ्ग से गुम्फित हैं। यथा—सन्यासी में जाति-रक्षा की समस्या के लिए एशियाई सङ्घ की समस्या, मुक्ति का रहस्य की चुनाव समस्या, तथा मातृ मन्दिर, खद्दर, सुधारवाद का दम्भ आदि। इन समस्याओं से प्रभाव ऐक्य में व्याघात उपस्थित हो जाता है। इस क्षेत्र के

REFRENCE BOOK

अतिरिक्त इनके किसी-किसी नाटक में दृश्यों का विभाग भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है। यथा 'सन्यासी' में दृश्यों का परिवर्तन और 'आधीरात' में अति प्राकृतिक तत्त्व का समावेश। संवादों में कहीं कहीं स्वाभाविकता के मोह में कठिन अँग्रेजी तक का प्रयोग निरन्तर किया है, जिससे हिन्दी का साधारण पाठक उदासीनता का अनुभव करता है। इन छोटी मोटी त्रुटियों के होते हुए भी उनके नाटकों में उनकी प्रतिभा का स्फुरण और उसकी शक्तिमत्ता प्रतिभासित होती है। नाटक साहित्य को नवीन गति देने का श्रेय उन्हें प्राप्त है और प्रसाद के बाद वे ही सर्वोत्कृष्ट नाटककार माने जाते हैं।

मिश्रजी के अतिरिक्त पृथ्वीनाथ शर्मा ने भी 'दुविधा' और 'अपराधी' नामक दो समस्या नाटक लिखे हैं। 'दुविधा' में आधुनिक शिक्षित नारी की समस्या को प्रस्तुत किया है, जो अपने शिक्षा-काल में स्वतन्त्र जीवन की रंगीनियों में खेल चुकी है और विवाह के मर्यादित-बन्धन-युक्त जीवन के अभिशाप के सम्बन्ध में सुन चुकी है। साथ ही जिसे मातापिता के निश्चय पर विश्वास नहीं है और स्वयं कुछ निश्चय नहीं कर पाती। दुविधा के इन क्षणों में परिस्थिति वश गलत निश्चय कर बैठती है। 'सुधा' के चरित्र द्वारा लेखक ने इसी समस्या का अङ्कन किया है। 'अपराधी' की समस्या भिन्न प्रकार की है। जो न्याय और समाज की दृष्टि से अपराधी है किन्तु स्वभाव से नहीं। परिस्थितियाँ उसे अपराधी बना देती हैं। 'मातादीन' के चरित्र से लेखक ने अपराधी की समस्या को उपस्थित किया है। ये नाटक नाट्य-कला की दृष्टि से उत्तम हैं।

इनके अतिरिक्त श्री उदयशङ्कर भट्ट ने भी 'कमला' नामक समस्या नाटक लिखा है। यद्यपि भट्टजी अतीत वैभव के कुशल चितेरे हैं, फिर भी अपने पौराणिक नाटकों में वर्तमान समस्याओं को अवसर निकाल कर स्थान दिया है। उनमें 'चिरन्तन नारीत्व' की समस्या झाँकती दृष्टिगत होती है। 'कमला' को। उन्होंने इसी समस्या के आधार पर लिखा है। सामन्तीय संस्कृति के प्रतिनिधि देवनारायण नामक वृद्ध से कमला नामक सुशिक्षित युवती का विवाह कराया है, जो नारी को मात्र उपभोग्य समझता है। उसकी इस भावना के विरुद्ध नारीत्व का सङ्घर्ष होता है और नारी अपनी बलि देकर पुरुष को जीवन का पाठ पढ़ाती है। इस नाटक में जहाँ कवित्व है वहाँ भाषा की सरसता भी है और वे स्थल सुन्दर भी बन पड़े हैं। किन्तु समग्र नाटक उतना सफल नहीं हो पाया है।

मुस्लिम-युग का उद्घाटन करने वाले श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने भी 'छाया' और 'बन्धन' नामक समस्या नाटक लिखे हैं। छाया में लेखकों की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। किस प्रकार लेखक अपनी आत्मा का रक्त देकर साहित्य की सृष्टि करता है। लेकिन उसे मिलता क्या है प्रशंसा के दो शब्द। उसकी दशा ऐसी है कि वह अपनी पत्नी की लज्जा ढकने को वस्त्र भी नहीं जुटा पाता। एक ओर उसे मान-पत्र भेंट होता है और दूसरी ओर सिपाही समन लिए दृष्टिगत होता है। प्रेमी जी के नाटकों में भावात्मकता और आदर्शवादिता का पुट आगया है। इसी कारण वे अपने समस्या नाटकों में उतने सफल नहीं हो सके हैं, जितने ऐतिहासिक नाटकों में हुये हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने नवीन शिक्षा प्राप्त नवयुवक और नवयुवतियों की समस्या को लेकर 'स्वर्ग की झलक' नामक नाटक की सृष्टि की है। आज का नवयुवक विदेशी सभ्यता के रङ्ग में रँगी हुई तितली के समान आकर्षक पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नारी की ओर आकृष्ट होकर स्वर्ग बसाना चाहता है। किन्तु उसके साहचर्य में आकर उसकी आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। तथा आधुनिक नारी स्वाभिमान के दम्भ में मानसिक सन्तुलन को खो बैठती है और इसी को नारीत्व की सार्थकता समझती है। किन्तु जब वह जीवन में प्रविष्ट होती है, तब उसे कटु अनुभव प्राप्त होते हैं। इन्हीं युगों का उद्घाटन अश्कजी ने अपने नाटक में किया है। [illegible] की [illegible] के आह्वान [illegible]

में प्रवेश नहीं करते तथापि ऊपरी धरातल पर रह कर समस्या को भली भाँति सुलझाने में समर्थ हुये हैं। नाटक, कला की दृष्टि से सफल है। जीवन के ऐसे ही स्थूल धरातल पर लिखा हुआ गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अंगूर की वेटी' नामक नाटक है। जिसमें मद्यपान के दोष दिखाये गये हैं। इसमें एक समस्या को प्रस्तुत किया गया है, इसी से भले ही इसे समस्या नाटकों की कोटि में गिन लिया जाय, वैसे इस नाटक में समस्या नाटकों जैसी टैकनिक नहीं है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के बाद समस्या नाटकों की परम्परा में सेठ गोविन्ददास का प्रमुख स्थान है। लेकिन उनकी समस्यायें सामाजिक नहीं राजनैतिक हैं। उनके नाटकों का आधार सैक्स नहीं राष्ट्रीयता है। उनके सभी नाटक स्वानुभूति के प्रतिबिम्ब हैं, जिनमें उनके वातावरण की प्रतिक्रिया है। वैभवपूर्ण वातावरण में उत्पन्न होकर भी उन्होंने राष्ट्रीयता का काँटों का ताज पहनना स्वीकार किया और महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व से अपने को बनाने की चेष्टा की। इसलिये इनके नाटकों में गान्धीवाद का व्यावहारिक पक्ष प्रबल है। वे उसके दर्शन और उसके चिन्तन क्षेत्र में नहीं गये अपितु बाह्य धरातल पर रहकर ही अपने नाटकों की सजा की। उन्होंने स्वयं असहयोग में भाग लेकर राष्ट्रीय जीवन के अनुभव प्रात किये और उनको अपनी तूलिका से अपने नाटकों में अङ्कित कर दिया। सेठ जी का 'सेवा-पथ' सेवा-पथ की समस्याओं को ही प्रस्तुत करता है। राजनीति के क्षेत्र में तीन प्रकार के व्यक्ति कार्य करते हैं। एक तो वे जो त्याग को सर्वश्रेष्ठ सेवा-पथ समझकर अपना उत्सर्ग करने को तत्पर रहते हैं और दूसरे वे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति जो बौद्धिक साम्यवाद के समर्थक होते हैं। ऐसे लोग आनन्दोपयोग को न त्याग कर भी ईमानदार देश सेवी बनना चाहते हैं और तीसरे वे पूँजीपति जो नाम के लिए राजनीति में भाग लेते हैं। 'सेवापथ' के दीनानाथ, शक्तिपाल और श्रीनिवास ऐसे ही पात्र हैं। 'प्रकाश' नाटक में पूँजीपतियों के दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष एवं असन्तोष का दिग्दर्शन कराया गया है। सेठ जी के नाटकों में यद्यपि जीवन की गहराई नहीं है लेकिन समस्या का सुलझाव अत्यन्त स्पष्ट है। सभी नाटकों की पृष्ठभूमि में वैभवपूर्ण वातावरण के यथातथ्य चित्र हैं, जिनको सेठजी ने प्रत्यक्ष देखा है। शैली में व्यंग्यात्मकता नहीं, व्याख्यात्मकता है। भाषा संयत परिष्कृत और प्रौढ़ है तथा दृश्य विधान अनुकूल है। सेठजी ने स्वदेश और विदेश की नाट्य शैलियों का गम्भीर अध्ययन किया है अतः टैकनिक के सफल प्रयोग किए हैं। वे हिन्दी के यशस्वी नाटककार हैं।

राजनैतिक समस्याओं को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा ने भी 'धीरे-धीरे' नामक नाटक की रचना की है जो कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल की ढिल-मिल नीति पर व्यंग है। नाटककार यद्यपि कांग्रेस की नीति के प्रति सहानुभूति नहीं रखता, फिर भी कटुता कहीं भी लक्षित नहीं होती। उग्रजी का डिक्टेटर भी ऐसा ही नाटक है।

इन प्रमुख नाटकों के अतिरिक्त समस्या नाटकों में श्री प्रेमसहायसिंह का 'नवयुग', वेचनशर्मा उग्र के 'चुम्बन' तथा 'आवारा', भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना', सूर्यनारायण शुक्ल का 'खेतिहर देश' और शारदादेवी का 'विवाह मण्डप' भी उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार समस्या नाटकों की यह परम्परा भारतेन्दु से आरम्भ होकर निरन्तर गतिशील रही है। किन्तु वर्तमान युग में छोटी कहानियों की भाँति एकाङ्की नटकों की ओर लेखकों का ध्यान अधिक आकर्षित हो गया है तथा रेडियो की माँग के कारण प्रसिद्ध समस्या नाटककार श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा आदि ध्वनि रूपक और ध्वनि नाटक की रचना करने लगे हैं। इस कारण समस्या नाटकों की गति रुक सी गई है। समस्यानाटकों में बौद्धिकता का प्राधान्य रहता है और भावात्मकता का अभाव पाया जाता है। उनमें हृदय को आन्दोलित करने की क्षमता नहीं होती। इस कारण भी समस्या नाटकों के भविष्य पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया है।

हिन्दी में रेडियो नाटक

प्रो० त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०

आधुनिक हिंदी साहित्य में गद्य की अनेक विधाओं के साथ नाटक का विकास अत्यन्त द्रुत गति से हुआ है। विषय वस्तु, सिद्धांत प्रयोग के नवीन रूप सामने आए हैं। रेडियो नाटक इसी का सर्वाधिक विकसित रूप है जो दृश्य के स्थान पर श्रव्य-प्रधान हो गया है।

अन्य नाट्य-रूपों से रेडियो नाटक को पृथक् कर देने वाली प्रधान विभाजक रेखा है उसकी प्रेषणीयता का माध्यम। इसमें ध्वनि के द्वारा ही प्रत्येक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है अतः रङ्गमञ्चीय उपकरण भी श्रव्य ही हो सकते हैं। ध्वनि विस्तारक यन्त्र व सङ्गीत से सुख-दुःख, हर्ष विषाद आदि मनोभावों की जाग्रति तथा अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं; इस कारण रेडियो नाटक में सूक्ष्मता अनिवार्य है। यह सूक्ष्मता विषय वस्तु, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य आदि सभी तत्त्वों से सम्बद्ध है इसलिए विचार-प्रधान व वातावरण-प्रधान नाटक रेडियो से प्रसारित होने में अधिक उपयुक्त सिद्ध होते हैं। रङ्ग-मञ्च पर जो वस्तु दृश्य होती है उसका बोध संवादों या ध्वनि प्रभाव द्वारा कराया जाता है अतः अनुभूति कल्पना-प्रधान हो जाती है जो सूक्ष्म होती है।

सामान्य नाटकों में देशकाल का बन्धन अपेक्षाकृत कम होता है, अङ्कों में क्रमिक विभाजन द्वारा प्रतिपादन विषय का निर्वाह सुगमता पूर्वक होता है, दर्शक या पाठक नाटक के घटना-क्रम का सूत्र बनता चलता है किन्तु रेडियो नाटक में इतनी सरलता नहीं रहती। इसमें पाठक अधिक जागरूक होता है अतः पात्रों को बोलते समय एक-एक शब्द के उच्चारण में सतर्क रहना होता है अन्यथा माइक्रोफोन छोटे से छोटे दोष को भी विस्तृत कर देगा, एक हलका अवकाश, सारा प्रभाव नष्ट कर सकता है। अतः शिल्प विधान की कसावट आवश्यक है। पाँच अङ्क वाले या तीन अङ्क वाले नाटकों की अपेक्षा रेडियो नाटक को एकाङ्की के अधिक निकट समझना चाहिए।

रेडियो नाटक में सङ्गीत विधान, तद्जन्य अनुकूल भयावह या उल्लासपूर्ण वातावरण की सृष्टि प्रमुख होती है जब कि रङ्गमञ्चीय नाटकों में पद्य-गीत आदि का विधान क्रमशः घटता गया है। इसकी सजीव ध्वनियों के आरोह अवरोह से भावों की अभिव्यक्ति होती है। दृश्य परिवर्तन, घटना चित्रण, समय या स्थल की निकटता—दूरी का आभास संवादों की स्वर लहरी की तीव्रता, सूक्ष्मता द्वारा या सङ्गीत के व्यवधान से कराया जाता है। रेडियो नाटक अब प्रायः आधे घण्टे या पैंतालीस मिनट के होते हैं—बहुत हुआ तो एक घण्टा—अतः समय का बन्धन अधिक होता है। ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकों में तो सूत्रधार (narrator) द्वारा कथन आवश्यक हो जाता है जिसको कला की दृष्टि से वस्तुतः त्रुटि मानना चाहिए अन्यथा दस वर्ष पूर्व या पाँच वर्ष उपरान्त की घटनाओं का तारतम्य वर्तमान कथावस्तु से नहीं मिलाया जा सकता। अभिनय करने वाले पात्रों की कलात्मकता भी तदनुरूप होनी चाहिए। जहाँ रेडियो विभाग शासन सत्ता द्वारा सञ्चालित हैं वहाँ कुछ सीमाएँ और आ जाती हैं—शासन नीति की आलोचना प्रसारित नहीं की जा सकती। सुविधा यही है कि ये नाटक कमरे में बैठ कर सुने जा सकते हैं। आनन्द प्राप्ति के लिए अन्य स्थान में जाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। भाषा व ध्वनि तत्त्वों की अधिक प्राधानता अब शब्द-प्रधान तथा संवाद-प्रधान रेडियो नाटकों के रूप में सामने आ रही है। जैसा कि श्री हरिश्चन्द्र खन्ना का कहना है—"रेडियो नाट्य का आधार यह सिद्धान्त था कि प्रत्येक ध्वनि व्यञ्जना से सम्पन्न है और प्रत्येक शब्द उच्चारण मात्र से श्रोता

में विशेष भाव जाग्रत कर सकता है। ध्वनि और शब्द के उचित सामञ्जस्य से रेडियो शैली का जन्म हुआ। रङ्ग नाटक हृदय वस्तुओं का प्रयोग करता है—पारिपार्श्व, लिवास, हावभाव आदि। किन्तु रेडियो नाटक श्रव्य वस्तुओं का प्रयोग करेगा जैसे ध्वनि, सङ्गीत आदि। रङ्ग नाटक का आधार स्थायित्व है, रेडियो नाटक का गति। इसलिए रङ्ग नाटककार बड़े-बड़े दृश्यों का निर्माण करता है, उसे करना पड़ता है—रेडियो नाटककार छोटे-छोटे वेगवान गतिशील दृश्यों का—ठीक उसी तरह जैसे कि फ़िल्म निर्माता करता है। सारांशतः रेडियो नाटककार उस शिल्प का प्रयोग करता है जिसका माध्यम माइक्रोफ़ोन है।" इस उद्धरण से अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

रेडियो के दिन पर दिन बढ़ते हुए प्रभाव के कारण रेडियो नाटक का प्रसारण भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। अधिकाधिक जनप्रिय होने के साथ-साथ उसके सिद्धान्त भी व्यापक होते गए हैं। अन्य देशों की तरह भारतवर्ष में भी इनके रूप विधान, शिल्प शैली आदि का विकास होता रहा है। हिन्दी के रेडियो-नाटकों में इधर, विस्तार व विविधता के स्थान पर एक सूत्र प्रभाव-ऐक्य पर अधिक जोर दिया जाने लगा है सम सामयिक कला सम्बन्धी विचारों, जैसे लक्षणावाद बिम्बवाद आदि ने भी इसके विकास में सहायता दी जिनका प्रतिफलन, रूप सम्बन्धी परिवर्तन के साथ विषय वस्तु पर भी लक्षित होता है। जीवन के वर्तमान सङ्घर्ष, समस्या, चरित्र-विश्लेषण, यथार्थ सत्य आदि का विवेचन करने वाले नाटकों की वृद्धि हुई है—अर्थात् रेडियो नाटक हिन्दी में भी अधिकाधिक सोद्देश्य, साभिप्राय होते जा रहे हैं। उनमें उत्तरोत्तर सर्जनात्मक प्रगतिशील दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि हिन्दी जगत में रङ्गमञ्च का अभाव रेडियो नाटक की प्रगति के लिए सहायक सिद्ध हुआ। यह कथन इसी रूप में सत्य माना जा सकता है कि राष्ट्रीय रङ्गमञ्च की अनुपस्थिति में रेडियो ही हिन्दी व अन्य प्रादेशिक भाषाओं का सामान्य मञ्च बनता गया। विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी के रेडियो नाटकों को मुख्यतः ६ विभागों में रखा जा सकता है।

१—पौराणिक विषय—इस क्षेत्र में श्री उदयशङ्कर भट्ट (मदन दहन, विक्रमोर्वशी), लक्ष्मीनारायण मिश्र (अहिल्या, अशोक वन), गोविन्ददास (कर्ण), विपिनचन्द्र बन्धु (ऋष्य शृङ्ग) आदि लेखकों का विशेष योगदान रहा है।

२—ऐतिहासिक विषय—इस क्षेत्र में डॉ० रामकुमार वर्मा (चारुमित्रा, औरङ्गजेब की आखिरी रात, कौमुदी महोत्सव); जगदीशचन्द्र माथुर (भोर का तारा, विजय की वेला, कोणार्क); लक्ष्मीनारायण मिश्र (ताजमहल के आँसू, शाहजहाँ की आखिरी रात); देवेन्द्रनाथ शर्मा (आचार्य द्रोण, शेरशाह) देवराज दिनेश (रावण, तपोबल, मानव-प्रताप), आर० एन० नागर, रामवृक्ष बेनीपुरी, नरेन्द्र शर्मा आदि लेखकों की रचनायें विशेष उल्लेखनीय हैं।

३—सामाजिक विषय—इस क्षेत्र में श्री भगवतीचरण वर्मा (राख और चिनगारी); हंसकुमार तिवारी (पुकार, झूँठे सपने); राधाकृष्णप्रसाद (आवरण); विश्वम्भर मानव (जीवन साथी); सत्येन्द्र शरत् (आवारा, तार के खम्भे) और रेवती शरण शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उपेन्द्रनाथ अश्क के सामाजिक रेडियो नाटकों में संवाद कुशलता, कथानक की गतिशीलता, चरित्र विविधता, हास्य व्यंग्य का मिश्रण दृष्टव्य है। 'शिकारी', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'छठा बेटा', 'सुबह शाम', 'बतसिया', 'पर्दा उठाओ : परदा गिराओ' आदि नाटकों का इस दृष्टि से सफल प्रयोग रहा है।

४—मनोवैज्ञानिक विषय—यह क्षेत्र रेडियो नाटक के लिए अधिक उपयुक्त पाया गया है। क्योंकि यहाँ घटना-विशेष प्रधान न रहकर विचार अनुभूति प्रधान हो जाती है। जगदीशचन्द्र माथुर (खण्डहर); मुहम्मद हसन (महलसरा, फूल और परछाँई); नरेश-

कुमार मेहता (नील दिशाएँ, साँझ के स्वर, सनोवर के फूल), भारत भूषण अग्रवाल (महाभारत की साँझ) विष्णु प्रभाकर आदि लेखकों का इस क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। विष्णुजी ने रेडियो नाटक के प्रायः सभी रूप अपनाए हैं लेकिन सामाजिक, मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में ही उन्हें अधिक सफलता मिली है। 'उपचेतना का छल', 'धरोहर', 'धुआँ', 'दरिन्दा', सर्वोदय, उनके प्रसिद्ध नाटक हैं जिनमें मौलिक वस्तु स्थिति और चुस्त संवादों के दर्शन होते हैं।

५—व्यंग्यात्मक विषय—हिंदी नाट्य साहित्य के इस क्षेत्र में अभी श्रेष्ठ कृतियाँ कम हैं और रेडियो नाटक भी इस तथ्य का अपवाद नहीं। अमृतलाल नागर (बाँकेलाल), प्रभाकर माचवे (बधू चाहिए, कवायदवाड़ी, रामभरोसे), जयनाथ नलिन (नवाबी सनक), कृष्णचन्द्र (सराय के बाहर, एक रुपया एक फूल), राजेन्द्रसिंह वेदी (कार की शादी, पाँव की मोच, कैदी), सआदत हसन मंटा (रन्धीर पहलवान, कमरा नम्बर नौ, हतक); आदि लेखकों की रचनाएँ विशेष प्रसिद्धि पा चुकी हैं।

६–रहस्य व अतिकल्पनामूलक विषय–जासूसी आदि नाटक इसी क्षेत्र में आते हैं जिनमें निरन्तर कुतूहल संवादों की सरलता प्रधान होती है। विषय वस्तु का क्षेत्र विस्तृत होने पर भी नाटक अपेक्षाकृत कम लिखे गए हैं जिसका कारण सम्भवतः इन नाटकों का घटना प्रधान रहना हो सकता है। इशरत रहमानी (सूतों वाला बँगला); चिरञ्जीत (महाश्वेता, नाटक का अन्त); एस० एन० चौबे (तीसरी चाल मात); सिद्धनाथ कुमार (लौह देवता, सृष्टि की साँझ) आदि द्रष्टव्य हैं।

हिन्दी के उदीयमान नाटककारों में राजेन्द्र राजन, सुनील शर्मा, चन्द्रकान्त जाकिर, बालकराम नागर, सीम, स्वदेशकुमार, आदि नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त पञ्जाबी, मराठी, बङ्गला, आसामी, उड़िया, गुजराती, कन्नड़, तेलगु, तमिल, मलयालम, आदि प्रादेशिक भाषाओं में भी सुन्दर, कलात्मक रेडियो नाटक प्रसारित किए गए हैं, जिनमें मौलिक तथा अनूदित दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। रेडियो नाटकों का क्रमबद्ध व शृङ्खलित प्रसारण सन् १९३६ के लगभग प्रारम्भ हुआ जब दिल्ली, पेशावर, लाहौर, लखनऊ, मद्रास आदि केन्द्रों में उत्तरोत्तर ब्राडकास्टिंग स्टेशन खुलते गए। दूसरे महायुद्ध के उपरांत नवीन आवश्यकताएँ आती गईं और नाना रूपों का विकास होता गया। इस तरह रेडियो नाटक पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में अभूतपूर्व प्रगति कर गया है। इसके और रूप भी सामने आए हैं।

रेडियो के माध्यम से नाटक के अतिरिक्त रूपक के अन्य भेद-प्रभेदों में जो प्रयोग हुए हैं, उनमें पद्य-नाट्य, गीति नाट्य विशेष सफल रहे हैं। सुमित्रानन्दन पन्त (फूलों का देश, रजत शिखर, ध्वंसावशेष) उदयशङ्कर भट्ट (विश्वामित्र), भगवतीचरण वर्मा (कर्ण); गोविन्ददास (स्नेह और स्वर्ग); चिरंजीत (देव और मानव); एस० एन० चौबे (उद्धव संदेश, विद्यापति); नरेशकुमार मेहता (अग्निदेवता); सलाम मछली शहरी (अनारकली) आदि नाम इन क्षेत्रों में उल्लेखनीय हैं। इनमें काव्यात्मकता, गीतात्मकता के साथ नाट्य तत्व भी मिलता है। हिन्दी के कवि इस ओर प्रधानतः आकृष्ट हुए हैं।

'फीचर' तथा 'डाक्यूमेंटरी' प्रोग्राम भी इसी के अर्वाचीन विकसित रूप हैं जिनमें नाटकीय माध्यम से शिक्षण तथा प्रचार कार्य सुगमतापूर्वक होता है। बचों के लिए, स्त्रियों के लिए, ग्रामीणों, विद्यार्थियों आदि के लिए अलग अलग कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। इस प्रकार रेडियो नाटक कला के विकास से हिन्दी में जहाँ एक नूतनविधा का प्रारम्भ हुआ वहीं उसका सम्बन्ध भी जनता से हो गया। पाठ्य-नाटकों से जनता का एक उच्च वर्ग ही लाभ उठा सकता है किन्तु रेडियो नाटकों में लेखक को साधारणीकरण का ध्यान रहता है। हिन्दी में रेडियो-नाटकों का भविष्य उज्ज्वल है उनका निरन्तर विकास हो रहा है।

एकाङ्की नाट्य कला

प्रो० महेन्द्र भटनागर एम० ए०

एकाङ्की-नाटक साहित्य का अत्याधुनिक; किन्तु लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। नाटक की तरह एकाङ्की-नाटक भी दृश्य-काव्य के अन्तर्गत है। अतः टेकनीक की दृष्टि से एकाङ्की रङ्गमञ्च की रचना है। एकाङ्की में किसी 'एक घटना' का, पात्रों के पारस्परिक संवादों तथा कार्यों के द्वारा स्वाभाविक चित्रण किया जाता है।

केवल 'घटना' सम्बन्धी शर्त को छोड़कर उपर्युक्त शेष सभी बातें नाटक में भी पाई जाती हैं; क्योंकि नाटक भी दृश्य-काव्य है। अतः नाटक और एकाङ्की-नाटक की मूल-टेकनीक में मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों की टेकनीक एक-दूसरे के विपरीत नहीं है। यहाँ यह समझने में भूल हो सकती है कि एकाङ्की-नाटक, नाटक का ही संक्षिप्त रूप है। वास्तव में एकाङ्की-नाटक अपने में एक पूर्ण तथा स्वतन्त्र रचना है। वह नाटक का लघु-संस्करण नहीं है। नाटक के एक अङ्क को एकाङ्की-नाटक समझने की कल्पना सम्भवतः कोई नहीं करेगा केवल 'एक घटना' सम्बन्धी शर्त ने नाटक और एकाङ्की-नाटक में अन्तर ला दिया है। इसी प्रमुख भेद के कारण नाटक तथा एकाङ्की नाटक अलग-अलग रास्तों पर चलने लगते हैं, यद्यपि उनकी दिशा एक होती है। जहाँ 'एक घटना' सम्बन्धी शर्त की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है वहाँ नाटक और एकाङ्की-नाटक के आकार-विस्तार सम्बन्धी भेदों को भी समझ लेना जरूरी है।

बड़े नाटक में सम्पूर्ण जीवन की क्रमबद्ध विवेचना न भी हो; फिर भी वह जीवन का विस्तृत भाग घेरे रहता है। जबकि एकाङ्की-नाटक जीवन के एक अङ्ग को ही अपना लक्ष्य बनाता है। लेकिन यह अङ्ग केवल एक झलक के रूप में व्यक्त नहीं होता; वह अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ; समग्र जीवन की अनेक सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ तथा पूर्व-संस्कारों व विश्वासों के साथ स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। इस एक अङ्ग को लेकर एकाङ्कीकार जीवन के महासागर में बड़ी गहरी डुबकी लगाता है। तभी तो वह अनेक बहुमूल्य भाव-मोती समाज के सामने निकाल कर रख देता है। जीवन का यह एक अङ्ग या पहलू किसी महत्त्वपूर्ण घटना के माध्यम से पेश किया जाता है। यदि घटना महत्त्वपूर्ण नहीं हुई तो जीवन का वह अङ्ग, मात्र-झलक के रूप में सामने आयेगा। रङ्ग फीके-फीके लगेंगे। न तो लेखक का उद्देश्य ही पूरा हो पाएगा और न सामाजिकों को तृप्ति ही मिलेगी। इसलिए एकाङ्कीकार को घटना-चयन के सम्बन्ध में बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है। यह घटना जितने उद्दीप्त-क्षण की होगी उतनी ही तीव्र और प्रभावोत्पादक लगेगी।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने एकाङ्की का स्वरूप बड़े काव्यात्मक ढङ्ग से बताया है। वे कहते हैं—"मेरी कल्पना में नाटककार मञ्च पर खड़ा है। विनोद में मुट्ठी बाँधकर पूछता है—क्या है इसमें ? कोई कहता है, पैसा। कोई कहता है, खाली। आप कह दीजिये—दो आँसू, एक हँसी, आधा चुम्बन। नाटककार लज्जित होकर कहेगा—ठीक है।" यहाँ 'दो आँसू', 'एक हँसी' और 'आधा चुम्बन' क्रमशः बरसों की वेदना, जीवन भर के विनोद और विवशताओं के प्रतीक हैं। अतः एकाङ्की जीवन की किसी एक घटना की रिपोर्ट नहीं है—उसका सूत्र समग्र जीवन से जुड़ा रहता है। जो एकाङ्कीकार इस तथ्य को सामने नहीं रखता उसकी रचना एकाङ्की का आभास मात्र देती है; वास्तव में वह एकाङ्की-नाटक कहलाने की अधिकारिणी नहीं होती।

एकाङ्की नाटक के लिए यह जरूरी नहीं कि उसमें

घटना हो ही। घटना के स्थान पर कोई चित्र हो सकता है। लेकिन यह चित्र भी क्षणिक स्थिति का नहीं होता; वह किसी विशिष्टता का परिचायक होता है। यह वैशिष्ट्य चाहे किसी व्यक्ति का हो; चाहे किसी वर्ग का।

हिन्दी के प्रसिद्ध एकाङ्कीकार श्री उदयशङ्कर भट्ट एकाङ्की-लेखक की लक्ष्य-दृष्टि के सम्बन्ध में एक स्थल पर लिखते हैं, "वह निशाना भरने के लिए दुर्योधन और युधिष्ठिर की तरह चिड़िया के सिर और पङ्ख नहीं देखता! वह तो अर्जुन की तरह केवल लक्ष्य की ओर आँख रखता है, स्पष्ट लक्ष्य की ओर।" इसीको प्रभाव और घटना की एक्यता कहा जा सकता है। एकाङ्कीकार केन्द्र-विन्दु पर सबसे अधिक ध्यान रखता है। यदि लक्ष्य-दृष्टि जरा भी भटकी तो एकाङ्की प्रभावहीन हो जाएगा। बड़े नाटक और एकाङ्की नाटक के अन्तर को उदयशङ्कर भट्ट निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "बड़ा नाटककार सम्राट अशोक को अहिंसावादी बनाने के लिए उसका पूर्व स्वभाव, उस समय की राजनीति, प्रजा की अवस्था, कलिङ्ग की लड़ाई, हिंसा की उग्रता, देशकाल की परिस्थिति आदि सभी बातें रखेगा; परन्तु एकाङ्की लेखक कलिङ्ग युद्ध के रणस्थल का दृश्य दिखाकर अशोक के स्वभाव परिवर्तन और प्रतिक्रिया रूप से अहिंसा प्रेम को जागरूक कर देगा।"

इस आन्तरिक भेद के अतिरिक्त अन्य अधोलिखित आकार-विस्तार सम्बन्धी बाहरी भेद हैं जिनमें से अनेक की उत्पत्ति का कारण एकाङ्की की सीमित बहुमुँखी परिधि है—

१—बड़े नाटक में पाँच या तीन अङ्कों का विधान पाया जाता है। प्रत्येक अङ्क में तीन या चार दृश्य होते हैं। इस प्रकार यह नाटक ढाई-तीन घण्टे में खेला जाता है। इसके विपरीत एकाङ्की नाटक में केवल एक अङ्क होता है। तीन या चार या पाँच दृश्य भी रखे जाते हैं; परन्तु एक ही दृश्य का एकाङ्की श्रेष्ठ माना जाता है। यह एक बैठक में ही समाप्त हो जाता है। अभिनय की अवधि तीस मिनट से एक घण्टा हो सकती है।

२—बड़े नाटक में मुख्य कथावस्तु के साथ प्रासङ्गिक कथावस्तु भी गुँथी रहती है; लेकिन एकाङ्की में प्रासङ्गिक कथावस्तु को कोई स्थान नहीं है।

३—बड़े नाटक में वर्णनात्मकता रहती है। नाटककार कथा के प्रायः प्रत्येक पहलू पर दृष्टि डालता है। ऐसा करने में अनेक अप्रधान प्रसङ्ग सहज ही आ जाते हैं, एकांकीकार को इतनी आजादी नहीं है। Be quick, Be brief, and Be gone (शीघ्रता कीजिए, संक्षेप में कहिए, और पधारिये।) का सिद्धान्त लागू होता है। उदयशङ्कर भट्ट के शब्दों में—"मतलब की बात ही एकांकी-नाटक का मूल बीज है।"

४—बड़े नाटक में पात्रों की संख्या अधिक रहती है; लेकिन एकांकी में चार या पाँच पात्रों से अधिक नहीं होने चाहिए। बड़े नाटक में एक-रसता भङ्ग करने के लिए विदूषक आदि पात्रों का समावेश कर लिया जाता है; लेकिन एकांकी में पात्र-परिमिति के कारण इस प्रकार के पात्रों को स्थान नहीं दिया जा सकता।

५—एकांकी-नाटक की गति बड़ी तीव्र होती है। जैसे-जैसे अन्त निकट आता जाता है यह गति तीव्रतर होती जाती है। बड़े नाटकों में यह बात नहीं पाई जाती। आदि!

दुनिया के सभी उन्नत साहित्यों में एकांकी-नाटकों का प्रचलन तेजी से हो रहा है। जहाँ साहित्य के प्रमुख अङ्गों में वह महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा है वहाँ उसमें वैविध्य भी प्रकट हो रहा है। अतः उसका रूप और सीमा अभी निश्चित नहीं है। एकांकी टेकनीक में नित नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। अतः उसके सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ भी पैदा हो सकती हैं और हुई हैं। कुछ आलोचक एकांकी-नाटक और सम्भाषण में अन्तर नहीं कर पाते। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार लिखते हैं—"अपने चचा से भतीजा ५-६ कदम की

दूरी पर खड़ा हो कर सवाल-जवाब करता है और चचा साहब आवश्यक भाव-भङ्गी से उत्तर देते जाते हैं। मेरी राय यह है कि एकांकी-नाटक भी लगभग इसी प्रकार की चीज है। आप पूछेंगे कि एकांकी-नाटक के लिए आवश्यक चीज क्या है ? मेरा उत्तर है कि सिर्फ मनोरञ्जक अथवा अर्थपूर्ण वार्तालाप। बस, इतना ही, इससे अधिक कुछ नहीं।" इस मन्तव्य से प्रकट है कि एकांकी-नाटक सम्भाषण के सिवा और कुछ नहीं है। संभाषण और एकांकी-नाटक में समय का ही अन्तर नहीं है वरन् कथावस्तु और रचना-कौशल का भी अन्तर है। एकांकी की वस्तु का अपना स्वतन्त्र विन्यास है। उसका क्रमिक विकास होता है। यह विकास मात्र सम्भाषणों के जरिए ही नहीं बताया जाता। पात्रों की क्रियाएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का जो रूप एकांकी में मिलता है वह सम्भाषणों में कहाँ समा सकता है ? विस्मय का विधान एकांकी की स्वतन्त्र सत्ता की पुष्टि और करता है। रङ्गमञ्च-निर्देशों का भी एकांकी में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभिप्राय यह कि उसकी अपनी कला है। वह मात्र सम्भाषण नहीं है; यद्यपि एकांकी-कला के अन्तर्गत सम्भाषणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सन्देह नहीं एकांकी में सम्भाषण के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। उसे एकांकी का स्थूल आधार ही समझना चाहिए; लेकिन ऐसा मानना कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है—नितान्त भ्रम पूर्ण है। यह भ्रान्ति किसी समय थी। जैसे-जैसे एकांकी का रूप विकसित हो रहा है वैसे-वैसे ये प्रारम्भिक भ्रान्तियाँ भी दूर होती जा रही हैं।

जिस प्रकार श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कारजी ने एकांकी और सम्भाषण को एक ही वस्तु माना उसी प्रकार एकांकी और कहानी में भी वे स्पष्ट भेद न कर सके। उन्होंने लिखा—"एकांकी कहानी का रङ्गमञ्च पर खेला जाने वाला संस्करण-मात्र है।" यहाँ टेकनीक के अतिरिक्त उद्देश्य का अन्तर भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है। कहानी का उद्देश्य पढ़ने या सुनने से है और एकांकी का रङ्गमञ्च पर खेलने से। कहानीकार पाठक का ध्यान रखता है; जब कि एकांकीकार दर्शक का। उपरोक्त उद्देश्य सम्बन्धी अन्तर के साथ-साथ एकांकी और कहानी की टेकनीक में भी अन्तर पैदा हो जाता है। एकांकीकार सर्व प्रथम अभिनय-कला का ध्यान रखता है। अभिनय के कारण मञ्च सम्बन्धी अनेक बन्धनों को स्वीकार करने के बाद ही आगे बढ़ सकता है। यदि एकांकी में नाटकीयता का अभाव हुआ तो वह कहानी के रूप में ही पढ़ा जा सकेगा। अतः वह न कहानी होगा और न एकांकी। उसकी गणना असफल कृति के अन्तर्गत ही होगी या फिर उसे 'कहानीनुमा-एकांकी' कहा जायगा। फिर भी उद्देश्य और रङ्गमञ्च को लक्ष्य कर कहानी सफल एकांकी में रूपान्तरित की जा सकती है। सम्भवतः इसी कारण श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कारजी ने कहानी को रङ्गमञ्च पर खेला जाने वाला संस्करण मात्र कहा है। लेकिन प्रत्येक कहानी को रङ्गमञ्च के उपयुक्त नहीं बनाया जा सकता अतः एकांकी और कहानी दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है और रहेगा। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी कहानी और एकांकी का मञ्च सम्बन्धी सूक्ष्म भेद किया है। वे लिखते हैं—"कहानी लज्जाशीला नारी की भाँति मञ्च पर आने का साहस नहीं करती। वह पाठकों के मनोमञ्च पर ही अवगुण्ठन डाले हुए अपने पैर के नाखून से जीवन की भाव-भूमि कुरेदती रहती है।" कहानी और एकांकी में बहुत-कुछ एकता हो सकती है; लेकिन दोनों को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता।

कला की दृष्टि से एकांकी के लिए सबसे पहली शर्त उसका अभिनय के योग्य होना है। अभिनय का मञ्च-व्यवस्था से ही नहीं; प्रत्युत सभी तत्त्वों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। एकांकी के अन्य तत्त्व वस्तु-विन्यास, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, संवाद आदि हैं। यहाँ उपर्युक्त तत्त्वों की सविस्तार व्याख्या अपेक्षित है।

कथावस्तु—एकांकी के लिए यह जरूरी है कि

उसका वस्तु-विन्यास कलापूर्ण हो। उसमें शैथिल्य न हो। स्पष्ट होने के साथ-साथ यदि कथा कौतूहलपूर्ण भी हो तो उससे एकाङ्की की सौन्दर्य-वृद्धि होती है। एकाङ्की की कथा में वर्णनात्मक तत्व प्रमुख नहीं होना चाहिए। अभिनय-तत्त्व के सम्मुख उसका स्थान गौण है। वास्तव में एकाङ्की की कथा का प्राण अन्तर्द्वन्द्व के सफल चित्रण में है। यदि लेखक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व की विवेचना में दुर्बल है तो आकर्षक घटना-चयन के होते हुए भी उसकी कृति प्रभाव-शून्य होगी। कथा के विकास में एकाङ्कीकार को विशेष सतर्क रहना पड़ता है; अतः एकाङ्की की वस्तु-विन्यास एकाङ्की-कला में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस वस्तु-विन्यास के चार भाग हैं—निरूपण, अवरुंधन, उत्कर्ष और अपकर्ष। निरूपण-भाग एकाङ्की के प्रारम्भ और प्रारम्भिक बातों से संबंध रखता है। इस भाग में एकाङ्की की पृष्ठभूमि, संक्षिप्त और आकर्षक ढङ्ग से उपस्थित की जाती है। पृष्ठभूमि में एकाङ्की के प्रमुख-पात्रों का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है। यह परिचय कुछ तो रङ्गमञ्च-निर्देशों को लिखते समय दे दिया जाता है और कुछ पात्रों की प्रारम्भिक बातचीत से। परिस्थिति, समस्या और उद्देश्य की ओर संकेत भी, एकाङ्की के इसी भाग में, कर देना चाहिए। एकाङ्की की कथा-वस्तु का यह भाग छोटा होना जरूरी है। अन्यथा रचना में नाटकीयता का अभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। वस्तु-विन्यास का दूसरा भाग अवरुंधन है। इसे एकाङ्की का भव्य-भाग भी कहा जा सकता है। इसी भाग में लेखक कथा-निरूपण के लिए अवकाश पा सकता है; लेकिन यह कथा-निरूपण भी यदि द्वन्द्व के साथ किया गया हो तभी उसमें आकर्षण उत्पन्न हो सकता है। यह द्वन्द्व चाहे आन्तरिक हो, चाहे बाह्य, आन्तरिक-सङ्घर्ष से अभिप्राय पात्रों के मन में उठने वाले विरोधी भावों से है तथा बाह्य-सङ्घर्ष का सम्बन्ध दो विरोधी शक्तियों से। अवरुंधन भाव की यह योजना एकाङ्की को चरम-सीमा की ओर ले जाने के निमित्त होती है। अतः उसके विकास में उठान ही उठान होनी चाहिए उतार नहीं। वस्तु-विन्यास की तीसरी स्थिति उत्कर्ष की है। यह स्थिति सर्वाधिक विस्मय की होती है। इस स्थिति की प्रखरता अवरुंधन भाग पर ही आधारित है। एकाङ्की का यह चरमोत्कर्ष अत्यधिक संक्षिप्त होता है। इसके बाद एकाङ्कीकार अपने अन्तिम परिणाम पर पहुँचता है। एकाङ्की के वस्तु-विन्यास के अन्तिम भाग को अपकर्ष कहा जाता है। यह भाग वस्तु-विन्यास के अन्तर्गत विविधता लिए हुए है। सभी एकाङ्की एक ही ढङ्ग से समाप्त नहीं होते। सुखांत एकाङ्की का अन्त आकस्मिक होता है, पर दुखान्त का अन्त धीरे-धीरे करना अनिवार्य है; अन्यथा उससे रस-निष्पत्ति नहीं होगी। समस्यामूलक एकाङ्की का अन्त प्रायः अपूर्ण रहता है। एकाङ्कीकार उसे पाठकों की बुद्धि पर ही छोड़ देता है। चरित्र-परिवर्तन वाले एकाङ्की का अन्त भी चरम-सीमा के ठीक बाद हो जाता है। इस प्रकार अपकर्ष भाग की व्यवस्था एकाङ्की के उद्देश्य पर निर्भर करती है। एकाङ्की का अन्त चाहे किसी रूप में हो, पर उसे कला-पूर्ण होना चाहिए। यह कला पाठक अथवा दर्शक के मन को प्रभावित करेगी, उसे झकझोरेगी।

एकाङ्की की कथा-वस्तु की सफल सुगढ़ता के लिए संकलन-त्रय (Three Unities) की योजना की जाती है। इससे एकाङ्की की स्वाभाविकता को सहायता पहुँचती है। यह सङ्कलन—समय, कार्य और स्थान की इकाई का है। समय से अभिप्राय लगातार घटने वाली घटनाओं के अन्तर से है। यह अन्तर कम-से-कम होना चाहिए ? यह नहीं कि किसी पात्र-विशेष की एक घटना बाल्यावस्था की हो और दूसरी घटना उसी एकाङ्की में उसी पात्र की वृद्धावस्था की। कार्य से अभिप्राय यह है कि पात्र एकाङ्की में एक ही कार्य करे। तथा स्थान की इकाई का अर्थ है कि एकाङ्की की घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित हों। विशुद्ध रङ्गमञ्चीय व्यवस्था के दृष्टिकोण से तो केवल इस बात का ध्यान अपेक्षित है कि स्थान-परिवर्तन की व्यवस्था कम-से-कम समय में की जा सके। बागीचे के दृश्य

तुरन्त बाद ही पहाड़ी प्रदेश की व्यवस्था करने में समय लग सकता है। तो, सङ्कलन-त्रय का अभिप्राय यही है कि एक कार्य, एक स्थान पर और एक ही समय में हो। सङ्कलन-त्रय की आवश्यकता एकाङ्की में विशेष रूप से सामने आती है, क्योंकि वह एक संक्षिप्त रचना है। कुछ एकाङ्कीकार सङ्कलन-त्रय को महत्त्व नहीं देते। सङ्कलन-त्रय की उपेक्षा करके भी एकाङ्की लिखा जा सकता है, पर उसमें स्वाभाविकता इतनी प्रखर रूप में नहीं आ सकती; तथा यह अभाव उसके प्रभाव को भी कम कर देगा। पाठक अथवा दर्शक इस तथ्य को आवश्यकता से अधिक अनुभव करने लगेंगे कि वे नाटक पढ़ रहे है अथवा देख रहे हैं। वस्तु-तादात्म्य न होने से एकांकी का प्रभाव घट जाएगा। अतः सङ्कलन-त्रय की योजना एकांकी को कला-पूर्ण बनाने के निमित्त की जाती है।

एकाङ्की-शिल्प-विधान में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व पात्र और चरित्राङ्कन का है। एकाङ्की में पात्रों की संख्या सीमित होती है। चार-पाँच पात्रों से अधिक का समावेश उसमें नहीं होना चाहिए। पात्रों के तीन विभाग किए गए हैं—नायक, प्रतिनायक और गौण-पात्र। यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक एकाङ्की में नायक और प्रतिनायक दोनों हों अथवा नायक ही हो। वास्तव में देखा जाय तो एकांकी में मात्र दो प्रकार के पात्र पाए जाते हैं—प्रमुख-पात्र और गौण-पात्र। प्रमुख-पात्रों की संख्या अधिक-से-अधिक तीन हो सकती है; जिसमें नारी-पात्र भी सम्मिलित हैं। गौण-पात्र तो प्रमुख-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और उनकी गतिविधियों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से रखे जाते हैं। कथा-विकास में भी गौण-पात्र महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं। एकांकी के पात्रों का व्यक्तित्व बड़ा सबल होना चाहिए। उनकी प्रत्येक गतिविधि पर एकांकीकार को सूक्ष्म ध्यान रखना आवश्यक है; क्योंकि उनकी साधारण से साधारण बात उनके चरित्र का उद्घाटन करती है। एकांकी के सीमित समय में पात्रों के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण जानकारी देना एकांकीकार का कठिन कर्म है।

एकांकी-शिल्प का तीसरा तत्त्व संवाद अथवा कथोपकथन है। इसे एकांकी का प्राण माना गया है। संवादों की आयोजना दो बातों के हेतु की जाती है एक तो पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट करने के लिए और दूसरे कथा के विकास के लिए। ज़ाहिर है, यदि एकांकी के संवाद उपर्युक्त बातों में योग नहीं देते तो महत्त्वहीन ही नहीं वरन् असङ्गत कहे जायेंगे। अतः एकांकीकार को अनावश्यक संवादों से बचना चाहिए; यहाँ तक कि एक वाक्य, एक भी शब्द, निरर्थक न हो। संवाद सजीव होने चाहिए; तभी वे दर्शकों को प्रभावित कर सकेंगे। लम्बे-लम्बे वाक्यों वाले संवाद अथवा उपदेशात्मक संवाद एकांकी को नीरस, निर्जीव और आकर्षणहीन बना देते हैं। एकांकी में वाद-विवाद भी अपेक्षित नहीं। वाद-विवाद की अधिकता एकांकी को सम्भाषण के निकट ला देती है। इसके अतिरिक्त संवादों की स्वाभाविकता भी आवश्यक है। प्रत्येक पात्र की भाषा और शैली में अन्तर अपेक्षित है। सभी लोग एक ही तरह से नहीं बोलते; अतः एकांकीकार को भी प्रत्येक पात्र में भाषागत और शैलीगत सूक्ष्म अन्तर बताना चाहिए दूसरे पात्रों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप ही संवाद रखे जाएँ। शिक्षित और साधारण पात्र के मुख से विशुद्ध भाषा और उच्च विचार व्यक्त कराना एकांकी-कला की हत्या करना है। प्रायः एकांकीकार इस बौद्धिक धरातल का ध्यान नहीं रखते और अपने पात्रों के मुख से स्वयं बोलने लगते हैं। डा० रामकुमार वर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "केवल मनोरञ्जन के लिए या नाटककार द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए कथोपकथन का विस्तार करना पात्रों के कण्ठों से उनकी स्वाभाविक ध्वनि छीन लेना है। फिर तो नाटक में पात्र नहीं बोलते नाटककार पात्रों के कण्ठ में कोयल या कौवा बनकर बोलता है।" संवाद स्वाभाविक होने के अतिरिक्त सरल और स्पष्ट भी होने चाहिए। अति-साहित्यिकता और असाहित्यिकता से भी एकांकी

कार को दूर रहना चाहिए। स्वगत-भाषण तो आधुनिक नाटकों में कोई स्थान नहीं रखते; किन्तु पात्र एकान्त में स्वयं अकेले बोल सकते हैं इसकी आवश्यकता किसी पात्र विशेष की मानसिक दशा चित्रित करने के उद्देश्य से आती है। पर यह जरूरी है कि इस प्रकार के संवाद लम्बे न हों। केवल संवाद एकांकी को बोझिल कर देते हैं; अतः उसमें गति और क्रिया-कलाप की यथास्थान व्यवस्था होनी चाहिए। सुन्दर और कलापूर्ण संवाद एकांकी में जान अवश्य डाल देते हैं; पर एकांकी मात्र सुन्दर और कलापूर्ण संवाद का पर्याय नहीं है; उसमें क्रिया-कलाप (Actions) के महत्त्व को नजर-अन्दाज नहीं करना चाहिए।

अन्त में रङ्गमञ्च-निर्देशों का प्रश्न आता है। प्रत्येक एकाङ्कीकार अथवा नाटककार को मात्र लेखक ही नहीं निर्देशक भी होना चाहिये, अन्यथा रङ्गमञ्च सम्बन्धी अनेक भूलें उससे हो सकती हैं। नाटककार अपनी कृति में व्यापक नाटकीय निर्देश देता है; इससे चाहे अनुभवी निर्देशकों को कोई सहायता न भी पहुँचे पर लेखक का मन्तव्य समझने में सुगमता होती है। दूसरे लेखक इन नाटकीय एवं रङ्गमञ्चीय निर्देशों को केवल अभिनय के निमित्त ही नहीं लिखता; उनका प्रयोजन कुछ और भी होता है। वह प्रयोजन कुछ ऐसी बातों को प्रकट करने का है जो संवादों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकतीं। पात्रों के पूर्व-संस्कारों को सहज ही प्रतिविम्बित करने के किए भी रङ्गमञ्चीय-निर्देश बड़े सहायक होते हैं; उदाहरणार्थ किसी कक्ष की सजावट का ब्योरा एकांकीकार देता है—तो वह ब्योरा उस कक्ष में रहने वाले पात्र के अनेक संस्कारों-विश्वासों का परिचायक होगा। यदि एकांकीकार ने निर्देश के अन्तर्गत लिखा कि कक्ष में एक दीवार पर हिटलर का चित्र टँगा हुआ है तो दर्शक व पाठक उस कक्ष में रहने वाले पात्र के विचारादि से सहज ही परिचित हो जायँगे। एकांकी-नाटकों में रङ्गमञ्च-निर्देश इस कारण बड़े महत्त्व के होते हैं; क्योंकि वे उनकी संक्षिप्ति को बनाए रखने में योग देते हैं।

एकांकी-शिल्प के ये आधारभूत सिद्धान्त हैं। आधुनिक युग में एकांकी एक विकासमान रचना है। उसमें नित नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। रेडियो-टेकनीक वाले एकांकी-नाटकों के अस्तित्व को पृथक मान लेने पर भी, आधुनिक वैज्ञानिक-युग में रङ्गमञ्च-निर्माण की दिशा में बड़े महत्त्वपूर्ण सुधार हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में एकांकी-दृश्य-काव्य नहीं है—उसे ध्वनि-काव्य कहा जा सकता है। सुनने वाले दृश्य और पात्रों की कल्पना अपने-अपने ढङ्ग से करते हैं। रेडियो के व्यापक प्रचार व प्रसार के बावजूद रङ्गमञ्च पर खेले जाने वाले दृश्य-एकांकी-नाटकों की दिन-पर-दिन माँग बढ़ रही है। वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं। इसका मुख्य कारण उनका दृश्य-काव्य होना है; जिससे दर्शकों और अभिनेताओं में एक सजीव सम्बन्ध-सूत्र सहज स्थापित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त समाज केवल एकांकी देखना या रेडियो पर सुनना ही नहीं चाहता; अनेक कला प्रिय मनुष्य स्वयं अभिनय भी करना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक नगर में और प्रत्येक मोहल्ले में साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा समय-समय पर पूर्ण मनोयोग के साथ एकांकी खेले जाते हैं; जिनमें दर्शकों की अटूट भीड़ होती है। अतः एकांकी-नाटकों का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। एकांकी के माध्यम से समाज को बदलने और उसके स्तर को उठाने में बड़ी सहायता मिल सकती है। यह काम नाटक भी कर सकता है, पर वहाँ लम्बे समय की कठिनाई सामने आती है। आज के मनुष्य के पास समय की बड़ी कमी है। वह रोटी-रोजी के संघर्ष में बुरी तरह ग्रस्त है; अतः वह कम-से-कम समय में अच्छे-से-अच्छा मनोरञ्जन चाहता है। उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति एकांकी करते हैं। दूसरे एकांकी खेलने में, नाटक की अपेक्षा, कम धन व्यय होता है एवं व्यवस्था-भार भी साधारण होता है। उपर्युक्त कारणों से, सिनेमा और रेडियो-रूपक के होते हुए भी, एकांकी समाज और साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रक्खेंगे।

भारतीय भाषाओं में विकसित नाट्य-कला पर विहङ्गावलोकन

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०

भारतीय-भाषाओं में नाट्य-कला के विकास का अध्ययन अत्यधिक रोचक और शिक्षाप्रद है। आज तक ऐसे विद्वान और विचारक हैं जो यह मानते हैं कि भारत एक देश नहीं है, वह एक महाद्वीप है, वह भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, सामाजिक मान्यताओं, वर्गों, वर्णों, साहित्यों तथा भिन्न-भिन्न ही नहीं परस्पर विरोधी तत्त्वों से ओत-प्रोत अनेक देशों का एक समूह है। राजनैतिक दृष्टि से तो जिस प्रकार इस महाद्वीप में एक दो बार ही एकता दिखाई पड़ी, सामाजिक दृष्टि से भी इसमें एकता खोजना समुद्र-मन्थन करना है। यहाँ इस धारणा का खण्डन करने के लिए अनेक क्षेत्रों में प्रमाणों की खोज सम्भव नहीं है, केवल साहित्य और साहित्य के भी एक अङ्ग नाट्य-कला के विकास को ही देख कर कोई भी सिद्ध कर सकता है कि भारत की चिन्ताधारा की एकता सर्वदा अक्षुण्ण रही है। सांस्कृतिक एकता, प्राणों की एकता, आत्मा की एकता मानी जाती है और संस्कृति के क्षेत्र में साहित्य का स्थान मुख्य रहता है, क्योंकि चिन्तन, भावना व कल्पना तीनों का सामञ्जस्य साहित्य में होता है। हम यदि साहित्य के ही एक अङ्ग नाटक के विकास को विहङ्गम दृष्टि से देखें तो हमें अनेक तथ्य ऐसे मिलते हैं जिनसे न केवल 'राष्ट्रीय आत्मा' का पता चलता है अपितु इस महान देश की महान जनता के सङ्घर्ष की भी कहानी मिल जाती है। उसके सामान्य व विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान हमें हो जाता है और इससे हम भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त समाज व व्यक्ति के, व्यक्ति के आन्तरिक व बाह्य अंशों के, समाज के उच्च तथा निम्न स्तरों के अनेक चित्रों से परिचित हो जाते हैं।

हमारे सम्मुख सर्व प्रथम संस्कृत भाषा व साहित्य की महत्ता तब उपस्थित होती है जब हम देखते हैं कि भाषाओं के रूप-निर्माण ही नहीं, नाट्य-कला के निर्माण में भी संस्कृत नाट्य-कला का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है परन्तु यह प्रभाव बाद की बात है, बहुत बाद की बात। स्वयं नाट्य-कला के आदि आचार्य भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र के काल निर्णय में तमिल नाटक-कला के अध्ययन से सहायता मिल सकती है। 'नाट्य-शास्त्र' का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है परंतु वस्तुतः यह काल उसके वर्तमान रूप का है। शायद तीसरी शताब्दी के बाद भी नाट्यशास्त्र का विस्तार होता रहा। परन्तु तमिल नाटकों का विकास देख कर यह संकेत मिलता है कि नाट्य शास्त्र तीसरी शताब्दी से पूर्व ही निर्मित हो चुका था। तमिल के तीन रूप मिलते हैं इयल, इशै तथा नाटक। इयल में केवल भाव, इशै में भाव व सङ्गीत तथा नाटक में भाव, सङ्गीत व अभिनय तीनों मिलते हैं।+ इनमें भी इयल तमिल, तथा इशै तमिल का विकास पहले हुआ। अर्थात् भावात्मकता तथा सङ्गीतात्मकता पहले, और अभिनेयता बाद में, जब कि नाटक तमिल में भाव, सङ्गीत व अभिनय का सम्मिलित प्रयोग हुआ। ये तीनों रूप तीसरी शताब्दी के पूर्व ही हो चुके थे क्योंकि 'शिलप्पादिकारम' नामक नाटकीय-काव्य दूसरी शताब्दी में मिलता है जो नाट्य-कला विकास में आगे की शृङ्खला है। इस काव्य में रङ्गमञ्च का वर्णन, एवं नृत्य प्रदर्शन का विवरण मिलता है। इस मधुर काव्य के टीकाकार ने भरतम्, पञ्चभारतीयम्, भरतसेनापतीयम् आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिससे भारत का नाम संकेतित है। अतः स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्र का द्वितीय शती के पूर्व अस्तित्व था, यह संकेत मिलता है, सम्भव है आगे खोज से यह सिद्ध

+ प्रो० टी० शेषाद्रि 'तमिल भाषा के नाटक'
—नाटकाङ्क साहित्य सन्देश।

हो सके। भारतीय भाषाओं में तमिल साहित्य सबसे अधिक प्राचीन है अतः उसकी नाट्य कला के इतिहास से अब तक अनेक अज्ञात तथ्यों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

यह तो सम्भावना की बात हुई। अब प्राप्त तथ्य लीजिए। अभी तक नाट्यकला व नाटकों का अध्ययन केवल साहित्यिक नाटकों तथा विकसित रङ्गमञ्चों पर ही आधारित रहा है परन्तु भारत की प्रत्येक भाषा में जन-नाट्य-कला का विषय अभी अज्ञात है। विचारक समझते हैं कि योरोप के अनुकरण पर ही आधुनिक नाट्यकला का विकास सम्भव हुआ है, परन्तु रुचि-निर्माण पर जन-नाटकों का भी अद्भुत प्रभाव पड़ा है। हिन्दी में समस्या नाटक लिखे गए परन्तु सफल नहीं हो सके। उनमें बुद्धि को झकझोर देने की शक्ति तो आई परन्तु वे परम्परागत रुचि का परित्याग करते चले। परिणाम यह हुआ कि उन्हें उतनी सफलता नहीं मिल सकी। किन्तु जिन समस्या नाटकों में भावना का भी ध्यान रखा गया वे अपेक्षाकृत सफल हुए। 'जन-नाट्य-कला' जनता की कल्पना-भावना को लेकर विकसित हुई और समस्या नाटक कोरी बौद्धिकता को लेकर। हमें जन-नाट्य-कलाओं में कल्पना के स्वरूप पर भी विचार करना होगा, किस युग में कल्पना का किस दिशा में प्रयोग किया गया और कितना, यह भी देखना होगा। प्राचीन तमिल साहित्य में ३०० से १२ वीं शताब्दी तक धार्मिकों ने काव्य रचना की, नाटक नहीं लिखे, परन्तु जन-नाट्यकला का विकास तो अवश्य हुआ होगा। श्री शेषाद्रिजी ने लिखा है "साहित्य में नाटक का अभाव होते हुए भी दृश्य-काव्य कला के रूप में पुरातन काल से पाया जाता रहा है, इसमें सन्देह नहीं है। 'तेरुक्कूत्तु' उस प्रयास का प्राचीन रूप है जो आज-कल अपने पुराने रूप में भी यत्र-तत्र हो रहा है और जिसका मँजा सुधरा रूप आजकल के ड्रामा या नाटक में मिल जाता है।" तमिल में ३००—१२०० तक अनेक प्रकार की जन-नाट्य-कलाओं का विकास हुआ होगा। जन-नाट्य-कला ने सारे भारत में देवताओं के सम्बन्ध में कल्पना का प्रयोग किया। 'विचित्र' की अनुकृति अधिक मनोरञ्जक होती है और साथ ही जन-प्रिय कलाकारों को जनता की नैतिक शिक्षा का अवसर भी मिल जाता होगा। तमिल-देश की ही जनता 'तेरुक्कूत्तू' में सावित्री-सत्यवान, सीता विवाह, सती सुलोचना के अभिनय साहित्यिक नाटकों के आविर्भाव के पूर्व देखती रही है और अब भी देखती है। केरल प्रान्त में आदिकाल में देवी व असुरों का वेश धारणकर धार्मिक उत्सव होते थे। आन्ध्र प्रदेश में भी नाटक व नृत्यों का प्रचार था। इस देश में कोय या चेंचु नामधारी जातियों में नृत्य नाटकों का प्रचार बहुत था। जावा देश में नृत्य अभिनय के प्रमाण मिले हैं* 'तेलुगु में ५०० से १००० ई० तक का इतिहास अज्ञात है। इस बीच में भी वीथि नाटकम् व यक्षगान आदि का प्रयोग होता रहा, और अब भी होता है। गुजरात में 'भवाई', बिहार-बङ्गाल में यात्रा, हिन्दी प्रदेश में रासलीला अदि का भी यही इतिहास है। राजस्थानी में 'ख्याल' की प्राचीन परम्परा है इसके धार्मिक, पौराणिक प्रेममूलक, ऐतिहासिक आदि अनेक रूप मिलते हैं। राजस्थान का लोक हृदय इन्हीं गीत-नाटकों में मिलता है। मराठी में 'सङ्गीत-नाटकों' की परम्परा थी, पुरानी है और आज भी प्रचलित है। उड़िया में भी पौराणिक जन-नाटकों की परम्परा थी। असमिया में जनता में जन-नाट्यों का प्रचार देख कर ही शङ्कररावदेव ने 'अङ्किया नाटकों' का प्रचार किया। जन-नाट्य-कला पौराणिक देवताओं के चरित्र दिखाती थी, अन्य प्रान्तों में चरित्र पर जोर कम रहा। बङ्गाल व उत्कल में भाव व नृत्य के साथ 'यात्रा' में चरित्र-प्रदर्शन पर जोर अधिक दिया गया। नाटक चूँकि जीवन की अनुकृति है, अतः वह प्रचार का सबसे बड़ा साधन है। साथ ही अनुकर्त्ता व प्रेक्षक दोनों को ही इस कार्य में अधिक आनन्द आता है, अतः धार्मिकों ने नाटक को ही प्रचार का अस्त्र बनाया था।

---

* तेलुगु का नाटक साहित्य—श्री राजगोपालन

असमिया में तो शङ्करराव ने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए अनेक एकांकी नाटक मध्यकाल में लिखे थे। परन्तु अर्द्ध-सभ्य जातियाँ अन्ध-विश्वास के कारण ही देवताओं की कल्पनाएँ करती थीं।

पौराणिक जन-नाट्य-कला ने प्रेक्षकों की रुचि पर शासन किया। चमत्कृति, आदर्शवाद, तथा नैतिकता का आग्रह आदि आज की वृत्तियों के नीचे जन-नाट्य-कला के प्रचार का बहुत बड़ा दायित्व रहा है। आधुनिक युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों को भी सर्वथा काल्पनिक रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति पर भी भारत की इस प्रचीन जन-नाट्य-कला का अवश्य प्रभाव रहा है। जन-नाट्य-कला ने सुरुचि, सज्जा, दृश्य-विधान तथा साहित्यिकता की चिन्ता न कर जनता के मनोभावों को प्रत्यक्ष पद्धति पर व्यक्त किया गया जो कि नृत्य-नृत्त-गीत नाटकों में आज भी सुरक्षित मिलता है। भारतीय जनता की चित्त-वृत्ति की एकता देखनी हो तो जन-नाट्य-कला का अध्ययन करना चाहिए।

भारत में जन-नाट्यकला के अध्ययन के महत्त्व की ओर संकेत कर हम आधुनिक नाटक-कला पर आते हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि सभी भाषाओं में अँगरेजों के आने के पश्चात् ही आधुनिक नाट्य-कला का विकास प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक युग में सभी भाषाओं के नाटकों पर संस्कृत व अँगरेजी के नाटकों का प्रभाव रहा, दोनों के अनुवाद हुए। देशी भाषाओं में बँगला के नाटकों का प्रभाव, मुख्यतः डी० एल० राय के नाटकों का प्रभाव कई भाषाओं पर पड़ा। सभी भाषाओं में प्रथम युग में समाज-सुधार व पुनरुत्थान का स्वर प्रबल रहा, यहाँ भी भारत देश की चिन्ता-धारा की एकता द्रष्टव्य है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि तमिल जैसी प्राचीन भाषा संस्कृत नाटकों से बहुत बाद में प्रभावित हुई। यद्यपि संस्कृत में कालिदास के बाद ७, ८, ९, १०वीं शताब्दी में ही नाटकों की संख्या अधिक बढ़ी। उच्चवर्ग के लिए लिखित संस्कृत नाटकों का दरबारों से सम्बन्ध अधिक रहा था। जनता ने चिन्ता नहीं की, वह देशी भाषाओं में पौराणिक, धार्मिक नाटकों व नृत्य, गीतों से मनोरञ्जन करती रही। १९वीं शताब्दी में तमिल में 'विलासम्' नामक नाट्य-कला में सामाजिक विषयों को लिया गया। यह रूप भी जनता के नाट्य-कला का ही था। इसी शताब्दी में सभी भाषाओं ~~में संस्कृत~~, अँगरेजी के अनूदित नाटक आए। मौलिक नाटक प्रत्येक भाषा में इन दोनों नाट्य-कलाओं के मिश्रण का परिणाम था। भारतेन्दु-युग ही नहीं, प्रसाद तक के नाटकों में यह मिश्रण पाया जाता है, परन्तु इस कार्य में पारसी कम्पनियों ने प्रत्येक भाषा में बड़ी बाधा पहुँचाई। पर साथ ही अच्छे रङ्गमञ्च बनाने की प्रेरणा भी इन्हीं कम्पनियों की विकृत नाट्य कला से जगी—प्रतिक्रिया रूप में। भारतेन्दु की तरह मुदालियर तमिल में, किर्लोस्कर नाटक मण्डली ने मराठी में, कैलासम् ने कन्नड़ में, धर्मवरम् कृष्णमाचार्य ने तेलुगु में, साहित्यिक नाट्यकला के लिए नाटक-निर्माण व रङ्गमञ्च निर्माण में प्रमुख हाथ लिया। बङ्गला में गिरीशचन्द्र ने यही कार्य किया। गुजराती व मराठी में पारसी कम्पनियों के समानान्तर अनेक नाटक मण्डलियाँ स्थापित हुईं। इस प्रकार रङ्गमञ्च सम्बन्धी समस्या भी सारे देश में एक ही साथ आई, संस्कृति के आंतरिक तत्त्व लेकर। भारतीय वातावरण का ध्यान रखकर पाश्चात्य शैली में नए नाटक लिखे जाने लगे, सबके सम्मुख समाज-सुधार, प्राचीन संस्कृति का उद्धार, अङ्गरेजों की राज्य व्यवस्था की निन्दा, देश की दुर्दशा, आदि का चित्रण प्रारम्भिक युग में नाटकों का मुख्य विषय रहा। जैसे सारा देश एक साथ सांस्कृतिक व सामाजिक क्रान्ति कर विदेशी सत्ता से लड़ने के पूर्व अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता, देश की दुर्दशा तथा विदेशियों की जघन्यता दिखाने पर तुला हुआ था। यह पुनर्जागरण काल था।

परन्तु पुनर्जागरण काल के पश्चात् चलचित्रों के आरम्भ के पूर्व तक नाट्यकला का विकास जिस स्तर पर हुआ, जनता, मञ्च तथा लेखक में जो सहयोग रहा वह आगे सम्भव न हो सका। एक ओर रेडियो नाटक

आने लगे, दूसरी ओर कोरे पाठ्य-नाटक। मराठी व बङ्गला में अपेक्षाकृत संतुलन रहा। नाट्यकला की सबसे दरिद्रावस्था तमिल साहित्य में दिखाई पड़ती है, "तमिल जनता नाटक पढ़ने की अपेक्षा, उन्हें देखना अधिक पसन्द करती है" यह कहा गया। मराठी में 'नाट्य निकेतन' यद्यपि "किर्लोस्कर व महाराष्ट्र नाटक मण्डली" के सम्मुख छोटा प्रयत्न है परन्तु तमिल से मराठी में नाटकों का विकास अधिक हुआ। 'राम-गणेश गडकरी' जैसा लेखक मराठी ने दिया। कन्नड में 'श्रीरङ्ग' वहाँ के बर्नार्ड शा कहे जा सकते हैं। तेलुगु में 'गुरजाड अप्पाराव' ने क्लासीकल शैली (ग्रांथिक) से जन-प्रिय शैली को अलग किया। मलयालम नाट्य-कला पिछड़ी हुई है, परन्तु उसके नृत्य व नृत्तकला में कथकल, तुल्लल व चावयारकूत्त की बड़ी देन है। उड़िया के कालीचरन पटनाइक, सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। सारी भाषाओं में २० वीं शताब्दी के नाटकों में भी १६ वीं शताब्दी के नाटकों की तरह जन-जागरण का प्रयत्न किया गया है। लेखकों के मनोवैज्ञानिक शास्त्र से परिचित होने के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में गहराई आगई है। मराठी, बङ्गला व गुजराती के अतिरिक्त रङ्गमञ्चों का प्रत्येक भाषा में ह्रास दिखाई पड़ता है। बङ्गला में भी "इस युग में नाट्य साहित्य की कुछ अधोगति हुई है, मौलिक मूल्यवान रचनाएँ वर्तमान नाट्य साहित्य में विरल हैं"[1]। प्रसाद व द्विजेन्द्रलालराय जैसी प्रतिभाएँ आज नहीं दीखतीं और इसका एक कारण है, प्रत्येक भाषा में आज का युग प्रयोगों का युग है। अतः विभिन्न विधाओं के आविष्कार के युग में श्रेष्ठ नाटक बहुत बाद में बनते हैं। विधान पर अधिक ध्यान रहने से विषय व विचार आकर्षक होने पर भी सामञ्जस्य नहीं बन पाता। रेडियो पर नूतन नाट्यकला के क्षेत्र में ऐसे प्रयोग अधिक हो रहे हैं। विषय व विचार की दृष्टि से सारी भाषाओं में आज भी एकता है। १६ वीं शताब्दी में समाज सुधार का स्वर प्रधान था, पुनः पुनरुत्थानवाद का। द्वितीययुग में इतिहास को राष्ट्रीय जागरण व स्थायी मानव मूल्यों का माध्यम बनाया गया। द्विजेन्द्रलालराय, प्रसाद ऐतिहासिक नाटककार हैं। संस्कृत की प्रतीकात्मक पद्धति का प्रयोग बहुत कम हुआ। जीवन के चित्रण द्वारा जीवन-मानों के उन्नयन का प्रयत्न किया गया। किन्तु स्थायी मूल्यों के परिवर्तन के प्रयत्न में प्रायः प्रत्येक भाषा में योरोप की चरित्र-चित्रण प्रणाली ने अद्भुत सहायता दी। प्राचीन संस्कृत नाटकों की भावुकता व कवित्वशक्ति के साथ-साथ योरोपीय पद्धति पर 'शील-वैचित्र्य' द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व को अधिक महानता दी गई। १६ वीं शताब्दी से ही प्रायः सारे भारत में पूँजीवाद का प्रसार हो गया था और इस व्यवस्था में वैयक्तिकता का स्वर तीव्र हो जाता है, अतः नए नाटकों में प्रत्येक भाषा में प्रत्येक पात्र को नया व्यक्तित्व दिया गया। भावनाओं की साधारणता तथा शील की असाधारणता द्वितीय उत्थान के नाटकों की विशेषता है, यह शील-वैचित्र्य समस्या नाटकों में भी बराबर मिलता है।

नवीनतम नाटकों में लेखक का ध्यान समाज की ओर अधिक है। आजादी के बाद जहाँ लेखक का स्वर रचनात्मक हुआ है जहाँ वह आज की स्थिति से आज की व्यवस्थाजन्य अभावों का नग्न चित्रण करता है। हिन्दी में उदयशङ्कर भट्ट, अश्क आदि ने; कन्नड़ में श्री रङ्ग,[1] शिवरामकारंत, कैलासम्; तेलुगू में 'अप्पाराव वेङ्कटेश्वरराव; उड़िया में कालीचन पटनाइक,[2] भञ्जकिशोर पटनाइक, रामचन्द्र मिश्र; मराठी में गडकरी,[3] भार्गवराय विट्ठल तथा गुजराती में उमरवाडिया, चन्द्रवदन मेहता आदि ने समाज के यथार्थ को पाठकों के सम्मुख रखा है। द्वितीय युग के नाटककारों में शील वैचित्र्य आदर्शवादी धरातल पर दिखाई देता था परन्तु आज के युग में आदर्श नहीं, आधुनिक समाज व व्यवस्था

१—श्रीमती अपर्णलता राय।

१ 'सान्ध्य-काल' 'सम्पुष्ट रामायण' आदि नाटक।

२ 'भार्त' नाटक द्रष्टव्य।

३ 'पागलखाना', 'एकय प्याला'।

का आन्तरिक अन्तर्विरोध दिखाना एक मुख्य प्रवृत्ति बन गई है। हिन्दी में ही नहीं मलयालम में भी "आदर्शवादी कृतियों की ओर से जनता में एक अरुचि पैदा होती गई। संसार पुष्प शय्या नहीं, कण्टकाकीर्ण आस्तरण ही अधिक ठहरता है—इस तथ्य की अनुभूति करने वाले पाठकों और लेखकों ने कला द्वारा दरिद्र सहजीवियों के आक्रन्दन को भी सुविस्तृत संसार के कर्णों में प्रतिध्वनित करना आवश्यक समझा।"[1] अब हृदय की मधुर-वृत्तियों के रञ्जन का प्रयत्न न होकर, जीवन के कुत्सित पक्षों के चित्रण अधिक होते हैं और उसके कारणों की ओर समाज का ध्यान खींचा जाता है। उदयशङ्कर भट्ट का 'पर्दे के पीछे' एकांकी नाटकों का ऐसा ही संग्रह है। एकांकी नाटकों में सभी भाषाओं में व्यंग्य का रूप बहुत निखर कर आता है। अतः आज प्रत्येक भाषा में चतुरोक्ति (Wit) व व्यंग्य (Satire) का प्रयोग कर शोषक सेठों, दम्भी नेताओं, दुराचारियों, पाखण्डी धार्मिकों, भ्रष्ट कर्मचारियों तथा प्रदर्शन-पूर्ण परन्तु खोखले सरकारी कार्य-क्रमों का चित्र खींचकर समाज के बढ़ते हुए असन्तोष को बढ़ाया जाता है। इन नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक नाटक भी लिखे जाते हैं परन्तु पौराणिक पात्रों के चित्रण द्वारा नवीन युग की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है यथा गुजराती में के. एम. मुंशी के नाटकों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।[2] परन्तु आज के ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चित्रण, वर्तमान के लिए प्राप्य सन्देश की ओर ध्यान रहता है, 'पुनरुत्थानवाद' का प्रयत्न अच्छा नहीं माना जाता। उर्दू में सामाजिक यथार्थ की ओर लेखक बहुत अधिक जागरूक हैं। नाटक जीवन की अनुकृति है, आज वह सच्चे अर्थों में हमारे सम्मुख आ रही है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आज मञ्च-नाटक व पाठ्य-नाटकों का द्वन्द्व प्रत्येक भाषा में पाया जाता है, यह समाप्त होना चाहिए। चल-चित्रों के प्रभाव से भारतीय देशी भाषाओं में नाट्यकला का ह्रास हो रहा है। संस्कृत व अंग्रेजी के प्रभाव से देशी भाषाओं में जो नाट्यकला विकसित हुई उसमें अब संस्कृत का प्रभाव कम हो रहा है, नई विधायें व नई समस्यायें नाटकों में आ रही हैं। पौराणिक नाटकों से आज के मनोविज्ञान की बारीकियों, समाज की यथार्थताओं तथा मूर्त-आदर्शों तक विकसित भारतीय नाट्यकला के सोपान, गति व गंतव्य एक से ही प्रतीत होते हैं। आज भी सारा भारत एक ही दिशा में सोच रहा है, सामाजिक व्यवस्थायें मनुष्य के अधिक से अधिक अनुकूल कैसे हो? उनकी बुराइयाँ क्या हैं? उनका नाश कैसे हों? यही आज के नाटकों की मुख्य चिन्ता है। जन-नाट्यों के अन्ध-विश्वास, अद्भुत, मात्र मनोरंजन, धर्म-प्रचार के स्तर से उठकर, संस्कृत नाटकों से प्रभावित नाटकों में चरित्रों के 'टाइप' गढ़ने, भावनाओं की कवित्वपूर्ण अभिव्यक्तियाँ करने तथा पाश्चात्य विधाओं के माध्यम से व्यक्त सामाजिक समस्याओं तक नाटक-कला की पहुँच वस्तुतः बड़ी ही आकर्षक है। साम्राज्यवादी कहते हैं कि अंग्रेजी की नकल ही देशी भाषाओं में मिलती है, उनके पास अपना कुछ नहीं है। देशी भाषाओं में केवल द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्र आदि का प्रभाव अन्यों पर पड़ा, परन्तु परस्पर आदान-प्रदान न हो सका। अँग्रेजी से विधाओं की नकल अवश्य हुई परन्तु लेखकों ने देश, काल व पात्रों के सम्बन्ध में भारतीय वातावरण का ही ध्यान रखा। प्रभावित होना बुरा नहीं, नकल करना बुरा है, जो किसी भी भाषा के नाटकों में नहीं दिखाई पड़ती।

आज प्रत्येक देशी भाषा में नाटक का क्षेत्र अपेक्षाकृत दुर्बल है। बँगला, मराठी, हिन्दी, सभी में नाटकों के क्षेत्र में कार्य करने की आवश्यकता है और उससे भी बड़ी आवश्यकता है, परस्पर आदान प्रदान व 'अन्तर्प्रान्तीय समझ' के विकास करने की।

---

[1] —मलयालम नाटक साहित्य का विकास।

[2] —ध्रुवस्वामिनी।

बङ्गीय नाट्य-साहित्य तथा रङ्गमञ्च

श्रीमती अपर्णलता राय एम० ए०

प्राचीन बँगला नाट्य-साहित्य का लिखित संस्करण आज तक नहीं मिला है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि प्राचीन बँगला समाज में नाटक या अभिनय का कोई स्थान नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों से पुरातन युग के नाटकीय क्रीड़ा का सन्देश मिलता है। उस समय पूजा या उत्सव को केन्द्र मान कर नृत्यगीत के साथ नाटकीय भावयुक्त अनुष्ठान का वर्णन मिलता है। शिव पूजा या चड़क पूजा के अवसर पर शिव पार्वती का वेश धारण करके उनकी कहानियों का खेल प्रचलित था। लेकिन उसकी कोई लिपिबद्ध रचना नहीं मिली। गायक समयोपयोगी गीत रचना कर गाते थे तथा गम्भीर भावों की व्याख्या भी करते थे। यह नाटकीय अनुष्ठान वर्त्तमान नाटकों तथा रङ्गमञ्च की क्रीड़ा से भिन्न था, लेकिन दोनों का अन्तर्गत आवेग एक ही था। वह पौराणिक नाट्य-क्रीड़ा वर्तमान युग में भी सम्पूर्णतः लुप्त नहीं हुई है। बांगल में ग्राम्य अशिक्षित जनता आज भी उस प्रकार की नाटकीय अभिव्यक्ति से परिचित है और सम्भवतः भविष्य में भी रहेगी। इस प्रकार के सहज अनाडम्बर अभिनय तथा मौखिक गीत, व्याख्या आदि से आज भी जनता मनोरंजन करती है और ज्ञान, धर्म की शिक्षा लाभ करती है। यह प्राचीन अभिनय पद्धति हम 'यात्रागान', 'कथकता', 'ढप' इत्यादि विभिन्न रूप में पाते हैं। साधारणतः इनकी विषय वस्तु सर्वदा धार्मिक गुण सम्पन्न होती है; रामायण, महाभारत, पुराणादि की आख्यायिकाओं या कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य लीला से संगृहीत कहानियों पर अवलम्बित होती है। वर्तमान युग में यात्रागान में कभी-कभी सामाजिक तथा राजनैतिक मतवाद का निदर्शन दृष्टिगोचर होता है। बँगला में नाटक के क्रम-विकास की पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन साहित्यों में जो गीति-काव्य मिलते थे कभी-कभी उनको नाटकीय रू में परिवर्तित कर यात्रागान में अभिनय किया जा था। ऐसे जिस गीतिकाव्य का प्राचीनतम लिखि ग्रन्थ मिला है वह दशम शताब्दी की रचना है दशम शताब्दी के अन्त भाग में रामहि पण्डित रचि 'शून्य पुराण' ही प्राचीनतम बँगला गीति-काव्य जो कि अभिनय के रूप में गाया जाता था। 'शून्य-पुराण के साथ-साथ और भी कुछ प्राचीन गीतिका मि हैं जिसकी प्राचीनता का सम्यक निर्णय न होते हु भी उनको बहु-प्राचीन रचनाओं में ही स्थान दि गया है। 'सूर्य मङ्गल' एक ऐसी ही रचना है औ इसका अभिनय तत्कालीन समाज में बहुत प्रचलि था। इस प्रकार और भी कई प्रसिद्ध गीति-काव्य मिल हैं जिन्होंने बँगला साहित्य में नाट्य रस की सृष्टि थी। जिनमें 'धर्ममङ्गल' तथा 'मयनामती' औ 'गोपीचन्द्र का गान' का बहुत प्रचार हुआ था। रा माणिकचन्द्र उनकी रानी मयनामती तथा पुत्र गो चन्द्र का समय सम्भवतः एकादश शताब्दी का शे भाग था। रानी मयनामती महायोगी गोरक्षनाथ की शिष्या थी और सिद्धि प्राप्त कर अलौकि शक्ति लाभ कर चुकी थी। उस कहानी के आधा पर जिस गीति-काव्य की रचना हुई थी वह 'मयनामती का गान' है जिसने कि उस समय प्रति प्राप्त की थी। उसके साथ और भी कुछ कहानि मध्य युग के गीति-काव्य में मिलती हैं जिनमें नाटक घटना तथा चरित्र का बहुत समावेश है। कि मध्य युग की इन रचनाओं में एक विशेषता त त्रुटि दिखाई देती है। यह सब रचनायें दैवी श के ही व्याख्यान थे। मानवीय प्रेमलीला का प्र परवर्ती युग में मुख्यतः कई मुसलमान कवि त नाट्यकारों की सहायता से हुआ था। उन लेखकों

सत्रहवीं शताब्दी के दौलत काजी तथा अलावल सम अधिक प्रसिद्ध हैं। बीच के वर्षों में किसी प्रसिद्ध गीत-काव्य का सन्धान नहीं मिल सका है।

इसके पश्चात् नाट्य-साहित्य में एक महान परिवर्तन का युग आया। पूर्व में ही कह चुकी हूँ कि प्राचीन बँगला में नाटकीय अभिव्यक्ति का प्रचलन था जिसका रूप वर्तमान मञ्च-अभिनय से कुछ भिन्न था। देश की सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था तत्कालीन मनोरञ्जक व्यवस्था की नियन्त्रक थी और सर्वकाल में देश में प्रयोजन और सुयोग के अनुसार ही व्यवस्था की जाती है। पाश्चात्य सभ्यता का आलोक मिलने से पूर्व-हमारे देश का जीवन, प्रधानतः ग्रामीण जनता में ही था। ग्रामीण जीवन के बाहर नगर जीवन केवल राजन्य वर्ग या राज कर्मचारियों के उपयुक्त था। नगरवासियों का रहन-सहन उनका आमोद, उत्सव ग्रामीण जनता के लिए नहीं था। सहज तथा अनाडम्बर रीति के अनुसार साधारण जनगण अपना-अपना अनुष्ठान-उत्सव पालन करते थे। लोक शिक्षा तथा मनोरञ्जन के लिए नाटकीय अभिव्यक्ति के साथ धर्म सम्बन्धी गीत-अभिनय का प्रचलन था जिसका वर्णन पूर्व ही कर चुकी हूँ। इस अभिनय में न तो किसी मञ्च की आवश्यकता थी न अधिक वेश भूषा की। उन्मुक्त स्थान में गायक वर्ग विभिन्न चरित्रों के रूप को गान की सहायता से व्यक्त करते थे। श्रोतागण की केवल गान की मधुरता तथा तत्त्व की गम्भीरता का रस पान करके तृप्त होते थे। यह ही प्राचीन यात्रा गान या कथकता का रूप है। जीवन में उच्चतर अवस्था थी, राज निर्देश से या धनाढ्य वर्ग के प्रयत्न से नगर में नाटकाभिनय का उच्चतर आयोजन होता था, किन्तु वह जनसाधारण के लिये नहीं था। किन्तु ब्रिटिश शासन आरम्भ होते ही, देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ साथ, नाट्य जगत में भी परिवर्तन दिखाई दिया। अँग्रेजी शिक्षा के साथ जैसा पाश्चात्य रीति-नीति ने देशीय समाज को प्रभावित किया ऐसा पाश्चात्य साहित्य तथा नाट्य धारा ने भी हमारे देश के नाट्य साहित्य तथा नाट्याभिनय को नूतन रूप दिया। यद्यपि बङ्गला नाट्य साहित्य ने पाश्चात्य धारा का सम्पूर्ण अनुकरण नहीं किया, निज वैशिष्ट धर्म परायणता, चारित्रिक आदर्श इत्यादि का अनुकरण नहीं किया, तब भी पाश्चात्य प्रभाव नाट्य जगत् में बहुत संशोधन का कारण हुआ। अँग्रेजी शासन में कलकत्ता नगरी साम्राज्य की राजधानी निर्वाचित हुई। राजधानी और उसके उपकण्ठ में जनता की वृद्धि हुई। पाश्चात्य प्रभाव वश उनमें अँग्रेजी सभ्यता की धारा विविध श्रोत में प्रविष्ट हुई। उनकी एक धारा ने नाट्य-जगत में नूतन भाव तथा नूतन ढङ्ग दिया। कलकत्ते में पश्चिमी ढङ्ग से प्रथम रङ्गमञ्च की स्थापना हुई सन् १७८५ ई० में। जिसका प्रतिष्ठाता था हेरोसिन लेबेडेफ नामक एक रशियन। इस नाट्यशाला में प्रथम बँगला नाटक का अभिनय हुआ था। यद्यपि यह नाटक Disguise नामक एक अंग्रेजी नाटक का अनुवाद था। यह नाट्यशाला स्थायी नहीं हुई। क्योंकि प्रवेश शुल्क अत्यधिक होने के कारण साधारण जनता उसमें स्थान न पा सकी। इसके ४० वर्ष बाद बँगला नाटक 'विद्यासुन्दर' अभिनीत हुआ था। इस समय विभिन्न धनाढ्य नाट्य-प्रिय व्यक्तियों के प्रयत्नों से विभिन्न नाट्यशालाएँ प्रतिष्ठित होती चली गईं और साथ-साथ ही बङ्गीय साहित्यिक मण्डली उपयोगी नाट्य-रचना पर दृष्टिपात करती रही। सन् १८५७ से इस नये नाट्य-युग का प्रारम्भ हुआ, जिस समय से लेकर आज तक बँगला साहित्य में अगणित नाटक रचित हुए। प्रारम्भिक समय की कई प्रसिद्ध रचनाओं की सूची निम्नलिखित है—

'अभिज्ञान शाकुन्तल'—(नवकुमार राय)
'कुलीन सर्वस्व' तथा 'बेनी संहार'—(रामनारायण तर्करन्त)
'कीर्ति विलास'—(योगेन्द्र गुप्त)
'भद्रार्जुन'—(ताराचँद सिकदार)
'भानुमती चित्र विलास' (हरचन्द्र घोष)

इनके अतिरिक्त विभिन्न रचयिताओं ने 'रामाभिषेक', 'सतीनाटक', 'हरिश्चन्द्र', 'महाश्वेता', 'जानकी विलाप', 'नलदमयन्ती', 'वत्स चिन्ता' आदि पौराणिक नाटकों की रचना तथा अभिनय किया। ~~नाट्य~~शाला में अभिनीत यह नाटक प्राचीन यात्रा-गान से कई प्रकार से अधिक उन्नत थे। इनके रचयिता-गण शिक्षित थे और नाट्यशाला का आयोजन भी उन्नत था। तथा साहित्यिक लोग भी नाट्य साहित्य के प्रति आकृष्ट होने लगे जिसके कारण इसकी द्रुतगति से उन्नति हुई। और अंग्रेजी या संस्कृत से अनुवादित नाटकों के स्थान पर मौलिक बँगला नाटकों का आविर्भाव होने लगा जिसने साहित्य को नाना प्रकार से समृद्धिशाली बनाया। प्रसिद्ध बँगला काव्य रचयिता माईकेल मधुसूदनदत्त ने भी कई नाटकों की रचना की जिनमें से 'कृष्ण कुमारी' नामक नाटक ने बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त की। जन-साधारण के मनोरञ्जन के लिए नाट्यशालाओं का विकास हुआ। साहित्य सम्राट बङ्किमचन्द्र के अधिकतर उपन्यासों को नाटकों में परिवर्तित किया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में नाट्य-साहित्य में बहुत उन्नति हुई और इस युग के यशप्राप्त नाट्य-रचयिताओं में दीनबन्धु मिश्र, अमृतलाल वसु, अर्घ्येन्दु शेखर मुस्तफी, गिरीशचन्द्र घोष आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। दीनबन्धु मिश्र लिखित 'सधवा की एकादशी' और 'नील दर्पण' नाटक से देश में एक नव भावधारा का सञ्चार हुआ। पहले नाटक साधारणतः भक्ति-मूलक होते थे। इस भावधारा का परिवर्तन कर 'सधवा की एकादशी' समाज के संशोधक के रूप में प्रकाशित हुई। 'नील दर्पण' नाटक की विषय वस्तु था अंग्रेजी शासन से अत्याचार पीड़ित दरिद्र देशवासी का वर्णन, जिसने कि 'नीलकर' के विरुद्ध विद्रोह किया था। (Agitation against Taxation on Indigo plantation) उस समय के राजनैतिक इतिहास में बङ्गाल का 'नील कर' आन्दोलन एक प्रसिद्ध घटना थी। और ऊपर लिखित नाटक 'नील दर्पण' का अभि इसी कारण जनता में बहुत समादृत हुआ 'सधवा की एकादशी' ने समाज की विधवा नारि पर जो अत्याचार प्रचलित था उसके प्रति वि प्रदर्शन किया। इस नाटक से तत्कालीन सामाजि जीवन में बहुत चाञ्चल्य की सृष्टि हुई। उस युग ज्योतिरिन्द्रनाथ टाकुर लिखित कई जातीयता भा दीपक नाट्यों की भी रचना हुई थी। जिनमें विक्रम' और 'सरोजिनी' उल्लेख योग्य हैं। उन्नीस शताब्दी के शेष अध्याय में दीनबन्धु मिश्र प्रभृति पश्चात् नाट्य जगत में नूतनतर तथा श्रेष्ठतर अव मिला गिरीशचन्द्र से। उनकी नाट्य प्रतिभा से अभि नय कला, नाट्यशाला का संशोधन तथा नाट रचना इस त्रिस्रोत से बङ्गला नाट्य क्षेत्र की उर्व वृद्धि हुई। अभिनयाचार्य उपयुक्त नाटक के अभाव बोध होने से गिरीशचन्द्र, नाटक रचना में प्र हुए और उनकी शक्तिशाली लेखनी से समयोपयो तथा मनोरञ्जक बहु संख्यक नाटकों की सृष्टि हु गिरीशचन्द्र लिखित नाटकों की संख्या पचास से अधि रही। उनमें अधिकतर (१) पौराणिक तथा धार्मि कहानियों के आधार पर लिखित नाटक (२ ऐतिहासिक घटना पर रचित तथा वीरत्वपूर्ण औ स्वादेशिकता भावोद्दीपक। नाटक एवं (३) सामा जिक नाटक (जिनमें 'प्रफुल्ल' और 'बरानिधि' प्र सिद्ध हैं) हैं। प्रथम भाग के अन्दर राम का बनवा सीता हरण, ब्रज विहार, चैतन्य लीला, प्रभास य निमाइ सन्यास, बुद्धदेव चरित आदि हैं। द्विती श्रेणी के अन्दर सिराजुद्दौला, मीरकासिम, चं काला प्रहाड़, इत्यादि की गणना है।

गिरीशचन्द्र के समसामयिक नाट्यकारों में रसरा अमृतलाल बसु, क्षीरोदप्रसाद और द्विजेन्द्रलाल सर्वा धिक प्रसिद्ध हैं। अमृतलाल रचित नाटकों में 'हीर चूर्ण', 'तिलतर्पण', 'विवाह विभ्राट' प्रसिद्ध है।' शेषोक्ति नाटक हास्यरस प्रधान था। और इस सफलता से नाट्य समाज में अमृतलाल ने 'रसरा

की उपाधि प्राप्त की। क्षीरोदप्रसाद ने 'अलीबाबा' नाटक रचना कर बड़ी सफलता प्राप्त की और इसके पश्चात् ऐतिहासिक, पौराणिक प्रायः पचास नाटकों की रचना की। इनके ऐतिहासिक नाटकों में प्रतापादित्य नन्दकुमार, पलासी का प्रायश्चित, चाँदबीबी, आलमगीर आदि नाटक देश की समयोपयोगी भावधारा के अनुवर्ती थे। विंश शताब्दी के प्रारम्भ में बङ्गाल में स्वदेश सेवा तथा स्वाधीनता संग्राम का अंकुर दिखाई दिया। उस युग में 'प्रतापादित्य', 'नन्दकुमार', 'पलासी का प्रायश्चित' देश को अनुप्रेरित करने में सहायक हुआ। द्विजेन्द्रलाल भी प्रधानतः ऐतिहासिक नाट्यकार थे। उनका प्रसिद्ध नाटक समूह विभिन्न भाषाओं में अनुवादित हो चुका है। जिनमें से शाहजहाँ, राणाप्रताप, दुर्गादास, नूरजहाँ, मेवाड़ पतन, चन्द्रगुप्त आदि ने समधिक ख्याति लाभ की। द्विजेन्द्रलाल की काव्यिक तथा ओजस्विनी गद्यभाषा से उनके नाटक को एक नूतन मूल्य प्राप्त हुआ, यद्यपि ऐतिहासिक सत्य से विच्युति और घटनाओं की असम्बद्धता ने कुछ कठोर समालोचनाओं का भी सुयोग दिया।

वर्तमान युग के उपर्युक्त विशिष्ट नाट्यकारों के नाम के साथ अन्य एक श्रेष्ठ साहित्यिक का नाम भी आ सकता है, परन्तु इनकी श्रेणी भिन्न थी। लोक सम्राट् रवीन्द्रनाथ ने भी नाटक तथा गीति नाट्य की रचना की। जिनमें से दो चार रंबमञ्च पर अभिनीत भी हो चुके हैं। किन्तु इनकी रचना अभिनय योग्य नहीं है। अभिनय उपयोगी नाटकों में जो परिवेश प्रयोजन था, जो गुण आवश्यक हैं, उनके नाटकों में उसका अभाव है। उनके नाटकों में भावधारा प्रचुर किन्तु अभिव्यक्ति का प्रयोजन कम है! रवीन्द्रनाथ कवि सम्राट थे, सम्भवतः इसी कारण उनकी सब रचनाओं में ही भावांश प्रधान है, क्रियांश या घटनांश गौण है। रवीन्द्रनाथ के जिन-जिन नाटकों ने नाट्यमञ्च पर सफलता प्राप्त की है उनमें 'चिर कुमार सभा' (प्रहसन), 'विसर्जन', 'राजरानी या तप' प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ का उपन्यास 'बौ० ठाकुरानी का हाट' और 'गोरा' भी नाट्य रूप में अभिनीत हो चुके हैं।

क्षीरोदप्रसाद, द्विजेन्द्रलाल के युग के पश्चात् उल्लेखनीय नाट्यकारों में योगेशचन्द्र चौधरी तथा अपरेशचन्द्र मुखर्जी का नाम है। ये दोनों नाट्य रचयिता तथा नाट्याध्यक्ष थे। योगेशचन्द्र लिखित 'सीता' तथा 'विष्णुप्रिया' और अपरेश चन्द्र रचित 'कर्णार्जुन' तथा 'चण्डीदास' रचना ने तत्कालीन समाज को सविशेष मोहित किया था।

इन मौलिक नाटकों को छोड़कर बङ्ग-समाज औपन्यासिक कलाकारों की देन से भी उपकृत हुआ है। पूर्व में कहा गया है कि बङ्किमचन्द्र के उपन्यासों ने नाट्याभिनय को समृद्ध किया! इनके अतिरिक्त अन्यान्य उपन्यासकारों ने भी रङ्गालय को सम्पन्न करने में सहायता की। उनमें रमेशचन्द्र, शरतचन्द्र, अनुरूपा देवी तथा निरुपमा देवी का दान मूल्यवान है। रमेशचन्द्र लिखित 'बङ्ग विजेता', 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। शरतचन्द्र के उपन्यास मात्र ने नाटक रूप में परिवर्तित होकर रङ्गभूमि की शोभा बढ़ायी तथा जन साधारण का आनन्दवर्द्धन किया। बङ्गीय महिला उपन्यास लेखकों में अनूपी देवी तथा निरूपमा देवी का स्थान सर्वोच्च विवेचित होता है। अनुरूपा लिखित 'मां' 'मंत्रशक्ति' 'महानिशा' आदि तथा निरुपमादेवी प्रणीत 'श्यामली' तथा 'अन्नपूर्णा का मन्दिर' ने अभिनय रूप में भी विशेष प्रशंसा अर्जन की।

इसके पश्चात् आधुनिक नाट्य साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह प्रकट होता है कि इस युग में नाट्य-साहित्य की कुछ अधोगति हुई है। मौलिक मूल्यवान रचनायें वर्तमान नाट्य-साहित्य में विरल हैं। वर्तमान में जिन-जिन नाटकों ने आज भी रङ्गालय में श्रोताओं का हृदय आकृष्ट किया है वह या तो पूर्व नाट्यकारों लिखित रचनायें हैं या सुप्रसिद्ध उपन्यासों का नाटक संस्करण। इसका एक कारण है शक्तिशाली नाट्य रचयिता का

प्रभाव और दूसरा कारण है 'छायाचित्र' का प्रसार'। प्रतियोगिता की दौड़ में छायाचित्र विजयी है। समय तथा व्यय संकोच के कारण और छायाचित्र से अधिकतर स्वाभाविक परिस्थिति वर्तमान रहने से उससे जनता अधिकतर आकृष्ट होगयी। नाट्यकारों ने भी सिनेमा-नाटक रचना में मनोनिवेश किया। सिनेमा नाटक मञ्च नाट्य से भिन्न होता है। पूर्वोक्ति में घटना तथा अभिव्यक्ति का प्राचुर्य प्रयोजन है, जब कि द्वितीयोक्ति में भाषा और भाव का प्रयोजन है। आज छायाचित्र जगत् वृहत्तर हो गया और नाटकीय रङ्गमञ्च का समादर सीमित रह गया है, नाट्य रचना की गति भी भिन्न मुखी है। वर्तमान में चित्र-नाट्य भी बहुलांश में उपन्यास से संगृहीत हो रहा है, और जिस-जिस को मौलिक रचना के रूप में हम पाते हैं उनका मूल्य भी पूर्वापेक्षा नाटक के समतुल्य नहीं है। वर्तमान नाटक की धारा, आधुनिक रुचि अनुयायी, प्रधानतः मनस्तत्व-मूलक है। जिसका रूप कभी-कभी सम्पूर्णतः भारतीय न हो कर पश्चिमी ढङ्ग का हो जाता है। बँगला नाट्य-साहित्य की यह परिणति सुखदायक या वांछित नहीं है परन्तु आशा है कि वर्तमान तथा भविष्य के साहित्यकार इस त्रुटि का निराकरण कर नाट्य-साहित्य में उच्चतर आदर्श की स्थापना करेंगे जो कि समाज तथा जाति के लिए वांछनीय है और जो बङ्ग साहित्य को पुनः गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित करेगा।

(पृष्ठ ११८ का शेषांश)

है, परन्तु उस पर पाश्चात्य कला का अत्यधिक प्रभाव विद्यमान है। इन एकांकीकारों में सेठ गोविन्ददास, डा० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, गणेशप्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर आदि प्रसिद्ध हैं।

पाँचवें, प्रसादजी के 'एक घूँट' को समस्यामूलक नाटक भी माना गया है। इस परम्परा में सर्वश्रेष्ठ नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्र के मिलते हैं, जिनमें से सन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिंदूर की होली, आधीरात प्रसिद्ध हैं। पं० गोविन्द वल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' भी एक समस्या-नाटक है, क्योंकि इसमें मद्यपान की समस्या विद्यमान है।

सारांश यह है कि प्रसादजी ने नाट्य-क्षेत्र में एक अद्भुत क्रान्ति प्रस्तुत की थी। उस क्रान्ति को आगे बढ़ाने का श्रेय उनके युगीन नाटककारों को है। वैसे बा० गुलाबराय जी ने तो प्रसादजी को ही स्वयं एक युग माना है क्योंकि वे स्वयं ही एक युग-स्रष्टा तथा एक युग की पूर्ण सामग्री लेकर अवतीर्ण हुए थे। परन्तु फिर भी उनके समसामयिक नाटककारों ने इस क्रान्ति-युग के सृजन में पर्याप्त सहयोग दिया है और प्रसादजी ने जिस नाट्य-कला का विकास हिन्दी-क्षेत्र में किया उसे सजीव बनाये रखने का प्रयत्न किया है। प्रसादजी के नाटकों में एक अभाव सदैव खटकता रहा है कि वे अभिनेय नहीं हैं परन्तु कुछ काट-छाँट के साथ उनका भी सफल अभिनय हुआ है। साथ ही उनका अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी तो पूर्णतया अभिनेय है। प्रसाद के नाटकों के अनभिनेय दिखाई देने का कारण हिन्दी रङ्गमञ्च का अभाव है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। परन्तु उनके युग के अन्य नाटककारों ने उस अभाव को भी दूर कर दिया है और अधिकांश ऐसे नाटक लिखे हैं जो सर्वथा अभिनेय हैं तथा जिनमें काँट-छाँट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। हरिकृष्ण प्रेमी तथा मिश्रजी के अधिकांश नाटक ऐसे ही हैं जिनका सफल अभिनय हो सकता है।

साहित्य परिचय

आलोचना

हिन्दी साहित्य का आदि काल—लेखक–आ० डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक–बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद, पटना। पृष्ठ १२३, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ३।)

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद वर्ष में एक दो बार अधिकारी विद्वानों द्वारा ऐसे भाषण कराती है जो लगातार पाँच दिन तक होते हैं और जिनको विशेष-रूप से तैयार किया जाता है। इन भाषणों पर परिषद व्याख्याता को एक हजार रुपया पुरस्कार रूप में देती है और उस व्याख्यानमाला को पुस्तक रूप में प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार की प्रथम व्याख्यान-माला के रूप में लिखा गया यह ग्रन्थ परिषद ने प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य का बड़ा हित किया है।

हिन्दी का आदिकाल ऐसा है जिस पर अन्धकार का पर्दा-सा पड़ा हुआ है। द्विवेदीजी ने उस पर्दे को थोड़ा हटा कर उस काल के साहित्य का दिग्दर्शन कराया है। इस आलोक से आपने ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला है और ऐसी भ्रान्तियों को दूर किया है जिन्होंने अभी तक हिन्दी संसार को आच्छन्न कर रक्खा था। साहित्य के इतिहास के लिए यह ग्रन्थ कितना उपयोगी है यह लिखा नहीं जा सकता। भावी लेखकों को और अन्वेषकों को यह ऐसी दिशा निर्देश करेगा जिसकी अभी कल्पना नहीं की जा सकती।

हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—ले०–डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक–बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद, पटना। पृष्ठ ३०३, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ६।।)

वाणभट्ट की प्रसिद्ध और अनुपम कृति 'हर्ष-चरित' पर डा० अग्रवाल ने यह एक अत्यन्त गवेषणा-पूर्ण ग्रन्थ तैयार किया है। इस ग्रन्थ में हर्ष-चरित के आधार पर तत्कालीन समाज, साहित्य और संस्कृति का बड़ा सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कला की, समाज की और साहित्य की जैसी अवस्था हर्ष-चरित में दिखाई गई है—डॉ० अग्रवाल ने उस सबको एक स्थान पर अपने ढङ्ग से प्रस्तुत कर हिन्दी पाठकों को और रसिक समाज को बहुत ही उपकृत किया है। ऐसे सुन्दर और गवेषणापूर्ण ग्रन्थ के प्रणयन पर डॉ० अग्रवाल को जितनी भी बधाई दी जाय कम होगी।

जायसी साहित्य और सिद्धान्त—लेखक–श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक– आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १२०, मूल्य २।।)

प्रेममार्गी कवियों में जायसी का प्रमुख स्थान है। वे सूफियों के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। जायसी को समझने के लिए सूफी सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का जितना ज्ञान आवश्यक है वह संक्षेप में

दे दिया गया है। इसमें जायसी के ग्रन्थों का संक्षिप्त वर्णन देकर सामूहिक रूप से जायसी की भाषा, अलंकार योजना चरित्र-चित्रण तथा विचार-धारा पर प्रकाश डाला गया है। इन विवेचनों की विशेषता यह है कि लेखक पहले से ही विवादग्रस्त बातों और विचारों की भूल-भुलैयों में नहीं पड़ा है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका सार दे दिया गया है। इस सार के कारण यह पुस्तक विद्यार्थियों और उन सारग्राही पाठकों के लिए जो थोड़े में ही सब कुछ जान लेना चाहते हैं विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

—गुलाबराय

यशोधरा : एक अध्ययन—लेखक–श्री लक्ष्मीनरायण टण्डन तथा श्री रामखेलावन चौधरी, प्रकाशक–विद्या मन्दिर, लखनऊ। पृष्ठ १५०, मूल्य १॥)

गुप्तजी की यशोधरा पर यह एक आलोचनात्मक पुस्तक है। विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

निबन्ध

श्री रामावतार शर्मा निबन्धावली—लेखक–महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा, प्रका०–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। पृष्ठ ३१६, बड़ा आकार, सजिल्द, मू० ८॥)

शर्मा जी संस्कृत के अपूर्व और अपने समय के सर्वमान्य विद्वान थे। सन् १६२६ में ५२ वर्ष की अल्प आयु में ही आपका स्वर्गवास हो गया। संस्कृत और हिन्दी में अनेकों ग्रन्थ आपने लिखे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपके चालीस लेखों का संग्रह है। लेख सभी विषयों पर हैं और इन लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि शर्माजी कितने महान् विद्वान थे। ज्योतिर्विद्या भूगोल विद्या, भूगर्भ विद्या, भाषा विज्ञान, शिक्षा, पुराण, धर्म, दर्शन सभी विषयों पर शर्मा जी ने लिखा है। लेख गम्भीर हैं और पठनीय हैं। अन्तिम ६ विषय परिशिष्ट रूप में हैं जिनमें एक में शर्मा जी की जीवनी भी बहुत संक्षेप में दी गई है।

कविता

धूप के धान—लेखक–गिरिजाकुमार माथुर, प्रका०–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ १४६, मूल्य ३)

४५ नवीन कविताओं का संग्रह है जिनको मुख्यतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है। कुछ रूमानी गीत हैं कुछ में रूमानी प्रवृत्ति के साथ यथार्थ का समन्वय हुआ है और कुछ कविताएँ बहिर्मुख हैं। छन्दों की नवीन विधाओं का इनमें उपयोग हुआ है। 'शाम की धूप', 'चाँदनी गरवा' आदि के छन्द ऐसे प्रयोग हैं। 'न्यूयार्क में फाल' कविता आधुनिक प्रतीक प्रधान है। 'हेमन्ती पूनो' का शब्द शिल्प द्रष्टव्य है। गीत की दृष्टि से 'पन्द्रह अगस्त' कविता श्रेष्ठ है। 'ढाकवनी' कविता वातावरण प्रधान है जिसमें समाज यथार्थ का पहली बार प्रयोग हुआ है। शब्द शिल्प में उर्दू अँग्रेजी के सामान्यतया प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए हैं इस कारण भाषा सरल है।

दयानन्दायन—लेखक–श्री गदाधरसिंह, प्रकाशक–डॉ० सूबाबहादुरसिंह, कैनिङ्ग कालेज डिसपैन्सरी, लखनऊ। पृष्ठ ३८१, मूल्य ४)

प्रस्तुत महाकाव्य में महर्षि दयानन्द की जीवनगाथा वर्णित है। पाँच खण्डों में कथा विभाजित है। मङ्गलाचरण पृथक् रूप से गणेश आदि का न होकर आरम्भ से सम्बद्ध है। सर्गों के स्थान पर खण्ड हैं। छन्द में परिवर्तन नहीं है। भाषा अवधी है किन्तु खड़ी बोली के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। अँग्रेजी शब्द भी आए हैं जिनका अर्थ टिप्पणी में दिया गया है। छन्द दोहा-चौपाई हैं। प्रत्येक आठ, नौ या दस चौपाइयों के उपरान्त एक दोहा या सोरठा है।

महर्षि के जीवन का सम्पूर्ण वृत्त, उनके कार्य वर्णित हैं जो उनकी विशालता का चित्र प्रस्तुत करते हैं। कवि की भावुकता व श्रद्धा के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। छन्द-बन्धन में कहीं शब्दों का रूप बदलना भी पड़ता है। विषय की नवीनता, छन्द एवं भाषा की प्राचीनता इस महाकाव्य में द्रष्टव्य है।

—त्रिलोचन पाण्डेय

कविताएँ १९५४—सङ्कलन सम्पादक-अजितकुमार तथा देवीशङ्कर अवस्थी, प्रकाशक-साहित्य निकेतन, कानपुर। पृष्ठ १४१, मूल्य २॥।)

यह सङ्कलन उभय श्री गिरजाकुमार माथुर तथा बालकृष्ण शर्मा नवीन के परामर्श से किया गया है। इस संग्रह में सभी श्रेणी और सभी धाराओं के कवियों की १९५४ में प्रकाशित कविताओं में से चुनी हुई प्रायः एक ही कविता का सङ्कलन है। इसमें वे कविताएँ भी आगई हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं और वे भी जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित हुई हैं। यह बात नहीं कि इसमें केवल नवीनों की ही कविताओं को स्थान दिया गया वरन् मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त भी उन लोगों से कन्धा मिलाये खड़े हुए हैं।

इसके सम्बन्ध में सम्पादकों का कथन है “इसी लिए हमने चाहा कि वह सङ्कलन तैयार हो जिसे भले ही कहा सन् ‘१९५४ की कविताएँ’ जाए परन्तु खड़ी बोली की समग्र कविता का लघु और संक्षिप्त संस्करण जैसे दीखे तथा ऐसा दीखते हुए भी वह आधुनिक हो, नया हो।” प्रत्येक वर्ष की कविताएँ अपने समय की गति-विधि से प्रभावित होती हैं, इसी अंश में उपर्युक्त कथन की सार्थकता है।

कवि भारती—सम्पादक-सर्व श्री सुमित्रानन्द पन्त, बालकृष्णराव और डॉ० नगेन्द्र, प्रकाशक-साहित्य-सदन चिरगाँव (झाँसी)। पृष्ठ ७३५, मू० १५)

कविता कौमुदी के पश्चात् हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का कोई ऐसा संग्रह नहीं निकला था जिसे प्रामाणिक और उच्च स्तर का कहा जा सके। प्रस्तुत पुस्तक उसी कमी की पूर्ति के लिए एक प्रशंसनीय प्रयास है। इस संग्रह की यह बड़ी विशेषता है कि इसमें सभी प्रमुख कवियों को स्थान दिया है और इसमें उनकी उत्कृष्टतम रचनाओं का सङ्कलन किया गया है। सम्पादन की सुरुचिता के लिए सम्पादकों के नाम ही पर्याप्त हैं। कुछ लोगों को आशा थी कि इस पुस्तक को सर्वश्रेष्ठ रचना होने का गौरव मिलेगा, परन्तु किसी एक लेखक की रचना न होने के कारण इ छोड़ना पड़ा। हिन्दी के लिए यह गौरव की वस्तु है

कहानी

पहला कहानीकार—लेखक-श्री रावी, प्रक शक-भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस। पृष्ठ १९८, मू० २

रावीजी हिन्दी संसार के विख्यात कहानीक हैं। लघुकथाओं के लिखने में तो आप सिद्धहस्त हैं आपकी लघु कथाओं की शैली ही अलग है। इ पुस्तक में आपकी लघु कथाओं का ही सङ्कलन है अच्छी पुस्तक है। छपाई सफाई के लिए भारती विद्यापीठ का नाम ही पर्याप्त है।

भ्रमण

पृथ्वी परिक्रमा—लेखक-सेठ गोविन्ददास, प्रका आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ३४४, मूल्य १

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक सेठ गोविन्ददास ज जो भारतीय पार्लियामेंट के सदस्य भी हैं, सन् १९५ में अपने दोनों पुत्रों के साथ विश्व भ्रमण के लिये ग थे। उनकी यात्रा का प्रारम्भ कामनवेल्थ पार्लिय मेंट्री कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिये हुआ था। य कान्फ्रेंस ओटावा में हुई थी। इसमें भारतीय प्रतिनि मण्डल और उसके नेता के रूप में सेठजी गये थे ओटावा सम्मेलन का सभापतित्व भारतीय संसद अध्यक्ष माननीय मावलंकर जी ने किया था। इ पुस्तक के आदि में मावलंकर जी की भूमिका है जिस विदित होता है कि इस यात्रा में मावलंकरजी सेठजी के साथ थे। पुस्तक में यात्रा का जो वर्ण किया गया है आपने उसे यथार्थ माना है।

इस पुस्तक में निम्न देशों का वर्णन है—काहिर यूनान, इटली, स्विटजरलैंट, फ्रांस, ब्रिटेन, कनाड अमरीका, जापान, चीन, स्याम, वर्मा आदि। सभी दे के वर्णन में लेखक ने वहाँ की राजनैतिक स्थिति दिग्दर्शन तो कराया ही है, सामाजिक और आर्थि अवस्था का भी यथार्थ वर्णन है। पुस्तक ३७ अध्यायों विभक्त है। १८० चित्र भी दिये गये हैं। इन चित्रों भी विश्व का एक धुंधला चित्र सामने आ जाता है

धिकांश ... इसी यात्रा में विशेष रूप से लिये गये । जिनमें बहुतों में तो सेठजी स्वयं दिखाई देते हैं । ई दृष्टियों से यह भ्रमण की पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण ौर उपयोगी है । इससे ... बैठे ही संसार का एक हंगम चित्र आँखों के सामने आ जाता है ।

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—
खक-डा० सत्यप्रकाश, प्रकाशक—बिहार राष्ट्र-भाषा-रिषद, पटना । पृ. २७१, सजिल्द, बड़ा आकार, मू. ८)

जन साधारण में यह बातें साधारणतः प्रचलित कि प्राचीन काल में भारत में विज्ञान की बड़ी उन्नति । परन्तु इन बातों को साधार कहने की क्षमता लोगों में थी । प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक ने साधारण की इस बात को साधार, सप्रमाण और स्तार से वर्णन कर बड़ा ही उपकार किया है । इसमें ज्ञान के विभिन्न अङ्गों पर पृथक-पृथक अध्यायों में यह ताया गया है कि उस विषय में कौन कौन ग्रन्थ बने, किसने बनाए और कैसे उनका विकास था हुआ । उदाहरण के लिए गणित विषय में जैन णित की चर्चा करते हुए लेखक ने बीसियों ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनमें गणित शास्त्र का विवेचन है । महावीर (भगवान महावीर नहीं) रचित 'गणित संग्रह' को तो आपने इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना है कि पुस्तक में जगह-जगह उसका उल्लेख है । इसी प्रकार 'त्रिलोक सार' ग्रन्थ उच्च गणित का वर्णन है ।

आयुर्वेद अध्याय को तीन भागों में विभक्त कर आपने आयुर्वेद शास्त्र, रोगों की नामावली, विभिन्न तन्त्रों का वर्गीकरण और यूनानियों का आयुर्वेद पर प्रभाव बताया है । चरक से भी पूर्व भरद्वाज, अत्रेय पुनर्वसु, अग्निवेश का वर्णन कर आपने सिद्ध किया है कि बहुत प्राचीन काल से भारत में आयुर्वेद द्वारा सभी बीमारियों का इलाज होता था और उसका अपना विज्ञान था । इसी प्रकार आधुनिक 'सर्जरी' का विशद वर्णन सुश्रुत वागभट्ट आदि ने शताब्दियों पहले किया था । इसी अध्याय में पौधों का भी वर्णन है । ग्रन्थ का आरम्भ वैदिक-कालीन प्रेरणाओं से हुआ है । रसायन विज्ञान अध्याय में रसायन सम्बन्धी त्रिविध कार्यों का विशद विवेचन प्रचीन ग्रन्थों से दिया है । इस प्रकार यह ग्रन्थ हमारा प्राचीन गौरव सामने रखता है ।

साहित्य-रत्न, एम० ए० और अन्य उच्च कक्षाओं के लिए हमारे

उपयोगी प्रकाशन

—**भाषा-विज्ञान गाइड** (प्रश्नोत्तर रूप में)—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०, साहित्य रत्न २॥)
इसमें पाँच यूनीवर्सिटियों के पाँच वर्षों के एम० ए० और साहित्य-रत्न के प्रश्नों के उत्तर भी दिए गए हैं । पुस्तक अपने आप में पूर्ण है ।

—**हिन्दी साहित्य का इतिहास**—(प्रश्नोत्तर रूप में)—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० ३)
आधुनिक काल पर भी विशेष प्रश्न और उनके उत्तर हैं ।

—**हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ**—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०
हिन्दी के गद्य-साहित्य के १४ गौरवपूर्ण ग्रन्थों की आलोचना इसमें है । पुस्तक एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है ।

—**प्रबन्ध-प्रदीप**—प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न (श्रीधर स्वर्ण पदक प्राप्त) ४॥)
साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक निबन्धों की अनूठी पुस्तक ।

—**नाटक की रूपरेखा**—प्रो० दशरथ झा ३)
नाटक का इतिहास इसमें है ।

वी० पी० भेजने का हमारे यहाँ सुन्दर प्रबन्ध है ।

शुभाकांक्षी आपका—

हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली ।

आलोचना प्रधान साहित्य-सन्देश
के
पिछले तीन विशेषांक

साहित्य-सन्देश के १७ वें वर्ष का अन्त: प्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क हम १ अगस्त को निकाल चुके हैं। प्रत्येक वर्ष हम साहित्य सन्देश का एक विषय लेकर ऐसा विशेषाङ्क निकालते हैं जिसकी ख्याति सारे हिन्दी संसार में बनी रहती है। पिछले सभी विशेषाङ्कों में हिन्दी के विद्यार्थियों और साहित्य प्रेमियों की रुचि के अनुसार ठोस और उपादेय सामग्री रक्खी गई जिनकी बड़ी माँग रही और अभी तक बनी है। इस समय हमारे पास पिछले अनेक विशेषाङ्कों में से केवल तीन विशेषाङ्क 'भारतेन्दु अङ्क', 'आलोचनाङ्क' तथा 'कहानी अङ्क' की कुछ प्रतियाँ बची हैं जिनका प्रत्येक का मूल्य १ रुपया है। प्रसाद अङ्क के के लिये हमारे यहाँ से प्रकाशित 'प्रसाद जी की कला' नामक पुस्तक मँगायें। जो सज्जन इन विशेषाङ्कों की इच्छा रखते हैं, एक रुपया प्रति अङ्क मनीआर्डर द्वारा भेजकर अपनी इच्छित प्रति मँगालें, रजिस्ट्री से मँगाने के लिये ।=) अतिरिक्त भेजें।

❀ विद्वान सम्पादकों की सम्मतियाँ ❀

भारतेन्दु अङ्क—इस अङ्क में भारतेन्दु जी के जीवन, साहित्य, कला, भाव आदि विविध पक्षों पर जो प्रकाश विद्वान लेखकों द्वारा डाला गया है वह भारतेन्दु जी का अध्ययन करने वालों के लिये पठनीय ही नहीं है अपितु हिन्दी संसार के लिये एक अमूल्य वस्तु है।

—सम्पादक 'वीणा', इन्दौर।

आलोचनाङ्क—आलोचना-शास्त्र के नूतन और विकसित रूप की समीक्षा इस अङ्क में अनेकों साहित्य-मनीषियों ने की है। हिन्दी आलोचना के साथ ही साथ अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती और मराठी के आलोचना-शास्त्र पर भी अधिकारी लेखकों ने प्रकाश डाला है। सर्व श्री डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एस० टी० नरसिंह चारी, डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, प्रकाशचन्द्र गुप्त, गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों के लेख महत्वपूर्ण और गवेषणात्मक हैं।

छात्रों के लिये अङ्क अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है। —सम्पादक 'लोकसेवक'

कहानी अङ्क—इस विशेषाङ्क में 'कहानी' के उद्गम (भूत) से लेकर उसके भविष्यत् की चर्चा की है। गण्यमान्य विद्वानों द्वारा कहानी के शिल्प और कलात्मक विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। अङ्क हिन्दी कहानी को भारतीय कहानी के परिपार्श्व में रख देखने का, उसके मूल्याङ्कन का व्यापक एवं अभिनव प्रयास है। कहानी-कला, हिन्दी कहानी और कहानीकार, उसमें विकास आदि के सम्बन्ध में इतनी सामग्री इस अङ्क में एकत्रित की गई है जो अनेक पुस्तकों में सरलता से प्राप्त नहीं है। अङ्क पठनीय तथा स्थायी महत्त्व से पूर्ण है।

—सम्पादक 'वीणा'।

पता—**साहित्य सन्देश कार्यालय**, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. A.263. SEPTEMBER 1955. LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh Agra. Licensed to post without Prepayment.

अधिक कमीशन के लोभ में न पड़कर

अच्छी पुस्तकें खरीदनी चाहिए

कुछ जानने योग्य बातें

१—अच्छे और ख्याति प्राप्त लेखकों की पुस्तकें खरीदी जायँ ।

२—पुस्तकें वही खरीदी जायँ जिनमें कीमत अधिक न छपी हो ।

३—स्कूल, कालिजों में उन विषयों की जर्नल पुस्तकें अधिक रक्खी जायँ जिनसे वहाँ के विद्यार्थी भी अपनी योग्यता बढ़ा सकें ।

यह सभी बातें आपको हमारे भण्डार में मिलेंगी । हमारे यहाँ सभी नई से नई हर विषय की प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें आपको मिलेंगी । इस वर्ष अभी से कालेजों में पुस्तकों की खरीद प्रारम्भ हो गई है । हमारे यहाँ अब तक कितने ही आर्डर आ चुके हैं और सबको हम एक सप्ताह के अन्दर ही सब पुस्तकें भेज देते हैं ।

आप हिन्दी पुस्तकों का बृहद् सूची-पत्र हमसे मुफ्त मँगायें ।

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा ।

हिन्दी अध्यक्षों तथा लाइब्रेरियनों से हमारा निवेदन

हम जब अपना विज्ञापन कालिजों के प्रिन्सीपलों के नाम भेजते हैं तो वह हिन्दी अध्यक्षों तथा लाइब्रेरियनों के पास नहीं पहुँच पाता । अतः हम चाहते हैं कि वे अपना निजी मकान का पता हमारे पास भेजने की कृपा करें जिससे हम उनके मकानों पर भी अपना विज्ञापन भेज सकें ।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा ।

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

र्ष १७
अङ्क ४

र्षिक मूल्य ४)]
आगरा—अक्टूबर १९५५
[विशेष संस्करण

इस अङ्क के लेख

—हमारी विचार-धारा — सम्पादक
—गीति-काव्य की आत्मा का स्वरूप — प्रो० तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०
—अधुना साहित्य निर्माण की मूल प्रवृत्तियाँ — श्री रामचरणसिंह 'सारथी' एम० ए०
—विद्यापति और सूर — श्री सेवाधर झा एम० ए०, साहित्य-रत्न
—छायावाद की त्रुटियाँ — श्री कृष्णनन्दनप्रसाद 'अभिलाषी' एम० ए०
—स्वर्णकिरण में विश्ववाद — श्री केदारनाथ 'लाभ' बी० ए०, आनर्स
—शशिगुप्त : एक सफल ऐतिहासिक नाटक — प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०
—अमरबेल : एक आलोचनात्मक अध्ययन — श्री सुन्दरलालजी
—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पद्मावत की सञ्जीवनी टीका — प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, सा० र०
—आधुनिक संसार को रवीन्द्र की देन — श्री नन्दन झा 'चाँद'
—साहित्य-परिचय

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।
२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १ अङ्क मिलेंगे।
३. महीने की २० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पौस्टआफि के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।
४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। विना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।
५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।
६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।
७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन सितम्बर १९५५

आलोचना

भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका—डा० नगेन्द्र १०)
विचार और विश्लेषण— " ५)
नया साहित्य नए प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी ६)
हिन्दी साहित्य रत्नाकर—डा० विमलकुमार जैन ५)
प्रसाद का काव्य—डा० प्रेमशंकर १०)
हिन्दी मूल और शाखा—श्यामबिहारी विरागी ५)
भ्रमरगीत सार (व्याख्या और विवेचन)—
डा० नरेन्द्रदेवसिंह शास्त्री ५)
काव्यानुशीलन—डा० राजेश्वर चतुर्वेदी ७॥)
सुमित्रानन्दन पन्त और उनका आधुनिक कवि—
(प्रश्न-उत्तर) तारकनाथ वाली २॥)
सुमित्रानन्दन पन्त " " १॥)

कविता

पद्य प्रमोद—हरिऔध ५)
अपना मरन जगत की हाँसी—कमला चौधरी ३)

उपन्यास

जीवन पथ—प्रफुल्लचन्द ओझा ३)
पहली हार—रघुवीरशरण मित्र ५)
सेवा और त्याग—गुलाबरत्न वाजपेयी ३)
एक था शहर—ताजवर सामरी ६)

नाटक

ग्राम पञ्चायत—राजेन्द्र शर्मा १॥)

इतिहास

हिन्दू परिवार मीमांसा—हरिदत्त वेदालङ्कार १०)

विज्ञान

रबर—फूलदेवसहाय वर्मा ७॥)
नीहारिकाएँ—डा० गोरखप्रसाद ४।)

अर्थशास्त्र

राजकीय व्यय प्रबन्ध के सिद्धान्त—
गोरखनाथसिंह १॥)

मनोविज्ञान

बालकों का सुधार—विद्या विनय देवी १॥)

ज्योतिष

ग्रह नक्षत्र—त्रिवेणीप्रसादसिंह ४।)

बालोपयोगी

मनोरञ्जक कहानियाँ—सावित्रीदेवी वर्मा १)

दर्शन

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—
भरतसिंह उपाध्याय भाग १ ८)
" " " " भाग २ ६)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

38
J.B. MANGHARAM'S
NOURISHING
Biscuits
Delicious & wholesome
ASSORTED BISCUITS
J.B. Mangharam & Co.
J.B. MANGHARAM'S
AFTERNOON Tea ASSORTED BISCUITS
THE HOME OF QUALITY
J B M & Co
... Khan, Agra.

वर्ष तक राष्ट्र की गौरवपूर्ण सेवा

भारतीय-गणराज्य का ५ वाँ जन्मोत्सव हम सहर्ष मना रहे हैं। दिन-प्रतिदिन हमारा राष्ट्र औद्योगिक एवं आर्थिक सम्पत्ति में धनी होता जा रहा है; हमें गौरव है कि ३८ वर्षों से एशिया के आधुनिकतम एवं सबसे बड़े कारखाने में उच्च कोटि के बिस्कुट तथा मिठाइयों का निर्माण करके भारत को आत्मनिर्भर बनाकर हम ऐसी सम्पत्तियों की वृद्धि में योग-दान दे रहे हैं। जब भी आप जे. बी. मंघाराम के बिस्कुट और मिठाइयों की चर्चा करते हैं तो इसका मतलब है आप सर्वश्रेष्ठ की चर्चा करते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ खाद्य सामग्रियों से बनाये जाते हैं।

अन्य उत्पादन :—
- क्रीम वेफर्स
- नरीशिंग
- आफ्टरनून टी
- रॉयल क्रीम
- इनर्जी वेफर्स
- सॉल्टो

जे. बी. मंघाराम एण्ड कं,
ग्वालियर (भारत)

साहित्यरत्न और एम० ए० के लिए उपयोगी पुस्तकें

१—साहित्यरत्न पथ दर्शिका प्रथम व द्वितीय खण्ड—सरोज, गौतम तथा अन्य । प्रत्येक	१०)
२—साहित्यरत्न प्रश्नोत्तर प्रथम और चतुर्थ—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०	६)
३—आधुनिक कवि महादेवी वर्मा की टीका एवं आलोचनात्मक अध्ययन—सांख्यधर	३)
४—नाटक की रूपरेखा—प्रो० दशरथ झा	३)
५—हिन्दी के गौरव ग्रन्थ—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०	३)
६—सूर एक सरल अध्ययन— ,, ,,	२)
७—तुलसी का विवेचनात्मक अध्ययन—प्रो० दशरथ झा	३)
८—भाषा विज्ञान गाइड—प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०	२।।)
९—साहित्यालोचन सिद्धान्त— ,, ,,	१)
१०—मौखिक प्रश्नोत्तर— ,, ,,	।।।)
११—साहित्यरत्न निबन्धमाला—प्रो० भारतभूषण एम० ए०	४।।)

प्रत्येक प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मिलने का स्थान—

हिन्दी साहित्य संसार

नई सड़क, दिल्ली ।

हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ

[लेखक—प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०]

इस ग्रन्थ में गद्य के सभी स्वरूपों (नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, जीवनी, रिपोर्ताज, गद्य-गीत आदि) का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उक्त सभी स्वरूपों को विकास-क्रम में रख कर उन स्वरूपों के प्रमुख लेखकों की कृतियों का प्रामाणिक विवरण, अनुशीलन तथा उनकी रचना-शैलियों का गम्भीर अध्ययन इस पुस्तक की विशेषता है। हिन्दी के गद्यकारों की रचना-शैलियों का अध्ययन अभी हिन्दी में बहुत कम हुआ है।

हिन्दी के प्रत्येक पाठक के लिए यह ग्रन्थ पठनीय है। ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है, आर्डर भेज कर अपनी प्रति शीघ्र मँगाइए। मूल्य ४)

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

भाग १७] आगरा—अक्टूबर १९५५ [अङ्क ४

हमारी विचार-धारा

पारिभाषिक शब्दावली—

शिक्षा मन्त्रणालय से कुछ विषयों की जैसे—प्राणिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणितशास्त्र, प्रतिरक्षा, प्रवहन आदि की पारिभाषिक शब्दावलियाँ प्रकाशित हुई हैं। यद्यपि यह कार्य जिस क्षिप्रता से होना चाहिए था उससे नहीं हुआ तथापि कार्य की कठिनाई को देखते हुए जैसा है उस पर सन्तोष न प्रकट करना उस महान प्रयत्न की अवहेलना होगी। इस सम्बन्ध में प्रायः छत्तीस-सैंतीस कमेटियाँ काम कर रहीं हैं। उनमें उन विषयों के विशेषज्ञों के साथ हिन्दी और संस्कृत के विशेषज्ञ भी काम करते हैं जो हिन्दी रूपान्तर करने में और उसके औचित्य की परख में सहायता देते हैं। साथ ही संस्कृत तथा अन्य देशी और विदेशी कोशों की भी सहायता ली जाती है। जहाँ होता है प्रचलित शब्दों को भी मान दिया जाता है और इस बात का भी ख्याल रखा जाता है कि वे शब्द अन्य प्रान्तीय भाषाओं में चलन पा सकें।

इन सब प्रयत्नों की सराहना करते हुए भी हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि कहीं-कहीं इस सिद्धान्त का, कि थोड़े-बहुत अंग्रेजी के प्रचलित या अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त शब्द रखने ही पड़ेंगे दुरुपयोग हुआ है। जैसे प्राणिशास्त्र के सम्बन्ध में हर्बीवोरस और कार्नीवोरस तथा ब्लेडरवर्म जैसे का तैसा रहने दिया गया है जब कि उनके हिन्दी पर्याय सहज में मिल सकते थे। हर्बीवोरस के लिए शाकाहारी, कार्नीवोरस के लिए माँसाहारी और ब्लेडर वर्म के लिए मूत्राशय कृमि अच्छी तरह प्रयोग में आ सकते थे।

पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में दो तीन बातों का हम दुबारा स्मरण दिला देना चाहते हैं:—

( ) पुस्तकों में जो शब्द प्रचार में आगये हैं उनमें में अच्छे शब्दों को यथा सम्भव मान्यता दी जाय।

(२) अंग्रेजी के जो शब्द हिन्दी की बोलचाल की भाषा में आ गये हैं उनका बहिष्कार न किया जाय, यदि उनसे अच्छे और प्रयोग सुलभ शब्द बन सकें तो बनाये जायँ। अंग्रेजी के वे ही शब्द रखे जायँ जो कि जैसे के तैसे दूसरी भाषाओं में भी, जैसे—जर्मनी, चीनी, जापानी, टर्की, रूसी आदि में भी प्रयुक्त होते हैं किन्तु यदि हो सके तो साथ में उनके हिन्दी पर्याय भी दिये जायँ।

(३) हिन्दी शब्दों के निर्माण में लक्षणा शक्ति के

लिए काफी छूट दी जाय। जैसे अंग्रेजी शब्दों का अर्थ बाहुल्य पीछे से बढ़ा है वैसे ही हिन्दी में भी अर्थ बाहुल्य बढ़ने की गुञ्जाइश छोड़ी जाय।

(४) जो शब्द स्वतः बन गये हैं जैसे 'जू' के लिए 'चिड़िया घर' उनका सम्मान किया जाय, उनमें ज्यादह मीन-मेख न निकाली जाय। अंग्रेजी के भी सब शब्द पूर्णतया अर्थ-व्यञ्जक नहीं होते। उन पर पीछे से अर्थ का आक्षेप किया जाता है।

(५) जहाँ तक हो एक शब्द के लिए एक ही विशिष्ट शब्द निर्धारित किया जाय। मिले-जुले अर्थ वाले परन्तु थोड़े भेद रखने वाले शब्दों के लिए अलग-अलग शब्द निर्धारित किये जायँ।

जनता से भी यह निवेदन है कि पारिभाषिक शब्दों के निर्माण कार्य को सहज कार्य न समझे। जब तक दूसरे अच्छे शब्द का सुझाव न दे सके तब तक वृथा आलोचना न करे।

रङ्गवाणी—

राष्ट्रभाषा की बहुत सी समस्याओं में राष्ट्रीय रङ्गमञ्च का अभाव भी एक समस्या थी। यह समस्या, यदि भारतेन्दुजी कुछ दिन अधिक जीवित रहते तो उन दिनों उसका हल हो जाता और उसका शिलान्यास होकर वह अभी तक पर्याप्त रूप से विकसित हो जाता। राष्ट्रीय रङ्गमञ्च का अस्तित्व देश के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनावेगा और नाट्य-कला के विकास में सहायक होगा। इसी दृष्टि से साहित्यकार संसद की अधिष्ठातृ देवी सुश्री महादेवीजी की सत्प्रेरणा से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जयन्ती के पुनीत अवसर पर (२३ सितम्बर को) उनके कार्य की पूर्ति के निमित्त मामा बरारकर की अध्यक्षता में एक ऐसी संस्था का उद्घाटन हुआ है जो हिन्दी के रङ्गमञ्च को विकसित करने, उसे राष्ट्रीय रूप देने और देशव्यापी बनाने में योग दे। इसमें सभी प्रान्तीय भाषा के कलाकारों का योग होगा और यह संस्था सब ही उन प्रान्तों की विशेष देन को ग्रहण करेगी। यह संस्था राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाने और प्रान्तीय भेद-भाव दूर करने में भी सहायक होगी। इसकी भावी उन्नति के लिए साहित्य-सन्देश अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करता है।

स्व० पं० अमरनाथ झा—

डा० अमरनाथ झा शिक्षा संसार के एक उज्ज्वल रत्न थे। वे एक योग्य पिता (डा० गङ्गानाथ झा) की योग्य सन्तान थे। वे अंग्रेजी के तो प्रकाण्ड पण्डित थे ही संस्कृत और हिन्दी में भी बड़ी गहरी रुचि रखते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रह चुके थे। हिन्दी के हितैषी थे, हिन्दी लेखक उनसे सदा प्रोत्साहन पाते रहते थे। सरकार में उनकी बात का मान था क्योंकि वे निष्पक्ष और स्पष्ट कहते थे। वे से बिहार लोक सेवा आयोग के सभापति थे और भाषा आयोग के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। उनके असामयिक निधन से देश को जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति सहज में होना कठिन है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

दुःखद देहावसान—

डा० अमरनाथ झा के अतिरिक्त भारत की तीन और भाषाओं के तीन प्रसिद्ध विद्वानों का देहावसान गत मास हो गया। मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी महाराष्ट्र भाषा भूषण श्री जयनाथ आयजाँवकर का २७ अगस्त को देहावसान हो गया। श्री आयजाँवकर को भारत के शिक्षा-सचिवालय ने मराठी साहित्य की सेवा करने पर गत वर्ष इनाम दिया था।

दूसरे थे उर्दू भाषा के प्रसिद्ध लेखक ख्वाजा हसन निजामी। ख्वाजा साहब की आयु मृत्यु समय ७७ वर्ष की थी। वे बड़े धार्मिक नेता और बहुत ही प्रभावशाली लेखक तथा वक्ता थे। उर्दू में आपकी लिखी हुई सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें से कुछ के हिन्दी में भी अनुवाद हुए और वे पुस्तकें खूब बिकीं। १८५७ के गदर (भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम) के सम्बन्ध में आपने बड़ी जोरदार पुस्तकें लिखी हैं। ख्वाजा साहब बड़े विद्वान् भी थे। 'शमसुलउलेमा'

की बहुत बड़ी उपाधि आप को सरकार ने दी थी। आपने कुरान का हिन्दी अनुवाद भी किया था और गो-वध के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी थी।

तीसरी दुःखद मृत्यु श्री रामनारायणजी की हुई है जो गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध लेखक थे। श्री रामनारायणजी ने गुजराती भाषा में कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें कुछ का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

हम इन सभी साहित्य-सेवियों की मृत्यु पर हार्दिक शोक प्रकाशित करते हुए उनके परिवार के साथ सहाभूति प्रकट करते हैं।

सम्मेलन में तुलसी महोत्सव—

तुलसी जयन्ती के अवसर पर प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से आयोजित एक उत्सव में एक अप्रिय, अशोभन और अनुचित प्रदर्शन सभापति के चुनाव को लेकर हो गया था जिसकी समाचार पत्रों में बड़ी चर्चा रही और जिससे प्रयाग के साहित्यिकों का अखाड़ा फिर एक बार हिन्दी संसार के सामने अपने नग्न रूप में दिखलाई पड़ा। इस उत्सव के सभापतित्व के लिए संयोजकों ने आदरणीया श्रीमती महादेवी वर्मा को बुलाया था और उनके नाम की घोषणा भी पहिले से कर दी गयी थी। जब उनके नाम का प्रस्ताव हो गया तब श्री निर्मलजी के नाम का प्रस्ताव किया गया और उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण कर लिया। इस पर बड़ा द्वन्द हुआ। अब श्री निर्मलजी ने इस "अप्रिय प्रदर्शन" का एक स्पष्टीकरण प्रकाशित किया है। आपने लिखा है कि यह प्रदर्शन सम्मेलन के वर्तमान सञ्चालक (रिसीवर) के कार्यों के विरुद्ध विरोध प्रकाशनार्थ किया गया था, श्रीमती महादेवीजी के विरुद्ध नहीं। निर्मलजी ने उक्त कार्य को उचित प्रमाणित करने के लिए घटनाओं का आठ पृष्ठों में विस्तार से विवेचन किया है। हम उनकी सदाशयता में शङ्का न करते हुए भी और उनकी दलीलों को सही मानते हुए भी, खेद है कि, उनके और उनकी पार्टी के कार्य को उचित नहीं कह सकते। निर्मलजी हमारे मित्र हैं। हम उनसे यही निवेदन करेंगे कि वे भविष्य में ऐसा अशोभन प्रदर्शन करने में सहायक न बनें। शालीनता का भी समाज में बड़ा मूल्य है, उसको हाथ से न जाने दें। साथ ही श्री जगदीशस्वरूपजी (रिसीवर) से भी हम निवेदन करेंगे कि वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बागडोर जो तीन-चार वर्ष से उनके हाथ में है, फिर साहित्यिकों को सौंपने का प्रयत्न करें और इसके लिए जो भी कार्य वे कर सकें करें। इससे उनका गौरव और बढ़ेगा ही।

पञ्जाब प्रदेश की भाषा—

पञ्जाब प्रदेश की भाषा अब तक उर्दू तथा अंग्रेजी थी। अब वहाँ की सरकार ने इन दोनों को हटा कर हिन्दी और गुरुमुखी को राज्य की भाषा बनाने की घोषणा की है। वहाँ के जिन जिलों की भाषा हिन्दी है वहाँ की राज्य भाषा हिन्दी और जहाँ की गुरुमुखी है वहाँ की गुरुमुखी तथा जिन जिलों में दोनों भाषायें बोली जाती हैं वहाँ दोनों भाषाओं को राज्य भाषा माना है। यह स्थिति बहुत अच्छी तो नहीं है पर वहाँ के भाषा के विवाद को समाप्त करने का शायद और कोई साधन नहीं था।

अंग्रेजी का स्थान हिन्दी को—

केन्द्रीय गृहमन्त्री माननीय पन्तजी ने एक आम सभा में हैदराबाद में एक अभिनन्दन का उत्तर देते हुए भाषा की समस्या का उल्लेख किया और कहा कि हर राज्य की अपनी निजी भाषा है, लेकिन सारे भारत के लिए एक सर्वमान्य भाषा हिन्दी होनी चाहिए। हम अंग्रेजी को कायम नहीं रख सकते। उसे सीखना मुश्किल है और वह हमारे देश की जनता की भाषा भी नहीं है। उसका स्थान हिन्दी को मिलना चाहिए। उन्होंने कहा कि मैं उन लोगों में से हूँ जो कहते हैं कि भाषा लोगों के गले के नीचे नहीं उतारी जानी चाहिए। किन्तु जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, मुझे विश्वास है कि लोग उसे प्यार से देखेंगे और सीखेंगे।

पन्तजी ने कहा कि जबकि ग़ैर-हिन्दी भाषियों को राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए हिन्दी भाषियों को कम से

कम एक या अधिक भारतीय भाषाएँ सीखनी आवश्यक हैं। इससे विभिन्न भाषा-भाषी लोगों के शान्तिपूर्वक साथ रहने और देश की प्रगति में हिस्सा बटाने में सहायता मिलेगी।

मृगावती की हस्तलिखित प्रति—

१५वीं शताब्दी की कुतुब लिखित मृगावती उपन्यास की चर्चा हिन्दी "साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में पाई जाती है। इस पुस्तक की कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्य नहीं थी। अब समाचार मिला है कि फतेहपुर जिले के एकदिल ग्राम में उक्त पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है जिसे देख कर डा० रामकुमार वर्मा ने कहा है कि हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है।

देश भर में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की आवश्यकता है। यह काम जिस गति से होना चाहिए—नहीं हो रहा है। हम इस काम में कुछ भाग ले रहे हैं। हमारे ग्राहक और पाठक हमें मदद कर सकते हैं। उनके पास कोई हस्तलिखित ग्रन्थ हो या ऐसे ग्रन्थों की कोई सूचना वे हमें दे सकें, जिनके पास हों उनके पते भेज सकें तो हम आभारी होंगे। बड़ी आवश्यकता है इस बात की कि अन्धकार में पड़े हुए प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का उद्धार हो और उन्हें प्रकाश में लाया जाय। जो महानुभाव इस सम्बन्ध में सहायता कर सकें—हमसे पत्र व्यवहार करने की कृपा करें। यदि ऐसे कोई सज्जन अनुसन्धान का यह काम वेतन लेकर भी करना चाहेंगे तो हम उनका स्वागत करेंगे।

सांस्कृतिक एकता की आवश्यकता—

भारतीय सांस्कृतिक संसद की ओर से गत मास कलकत्ते में बङ्गाली, हिन्दी और उर्दू हास्य लेखकों का एक सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए भारत सरकार के सूचनामन्त्री डा० केसकर ने कहा कि भारत भौगोलिक दृष्टि से ही एक नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी उसमें एकरसता पायी जाती है। इस सांस्कृतिक एकता के कारण ही भाषा, साहित्य आदि की विभिन्नता के होते हुए भी देश की एकता कायम है। इस एकता की कई बार अग्नि-परीक्षा हो चुकी है। विदेशियों ने इसे तबाह करने की कोशिश की, मगर वे असफल रहे। आपने कहा कि इस तरह की सांस्कृतिक संस्थाओं का यह फर्ज है कि वे इस तरह की एकता और अधिक बढ़ाएँ। आपने यह भी कहा कि हिन्दी प्रचारकों को दूसरी भाषाओं के शब्द लेकर अपना शब्द-कोश बढ़ाना चाहिए। उन्हें दूसरी भाषाओं की अच्छी रचनाओं का उल्था करके अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करनी चाहिए। जब तक कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रभाषा का विकास नहीं करता तब तक उसमें रहने वाले व्यक्ति अपनी उन्नति नहीं कर सकते।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद—

बिहार सरकार ने कुछ ही वर्ष हुए उक्त नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना की थी। थोड़े ही दिनों में इस परिषद ने साहित्य-सेवा का जो कार्य किया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। परिषद प्रति वर्ष कुछ व्याख्यान कराती है। वह व्याख्यान उच्चकोटि के विद्वानों से महत्त्वपूर्ण विषयों पर कराए जाते हैं जिनका स्थायी मूल्य होता है। परिषद का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पुस्तक प्रकाशन का है। अब तक १६ अलभ्य और अपूर्व ग्रन्थ परिषद की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। ग्रन्थ सभी विषयों के हैं और सभी अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। साहित्य, दर्शन, इतिहास—सभी विषयों में परिषद के ग्रन्थ शीर्ष स्थान पाने योग्य हैं। परिषद ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित कर सचमुच धन्य है। यह सब ग्रन्थ किसी भी पुस्तकालय की शोभा बढ़ावेंगे। हम इस सबके लिए परिषद को—विशेष रूप से उसके मन्त्री श्री शिवपूजनसहायजी को हृदय से बधाई देते हैं। शिवपूजनजी बड़े धुनी और कर्मठ साहित्यिक हैं। इस कार्य के द्वारा उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा, प्रबन्ध-कौशल और चातुर्य का सुन्दर प्रदर्शन किया है।

गीति-काव्य की आत्मा का स्वरूप

प्रो० तपेशकुमार चतुर्वेदी एम० ए०

गीत-काव्य का अति माधुर्य्यपूर्ण पक्ष है । गीत में मधुरिमा प्रचुर मात्रा में रहती है । मधुर भावनाओं के संगीतात्मक प्रस्फुटन का नाम ही गीत है । गीतों का साहित्य में अपना एक स्थान है । यह स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । यदि सङ्गीत को काव्य का प्राण ही कह दें तो असंगत न होगा । कारण यह है कि काव्य छन्द एवं सङ्गीत से बँधा हुआ चलता है । यदि ये दो गुण काव्य से पृथक कर दिये जावें तो कदाचित वह काव्य ही नहीं रह जावेगा, वह तो कोरा गद्य-रूप रह जायेगा । प्रश्न उठ सकता है कि क्या छन्द के अभाव में अन्तःकरण के उद्गारों को काव्य नहीं कह सकते हैं ? उत्तर केवल यह है कि हाँ, कह सकते हैं, परन्तु वह अन्तःकरण की रागात्मिका वृत्ति-रूप उद्गार हों । सङ्गीत समन्वित उद्गारों के प्रकाशन को ही हम काव्य कह सकते हैं और इस प्रकाशन एवं आत्मानुभूति की सरल, सूक्ष्म तथा तीव्र अन्तर-भावनात्मक गीतों की सुकुमारता और सुषमा के मधुर सामञ्जस्य को ही गीत ।

गीत का सम्बन्ध अन्तर्जगत से है । सरल आत्माभिव्यक्ति ही उसे अनुप्राणित करती है । गीतिकार कभी अपनी भावनाओं के प्रकाशन में अलङ्कारों का प्रयोग नहीं करता । उसके तीव्र भाव बड़े सहज रूप से बाह्यजगत से साक्षात्कार करते हैं । उन्हें किसी भाँति की सजावट अथवा बनावट की आवश्यकता नहीं होती ।

भावों का वेग, हृदय की व्यग्रता एवं अलङ्कारों के अभाव का सङ्गीत से मेल गीतों के लिए अनिवार्य है । यदि सङ्गीत नहीं तो कुछ नहीं । यही तो गीतों की शक्ति है जिसके बल पर वह जीवित रहते हैं । हृद्तन्त्री के तारों में झनझनाहट उत्पन्न कर देने की क्षमता यदि है तो वह गीतों में है । अन्तर की कोमल भावनाओं को सुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में ला देने का गुण ही गीत की सङ्गीतात्मकता की सफलता है ।

गीतों के लिए लघु होना अति आवश्यक है । लघुता का तात्पर्य यह नहीं है कि इस गुण को प्रविष्ट करने में भावाभिव्यक्ति के वेगपूर्ण प्रवाह को बाँध दिया जावे । लघुता अपेक्षित होती है गाने के कारण । साथ ही साथ प्रभाव एवम् सूच्य शक्ति के प्रति भी ध्यान रखना अनिवार्य होता है । पदों के गेय होने के लिए यह पहली आवश्यकता है कि वह छोटा हो, छोटे होने से केवल यही अर्थ नहीं है कि पद में पंक्तियाँ कम हों; इसका अर्थ यह भी है कि शब्दों का प्रयोग इस प्रकार का हो कि साँस लेने में सुविधा हो । लम्बे-लम्बे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए । साथ ही यह भी कह देना अति आवश्यक है कि गीतों में अति कोमल शब्दों का प्रयोग होना अनिवार्य है । परुष शब्द गीतों की गीतात्मका को बड़ी ठेस पहुँचाते हैं । कोमल पदावली कर्णप्रिय होने के अतिरिक्त मानव की रागानुभूति को स्पर्श करती है, उद्वेलित करती है और अतीव मधुरिमा का सञ्चार करती है । कोमल शब्दावली का प्रयोग ही कर लेने से गीत की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; उसके लिए कोमल तथा मधुर भावों का होना भी अत्यावश्यक है । यदि भाव कर्कश अथवा कठोर हुए तो भी गीतों का अविर्भाव नहीं हो सकता । अतएव भावस्वरूप एवम् भावाभिव्यञ्जना का मधुर सामञ्जस्य ही गीतोत्पादन है ।

गीतों की एक बड़ी विशेषता भाव-प्रदर्शन भी है । गीत में भाव की एकरसता रहती है । आरम्भ में जो भाव होता है वही अन्त तक रहता है । इस एक भाव के प्रदर्शन की तीन गतियाँ होती हैं—प्रारम्भ-गति, तुमुल गति, अवसान-गति । प्रारम्भ-गति में गीतिकार अपनी मूल भावना का परिचय देता हुआ अपने भावों को प्रसार देता है । इस अवस्था में

भावोद्रेक अधिक गहरा अथवा तीव्र नहीं होता। केवल परिचयात्मक अवस्था में ही अपेक्षित प्रारम्भ तुमुल गति का जन्मदाता है। इस गति में कवि की भावना प्रपात की प्रचण्ड लहरों की भाँति हृदय से निकल कर बड़े वेग से बहने लगती है। यही वह अवस्था होती है जब कि गीत के विशुद्ध रूप की अवगति होती है। इसी अवस्था के अन्तर्गत गीतिकार की प्रत्येक चेष्टा, प्रवृत्ति, श्रद्धा अपने विकसित रूप में हमारे सामने आती है। वह अपनी भाव-प्रवणता के वशीभूत होकर अपने स्वच्छन्द उद्‌गारों को स्वतन्त्र रूप से उड़ने का सामर्थ्य प्रदान कर देता है। गीतिकार की भावनाओं के इस अतिरेक में तीन गुण अनिवार्य हैं—अबाधता, तीव्रता और गूढ़ता। इस प्रशस्त, उन्मुक्त एवम् उद्वेलित भावोन्मीलन के उपरान्त वह दशा आती है जब कि कवि की भावनायें पुनः अपने सहजरूप में बहने लगती हैं। इन तीनों गतियों को यदि एक झरने की तीन गतियाँ कहा जाय तो असङ्गत न होगा। झरना पहाड़ी से जिस समय निकलता है उसमें तीव्रता अवश्य होती है परन्तु उतनी गड़गड़ाहट, उतनी उथल-पुथल और उतनी प्रबलता नहीं होती जितनी कि धरती से मिलने की द्वितीयावस्था में। अपनी अवसान गति में झरना पुनः अपने मधुर प्रवाह को प्राप्त कर लेता है। हृदय से भावों का प्रस्फुटन अति उद्रेकपूर्ण गति से होता है; प्रवाह की तीव्रता अपनी सर्वोच्चावस्था तक पहुँच कर अति सहज एवम् सरल गति से अपने लक्ष्य में लय हो जाती है।

बाबू श्यामसुन्दर दास के मतानुसार गीति काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और वाह्य-जगत को अपने अन्तःकरण में ले जा कर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजन-सम्बन्धी कविता गीति काव्य में ही छोटे छोटे गेय-पदों में मधुर भावनापन्न, आत्मनिवेदन से युक्त स्वाभाविक भी जान पड़ती है। उसमें शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर (सङ्गीत) की भी साधना होती है। भावना सुकोमल होती है और एक-एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। कवि उसमें अपने अंतर्तम को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है। इस मत के अनुसार भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीत भावावेश के साथ-साथ सङ्गीतात्मकता को लिए हुए चलता है; आत्माभिव्यक्ति के कोमल शरीर को सूक्ष्मता के झीने परदे से ढके रहता है। इसी मत को श्रीमती महादेवी वर्मा भी अपने शब्दों में व्यक्त करती हुई कहती हैं कि "सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।…………गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।" इनके कथन में विशेष रूप से चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम तो यह कि अभिव्यक्ति 'विशेष' शब्दों में हो, द्वितीय कि शब्द गिने चुने हों, तृतीय कि चित्रण संगीतात्मक हो और चतुर्थ यह कि अभिव्यक्ति वैयक्तिक भावनाओं की ही हो अन्य के अन्तःकरण की अवस्था की नहीं। विशेष शब्दों से अभिप्राय यह है कि शब्द कोमल, मधुर तथा प्रसंगानुकूल हों, गिने चुने शब्दों से मतलब है कि भावाभिव्यक्ति कम से कम शब्दों में ही की जावे। दूसरे शब्दों में गीत संक्षिप्त हो जिनमें शब्दों का चयन सहज एवम् सुव्यवस्थित रूप से हो।

गीति-काव्य में सुकुमार एवम् हृयद-स्पर्शिनी भावनाओं की अभिव्यञ्जना होने के नाते कोमल रसों का ही प्रयोग अपेक्षित है। गीति-काव्य के लिये शृङ्गार, वात्सल्य तथा शांत रस ही उपयुक्त हैं। शृङ्गार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और विप्रलम्भ। गीति-काव्य के लिये संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ अधिक उपयुक्त है। इसका कारण है विप्रलम्भ-दशा का गीतिरूप में हृदय पर प्रभाव। यह तो सर्वमान्य है कि करुण

(शेष पृष्ठ १६५ पर देखिए)

अधुना साहित्य निर्माण की मूल प्रवृत्तियाँ

श्री रामवरणसिंह 'सारथी' एम० ए०

आज जिन नवीन प्रवृत्तियों या भावनाओं से अतिरञ्जित होकर हिन्दी साहित्य के नवोदित लेखक एवं कवि मानव-जीवन के यथार्थ स्वरूप का तत्कालीन साहित्य में मूर्त्त रूप प्रदान कर रहे हैं, उनमें साहित्यिक दृष्टिकोण और बौद्धिक विकास के विचार से बड़ी तेज गति से परिवर्त्तन आ रहा है। निराला और पन्त को ही लीजिये—साहित्य निर्माण की दिशा में स्वतन्त्रता, क्षमता और मानवता के नाम पर अपनी पुरानी प्रवृत्तियों की सरजमीन पर ही एक नई प्रवृत्ति की अट्टालिका खड़ी कर रहे हैं। पल्लव में पन्त सुकुमार भावनाओं के कवि, प्राकृतिक-सौन्दर्य के उपासक, रहस्यवाद और छायावाद के उन्नायक रूप में स्थित हैं और 'ग्राम्या', 'युगवाणी' में पन्त किसान और मजदूर सभा के सङ्गीत गा रहे हैं। फिर 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में भौतिकता से दरकिनार हो कर आध्यात्मिकता की ओर लौटे आ रहे हैं जिनमें भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों का समावेश है। छायावादी निराला भी प्रवृत्तियों की रङ्ग-बिरङ्गी दुनिया बसाने में किसी से पीछे नहीं हैं। मानव की इच्छा, आकांक्षा, हर्ष-उल्लास, मिलन-विरह, शौर्य-बलिदान, दया-क्रोध, पीर-रुदन ही साहित्यकारों की भावनाओं को झकझोर कर उन्हें भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रदान करने में, हृदय की वीणा पर नई रागिनी को नये-नये स्वरों में गाने के लिए विवश करता है।

और सच पूछिये तो साहित्य के नाम पर अतिरञ्जित जीवन-दर्शन, स्वाभाविक भावनाओं और प्रवृत्तियों के बदले स्वाभाविक मनुष्य के स्वाभाविक जीवन को न देख कर साहित्य में अतिरञ्जना, कल्पना में असत्य की जो परम्परा अरस्तू ने चलाई है उसका विरोध आचार्य प्लेतो ने भी किया था। साहित्य में जब तक व्यक्तित्व का मोह छूट नहीं जाता और साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को मिटा कर समष्टि में लय नहीं कर देता, उसके साहित्य में उसके अपने मन की लालसाओं की रङ्गीनी दर्शन का भ्रम पैदा करती रहेगी; जैसा कि छायावादी युग में स्पष्ट है।

'दीप-शिखा' की भूमिका में महादेवी वर्मा ने लिखा है—"पिछले पचीस वर्षों में विश्व के राजनैतिक जीवन में जो-जो आदर्श उपस्थित किए गए उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल सका है। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीज्म और फासिज्म, अध्यात्म-प्रधान गान्धीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डिब्बे में ठसाठस भरे उन यात्रियों जैसे सो रहे हैं, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खड़े रहने का अवकाश और विवाद में ही मनोरञ्जन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचार-धाराओं को भी शताब्दियाँ तो दूर रहीं, अभी विकास के लिए पचीस वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमायें स्पष्ट हुए विना ही दूसरी अपने लिए स्थान बनाने लगती हैं और इस प्रकार विश्व का राजनैतिक जीवन परस्पर विरोधिनी शक्तियों का मेला मात्र रह गया है।" राजनीति के विवाद ने भी साहित्यकारों के साहित्यिक संस्कारों को बरबाद करने में कुछ कम शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया है। साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में मार्क्सवाद ने साम्यवादियों के दिल-दिमाग एवं बुद्धि पर जैसी चोट की, समाजवादियों के हृदय और मस्तिष्क पर उसने वैसी चोट नहीं की। एक ही शहर के साम्यवादी और समाजवादी साहित्यकार जो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को लेकर साहित्य की सर्जना में व्यस्त हैं। एक ही गली में दो हट्ठे-कट्ठे साहित्यिक पहलवान हठाग्रह और दुराग्रह के भ्रमोत्पादक हठवाद के

कारण जो अलग-अलग अखाड़े में एक-दूसरे से महायुद्ध करने के लिए लँगोट बाँधे खड़े हैं। १९३५ से लेकर १९४६ तक दस-बारह वर्षों तक मार्क्सवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित साहित्यकारों ने कुछ ऐसी परम्परा चलाई कि नवोदित साहित्यकारों में अजीब-अजीब प्रवृत्तियाँ भर गईं। साम्यवाद के अखाड़े में पले नवोदित साहित्यकार साम्यवाद के सैनिक, समाजवाद के अखाड़े में पले समाजवाद के सैनिक बन कर दो भिन्न-भिन्न भण्डा-गीत गाने लगे। बीसवीं शताब्दी की राजनीति की आँधी में हमारी धार्मिकता की डाल-पात टूट-टूट कर यत्र-तत्र सर्वत्र बिखर गई। यही कारण है कि धार्मिकता का गाढ़ा रङ्ग हिन्दी साहित्यकारों पर अपना जादू का प्रभाव नहीं डाल सका। राजनैतिक उथल-पुथल के कारण ही हमारे देश का साहित्य मार्क्स और फ्रायड के नाम पर दो भिन्न-भिन्न मार्गों से अपना रास्ता तै कर रहा है, जिसमें साहित्यकार समग्र मानव जीवन की सचाई को साहित्य में नहीं चित्रण कर उसके अङ्ग विशेष को चित्रित कर रहे हैं। मार्क्स और फ्रायड की प्रवृत्तियों के अनुगामी साहित्यकार इस समय को भूल जाते हैं कि इस देश की रीति नीति, जलवायु, सभ्यता और संस्कृति मार्क्स के देश सी नहीं है। मार्क्स के जन्म के पहले भी इस देश में मानव और चिन्तक रहा करते थे। यही कारण है कि १९४७ के बाद दोनों साहित्यकारों का अखाड़ा श्मशान बन गया। हठाग्रह अथवा दुराग्रह के बल पर साहित्य का निर्माण नहीं होता है। साहित्य-निर्माण का आधार बनती हैं हमारी वे मानवी प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ रुचि और सद्वांछा, जिनके लिए भरत मुनि ने कहा था—

लोक वृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्म संश्रयम्॥

लोक जीवन का चित्र बनाना ही साहित्य और कला का एकमात्र धर्म होगा। जीवन के सभी क्षेत्र, परिस्थिति, सुख, दुख, विनोद, भय, प्रेम और अनुराग जीवन के निश्चित विन्दुओं को जोड़ कर लोक जीवन की परिधि में लोक-जीवन का सजीव चित्र उतारना भी साहित्यिकों का कर्तव्य होगा।

जब साहित्यकार किसी घटना, परिस्थिति, वातावरण आदि से प्रभावित होता है और वह अपने जीवन में बाह्य अथवा आन्तरिक प्रभावों से प्रभावित होकर कुछ आत्मानुभव करता है उसे ही वह अपने साहित्य में चित्रण करता है। इस काम को वह बुद्धि और भावना के सहारे ही सम्पन्न कर सकता है। इसका भी स्पष्ट कारण है। मानव-जीवन की गाड़ी बुद्धि एवं भावना के पहिये द्वारा आगे बढ़ती है। भावना ही दृश्यमान प्राकृतिक जगत् से बुद्धि के सहारे सम्बन्ध स्थापित करती है और मानव के सामाजिक जीवन में आत्मीयता की कड़ी जोड़कर उसमें गतिशीलता प्रदान करती है। इस प्रकार साहित्यकार जब अपनी मानसिक वृत्ति और कल्पना के माध्यम से जब कोई भाव अभिव्यञ्जित करता है तथा जब वह भाव व्यापक रूप से जन समाज को आर्द्र बना सकता है तभी यह कहा जा सकता है कि वह साहित्य है। साहित्यकार अपनी अनुभूति से समाज को प्रभावित करे तभी साहित्य की सर्जना वास्तविकता के ठोस धरातल पर हो सकती है। इस तरह देखा जाये तो साहित्य निर्माण के तीन प्रधान तत्त्व हो सकते हैं—१ बुद्धितत्त्वः—ऐसी अनुभूति या चिन्तन जिन्हें साहित्यकार अपने विषय प्रतिपादन में अपनी सूझ-बूझ द्वारा अभिव्यक्त करता है (२) रागात्मक तत्त्वः—ऐसे भाव अथवा रस जिनके द्वारा साहित्यकार श्रोताओं या पाठकों के हृदय में भाव अथवा रस की गङ्गा प्रवाहित करने में समर्थ बन सके और (३) कल्पना तत्त्व, इसमें साहित्यकार अपने मन के अमूर्त्त चित्र को मूर्त्त-रूप प्रदान करता है एवं वही चित्र समाज के आगे खींचकर उपस्थित करने का प्रयास भी करता है। साहित्य की जितनी रचनाएँ हैं सब साहित्यकार की बुद्धि और भावना की ही उपज हैं। साहित्यकार अपनी भावना और बुद्धि के रूप में प्रत्येक रचना में प्रस्तुत रहता है।

फिर साहित्यकार में चार ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जिन मनोवृत्तियों की प्रेरणा से वह साहित्य की सर्जना में आगे बढ़ता है—(१) आत्माभिव्यञ्जन की भावना। (२) मानव-व्यापारों से प्रेम, (३) काल्पनिक संसार के प्रति अनुराग और (४) सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक झुकाव। मानव-जीवन की क्रियाओं में इन वृत्तियों का योगदान है इसी कारण साहित्य में भी इन वृत्तियों का समन्वय है। इन वृत्तियों के सूत्रों में जिन साहित्यकारों की अनुभूतियों की झड़ियाँ गुँथी हुई रहेंगी, उन साहित्यकारों द्वारा जो साहित्य की सर्जना होगी, वह साहित्य मानवता का सच्चा दर्पण होगा, मानव-जीवन का वास्तविक चित्र होगा। मानव के चार प्रकार की वृत्तियों के अनुसार सम्पूर्ण साहित्य को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। 'साहित्यालोचन' में स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने इसे इस प्रकार विभक्त किया है :—

(१) आत्माभिव्यञ्जन सम्बन्धी साहित्य अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन, आत्म-चिंतन या आत्म-निवेदन विषयक हृदयोद्गार, ऐसे शास्त्र, ग्रंथ या प्रबन्ध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला विषयक रचनाएँ, सब इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। (२) वे काव्य जिनमें कवि अपने अनुभव की बातें छोड़कर संसार की अन्यान्य बातें अर्थात् मानव-जीवन से संबंध रखने वाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत साहित्य की शैली पर लिखे गये इतिहास, आख्यायिकाएँ, उपन्यास, नाटक आदि हैं। (३) वर्णनात्मक काव्य, यद्यपि इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव और आख्यायिका आदि के अन्तर्गत आ जाता है, तथापि वर्णनात्मक निबंध या कविताएँ इसी श्रेणी में आ जाती हैं। इस प्रकार मनोवृत्तियों तथा विषयों के आधार पर सब प्रकार के साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।"

स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने मानव के चार प्रकार की वृत्तियों के अनुसार जो सम्पूर्ण साहित्य को तीन विभागों में विभक्त किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वस्तुतः वह विभाजन उचित ही कहा जा सकता है, किन्तु साहित्य सर्जना के दृष्टिकोण से इस विभाजन से सम्पूर्ण साहित्य वास्तव में तीन अलग-अलग खण्डों में विभक्त होते हुए भी विभाजन की रेखा में कुछ अस्पष्टता आजाती है। यदि सम्पूर्ण साहित्य को इस प्रकार तीन विभाग में विभक्त किया जाये तो स्पष्टता के साथ तीन भागों में सम्पूर्ण-साहित्य विभक्त हो सकता है। प्रथम विभागों का नामकरण किया जाये—'सृजनात्मक साहित्य' और इस विभाग में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि को रखा जाये। फिर दूसरे विभाग का नामकरण किया जाय संकलनात्मक साहित्य, जिसमें इतिहास, अनुवाद आदि को रखा जाये। इस विभाजन में साहित्यकार की रचना शैली में सिर्फ मौलिकता रहती है और विषय में मौलिकता नहीं रहती। फिर तीसरे विभाग में रखा जाये 'समीक्षात्मक साहित्य' जिसमें आलोचना को स्थान दिया जाये। आज का सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य इन ही तीन भागों में साहित्य निर्माण की प्रवृत्तियों के अनुसार बाँटा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य का सर्व प्रथम इतिहास
फ्रान्सीसी भाषा में लिखित—
"हिन्दुई साहित्य का इतिहास"—लेखक गार्सां द तासी
अनुवादक—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दुस्तानी एकाडेमी से प्रकाशित। मूल्य ७)
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा से मँगाइये

विद्यापति और सूर

श्री सेवाधर झा एम० ए०, साहित्य-रत्न

विद्यापति और सूरदास हिन्दी साहित्य के दो जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं, जिनके आलोक से केवल तत्कालीन ही नहीं बल्कि उनके उपरान्त भी अनेक कवि प्रभावित हुए। दोनों के वर्ण्य विषय राधा और कृष्ण हैं। दोनों ने राधा कृष्ण की यौवनावस्था का सम्यक चित्र प्रस्तुत करते हुए अपने काव्य के द्वारा अलौकिक आनन्द उद्भूत करने की चेष्टा की है। दोनों की पद्धति गीतात्मक है तथा दोनों ने अपनी-अपनी शैली में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है एवं काव्य में इसका बहुत सुन्दर समावेश किया है। दोनों के सामने श्रीकृष्ण के शृंगारात्मक रूप थे एवं दोनों ने उनके लोकपक्ष का स्पर्श तक नहीं किया है। दोनों ने संयोग के साथ-साथ वियोग शृंगार का भी मार्मिक वर्णन किया है। दोनों ही श्रीकृष्ण को आराध्यरूप में मानते थे।

जहाँ दोनों कवियों में इतनी समानता है, वहाँ उनमें कुछ असमानता भी है। सूरदास पहले भक्त थे तब कवि, किन्तु, विद्यापति पहले कवि थे तब भक्त। सूरदास ने अपने पदों की रचना श्री मद्भागवत के दसवें स्कन्ध के आधार पर की है, किन्तु विद्यापति की कविता का आधार जयदेव की लालित्यपूर्ण पदावली है तथा वे अपने काव्य में इस प्रकार की सरसता भर सके हैं जिसके कारण उन्हें अभिनव जयदेव कहा जाता है। सूरदास ने कृष्ण के बाल और यौवन दोनों रूपों को लिया है। बाल्यवस्था का चित्रण करने में वे इतने अधिक सफल हुए हैं कि संसार का कोई भी कवि इस क्षेत्र में उनकी टक्कर नहीं ले सका है। संयोग शृंगार के वर्णन में विद्यापति अधिक सफल माने जा सकते हैं। विरह के पद दोनों ने लिखे हैं किन्तु, सूर द्वारा रचित विरह के अधिकांश पदों का उद्देश्य भगवान की निर्गुण उपासना का खंडन कर सगुण उपासना का समर्थन करना है। इसका कारण यह है कि सूर के पूर्व निर्गुण सम्प्रदाय के कवि भगवान के निर्गुण रूप का समर्थन कर उसका जोरदार समर्थन कर चुके थे किन्तु विद्यापति के सामने भक्ति के प्रचार का कोई आदर्श नहीं था। विद्यापति ने विरह के जो पद लिखे हैं, उनमें सच्चे विरह का आभास मिलता है तथा वे हृदय को छू लेते हैं। सूरदास की गोपियाँ विरह-वर्णन के सिलसिले में एक ही विषय का पिष्टपेषण करती हैं।

सूरदास ने श्रीकृष्ण को छोड़ अन्य देवताओं के सम्बन्ध में बहुत ही कम पद लिखे हैं। वे वैष्णव थे तथा उनके गुरू ने उन्हें कृष्ण की आराधना में ही पद-रचना का निर्देश किया था। किन्तु विद्यापति स्वतन्त्र थे। उन्होंने शिव और कृष्ण दोनों से सम्बद्ध पद लिखे हैं। वे कहते हैं—

भल हरि, भल हर भल तुअ कला।
खन पीत बसन खनहिं बघ छला॥

अर्थात् वे शिव और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं देखते। फिर भी दोनों की स्तुति में उन्होंने कविता लिखी। सूरदास के विनय सम्बन्धी पदों में सच्चा दैन्य है। विद्यापति ने जीवन के अन्तिम काल में भक्ति सम्बन्धी पदों की रचना की और जिनसे कवि की लाचारी प्रगट होती है, वे पश्चाताप करते हुए दिखलायी पड़ते हैं।

दोनों के पदों में अलंकारों का सुन्दर समावेश हुआ है। अलंकार का काम भावों को तीव्र बनाना तथा उनका प्रभाव डालने में सहायता करना है। इस कार्य में दोनों कवि समान रूप से सफल हुए हैं। उन्होंने अलंकारों का केशव की तरह बलपूर्वक प्रयोग नहीं किया है। रूपकातिशयोक्ति का एक उदाहरण देखिये—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
—सूरदास

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखल नयन सरूपे।
पल्लवराज चरण-युग सोभित गति गजराजक माने।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।
—विद्यापति

इस प्रकार विद्यापति तथा सूरदास—दोनों कलाकारों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा साहित्य-कोष की अभिवृद्धि की।

इस प्रश्न पर मत-भिन्नता पायी जाती है कि विद्यापति भक्त कवि थे अथवा श्रृङ्गारी कवि। जैसा कि विद्यापति के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है, वे कई राजाओं के आश्रय में रहे। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने अपने पदों की रचना की जिनका श्रृङ्गारात्मक होना स्वाभाविक है। विद्यापति की रुचि भी श्रृङ्गार की ओर अधिक थी। उन्होंने संयोग, अभिसार तथा प्रेम प्रसङ्ग आदि के जो पद लिखे हैं वे उनकी श्रृङ्गारात्मक मनोवृत्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। राधाकृष्ण के रूप तथा संयोग का जैसा वर्णन उन्होंने किया है, वह उन्हें पूर्ण श्रृङ्गारी कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। पदों के अन्त में उन्होंने सूरदास अथवा गोस्वामी तुलसीदास की तरह कहीं भक्ति की याचना नहीं की है, और न कहीं वैसी दीनता ही दिखलाई है। प्रायः प्रत्येक पद के अन्त में उन्होंने शिवसिंह और लखिमादेवी के नामों का उल्लेख किया है, जिसे कोई भक्त कवि कभी स्वीकार नहीं कर सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो यहाँ तक कह डाला था—

कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

विद्यापति के कुछ पद भक्ति से सम्बद्ध अवश्य हैं, किन्तु उनके आधार पर उन्हें भक्त कवि नहीं माना जा सकता। युवावस्था में श्रृङ्गारपूर्ण जीवन व्यतीत करने के उपरान्त वृद्धावस्था में निष्क्रियता के फलस्वरूप हृदय में थोड़ी भक्ति-भावना आ ही जाती है। पद्माकर, बिहारी और देव जैसे श्रृङ्गार रस के कवियों को जब हम भक्ति-सम्बन्धी पदों की रचना करते हुए पाते हैं तो हमारे उस विचार की और भी पुष्टि हो जाती है। इधर कुछ आलोचकों ने विद्यापति को भक्त कवि प्रमाणित करने की असफल चेष्टा की है। 'भिन्न रुचिर्हिलोकः के अनुसार ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। ऐसे आलोचक राधाकृष्ण के श्रृङ्गारपूर्ण वर्णनों का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाते हैं। किन्तु, विद्यापति तो स्वयं स्वीकार करते हैं कि—

जनम अवधि हम रूप निहारलुँ नयन न तिरपित भेल।

× × ×

जखन जतेक धन पाए बटोरल
मिलि-मिलि परिजन खाय।
मरनक बेरि हरि केओ न पूछई
करम सङ्ग लगि जाय।

राजाओं के आश्रय में रहने के उपरान्त भी विद्यापति का अन्तिम समय सुखपूर्वक नहीं बीता—जैसा कि उनके पदों से प्रकट होता है। इस कारण अन्तिम अवस्था में भक्ति की ओर उनका प्रवृत्त होना स्वाभाविक था। डा० उमेश मिश्र ने भी अपने ग्रन्थ—विद्यापति—में इसी विचार की पुष्टि की है। अतः इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि विद्यापति श्रृङ्गारी कवि थे और परिस्थितिवश उनमें पीछे चल कर भक्ति की भावना आयी।

विद्यापति की भाषा मैथिली है और सूरदास की ब्रज। दोनों कवियों का अपनी-अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। मैथिली भाषा पर बंगला जैसी सुकोमल भाषा का प्रभाव रहने के कारण वह अधिक सरस तथा लालित्यपूर्ण हो उठी है। विद्यापति ने अपने पदों में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया

(शेष पृष्ठ १७१ पर देखिये)

छायावाद की त्रुटियाँ

श्री कृष्णनन्दनप्रसाद ‘अभिलाषी’ एम० ए०

परिपक्व विवेक का अभाव—छायावादी कवि प्रधानतः प्रकृति प्रेमी है। यही कारण है कि प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर जितना वे आकृष्ट हुए उतना जीवन के सुख-दुःख आशा-अकांक्षा, मानापमान आदि की ओर नहीं। इसलिए उनका काव्य जीवन से विच्छिन्न जान पड़ता है। और जहाँ जीवन की अनुभूति नहीं रहेगी वहाँ परिपक्व विवेक कैसे आ सकता है। छायावाद की यह एक बहुत बड़ी कमी है।

चिन्तनात्मक साधना का अभाव—इस विवेक के अभाव का कारण चिन्तनात्मक साधना का अभाव है। छायावाद के कवियों में यह साधना नहीं है। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से प्रभावित होकर हिन्दी साहित्य में छायावाद ने एक क्रान्ति लाई। पर केवल क्रान्ति ही आई, रोमांटिसिज्म के पीछे जो प्रौढ़ विचार थे, चिन्तन की जो साधना थी, वह नहीं आ सकी। इसी कारण वर्ड्सवर्थ, होली, कॉलरिज आदि की तरह छायावाद में कोई विचारक नहीं है, इस साधना के अभाव में आत्म-विश्वास भी नहीं जम सका। छायावादी कवि बड़ी जल्दी-जल्दी पहलू बदलने लगे।

कल्पना का आधिक्य—इस अभाव का एक और कारण कल्पना का आधिक्य है। छायावादी काव्य का मेरुदण्ड यही कल्पना है। पर यह शोचनीय बात है कि जीवन की अनुभूतियों से शून्य केवल कल्पना पर आश्रित काव्य स्थायित्व रख सकता है। इसीलिए उसका शीघ्र ही पतन हो गया। यह कल्पना यथार्थता से बहुत दूर है। इसी हवाई-कल्पना के अतिरेक के कारण आचार्य शुक्ल ने छायावाद को कल्पना का कलापूर्ण और मनोरञ्जक नृत्य, कल्पना की कलाबाजी आदि नामों से पुकारा है। छायावाद की कल्पनात्मक सृष्टि अपूर्ण है।

बुद्धि तत्त्व का आधिक्य—जीवन की गहरी और महत्वपूर्ण अनुभूतियों की पूर्ति छायावादी कवियों ने दो रूपों में की है एक कल्पना के सहारे और दूसरी बुद्धि के सहारे। बाह्य जगत की स्थूलता की उपेक्षा कर जब वे अन्तर की सूक्ष्मता की ओर प्रवृत्त हुए तो बौद्धिक अट्टालिका का निर्माण स्वाभाविक ही था। यह तत्त्व ‘निराला’ में अधिक है। छायावाद का भाव जगत भी बुद्धि से अनुशासित है। कुछ अलोचकों का कथन है कि यही बुद्धि तत्त्व छायावाद को स्थायित्व देगा। हाँ, यह ठीक है कि बुद्धि के अभाव में उसका जीना सम्भव नहीं पर किसी की अति तो सर्वथा वर्जित है। इसी अति के कारण तो वह ठहर भी नहीं सका।

लोक संवेदना का अभाव—छायावादी कवि बराबर नूतनता की खोज में रहता है, लोक सामान्य भावनाओं से उसे चिढ़-सी है। वह प्रायः ऐसे अनुभव और कल्पनाएँ प्रस्तुत करता है जिनका सामान्य संवेदना से मेल या सादृश्य नहीं है। छायावादी काव्य में हम अपनी परिचित भावनाएँ प्रायः नहीं पाते’—(डॉ० देवराज)। इसी कारण हम नागमती और मीरा का विरह गान समझ सकते हैं—पर महादेवी का नहीं। सीता की खोज में राम की विरहाभिव्यक्ति में जो मर्मस्पर्श है, जो लोक व्याप्त सत्य संवेदना है, वह मनु की खोज में श्रद्धा की विरह वेदना में नहीं। उसमें इतनी बौद्धिक जागरूकता है कि ऐसे समय में भी वह मन्दाकिनी से पहेली बुझाती है।

छायावादी काव्य में जीवन और जगत् की मर्म-छवियों का दर्शन नहीं होता। मार्मिक छवि मनुष्य की अन्तः प्रकृति को स्पर्श करती है। श्रेष्ठ काव्य का यह एक मुख्य गुण माना गया है। छायावाद के गीतों में लोक संवेदना का सर्वथा अभाव है। गीतों का,

आधार यही लोक संवेदना है। कबीर से लेकर मीरा तक अथवा उनके भी आगे पीछे जो भी गीत हिन्दी को मिले हैं—उनका आधार यही है। इसके अभाव के कारण ही सूर के 'निसि दिन बरसत नयन हमारे' के समान महादेवी का "मैं नीर भरी दुःख की बदली" नामक गीत हमारी आँखों में सावन-भादों नहीं उमड़ाता। इस अभाव के मूल में भी बुद्धि ही छिपी है।

श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'छायावाद और रहस्यवाद' में लिखा है—"छायावादी कवि अपना जीवन तथा अपनी विश्वस्तता के साथ विश्व-जीवन तथा आत्मा से अनन्त सहानुभूति रखता है। सम्भवतः इसी कारण वह अपने को विश्व में और विश्व को अपने में देखता है।"

यह कथन अंश रूप में ही सत्य माना जा सकता है, पूर्ण रूप में नहीं, और वह भी इसलिए कि संसार का कुछ तो आधार लेना ही होगा साहित्य निर्माण के लिए। उससे बिल्कुल अप्रभावित कैसे रह सकता है कोई कलाकार। यदि पाँडेयजी का कथन सर्वथा सत्य होता तो 'ग्राम्या' की भूमिका में पन्त को यह नहीं लिखना पड़ता कि उसमें ग्राम और ग्रामीणों के प्रति उनकी केवल बौद्धिक सहानुभूति है?

जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव—छायावादी कवि और काव्य पर एक दोष यह भी मढ़ा जाता है कि उनमें जीवन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की क्षमता नहीं है। 'आधुनिक कवि' में महादेवी वर्मा ने इस आक्षेप का बड़े सुन्दर शब्दों में खण्डन किया है। उनके विचारों के बदले उनकी पंक्तियाँ उद्धृत कर देना अधिक सुन्दर है। वे इस प्रकार हैं—

"वास्तव में जीवन के साथ इस दृष्टिकोण (वैज्ञानिक दृष्टिकोण) का वही सम्बन्ध है जो शरीर के साथ शरीर विज्ञान का। एक शरीर के खण्ड खण्ड कर उसके सम्बन्ध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी उसके प्रति वीतराग रहता है। दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हमें उसके प्रति अनुरक्ति नहीं देता। इस प्रकार यह बुद्धि प्रसूत चिन्तन में ही अपना ध्यान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है जिसके द्वारा वह जीवन के सुन्दर और कुत्सित रूपों को अपनी संवेदना में रंगकर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं।" (पृष्ठ—१७)

अधिक स्त्रैणता—छायावादी काव्य में अधिक प्रेम, अधिक सौन्दर्य, अधिक कोमलता, तरलता और सरसता है। दूसरे शब्दों में उसमें स्त्रैणता अधिक है। छायावाद के प्रधान स्तम्भों में से एक तो स्त्री (महादेवी) हैं ही। दूसरे पन्त का रूप भी कुछ उसी ओर की समता रखता है। ऐसी दशा में इस गुण का आधिक्य कुछ स्वाभाविक सा है। इलाचन्द जोशी ने इसी 'स्त्रैणता' को छायावाद के पतन का कारण माना है। मैं इससे पूर्ण सहमत नहीं हूँ। हाँ, अन्य कारणों में से यह भी एक कारण है इसके पतन का, यह माना जा सकता है। पर पूर्ण रूप से उसी को प्रधान कारण मानना ठीक नहीं होगा क्योंकि निराला के काव्य में अधिक पौरुष है। यह पौरुष उसके व्यक्तित्व की छाप है। प्रसाद मध्य मार्ग पर हैं।

सङ्कीर्ण परिधि—छायावाद की परिधि (scope) बहुत सङ्कीर्ण है, बिल्कुल सीमित है। जीवन-जगत के प्रति उदासीनता उस सीमा का प्रधान कारण है। साथ ही छायावादी काव्य में कुछ साम्प्रदायिकता रूढ़िवादी रहस्यवाद छिपा है। इससे उसके काव्य के संकेत उन्हीं को ग्राह्य होंगे जो विशेष दार्शनिक रूढ़ियों को स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि उसकी रहस्यवादिता भी संकुचित क्षेत्र रखती है जिसमें कुछ विशेष दार्शनिक ही भाग ले सकते हैं। ऐसे काव्यों का उज्ज्वल उदाहरण निराला की 'गीतिका' हो सकती है। शुक्लजी की दृष्टि में छायावाद में भावात्मक सच्चाई की कमी है।

बहिर्मुखी निष्क्रियता—छायावाद की अन्तमु ख चेतना कुछ इतनी कुण्ठित थी कि बहिर्जगत के प्र

वह सर्वथा निष्क्रिय रह गई। उसमें उद्वेग था किन्तु परिशोध और सक्रियता का नितान्त अभाव था। अतृप्ति तो थी किन्तु स्वस्थ सर्जनात्मक शक्ति की कमी थी। उसमें गति तो थी किन्तु वह अग्रगामी न होकर प्रतिगामी बन गई। —साहित्यिक निबन्धावली।

अग्राह्यता—छायावादी काव्य सामान्यतः अग्राह्य है। सामान्य स्तर के लोग उसे हृदयङ्गम नहीं कर पाते हैं। इसके कई कारण हैं। अन्य कारणों में से एक उसकी अतिसूक्ष्मता है। महादेवी 'आधुनिक कवि' में इसी ओर संकेत करती हुई लिखती हैं—

"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सञ्चय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया। —(पृष्ठ १६)

अस्पष्टता और उसके कारण—छायावादी काव्य के अग्राह्य होने का दूसरा कारण उसकी अस्पष्टता है। यह उसका दूसरा बड़ा दोष है। छायावाद के प्रमुख कवि 'प्रसाद' ने भी इस दोष को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है—

अनुभूति में पूर्ण तादात्म्य का अभाव—कुन्तक के शब्दों में "अति क्रान्ति प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में स्पष्टता का भी रङ्ग देख पाते हैं। हो सकता है जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृङ्खल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक नहीं हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो।"

—(काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)

अर्ध-मुक्त मनोदशाओं की अभिव्यक्ति—अनुभूति का अपूर्ण तादात्म्य के अतिरिक्त छायावादी काव्य की अस्पष्टता का दूसरा कारण अर्धभुक्त मनोदशाओं की अभिव्यक्ति है। यह बात तय है कि छायावादी काव्य आत्मनिष्ठ है। उसमें प्रेषनीयता का अभाव है और इस अभाव का कारण छायावादी कवियों का अपनी अर्धभुक्त मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की चेष्टा है। इस चेष्टा में न तो आन्तरिक रागात्मक सामञ्जस्य का निर्वाह हो पाता है। और न भावों का कोई व्यवस्थित क्रम ही बँध पाता है। इसी से रसानुभूति में भी बाधा पड़ती है। उच्च रागात्मक असामञ्जस्य का दूसरा बड़ा कारण निपुण कल्पना का अधिक प्रभाव भी है। इन कारणों से छायावादी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में सरल प्राणवत्ता की कमी है।

गीतों में अन्विति का अभाव—यह असामञ्जस्य केवल भावगत ही नहीं, विचारगत भी है जिसके कारण गीतों में अन्विति का अभाव देखने में आता है। साधारणतः किसी निबन्ध या लेख लिखते समय हम अपने प्रतिपाद्य विषय के सारे विचारों को कई पैराग्राफों में विभक्त कर देते हैं। प्रत्येक पैरा एक-एक विचार खण्ड को स्पष्टतः प्रकट करता चलता है और अन्त में एक सुन्दर लेख तैयार हो जाता है। गीत भी कल्पना से युक्त एक भावात्मक निबन्ध ही है, जो काव्यमय है। इसकी रचना में भी यही क्रम होना चाहिए। किन्तु छायावादी गीतों में विचारों की यह व्यवस्था देखने को नहीं मिलती। एक विचार पूर्णतः प्रकट हुआ नहीं कि दूसरा सर पर सवार हो जाता है और दूसरे का पूर्ण आभास मिला नहीं कि तीसरा स्थान ग्रहण करने को दौड़ चला। पाठक इन उलझे विचारों को स्पष्टतः अपना नहीं पाता। परिणाम स्वरूप गीत, अस्पष्ट, जटिल और अग्राह्य बन जाते हैं।

शब्द चित्र और कल्पनाओं की अराजकता—छायावाद को दुरूह बनानेवाली शब्दों, और चित्रों कल्पनाओं की अराजकता भी है जहाँ शब्द बाहुल्य किसी एक शब्द के ध्वनि सङ्गीत अथवा अर्ध सङ्गीत को स्पष्ट अनुभूति नहीं होने देते वहाँ चित्रों एवं कल्पनाओं की बहुलता किसी चित्र अथवा कल्पना को मस्तिष्क पर ठीक से अङ्कित नहीं होने देती है।

—डॉ० देवराज

केन्द्रापगामी पद्धति—छायावाद में चित्रों की अभिव्यञ्जना एक नई शैली से हुई है जिसे डॉ० देवराज ने 'केन्द्रापगामी व्यञ्जना प्रवृत्ति' कहा है। इसका अर्थ होता है—'गौण चित्रों में बहक जाने की प्रवृत्ति'। उनके विचार से यह प्रवृत्ति छायावादी काव्य को सरल और सुबोध बनाने की अपेक्षा दुरूह बना देती है। बात यह है कि एक विचार को प्रकट करने के लिए, उसे स्पष्ट करने के लिए जब छायावादी कवि चित्रों का निर्माण करने लगते हैं तो अपनी कल्पना की प्रवणता के कारण वे अपने मूल विचार से सम्बन्ध रखने वाले चित्रों से बदलकर गौण चित्रों का अंकन करने लगते हैं। ऐसी दशा में भावों और विचारों का दुरूह हो जाना स्वाभाविक है। निराला और महादेवी के काव्य में यह दोष अधिक मिलता है। यों तो सभी में कुछ न कुछ यह है ही।

उत्प्रेक्षा का नया प्रयोग—इस प्रवृत्ति का भी एक कारण है और वह है उत्प्रेक्षा का नवीन प्रयोग। उत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में दो बातें आवश्यक हैं। एक यह कि उत्प्रेक्षा का आधार एक वस्तुगत विशेषता होता है और दूसरी यह कि उसमें हाव या भावों का प्रयोग किया जाता है। छायावाद में दोनों की उपेक्षा है। यहाँ कवि प्रस्तुत वास्तविकता की ही व्याख्या नहीं करता बल्कि अपनी ओर से एक नई वास्तविकता की कल्पना कर लेता है और उसकी व्याख्या करने लगता है। साथ ही 'मानों' अथवा 'इव' का प्रयोग नहीं होता है। इससे छायावादी काव्य पर दोहरी दुरूहता आ जाती है। ऐसे स्थलों पर वास्तविकता, पर बलात्कार किया जाता है।

शब्द-मोह—छायावादी कवियों में शब्द-मोह अधिक है। उन्होंने भाषा को नई चेतना का नया रूप और रङ्ग दिया, इसमें सन्देह नहीं, पर उसका दुरुपयोग भी इन्हीं लोगों ने किया। निराला और पन्त में यह मोह अधिक है। पल्लव में 'सा' और गुञ्जन में 'रे' ने कवि पन्त को अधिक आकृष्ट किया। इसी मोह के कारण अनेक शब्दों की पुनरावृत्ति हुई है। भरती के शब्द भी इसी के सूचक हैं। छायावादी कवियों का विश्वास है कि सुन्दर और विशेष प्रकार की शब्द-योजना संगीत-सृष्टि में सहायक होती है। इसी उद्देश्य से उन्होंने श्रुति मधुर शब्दों का चयन बड़े प्रयत्न से किया है। यह संगीत केवल शब्द-सौन्दर्य पर ही नहीं अर्थ-सौन्दर्य पर भी निर्भर करता है। कालिदास का काव्यगत संगीत विशेषतः अर्थ सौन्दर्य पर अधिक अवलम्बित है। यह मोह गद्य और पद्य दोनों रूपों में देखा जाता है। इस मोह का परित्याग काव्य को अधिक सुन्दर बनाता है।

त्रुटियाँ ही छायावाद की आधार भित्ति हैं—'अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामञ्जस्यता, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विफलता ही छायावाद का आधार है।'

(पृष्ठ १५६ का शेषांश)

मानव हृदय में सहानुभूति का सञ्चार करने में सफल रहती है। और इसलिये गीति-काव्य के लिये शृङ्गार का विप्रलम्भ पक्ष अधिक उपयुक्त माना जाता है। वीर रस में भी कुछ गीति काव्य लिखा गया है परन्तु उसमें गीत की मधुरिमा का नितान्त अभाव है क्योंकि उसमें कोमल शब्द के स्थान पर परुष शब्दों का प्रयोग अधिक होता है।

सारांश यह है कि गीति काव्य, काव्य का वह प्रमुख अङ्ग है जिसमें कवि की अति मधुर भावनाओं की अभिव्यक्ति और उसकी अनुभूतियों की अभिव्यञ्जना कोमल, सरस शब्दों द्वारा एक सीमा बाँधती हुई होती है। वस्तुतः गीतिकाव्य की विशेषतायें हैं—सङ्गीतात्मक, आत्माभिव्यक्ति अन्तर्जगत का सहज प्रकाशन, संक्षिप्तता, कोमल शब्दों का चयन, सुकुमार एवं सरल भाषा द्वारा भावस्वरूप एवम् भावाभिव्यंजना का मधुर समन्वय, एक रसता जिसकी अवगति तीन गतियों—प्रारम्भ, तुमुल, अवसान—द्वारा हो, शृंगार, वात्सल्य और शांत रसों का प्रयोग, और गीतात्मा का मानव हृदय पर सीधा प्रभाव।

'स्वर्ण-किरण' में विश्ववाद

श्री केदारनाथ लाभ, बी० ए० (आनर्स)

द्वितीय विश्व युद्ध की विध्वंशकारी लीला, तांडव रूप एवं भयानक परिणाम को देखकर सारा संसार रोमाञ्चित हो उठा। उसे अपनी सत्ता बना रखने में सन्देह भाषित होने लगा। अणु एवं उद्जन जैसे भयानक विनाशकारी बमों के आविष्कार ने इस निखिल सृष्टि के स्थायित्व को सन्देहास्पद बना दिया। शान्ति-शान्ति की करुण पुकार धरित्री की आकुल साँसों से आने लगी। यदि दानवता के तांडवनर्तन को समाप्त प्रायः कर मानवता के स्तीत्व को स्थायी एवं चिरञ्जीवी बनाना है तो विश्व में शान्ति स्थापित करने का प्रयास करना अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य भी हो गया। और यह चिर शान्ति हो कैसे ? इसके लिये विश्व के सम्मुख तीन आधार थे। प्रथमतः विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी का सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त जो हृद्गत प्रेम की आधार शिला पर खड़ा था, विश्व के सामने था। पारस्परिक घृणा और द्वेष का परित्याग कर सहयोग तथा प्रेम को अपनाने से विश्व कलह का अन्त होना सम्भव माना जाने लगा था। द्वितीयतः मार्क्स का समाजवादी सिद्धान्त था। विश्व में आर्थिक समानता हो जाने पर सङ्घर्ष की बात ही नहीं सोची जा सकती है। इसी आर्थिक समानता के आधार पर विश्व राज्य (World State) की कल्पना मार्क्स ने की थी, जहाँ युद्ध के लिये कोई स्थान नहीं था। तृतीयतः संयुक्तराष्ट्र-सङ्घ का आधार था। विश्व के बहुलांश राष्ट्र उसके सदस्य होकर पारस्परिक कलह का निपटारा ही नहीं, प्रत्युत आपसी राष्ट्रों के सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं वैज्ञानिक उन्नयन का कार्य भी उसके सहारे कर सकते थे। राजनीतिक मनीषियों ने विश्व शान्ति के लिये ऐसे ही कुछ उपाय ढूँढ़ निकाले थे। यद्यपि विश्व के सभी राष्ट्र किसी एक ही सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं हो सके किन्तु, इन तीनों में किसी न किसी एक सिद्धान्त पर अपने को अवश्य आधारित किया।

सृष्टि का सबसे अधिक जागरूक जीव, जन-जीवन के हृदय पर एकछत्र आधिपत्य रखने वाला साहित्यकार भी अपने को युद्ध के प्रभाव से बचा नहीं सका। दिनकर ने युद्ध की विभीषिका और उसके परिणाम पर विस्तृत विचार किया और वे सोचने लगे कि आखिर युद्ध के लिए—

"पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला,
या कि न्याय ढूँढ़ते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?"

और छायावाद काल के सर्वाधिक जागरूक कवि पन्त ने भी लोगों को आमन्त्रित किया कि—

"आओ, सोचें द्विपद जीव कैसे हो सकता मानव
× × × ×
धरा बनेगी शान्ति धाम या रक्त क्षेत्र रण जर्जर
अमृत व्योम से बरसेगा विष वह्नि विनाश भयङ्कर"

—स्वर्ण किरण (पृ० १७)

दिनकर ने युद्ध की समस्या का निदान मार्क्सीय सिद्धान्त के आधार पर केवल भौतिक उपकरणों पर दृष्टि रखकर ही किया कि—

"शांति नहीं तब तक, जब तक
सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।"

मगर केवल भौतिक समता और उन्नति से ही सङ्घर्ष की समाप्ति हो जायगी यह सिद्धान्त एकाङ्गी और विवादास्पद है। पन्त ने, यद्यपि वह सदा से जनभीरु एवं सङ्घर्षभीरु कवि रहा है तथा, उसका निराकरण ही सर्व प्रशंसित एवं सर्वमान्य हो सो बात नहीं है, फिर भी, इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन किया है और भव-मानव की कल्पना कर एक समन्वयात्मक

निदान लोगों के सम्मुख रखा है। स्वर्ण किरण में इसी भू-मानव यानी विश्व-मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गई है।

पन्त के सम्मुख भारतीय मनीषियों के समन्वयात्मक सिद्धान्त ही उपस्थित थे। रवीन्द्र का शान्ति निकेतन विश्व-संस्कृति के आधार पर ही अधिष्ठित था। जाति, वर्ग एवं राष्ट्र गत सङ्कीर्णता को त्याग कर उन्होंने सृष्टि के मानव समूह को एक ही प्रणय-से ग्रथित करने का ही स्वप्न देखा था।

गांधीजी की सत्य-अहिंसात्मक क्रांति समझौतावादी क्रान्ति थी। वे अन्याय के द्रोही थे, अंग्रेजों के नहीं। सच तो यह है कि विश्व-कल्याण की भावना से जितना गांधीजी अनुप्रेरित रहते थे, इस युग का कोई नेता उतना नहीं रहता था। वे अपने आन्दोलन में सदा ही शत्रु से समझौता करने को तैयार रहते थे। साथ ही साधन एवं साध्य दोनों की महानता पर जोर देते हुए आत्म-शुद्धि व अनशन की भी चर्चा करते थे। बाह्य एवं आन्तरिक आचरण की विशुद्धता उन दिनों कांग्रेसी होने की एक शर्त थी।

इधर अरविन्द राजनीति से विमुख हो योग-साधना में रत हो गए थे। उनका विश्वास था कि भौतिक उन्नयन (जो राजनीतिक आन्दोलनों के कार्य-क्रम में प्रमुख स्थान रखता था) ही मानव के सर्वाङ्गीण विकास में पूर्ण सहायक नहीं होगा। इसलिए वे अन्तर्चेतना के विकास पर अधिक आग्रह करते थे। वे कहा करते थे Allow to grow your conciousness साथ ही राजनीति में राष्ट्रगत द्वेष की अभिवृद्धि ही होती रहती है। अतः ऐहिक सङ्कीर्णताओं से ऊपर उठने के लिए उन्होंने ज्ञान व विज्ञान का समन्वय खोजा।

पन्त पर इन सबों का प्रभाव पड़ा। उन्होंने घोषणा की—

“हमें विश्व-संस्कृति रे भू पर करनी आज प्रतिष्ठित
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित।”

उनकी यह विश्व संस्कृति यूनानी सर्ववाद (Pautheism) का विकसित रूप है और गान्धी के सर्वोदयवाद से मिलती-जुलती है। इसका बीज रूप हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में भी पा सकते हैं। मार्क्स ने तो विश्व संस्कृति (world culture) की दृढ़ कल्पना की ही थी। उसने मानव को एक ही नारा दिया था—मादरे वतन जहान, कौमे इन्सान का। और विश्व को अपना घर बनाने के लिए, अपने को विश्व-नागरिक (world-citizen) बनाने के लिए कवि ने बहिरन्तर—सामञ्जस्य का नारा दिया। The east is east and west is west, they never can meet—इस भावना को भुलाना होगा और पश्चिम के उन्नत जीवन स्तर तथा उन्नत भौतिक स्तर के साथ ही पूर्व के उच्च विचार स्तर एवं आध्यात्मिक स्तर का मधुर सामञ्जस्य करना होगा—

“पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो
विकसित विश्व-तन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण द्रवित-भू-तमस तिरोहित।”

—स्वर्ण किरण, पृष्ठ १३९

पन्त ने नव विश्व की, जिस नव मानव संस्कृति की कल्पना की है उसमें ज्ञान, विज्ञान दोनों के विकास को प्रश्रय दिया है। वे यन्त्र-युग की उपयोगिता से इन्कार नहीं करते। आत्म एवं विज्ञान के साथ ही वे अनात्म एवं अविद्या की भी स्वीकृति देते हैं। हाँ दोनों का सन्तुलन वे अवश्य चाहते हैं और इसके लिए उपनिषद् की पंक्तियाँ रखते हैं—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदो त्रयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

पन्तजी इस धरती पर जिस लोक संस्कृति की कामना करते हैं वह ज्ञान विज्ञान से सन्तुलित होते हुए भी होगी पूरी कलात्मक ही और उसके स्रष्टा होंगे जन-गण ही—

"ललित कलाओं से धरती का रूप बने मनुजोचित,
शोभा के स्रष्टा हों जन, जीवन के शिल्पी जीवित।
भावी स्वप्न दृगों में, उर में हो सौन्दर्य अपरिमित,
काव्य, चित्र, सङ्गीत, नृत्य से जन जीवन सुख-स्पन्दित॥"

—स्वर्णकिरण

कितनी जीवन्त और आशापूर्ण आदर्श कल्पना है कवि की, उसकी नयी लोक संस्कृति की! वह केवल मार्क्स और फ्रायड का ही अन्ध भक्त नहीं है। उसकी नई लोक संस्कृति क्षुधा और काम के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है—

"नहीं क्षुधा औ काम मात्र से
हुई लोक संस्कृति रे विकसित,
मानव के देवत्व के लिए
विश्व पीठ जीवन की निर्मित!"

—स्वर्णकिरण (पृ० १२८)

उसके विचार से तो—

"हंस रहे जग में, मयूर औ वायस रहें परस्पर!
सबके साथ अपार विद्ध, स्थित प्रश्न रहे जग में नर।"

—स्वर्णकिरण (पृ० ८०)

मगर मार्क्सवाद से अधिक दूर रह कर अपनी भव-संस्कृति का निर्माण करने में कदाचित ही वह समर्थ हो पाता। इतना अवश्य है कि वर्ग सङ्घर्ष और सशस्त्र क्रान्ति को वह मार्क्सवाद की सीमा मानता है। किन्तु यह तो उसके जनभीरु स्वभाव के कारण ही सम्भव हो सका। अन्यथा वह जनहित के लिए—

'ईश्वर को मरने दे हे-मरने दे'—कहने से भी विमुख नहीं होता। वह जानता है कि -

संस्कृति रे परिहास क्षुधा से यदि जन कवलित
कला कल्पना, जो कुटुम्ब तन नग्न, गृह रहित!

(पृ० १११)

कवि तो दृढ़ विश्वास के साथ उद्घोष करता है कि—

"जीवन का ऐश्वर्य अपरिमित
मानव ईश्वर को हो अर्पित!'—(पृ. १३७)

लेकिन उसका मानव-ईश्वर वर्ग एवं राष्ट्र की सीमा में बँधा नहीं—'वर्ग राष्ट्र से लोक धरा का श्रेय है अधिक'

आज हर कहीं विपन्नता का नग्न नर्तन होरहा है अपार वैभव के बीच यह दरिद्रता! Poverty Plenty वाली बात है यहाँ—'भू में आज वि अपार दारिद्रय अपरिमित'। इस विभेद को मिटा होगा, इसका समूल विनाश करना होगा। उस भव संस्कृति में जाति, रूढ़ि, वर्ण, वर्ग व राष्ट्र सत्ता नहीं रहेगी। समता के आधार पर ही उस नया विश्व खड़ा रहेगा—

जाति, वर्ण के टूटें बन्धन,
रूढ़ि रीति से मुक्त बने मन
भव संस्कृति में देश हो ग्रथित,
जन सम्पन्न, जगत मनुजोचित।"

और विश्व पर अधिकार होगा व्यष्टि का नहीं समष्टि का! जन सत्ता ही भू पर अधिष्ठित रहेगी—

भू पर जन सत्ता हो विकसित,
अंतर्जीवन से सम्बन्धित।" लेकि

उसके समाजवादी विश्व में व्यक्ति का भी महत्वपू स्थान होगा। वह समष्टि में व्यष्टि को, समाज में व्यक्ति को तिरोहित नहीं कर देना चाहता। बल्कि व्यक्ति महत्त्व वह पूर्णरूपेण स्वीकार करता है।

"विश्व में रिक्त व्यक्ति का स्थान
नहीं भर सकता स्वयं अनन्त!" वह आ

नए विश्व-निर्माण के लिए इतना उग्र है कि उस हर साँस विश्व-मङ्गल की भावना से ही उच्छ्वसि होती है। जिससे विश्व मङ्गल न हो सके वह कै भी वस्तु क्यों न हो तत्वहीन है—

"अखिल ज्ञान पूजन आराधन,
रण कौशल, त्रिभुवन वैभवधन,
मुझको लगता, सार-हीन है,
यदि वे नहीं विश्व-मङ्गल हित!"

—स्वर्णकिरण (१६१

यह है पंत के नए विश्व की रूपरेखा। स्वर्णकिर के इस विश्व-मानव वादी पंत को कैसे कुछ तथाकथि मार्क्सवादी आलोचक प्रतिक्रियावादी का विशे दे देते हैं, आश्चर्य है।

‘शशिगुप्त’ एक सफल ऐतिहासिक नाटक

प्रो॰ रामगोपालसिंह चौहान, एम॰ ए॰

‘शशिगुप्त’ सेठ गोविन्ददास का एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें भारत पर सिकन्दर के आक्रमण को नाटक का विषय बनाया गया है।

इतिहास में किसी देश और जाति का महान्-गौरव-अध्याय सञ्चित रहता है। वह महान गौरव परम्परा राष्ट्रीय-सङ्कट और राष्ट्रीय-निर्माण में वर्तमान जीवन की यथार्थ समस्याओं को समझने परखने के लिए अथवा उन समस्याओं से जूझ कर वर्तमान में कुहासावत मार्ग को प्रशस्त करने के योग्य बल और साहस तथा उचित आदर्श की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। कलाकार इसी उपयोगिता-परक दृष्टि से अतीत की ओर देखता है। तभी वह इतिहास से गतिशील सजीव प्रेरणा देने में समर्थ होता है। यदि वह इस गतिशील दृष्टि से इतिहास की परम्परा को नहीं देखता तो कलाकृति न हो कर इतिहास की घटनाओं का निर्जीव जमघट मात्र बन कर रह जाता है। कलाकार अपनी सामाजिक कृतियों में भी अपनी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करता है किन्तु ऐतिहासिक कृतियों में इतिहास को प्रत्यक्ष मूर्तिमान करता हुआ वर्तमान की निसर्ग भूमिका में बैठाता हुआ नया जीवन आलोक देता है। अपनी ऐतिहासिक कृतियों में वह इतिहास के उन महान पात्रों और गौरवमय घटनाओं को मूर्तिमान करता है जो आज की समस्याओं में मार्ग सुझाने में सहायक होते हैं।

इस नाटक के पात्र शशिगुप्त और चाणक्य भारतीय इतिहास के ऐसे ही दो महान चरित्र थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभा, वीरता और दृढ़ सङ्कल्प से इतिहास में एक नया युग उत्पन्न किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व, देश अनेक छोटे-छोटे गण राज्यों में विभाजित था। देश का एकमात्र बड़ा राज्य मगध का साम्राज्य महापद्म नन्द विलासिता के घोर गर्त में डूबा हुआ था। देश की शक्ति बिखरी हुई थी। देश की ऐसी ऐतिहासिक स्थिति में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। देश की एकता उस समय की सब से बड़ी देशभक्ति और राष्ट्रीयता थी। चाणक्य ने युग की इस ऐतिहासिक आवश्यकता को समझा कि—“भारत के भी समस्त नरपति-गण तथा गणतन्त्र यदि एक हो जायें, तो इसके तेज के सम्मुख यवन! ओह! एक यवन ही क्या यदि संसार के समस्त राष्ट्र भी इस पर आक्रमण करें, तो उनकी वही दशा होगी, जो चमकते हुये दीपक पर पतङ्गों की होती है।” चाणक्य ने शशिगुप्त को निमित्त बनाकर भारत में एक छत्र साम्राज्य की स्थापना की। उसका सारा जीवन इस सामाज्य की स्थापना में ही लग गया। भारतीय इतिहास के इस राष्ट्रीय युगपरिवर्तन का चित्रण ही इस नाटक का मूल आधार है, इसीलिए नाटककार ने यवन आक्रमण के विरुद्ध समस्त भारत की एकता की चाणक्य की महत्त्वाकांक्षा से नाटक का आरम्भ कर चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्राटत्व में एक छत्र साम्राज्य की स्थापना और यवनों की पूर्ण पराजय में होता है। देश की बिखरी हुई शक्तियों को यवन के विरुद्ध एक गुट्ट करने में चाणक्य के जीवन-विन्दु को नाटक का केन्द्र-विन्दु बनाया गया है। जिसके चारों तरफ यवनों का आक्रमण, आम्भीक की सन्धि, और देश द्रोह, पर्वतक द्वारा सिकन्दर का सफल प्रतिरोध तथा मैत्री-पूर्ण सन्धि, शशिगुप्त का सिकन्दर का क्षत्रप बनना, पर्वतक और सिकन्दर की सेनाओं का मगध की ओर प्रस्थान करना, चाणक्य के इशारे पर शशिगुप्त का विद्रोह करना और स्वयं चाणक्य द्वारा पर्वतक के सैनिकों की सहायता से सिकन्दर की सेना में आगे बढ़ने के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न कराना, पर्वतक द्वारा

सिकन्दर को वापस लौट जाने के लिए उद्यत कराना, स्वयं सिन्ध जाकर सिकन्दर के विरुद्ध गण-शक्ति का सङ्गठन करना, कूटनीति द्वारा शकटार से नन्द की हत्या कराना और राक्षस को शशिगुप्त के पक्ष में लाकर शशिगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से भारत का एक-छत्र अधिपति बनाना, पर्वतक को सिकन्दर के विरुद्ध कर शशिगुप्त के पक्ष में लाना और फिर विष-कन्या द्वारा उसकी हत्या करा देना। सिल्यूकस का भारत पर आक्रमण, उसकी पराजय, चन्द्रगुप्त और हेलन का विवाह आदि घटनाओं का ताना-बाना बुनकर नाटक की कथा का निर्माण हुआ है। इसीलिए नाटककार का मोह इस बात में रहा है कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण से लेकर चन्द्रगुप्त के पूर्णतया राज्यासीन होने तक की अनेक स्थानों, अनेक घटनाओं और अनेक रूपों में बिखरी कथा को नाटक का रूप दिया जाय। इस कारण कला की दृष्टि से इसमें अनेक दोष आ गये हैं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से नाटककार अपने इस मोह का चित्रण करने में पूर्ण सफल हुआ है।

इसके अतिरिक्त नाटककार अपनी सजग दृष्टि के द्वारा इतिहास के तथ्यों की खोज परख करता है और उसके द्वारा वह इतिहास के सम्बन्ध में अब तक की स्थापनाओं में एक नया अध्याय जोड़ देता है। भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के सम्बन्ध में अब तक के प्राप्त इतिहास की दो मान्यतायें हैं—(१) पर्वतक ने सिकन्दर का सफल प्रतिरोध किया था (२) किन्तु उसकी सेना के हाथियों के यकायक बिगड़ जाने के कारण उसकी सेना में भगदड़ मच गई और वह बन्दी बना लिया गया। सिकन्दर ने उसके वीरत्व का सम्मान करते हुए उसके साथ मैत्री स्थापित करली। सेठ गोविन्ददास ने अपनी सतर्क खोजों के आधार पर इतिहास की इन दोनों मान्यताओं को भ्रामक सिद्ध कर दिया है और अपनी कुछ नई ऐतिहासिक स्थापनायें की हैं—(१) चन्द्रगुप्त गुप्तवंशीय 'मौर्य' नहीं था। 'नाइन' का भी वह पुत्र न था बल्कि 'सिन्धु' तथा 'कुनार' नदियों के बीच में स्थित नामक पर्वतीय क्षेत्र की निवासी जाति अश्वक का था और उसका नाम सम्राट होने से पूर्व था; (२) शशिगुप्त ने अपनी जाति की सेवा के सिकन्दर का गतिरोध किया, किन्तु चाणक्य के से सिकन्दर का क्षत्रप बनना स्वीकार कर लिया बाद में उसके विरुद्ध विद्रोह का सङ्गठन किया; पोरस और पर्वतक एक ही व्यक्ति है; (४) नन्दों का नाश अपने व्यक्तिगत अपमान के क्रोध कारण नहीं किया, वरन् उनकी विलासिता के किया; (५) पर्वतक की हस्थि सेना भागी नहीं, उसने यवन सैनिकों का संहार किया और पर्वतक बन्दी नहीं बनाया गया, अपितु सिकन्दर सैनिकों के शौर्य और पर्वतक की रण-चातुरी से के साथ मैत्रीपूर्ण सन्धि करने पर विवश हो सन्धि का प्रस्ताव उसी की तरफ से आया था। समानता के आधार पर हुई थी। सिकन्दर की जय शक्ति और साधना को भारतीय सैनिकों के भयङ्कर ठेस लगी थी और उसकी सेना ने वापस चलने के लिए उसे विवश कर दिया था। समय शशिगुप्त के नेतृत्व में अश्वकों और मालवों शक्ति से उसे पराजित भी होना पड़ा था। एक सैनिक के तीर की चोट से ही अन्त में उसकी हुई थी। (६) सिकन्दर अत्यन्त क्रूर, निर्दयी, था। उसने स्त्री-बच्चों तक की हत्या कराई थी।

इन ऐतिहासिक तथ्यों ने नाटककार को ऐसा आकर्षित किया' कि वह 'इस लोभ का न कर सका।'

इस नाटक में कथा-आधार अत्यन्त विशाल और विस्तृत लिया गया है। लेखक उपरोक्त समस्त ऐतिहासिक तथ्यों को एक साथ की विषय वस्तु में विन्यसित करना चाहा है इस कार्य में वह सफल भी हुआ है, भले उन्हें संमवेदनीय और हृदय स्पर्शीय रूप न दे पाया

चन्द्रगुप्त मौर्य इतिहास का एक ऐसा

सम्राट रहा है कि उस पर हिन्दी के ही नहीं बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलालराय ने भी नाटक की रचना की है। चन्द्रगुप्त पर जयशङ्करप्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध है। संस्कृत में विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' नाटक भी चन्द्रगुप्त मौर्य के चरित्र पर ही आधारित है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक नाटक इस कथा में लिखे गये हैं, किन्तु प्रायः सभी की कथा चन्द्रगुप्त के सम्राट बन जाने और यवनों के भारत से लौट जाने के बाद से आरम्भ होती हैं। पूर्व की घटनायें या तो पात्रों के संवादों के द्वारा संकेत रूप में चित्रित होती हैं या उनका बिल्कुल भी उल्लेख नहीं होता। इन सब नाटकों की कथावस्तु एक सीमित क्षेत्र की कथावस्तु है, जो केवल सम्राट चद्रगुप्त के जीवन से ही सम्बन्ध रखती है। इसके विपरीत 'शशिगुप्त' की कथावस्तु एक विस्तृत क्षेत्र की कथावस्तु है जिसमें भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अश्वक जाति के नेता के रूप में सिकन्दर की सेना का शशिगुप्त के द्वारा प्रतिरोध करने से लेकर शशिगुप्त का चाणक्य की सहायता से यवनों से भारत को मुक्त कर गणतन्त्रों में और, छोटे-छोटे राज्यों में बिखरी भारतीय शक्ति को एक गुट कर नन्द का नाश करके चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से भारत का अधीश्वर बनने तक की कथा का सन्निवेश है। इस प्रकार नाटककार एक बहुत बड़े क्षेत्र में बिखरी कथा को नाटक के शिल्पतन्त्र में समेट कर चला है, इस लिये यह नाटक ऐतिहासिक घटनाओं का जमघट होकर रह गया है। नाटक के शिल्प में उसकी संवेदनीय रेखाओं का सफल अङ्कन नहीं हो पाया है। नाटककार ऐतिहासिक तथ्यों को समग्र रूप से नाटक की कथावस्तु में समेटने में ही सचेत रह पाया है। नाटकीय कला पर उसका ध्यान नहीं जा पाया। इस प्रकार कला की दृष्टि से भले ही नाटक दोषपूर्ण और कमजोर हो, किन्तु जिन ऐतिहासिक मान्यताओं को नाटक रूप में शिल्पित करने के लोभ को लेकर वह चला था उसमें वह पूर्ण रूपेण सफल हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

(पृष्ठ १६१ का शेषांश)

है तथा अपनी भाषा को कटु शब्दों से बचाया है। उनकी भाषा की मधुरिमा का एक उदाहरण लीजिए—

सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज,
की सरसिज बिनु सूरे।
यौवन बिनु तनु, तन बिनु यौवन,
की यौवन पिय दूरे॥

सूरदास की भाषा ब्रज है। उनके पदों में तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक पाया जाता है तथा कुछ पूरबी शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। विद्यापति की भाषा में सूर की अपेक्षा अधिक मिठास और लालित्य है। विद्यापति दरबारी कवि थे तथा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए उन्हें पद-लालित्य पर विशेष ध्यान रखना पड़ता होगा। किन्तु सूरदास भक्त थे, अपने आराध्य देव को प्रसन्न रखना उनका लक्ष्य था।

सूरदास का बाल-वर्णन हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। विद्यापति ने इस अङ्ग का स्पर्श तक नहीं किया। बालकों की विविध भावनाओं का जो चित्रण सूरदास ने मनोवैज्ञानिक ढङ्ग पर किया है, उसकी समानता करने वाला संसार का कोई कवि नहीं। गोस्वामी तुलसीदास इस दिशा में प्रयत्न करने पर भी असफल रहे हैं। सूर का वियोग शृङ्गार यद्यपि दार्शनिक भावों से समन्वित है फिर भी गोपियों का वियोग सहृदय जनों को आकृष्ट किये बिना नहीं रहता।

इस प्रकार हम विद्यापति तथा सूर में अनेक प्रकार की समता एवं विषमता पाते हैं। दोनों की अलौकिक प्रतिभा से हिन्दी काव्य साहित्य गौरवान्वित हुआ। सूर साहित्य के 'सूर' माने गये हैं। तथा हिन्दी को उनकी देन महान् है फिर भी हिन्दी के प्रारम्भिक-अपभ्रंश-काल में विद्यापति ने जो कार्य किया उसका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं।

'अमरबेल' एक आलोचनात्मक अध्ययन

श्री सुन्दरलाल जी

'अमर बेल' हिन्दी के अमर कलाकार श्री बृन्दावनलाल वर्मा की नवीनतम कृति है, यह उपन्यास लगभग पौने पाँच सौ पृष्ठ का है, किन्तु उपन्यास का गठन बहुत सँभाल कर किया गया है, परिणामस्वरूप पृष्ठ संख्या नहीं बढ़ी है एवं 'कचनार' जैसे लम्बे ऐतिहासिक विवरण की नीरसता से अछूती है।

एक आलोचक ने उसे सामान्य और दूसरे ने उसे युग प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया है। जो भी हो उद्देश्य और नवीनता की दृष्टि से 'गोदान' के बाद 'अमर बेल' का अपना स्थान है। वह एक उत्कृष्ट और नई दिशा की ओर इंगित करने वाला उपन्यास है।

कथावस्तु—देशराज सुहाना का उच्च-शिक्षा प्राप्त युवक है जो अपनी सहपाठिनी प्रेयसी अञ्जना के साथ अफीम का अवैध व्यापार करता है। अञ्जना सङ्गीत-सम्मेलन इत्यादि के व्याज से पुलिस की आँखों में धूल झोंकती है; तथा उसके द्वारा देशराज अपने भावी दाम्पत्य जीवन को सुखी करने के हेतु दो लाख रुपए कमाना चाहता है।

टहलराम, देशराज का विरोधी बाँगुर्दन का निवासी, भी पढ़ा-लिखा नवयुवक है जो साम्यवादी विचारधारा का है। वही उपन्यास का नायक है।

देशराज अपने प्रतिद्वन्दी टहलराम के यहाँ कालीसिंह नामक डाकू द्वारा, जो उसी के एक दोस्त जमींदार का आत्मीय है, डाका डलवाता है। उसके पहिले ही सुहाना और बाँगुर्दन में दो सरकारी समितियाँ जमींदारी उन्मूलन के उपरान्त स्थापित हो चुकी थीं।

बाद में अञ्जना और देशराज के साथ उनका साथी जमींदार, विश्वासघात करके उन्हें कालीसिंह द्वारा लुटवा देता है। कालीसिंह तीसरा डाका टहल के यहाँ डालता है किन्तु असफल हो अपने दो साथियों सहित मारा जाता है।

यहाँ बाँगुर्दन और सुहाना की सहकारी-समिति शनैः शनैः कई बाधाओं के अतिरिक्त भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होती जाती हैं।

देशराज भी अवैध व्यापार से मुँह मोड़ खेती-बारी में ध्यान लगाता है। टहल की शादी एक अछू एवं विधवा लड़की हरको से हो जाती है।

इनके साथ में डाक्टर सनेहीलाल हैं; वे सा गाँव के और विशेषकर टहल के पथ-प्रदर्शक हैं। उनके सुभाव सदा मध्यम पथ के हैं। "जो गुड़ देने से म विष न दीजिए ताहि" यह उनका सिद्धान्त है।

साम्यवादी टहलराम—टहलराम का व्यक्तित्व आज के सभी साम्यवादी नवयुवकों जैसा है; जो 'जैसे को तैसा' चाहते हैं। 'शठम् प्रति शाठ्याम्' जिनका मूल मन्त्र है। वे पूँजीपतियों, जमीदारों से घृणा करते हैं, और किसान, मजदूरों से स्नेह रखते हैं। उसका सिद्धान्त जवानी जमा-खर्च नहीं है। वह स्व की मा से भी वही व्यवहार चाहता है, जो देशराज से कराने का इच्छुक है।

आज की वर्गगत व्यवस्था ने ही ऐसे युवक उत्पन्न किये हैं जिनको लेकर एक अमूल्य कृति की रचना हो सकती है। क्योंकि आप नायक के चित्रण में पूर्णरूप से तटस्थ रहे। कलाकार की निस्सङ्गता यहीं पर प्रत्यक्ष है। टहलराम अन्त में डॉ० सनेही के उत्तम गुणों का श्रद्धालु एवं सिद्धान्त का समर्थक हुआ।

टहलराम केवल विचारों का पुतला ही नहीं है। भावना से मण्डित मानव है। वह डॉ० सनेही से लिपट कर आँसू बहा सकता है तथा एक अछूत लड़की से प्रेम भी कर सकता है किन्तु उसके प्रेम में उच्छृङ्खलता और उन्माद नहीं शालीनता और प्रतीक्षा है।

साम्यवादी डाक्टर सनेहीलाल—डॉक्टर सनेही एक ऐसा पात्र है जो आदर्श की नींव पर भावना और विचारों के ईंट-गारे से बना है। उसकी शालीनता को दोस्त-दुश्मन सभी सराहते हैं। वह निर्धनों की मुफ्त दवा करता है। मानवीय सुधारों पर वह विश्वास रखता है। उसका दाम्पत्य जीवन सुखी है, सामाजिक जीवन सेवा और त्याग का नमूना है तथा उसकी सौम्य और शालीनता की छाप सब पर है। देशराज से टहलराम तक सभी उसके प्रेमी पात्र हैं। टहल उसके छोटे भाई लक्ष्मण सरीखा है।

वह धैर्य का सम्बल नहीं छोड़ सकता, लोगों के अन्धविश्वास पर उसे हँसी भी नहीं आती और न क्रोध ही आता है। उसका स्वभाव दार्शनिकों जैसा गम्भीर और नीरस नहीं है, वास्तव में उसने जीवन में सेवा और अन्त में सफलता प्राप्त की।

प्रतिनायक देशराज—देशराज का एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसके बिना लेखक के उपन्यास का कोई महत्त्व न रहता। वह सहकारी समिति के सुचारुरूप से गतिशील होने में बाधक है। एकता के सूत्र को तोड़ने का उसका प्रयास सहकारी कार्य में सजगता की ओर इङ्गित करता है।

वह पढ़ा-लिखा है; उसकी महती आकांक्षा है (यदि महती कहा जाय तो) कि दो लाख रुपए जमा करके (चाहे जमा करने का तरीका अवैध ही हो) अपनी सहपाठिनी अञ्जना के साथ एक सुखी दाम्पत्य जीवन का निर्माण करे।

टहल से उसकी प्रतिद्वन्द्विता है और इस कारण वह टहल के घर डाका डलवा सकता है; उसे यमपुर भिजवाने का प्रयास भी कर सकता है; उसके आदर्श पथ पर रोड़े बिछाना—गाँव की सहकारी भावना पर कुठाराघात करना भी उसका ध्येय हो सकता है।

इसी प्रतियोगिता की अग्निशिखा में तप कर टहल रूपी स्वर्ण की दमक बढ़ी; साथ ही वह प्रतियोगिता टहल जैसे व्यक्तियों के लिए जीवन में आदर्श और पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है।

कथा-प्रवाह—वर्माजी कथा कहने में सिद्धहस्त हैं। बिखरी हुई कड़ियों को सिलसिलेवार जमा कर स्पष्ट रूप में रख देना आपकी निजी विशेषता है। किन्तु प्रायः आपके उपन्यास (कचनार आदि में) लम्बे ऐतिहासिक विवरण के कारण प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक समाज के धरातल पर बना राष्ट्रीय उपन्यास है। (इसे मैं राष्ट्रीय उपन्यास ही कहूँगा।) इसमें नीरसता होने का कारण भी विशेष है; वर्माजी सस्ते यौन सम्बन्धी कथानकों से दूर आदर्शवाद के प्रणेता हैं। दमित वासनाओं की कथा को रँग चढ़ा कर वर्णन करना उनके लिए असम्भव है और यही कारण है कि उनके इस उपन्यास में रोचकता अच्छी तरह निभ नहीं पाई।

कथोपकथन उनके ऐसे नहीं जो उभारने वाले लम्बे-लम्बे सम्भाषणों के समान एकरसता को बढ़ाएँ। उनके संवादों में रमणीयता, मनोवैज्ञानिकता और नाटकीयता की सङ्गति है जिससे वे सहज स्वाभाविक और सुरुचिपूर्ण जान पड़ते हैं। इन्हीं संवादों में अप्रत्यक्ष रूप में ये अपनी बात कह गए हैं। जैसे सनेही और टहल की बातचीत के दौरान में—

"........आध्यात्म के विकास के लिए विज्ञान की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। अनिवार्य भी।"

"और विज्ञान को अध्यात्म के निर्देशन की।"

भाषा शैली—वर्माजी की भाषा सदा से स्वाभाविक रही है। पात्रों के अनुरूप उनकी भाषा भी बदलती रहती है। ग्राम की स्त्रियाँ जो भाषा बोलती हैं, पुरुष उससे कुछ परिमार्जित तथा पढ़े लिखे टहल, सनेही, देशराज आदि लोग संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से करते हैं।

इस बार प्रकृति वर्णन में कलात्मकता है। पिछले उपन्यासों की यह कमी किसी हद तक वर्मा जी ने दूर करदी है।

पात्रों के रेखा-चित्र—रेखा-चित्रण में वर्मा जी बड़े पटु हैं। एक फ़ैशनेबल युवती का चित्र देखिए—

"युवती गोरी, अनारी, परम रूपवती है। बाल वेपरवाही के साथ बिखरे हुए भी अपने ढङ्ग के कलाप में जैसे। ओंठ लिपस्टिक से पुते न होने पर भी भरी हुई लाली में। साड़ी बहुमूल्य रेशमी। वेश भूषा चटकदार रंगों से सजी हुई। छोटे छपकोंदार लाल जिमीन वाली चोली पर बुन्दकियों वाली हरी चमचम साड़ी।"

वर्माजी का सन्देश—वर्माजी ने 'अमरबेल' नाम रूपक अर्थ में रखा है। उसका भाव है कि जमींदार और अमीर लोग उसी प्रकार गरीबों और किसानों को उन्हीं के उद्योग और कृषि से पलकर उन्हीं की शांति और सुख को नष्ट करते हैं। जिस तरह 'अमरबेल' वृक्ष पर चढ़कर उसी से पलकर उसी की हरियाली को नष्ट करती है।

वर्माजी को सिद्धान्त या वाद से बहस नहीं है। वे कार्य चाहते हैं, उन्नति चाहते हैं। वे रूढ़िवादिता को तोड़ देना चाहते हैं। उन्हें प्रगति की आकांक्षा है, सड़ी-गली परिपाटियों को मिटाने की उत्कंठा है। उनका यह संदेश डा० सनेही के मुख से निकले हुए शब्दों में निहित है—

"अपने भीतर बसे हुए किसी भी सिद्धान्त या वाद के हुक्म पर चलते रहने का अभ्यास ही विवाद या बखेड़े उत्पन्न करता है·······सबसे बड़ी और सत्यानाशी अमरबेल यही जान पड़ती है।"

ग्रामोन्नति की नींव सहकारिता ही है। लेखक का विश्वास है कि सहकारिता के द्वारा वे भौतिक सुख और आध्यात्मिक आनन्द को पाने में सफल हो सकते हैं। एक जगह सनेही कहता है—

"मेरे भीतर एक विश्वास काम कर रहा है कि अध्यात्मवाद और भौतिकवाद को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी सहकारिता ही है। यथार्थ के सिंहासन पर आदर्श की मूर्ति का स्थापन।"

साहित्यिक महत्त्व—इस तरह सभी प्रकार से यह उपन्यास उपादेय एवं सर्वाङ्ग सुन्दर जान पड़ता है। उपन्यास एक नई दिशा की ओर संकेत करता है और यह निश्चित मालूम होता है कि 'अमरबेल' हिन्दी साहित्य की युग प्रवर्तक कृति सिद्ध होगी।

(पृष्ठ १७६ का शेषांश)

क[illegible] कि यहाँ जायसी अपनी कला का श्लेषात्मक चमत्कार दिखा रहे हैं। 'नैन' शब्द का अर्थ छप्पर का छेद भी है। पाली में 'धूमनेत्त' और संस्कृत में 'धूमनेत्र' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वर्षा का पानी छप्पर के छेद में हो कर आ रहा है। बिना पति के छप्पर की छवाई कौन करा सकता है? पावस वियोगिनी के लिए वैसे ही दुःखदायी है। उस पर छप्पर का चूना तो दुःख और कष्ट को और भी बढ़ा रहा है।'

उक्त अर्थों को जान कर मेरी इच्छा हुई कि इन स्थलों को टीका में भी देखूँ। टीका के पृष्ठों में लिखी हुई व्याख्या और विशेष टिप्पणियों पर दृष्टिपात किया तो विदित हुआ कि पुस्तक में वे बातें बोधगम्य सुन्दर शैली में बड़े विस्तृत ढङ्ग से लिखी हुई हैं।

मेरा अपना ध्रुव विश्वास है कि पद्मावत की सञ्जीवनी टीका जायसी को समझने के लिए हमें नयी दिशा, नया ज्ञान और नयी आँख प्रदान करेगी। पद्मावत को समझने की अभिलाषा रखने वाला प्रत्येक छात्र सञ्जीवनी टीका को पढ़ कर डा० साहब के पाण्डित्य से प्रभावित हुए बिना न रह सकेगा और उनका आभार अवश्य ही स्वीकार करेगा। इस कृति के उपलक्ष्य में डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल हिन्दी-जगत् की हार्दिक बधाई एवं धन्यवाद के पात्र होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी-ग्रन्थावली के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में जिन प्रथम दो वाक्यों को आचार्य शुक्लजी ने लिखा था, उनकी मर्ममयी अनुभूत्यात्मक व्याख्या यदि कोई जानना चाहता है, तो उसे पद्मावत की सञ्जीवनी टीका एक बार अवश्य पढ़नी चाहिए।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत

पद्मावत की सञ्जीवनी टीका

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, साहित्य रत्न

जिस समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी-ग्रन्थावली' के प्रथम संस्करण का वक्तव्य लिखा था, तभी उसकी प्रारम्भिक शब्दावली में अपना मत पद्मावत के सम्बन्ध में उन्होंने यह दिया था—"पद्मावत हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्ध काव्यों में है। ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य और भावों की गम्भीरता की दृष्टि से यह काव्य निराला है।" जायसी की काव्यमयी प्रतिभा के विषय में उक्त शब्दावली आचार्य शुक्लजी की लेखनी से संवत् १९८१ की कृष्ण जन्म-अष्टमी को अभिव्यक्त हुई थी। इसके उपरान्त संवत् १९९२ की चैत्र-पूर्णिमा को 'जायसी-ग्रन्थावली' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। जिस समय शुक्लजी ने पद्मावत का सम्पादन किया था, उस समय उन्हें [illegible] के कुल चार संस्करण ही प्राप्त थे। शुक्लजी के मतानुसार पं० सुधाकर द्विवेदी और डॉ० ग्रियर्सन सम्पादित संस्करण ही भरोसे का था। उसको आधार मानकर और अपने विवेक का योग देकर आचार्य शुक्ल ने सर्व प्रथम जायसी की काव्य-कला को हिन्दी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया था। फिर संवत् २००८ में हिन्दुस्तानी एकेडेमी से डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' प्रकाशित हुई। इसमें पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम और महरी बाईसी सम्मिलित हैं। शुक्लजी के संस्करण में 'महरी बाईसी' नहीं है। उनके संस्करण में पद्मावत की कथा जहाँ मसनवी ढङ्ग पर विषय खण्डों में विभक्त है, वहाँ डॉ० माताप्रसादजी गुप्त के संस्करण में वह दोहा क्रमाङ्कों में बँटी हुई है।

काव्यालोचन की दृष्टि से शुक्लजी द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' और वैज्ञानिक पाठ-पद्धति के दृष्टिकोण से गुप्तजी द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' वस्तुतः चिर श्लाघ्य हैं। अतः अब एक ऐसी टीका की आवश्यकता थी जो कविवर जायसी की भाषा और काव्य-कला का मर्म समझा सके। इस अभाव की पूर्ति डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने 'पद्मावत सञ्जीवनी टीका' लिखकर कर दी है जो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी। उक्त पुस्तक में मूल और टीका दोनों साथ-साथ हैं। चौपाइयों और दोहों की विभाजन-प्रणाली समन्वयात्मक रूप में है अर्थात् शुक्लजी तथा गुप्तजी—दोनों के ही क्रमाङ्क अपनाये गये हैं ताकि पाठकों को पाठ और अर्थ के देखने में पूर्ण सुविधा रहे।

दिनाङ्क २४ जून सन् १९५५ ई० को डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल के हाथ में खुले पन्नों की दशा में मैंने 'पद्मावत' की सञ्जीवनी टीका के दर्शन किये थे। जहाँ-तहाँ दो तीन चौपाइयों और दोहों पर जो मैंने दृष्टि डाली तो अर्थ-गाम्भीर्य को देखकर मैं आश्चर्य चकित हो गया। शब्दों की व्याख्या और प्रसङ्गानुसार अर्थ-व्यञ्जना को समझने के लिए इस शब्द-मर्मी तपस्वी को न मालूम कितनी साधना करनी पड़ी होगी। हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों की टीकाओं में, मैं 'बिहारी-रत्नाकर' और 'विनय पत्रिका पर श्री वियोगी हरि की हरितोषिणी टीका' को बहुत उपयोगी एवं विद्वत्तापूर्ण मानता हूँ, किन्तु पद्मावत की सञ्जीवनी टीका को देखकर मैं मुक्त-कण्ठ से कह सकता हूँ कि कला, संस्कृति और शब्द के प्राण एवं स्वरूप को जितनी व्यापकता तथा तथ्यपूर्ण गम्भीरता के साथ डॉ० अग्रवालजी ने प्रस्तुत किया है, वैसा आज तक किसी हिन्दी-ग्रन्थ की टीका में मुझे देखने को नहीं

मिला। जब यह पुस्तक हिन्दी के पाठकों के सामने आयेगी, तब वास्तव में पता लगेगा कि जायसी की काव्य-कला क्या थी और उस कवि का भाषा पर कितना असाधारण अधिकार था?

. भेंट के क्षणों में पुस्तक के पन्ने पलटते हुए मैंने डॉ० साहब से पूछा कि इस पुस्तक के लिखने में आपको कितना समय लगा? उत्तर में उन्होंने कहा कि इसका संकेत मैंने पुस्तक की भूमिका में कर दिया है, वैसे सन् १९३० ई० में मैंने 'पद्मावत' के कुछ अंश की टीका लिखी थी। बहुत से स्थल मेरे अध्ययन के मार्ग में ऐसे आये हैं कि वास्तविक पाठ और उसके अर्थ को जानने में मुझे कई सप्ताह लगे हैं।" यह सुनकर मैंने निवेदन किया कि मैं उन पंक्तियों में से दो एक का अर्थ जानने का अभिलाषी हूँ। मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करते हुए डॉ० साहब ने अर्थ-विषयक कठिनाइयों का सूक्ष्म-सा विवरण देते हुए मेरे समक्ष डॉ० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित जायसी ग्रन्थावली' की निम्नाङ्कित अर्द्धाली प्रस्तुत करदी।

"दसौं दाउ कै गा जो दसहरा।
पलटा सोइ नाँउँ लै महरा॥"

—पद्मावत, डा० माताप्रसाद गुप्त संस्क० ४२४/३

अर्द्धाली को पढ़कर एक जिज्ञासु के नाते मैंने सका अर्थ जानने की प्रार्थना की। डाक्टर साहब ने ा अर्थ बताया वह इस प्रकार है—

नागमती को समाचार मिल गया है कि रत्नसेन त्तौड़ के निकट आगया है। वह अपनी सखी से ती है कि जो काम-केलि के दसों दाव कर के दश- के दिन चला गया था, वही आज विचित्र सेना हेत लौटा है। "नाँउँ लै महरा" कूट प्रयोग है। रे का नाम लेकर अर्थात् ससुर का नाम लेकर टा है। नागमती के ससुर का नाम 'चित्रसेन' था। पर्य यह है कि विचित्र सेना (चित्रसेन) सहित सेन वापस आया है।

रत्नसेन के चित्तौर-आगमन-खण्ड के प्रसङ्ग में आगे पन्ने पलटते हुए मैंने निम्नाङ्कित दोहे की अर्थ-जिज्ञासा प्रकट की—

"पुहुप सुगंध संसार मनि, रूप बखानि न जाय।
हेम सेत औ गौर गाजना, जगत बात फिरि आइ॥"

—जायसी ग्रंथावली, पद्मावत, डा. गुप्त, सं. ४२६

उत्तर में डाक्टर साहब ने कहा कि यहाँ जायसी पद्मावती के रूप-गुण की प्रशंसा कर रहे हैं। इतने उत्तर से मेरी जिज्ञासा शान्त न हुई और मैं पूछने लगा कि 'हेम सेत औ गौर गाजना' का क्या अर्थ है? तब कुछ गाम्भीर्यमयी मुसकान-मुद्रा में डाक्टर साहब कहने लगे कि इन शब्दों का प्रयोग वैचित्र्य-पूर्ण है। निस्सन्देह इस कवि के पास शब्दों का जादू था। यहाँ जायसी मुहावरेदार भाषा में भौगोलिक सीमा का संकेत कर रहे हैं। काव्यगत 'जगत' शब्द की अर्थात् भारत की सीमा उस समय इस प्रकार प्रसिद्ध थी—उत्तर में 'हेम' (हिमालय), दक्षिण में 'सेत' (सेतुबन्ध रामेश्वर), पूरब में 'गौर' (गौड़=बङ्गाल) और पश्चिम में 'गाजना' (गजनी)।

भाव यह है कि हिमालय से लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर तक और बङ्गाल से लेकर गजनी तक सारी दुनिया में पद्मावती की रूप-प्रसिद्धि फैल गयी है। इस अर्थ को जान कर मेरी प्रसन्नता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैं मन ही मन डाक्टर साहब के गहन अध्ययन और पाण्डित्य की अभिनन्दना करने लगा।

कुछ मिनट पद्मावत के पाठ-भेदों पर चर्चा चलती रही, फिर नागमती की वियोग-गाथा का प्रसङ्ग कहते हुए मैंने जायसी की निम्नाङ्कित अर्द्धाली में पूछा कि जायसी ने घर में नयन चूने की बात लिख कर यहाँ क्या कवित्व दिखाया है—

"बरसहिं नैन चुअहिं घर माहीं।
तुम्ह बिनु कन्त न छाजन छाँहाँ॥"

—(पद्मावत, डा० गुप्त संस्क० ३५६/६)

उक्त अर्द्धाली का अर्थ बताते हुए डा० साहब ने

(शेष पृष्ठ १७४ पर देखिए)

आधुनिक संसार को रवीन्द्र की देन

श्री नन्दन झा 'चाँद'

जब आधुनिक संसार का महान् नाटककार बर्नार्ड शा चल बसा, तो संसार के महान् साहित्यिकों ने कहा—"आज विश्व का सबसे महान् नाटककार उठ गया।" हमारे कवीन्द्र रवीन्द्र ने जब विश्व का परित्याग किया तो निःसंकोच वे साहित्यिक कह उठे थे—"विश्व का सबसे बड़ा कवि आज हमारे बीच नहीं।"

निःसन्देह, विश्व-कवि रवीन्द्र की कृतियाँ आधुनिक युग की महान् देन है और उन कृतियों के भार से विश्व कभी भी उऋृण नहीं हो सकता। जब तक संसार में शेक्सपियर के 'मरचेण्ट आफ वेनिस', गोर्की का 'माँ', कृष्ण की 'गीता', वाल्मीकि की 'रामायण' और कालिदास की 'शकुन्तला' जीवित रहेगी, तब तक रवि की गीताञ्जलि के मधुमय सङ्गीत गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से लेकर नङ्गी झोपड़ियों में गूँज कर विश्व-सुन्दरी मानवता को त्राण देती रहेगी।

विश्व में कवि की देन अमर है जब कवि किशोरावस्था में ही था तो 'भारती' में उनकी प्रकाशित एक कविता पर श्री देवेन्द्रनाथ ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और शायद कवि की यही पहली रचना थी, जो संसार के सम्मुख आई। इस तरह कवि की भावना प्रतिदिन मुखरित होने लगी और कवि साहित्य की ओर बढ़े। उनकी कवितायें, रुद्रचन्द और 'सांध्य-सङ्गीत' के नाम से प्रकाशित हुईं जिन्हें पढ़कर श्री बंकिमचन्द्र ने अपने गले की माला उस सभा में उपस्थित कवि के गले में डाल दी। कवि के लिये यह सम्मान उस तरुणावस्था में कितना महान् था! इस तरह से कवि प्रौढ़ होता गया और उनकी कृतियों में दार्शनिकता और व्यक्तित्व की छाप मिलने लगी।

हमारे रवि कोरे कवि ही नहीं थे, अपितु वे एक नाटककार, कहानीकार, शब्द-चित्रकार एवं उपन्यासकार के रूप में भी साहित्य-जगत में आये। उनके प्रसिद्ध और अमर उपन्यास—दुईबोन, मालञ्च, नौका डूबी, बोयदी और अन्तिम कविता, जिसका कि हिन्दी-भाषानुवाद—दो बहन, फुलवाड़ी, उलझन, भाभी और आखिरी कविता के नाम से हो चुका है, साहित्य-जगत में आकर उथल-पुथल मचा चुके हैं। फुलवाड़ी एवं नौका डूबी तो चित्रपट पर भी चमक चुके हैं।

यद्यपि नौका डूबी और फुलवाड़ी कवि के महान् उपन्यास हैं, लेकिन 'भाभी' जो बहुत ही छोटा उपन्यास है मुझे बहुत भाया। चारुलता और अमल का चरित्र-चित्रण इस उपन्यास में पूर्णरूपेण निखर आया है। भाभी के रूप में चारु और देवर के रूप में अमल इन सम्बन्धों के प्रतीक हैं। चारु की रचना सुनने के लिये अमल और अमल की रचना सुनने के लिये चारु व्यग्र रहती है और अन्त में जब अमल कानून पढ़ने के लिये विलायत जाता है तो भाभी का अमल के लिये चिर-सञ्चित प्रेम अश्रु के रूप में निकल पड़ता है। लेकिन बीच में सन्देह का जो आवरण पैदा हुआ था वह दोनों भाभी देवर की तरफ से साफ नहीं होता। वास्तविकता का सजीव चित्र हमें भाभी में मिलता है। चारु के पति का चित्रण एक सामान्य-व्यक्ति की तरह किया गया है जो गार्हस्थ्य-जीवन से पूर्णतया अनभिज्ञ है। मन्दाकिनी और उसके पति का चित्रण स्वार्थी लोगों के द्योतक हैं। भाभी छोटा और सजीव उपन्यास है।

रवीन्द्र ने इतनी कहानियाँ लिखी हैं—जिनका कोई हिसाब नहीं। अधिनेता, अनाधिकार-प्रवेश, अध्यापक, अपरिमिता, असम्भव बात, उद्धार, उलट-फेर, एकटि छोट पुरनो गल्प, एकटि चावनि, एकटि आषाढ़े गल्प, एक रात्रि, कंकाल, कर्म-फल, कहानी, दर्पहरण, काबुलिवाला, घाटेरकथा, रवी का बाबूर

प्रत्यावर्तन, छुटि, जय-पराजय, डिक्टेटिव, त्याग, दालिया, मध्यवर्त्तिनी, दुराशा, गिन्नि, जीवित ओ मृत, दिदि, आवरण, ताराप्रशन्नेर कीर्त्ति, देना-पावना, दृष्टिदान, निशीथे, आपद, पोस्ट मास्टर, क्षुधित-पाषाण प्राण-मन, व्यवधान, प्रतिहिंसा, बदलीर दिन, पुत्र-यज्ञ, दान-प्रतिदान, मणिहारा, महाभाषा, मुक्तिर-उपाय, समाप्ति, सम्पत्ति-समर्पण, सम्पादक, सुभा, सौगात, समाधान, स्वर्णमृत, शुभदृष्टि आदि रवि की प्रचलित कहानियाँ और लिपियाँ हैं।

'शुभदृष्टि' में सुधा एक सुन्दर युवती है, लेकिन रूप रहते हुये भी वह गूँगी और बहरी है। कान्तिचन्द्र उसके रूप पर मोहित हो जाता है और उसकी लालसा में उसकी शादी दूसरी नारी से हो जाती है। लेकिन कान्तिचन्द्र जब जानता है कि उसकी पत्नी अथवा वह नारी बहरी और गूँगी है तो उसका प्यार स्वभावतः उसकी ओर उन्मुख हो जाता है। गुण ही सर्वेसर्वा और रूप क्षणमात्र है, यही हमें इस कहानी में मिलता है। गुण को न चाहने वाले और रूप को प्यार करने वालों के लिये यह एक शिक्षा है।

'दिदि' एक सुन्दर कहानी है। कुरूप भाई के लिये भी एक बहन का प्यार क्या हो सकता है—इसी का निरूपण इसमें किया गया है। माता-पिता के अभाव में भाई को बहन का प्यार मिलना नितान्त आवश्यक है—यही हम इस कहानी में पाते हैं। शशी का प्यार अपने भाई के लिये ऐसा ही था।

कंकाल, काबुलिवाला, छुटि आदि भी उत्कृष्ट रचनायें हैं। रवि ने अपनी लिपियों में उड़ते हुये बादल, बरसती हुई फुहियों, लहलहाते हुये खेतों, चहकते हुये विहगों और पुष्पलताओं की कहानियाँ कही हैं और प्राकृतिक सुषमाओं का अम्बार सा बिछा दिया है। कल्पना-लोक में विचरण करने वाले इस विहङ्ग की उड़ान अति ही उच्च है। कवि की सारी अनुभूतियाँ उनकी रचनाओं में केन्द्रित हो बिखरी पड़ी हैं। कवि ने संवारा, सजाया और उत्कृष्ट बनाया। कवि ने शिशिर, हेमन्त, बसन्त, पतझड़ और वर्षा पर भी गीत लिखे हैं। विजन बन के पत्तों में भी उन्हें रहस्यमय सङ्गीत का आभास होता था। तभी वे गा उठते थे :—

"एकि आकुलाते जीवने, एकि चञ्चलता पवने,
एकि मधुर मन्दिर रसरसि, आजि शून्यतले चले भासि।

इसके अतिरिक्त बसन्त के और गीत देखिये:—

"अहो वधु सुन्दरी, तुम मधु मञ्जरी,
पुलकित चम्पा, गहो अभिनन्दन,
पल्लव पाते, फाल्गुन राते"
"मुकुलित मल्लिका, माल्य-निबन्धन,
गहो अभिनंदन।"

इसके अतिरिक्त कवि और गा उठता है—

"कौन स्वर बजि बीणा मेरी,
चञ्चल विफल छन्दे।
मेरा अन्तर, अविकल झंकृत।
जन-जग हृदय-स्पन्दे।"

बसन्त का इतना सजीव चित्र शायद ही अन्यत्र पाया जा सकता हो। काव्य के प्रायः क्या सभी गुण उपस्थित हैं इन पंक्तियों में।

रोम्यां रोला, पर्लबर्क और यीट्स की अमर-कृतियों के समक्ष रवि की गीताञ्जलि का क्या कहना! संसार आश्चर्यचकित हो गीताञ्जलि का भावानुवाद अँग्रेजी, जर्मनी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, जापानी, फ्रेंच आदि में देखने लगा। गीताञ्जलि ने संसार के दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित कर लिया। गीताञ्जलि संसार का महान् अमर काव्य है, जिस पर विश्व का साहित्य गर्व करता है।

गीताञ्जलि का कुछ भावानुवाद हिन्दी में दिया जाता है। गीताञ्जलि के "जब रङ्गीन खिलौने लाता" में कवि कहता है :—

"जब मैं तुम्हें 'हँसाते' प्यारे,
मुख का चुम्बन करता,
निश्चय जानूँ प्रात-ज्योति से,
क्या आनन्द बरसता।

गीताञ्जलि के 'उससे निजन सारि तीर' में कवि गाता है—

"उसने उठा काले नयन,
देखा मुझे क्षण सोचकर"
बोली—"गगन को भेंट करने,
दीप आई हूँ इधर।"

"काश गुच्छ को बाँध" गीताञ्जलि का हृदयस्पर्शी स्थल है। कवि कहता है :—

"आओ आओ शारद लक्ष्मी, शुभ्र मेघ के रथ से,
निर्मल नीले पथ से; ज्योतित ! श्याम-शुभ्र पर्वत से।"

अतएव गीताञ्जलि के अतिरिक्त कवि की अभिलाषा, अभिशाप, ग्रस्त विदा, कय-देवयानी, वासवदत्ता, अरूप रतन, कर्ण-कुन्ती संवाद, जन-गण-मन-अधिनायक, दुःखमय, देवता का ग्रास, निर्झर का स्वप्न-भंग, न्याय-दण्ड, मुक्त चैतन्य, सूरदास की प्रार्थना, होली आदि अमूल्य कवितायें हैं। 'जन-गन-मन' हमारा राष्ट्रीय गीत है। गुरुवर गांधी को यही गीत सुना कर वे मुक्त कर देते थे। वङ्किम की 'वन्दे-मातरम' एवं रवि की 'जन-गन-मन' आज कोटि-कोटि के हृदयों में लहरों की उत्पत्ति कर रही होगी या है। मन्दिर-मस्जिद की दीवारों के मध्य भी कभी-कभी हम इसीलिए एकाएक गुनगुना उठते हैं—

जन-गन-मन अधिनायक जय हे…………

रवि ने जब-तब निबन्ध पर भी कलम चलाई है। साहित्य के उपर्युक्त अङ्ग को भी स्पर्श किया है रवि ने। उनके प्रमुख निबन्धों में—गान्धीजी, आवरण, तपोवन, पाप के खिलाफ़, पुस्तकालयों का मुख्य आदर्श (कर्त्तव्य), महात्मा का प्रणय मत, महात्मा गांधीजी, राष्ट्र की पहली पूँजी, व्रत-उद्यापन, शिक्षा का विकीरण, साहित्य-धर्म, हिन्दू-मुसलमान आदि मुख्य हैं।

रवि की रचनाओं को विश्व में आदर दिया गया। जर्मन भाषा में इनकी अनुवादित पुस्तकों की जर्मनी में इतनी अधिक विक्री हुई कि यदि जर्मनी के सिक्के मार्क की दर गिर न गई होती तो उन अनुवादित पुस्तकों की विक्री से रवीन्द्र को लाखों रुपये की आय होती। उनकी अनुवादित पुस्तक 'साधना' की ५० हजार प्रतियाँ सिर्फ तीन सप्ताह में बिकी थीं। मैं तो समझता हूँ उनकी रचना की महत्ता सिर्फ इसी एक उदाहरण से ज्ञात हो जाती है।

जहाँ तक हो सका—मैंने इस छोटी वाक्य-माला में कवि की मूल रचना को गूँथने की कोशिश की है और जहाँ नहीं मिली, वहाँ हिन्दी भाषानुवाद रखा है।

विश्व-कवि की 'विश्व-भारती' संसार की अच्छे शिक्षण-संस्थाओं में एक है। जापान, वर्मा, हिन्द-चीन के छात्र यहाँ शिक्षण के लिए आते हैं। कला की पूर्ण प्रतीक है यह संस्था।

कवि ने संसार को यह देन देकर उन्नति एवं उच्चता की अत्युत्तम एवं उच्चतम शिखर पर आरूढ़ करने का भरसक सफल प्रयास किया है—इसे कोई भी महान् साहित्यिक अस्वीकार नहीं कर सकता।

कवि की चित्रकला संसार के अच्छे-अच्छे चित्र समूहों (Art galleries) में रखी हुई है। क्या यह देन तुच्छ है ?

कवि स्वयं अभिनेता थे। वाल्मीकि की भूमिका में वे एक सफल अभिनेता प्रमाणित हुए। बङ्गाल में सङ्गीत और नाटक कवि नाटककार बनता है और काल की यात्रा, अरूधर, नन्दिनी, बाँसुरी, विसर्जन आदि की रचना कर हृदय को आनन्द से उद्वेलित कर देता है।

कविता और काव्य तो कवि का अपना क्षेत्र है। विश्व-साहित्य में तो रवि कवि के रूप में ही अवतरित हुआ है। संसार की सारी कल्पनाओं को समेट कर आज हिन्दी कवि—पन्त, निराला, महादेवी, गुप्त, दिनकर, द्विज, अंचल और प्रभात जो रचनायें कर रहे हैं। वे भी रवि की कविताओं के समकक्ष नहीं हैं। पन्त ने तो खुले शब्दों में रवि को अपना पथ-प्रदर्शक माना है। अतएव रवि की कवितायें अतुलनीय और

आदरणीय हैं। इधर सौ वर्षों में विश्व ने किसी भी ऐसे कवि को जन्म नहीं दिया जो रवि के जोड़ का हो।

इसलिए तो विश्व-कवि गुरु रवीन्द्र की महिमा पाश्चात्य जगत ने भी खुल कर गाई। फ्रान्स ने साहित्य-जगत के इस चमकते हुए सितारे को पेरिस में आमन्त्रित कर अभिनन्दन किया और वहाँ के प्रख्यात विद्वान सित्वां लेवी ने जिन शब्दों में इनका स्वागत किया—शायद किसी अन्य साहित्यिक का उन शब्दों में स्वागत नहीं हुआ होगा। उस विद्वान ने बड़े गर्व के साथ और बहुत विचार कर कहा था कि—"बुद्ध, व्यास, वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, तुलसीदास, सूरदास के रूप में जो भारतीय प्रतिभा समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है वह जाज्वल्यमान भारतीय आत्मा का सम्मिलन होकर रवि के रूप में प्रकट हुई है।" किसी के सम्मान में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

काव्य की रचना कर काव्य जगत में रवि बाबू ने हलचल मचादी। "अज तोमार बाजे वांशि" में कवि की भावना कितनी सजीव है कवि का हृदय गाता है—

"से झड़ येन सई आनन्दे; चित्त वीणार तारे;
सप्तसिन्धु दश दिगन्त, नाचाओ जे झंकारे।"

"उड़िये ध्वजा अग्रभेदी रथे" कवि की प्रचलित रचना है। कविता का भाव कितना सुन्दर है। कवि की भावना निकल पड़ती है:—

"उड़िये ध्वजा अग्रभेदी रथे,
ओर जेतिन, ओई जे बाहिर पथे।
आयरे छुटे, टानते हषे शशि,
छरेर कोने रोहलि कोथाय बसि।
भिड़ेर मध्ये झाँपिये पड़े गिये,
ठांई कोरे तुई ने रे को ने मते।"

प्रकृति का अग्रदूत था। प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग का द्वार रवीन्द्र ने ही खोला और यह कार्य देश के लिए महान देन प्रमाणित हुआ। रवि की प्रतिभा बहुमुखी थी, तभी तो कवि को आदर मिला—यश प्राप्त हुआ।

एक कवि ने रवि के विषय में कहा है:—

ओ शान्ति-क्रान्ति के अग्रदूत, जन-गण-मन वरद-पुत्र
झंकृत करदो जन-मन-वीणा, गीताञ्जलि के झंकारों से,
समझा दो मूर्ख जनों को, है व्यर्थ खेल तलवारों से।"

निःसन्देह इन पंक्तियों का अन्तः अर्थ विश्व का कोई भी मानव यदि समझ लेता है तो शान्ति-सुन्दरी फिर क्यों रोये? वह तो खुशी में नाचेगी, मानवता रूपी सादे लिवासों में वह विश्व के हर मानव को आकर्षित करती रहे। किस तरह विश्व के एक-एक मानव के अन्तः हृदय में प्रवेश कर गये थे वे और उनकी अनुभूतियों की क्या सच्ची परख थी इन्हें! भाषा कितनी सहज और काव्य गुणों से परिपूर्ण है शब्दों का सञ्चयन और भावों का गुम्फन इस कलात्मकता से जुड़ा है। इनकी पंक्तियों में मानों कड़ी से कड़ी लिपटी हुई हो। भाव की उच्चता को समझना टेढ़ी खीर है, पर समझ जाने पर जीवन की सारी आकांक्षाएँ सुप्त हो जाती हैं, मर ही जाती हैं—समझिये। स्वर बड़े ही मोहक तथा प्रभावोत्पादक है।

गुरुवर रवीन्द्र की देन संसार के इतिहासों के पन्नों पर अमूल्य हीरे से अङ्कित रहेगी, जब तक साहित्य रहेगा, रवि! रवि के तुल्य रहेगा? जब तक कला रहेगी, कलाकार रवि रहेगा। जब तक राजनीति और शान्ति रहेगी, तब तक राजनीतिज्ञ और शान्ति प्रिय रवि रहेगा। एतदर्थ, चाँद-सितारों की तरह रवि देदीप्यमान रहेगा विश्व के साहित्याकाश में। अन्त में इनके विषय की कुछ भी सोचना तो चाँद को मुट्ठी में पकड़ने के बराबर है। फिर भी रवि की देन संसार में अमर एवं अद्वितीय है और रवि कवि नहीं रवि था जो आलोक प्रदान कर चला गया।

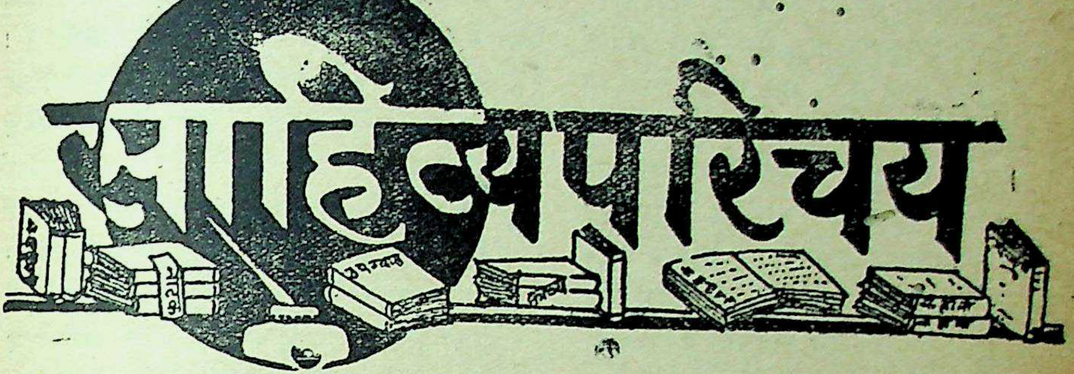

आलोचना

✓**काव्य-धारा**—सम्पा०—श्री शिवदानसिंह चौहान तथा गोपालकृष्ण कौल, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । पृष्ठ २१२, मूल्य ६)

आजकल एक आदमी की कृति की अपेक्षा संग्रह-ग्रन्थों का चलन बढ़ गया है। पहले 'नई कविता' नाम से एक पुस्तक-पत्रिका निकली थी, अब 'काव्य-धारा' ने दर्शन दिये हैं। स्फुट रूप से लिखी हुई भिन्न-भिन्न कवियों की कविताओं को एक संग्रह-रूप में गूँथने का यह अच्छा ढङ्ग है। इसमें जो गद्य लेख भूमिका के रूप में लिखे गये हैं, उनमें डाक्टर रामकुमार वर्मा के लेख को छोड़ कर, जो कुछ वैयक्तिक हैं, सब कविता की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। सम्पादक द्वय के विचार बड़े संयत और सन्तुलित हैं। वे जनता द्वारा नई कविता के न समझे जाने का दायित्व कवि पर अधिक रखते हैं और कविता के लिए उसकी वस्तु और रूप को बराबर महत्त्व देते हैं। वे कविता को किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न बनाकर जन समुदाय, जिसमें सभी वर्ग के लोग शामिल हों, उपभोग की वस्तु बनाना चाहते हैं। सम्पादकों तथा अन्य लेखकों के वक्तव्य पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि प्रयोगवाद के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई है, केवल बालकृष्ण शर्मा नवीन ने नई कविता को आशीर्वाद दिया है। वे हैं भी तो चिर-नवीन ! स्वयं प्रयोगवादी अपनी काव्यवस्तु के सम्बन्ध में इतने उच्छृङ्खल नहीं हैं जितने पहले थे और उनका कलापक्ष भी अपेक्षाकृत अधिक संयत है यद्यपि उसमें पुरानी प्रवृत्तियों की ललक मौजूद है।

इस संग्रह में सभी काँटे और टाइप के कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा नवीन, जैसे पुराने खेवे के कवियों के साथ सर्व श्री नागार्जुन, गजानन माधव, मुक्तिबोध, शमसेर बहादुरसिंह, ठाकुर प्रसादसिंह, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र आदि कन्धे से कन्धा मिलाये बैठे हैं। इन कविताओं में रागात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता अधिक है। उसी के प्रति डाक्टर नगेन्द्र का आक्रोश है। नवीनजी की कविता 'रहस्योद्घाटन' अधिक दार्शनिक और विज्ञान-परक हो गई है। उसके पक्ष में यही कहा जा सकता है कि उसमें मनुष्य की अभौतिकता की भावमयी अभिव्यञ्जना है। मैं कविता में चिन्तन का विरोधी नहीं हूँ किन्तु उसमें चिन्ता के साथ एक उल्लास भी चाहिए। प्रयोगवादी कवियों में कुछ का, जैसे—भवानीप्रसाद मिश्र, शम्भूनाथसिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का स्वर तारसप्तक के स्वरों से मिला हुआ है ही। चलन से बाहर की उपमाएँ और रूपक जैसे चन्द्र के लिए आर्ड पेपर का कटा हुआ कोना, व[illegible]-रीट-चेतना, नये व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोग जैसे सप्तमी

का प्रयोग, भाषाओं का मिश्रण, कहीं-कहीं उलूक, शृगाल की वीभत्सता के दृश्य दिखाई देते हैं, और कुछ में जैसे गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल आदि में अधिक संयम और तारतम्य है। व्यंग्य भी दोनों प्रकार के हैं, कुछ करुणात्मक हैं, जैसे नागार्जुन की 'तालाब की मछलियाँ' जिनकी स्थिति कुछ-कुछ भारतीय नारी की-सी है और कुछ शुद्ध विनोदात्मक हैं, जैसे गोपालप्रसाद व्यास द्वारा लिखित 'छेड़ करता हूँ मैं' में प्रयोगवाद का सुन्दर परिहासमय चित्र उपस्थित किया गया है। इन कविताओं में विषय का सुखद वैविध्य है और प्रयोग भी नये हैं। नई कविता में भाषा और छन्द के साथ चाहे ताण्डव-नृत्य खेला गया हो किन्तु विषय के सम्बन्ध में नितान्त-अकाण्डता नहीं है। भारतभूषण अग्रवाल की 'कफन का कवच' शीर्षक कविता में एक स्वस्थ जीवन-दर्शन है। यह संग्रह उदार दृष्टिकोण से किया गया है, इसमें जनवाणी की, जैसे अवधी, राजस्थानी, पञ्जाबी, उर्दू आदि की भी उपेक्षा नहीं की गई है।

सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन—लेखक—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना। पृष्ठ ५३६, बड़ा आकार, मू० १४)

सन्त परम्परा में दरिया साहब एक अच्छे साधक और कवि हो गए हैं। वे सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में जन्मे थे और अठारहवीं शताब्दी की उनकी रचना है। डा० धर्मेन्द्र ने उनकी रचना पर बड़े विस्तार से यह आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। इससे प्रकट होता है कि सन्त साहित्य पर उनका अध्ययन बड़ा विशद और गम्भीर है। इस ग्रन्थ में आपने दरियासाहब की जीवनी पर और उनके समय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। दरियासाहब के प्रचारित ग्रन्थ का भी परिचय दिया है। उनकी रचनाओं की विस्तृत आलोचना भी प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में दरियासाहब के दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे खण्ड में उनकी रचना-कवित्व की आलोचना करते हुए उनका कबीर और तुलसी आदि दूसरे कवियों से सन्तुलन भी किया है। ग्रन्थ के चौथे खण्ड में भाषा की चर्चा और पाँचवें खण्ड में रचनाओं के उद्धरण तथा परिशिष्ट आदि हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ दरियासाहब के अध्ययन के लिए ही नहीं, सन्त साहित्य के अध्ययन में भी यथेष्ट सहायक होगा।

कबीर व जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन—ले—डा० गोविन्द त्रिगुणायत। प्रकाशक—साहित्य-सदन, देहरादून। पृष्ठ २४५, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक के समय-समय पर दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। लेखक ने भाषणपरक अङ्गों को काट-छाँट कर उन्हें विस्तृत विवेचनात्मक निबन्धों का रूप दे दिया है।

लेखक ने भूमिका में ५१ पृष्ठों में रहस्यवाद की पार्श्व भूमि उपस्थित की है, जिसमें प्राचीन भारतीय रहस्यवादी धाराओं का परिचय दिया गया है, यथा वैदिक रहस्यवाद, तान्त्रिक रहस्यवाद, योग-मूलक रहस्यवाद आदि।

शैव व शाक्त तन्त्रों के सम्बन्ध में अभी और अध्ययन की आवश्यकता स्वयं लेखक ने अनुभव की है। फिर भी लेखक ने कम से कम विदेशी लेखकों के सहारे अपनी जानकारी का अच्छा प्रदर्शन किया है। सूफी रहस्यवाद पर उतना अच्छा प्रकाश नहीं पड़ सका। लेखक विवाद से बचता है और पूर्वलिखित विवेचन की कहीं भी परीक्षा नहीं करता। यथा रहस्यवाद के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल के निर्णय अधूरे हैं। चन्द्रवली पाँडेय ने सूफीमत को अपनी दृष्टि से—जिसमें अभी सभ्यता को महानतम मानने का विश्वास है, देखा है। सूफीमत पर लिखते समय तटस्थ रहने की आवश्यकता है। इसी प्रकार रहस्यवाद को सामाजिक परिस्थितियों में रख कर अध्ययन नहीं किया गया। कबीर व जायसी के रहस्यवाद के विवेचन में भी यही दोष खटकता है। कबीर के रहस्यवाद का विवेचन ११६ पृष्ठों में किया गया है। (१) अनुभूति मूलक, (२) यौगिक, (३) अभिव्यक्ति

मूलक—इन तीन भागों में रहस्यवाद को बाँट लिया गया है।

जायसी के दृष्टिकोण को निर्भ्रान्त रूप से लेखक नहीं समझ सका। पद्मावती को बुद्धि व ब्रह्म दोनों रूपों में जायसी ने ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में गीता के बुद्धि योग का जायसी पर प्रभाव न दिखला कर साम्य खोजना चाहिये था। इसी प्रकार पद्मावत के प्रतीकात्मक अर्थ के समझने में लेखक को उलझन हुई है। शायद जायसी के बाद पण्डितों ने पद्मावत को प्रतीकात्मक अर्थ में ग्रहण किया है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के मत से "तन चितउर मन राजा कीन्हा" आदि चौपाइयाँ बाद में जोड़ दी गई हैं। तसव्वुफ के सम्बन्ध में लेखक ने पर्याप्त श्रम किया है पर जायसी में उसके प्रयोग का रूप सम्यकरूपेण विवेचित नहीं हो पाया। कबीर व जायसी के रहस्यवाद की तुलना सतही तौर पर करदी गई है। फिर भी अब तक प्राप्त सामग्री के प्रकाश में कबीर व जायसी की रहस्यवादी साधनाओं का परिचय प्राप्त करने के लिये यह पुस्तक पठनीय है।

'मेरे निबन्ध' (जीवन और जगत्)—लेखक– श्री गुलाबराय एम० ए०, प्रकाशक–गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा। पृष्ठ २३३, मूल्य ५)

'मेरे निबन्ध' बाबू गुलाबरायजी द्वारा समय समय पर लिखित व प्रकाशित निबन्धों का संग्रह है। बाबूजी के अनुसार ये निबन्ध सृजन की अदम्य आवश्यकता के परिणाम हैं, जठराग्नि की पूर्ति के लिए उन्होंने ये निबन्ध नहीं लिखे। निबन्धों को वैयक्तिक, व्यापार सम्बन्धी, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक तथा साँस्कृतिक इन स्तम्भों में विभाजित किया गया है। कुल निबन्धों की संख्या २८ है। इन निबन्धों में वैयक्तिक निबन्ध अत्यधिक मनोरञ्जक हैं, यद्यपि अन्य निबन्धों में भी हास्य का तत्त्व बराबर मिलता है, परन्तु अन्य निबन्धों में हास्य का सृजन मुख्य उद्देश्य न होकर ज्ञान वृद्धि का साधक है। बाबूजी का कथन है कि आज का साहित्यकार साहित्यिक क्षेत्र को छोड़कर जीवन के अन्य क्षेत्रों पर नहीं लिखता, इससे अच्छे साहित्यिकों से भी सामान्य पाठक लाभान्वित नहीं हो पाते। उदाहरण के लिए व्यापार, राजनीति, संस्कृति आदि जीवन के विभिन्न अङ्ग हैं परन्तु साहित्यिक इन क्षेत्रों को, इनके विशेषज्ञों के लिए ही छोड़ देता है, परन्तु बाबूजी ने यह दिखाया है कि किस प्रकार एक साहित्यिक इन विषयों में भी लिखते समय अपनी चिंतन-अनुभूति तथा कल्पनाशक्ति के बल पर जान डाल सकता है। अतः नीरस अर्थ-शास्त्र, कॉमर्स आदि विषयों पर शास्त्रीय पद्धति से लिखे गए निबन्धों को पाठक चाहे न पढ़ना चाहे परन्तु बाबूजी के व्यापार, राजनीति आदि विषयों पर निबन्धों को वह एक ही साँस में पढ़ डालेगा—इतनी रोचकता इन निबन्धों में भर दी गई है। बाबूजी का कथन है कि राष्ट्रीय व सांस्कृतिक विषयों पर उनके निबन्धों के पीछे उनके हृदय की भावुकता, राष्ट्र-प्रेम व समन्वय की भावना छिपी हुई है और वह है भी। किन्तु शैली की वक्रता, रोचकता और व्यञ्जना शक्ति के होते हुए भी उसमें साहित्यिक-दम्भ नहीं मिलता, इसीलिए ये निबन्ध इतने आकर्षक हो सके हैं। वैयक्तिक निबन्ध तो बहुत अधिक मनोरञ्जक है, बिना हँसे आप रह ही नहीं सकते। हास्य ऐसा कि जिससे लेख की सहृदयता, सहजता, नम्रता व शालीनता के साथ साथ उसकी शैली की विशेषता को देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। 'आत्म-विश्लेषण' 'नापिताचार्य' 'मेरा मकान' ऐसे ही निबन्ध हैं। आलोचकों ने बाबूजी की आलोचना से इन निबन्धों को अधिक पसन्द किया है। यद्यपि कुछ विचारक इसके विपरीत भी सोचते हैं। वास्तविकता यह है कि आलोचना लिखते समय भी बाबूजी का निबन्धकार का रूप लुप्त नहीं होता, गम्भीर से गम्भीर शास्त्रीय विषयों पर लिखते समय बीच बीच में हास्य का पुट वे बराबर देते रहते हैं। और वैयक्तिक निबन्धों में भी उनका आलोचक रूप, उनके उद्धरणों व नाना उल्लेखों व प्रसंगों में बराबर प्रस्तुत रहता है। हम बाबूजी के

इन रोचक निबन्धों को पढ़कर उन्हें हार्दिक बधाई दिये बिना नहीं रह सकते।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

हिन्दी के प्राचीन कवि (समीक्षा)—लेखक–श्री पुष्पा गुप्त तथा हरिशङ्कर गुप्ता एम० ए०, प्रकाशक–एकेडेमिक पब्लिशर्स गांधी मार्ग, आगरा। पृष्ठ १०८, मूल्य १॥)

इस पुस्तक में चन्द, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, नन्ददास, मीरा, रहीम, रसखान के ऊपर संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित आलोचनाएँ हैं। लेखकों का ध्यान विद्यार्थियों की आवश्यकता पर रहा है। चन्द, रसखान आदि जो परीक्षा की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण हैं उन पर निबन्ध बहुत ही संक्षिप्त हैं।

रश्मिरथी (समीक्षा)—लेखक–श्री प्रताप साहित्यालङ्कार, प्रकाशक–भारती प्रकाशन, भागलपुर। पृष्ठ १३६, मूल्य २)

'दिनकर' की 'रश्मिरथी' नामक रचना का इस पुस्तक में विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'रश्मिरथी' के अतिरिक्त कवि का अन्य रचनाओं में जो स्वरूप रहा है, उस पर भी प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से "दिनकर की काव्य प्रवृत्ति", "सृजन प्रेरणा और युग चेतना" अध्याय महत्त्वपूर्ण हैं। 'रश्मिरथी' पर कथावस्तु, भावपक्ष, चरित्रचित्रण, कलापक्ष आदि प्रत्येक दृष्टि से विचार किया गया है।

कविता

मधुमालिका—रचयिता–श्री सुरेन्द्रप्रसाद 'तरुण' प्रकाशक–मगध सांस्कृतिक-सङ्घ, पो० राजगृह, जिला पटना। पृष्ठ ४८, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में कवि की तीस स्फुट कवितायें संग्रहीत हैं। कवितायें किसी 'वाद' विशेष को दृष्टिकोण में रखकर नहीं लिखी गयी हैं। उनमें स्वाभाविकता एवं प्रवाह है। काव्य की भाषा प्रांजल एवं स्पष्ट है। मगधराज की कामिनी सो रही है', 'नवउषा सुहागिनी', 'हो उठे हैं प्राण पागल' कविताएँ सुन्दर हैं। निराशपूर्ण कविताओं में भी आशा की किरणें ज्ञात होती हैं।

—शि० प्र० लोहानी

कदम-कदम बढ़ाये जा—लेखक–श्री गोपालप्रसाद व्यास, प्रका०–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६। पृष्ठ ७३, मूल्य १।)

उपर्युक्त खण्ड-काव्य हास्य-रस के लोकप्रिय कवि श्री गोपालप्रसाद व्यास ने आजाद-हिन्द-फौज और सुभाष की गौरव-गाथा पर लिखी है। प्रारम्भ में प्रताप, शिवाजी, १८५७ के वीर, नेताजी, भारत देश, आजाद-हिन्द-सेना, तिरंगे-झण्डे, और राष्ट्र-सिपाहियों का अभिनन्दन किया गया है; तत्पश्चात् कथा प्रारम्भ होती है जो आजाद-हिन्द-फौज पर चलाये गये मुकदमे एवं उसकी मुक्ति तक की प्रमुख घटनाओं को लिए हुए है। 'नेताजी का तुलादान' प्रसङ्ग प्रस्तुत काव्य का सबसे प्रभावशाली खण्ड है। कवि कहता है—

कोने में तभी सिसकियों की, देखा आवाज सुनाई दी।
कप्तान लक्ष्मी लिए एक, तरुणी के साथ दिखाई दी।
उसका जूड़ा था खुलाहुआ, आँखें सूजी थीं लाल-लाल!
इसके पति को युद्ध-स्थल में, कल निगलगया था कठिन काल
नेताजी ने टोपी उतार, उस महिला का सम्मान किया।
जिसने अपने प्यारे पति को, आजादी पर कुर्बान किया।
महिला के कंपित हाथों से, पलड़े में शीशफूल आया!
सौभाग्य-चिह्न के आते ही काँटा सहमा, कुछ थर्राया!
दर्शक जनता की आँखों में, आँसू छल-छलकर आये थे।
बाबू सुभाष ने रुद्ध कण्ठ से, यूँ कुछ बोल सुनाये थे—
'हे बहन, देवता तरसेंगे, तेरे पुनीत पद-वन्दन को।
हम भारतवासी याद रखेंगे, तेरे करुणा-क्रन्दन को।

यद्यपि सुभाष का मार्ग हिंसा का था; पर कवि को गांधीजी की अहिंसा ही आकर्षित करती है। वह सुभाष के मुख से गांधीवादी आदर्शों की महत्ता का प्रतिपादन करवाता है।

काव्य की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, जिसमें सफल ओजस्वनी व्यञ्जना हुई है।

कहानी

परिस्तान—रूपान्तरकार–श्री रघुपतिसहाय

'फिराक', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, १ फैज बाजार दिल्ली। पृष्ठ २२८, सजिल्द मूल्य ३॥)

जैकब ग्रिम और विल्हेम ग्रिम नामक दो भाइयों ने १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में २१० जर्मन कथाओं का संग्रह तैयार किया था; उसी संग्रह की केवल ३३ कहानियों का रूपान्तर प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। श्री रघुपतिसहाय 'फिराक' लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार हैं; उन्होंने बड़ी ही सुबोध और धाराप्रवाह भाषा में कहानियों का अनुवाद किया है। भाषा की सरलता पुस्तक के उद्देश्य को सफल बनाती है; क्योंकि राजा-रानी, कुत्ते-बिल्ली, चिड़िया-मेंढ़क आदि कहानियों को सुनने वाले बालक-पाठक उन्हें सुगमता से समझ सकते हैं। यदि कहानियों में आए हुए पात्रों और स्थानों के नामों का भी भारतीयकरण कर दिया जाता तो निश्चय ही बालक इन कहानियों से और आत्मीयता अनुभव करते; उदाहरणार्थ किसी रानी का नाम 'परसोमे' हो तो उसे 'पार्वती' नाम दिया जा सकता है। —प्राध्यापक महेन्द्र भटनागर

नाटक

दहेज—लेखक—श्री विट्ठलदास कोठारी, प्रका.—सरस्वती सदन, बीकानेर। पृष्ठ १४४, मूल्य २)

दहेज तीन एकाङ्की नाटकों का संग्रह है। प्रथम 'सम्बन्ध' एकाङ्की में शान्ति नामक कुमारी दहेज की चिन्ता से पीड़ित और रुग्ण पिता महेशदत्त के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अत्यधिक विकल है। दहेज प्रथा का क्रूर रूप इस एकांकी में चित्रित किया गया है। शान्ति को दहेज प्रथा के कारण अपना बलिदान देना पड़ता है। दूसरा एकांकी 'दहेज' नाम से प्रस्तुत किया गया है। कई दृश्यों में समाज सुधार का रूप चित्रित किया गया है। अन्तिम एकांकी 'बरात' बहुत मनोरञ्जक बन पड़ा है, उसमें एक कवि सम्मेलन का भी आयोजन कराया गया है। संस्कृत के श्लोकों में भी पात्र यहाँ बोलते हैं जो बहुत मनोरञ्जक हैं—

येषां न बूटं न हैटं न कोटम्
पैण्टं न पेनं न वाचं न कारम्
ते मृत्युलोके भूवि भारभूताः
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति

—वि० ना० उपाध्याय

इतिहास

सार्थवाह—लेखक—डा० मोतीचन्द्र, प्रकाशक—बिहार राष्ट्र-भाषा-परिषद्, पटना। पृष्ठ ३१०, बड़ा आकार, सजिल्द, अनेकों चित्र सहित, मूल्य ११)

बिहार राष्ट्र भाषा परिषद ने प्रायः सभी पुस्तकें बड़ी मूल्यवान और दुर्लभ प्रकाशित की हैं। प्रस्तुत पुस्तक अपने ढङ्ग की अपूर्व तो है ही, लेखक के गहन अध्ययन और खोज की भी परिचायक है। इस एक ग्रन्थ के प्रकाशन से ही राष्ट्र-भाषा परिषद धन्य हो सकती थी।

इस ग्रन्थ में प्राचीन भारत की पथ-पद्धति का विस्तार से वर्णन है। किस समय किस प्रकार की यात्राएँ होती थीं, क्या क्या साधन यात्राओं के होते थे। यात्रा के लिए क्या क्या तैयारियाँ की जाती थीं। किस समय कौन यात्री किस मार्ग से आया और कहाँ कहाँ की यात्राएँ उसने कीं—यह सब बातें बड़े रोचक ढङ्ग से सप्रमाण इस पुस्तक में लिखी गई है। इतिहास, धर्मशास्त्र और कथाओं की—विविध धर्मों की न मालूम कितनी पुस्तकें पढ़कर इस पुस्तक का प्रणयन हुआ है। अनेक सवारियों के प्राचीन ग्रन्थों या शिला लेखों से जो ३५ चित्र इस पुस्तक में दिए गए हैं उनसे पुस्तक की महत्ता और भी बढ़ गई है। भारत और विश्व के दो मानचित्र भी पुस्तक में दिए गए हैं जो लेखक ने स्वयं तैयार कराए हैं। इनमें यात्रा के प्राचीन मार्गों को दिखाया गया है। इन मानचित्रों से विदित हो जायगा कि सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व भी व्यापार के लिए विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा होती थी और सब प्रकार की सुविधाएँ सब जगह यात्रियों को मिल जाती थीं। पुराने समय के जहाजों के चित्र और उनके द्वारा यात्राओं के मनोरञ्जक वर्णनों ने पुस्तक को उपन्यास

जैसा रोचक बना दिया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए हम परिषद के सञ्चालकों को हृदय से बधाई देते हैं।

दर्शन

यूरोपीय दर्शन—लेखक–स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, प्रकाशक–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद–पटना। पृष्ठ १२०, बड़ा आकार सजिल्द, मूल्य ३।)

यूरोप के विभिन्न देशों में और विभिन्न समयों में जो दार्शनिक और विचारक हुए हैं और जिनके सिद्धान्तों की चर्चा बहुधा पुस्तकों में मिलती है अथवा बहुत से सिद्धान्त ही जिनके नाम से विख्यात हो गए हैं—उन सबका वर्णन इस ग्रन्थ में बड़े सरल ढङ्ग से समय क्रमानुसार किया है। साक्रटीज, प्लेटो, अरिस्टाटल, बेकन, वर्कले, काएट, हेगेल आदि ५७ दार्शनिकों की जीवनी और उनके सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में वर्णन है। डार्विन के विकासवाद की चर्चा हम प्रतिदिन करते हैं पर वह डार्विन कौन था, उसका विकासवाद क्या और कैसे है—यह सब बातें इस ग्रन्थ में मिलेंगी। इस दृष्टि से यह ग्रंथ विद्वानों के लिए ही नहीं सर्व साधारण जनता के लिए भी बहुत उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ के पढ़ने से लेखक की प्रगाढ़ विद्वता का भी पता लग जाता है।

जीवनी

चरित्र चक्रवर्ती—लेखक–श्री सुमेरचन्द्र दिवाकर, प्रकाशक–शान्ति प्रकाशन, दिवाकर सदन–सिवनी (म० प्र०)। पृष्ठ ८१०, मूल्य १०)

जैन धर्म के प्रख्यात तपस्वी आचार्य शान्तिसागरजी, जिनका स्वर्गवास अभी १८ सितम्बर १९५५ को प्रातःकाल हो गया है, के जीवन के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एक वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। आचार्य शान्तिसागर जी चरित्र चक्रवर्ती के नाम से विख्यात थे और वास्तव में वे थे भी चरित्र-शिरोमणि। ८४ वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गवास हुआ और वह भी ३५ दिन के निराहार संल्लेखना व्रत के बाद जिसमें दो सप्ताह तो इस तपस्वी ने जल भी नहीं लिया। फिर भी अन्त समय तक वे चैतन्य अवस्था में रहे और तपश्चर्या में लीन रहें। ऐसे महान साधु के सामने किसका मस्तक नहीं झुक जायगा। इन्हीं महात्मा का जीवन-वृत्त और उपदेशों का सङ्कलन इस पुस्तक में किया गया है। पुस्तक पठनीय है।

—म०

सङ्गीत

ध्वनि और सङ्गीत—लेखक–प्रो० ललितकिशोर सिंह, प्रका.-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृ. ३०९, मू. ५)

प्रो० ललितकिशोरसिंह कृत प्रस्तुत पुस्तक में भौतिक विज्ञान की दृष्टि से सङ्गीत का प्रामाणिक एवं सारगर्भित अध्ययन उपस्थित किया गया है। हिन्दी में आजकल सङ्गीत सम्बन्धी पुस्तकों की कमी नहीं है; किन्तु इनमें से अधिकांश पुस्तकें क्रियात्मक सङ्गीत से ही सम्बन्धित हैं। आचार्य भरतखण्डे एवं अन्य विद्वानों की पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो जाने से सङ्गीत-शास्त्र की उच्च पुस्तकें भी अब सुलभ हो गई हैं, तथापि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लिखी हिन्दी में यह प्रथम और अतीव महत्त्वपूर्ण रचना है। लखनऊ और पूना से सङ्गीत की उच्चतम परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक को सरलता-पूर्वक पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्ध में भौतिक विज्ञान के 'ध्वनि' प्रकरण की दृष्टि से सङ्गीत का वैज्ञानिक विवेचन है, तथा उत्तरार्ध में भरत और शार्ङ्गदेव इन दो प्राचीन आचार्यों एवं कतिपय मध्यकालीन तथा आधुनिक सङ्गीत-शास्त्रकारों की पद्धतियों एवं उनकी कृति, स्वर, ग्राम, ठाठ इत्यादि का तर्कपूर्ण वैज्ञानिक विवेचन है।

सङ्गीत सम्बन्धी कतिपय मान्य धारणाओं के विरोध में लेखक ने अपना स्वर ऊँचा किया है। उदाहरणार्थ 'स्वरित' भारत एवं शार्ङ्गदेव के शुद्ध

ठाठ, दाक्षिणात्य भारतीय सङ्गीत पद्धति इत्यादि के सम्बन्ध में लेखक का मत सर्वथा स्वतन्त्र है। अपने मत की पुष्टि में लेखक ने तर्क और प्रमाण भी उपस्थित किए हैं। यद्यपि इन विचारों को सहज ही स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु मस्तिष्क के लिए विचार की सामग्री तो अवश्य ही उपलब्ध होती है, अतः पुस्तक की उपादेयता असन्दिग्ध है।

—डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट

राजनीति

टीटो की कहानी—लेखक—व्लादिमीर देदीयर, अनुवादक—वी० बी० सक्सेना एम० ए०, प्रकाशक—कैपिटल न्यूज एण्ड फीचर्स, नई दिल्ली। पृष्ठ १६७, मूल्य ॥)

'मार्शल टीटो की कहानी' के लेखक देदीयर टीटो-आन्दोलन के सदस्य रहे हैं और उनकी गतिविधि से पूर्णरूप से परिचित रहे हैं, अतः वे अधिकृत रूप से मार्शल टीटो की कहानी लिख सकते हैं। इसी लिये इस पुस्तक का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। मार्शल टीटो ने अपने देश यूगोस्लाविया की हिटलर व मुसोलिनी के आक्रमणों से कैसे रक्षा की, रूस के द्वारा उपेक्षा की स्थिति में भी कैसे वे—एक ओर फ़ासिस्ट शक्तियों, साम्राज्यवादियों तथा दूसरी ओर स्टालिन की उपेक्षा से अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिये लड़ते रहे—यह कहानी वस्तुतः रोचक व शिक्षाप्रद है। पुस्तक को चार भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में टीटो की तैयारी, दूसरे भाग में रूस की यात्रा तथा स्वतन्त्रता-संग्राम की कहानी, तीसरे भाग में स्टालिन से मतभेद तथा चौथे भाग में विगत दिनों की स्मृति पर लिखा गया है। पुस्तक योरोप की तत्कालीन राजनीति का चित्र उपस्थित करने में पूर्ण सफल हुई है। सात चित्र भी दिये गये हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

—वि० ना० उपाध्याय

ग्राम-कचहरी दण्ड विधान और विधि—सम्पादक—श्री रघुवंशप्रसाद, एम. एस-सी., जिला-पञ्चायत अफ़सर। प्रकाशक—श्री भगवतप्रसादजी, दीवान मुहल्ला, पटना (बिहार)। पृष्ठ ११०, मूल्य १॥)

बिहार प्रान्त के अधिकांश गाँवों में ग्राम पञ्चायतों की स्थापना की गयी है। छोटे-मोटे मुकदमे इन पञ्चायतों की ग्राम कचहरियों में देखे जाते हैं। उन मुकदमों की जाँच पञ्च और सरपञ्च करते हैं। उन्हीं की जानकारी के लिए इस पुस्तक में सम्बन्धित कानून की सविस्तार व्याख्या सोदाहरण प्रस्तुत की गई है।

—शि० प्र० लोहानी

बालोपयोगी

नटखट के गीत—लेखक—श्री चिरंजीत

एक था राजा एक थी रानी—,,

चरित्र निर्माण की कहानियाँ—राजबहादुरसिंह

सूम का घड़ा—ले०—सन्तोष गार्गी

उपर्युक्त चारों पुस्तकें आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली से प्रकाशित हुई हैं। पृष्ठ संख्या क्रमशः ४८, ३२, ४७, ५५ है। मूल्य १।), १), १।), १।)

पहली दो पुस्तकें कविता में हैं। गीत और कहानियाँ सभी मनोरञ्जक और सरल भाषा में हैं। सभी सचित्र हैं। बालकों के पसन्द की हैं।

मनोरञ्जक कहानियाँ—प्रकाशक—पब्लिकेशन डिवीजन, भारत सरकार, दिल्ली। पृष्ठ ८०, मूल्य १)

विभिन्न लेखकों की २२ कहानियों का यह संग्रह है। सभी कहानियाँ सचित्र एवं हास्यरस पूर्ण हैं। सस्ती भी हैं और अच्छी भी।

सरसगीत एवं बलिदान की कहानियाँ—लेखक—प्रशान्त एम० ए० पृष्ठ २३-२३, मूल्य ॥।),॥।)

यह दोनों पुस्तकें भी सुन्दर छपी हैं और बालकों का मनोरञ्जन करेंगी।

लोककथायें—

प्रका०—बाल सदन, पटेल नगर, नई दिल्ली।

१—हिमालय की लोककथाएँ—लेखक— श्री संतराम

२—सौराष्ट्र ,, ,, ,, श्री प्रवासीलाल वर्मा

३—राजस्थान की लोककथायें ,, श्री पुरुषोत्तमलाल
४—गढ़वाल ,, ,, ,, श्री गोविन्द चातक
५—मालवा ,, ,, ,, श्री श्याम परमार
६—रूस ,, ,, ,, श्री हंसराज रहबर
७—उत्तरभारत ,, भाग १ श्री सावित्री देवी वर्मा
८— ,, ,, भाग २ ,, ,,
९— ,, ,, भाग ३ ,, ,,
१०—भारत की लोक कथाएँ—

अन्तिम पुस्तक को छोड़कर शेष सभी पुस्तकें आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली से प्रकाशित हुई हैं और ४० से ६० पृष्ठ तक की है। मूल्य प्रत्येक का १।)—१।।) है। भारत की लोक कथाएँ भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित हुई हैं। पृष्ठ सं० ६२ और मूल्य १) है।

सभी पुस्तकें सचित्र और पठनीय हैं। इन कथाओं के पढ़ने से विदित होता है कि विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोक कथाएँ भिन्न होने पर भी समान हैं और एक संस्कृति की द्योतक हैं।

युवक ज्ञानमाला—

१—पक्षियों की बोली—(अली सफदर)
२—हमारी फसलें—(सत्यकुमार गुप्ता)
३—पेड़-पौधे—(मुनीश सक्सेना)
४—कीड़े-मकोड़े या मक्खी-मच्छर ,,
५—फल और सब्जियाँ—(सूर्यकुमार जोशी)
६—गेहूँ, ७—मटर, ८—आलू, ९—धान।

पहली पाँच पुस्तकें राजकमल प्रकाशन दिल्ली की हैं। सभी में ३२-३२ पृष्ठ हैं और आठ-आठ आना मूल्य है। अन्त की चारों पुस्तकें उत्तर प्रदेशीय सरकार के विकास अन्वेषणालय (लखनऊ) से प्रकाशित हुई हैं। प्रत्येक १६-१६ पृष्ठ की है और मूल्य केवल एक-एक आना। इन चारों के लेखक श्री एल० पी० भारद्वाज हैं।

विषय इन सभी पुस्तकों का उनके नाम से विदित हो जायगा। सभी युवकों को खेती और विज्ञान का साधारण ज्ञान देने की इच्छा से लिखी गई हैं और इस दृष्टि से बड़ी उपयोगी हैं।

भारत की कहानी—लेखक-श्री भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ६१, मूल्य १।।)

भारतीय इतिहास की कुछ घटनाओं और व्यक्तियों को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है, विशेष रूप से बालकों के लिए। उनके लिए बहुत रोचक और ज्ञानवर्द्धक है।

प्राप्ति-स्वीकार

भूमि-व्यवस्था-सुधार की प्रगति—प्रकाशक-प्रकाशन विभाग, केन्द्रीय सरकार, दिल्ली। पृष्ठ २७, मूल्य ।) जमींदारी हटाने और भूमि व्यवस्था बदलने के लिए पिछले ५-७ वर्षों में हुए काम का विवरण।

अन्तर्नाद—लेखक और प्रकाशक-पं० रूपकुमार 'घायल', खेरागढ़, भोपाल। पृष्ठ ३२, मूल्य ।≈) लेखक की कविताओं का संग्रह।

स्वर्दूत—लेखक-श्री शशिकरण, प्रकाशक-प्रिय प्रकाशन, जोधपुर। पृष्ठ ३२, मूल्य ।।) लेखक के गीतों का संग्रह है।

शब्दप्रकाश—लेखक-सेवक दादूदयाल वर्मा, प्रकाशक-सेवाश्रम राधास्वामी सत्संग, कटनी। पृष्ठ ५४, मूल्य ।।) आत्मबोध प्रवेशिका।

कल्पना—लेखक-प्रभाकर बेलझरिया, प्रकाशक-श्री लीला लाइब्रेरी, दयाल कुटीर, मलयपुर (मुंगेर)। पृष्ठ ३५, मूल्य ।।।) सामाजिक जीवन के कुछ चित्र।

उत्तर प्रदेशीय तथा अन्य सरकारों द्वारा ग्राम पञ्चायत एवं ग्राम विकास योजना में काम की
जाने वाली हिन्दी की पुस्तकों की सीरीज। इसकी अधिकांश पुस्तकें विभिन्न
सरकारों द्वारा स्वीकृत हो चुकी हैं तथा खरीदी जा रही हैं

ग्राम विकास माला

में

अब तक निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रत्येक पुस्तक का टाइटिल दुरङ्गा व काडबोर्ड की जिल्द में हैं। प्रत्येक का मूल्य ।।।)

१. **गांव की बातें**—(पृष्ठ सं ६६, मोटा टाइप) इसमें कुछ मुख्य लेख हैं—गाँव पञ्चायत, सङ्गठन-काम, सफाई, हवा, जल, गाँव का सुधार, बसावट, रास्तों का सुधार आदि।

२. **गांव की बोली**—(पृष्ठ सं० ६४, मोटा टाइप) यह पुस्तक कविता और कहावतों की है संवत् की पहचान, फसल की बुवाई, जुताई, खाद, खेती के रोग, बैल की पहचान, पहेलियाँ जवाब-सवाल, बोलचाल की कहावतें हैं।

३. **गाँव की सेहत**—(पृष्ठ सं० ७६, बड़ा टाइप) जैसे—हवा और प्रकाश, पानी, खुराक, रहन-सहन, सफाई—घरों की कपड़ा की, बस्ती की, घरों की बनावट-बसावट, साग, फल और तरकारियों का उपयोग, दूध-घी-मठा, कसरत और अखाड़े।

४. **गांव का जीवन**—(पृष्ठ सं० ६२) सामाजिक जीवन, सङ्गठन, पञ्चायतों के काम, सुधार और तरक्की के उपाय, पुस्तकालय, व्याख्यान, दवाखाना, पाठशाला, पढ़-लिखे लोगों का सङ्गठन, पढ़ाई, रीति-रिवाज और सुधार, हाट-बाजार, मेले, दङ्गल, जलसा आदि।

५. **गांव के गीत**—(पुरुषों के लिए, पृष्ठ सं० ६७, मोटा टाइप) देहात के गानों की तर्ज और लय, वर्षा की पहचान, बैल की पहचान, बीज बोना, फसल, हवा तथा अन्य काम करने पर गाने हैं।

६. **गांव के गीत**—(स्त्रियों के लिए, पृष्ठ सं० ७४, मोटा टाइप) उन गीतों का संग्रह है जिन्हें गाँव की स्त्रियाँ विभिन्न अवसरों पर गाती हैं।

७. **गांव की कहानियाँ**—(पृष्ठ सं० ८०, बड़ा टाइप) इस पुस्तक में हैं-कहानियों के भेद, बलवान बरी से कैसे बचा जाय, ठाकुर और नाई, ठाकुर और कोली, ठाकुर और साहूकार, वीर विक्रमाजीत, स्त्री की सूझ, शिवजी का वरदान. गङ्गाराम पटेल और बुलाखीदास नाई गप्प, भूतों की कहानी आदि अनेक उपयोगी और शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं।

८. **संयोगिनी का डोला**—(पृष्ठ सं० ६६, मोटा टाइप) यह आल्हा की पुस्तक है—जयचन्द का दरबार, पृथ्वीराज से लड़ाई, गोरी की चढ़ाई आदि का वर्णन है।

९. **खेती और घरेलू धन्धे**—(पृष्ठ ६० मोटा टाइप) खेती के काम में कमियाँ और उन्हें दूर करने पैदावार बढ़ाने के साधन खाद, कमाई, परती जमीन का तोड़ना, व्यापार की फसल और तरकारियाँ, जानवर, सरकारी सहयोग समितियाँ आदि।

१०. **घरेलू इलाज**—(पृष्ठ सं ६६ मोटा टाइप) इसमें रोगों के दूर करने के लिए इसमें सस्ते और अच्छे नुस्खे बताये गये हैं जिससे हर बीमारी का इलाज घर बैठे ही किया जा सके।

११. **ढोरों का इलाज**—(पृष्ठ सं० ८८) सभी जानवरों की बीमारियों के सम्बन्ध में इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है तथा सब बीमारियों का इलाज लिखा गया है।

पता—साहित्य सन्देश कार्यालय, साहित्य कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. A.263.　　OCTOBER 1955.　　LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra.　　Licensed to post without Prepayment.

आलोचना प्रधान साहित्य-सन्देश
के
पिछले तीन विशेषांक

साहित्य-सन्देश के १७ वें वर्ष का अन्तः प्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क हम १ अगस्त को निकाल चुके हैं। प्रत्येक वर्ष हम साहित्य सन्देश का एक विषय लेकर ऐसा विशेषाङ्क निकालते हैं जिसकी ख्याति सारे हिन्दी संसार में बनी रहती है। पिछले सभी विशेषाङ्कों में हिन्दी के विद्यार्थियों और साहित्य प्रेमियों की रुचि के अनुसार ठोस और उपादेय सामग्री रक्खी गई जिनकी बड़ी माँग रही और अभी तक बनी है। इस समय हमारे पास पिछले अनेक विशेषाङ्कों में से केवल तीन विशेषाङ्क 'भारतेन्दु अङ्क', 'आलोचनाङ्क' तथा 'कहानी अङ्क' की कुछ प्रतियाँ बची हैं जिनका प्रत्येक का मूल्य १ रुपया है। प्रसाद अङ्क के के लिये हमारे यहाँ से प्रकाशित 'प्रसाद जी की कला' नामक पुस्तक मँगायें। जो सज्जन इन विशेषाङ्कों की इच्छा रखते हैं, एक रुपया प्रति अङ्क मनीआर्डर द्वारा भेजकर अपनी इच्छित प्रति मँगालें, रजिस्ट्री से मँगाने के लिये ।≈) अतिरिक्त भेजें।

❀ विद्वान सम्पादकों की सम्मतियाँ ❀

भारतेन्दु अङ्क—इस अङ्क में भारतेन्दु जी के जीवन, साहित्य, कला, भाव आदि विविध पक्षों पर जो प्रकाश विद्वान लेखकों द्वारा डाला गया है वह भारतेन्दु जी का अध्ययन करने वालों के लिये पठनीय ही नहीं है अपितु हिन्दी संसार के लिये एक अमूल्य वस्तु है।

—सम्पादक 'वीणा', इन्दौर।

आलोचनाङ्क—आलोचना-शास्त्र के नूतन और विकसित रूप की समीक्षा इस अङ्क में अनेकों साहित्य-मनीषियों ने की है। हिन्दी आलोचना के साथ ही साथ अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती और मराठी के आलोचना-शास्त्र पर भी अधिकारी लेखकों ने प्रकाश डाला है। सर्व श्री डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एस० टी० नरसिंह चारी, डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, प्रकाशचन्द्र गुप्त, गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों के लेख महत्वपूर्ण और गवेषणात्मक हैं।

छात्रों के लिये अङ्क अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है।　　—सम्पादक 'लोकसेवक'

कहानी अङ्क—इस विशेषाङ्क में 'कहानी' के उद्गम (भूत) से लेकर उसके भविष्यत् की चर्चा की है। गण्यमान्य विद्वानों द्वारा कहानी के शिल्प और कलात्मक विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यह हिन्दी कहानी को भारतीय कहानी के परिपार्श्व में रख देखने का, उसके मूल्याङ्कन का व्यापक एवं अभिनव प्रयास है। कहानी-कला, हिन्दी कहानी और कहानीकार, उसमें विकास आदि के सम्बन्ध में इतनी सामग्री इस अङ्क में एकत्रित की गई है जो अनेक पुस्तकों में सरलता से प्राप्त नहीं है। अङ्क पठनीय तथा स्थायी महत्व से पूर्ण है।

—सम्पादक 'वीणा'

पता—साहित्य सन्देश कार्यालय, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

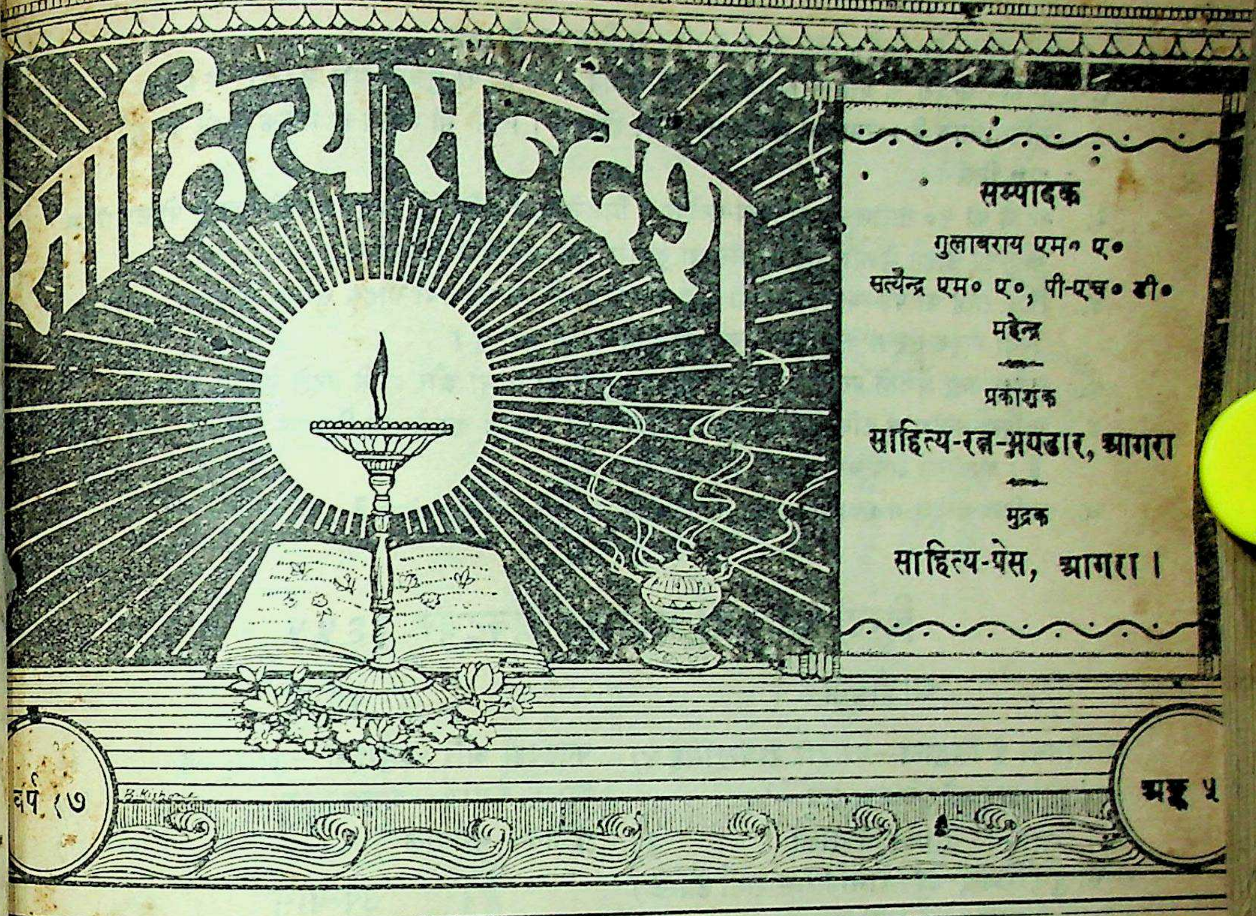

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वर्ष १७
अङ्क ५

र्षिक मूल्य ४)] आगरा—नवम्बर १९५५ [विशेष संस्करण

इस अङ्क के लेख

—हमारी विचार-धारा	सम्पादक
—उपन्यास में मनोविज्ञान	आचार्य पं० विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'
—वीर रस का स्थायी भाव	श्री महेन्द्रप्रताप एम० ए०
—पृथ्वीराज रासो के वृहद संस्करण के उद्धारक अमरसिंह द्वितीय थे ?	श्री अगरचन्द नाहटा
—कामायनी में नारी का स्वरूप	श्री ऋषिगोपाल राधाकृष्ण भाटिया एम० ए०
—गद्य काव्यकार प्रसाद	प्रो० प्रेमचन्द एम० ए०
—साकेत के आधार पर गुप्तजी के राजनीतिक विचार	श्री शुकदेवप्रसाद सिन्हा एम० ए०
—वृन्दावनलाल वर्मा के कुछ विशिष्ट नारी पात्र	कुमारी शकुन्तला मिश्र सा० र०
—निराला की प्रयोगशीलता	श्री कृष्णदेव झारी
—राजकवि नन्निचोड	श्री रामशेषय्या
—साहित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की २० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआ के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहि विना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ||) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन अक्टूबर १९५५

आलोचना

आलोचना के सिद्धान्त—व्योहार राजेन्द्रसिंह ४)
जयशङ्करप्रसाद और अजात शत्रु—तारकनाथ वाली २)
भारतेन्दु हरिश्चन्द—डा० रामविलास शर्मा ४||≡)
रामचरित मानस की कथावस्तु—प्रो० जगन्नाथ शर्मा ३||≡)
तुलसी साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त २||)
जायसी साहित्य और सिद्धान्त—यज्ञदत्त २||)
हिन्दी और उसके कलाकार—फूलचन्द जैन ६)
सूर साहित्य दर्पण—प्रो० जगन्नाथ ४|||≡)
हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—डा० नगेन्द्र १२)
हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ ४)

निबन्ध

असीम—राखालदास वन्द्योपाध्याय ४)

कविता

प्रणय पत्रिका—बच्चन २||)

कहानी

पगडण्डी और परछाइयाँ—कुलभूषण
आदर्श कथायें—आनन्दकुमार
तूफान—धर्मपाल

उपन्यास

धरती की आँख—लक्ष्मीनरायणलाल
जी जी जी—उग्र
एक था—शीला शर्मा
फूल और पतझर—नरोत्तम नागर
रेत का महल—कृष्णचन्द्र

नाटक

कीर्ति स्तम्भ—हरिकृष्ण प्रेमी

कला

पाषाण कथा—शम्भुनाथ वाजपेई

भूगोल

मानचित्र प्रवेशिका—रामस्वरूप वशिष्ठ

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

37
वर्ष तक
राष्ट्र की
गौरवपूर्ण
सेवा
J. B. MANGHARAM'S
NOURISHING
Biscuits
Delicious & wholesome
CREAM WAFERS
ASSORTED BISCUITS
J.B. Mangharam & Co.
J.B. MANGHARAM'S
AFTERNOON
ASSORTED BISCUITS
THE HOME OF QUALITY
J B M

भारतीय-गणराज्य का ५ वाँ जन्मोत्सव हम सहर्ष मना रहे हैं। दिन-प्रतिदिन हमारा राष्ट्र औद्योगिक एवं आर्थिक सम्पत्ति में धनी होता जा रहा है; हमें गौरव है कि ३८ वर्षोंसे एशिया के आधुनिकतम एवं सबसे बड़े कारखाने में उच्च कोटि के बिस्कुट तथा मिठाइयों का निर्माण करके भारत को आत्मनिर्भर बनाकर हम ऐसी सम्पत्तियों की वृद्धि में योग-दान दे रहे हैं।

जब भी आप जे. बी. मंघाराम के बिस्कुट और मिठाइयों की चर्चा करते हैं तो इसका मतलब है आप सर्वश्रेष्ठ की चर्चा करते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ खाद्य सामग्रियों से बनाये जाते हैं।

अन्य उत्पादन :—
- क्रीम वेफर्स
- नरीशिंग
- आफ्टरनून टी
- रॉयल क्रीम
- इनर्जी वेफर्स
- सॉल्टो

जे. बी. मंघाराम एण्ड कं.
ग्वालियर (भारत)

Holiday concessions

१—दीवाली और बड़े दिन की छुट्टियों में १५० मील और इससे अधिक के लिए वापसी यात्रा के रियायती टिकिट जारी किए जायँगे।

२—टिकिट लेने की तारीख से १५ दिन की मियाद के वापसी टिकट होंगे। यदि टिकिट पहले ले लिए हों तो यात्रा जारी होने के दिन से शुमार किये जायँगे।

३—यात्रा में जाते और आते समय बीच में कहीं रुका नहीं जा सकेगा।

४—इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी सम्बन्धित स्टेशन मास्टर से की जा सकती है।

CENTRAL
AND
WESTERN
RAILWAYS

आलोचना प्रधान साहित्य-सन्देश

के

पिछले तीन विशेषांक

साहित्य-सन्देश के १७ वें वर्ष का अन्तः प्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क हम १ अगस्त को निकाल चुके हैं। प्रत्येक वर्ष हम साहित्य सन्देश का एक विषय लेकर ऐसा विशेषाङ्क निकालते हैं जिसकी ख्याति सारे हिन्दी संसार में बनी रहती है। पिछले सभी विशेषाङ्कों में हिन्दी के विद्यार्थियों और साहित्य प्रेमियों की रुचि के अनुसार ठोस और उपादेय सामग्री रक्खी गई जिनकी बड़ी माँग रही और अभी तक बनी है। इस समय हमारे पास पिछले अनेक विशेषाङ्कों में से केवल तीन विशेषाङ्क 'भारतेन्दु अङ्क', 'आलोचनाङ्क' तथा 'कहानी अङ्क' की कुछ प्रतियाँ बची हैं जिनका प्रत्येक का मूल्य १ रुपया है। प्रसाद अङ्क के के लिये हमारे यहाँ से प्रकाशित 'प्रसाद जी की कला' नामक पुस्तक मँगायें जो सज्जन इन विशेषाङ्कों की इच्छा रखते हैं, एक रुपया प्रति अङ्क मनीआर्डर द्वारा भेजकर अपनी इच्छित प्रति मँगालें, रजिस्ट्री से मँगाने के लिये ।=) अतिरिक्त भेजें।

❀ विद्वान सम्पादकों की सम्मतियाँ ❀

भारतेन्दु अङ्क—इस अङ्क में भारतेन्दु जी के जीवन, साहित्य, कला, भाव आदि विविध पक्षों पर जो प्रकाश विद्वान लेखकों द्वारा डाला गया है वह भारतेन्दु जी का अध्ययन करने वालों के लिये पठनीय ही नहीं है अपितु हिन्दी संसार के लिये एक अमूल्य वस्तु है।

—सम्पादक 'वीणा', इन्दौर।

आलोचनाङ्क—आलोचना-शास्त्र के नूतन और विकसित रूप की समीक्षा इस अङ्क में अनेकों साहित्य-मनीषियों ने की है। हिन्दी आलोचना के साथ ही साथ अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती और मराठी के आलोचना-शास्त्र पर भी अधिकारी लेखकों ने प्रकाश डाला है। सर्व श्री डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एस० टी० नरसिंह चारी, डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, प्रकाशचन्द्र गुप्त, गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों के लेख महत्त्वपूर्ण और गवेषणात्मक हैं।

छात्रों के लिये अङ्क अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है। —सम्पादक 'लोकसेवक'

कहानी अङ्क—इस विशेषाङ्क में 'कहानी' के उद्गम (भूत) से लेकर उसके भविष्यत् की चर्चा की है। गण्यमान्य विद्वानों द्वारा कहानी के शिल्प और कलात्मक विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। अङ्क हिन्दी कहानी को भारतीय कहानी के परिपार्श्व में रख देखने का, उसके मूल्याङ्कन का व्यापक एवं अभिनव प्रयास है। कहानी-कला, हिन्दी कहानी और कहानीकार, उसके विकास आदि के सम्बन्ध में इतनी सामग्री इस अङ्क में एकत्रित की गई है जो अनेक पुस्तकों में सरलता से प्राप्त नहीं है। अङ्क पठनीय तथा स्थायी महत्त्व से पूर्ण है।

—सम्पादक 'वीणा'।

पता—साहित्य-सन्देश कार्यालय, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

परीक्षार्थी प्रबोध भाग ४

इस भाग में हमने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है कि एम० ए०, साहित्य-रत्न, प्रभाकर, साहित्यालङ्कार आदि उच्च श्रेणी के परीक्षार्थी इससे विशेष लाभ उठा सकें। अतः इसमें इन परीक्षाओं के सम्बन्ध के कुछ आवश्यकीय लेख जो अभी तक साहित्य-सन्देश अथवा अन्य किसी भी पुस्तक में नहीं छपे हैं, विद्वानों से लिखवा कर इसमें सम्मिलित किये गये हैं जिससे इस भाग में ठोस एवं पठनीय सामग्री हो गई है। यही कारण है कि इस खण्ड की सम्भावित सूची के निकालने पर पुस्तक छपने से पहले ही सैकड़ों आर्डर आ चुके थे और छप जाने पर तो इसकी बराबर माँग आ रही है। इस भाग में भी लगभग ३०० पृष्ठ हैं। कागज इसमें बढ़िया लगाया गया है जिससे पुराने तीनों भागों की अपेक्षा यह भाग दूना मोटा है और मोटे कागज पर छपाई भी अच्छी हुई है—मूल्य ३) पोस्टेज पृथक्।

साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को पौने मूल्य के साथ-साथ पोस्टेज भी फ्री

चारों भाग एक साथ लेने पर पोस्टेज की रियायत उन ग्राहकों को दी जायगी जो ग्राहक ६) का मनीआर्डर पहले भेज देंगे उन्हें पोस्टेज खर्चा न देना पड़ेगा और चारों भाग रजिस्ट्री से भेज दिये जायँगे।

चारों भागों की विषय-सूची मुफ्त मँगायें।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

अपने विद्यालय की पत्रिका हमसे

छपवाएँ !

✻ कागज, छपाई, बँधाई के साथ ✻

पेज का नाप १०″ × ७″

दर ५०० प्रतियों के लिए……प्रति पेज ४)

दर १००० प्रतियों के लिए……प्रति पेज ५)

समय—३२ पेज के लिए केवल ४ दिन, आर्डर भेजकर समय निश्चित करा लें।

सस्ते में शुद्ध और आकर्षक छपाई देना हमारा ध्येय है।

प्रश्न-पत्र १॥) पेज (गोपनीय की गारण्टी है।)

हम समय के पूरे पाबन्द हैं।

विशेष जानकारी के लिए पत्र व्यवहार करें

साहित्य-प्रेस, ५ गांधी मार्ग, आगरा।

दीपावली के शुभ अवसर पर

साहित्य-सन्देश के सभी ग्राहकों के लिए

हिन्दी साहित्य की नवीन प्रकाशित पुस्तकें

पौने मूल्य में

इस वर्ष हमने अपने साहित्य-सन्देश के ग्राहकों को दिवाली के शुभ अवसर पर नीचे दी गई सूची की सभी पुस्तकें ३० नवम्बर तक प्राप्त होने वाले आर्डरों को पौने मूल्य में देने का निश्चय किया है। स्कूल, कालेज, पुस्तकालय हमारी इस विशेष सुविधा से लाभ उठायें। जो शिक्षा संस्थाएँ नहीं हैं वे अपने आर्डर के साथ २) पेशगी भेजें।

नोट—यदि आप चाहें तो इस सूची की पुस्तकों का आर्डर साहित्य-सन्देश में लगे रिपलाई कार्ड पर भर कर भेज सकते हैं।

आलोचना

राजस्थान के सांस्कृतिक उपाख्यान—श्री कन्हैयालाल सहल	३)
हिन्दी गीति काव्य—डा० ओमप्रकाश अग्रवाल	३)
सूरदास और उनका साहित्य—शान्तिस्वरूप गौड़	३)
हिन्दी के गौरव ग्रन्थ—मनमोहन गौतम	३)
भाषा भूषण—जसवन्तसिंह	१)
भारतेन्दु उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कवि—किशोरीलाल शुक्ल	|||)
प्रगति और प्रयोग—विद्यार्थी	२)
हिन्दी साहित्य प्रश्नोत्तर—श्री हरि एम० ए०	५|||)
हिन्दी भाषा और नागरी लिपि—स्वर्णलाल अग्र०	|||)
यशोधरा परिशीलन—शिवस्वरूप गुप्त	२)
मीरा एक अध्ययन—पद्मावती शबनम	३||)
सन्त दर्शन—त्रिलोकीनारायण दीक्षित	४||)
कहानी कला विकास—छविनाथ त्रिपाठी	३)
कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा—शिवकुमार मिश्र	६|)
हिन्दी कवियों की काव्य भावना—सुरेशचन्द्र एम० ए०	३)
मृगनयनी में कला कृतित्व—डा० सत्येन्द्र	२|)
कथाकार जयशङ्करप्रसाद—हरस्वरूप माथुर	२)
प्रेमचन्द—त्रिलोकीनारायण दीक्षित	२||)
प्रेमचन्द और गोर्की—शचिरानी गुर्टू	६)
कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत	४)
शिक्षा—जाकिर हुसेन	३)
कामायनी समालोचना—	२||)
हिन्दी साहित्य रत्नाकर—विमलकुमार जैन	५)
कविता में प्रकृति चित्रण—रामेश्वरलाल	४)
हिन्दी एकाङ्की—डा० सत्येन्द्र	२||)
प्रेमचन्द कहानी कला— ,,	३)
लिपि विकास—राममूर्ति मेहरोत्रा	|||)

कविता

दूब के आँसू—पदमसिंह शर्मा 'कमलेश'	२)
तारिका—देव	|||)
गाण्डीव—राम इकबालसिंह राकेश	६)
पद्य-प्रमोद—हरिऔध	५)
रामचरित मानस—रामनरेश त्रिपाठी	१४)
कृष्णायन भाग २—द्वारकाप्रसाद मिश्र	२)
गीताञ्जलि—रवीन्द्रनाथ ठाकुर	८)
कदलीवन—नरेन्द्र शर्मा	२||)
मीरा बृहद पद्य संग्रह—पद्मावती शबनम	६)
देवार्चन—करील	५)
कविताएँ—अजितकुमार	२|||)

कहानी

महापुरुषों की प्रेम कथायें—इलाचन्द्र जोशी	२||)
निशानियाँ—उपेन्द्रनाथ अश्क	२||=)
पुष्करिणी—भगवतीप्रसाद वाजपेयी	३||)

मन्टो की कहानियाँ—अव्वासी	२॥)
चींटी चींटों की दुनियाँ—जगपति चतुर्वेदी	२)
राजस्थान की लोक कथाएँ—श्रीकान्त व्यास	१)
परिस्तान—रघुपतिसहाय	३)
स्तन पोषी जन्तु—जगपति चतुर्वेदी	२)
युक्लिप्टिस की डाली—कृष्णचन्द्र एम० ए०	२)
सीधे साधे चित्र—सुभद्राकुमारी चौहान	२॥=)
हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ—डा० त्रिगुणायत	३॥)
प्रदर्शिनी—विकल	२।॥)
पुरस्कार तथा अन्य कहानियाँ—डा० किरणकुमारी गुप्ता	१॥)
कल्लोल—कौशिक	३)
पुष्प छटा—प्रो० विमल	२॥)

उपन्यास

मुक्तिदान—सिद्ध विनायक द्विवेदी	१।॥)
श्वेत पद्मा— ,,	१।॥)
दिगम्बर—शान्तिप्रिय द्विवेदी	२)
बराबस—पायर लागर क्विस्त	२॥)
नादिरा—गिरजादत्त शुक्ल गिरीश	५)
बोलते खण्डहर—रांगेय राघव	३)
विषाद मठ—रांगेय राघव	३॥)
मुर्दों का टीला— ,,	७॥)
सीधा साधा रास्ता— ,,	६॥)
घर और बाहर—रवीन्द्रनाथ ठाकुर	३॥)
पाँच सदस्य— ,, ,,	२॥)
बहता पानी—गिरीश	३।)
फूल और पतझड़—नरोत्तम नागर	५॥)
कमला—देवेन्द्र शर्मा	२)
कन्या का तपोवन—रामनरेश त्रिपाठी	२॥)
सेवा और त्याग—गुलाब रतन वाजपेयी	३)
स्वयं सिद्धा—श्री मणिलाल वन्द्योपाध्याय	३)
श्रेणिक बिम्बसार—चन्दशेखर शास्त्री	५)
हृदय की ज्वाला—कुमारी प्रभा	३)
नष्ट नीड़—रवीन्द्रनाथ ठाकुर	२)
तीन साथी— ,, ,,	२)
उपवन—रवीन्द्रनाथ ठाकुर	२)
श्रीमती विश्वास—लक्ष्मीचन्द वाजपेयी	४)
अन्याय का प्रतिकार—देवबलीसिंह	४)
देहाती समाज—शरतचन्द्र	२)
विराजबहू— ,,	२)
चन्द्रनाथ— ,,	२)
रात अँधेरी है—महेन्द्रनाथ	४)
रेत का महल—श्री कृष्णचन्द्र	४)
एक था शहर—ताव्वर सामरी	५)
पत्थर पानी—यादवचन्द्र जैन	८)
कर्म साधना—रामसागर शास्त्री	४)
पतिता—हरि कपूर	५)
काले बादल—नरोत्तम नागर	४)
प्रदीप—हिम्मतलाल गौतम	५)
तावीज—अनु० मगनलाल जैन	१॥)
बुजदिल—स्टीफेन ज्विग	१॥)

नाटक

ग्राम पंचायत—राजेन्द्र शर्मा	१॥)
वाह रे मैं वाह—के० एम० मुन्शी	४)
चन्द्रावली नाटिका—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
भारत दुर्दशा— ,,	१॥)
नया समाज—उदयशङ्कर भट्ट	१॥)
ययाति—पं० गोविन्दबल्लभ पन्त	१।॥)
नये गुलाम—कृष्णचन्द्र	२॥)
तूफान से पहले—उपेन्द्रनाथ अश्क	३)
सप्त किरण—रामकुमार वर्मा	३)
भैया कैंचुल बदन—पं० उमादत्त सारस्वत	१।॥)
चुङ्गी की उम्मेदवारी—केदारनाथ भट्ट	।≈) ,,

इतिहास

हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी	६॥)

यात्रा

अमेरिका में नेहरू—राजकुमार	१।॥)
चीन और नेहरू— ,,	१॥)
नेहरू की रूस यात्रा— ,,	१॥)

हिन्दी की सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का

कार्ड यही है

नोट १—पुस्तकें जल्दी मँगानी हों तो कृपया आर्डर के साथ १) मनीआर्डर से पेशगी भेजें।
२—चिह्नित पुस्तकें वी० पी० से भेज दें, मैं वी० पी० अवश्य छुड़ा लूँगा।

इसके ऊपर चिपकाइये

पहले यहाँ से मोड़िये

यहाँ से काटिये

पौने मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड नं० ३६

नाम……………………………………
पता……………………………………
ग्रा० सं०……………………

१—
२—
३—
४—
५—
६—
७—
८—
९—
१०—
११—
१२—
१३—
१४—
१५—
१६—
१७—
१८—
१९—
२०—

दूसरा मोड़

Postage
will be
paid by
Addressee

BUSINESS REPLY
CARD

No Postage
Stamp
necessary
if Posted
in India

AGRA G. P. O.
Permit No. 1136

To

श्री सञ्चालक,
साहित्य-सन्देश,
साहित्य-रत्न-भण्डार,
४, गांधी मार्ग,
आगरा।

पुस्तकें खरीद कर पढ़नी चाहिए

[विद्वानों की इस अपील के सिलसिले में हमने यह नई योजना बनाई है कि हम इस पोस्ट कार्ड में प्रकाशित नई से नई पुस्तक आपको आधे मूल्य में देंगे।

इस योजना से आप अवश्य लाभ उठायें

आधे मूल्य में पुस्तकें प्राप्त करने का कार्ड

नाम..

पता..

ग्रा० सं०..

१—हार जीत—सेवक (कविता) २)

२—मन्दाकिनी—शान्तारानी ,, १।।।)

३—सांवरी—रसिकेन्दु ,, ।=)

४—टुकड़े टुकड़े दास्ता—विश्वनाथ (कहानी) ।।।)

५—प्रपात—भयंङ्कर ,, १)

६—खेल—रमाशङ्कर १।।)

७—प्राचीन पद्य प्रभाकर की टीका—मोहनलाल उपाध्याय १।)

८—नूतन ब्रह्मचारी की टीका—शास्त्री ।=)

९—वेदी के फूल एक दृष्टि—विकल १=)

१०—भीगीरवि—राजेन्द्र सक्सैना नाटक ।।)

११—चन्दा का एक विश्लेषण ≡)

१२—साहित्य प्रारम्भिका—शकुन्तला कुमारी १।।)

१३—स्मृति शास्त्र—रामसहाय ।।।)

१४—संजीवनी—स्नेही ।।।)

१५—जापान के गाँधी का गा वा— ―)

नोट—जो पुस्तक न लेना चाहें उसे काट दें। नियम पीछे देखें। कार्ड के पीछे छपी पौने मूल्य की पुस्तकें भी इसी वी० पी० के साथ भेज दें।

१—आधे मूल्य में चिह्नित पुस्तकें भेज दें। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वी० पी० अवश्य छुड़ा लूँगा।

नोट—कृपया १) मनीआर्डर से पेशगी भेज दें, जिससे पुस्तक जल्दी भेजने में हमें सुविधा हो।

यहाँ पर चिपका दीजिये।

भाग १७] आगरा—नवम्बर १९५५ [अङ्क ५

हमारी विचार-धारा

हिन्दी और शिक्षा का स्तर—

हिन्दी के मार्ग में नित्य नई बाधायें उपस्थित हो ही जाती हैं। अब कुछ उच्च अधिकारियों द्वारा यह आपत्ति उठायी जा रही है कि शिक्षा का स्तर हिन्दी के माध्यम के कारण गिर रहा है। शिक्षा के स्तर की जाँच का एक आयोजन भी बना है। अधिकारियों के कक्ष से यह व्यञ्जित होता है कि शिक्षा के स्तर की गिरावट का मूल कारण माध्यम की अव्यवस्था है।

हिन्दी को उत्तरदायी ठहराने से पूर्व यह सोचने की बात है कि हिन्दी के द्वारा शिक्षा कितनी और कहाँ तक दी जाती है। हाई स्कूल तक तो शिक्षा अवश्य हिन्दी के माध्यम से दी जाती है। स्वर में विद्यार्थी लोग तो हिन्दी में ही उत्तर देते हैं किंतु शिक्षक प्रायः पुराने ढर्रे से अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ाते हैं।

बी० ए०, एम० ए० की शिक्षा अंग्रेजी के ही माध्यम से दी जाती है। विद्यार्थी कभी कभी उत्तर ही हिन्दी में देते हैं।

यह तो खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी में उच्च कोटि की पुस्तकों का अभाव है। किन्तु इस अभाव की पूर्ति अध्यापक लोग यदि करना चाहें तो अच्छी तरह कर सकते हैं। अध्यापक लोग अपने मानसिक आलस्य को नहीं छोड़ना चाहते और विद्यार्थी ही अपनी सूझ-बूझ से हिन्दी में अध्ययन करते हैं। सरकार की अनुत्साह पूर्ण नीति माध्यम दुर्व्यवस्था के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल आती है। एक बार यदि संकल्प कर लिया जाय कि अध्यापक लोग उत्साह के साथ हिन्दी माध्यम से ही पढ़ावें तो ४-५ वर्ष में माध्यम की न्यूनताओं की पूर्ति हो जावेगी।

माँग के ही साथ परिपूर्ति की मात्रा बढ़ती है। हिन्दी के प्रति पूर्वाग्रह लेकर कि उसके द्वारा उच्च शिक्षा नहीं हो सकती है—ऐसा कहना हिन्दी की उन्नति में बाधक होना है। और देश भी अंग्रेजी के विना अपनी भाषा के माध्यम द्वारा अपना काम चलाते हैं। चीन और

जापान में शिक्षा का स्तर नीचा नहीं कहा जा सकता। फिर अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषाओं की पुस्तकों की सहायता लेने के लिये कोई मना भी नहीं करता। शिक्षा का स्तर भाषा के माध्यम पर हीं निर्भर नहीं है वरन् पढ़ने वालों के उत्साह पर निर्भर है। सरकार को चाहिये कि विद्यार्थियों के पढ़ने की रुचि उत्पन्न करावे, तभी शिक्षा का स्तर ऊँचा हो सकेगा।

चीन से लायी हुई पुरातत्त्व सामिग्री—

चीन और भारत के प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध, भारत के नव जागरण में और भी दृढ़ होते जाते हैं। प्राचीन काल में दोनों देशों में विचारों का बड़ा आदान-प्रदान रहा है। कुछ वर्ष पूर्व जैसे महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से बहुत मूल्यवान सामग्री लाये थे वैसे ही इस वर्ष डा० रघुवीर चीन से वहाँ के धार्मिक स्थानों के चित्र तथा भारत से गये हुये संस्कृत ग्रंथ जो अब भारत में अप्राप्त हैं, लाये हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत के पुनः अनूदित होने पर भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की बहुत सी कड़ियों की पूर्ति कर सकेंगे, और भारत की विश्व को जो देन है, उसे भी प्रकाश में ला सकेंगे।

इस सामिग्री का प्रदर्शन तो हुआ ही है। हम आशा करते हैं कि डा० रघुवीर शीघ्र ही इन ग्रन्थों पर आधारित तथ्यों को प्रकाश में लायेंगे। और जिस प्रकार राहुलजी ने 'प्रमाण वार्त्तिक' का पुनः संस्कृत अनुवाद किया था वैसे ही अनुवाद भूमिका या सारांश समेत निकालेंगे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा का पुस्तकालय—

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से चालित 'आर्य भाषा पुस्तकालय' के सम्बन्ध में श्री जितेन्द्रसिंह एम्० ए० का एक लेख हमें प्राप्त हुआ है जिससे विदित होता है कि इस पुस्तकालय में हिन्दी पुस्तकों का संग्रह चालीस हजार से ऊपर है। निश्चय ही हिन्दी पुस्तकों का इतना बड़ा दूसरा पुस्तकालय अभी कोई नहीं है। इस लेख में उक्त पुस्तकालय का परिचय देने के अतिरिक्त उसके विकास की भावी रूप-रेखा भी दी है जिसके लिये दो लाख रुपये की आवश्यकता बताई गई है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि—यह बड़े गर्व की बात है कि काशी जैसे प्राचीन विद्या-केन्द्र में ऐसा पुस्तकालय है। इसके साथ ही खेद भी है कि बाहर के लोग इसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते। चाहिए तो यह कि ऐसे पुस्तकालय प्रत्येक विद्या-केन्द्र जैसे आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ आदि नगरों में हों किन्तु सब पुस्तकों का संग्रह होना कठिन है। बहुत सी पुस्तकें जो किसी समय प्राप्त थीं अब अप्राप्य हो गई हैं।

विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को चाहिए कि बनारस के पुस्तकालय की सूची मँगाकर उससे अपने वहाँ के पुस्तकालयों की पूर्ति करें। काशी नागरी प्रचारिणी सभा को भी यह चाहिए कि वे पुस्तकों और उनकी प्राप्ति स्थान की जानकारी देकर पुस्तकालयों की सहायता करें। अप्राप्य पुस्तकों और हस्त लिखित पुस्तकों की माइक्रो फिल्म तैयार कराने की सुविधा भी दी जावे।

यह कार्य विना सरकारी सहयता के नहीं हो सकता। आज कल अनुसन्धान का कार्य बहुत दृढ़ रहा है। उसके लिए अच्छे पुस्तकालयों की आवश्यकता है। आर्य भाषा पुस्तकालय ने विकास की जो योजना बनाई है उसके लिये दो लाख रुपये की आवश्यकता है। इसके लिए हम सरकार और जनता से निवेदन करेंगे कि मुक्त हस्त से सहायता करे।

अच्छा साहित्य पढ़ना चाहिए—

२० अक्टूबर से २६ अक्टूबर तक नई दिल्ली में एक साहित्य गोष्ठी हुई थी जिसमें द० पूर्वी एशिया के १५ देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन में भाषण देते हुए हमारे प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने पुस्तक पढ़ने के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं उन पर हमारी जनता का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने की आवश्यकता है। नेहरूजी ने अपने भाषण में इस बात पर बल दिया है कि लोगों को अच्छा साहित्य पढ़ने की आदत डालनी चाहिए।

यदि लोग पढ़ने की आदत छोड़ देंगे, तो वे असंतुलित हो जाएँगे और उनका मानसिक विकास नहीं होगा।

"यह गलत बात है कि लोग केवल एक ही विषय में विशेषज्ञ होने के बाद अन्य विषयों का ज्ञान तक प्राप्त करना नहीं चाहते हैं। यदि कोई व्यक्ति एक विषय में, मान लो इञ्जीनियरिंग में, पूर्णतया शिक्षित है और वह विश्व के अन्य मामलों में अनभिज्ञ है तो वह अपने क्षेत्र में कितना ही पारङ्गत क्यों न हो पिछड़ा रहेगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को विश्व के मामलों का ज्ञान रखना चाहिए।

पुस्तकालयों तथा पुस्तकाध्यक्षों के कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—"हम परिवर्तशील युग में रह रहे हैं। औद्योगिक क्रांति ने अनेक सुन्दर वस्तुओं का निर्माण किया है। उनमें अच्छी पुस्तकों का उत्पादन भी शामिल है। पुस्तकालयों एवं पुस्तकाध्यक्षों का यह कर्त्तव्य है कि वे पाठकों के हाथों में अच्छी पुस्तकें ही दें, ताकि उनकी रुचि बढ़े।

उन्होंने आगे कहा कि भारत में ही नहीं बल्कि पूर्वी देशों में पुस्तकालयों का अभाव है। मैं प्रत्येक गाँव के लिए पुस्तकालय चाहता हूँ।"

हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—

अक्टूबर के 'साहित्य सन्देश' में मृगावती की एक प्रति पर टिप्पणी लिखते हुए हमने हस्त लिखित हिन्दी ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक छोटा सा नोट दिया था। उसे पढ़कर अनेक पाठकों के पत्र हमें मिले हैं जिनसे विदित होता है कि हस्त लिखित ग्रन्थों की रक्षा की आवश्यकता सभी अनुभव कर रहे हैं और वे इस कार्य में मदद करने को भी तैयार हैं। हम चाहते हैं कि हमारे सभी पाठक इस पुण्यकार्य में हमारी मदद करें। सभी पाठकों के पास या उनके मित्र-परिचितों के पास हाथ की लिखी एक-दो-दस प्राचीन पुस्तकें अवश्य होंगी। उनके पास न भी हों और वे जरा सा कष्ट कर अपने स्थान के अन्य भाइयों से पूछताछ करेंगे तो अवश्य ही ऐसी दस-बीस पुस्तकों का पता लगा

हस्तलिखित ग्रन्थ-परिचय

ग्रन्थ का नाम……………………………………भाषा……………………

मूल, अनुवाद या टीका……………………………………………………

विषय…………………………………………………………………

रचना संवत्……………………………………लिपि का संवत्……………………

लिपिक का नाम…………………………………………………………

पत्र का आकार……………………………………पत्र संख्या……………………

स्थिति (पूर्ण, अपूर्ण, कटी-फटी, गुटका, पत्राकार या पुस्तकाकार)……………………

चित्र……………………चित्र संख्या……………………सादा या रङ्गीन……………………

कागज या ताड़पत्र, कैसा कागज……………………………………………

मिलने का पूरा पता……………………………………………………

……………………………………………………………………

परिचय भेजने वाले का पूरा पता………………………………………………

……………………………………………………………………

सकेंगे जो आज नहीं कल अरक्षित अवस्था में पहुँच सकती हैं। सुपठित और सर्वथा संस्कृत पाठकों के पास भी ऐसे ग्रन्थ हों उनसे भी उनका परिचय लेकर हमारे पाठक हमारे पास भेज सकेंगे तो हम उनके बड़े आभारी होंगे।

परिचय भेजने के लिए हम नीचे नमूने का एक फार्म दे रहे हैं। इसे भर कर भेजा जा सकता है। एक से अधिक ग्रन्थों के लिए अलग कागज पर ऐसे ही फार्म बनाए जा सकते हैं। अथवा हमारे कार्यालय से ऐसे ही छपे हुए फार्म मँगाए जा सकते हैं और उन्हें भर कर हमारे पास भेजा जा सकता है। परिचय भेजने का पता है 'साहित्य सन्देश कार्यालय, साहित्य कुञ्ज, आगरा।' ऐसा परिचय जितने अधिक से अधिक ग्रन्थों का हमें मिल सकेगा उतने ही अधिक हम आभारी होंगे। हमें विश्वास है कि हमारे हजारों पाठक यदि चाहेंगे और इस विषय में थोड़ी सी भी रुचि लेंगे तो शीघ्र ही हमें हजारों ग्रन्थों का परिचय मिल जायगा। इससे हिन्दी साहित्य को बहुत लाभ होगा। उसके अप्रकाशित अध्याय पर प्रकाश पड़ेगा और अनेक लुप्त ग्रन्थ सामने आवेंगे। इससे अप्राप्य ग्रन्थों के प्रकाशन करने में भी मदद मिलेगी। हम स्वयं भी ऐसे कुछ ग्रथों को छापने की बात सोच रहे हैं। जो सज्जन ऐसे ग्रन्थों को भेज या भिजवा सकेंगे उनका हम स्वागत करेंगे।

ग्रन्थों के परिचय प्राप्त करने या उनकी सुरक्षा के लिए यहाँ पहुँचाने में आवश्यक व्यय हम देने को तैयार हैं। हिन्दी के ग्रन्थों के लिए तो यह हमारा प्रयास है ही, परन्तु दूसरी भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों के संरक्षण करने और उनका परिचय प्राप्त करने की भी हमारी इच्छा है और हम अपने पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे ऐसे ग्रन्थों का परिचय जल्दी से जल्दी हमारे पास भेज कर हमें आभारी करें। ताड़पत्र पर लिखे ग्रन्थों का परिचय भी आना आवश्यक है।

आवश्यक उद्धरण

ग्रन्थकार या रचनाकाल तथा उद्देश्य विषयक उद्धरण

ग्रन्थारम्भ के कुछ छन्द

मध्य के कुछ छन्द

अन्त के कुछ छन्द

उपन्यास में मनोविज्ञान

आचार्य श्री विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' एम० ए०

उपन्यास में मनोविज्ञान का स्थान निर्धारित करने के लिए हमें यह जानना आवश्यक होगा कि उसमें पात्रों का स्थान क्या है क्योंकि मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पात्रों से है। पात्र उपन्यास के सात तत्त्वों में से एक है। वे सब तत्त्व एक दूसरे के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं कि उनमें से किसी एक तत्त्व को प्रमुखता और महत्ता प्रदान करना श्रेयस्कर नहीं हो सकता। बल्कि हमें यह भी देखना होगा कि वे तत्त्व एक दूसरे से इतने अभिन्न हैं कि इस प्रकार की प्रमुखता और महत्ता से पूर्व किसी विशेष तत्त्व को भिन्न करना उपन्यास की कला पर आघात ही होगा। परन्तु उपन्यास साहित्य की उन विधाओं में से है जो जीवन के अत्यन्त समीप हैं। 'मेथियू आर्नल्ड' की साहित्य सम्बन्धी वह व्याख्या और परिभाषा जिसमें वह कहता है कि “साहित्य जीवन की व्याख्या है” उपन्यास पर पूर्णरूपेण घटित होती है। इस कारण उपन्यास पात्रों से विशेष सम्बन्ध रखता है क्योंकि वह पात्रों के जीवन की व्याख्या है। हमारे हिन्दी जगत के विद्वानों ने भी उपन्यास की परिभाषा व्यक्त करते हुए पात्रों को विशेष महत्ता दी है। बाबू गुलाबराय की परिभाषा भी यही है कि “उपन्यास मानव जीवन का चित्र है”। मुन्शी प्रेमचन्दजी के मतानुसार हम उनके विचारों को इन शब्दों में स्पष्ट हुए पाते हैं “मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।” इन परिभाषाओं में हमारे ये विद्वान पात्रों के चरित्र-चित्रण को विशेष महत्ता प्रदान करते हैं। परन्तु 'श्यामसुन्दरदासजी' ने उपन्यास की जो परिभाषा निश्चित की है कि “उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है” उसमें कथावस्तु को ही अधिक महत्ता दी गई है। इसके अनुसार स्वभावतया ही कुछ मतभेद हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है और जब हम श्यामसुन्दरदासजी के उपन्यास सम्बन्धी चार कोटियों का निर्धारण देखते हैं तो यह विवाद कि महत्ता पात्रों को मिलनी चाहिए या कथावस्तु को अथवा अन्य किसी तत्त्व को और भी प्रखर हो जाता है। उन्होंने उपन्यासों की चार कोटियाँ मानी हैं:—

१—घटना प्रधान।
२—सामाजिक।
३—अन्तरङ्ग।
४—देशकाल सापेक्ष तथा निरपेक्ष।

इस विभाजन में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास की एक विशेष कोटि, अर्थात् 'अन्तरङ्ग जीवन सम्बन्धी' ऐसी है जिसमें पात्रों का चरित-चित्रण प्रमुख स्थान प्राप्त करता है। परन्तु अन्य तीन कोटियों में कहीं घटना और कथावस्तु प्रधान है और कहीं सामाजिक परिस्थितियाँ और कहीं देशकाल सम्बन्धी वातावरण। 'हडसन' ने उपन्यास की कला सम्बन्धी एक विशेष बात हमारे समक्ष रखी है कि घटना और पात्रों का समुचित सङ्कलन होना चाहिए। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि दो तत्त्वों का ऐसा सङ्कलन जिसकी ओर हडसन ने संकेत किया है, किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? हडसन इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार देते हैं कि घटनाओं पर पात्रों का नियन्त्रण होना चाहिए। इससे घटनाओं का प्रवाह नियन्त्रित गति से आगे बढ़ता हुआ दिखाई देगा जो उपन्यास की कला को यथेष्ट रूप से उत्कृष्ट बना देगा। यदि हम इस बात को स्वीकार करें तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि उपन्यास में पात्रों की ही प्रधानता होगी।

परन्तु इस प्रकार की स्वीकृति हमारे प्रश्न को हल करने में सहायक नहीं हो सकती। और हमारे वास्तविक जीवन का यह प्रश्न हमारे समक्ष उदय होता हुआ दिखाई देता है कि सृष्टि पूर्व निर्धारित है अथवा व्यक्तियों का सङ्कल्प स्वतन्त्र है ? यदि सृष्टिक्रम को पूर्व निर्धारित मान लिया जाए तो उस अवस्था में व्यक्तियों के कर्त्ता पात्र हमें असमर्थ दिखाई देंगे। दूसरी ओर यदि व्यक्तियों के सङ्कल्प को स्वतन्त्र मान लिया जाये तो पात्र न केवल परिस्थितियों के निर्माता दृष्टिगोचर होंगे अपितु परिस्थितियों के सञ्चालक भी। पात्रों के सङ्कल्प को स्वतन्त्र मानने वाले हमारे कुछ आलोचकों ने पात्रों से उपन्यासकार के विरुद्ध विद्रोह करवाया है जैसा कि श्री नगेन्द्रजी ने 'वाणी के न्याय मन्दिर' शीर्षक वार्तालाप में प्रेमाश्रम के एक पात्र ज्ञानशङ्कर द्वारा प्रेमचन्दजी के प्रति कई अभियोग लगाए हैं। प्रेमाश्रम में मुन्शी प्रेमचन्दजी ने विना कोई विशेष कारण दिये ज्ञानशङ्कर द्वारा आत्महत्या करवाई है। वहाँ प्रेमचन्दजी का यह प्रलोभन हमें दिखाई, देता है कि वह घटनाओं को एक विशेष दिशा की ओर मोड़ना चाहते हैं। वह गांधीवाद से प्रेम रखने वाले अन्य कुछ पात्रों को आदर और सम्मान प्रदान करने के हेतु ज्ञानशङ्कर में आत्महत्या की प्रवृत्ति का आधार दरशाए विना उससे आत्महत्या करवा देते हैं। घटनाओं के लिए ऐसा प्रलोभन उपन्यास के लिए अवश्य ही अनिष्टकर है। इसीलिए तो थैकरे ने भी कहा है कि मैं अपने द्वारा निर्माण किए गये पात्रों के हाथ की कठपुतली बन जाता हूँ और वह मुझे कहाँ किस ओर ले जाते हैं इसका मुझे ज्ञान नहीं रहता। हमने कुछ उपन्यासों में देखा कि लेखक घटनाओं के चक्कर में आकर पात्रों को किसी विशेष परिस्थिति में विशेष स्थान पर प्रस्तुत कर देता है। ऐसी स्थितियाँ न केवल वास्तविक जीवन से बहुत परे होती हैं बल्कि वे पाठकों को अरुचिकर भी प्रतीत होती हैं। कारण, उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली बने हुए पात्र सजीव पात्र नहीं होते और वह जीवन की वास्तविक व्याख्या करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। सजीवता और वास्तविक जीवन में दैवयोग सम्बन्धी घटनाओं का भले ही अपना निजी अस्तित्व हो परन्तु जीवन का एक बड़ा भाव हमें अपने द्वारा निर्मित परिस्थितियों में ही उलझाने वाला दिखाई देता है और यह बात तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि उन सङ्कल्पों के निर्माता हम स्वयं ही होते हैं जो ऐसी परिस्थितियों और घटनाओं का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हमें पात्रों की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है और उसके साथ ही पात्रों की सजीवता भी।

परन्तु सजीव पात्र कौन हो सकते हैं ? श्यामसुन्दरदासजी ने कहा है कि "पात्रों पर एक वास्तविकता का परिधान होना चाहिए। उपन्यास के पात्रों के प्रति हमारा स्नेह, ईर्ष्या, द्वेष, उसी प्रकार उत्पन्न हो कि जिस प्रकार हमारे वास्तविक जीवन में सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के प्रति हमें होता है।" यह बात सत्य ही है कि उपन्यास के पात्र हमें उपन्यास के पृष्ठों में घूमते और चलते फिरते दिखाई देने चाहिए। उपन्यास पढ़ लेने के पश्चात् भी हमें उनका स्मरण उसी प्रकार रहना चाहिए मानो हमारे जीवन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति ही थे। सजीव पात्रों में विकास और ह्रास, उत्थान और पतन, प्रभावोत्पादन और प्रभावग्रहण स्पष्ट व्यक्त होने चाहिए। चाहे वह परिस्थितियों का स्वयं ही निर्माण करें परन्तु वह मकड़ी के जाल के समान अपने द्वारा निर्मित घटनाओं से प्रभावित होते हुए भी दिखाई दें। इसलिए उनके चरित्र में किसी प्रकार का भी परिवर्तन युक्तियुक्त ढ होना आवश्यक है। चरित्र के परिवर्तन के लिए उपन्यासकार दो प्रकार के कारणों में से किसी को उपस्थित कर सकता है। वे कारण हैं—

१—दैवयोग सम्बन्धी घटनायें।

२—उसके मानस-पटल के स्तर को क्रमानुसार उभारते जाना अथवा उसकी कुछ विशेष प्रवृत्तियों को एक एक करके विकास प्रदान करना।

दैवयोग सम्बन्धी घटनाओं का बाहुल्य कथानक को अवास्तविक बना देगा परन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि चरित्र के परिवर्तन में ये घटनायें अपना विशेष स्थान रखती हैं। यदि चरित्र परिवर्तन की इन दो विधाओं को हम स्वीकार कर लें तो उसके फलस्वरूप यह भी स्वीकार करना होगा कि उपन्यास में मनोविज्ञान विशेष स्थान रखता है।

इसके पश्चात् एक दूसरा कारण भी है। जिसने आधुनिक युग के उपन्यासों में मनोविज्ञान को स्थान देने में सहायता की है। आज का जीवन कोलाहल और सङ्घर्ष से परिपूर्ण है। बाहर के कोलाहल और सङ्घर्ष से पीड़ित व्यक्ति अन्तर्मुखी हो गया है। उसकी भावनायें अन्तःजगत् का विश्लेषण करने के लिए अधिक समर्थ और क्रियाशील हो गई हैं। हम जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के उद्देश्यों को जानने का प्रयत्न करते हैं और इस को छिपा रखने की कला भी आज के युग के मानव ने खूब सीखी है। राजनैतिक नेता स्टेज पर खड़ा होकर विश्वशान्ति और देशकल्याण की बातें करता है परन्तु अपने निजी उद्देश्य····वोट प्राप्त कर सत्तारूढ़ होना···· आदि को व्यक्त नहीं करना चाहता। सामाजिक व्यक्ति देव आराधना के लिए मन्दिर में जाता है परन्तु अपने कारोबार के ग्राहक बनाने की और अपने लिए सम्मानित स्थान प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा को व्यक्त नहीं करता। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति का बाह्य उद्देश्य कुछ और किन्तु अन्तर उद्देश्य कुछ भिन्न ही दिखाई देता है। इसी कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उद्देश्यों की खोज के लिए दौड़ धूप लगी हुई है। व्यक्ति के अन्तर्मन के उद्देश्यों ने विशेष महत्ता भी प्राप्त करली है। न्यायाधीश का निर्णय निर्धारण इस बात पर आधारित होता है कि अभियुक्त ने किसी को मार डालने की इच्छा से मारा है अथवा आत्मरक्षा की इच्छा से। जासूस अपराधी के अन्तर्मन के उद्देश्य को जानना चाहता है ताकि वह उसके कृति सम्बन्धी कार्य कारण को समझ सके। जीवनी-लेखक और इतिहास-लेखक की बुद्धि इस बात पर केन्द्रित रहती है कि वह जिस जीवन सम्बन्धी घटनाओं को अङ्कित कर रहा है उस जीवन के प्रमुख उद्देश्य क्या थे? उसके सब कार्य जानबूझकर किए गए अथवा अनजाने ही? इन उद्देश्यों की खोज उपन्यास में उपन्यासकार मनोविज्ञान-विश्लेषण द्वारा ही प्रदर्शित कर सकता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि घटना प्रधान सामाजिक अथवा देशकाल सम्बन्धी उपन्यासों में मनोविज्ञान के लिए स्थान ही नहीं। वस्तुतः उनमें मनोविज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में निहित ही रहता है। जिस उपन्यास का निर्माण केवल कौतूहल को शान्त करने के लिए ही हुआ हो उसमें भी हम देखते हैं कि लोभ सम्बन्धी निकृष्ट उद्देश्यों की हीनता और मान और प्रसिद्धि प्राप्त करने सम्बन्धी सूक्ष्म उद्देश्यों की प्रधानता मिलती है। फिर घटनाचक्र भी पात्रों के एक-दूसरे पर प्रभाव डालने के कारण उत्पन्न हो सकता है और पात्रों का यह प्रभाव उनके व्यक्तित्व में छिपा हुआ है। इन पात्रों का व्यक्तित्व उनके उद्देश्यों से कदापि भिन्न नहीं हो सकता। इसलिए घटना प्रधान और अन्य प्रकार के उपन्यास की कोटियों में भी उपन्यासकार को अपनी बुद्धि मनोविज्ञान पर केन्द्रित करनी पड़ती है।

यहाँ तक तो विवेचन हुआ उपन्यास में मनोविज्ञान के महत्वपूर्ण स्थान का। अब दो-चार बातें उसकी मात्रा पर भी कह देना अप्रासङ्गिक न होगा। उपन्यासकार को मनोविज्ञान के नियमों को आधारभूत तो अवश्य मान कर चलना चाहिए। परन्तु उनसे अपनी विचार-परम्परा को जकड़ लेना उचित नहीं है। सभी घटनाओं और सभी भावों के सम्बन्ध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानी अरोचक और अस्वाभाविक हो जावेगी। क्योंकि मनुष्य के मन पर मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे कार्य की

(शेष पृष्ठ १९९ पर देखिए)

वीर रस का स्थायीभाव

श्री महेन्द्रप्रताप एम० ए०

वीरता का अर्थ प्रायः लोग मार-काट से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में यह एक हिंसात्मक भाव है। हिंसा का स्पष्ट आशय है ध्वंश । वीरता अर्थात् विध्वंस, विनाश, कुछ आग्नेय ! प्राचीन अर्थों में आज वीरता चाहे न भी रह गयी हो, किन्तु क्योंकि वीरता की ध्वंसात्मक कल्पना शेष है, इसलिये आज भी परमाणु अस्त्रों के आविष्कर्त्ता एवं उपयोगकर्त्ता जनसाधारण द्वारा वीर शब्द से अभिहित और अलंकृत किये जाते हैं। फिर भले ही चाहे वे कुछ न कहें। इसी कारण गांधीजी की अहिंसा का दूसरा नाम कायरता भी प्रायः समझा गया है। परिणामतः वीरता और कायरता हिंसा और अहिंसा के समानार्थक से हो गये हैं। वस्तुतः इस अर्थ में क्रियात्मकता अधिक और प्रकृत्यात्मकता कम सन्निहित हो गयी। अथवा यों कहें कि एक विशिष्ट क्रिया या कर्म मन की विशिष्ट प्रकृति का आधार होकर रह गया। मनोभाव कर्म का आधार नहीं बना। कर्म ही परख की मात्र कसौटी है फिर चाहे जो मनोभावना उसके पीछे रही हो। इस मापदण्ड के कारण एक बड़ी भ्रान्ति यह हुई कि गांधी और कृष्ण या गांधीवाद वा गीता हमारी इस कसौटी पर दो विरोधी तत्त्व से जान पड़ने लगे। लोग एक को अहिंसा का देवता तो दूसरे को हिंसा का प्रेरक समझ कर इन दो मूलतः एक मतवादों में सामञ्जस्य स्थापित न कर सके । जिन कतिपय महानुभावों ने सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया भी, वह नीतिपरक होने के कारण बाह्य ही बनकर रह गया। अन्यथा निष्काम कर्म कसौटी होता, कर्म विशेषण न होकर संज्ञा होता ।

ऊपर लिखित वीरता के विशेषण से बहुत लोग सहमत नहीं होंगे। उनमें से अनेक वीरता को व्यापक अर्थ में भी ग्रहण करते होंगे, किन्तु मेरा तात्पर्य संकुचित या व्यापक अर्थों से नहीं। वीरता का अर्थ संकोच हिंसा नहीं हुआ है अन्यथा उसके मूल अर्थ में कोई परिवर्तन न होता । यह अर्थ परिवर्तन भी है कि नहीं यह भाषाविदों के विचार का प्रश्न है। मेरा संकेत अर्थ दोष से है।

वीरता एक मनोभाव है। मनोभाव और मनोवृत्ति में बड़ा भेद है। मनोभाव एक मूल तत्त्व है जो प्रायः अपरिवर्तनीय होता है किन्तु प्रवृत्तियाँ बहुधा बाह्यपरक होने से परिवर्तनीय होती हैं। हिंसात्मक कर्म करना एक प्रवृत्ति भी है। युद्ध लिप्सा उसी हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है। आवश्यक नहीं कि इस प्रवृत्ति का मूल सदैव वीर भाव में ही खोजा जाए। निजी स्वार्थ वश की गयी हिंसा का मूल वीरता में नहीं। किसी विशिष्ट परिस्थिति में एक कायर भी हिंसक हो सकता है। किन्तु यदि वीरता संहारात्मक हो जाए तो वह हिंसा कहलायेगी। हिंसा का अर्थ है हनन् या संहार। यहाँ यह प्रश्न हम नहीं उठा रहे हैं कि हिंसा अच्छी है अथवा बुरी। जैसे वीरता का एक स्वरूप कभी-कभी संहारात्मक भी हो उठता है उसी तरह उसका एक दूसरा स्वरूप संघर्षात्मक भी है। संहार या संघर्ष यहाँ एक ही मूल शक्ति के दो भिन्न-भिन्न प्रकार के विस्फोट हैं। संहार समाजपरक है। संघर्ष व्यक्तिपरक। संहार और संघर्ष रूप क्रियाओं की सञ्चालन शक्ति जिस प्रकार एक हो सकती है उसी प्रकार उस मूल शक्ति द्वारा क्रियायें भी अनेक दिशाओं में अनेक हो सकती हैं।

"वह मूल शक्ति थी एक कला,
विकस चली जिसकी सब लीला।"

यदि और अधिक स्पष्ट समझना हो तो एक शक्ति-यन्त्र (पावर इञ्जन) का उदाहरण सामने रखें। यह एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति का स्रोत है। उस शक्ति

से अनेक लाभ उठाए जा सकते हैं । जैसे आटा पीसना, तेल निकालना, रुई छाँटना, लकड़ी काटना आदि । उसी शक्ति का दुरुपयोग भी अगर कोई दुर्बुद्धि करे तो बड़े शौक से । इस मूल शक्ति और उस मुख्य क्रिया के बीच भी कुछ है—वह है उसका साँचा । जैसे यदि आटा पीसना हो तो उस साँचे विशेष में धान डालना होगा । उससे लकड़ी नहीं काटी जा सकती । लकड़ी काटने का साँचा दूसरा है । यही साँचा वह मनोवृत्ति है । वह सारी जीवन -शक्ति उस मनोवृत्ति के अनुकूल अपना कार्य करेगी । जैसा जिस का साँचा होगा वैसा ही उसका कर्म ।

मेरे उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वीरता एक मनःशक्ति है जो नाना रूपों में प्रवाहमान होती हुई मानवीय प्रवृत्तियों, इच्छाओं और स्वभावानुसार नाना रङ्ग बदलती हुई अन्ततोगत्वा किसी न किसी कर्म-विशेष में जा प्रस्फुटित होती है । प्रत्येक कर्म हमारी इन्हीं प्रकार की कतिपय मनःशक्तियों एवं प्रवृत्तियों का बाह्य रूप या निर्मिति है । एक कर्म अनेक ऐसी शक्तियों का परिणाम है । उन शक्तियों में वीरता का स्थान निःसन्देह सर्वोपरि है । एक डाकू द्वारा की गयी हत्या, सैनिक द्वारा किया गया प्राणहरण, और किसी देशभक्त का आत्मोत्सर्ग इन सब के मूल में वीर भाव पूर्णतः निहित है । यह प्रश्न दूसरा है कि हम एक की पूजा करें और दूसरे से घृणा । किन्तु उनका साहस सभी को मान्य होता है ।

साहित्य शास्त्रियों ने वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' माना है । फलतः कतिपय उत्साही साहित्यालोचकों ने वीर रस को व्यापक अर्थ में प्रयोग कर मौलिकता प्रकट की है । इन्होंने नायिका के घर के दिन में दस चक्कर लगाने वाले नायक का उत्साह देख कर शृङ्गाररस में वीर रस की भी स्थिति मान ली है । वीर रस को रसराज मानने वालों का दावा है कि जब तक किसी कर्म या भाव के मूल में उत्साह रूप बीज ही नहीं तब तक उसकी उत्पत्ति ही असम्भव है । इसलिये सब रसों का मूल है वीररस । इस प्रकार सब रसों में वीर रस की व्याप्ति अनिवार्यतः दिखला कर हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक वीर रस की प्रच्छन्न परिव्याप्ति ही एक सुदीर्घ परम्परा खोज निकालती है । उनका यह उत्साह देख कर उन्हें भी स्वयं वीर रसनायक कहने की इच्छा होती है । एक दूसरा वर्ग है जिसे यह पहिला वर्ग वीर रस को संकुचित साँकलों में बांधने वाला कहता है । इस दूसरे वर्ग के विद्वानों को आज के युग में उस आदि-युग की वीर रस प्रधान कवितायें अप्राप्य रहने से एक चिन्ता यह खड़ी हो गयी है कि कहीं हमारे चिर-पोषित नव रस बालकों में से एक बालक वीर रस विलुप्त न हो जाये । परिणामतः उनके लिये वीर रस आज केवल एक ऐतिहासिक महत्व का विषय बनता जा रहा है । वीर रस की यह दुर्गति ऊपर लिखित दो प्रकार के अर्थ विक्षेपों के कारण हुई जान पड़ती है । एक ने वीर रस का स्थायी भाव उत्साह मान कर उसे अतिव्याप्त कर दिया और दूसरे ने अज्ञात रूप से कर्म विशेष को वीर रस निष्पत्ति की कसौटी मान कर उसे अति संकुचित बना दिया है । एक तीसरा वर्ग भी है जिसने वीर शब्द का प्रयोग तो ठीक किया है किन्तु उसकी व्याख्या गलत की है । दानवीर, कर्मवीर, धर्मवीर, युद्धवीर आदि शब्द समुच्चय उन्हीं के प्रयोग हैं । मेरे एक विद्वान् प्रोफेसर 'परीक्षावीर' भी प्रायः कहा करते थे । इस अर्थ में वीर शब्द का प्रयोग कुछ अधिक समीचीन जान पड़ता है ।

'उत्साह' को वीर रस का स्थायी भाव मानने से पूर्व इन प्रश्नों का उत्तर आवश्यक है । क्या उत्साह जीवन का कोई स्थायी तत्त्व है ? क्या कोई व्यक्ति जीवन में चौबीसों घण्टे उत्साही रह सकता है ? और क्या उत्साह केवल किसी वीर पुरुष का ही लक्षण है । एक नव विवाहिता दम्पत्ति के अहोरात्र फूट रहे उल्लास को आप क्या नाम देंगे ? प्रकट है कि वीर रस के स्थायी भाव को उत्साह संज्ञा देना विकट भूल है । हम उसे एक सञ्चारी भाव से अधिक नहीं मान

सकते। किसी भी रस में सञ्चारी रूप से उत्साह का होना आश्चर्यजनक नहीं। वीर भाव की मूल भित्ति है 'साहस'। साहस एक शक्ति कुञ्ज है और मन का स्थायी तत्त्व भी। किसमें कितना साहस है यह व्यक्ति पर निर्भर है। शून्य से प्रारम्भ होकर विराट् तक इसकी परिधि हो सकती है। एक ही सूत्र के दो छोर हैं। एक का नाम है साहस तो दूसरे का भय। साहस और भय अखिल मानव मन के दो ऐसे छोर हैं जिनके भीतर किसी भी अवस्था में यह रहा करते हैं। और अपनी उसी अवस्था के अनुकूल सारे जीवन की व्यवस्था किया करते हैं। प्रेम भी जीवन की एक महान् शक्ति है। किन्तु एक वीर पुरुष और कापुरुष के प्रेम की अभिव्यक्ति प्रायः भिन्न भिन्न रूपों में होती है। साहस रूप अपर शक्ति, प्रेम रूप एक ही शक्ति में दो भिन्न मात्राओं में मिलकर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। एक वीर प्रेमी शक्ति का महा मानव है। इसीलिए हिन्दी साहित्य का आदि युग शौर्य और शृङ्गार का अखण्ड योग पाकर ज्वालामुखी सा फूट निकला है। चमकती हुई रक्त पिपासू व दोधारी तलवार की नोंक के ऊपर प्राण रखे हुए निर्मोही योद्धा वीर भाव की प्रतिमूर्ति बनकर रह गया। और हमें उसका उफनता उत्साह देख कर लगा कि बस यही तो वीर रस खड़ा है।

साहस जीवन के साथ एक खेल जैसा व्यवहार कर सकने का नाम है। जो पुरुष जितना अधिक सहज रूप में यह खेल कर सकने की क्षमता रखता है वह उतना ही अधिक साहसी है। जो साहित्य जितना अधिक सहज भाव से जीवन के साथ खेल खेलने की प्रेरणा देता है वह साहित्य उतना ही अधिक वीर रस पूर्ण है। साहस एक मनोबल है जो अपने ढाई हाथ के शरीर के प्रति एक दम निर्मोही होकर जीता है। वहाँ आशङ्का, भ्रम, उद्वेग, निराशा, और चिन्ता जैसे जीवन क्षयकारी रोगों के लिये कोई स्थान नहीं। जो साहित्य जीवन में वैसा मनोबल उद्बुद्ध कर उसके प्रति वैसी निराशक्त अनुभूतियाँ जगाएगा वही साहित्य अपने वास्तविक अर्थों में वीर रसात्मक साहित्य होगा। साहस निजी जीवन के प्रति निश्चिन्त एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण है। ऐसा जीवन दृष्टिकोण जो साहित्य दे सकेगा वही साहित्य वीर रसात्मक कहलाने का अधिकारी होगा।

रस का दूसरा नाम साधारण भाषा में आनन्द है। अनुभूति व्यक्ति परक होने के कारण सापेक्षिक है। किन्तु फिर भी किसी विषय की अनुभूति का नितान्त अभाव प्रायः नहीं होता। अल्पाधिक मात्रा में सभी प्रकार की अनुभूतियाँ प्रत्येक व्यक्ति को तत्सम्बन्धी अन्य सहकारी तत्त्वों की उपस्थिति से प्रायः हुआ करती हैं। वीर भाव की अनुभूति भी इसका कोई अपवाद नहीं। सफल साहित्य की एक कसौटी यह भी है कि वह पाठक को अपने में पूर्णतया डुबो लेने की सामर्थ्य रखता हो। जिस विषय का साहित्य होगा उसी विषय का साधारणीकरण भी होगा। किन्तु फिर भी महाकवि तुलसीदास जी की 'विनय-पत्रिका' में किसी रामभक्त को भक्ति रस में डुबाकर आत्म विभोर कर देने की जो क्षमता है वही विनय-पत्रिका सम्भवतः बीसवीं सदी के बौद्धिक व्यक्ति को किंचित भी परितोष न कर सके। इसमें दोष 'विनय-पत्रिका' का बहुत न होगा। वही स्थिति वीर रस सम्बन्धी साहित्य की भी हो सकती है। एक वीर पुरुष के लिये वह साहित्य आनन्द का सरोवर हो सकता है जबकि एक कापुरुष अथवा कामी को वही साहित्य विकर्षण का केन्द्र भी। जो वीर साहित्य कायर के हृदय को भी एक बारगी झकझोर कर हिला सके उसका साफल्य सर्वमान्य है। हिन्दी साहित्य की परख की इस कसौटी पर रखते हुए उसकी सापेक्षता का भी पूरा ध्यान रखना होगा।

वीर रस की इस तुला पर हिन्दी साहित्य को तोलते हुए हमें उसका पुनर्मूल्याङ्कन करने की आवश्यकता है। हमें जान पड़ेगा कि कोई समय आज तक ऐसा नहीं गुजरा जो वीर-भावना से शून्य रहा हो और किसी काल का हिन्दी साहित्य ऐसा नहीं

जो वीरता का उत्प्रेरक न रहा हो। वीर रसात्मक साहित्य हमारे साहित्य का एक बड़ा सशक्त अंश है। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के समय ने जिसे हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक वीरगाथा काल के नाम से अभिहित करते हैं, वस्तुतः हमारे सामने ऐसी परिस्थितियों को उपस्थित किया था जो हमारे साहस और धैर्य की कठोर परीक्षिका बनीं और जिन्होंने हमारे कवियों के सुप्त साहस को जगा कर साहित्य में भर दिया। रीति युग में कविवर भूषण की उपस्थिति अपना निजी गौरवपूर्ण अस्तित्व रखती है। समस्त रीति-युग की स्वकेन्द्रित शृंगारिकता में भूषण के कवित्त ऐसे धधकते हैं मानों शहन्शाही ठाठ के मृदुल मसृण मखमली लिहाफ में किसी ने एक जलती चिनकारी सुलगा दी हो। आज का युग फिर मनुष्य की परीक्षा करने आया है। पहिले से भी कहीं अधिक भयङ्कर रूप में। सम्पूर्ण दलबल सहित। उसने मनुष्य की समस्त मानसिक शक्तियों को अमानवीय ललकार दी है। और इधर मनुष्य, उस समय का सामुदायिक मनुष्य, आज निरा अकेला होता जा रहा है, दिन-रात एक विस्फोट होता जा रहा है। भयङ्कर सङ्घर्ष, होड़ पर होड़। परिस्थितियाँ बदल गयी होंगी, विषय भी बदल गये होंगे, कल्पनाएँ मान्यताएँ भी बदल गयी होंगी, किन्तु मनुष्य-मनुष्य की मनोवृत्तियाँ अभी तक नहीं बदलीं। उधर उसके अमानुषिक इरादे नहीं टूटे। इधर जन का साहस नहीं जागा। समय आया है और उसका सुप्त साहस जागना चाहता है। हे युग-कवि उठ और उसको जगा।

इस विषय पर हम विचार-विमर्श का स्वागत करेंगे।

—सम्पादक

(पृष्ठ १९५ का शेषांश)

उत्पत्ति होना वर्णित है, उस कारण से कभी-कभी वैसा कार्य नहीं उत्पन्न होता। अतः मनुष्य का मानसिक भाव उसे जिस अवस्था की ओर ले जाय, उसी का वर्णन करना चाहिए। इस बात की चिन्ता न करनी चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती। घटना-चक्र के निदर्शन और भाव-चित्रण के मूल में मनोविज्ञान प्रच्छन्न रूप में ही रहना चाहिए।

घटना विस्तार और चरित्र-चित्रण करने में मानस-शास्त्र का आधार अवश्य लेना चाहिए पर उतना ही जितने से मानव-मन की स्वाभाविक गतियों को गर्त में गिरने से बचाया जा सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि सब के मन एक से नहीं होते, सब की ज्ञानेन्द्रियों की ग्राहिका शक्ति भी एकसी नहीं होती। अतः जिसके मन में मानसिक भावों का विकास करना है, उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था की, आलोचना करनी चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। अन्यथा उपन्यास हास्यास्पद होगा, अस्वाभाविक होगा और नीरस शास्त्र मात्र होकर रह जायेगा।

पृथ्वीराज रासो के वृहद संस्करण के उद्धारक अमरसिंह द्वितीय थे?

श्री अगरचन्द नाहटा

साहित्य सन्देश के गत अप्रेल अङ्क में पृथ्वीराज रासो के वृहद संस्करण के उद्धारक-शीर्षक मेरा लेख छपा है उस पर "पुनः विचार" के रूप में श्री गङ्गा-प्रसाद कमठान का जून अङ्क में लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने अन्य प्रसिद्ध बातों से प्रारम्भ करते हुए वृहद संस्करण के उद्धारक के सम्बन्ध में चार वर्ष पूर्व सरदार उमरावसिंह के ग्रन्थागार में उनकी देखी हुई रासो की प्रति का वह उद्धरण दिया है जिसमें "रान जगतेश त्रप" के स्थान पर "अमरा द्वतीय त्रप" पाठ है। इस पर से रासो के वृहद् संस्करण के उद्धारक अमरसिंह द्वितीय होने का मत पुष्ट करते हुए इस पाठ भेद से मेरे मत का खण्डन हो जाता है, लिखा है। पर यह उनकी सर्वथा भूल है। "अमर द्वतीय" का पाठ मिल जाने से ही मेरा मत खण्डित नहीं होता क्योंकि मैंने जिन आधारों पर अपना मत रखा है, उन पर विचार करना चाहिये। मैंने स्पष्ट लिखा था कि अमरसिंह द्वितीय के समय से पहिले की लिखित वृहद रूपान्तर की प्रतियाँ प्राप्त हैं अतएव इससे अमरसिंह द्वितीय के उद्धारक होने का कथन स्वयं असिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जब अमरसिंह के समय से पहिले की लिखी हुई प्रति में वही पद्य मिल जाता है और उसमें जगतेश पाठ स्पष्ट है, तब तो अमरसिंह द्वितीय वाला पाठ जिस प्रति में होगा वह प्रति उसके बाद की है और अमरसिंह द्वितीय के समय में लिखी हुई या उस समय की लिखी हुई प्रति की प्रतिलिपि है। यह पाठ का परिवर्तन निश्चय ही पीछे से प्रति लेखकादि किसी ने किया है। और इसी पर से मैंने यह लिखा था सम्भव है "सं० १७६० में जब अमरसिंह के समय वाली प्रति लिखी गई तब उसमें जगतेश के स्थान पर अमरेश पाठ परिवर्तित कर दिया गया हो या अमरेश पाठ प्राचीन हो और जगतेश परवर्ती पाठ हो तो अमरसिंह पहला होना चाहिए।"

कमठानजी ने सरदार उमरावसिंह का ग्रन्थागार कहाँ है और उस संग्रह की रासो की जो प्रति उन्होंने देखी वह किस समय की लिखी हुई है—इसका निर्देश नहीं किया जो आवश्यक था। आपका यह लिखना भी सही "सङ्गत नहीं है कि" इस ऐतिहासिक पद्य पर तत्कालीन परिस्थितियों को आगे रख कर एक दृष्टि डालने से यह (अमरसिंह द्वितीय का नाम) ठीक मालूम पड़ता है क्योंकि अमरसिंह प्रथम का काल सङ्घर्ष का युग रहा फिर भला अमरसिंह प्रथम को रासो की समस्त सामग्री को जो बिखरी हुई थी, सुसम्पादित करने का अवकाश कहाँ था।" वास्तव में तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री के सङ्कलन के प्रयत्न पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि अकबर के समय राजाओं ने अपने प्राचीन गौरव को प्रगट करने वाले इतिवृत को संग्रहीत करवाने का प्रयत्न किया था। ख्यातों संग्यक राजकीय इतिवृत्त ग्रन्थों का लिखा जाना अकबर के समय से ही प्रारम्भ हुआ था। रासो के ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्धि के कारण उस समय भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा रासो का उद्धार या सङ्कलन हुआ। रासो के लघु संस्करण में कूरम वंशीय सूरसिंह के पुत्र चन्द्रसिंह ने इस संस्करण का उद्धार किया स्पष्ट लिखा है—

महाराजी नृप सूर सुव, कूरम चन्द उदार।
रासौ पृथीय राज कौ, राख्यौ लगि संसार॥

× × ×

कूरम सूर नरेस हिन्दु हद उद्धरि रक्खिय।
रघुनाथ चरितु हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि
पृथ्वीराज सुजसु कवि चंद कृत, चन्द्रसिंह उद्धरिय इमि॥

मु० नेंणसी री ख्यात के अनुसार आमेर कच्छ्वा महाराजा मानसिंह के छोटे भाई सूरसिंह और उनके पुत्र चन्दसिंह (चाँदसिंह) थे। उनका समय भी वही (अकबर काल) पड़ता है। लघुतम रूपान्तर की संवत् १६६७ की लिखी हुई प्रति बीकानेर के महाराजा रायसिंह के छोटे भाई भाण के पुत्र भगवानदास के पठनार्थ लिखी है। इन सब बातों पर विचार करते हुए जब बीकानेर वालों ने लघुतम रूपान्तर को लिखवाया और आमेर वालों ने लघु संस्करण का उद्धार करवाया तो उनके समकालीन उदयपुर वाले महाराणा अमरसिंह प्रथम ने रासो के लिखे हुए पद्यों को संग्रहीत करवाया हो यह बहुत अधिक सम्भव और समीचीन है। अमरसिंह प्रथम को रासो के सुसम्पादित करने का अवकाश कहाँ था? लिखना भी विचारपूर्ण नहीं। क्योंकि महाराणा ने रासो को स्वयं सम्पादित किया, यह न तो कहीं लिखा है और न सम्भव है। चाहे वह अमरसिंह प्रथम हो चाहे द्वितीय हो। उनके तो आदेश से ही यह काम हुआ। इसका पद्य में भी स्पष्ट उल्लेख हैं—'हित श्री मुख आइस दियो।' काम तो करने वाले करते हैं राजाओं की तो आज्ञा ही काफी है। और आज्ञा देकर अमरसिंह प्रथम ने यह कार्य करवाया।

बृहद संस्करण के उद्धारक अमरसिंह द्वितीय तो उसके पहिले की लिखी हुई प्रतियाँ मिलने और एक में 'जगतेश' पाठ मिलने से सर्वथा असम्भव ही है। पर जैसा कि मैंने अनुमान किया है 'जगतेश' पाठ भी पीछे का होकर अमरेश पाठ प्राचीन हो तो अमरसिंह प्रथम ही उद्धारक माने जाने चाहिये। उसकी पुष्टि बृहद संस्करण के कुछ खण्डों की प्राचीन प्रतियों के प्राप्त होने से होती है। माणक्य रुचि जी की रासो प्रति के मध्यवर्ती कुछ पत्र ही मिले हैं, पूरी प्रति नहीं मिली। पर उसकी लिपि में पड़ी मात्रा (पृष्ठ मात्रा) का प्रयोग होने से वह १७ वीं शताब्दी के पीछे की तो नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार लंदनवर्ती टॉड कलक्शन की सं० १६६२ वाली प्रति में कुछ खण्ड ऐसे मिले हैं जो लघुतम लघु और मध्यम रूपान्तर से प्रथकता रखते हुए बृहद संस्करण के अधिक समीप है। इन दोनों प्रतियों का लेखन मेवाड़ में ही हुआ था और इससे हमें बृहद संस्करण के उद्धार के सूत्रों की प्राचीनता का स्पष्ट पता चल जाता है। अर्थात् जगतसिंह से पहिले भी बृहद संस्करण के कुछ खण्ड लिखित रूप में प्राप्त थे। ऐसी दशा में अमरसिंह प्रथम का इस संस्करण का उद्धारक होना अधिक सम्भव व सङ्गत हो जाता है।

कमठानजी और कुछ दूसरे विद्वानों ने पुरातन प्रबन्ध संग्रह में प्रकाशित पृथ्वीराज जयचन्द प्रबन्ध का रचनाकाल सं० १५२६ लिखा है वह भी सही नहीं है। वास्तव में वह प्राप्त प्रति का लेखन:काल है रचना काल की प्रति के अन्त में स्पष्ट लिखा है—"संवत १५२८ वर्षे मार्गसिर १४ सोमेश्री कोरणगच्छे श्री सावदेव सूरीणां शिष्येण मुनिगुण वर्द्धनेन लिपी कृतः। मु० उदपरोजयोगमं" अर्थात सं० १५२८ के मार्गशीर्ष १४ सोमवार के दिन कोरण्ट गच्छीय श्री सावदेव सूरी के शिष्य मुनि ने गुणवर्द्धन मुनि उदयराज के लिये लिखी।

मुनि जिन विजयजी ने इस प्रति का परिचय देते हुए लिखा है कि "प्रति का समस्त अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह पूरी प्रति मुनि गुणवर्द्धन की लिखी हुई नहीं है इसकी लिखावट दो तीन तरह की मालूम देती है। प्रथम पत्र से लेकर १५ वें पत्र के प्रारम्भ की दो पंक्तियों तक की लिखावट किसी दूसरे के हाथ की है और फिर उसमें भी दो तरह की कलम मालूम देती है और उससे आगे की सब लिखावट मुनि गुणवर्द्धन के हाथ की है। प्रति का लेख कुछ अव्यवस्थित और प्रायः अशुद्ध है। कहीं-कहीं त्रुटि भी है। कई स्थलों पर लिपिकर्ता ने अक्षरों तथा पंक्तियों की पूर्ति के लिए '........' इस प्रकार के अक्षर शून्य की जगह रख छोड़ी है। सातवें पन्ने की

(शेष पृष्ठ २०७ पर देखिए)

कामायनी में नारी का स्वरूप

श्री ऋषिगोपाल राधाकृष्ण भाटिया एम० ए०

एक स्थान पर सैम्युएल बटलर ने कहा था कि बुद्धिमान पुरुषों के नारी के सम्बन्ध में जो विचार होते हैं उन्हें वे प्रकट नहीं करते। इस पर प्रख्यात लेखिका विर्जिनिया वुल्फ ने आपत्ति करते हुए लिखा है कि—बुद्धिमान पुरुष सिवा नारी के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने के और कुछ नहीं कहते। वस्तुतः नारी पुरुष के लिये अनादि काल से रहस्यमयी रही है परन्तु इस रहस्य को समझने के लिये भी वह हमेशा रहस्यमयी भाषा का प्रयोग करता रहा है, जिसके आवरण में पूरी तरह से यह समझना कि पुरुष ने नारी का क्या स्वरूप अपने सामने स्थिर रखा है, बहुत कठिन बात हो गई है। जयशङ्करप्रसाद भी इसी रहस्यमयता में आवेष्ठित रहे हैं और उनकी प्रायः सभी कृतियों में स्थान-स्थान पर नारी के स्वरूप सम्बन्धी विचार बिखरे हुए हैं। यदि उन्हें एकत्रित कर एक लड़ी में पिरो दिया जाये तो वे स्पष्टतया प्रसादजी के विचारों का प्रतिफलन कर सकते हैं। इन विचारों का सुसङ्गत और प्रौढ़ स्वरूप कामायनी में पूर्णतया देखने को मिलता है इसलिए हम उसी के आधार पर प्रसादजी के विचारों की समीक्षा करेंगे।

कामायनी के दो नारी पात्र हैं—१ श्रद्धा और २ इड़ा। कामायनी में जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है श्रद्धा पात्र की प्रधानता है। नारी का स्वरूप प्रकट करने के लिये भी प्रसादजी ने श्रद्धा का ही मुख्यतया अवलम्ब ग्रहण किया है। सामान्य तौर पर भी श्रद्धा का चरित्र-चित्रण करने से और उसकी मनु से तुलना करने से हम समझ सकते हैं कि प्रसादजी की दृष्टि में नारी का स्वरूप आदर्शमय, स्वार्थ-हीन और मधुरिम रहा है। उनके विचार में नारी में उच्च गुणों की प्रधानता है, उसमें आत्म-समर्पण या त्याग की भावना प्रबल है और वह जो कुछ भी करती है उसे पुरुषार्पण कर सुख मानती है परन्तु पुरुष स्वार्थता नारी की इस त्यागमयी मूर्ति का परिचय प्राप्त नहीं कर पाता। यद्यपि इड़ा का स्वरूप श्रद्धा के आदर्श स्वरूप के साथ मेल नहीं खाता फिर भी प्रसादजी के विचार में मनु के स्वार्थ और पापाचार में इड़ा का कोई हाथ नहीं। इड़ा तो पुरुष के अत्याचार से प्रपीड़िता नारी का प्रतीक हो सकती है। युग-युग से पुरुष नारी को वासना का उपकरण ही मानता आया है और दुर्भाग्य से वह नारी के अन्तर्गत समर्पण-तत्त्व का परिचय प्राप्त नहीं कर पाया।

जब पुरुष एकाकी होता है। उसे जीवन में कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। चारों तरफ केवल उलझनें ही उलझनें दिखाई देती हैं और वह सोचता है—

पहेली सा जीवन है व्यस्त,
उसे सुलझाने का अभिमान।
बताता है विस्मृति का मार्ग,
चल रहा हूँ बनकर अनजान॥

तब स्त्री ही मधुमय रूप धारण किये उसके जीवन में प्रवेश करती है और उसकी एकाकिनी मूक वृत्ति में नवीन भावों की मुखरता भर देती है। वह उसे जीवन के प्रति सजग करती है। उसके अन्दर चेतना का सञ्चार करती है और उसे कर्म की प्रेरणा देती है—

हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मरकर जिसको वीर।

पुरुष जब आँख उठाकर देखता है तो वह अपने सम्मुख नारी के रूप में एक रहस्यमयी शक्ति का आगमन देखता है। वह इस रहस्य को समझने का प्रयत्न करता है परन्तु कुछ भी समझ नहीं पाता। केवल उसे ऐसा लगता है जैसे कोई चुम्बक के समान उसे अपनी ओर खींच रहा है और जितना भी वह उस

की ओर बढ़ता है उतना ही वह उससे दूर होजाती है।

कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर।
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर॥

नारी का यह आकर्षण-स्वरूप नारी के लिये वरदान-स्वरूप है या अभिशाप स्वरूप इस सम्बन्ध में प्रसादजी की लेखनी मूक है। आज भी विश्व में ऐसे विचारकों की कमी नहीं जो नारी के सौन्दर्य्य में कलात्मक विभूति के विकास का दर्शन कर उसे सभी कलहों का मूल मानते हैं और शायद उसके सौन्दर्य्य को आवरण में बंद कर इन समस्याओं से छुटकारा पा लेना चाहते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति के अनन्य अनुरागी प्रसाद के विचार उन लोगों से मेल नहीं खाते। प्रसादजी की दृष्टि आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होने के कारण नारी के भौतिक शरीर पर बहुत कम टिक पाती है। वह तो नारी की आत्मा का स्वरूप देखना चाहती है। उनके लिये पुरुष अपने आप में एक समस्या है और उस समस्या का हल है उसका नारी से मेल। तभी तो वह कहते हैं—

प्रश्न था यदि एक तो उत्तर द्वितीय उदार।

नारी का पुरुष से मेल होता है तो जहाँ वह पुरुष के लिये पथ-प्रदर्शिका का काम करती है वहाँ वह अपना सर्वस्व भी उसी के समर्पण कर देती है। वह जानती है कि उसका सर्वस्व पुरुष के हाथों में सुरक्षित रह सकता है इसीलिये वह कहती है—

समर्पण लो सेवा का सार।
सजल संसृति की यह पतवार॥
आज से यह जीवन उत्सर्ग।
इसी पदतल में विगत विकार॥

प्रसादजी की दृष्टि में नारी पुरुष के समान स्वार्थिनी नहीं है। वह किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर ही पुरुष को आत्म-समर्पण नहीं करती बल्कि आत्मोत्सर्ग कर देना तो उसके जीवन की स्वभावगत विशेषता है। वह पुरुष से कुछ भी ग्रहण की आशा नहीं रखती। उसने तो प्रकृति से केवल दान का पाठ पढ़ा है प्रतिदान का नहीं—

इस अर्पण में कुछ और नहीं,
केवल उत्सर्ग छलकता है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ,
इतना ही सरल झलकता है॥

इस निःस्वार्थ त्याग की भावना के साथ ही प्रसादजी नारी को आदर्शमयी भित्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देते हैं। उनके सामने नारी के किसी दूसरे रूप का तो चित्र ही नहीं आता। वे एक क्षण के लिये भी नहीं सोच सकते कि नारी अपने उच्चतम आदर्श से गिर भी सकती है। शायद वे समझते हैं कि नारी यदि पाप भी करती है तो वह भी उसके उच्चतम आदर्श की पुष्टि के लिये होता है। नारी अत्याचार भी कर सकती है इस बात की तो शायद प्रसादजी कल्पना ही नहीं कर सकते और तभी वे कह उठते हैं :—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो

जहाँ नारी पुरुष के लिये आत्म-समर्पण की प्रतिमा है वहाँ अपनी सन्तान के लिये वत्सल रस की साकार मूर्ति भी। संसार में ऐसे बहुत से पुरुष हो सकते हैं जिन्हें अपने पुत्रों से कोई प्रेम न हो और ऐसे पुत्र भी हो सकते हैं जिन्हें अपनी माता में मातृत्व के दर्शन नहीं होते परन्तु ऐसी माता नहीं हो सकती जो अपने पुत्र के प्रति किसी प्रकार के कुत्सित आचरण की स्वप्न में भी कल्पना कर सके। शङ्कराचार्य के शब्दों में—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

अर्थात् कुत्सित पुत्र पैदा हो सकता है परन्तु बुरी माँ कहीं नहीं होती। शायद नारी की सारी महत्त्वाकांक्षाओं और उच्चतम अभिलाषाओं का सार रूप उसकी सन्तान ही है। वह इसी प्रेम में पड़ी जीवन के सर्वविध कष्टों का प्रसन्नता के साथ सामना कर लेती है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसादजी नारी के इस आदर्शमय रूप का चित्रण करते हुए पुरुष की दासी के रूप में ही उसे देखना चाहते थे। वस्तुतः वे

नर-नारी की समानता के पक्षपाती थे और हमेशा पुरुष को ही अपराधी बताते रहे हैं। वे कहते हैं—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में,
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनीं,
अधिकार और अधिकारी की ॥

उनके ये शब्द आज भी पुरुष को चेतावनी सी देते साहित्य-गगन में गूँज रहे हैं। क्या वे पुरुष जो आज की नारी में सावित्री और सीता के स्वरूप का दर्शन करना चाहते हैं एक क्षण के लिये यह विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें से कितने व्यक्ति सत्यवान और राम की कसौटी पर खरे उतर सकते हैं? आज जो नारी का अल्ट्रा-माडर्न स्वरूप दिखाई देता है वह नारी का वास्तविक स्वरूप नहीं बल्कि आडम्बर-मात्र है और उस आडम्बर का उत्तरदायित्व नारी पर न होकर पुरुष पर ही है। इन विचारों का प्रतिविम्ब प्रसाद जी के इड़ा-चित्रण में बड़ी अच्छी तरह दिखाई देता है। शायद प्रसादजी आधुनिक आडम्बरों में अपने वास्तविक तत्त्व को भूल जाने वाली नारी को ही सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय

यह अभिनय वास्तविकता है बल्कि पुरुष की स्वार्थपूर्ण मनोवासना का कृत्रिम रूप है। वस्तुतः—

नारी का वह हृदय! हृदय में
सुधा सिन्धु लहरें लेता।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रसादजी की नारी के स्वरूप सम्बन्धी विचारधारा सुसङ्गठित और सुसम्बद्ध है। यह न समझना चाहिए कि कामायनी के कथानक की आवश्यकताओं को ही दृष्टिगत रखते हुए प्रसादजी ने ऐसे विचार प्रकट किये हैं। यदि हम प्रसादजी की सभी कृतियों की सर्वाङ्गीण समीक्षा करें तो हमें सर्वत्र प्रसादजी के इन्हीं विचारों का संकेत मिलेगा। प्रसादजी की यह निश्चित धारणा रही है कि पुरुष लोलुप और स्वार्थी है परन्तु नारी आत्मत्याग करने वाली भोली भाली बालिका। इस विचार की पुष्टि के लिये कुछेक उदाहरण पर्याप्त रहेंगे—

"स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सर्वस्व वार देने को प्रस्तुत हो जाती है।" —कङ्काल से

"पुरुषों का यह साधारण व्यवसाय है—स्त्रियों पर आक्रमण करना।" —कङ्काल से

"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है।" —ध्रुवस्वामिनी से

"स्त्रियों का हृदय अभिलाषाओं का, संसार के सुखों का क्रीड़ा-स्थल है।" —'नीरा' शीर्षक कहानी

सभी उद्धरणों में एक रस रूप से प्रसादजी की आत्मा बोल रही है। बीसवीं शताब्दी के इस जागृति काल में प्रसादजी की यह विचारधारा कहाँ तक वास्तविक तथ्यों के साथ मेल खाती है—यह विषय अधिक विचारणीय है।

हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ

ले०—प्रो० रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

इस ग्रन्थ में हिन्दी के सभी स्वरूपों का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के प्रत्येक पाठक के लिए यह ग्रन्थ पठनीय है। आर्डर भेज कर अपनी प्रति शीघ्र मँगाइए।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

गद्य काव्यकार प्रसाद

प्रो० प्रेमचन्द एम० ए०

गद्यकार प्रसाद हमारे सम्मुख नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्धकार और आलोचक के रूप में आते हैं। गद्य की इन विभिन्न प्रवृत्तियों में उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा समान अधिकार के साथ प्रकाशित हुई है। अकेले कहानीकार के रूप में ही प्रसाद ने वातावरण प्रधान, चरित्र प्रधान, समस्या प्रधान, रहस्य प्रधान, घटना प्रधान तथा ऐतिहासिक और काल्पनिक आदि विविध रूपों की कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। वैसे तो प्रसाद की भाषा शैली सर्वत्र काव्यमयी है परन्तु उसका गद्यकाव्यात्मक स्वरूप प्रधानतः उनकी भाव प्रधान कहानियों में देखा जा सकता है। 'बिसाती', 'समुद्र सन्तरण' और 'आकाश दीप' इस गद्यकाव्यमयी शैली का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं'। क्या वातावरण की सृष्टि में, क्या व्यक्ति चरित्रों के मानसिक छन्दों की अवतारणा में और क्या भाव प्रवणता में—सर्वत्र इन कहानियों में काव्य सा माधुर्य और सङ्गीत सी मादकता है। गद्यकाव्य शैली में लिखी इन भावपूर्ण कहानियों में कथा-भाग अत्यधिक कम अथवा शून्य प्रायः होता है। कल्पना और भावुकता के आधार पर ही वे एक ऐसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य की सृष्टि करने में सफल हुए हैं जो प्रेम और करुणा के चिलमन के पीछे से झाँकता रहता है। भूधर की हिमानी चोटियों पर बिछल-बिछल पड़ने वाली प्रभात की प्रथम सजल किरणों की आँख मिचौनी में जो सौन्दर्य होता है, किसी झुरमुट के नीचे साँझ की बेला में छाया और प्रकाश की लुका-छिपी में जो कमनीयता होती है और प्रथम बरसात के सरोवर में शतदल की खिलती सी सुनहली धूप में जो उज्ज्वल सजलता होती है वही समष्टि में प्रसाद की भाव पूर्ण कहानियों की अन्तश्चेतना है। उनमें एक निष्फल यौवन की कसक, एक करुण प्रणय की टीस और एक दर्दीली स्मृति की वेदना है तो चञ्चल स्वप्नों का अल्हड़पन विवश अनुभूतियों की आकुलता और अनगाये गीतों की बिछलन भी। गद्यकाव्यात्मकता में छिपी उनकी कहानी की कथात्मकता उतनी ही सूक्ष्म रहती है जितनी कि पल्लवों की हरीतिमा में छिपी सरस किन्तु तन्वंगी शिराओं की विश्रान्ति। कथा का अंगूरी छिलका भीतर भरे रस को केवल बाहर छलक झलक जाने से रोके भर रखता है। प्रसाद के कवि हृदय की भाव चपल अँगुलियों का कोमल स्पर्श मात्र ही कथा के सूक्ष्म तारों को तारसप्तक में झंकृत कर जाता है।

कहना न होगा प्रसाद के इन कथात्मक गद्यकाव्यों की शैली में एक ऐसा कसाव है कि उसमें संस्कृत तत्सम पदावली की दुरूहता भी नहीं पर एक ऐसी सार्थकता स्वरायोजना है कि जो उनके भाव सङ्गीत के साथ समरसता में बजती रहती है। उनमें निर्झर का उद्दाम वेग भी नहीं, पर सागर की वह सौम्य गहनता है जो अपने अन्तराल में वेदना की वाड़व-ज्वाला छिपाकर भी प्रणय की चाँदनी में मुस्काती रहती है।

'समुद्र सन्तरण' में धींवर बाला का यौवन सुलभ भोला अल्हड़पन, राजकुमार की पुरुषोचित विवेकजन्य मुग्धता, बिसाती की शीरी का उच्छ्वास संपृक्त मग्न प्रणय, सब कुछ प्रसाद की चित्रोपम शैली में चित्राङ्कित हो साकार हो उठे हैं। शब्द की एक ध्वनि, तूलिका के एक स्पर्श के समान गहन से गहन भाव और सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्य को भी एक ही झटके में मूर्तिमान कर जाती है।

प्रकृति चित्रण में प्रसाद की संश्लिष्ट शब्द-योजना सार्थक चित्रों की सृष्टि करती है।

"उद्यान की शैली-माला के नीचे एक हरा भरा छोटा सा गाँव है। बसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिङ्गन करके फूलों के सौरभ से उसकी झौंपड़ी कोक भर देता है। तलहटी के हिम शीतिल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध सङ्गीत निरन्तर चला करता है, जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कम्प और लहर उत्पन्न करता है।" बिसाती।

इसी प्रकार—

"नारिकेल के निमृत कुञ्जों का समीर अपना नीड़ खोज रहा है। सूर्य लज्जा या क्रोध से नहीं, अनुराग से लाल, किरणों से शून्य, अनन्त रसनिधि में डूबना चाहता है। लहरियाँ हट जाती हैं। अभी डूबने का समय नहीं है, खेल चल रहा है।" समुद्र सन्तरण।

कथा के मूल भाव के अनुरूप ही प्रकृति के पृष्ठभूमि की सर्जना में तो प्रसाद की विशेषता है ही, इन लघु कथा कहानियों में भी उन्होंने कथोपकन की सृष्टि भी नाटकीय ढङ्ग से की है। समुद्र सन्तरण में।

राजकुमार—

"तुम कौन हो?"

"धींवर बालिका!"

"क्या करती हो?"

"मछली फँसाती हूँ!" कह कर उसने अपने जाल को लहरा दिया।

मछली फँसाती हूँ कह कर जाल को लहरा देने में धींवर बाला का कितना नाटकीय अभिनय, और नाटकीय अभिनय में कितना भोला अल्हड़पन है। साथ ही उसमें एक और भी ध्वनि निकलती है। कथोपकथन का यह ध्वन्यात्मक प्रयोग 'बिसाती' में भी दिखाई देता है—

जालेखा—शीरीं! वह तुम्हारे हाथ पर आकर जाने वाला बुलबुल आज कल दिखाई नहीं देता।

शीरीं—कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। बसन्त तो आ गया पर वही नहीं लौट आया।

जालेखा—सुना है ये सब हिन्दुतान में बहुत दूर तक चले जाते हैं। क्या यह सच है शीरीं?

शीरीं—हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ी स्वतन्त्रता प्रिय है। आदि।

प्रसाद की इन कहानियों में पात्रों के चरित्रों में उतार चढ़ाव और उत्थान पतन तो नहीं दिखाई देता पात्रों के भावों की गहराई, उमेठ और मरोर तथा हृदय की टीस और वेदना या अल्हड़ मादकता, तूलिका के तनिक स्पर्श मात्र से ही बड़ी सफलता के साथ उभर आई है।

इन कहानियों का अन्त इनकी सबसे बड़ी प्रभावशीलता है। कुण्डली मार कर बैठा हुआ साँप कैसे अपने फन और अपनी पूँछ को समेट कर पास-पास ले आता है, कुछ-कुछ ऐसे ही प्रसाद।की इन कहानियों का अन्त भी अपने में सम्पूर्ण कहानी के विस्तार को समेट कर सिकोड़ कर बैठा रहता है। कथा की धारा मानो अन्त में आकर, बिखर कर। सिमिट जाती है और सिमिट कर बिखर जाती है। अन्त मानो आघात बन कर आता है और झंकार बन कर गूँजता रहता है। 'समुद्र-संतरण' कहानी में दर्शाया गया है कि आत्म-तुष्टि और भावुक स्वतन्त्रता के सम्मुख सामाजिक प्रतिबन्ध तथा विधि-विधान की कुछ चल नहीं सकती। धींवरबाला और राजकुमार की प्रणय कहानी जगत के प्रतिबन्धों का तिरस्कार करते हुए एक सुखद मिलन की सुखान्त कहानी है। इसीलिये अन्त में—"धींवरबाला ने हाथ पकड़ कर सुदर्शन को नाव पर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी। यहाँ चन्द्रमा और जलनिधि भी शब्दों में कितनी प्रभावोत्पादकता और कितना सौन्दर्य आ गया है। साथ ही इससे यह भी ध्वनित होता है कि मानो प्रकृति भी धींवर बाला और दर्शन के प्रणय का समर्पण कर रही हो। इसी प्रकार बिसाती का अन्त भी बड़ा मार्मिक है—"बिसाती अपना सामान छोड़

गया, फिर लौट कर नहीं आया। शीरीं ने बोझा तो उतार लिया पर दाम नहीं दिया। एक ओर ये शब्द कथावस्तु के प्राकृतिक अन्त का विवरण देते हैं दूसरी ओर सांकेतिक रूप से यह अर्थ भी व्यञ्जित करते हैं कि असफल प्रेमी युवक बिसाती ने तो निर्मूल्य अपना प्रेमोपहार प्रेयसी शीरीं को उसके विवाह और सुखद जीवन के उपलक्ष में देकर अपने ऊपर रखे कर्तव्य के बोझ को हल्का कर दिया किन्तु शीरीं उसके मूल्य का प्रतिपादन उसकी प्रेम की नौका में बिठाकर मँझधार में अकेले छोड़ देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकी। एक टीस, एक कसक, करुणा की एक प्रतिध्वनि भी छोड़ कर कहानी का सहसा अन्त हो जाता है—पाठक को केवल शून्य क्षितिज की ओर एक टक देखते रहने देने के लिए।

कलात्मकता की दृष्टि से प्रसाद ने इस विधान में मानवीकरण का बड़ा सुन्दर आयोजन किया है। यथा—

१—"नारिकेलि के निभृत कुञ्जों में समुद्र का समीरण अपना नीड़ खोज रहा है।"

२—"जैसे जल-बालिका वरुण के चरणों में स्वर्ण सुमनों का उपहार दे रही हो।"

३—"सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रोपमता भी देखने योग्य है।"

इन कहानियों में प्रसाद की अभिव्यञ्जना में काव्यात्मकता तथा भाषा में एक भावमयी अलङ्कारिता तो है ही, कहीं-कहीं शब्दों में एक चित्रमयी ध्वन्यार्थ व्यञ्जना भी है जैसे "समीरण के धूल धुलैया खेलते हुए अवकाश" में धूल धुलैया शब्द सरल और जग प्रचलित होते हुए भी इतना सार्थक, सजीव और चित्रात्मक है कि अन्य कोई शब्द उसका स्थान नहीं ग्रहण कर सकता।

कुल मिला कर आधार आधेय का एक सुन्दर सामञ्जस्य इन रचनाओं में सर्वत्र मिलता है।

(पृष्ठ २०१ का शेषांश)

दूसरी पृष्ठ पर तो पूरी चार-पाँच पंक्ति इस प्रकार खाली रखी हुई हैं इससे दो बातें सूचित होती हैं। एक तो यह कि यह पूरी प्रति एक साथ और एक हाथ से नहीं लिखी गई। इसका प्रारम्भ किसी दूसरे ने किया और समाप्त किसी दूसरे के हाथ से हुआ। दूसरी बात यह है कि इसका मूल आदर्श भी कोई एक ही सङ्गठन होकर जुदा-जुदा दो-तीन संग्रह होने चाहिए। सिवाय इसके, मूल आदर्शों में से कोई प्रति ऐसी भी मालूम देती है जो त्रुटि या खण्डित हो। ऐसा होना यह ज्ञात कराता है कि वह प्रति ताल-पत्रात्मक होनी चाहिए और उसका कुछ नष्ट-भ्रष्ट और कोई पत्र विलुप्त हो गया होना चाहिए। तालपत्र लिखित पुरातन ग्रन्थों में प्रायः ऐसा होता रहता है। उनके उद्धार स्वरूप जो पीछे से कागज पर ग्रन्थ लिखे गये उनमें ऐसे खण्डित या त्रुटि भाग की सूचना करने वाले अनेक रिक्त स्थान, जैसे उस ग्रन्थ में देखे जाते हैं। इसके उपरान्त यह प्रति भी बहुत जीर्ण दशा को प्राप्त हो गई है।

मुनिजी के उपरोक्त प्रति परिचय से यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराज रासो के जो पद्य पृथ्वीराज और जयचन्द प्रबन्ध में मिले हैं उनका रचना काल तो प्राचीन है ही पर लेखन काल भी १५२८ से पहिले का ही है। क्योंकि ये दोनों प्रबन्ध पत्र १२ व १४ में लिखे मिले हैं। और मुनिजी की सूचनानुसार १५वें पत्र के बाद के पत्र ही सं० १५२८ के लिखे हुए हैं। इससे पहिले के पत्र उससे कुछ न कुछ पहिले होंगे, जिसकी पूर्ति १५२८ में गुणवर्द्धन ने लिख कर की। मुनिजी के कथनानुसार इस प्रति का आदर्श ताड़पत्रीय प्रति हो तो निस्सन्देह इन पद्यों का लेखन समय १३, १४ वीं शताब्दी तक पहुँच जायगा। इनकी भाषा भी उसी समय की है। अतः विद्वान लोग इन प्रबन्धों का जो १५२८ रचनाकाल निर्देश करते हैं वह भ्रामक है क्रमशः उपलब्ध प्रति का लेखनकाल है, प्रबन्धों का रचनाकाल नहीं।

साकेत के आधार पर गुप्तजी का राजनीतिक विचार

श्री शुकदेवप्रसाद सिन्हा एम० ए०

जमाने का असर लेखकों और कवियों पर पड़ता है, पड़ता आया है और पड़ता रहेगा भी। गुप्तजी जमाने के पड़ने वाले असर से बच जाते, अछूते रह जाते—बिल्कुल सम्भव नहीं। 'साकेत' के प्रणयकाल में राजनीतिक आन्दोलन भीषण रूप धारण कर चुका था। देश में आज़ादी की लहर आ चुकी थी और इन्कलाब का नारा बुलन्द हो चुका था। गांधी की आँधी भी लोगों पर अच्छी तरह असर डाल चुकी थी। इस प्रकार उस समय राजनीति, भारतीय जीवन का प्रधान तत्त्व बनकर कलाकारों की नजर अपनी ओर बेतरह खींचने लगी। सभी जाने माने कलाकारों ने उस समय जिन्दा-दिली का परिचय देना अपना कर्त्तव्य समझा। गुप्तजी भी इस क्षेत्र में पीछे कैसे रह सकते थे। राजनीति ने उन्हें इस प्रकार प्रभावित किया कि वह उनकी कला का विशेष अङ्ग बन गयी। उनकी सभी कला-कृतियों पर राजनीतिक भावनाओं के रङ्ग अनुरञ्जित हैं। 'साकेत' में तो कवि की राजनीतिक भावना एवं सामयिक आन्दोलन साकार बन गये हैं।

गुप्तजी राज्य-व्यवस्था को परिवार-व्यवस्था समझते हैं। जिस तरह एक परिवार में बहुत से सदस्य होते हैं और उसके सञ्चालन के लिये उनके बीच का एक व्यक्ति गृहपति होता है, उसी तरह राज्य भी एक बड़ा परिवार है। प्रजा उस परिवार का एक सदस्य है। राजा उस राज्य-परिवार का सञ्चालक है—

'थे भूप सभी के हितकारी,
सच्चे परिवार भारधारी।'

कवि को राजा और राजसत्ता में जबरदस्त विश्वास है। कवि की यह राज्यभावना मानस के 'उत्तरकाण्ड' में वर्णित राज्यभावना से मिलती-जुलती है। तुलसी का युग राजतन्त्र का था। अतः सात समुद्रों की करधनी वाली पृथ्वी के एकमात्र राजा के रूप में राम को स्वीकार करना तुलसी के लिये स्वाभाविक ही था—

'भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला।'

—उत्तरकाण्ड (पृष्ठ ३०)

तुलसी की भाँति ही कवि एक अखण्ड राज्यसत्ता के पोषक हैं। खण्डराज्यों की ऐतिहासिक बुराइयों से वे अवगत हैं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि खण्डराज्यों से राष्ट्र की शक्ति कमजोर होती है। असंख्य तारों से दुनिया को रोशनी नहीं मिलती है किन्तु एक ही सूर्य इसके लिये काफी है। राज्यों के साथ कुछ यही बात है। खण्डराज्यों से राष्ट्र को ताकत नहीं मिलती किन्तु अखण्ड राज्य से उसे काफी बल मिलता है—

'एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे, अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना हुआ तब मिटा।'

—प्र० सर्ग, पृ० १७

राज्य किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं। वह तो प्रजा की धरोहर है। वह भोग की वस्तु भी नहीं बल्कि वह तो एक विषम भार है—

राज्य है प्रिये, भोग या भार?
बड़े के लिए बड़ा ही दण्ड
प्रजा की धरती रहे अखण्ड।'

उसे सञ्चालन के लिये भरत जैसे साधु चरित के मंत्र तथा लक्ष्मण जैसे शक्तिशाली के बल-तंत्र की जरूरत है—

'रहेगा साधु भरत का मंत्र
मनस्वी-लक्ष्मण का बलतंत्र।' द्वि० सर्ग

राज्य पर किसी वंश-परम्परा अथवा व्यक्ति का अधिकार नहीं है। साम्राज्य तो बस, प्रजा के अर्थ है।

'पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें ?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।'—सर्ग ३

राज्य के लिये राजा पर जबरदस्त जवाबदेही रहती है। उसे प्रजा का व्यवस्थागार ही समझना चाहिये।

'राज्य में दायित्व का ही भार'
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।'—सर्ग ७

कवि को राज्यसत्ता इतनी बुरी जान पड़ती है कि वह भरत के मुँह से कहलाता है—

'राज्य क्यों माँ राज्य केवल राज्य ?

कुणाल भी कहता है—

'माँ जिस गौरव का अधिकारी,
राज्यों से भी है वह भारी!'

गुप्तजी के विचार से राजनीति वह इकाई (unit) है जिसमें धर्म, नीति, संस्कृति एवं समाजनीति स्वतः समन्वित हैं। राम के राजनीतिक प्रवास को सांस्कृतिक एवं धार्मिक रूप देकर राजनीति, धर्म एवं संस्कृति के समन्वय की ओर संकेत करते हैं—

'मुनि रक्षक सम करो विपिन में बास तुम,
मेटो तप के विघ्न और सब भार तुम।
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम,
करो आर्य सम बनचरों को सभ्य तुम।'

हमें लगता है कि गुप्तजी इब्राहम लिंकन के प्रजातंत्र सम्बन्धी सिद्धान्त—'Democracy is the Government for the people, of the people and by the people'—से अवश्य प्रभावित हुए हैं। राज्य का आदर्श बनाते हुए भरत से वह कहलाते हैं—

'जन साधारण ही जहाँ मानते आवें
पर साधारण-जन आप न हमको जानें
जनसाधारण के लिए भले ही मानें।' सर्ग ८

प्रजा-विद्रोह का समर्थन कवि को जैसे अनभीष्ट-सा है। वह जैसे एक प्रकार का मोह है—

'उठो प्रजा जन, उठो, तजो यह मोह तुम
करते हो किस हेतु विनय विद्रोह तुम।'

गांधीजी की तरह सम्भवतः प्रजा-विद्रोह में गुप्तजी को क्रान्ति की छाया दीख पड़ती है जो शान्ति की बाधिका है—

'क्या शान्ति ? शान्ति, हाँ शान्ति, कहाँ ?
बन गई 'कैकेई शान्त यहाँ।'—सर्ग ६

प्रजातत्र की स्थापना और एकतंत्र के उन्मूलन पर हारे दर्जे की बात की तरह गुप्तजी शत्रुघ्न के द्वारा कहलाते हैं—

'राज्य-पद ही क्यों न अब हट जाए ?
लोक-मद का मूल ही कट जाए।'

प्रजातन्त्र-स्वतन्त्रता हारे दर्जे की बात है। कवि प्रजा में वह भाव चाहता है कि यदि राजा अहितकर सिद्ध हो तो वे उसे पृथक कर दें। राजा कुछ न हो केवल प्रजा-भाव की मूर्ति हो। यही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता है। गुप्तजी की स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र में प्रतिफलित नहीं होती। प्रजातन्त्र केवल एक पत्त की तरह उनके सामने उपस्थित होता है—

'पर अपना हित आप क्या नहीं,
कर सकता है यह नर लोक ?'

यह विश्वास धारणा के रूप में कहीं प्रकट नहीं हुआ, राजा-प्रजा के सम्बन्ध में—

'यदि भीरु वह दुर्बलमना
तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?'
—बकसंहार

आगे भी—

'हम दूसरा राजा चुनें,
जो सब तरह सब की सुनें।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।'
—बकसंहार

वे विश्व-बन्धुत्व की भावना चाहते हैं—

'किसी एक सीमा में बँधकर रह सकते हैं क्या ये प्राण;
एक देश क्या, अखिल विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण ?'

गुप्तजी की राजनीति में राष्ट्रीय स्वर है। राष्ट्र रक्षा राजनीतिक कर्तव्य है। 'साकेत' में कवि की राजनीतिक भावना की ही प्रतिगूँज नहीं है बल्कि उस रचनाकाल

के राजनीतिक आन्दोलनों की भी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। हड़ताल, किसान आन्दोलन आदि के भाव गुप्तजी की रचना में दीख पड़ते हैं। राम के वन जाने के समय प्रजा के अवरोध को तत्कालीन सविनय सत्याग्रह के रूप में दिखलाया गया है—

'उठो प्रजाजन, उठो तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम।'

हड़ताल का दृश्य दीख पड़ता है—

'सब कलागृह शिक्षणालय बन्द,
छात्र क्यों फिरते नहीं स्वच्छन्द।'

आगे चल कर कवि शत्रुघ्न द्वारा साम्यवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करवाते हैं—

राज पद ही क्यों न अब हट जाय ?
लोक मद का मूल ही कट जाय।'

× × ×

'विगत हो नरपति, रहें नर मात्र
और जो जिस कार्य के हों पात्र।'

गुप्तजी साम्यवादी सिद्धान्त—'Eech should get according to his ability and according to his need.' से बहुत हद तक प्रभावित देखे जाते हैं।

आगे शत्रुघ्न के आह्वान में गांधी के आदर्शों तथा भारतीय भावना की रक्षा की गयी है। युद्ध होना चाहिए किन्तु आत्मरक्षापरक की दृष्टि से, दूसरों को पीड़ित करने के लिए नहीं। यदि अस्त्र-शस्त्रों का सञ्चालन भी करना पड़े तो उसमें भी आदर्श का तक़ाजा हो। गांधीजी इसी सिद्धान्त को मानते थे। कवि भी इस सिद्धान्त को प्रतिपादन करने में बहुत कुछ सफल हो सके हैं।

उर्मिला प्रतिहिंसा की भावना को तिरोहित करने की आज्ञा देती है। उसके आँसू पहले ही सूख चले थे। वह अब हमारे सामने भावना के रूप में उपस्थित होती है—

'अब क्या है बस वीर बाण से छूटो-छूटो,
सोने की उस शत्रुपुरी लङ्का को लूटो।
नहीं नहीं—सुन चौंक पड़े शत्रुघ्न और सब,
उषा सी आगई उर्मिला उसी ठौर तब।'

× × ×

'गरज उठी वह—नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।'

दण्ड की चरम परिणति दया और त्याग की इच्छा में हो। दण्ड भी ऐसा हो जो क्षमा के रूप में पर्यवसित हो—

'पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया तितिक्षा।'

उर्मिला समस्त सेना के आगे चलना चाहती है। युद्ध में स्त्रियाँ भी भाग ले सकती हैं। यह गांधीजी का आदर्श था। टॉलस्टॉय ने भी इसी सिद्धांत को व्यक्त किया है। फ्लोरेंस नाइटेङ्गल के इसी आदर्श की ओर यूरोप में लोगों ने हृदय बढ़ाया था। यूरोपीय इतिहास में वीर नारी का आदर्श अपनाया गया है। गांधी ने भी इसी आदर्श को लेकर अपने देश के लिए आह्वान किया था।

गुप्तजी पर दो महात्माओं का पूरा प्रभाव है—रवि बाबू का कलात्मक प्रभाव और गांधीजी का प्रजातन्त्रात्मक प्रभाव। कवि को ऐसा विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब भारत फिर पूर्ववत सुसम्पन्न हो जायगा और भारत की स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से लौट आयगी गुप्तजी ने प्रजातन्त्र की जो सुन्दर कल्पना आज से कुछ वर्ष पहले की थी, वह उनके जीवन काल में ही सच्चे रूप में प्रकट हुई। गांधी के द्वारा कल्पित-रामराज्य के आदर्श का खाका साकेत में खींचा गया है जरूर किन्तु आज स्वतन्त्र भारत में, उसमें तूलिका से रङ्ग भरने के बजाय उसकी बाह्य रेखा (Outline) को मिटाने की कोशिश की जा रही है। पग-पग पर अनुशासन हीनता है, अनीति है और अनाचार है यदि गुप्तजी चाहें तो आज की स्थिति पर ध्यान रखते हुए 'साकेत' में एक नया अध्याय जोड़ सकते हैं या एक स्वतन्त्र रचना रच सकते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के कुछ विशिष्ट नारी पात्र

कुमारी शकुन्तला मिश्र सा० र०

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास मन में अतीत गौरव का भाव जगा देते हैं और प्रस्तुत करते हैं उस गरिमामय इतिहास की एक झाँकी। चरित्र-चित्रण की निपुणता उनकी शैली की एक सबसे बड़ी विशेषता है। अतीत के प्रति एक कौतूहल तथा सम्मान का दृष्टिकोण रखकर ही वर्माजी ने इन चरित्रों का निर्माण किया है तथा उनके विकास में वे अपने इसी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण काफी सफल हो सके हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

कथा-साहित्य में नारी मूलतः प्रधान होती है। शरत् का औपन्यासिक रूप उनके नारी-चरित्रों के कारण ही इतना निखर सका है। जयशङ्करप्रसाद के नाटकों का महत्त्व उनके नारी पात्रों के कारण ही इतना अधिक है। इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने भी कुछ ऐसे नारी पात्रों का चित्रण किया है जो उनकी उपन्यास रचना को और भी सफल एवं पूर्ण बना देते हैं। बुन्देलखण्ड के इतिहास के खण्डहरों में घूम-घूम कर उन्होंने कुछ मोती खोज निकाले हैं तथा उन्हें अपने उपन्यासों में जड़कर उनका महत्त्व तथा सौन्दर्य सौगुना बढ़ा दिया है। इनमें मुख्य हैं 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'कचनार' उपन्यास की नायिका कचनार तथा 'मृगनयनी' की मृगनयनी। वैसे तो वर्माजी के प्रत्येक उपन्यास का अपना पृथक महत्त्व है तथा प्रत्येक नारी पात्र में अपनी पृथक विशेषता है। परन्तु विशिष्ट नारी पात्रों में भी सर्वाधिक स्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण चरित्र जो बन पड़े हैं वे हैं झाँसी की रानी, मृगनयनी तथा कचनार के। नीचे हम इनका एक संक्षिप्त सा अध्ययन करेंगे।

'कचनार' उपन्यास का नायक धामोनी गाँव का राव दलीपसिंह है। उसकी पत्नी तथा प्रथम रानी तो कलावती बन कर आती है परन्तु उन सब प्रथम अध्यायों में भी कचनार का तेजस्वी व्यक्तित्व ही प्रधानता लिए रहता है। कलावती साधारण रानियों की तरह विलास-प्रिय तथा उथले स्वभाव की स्त्री है। दलीपसिंह है भावनाओं से भरा हुआ, स्पष्ट तथा निर्भीक प्रेम का इच्छुक। कलावती का प्रभाव उस पर जरा भी नहीं पड़ता। प्रभाव पड़ता है प्रथम भेंट में ही नीचे गाए जाते 'कचनार की कली बेला फूल की कली' गीत का। देखने पर वह कचनार के सौन्दर्य से अत्यन्त प्रभावित हो जाता है। उस समय विवाह के दहेज में दासियाँ देने की प्रथा थी। ये दासियाँ राजा के रनिवास में आजन्म रहती थीं। इन्हें विवाह का अधिकार नहीं होता था। दलीपसिंह भी कचनार को अपनी ऐसी ही प्रणयिनी बना कर रखना चाहता था, परन्तु कचनार प्रेममयी होते हुए भी दृढ़ चरित्र की नारी है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त तेजस्वी, उष्ण सा है। दलीपसिंह के प्रेम-निवेदन के उत्तर में वह कहती है—"मुझ से भाँवरें डाल लीजिए, मैं आपकी चेरी हो जाऊँगी।" यहाँ दलीप जाति-भेद के कारण असमञ्जस में पड़ जाता है क्योंकि वह राजगोंड है और कचनार नीची श्रेणी की खटोलिया गोंड। अन्त में वह कहता है—"यदि मैं जबर्दस्ती करूँ तो?" उत्तर में कचनार दृढ़ कण्ठ से कहती है—"असम्भव, आप तुरन्त मुझे मरी हुई पायेंगे।"

कलावती अपने पति दलीपसिंह की अपेक्षा छोटे कुँवर मानसिंह से अधिक प्रभावित है। कचनार दलीपसिंह को प्रेम कर सकती है परन्तु विवाह के उपरान्त। इन्हीं परिस्थितियों में कहानी आगे बढ़ती जाती है। दलीपसिंह घोड़े से गिर कर घायल हो जाता है और चोट के परिणामस्वरूप स्मरण-शक्ति खो देता है। कचनार प्राण-पण से उसकी सेवा करती है परन्तु मानसिंह की दी हुई दवा के प्रभाव से सब

लोग उसे मरा हुआ समझ कर श्मशान ले जाते हैं। वहाँ आँधी तूफान में महन्त अचलपुरी उसे बचा कर अपने साथ ले जाता है। राजपरिवार के लोग धारणा बना कर लौट आते हैं कि 'दलीपसिंह का शव नाहर ले गया।'

कलावती और मानसिंह का पुनर्विवाह हो जाता है। कचनार जीवन से वैराग्य-सा ले लेती है किन्तु मानसिंह की दृष्टि उसके पवित्र सौन्दर्य पर है। वह कचनार से भाँवरें तक डालने को राजी हो जाता है। अन्त में कचनार देवी-पूजन के बहाने आकर गुसाइयों की छावनी में चली जाती है। महन्त अचलपुरी अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध उसे आश्रय देता है और वह कञ्चनपुरी गुसाईं बन कर छावनी में रहने लगती है।

दलीपसिंह अब सुमन्तपुरी गुसाईं है पर अब उसकी पूर्व स्मृति नष्ट हो चुकी है, उसे देख-देखकर मृत राजा की स्मृति के कारण कचनार के हृदय में स्नेह जागता है पर वह बलपूर्वक उसे रोके रहती है। महन्त अचलपुरी भी उस पर मुग्ध हो जाता है। उसका प्रधान शिष्य मंटोलेपुरी भी उससे आकृष्ट होता है परन्तु कचनार ध्रुव तारे सी अचल रहती है। अन्त में गुसाइयों की सेना धामोनी पर आक्रमण करती है, मानसिंह हार जाता है और दलीपसिंह के सिर में पुनः चोट आती है और इसी से उसकी पूर्व स्मृति लौट आती है। वह पुनः कचनार के लिए व्याकुल हो उठता है और तब महन्त अचलपुरी के आशीर्वाद की छाया में दोनों मिल जाते हैं।

इस प्रकार कचनार एक दृढ़ चरित्र की तेजस्विनी नारी है उसका नारीत्व अपराजित है। इसी अपराजेय नारीत्व की गरिमा के कारण दलीपसिंह उसे स्पर्श करने का साहस न कर सका। मानसिंह को वह अपने बुद्धिबल से परास्त कर देती है। इस अपराजेय नारीत्व का परिचय हमें धसान नदी के किनारे कलावती को लेकर लौटती बारात के साथ कचनार की पहली झलक में ही मिल जाता है।

कचनार - नाक नक्श तीखे, खरे सोने सा रङ्ग। इसी के आसपास उक्त उपन्यास का एक पात्र हास परिहास में कहता है—"दुलैयाजू लड्डू हैं, कचनार खुरमा गुटगुटा।" मानसिंह कहता है—"दुलैयाजू वशीकरन हैं और कचनार वशीकरन उतारने का मन्त्र।" सारांश में कचनार साधारण स्त्री से काफी ऊँची है। उसके हृदय में प्रेम का अथाह सागर हिलोरें लेता है पर उसका यह आत्मार्पणकारी, एकनिष्ठ प्रेम नितान्त मूक, अनबोलता प्रेम है। वह विवाह से प्रेम का आरम्भ मानती है। साधारण दासियों की भाँति जैसी भी स्थिति में उसे सन्तोष नहीं है उसका प्रेम केवल राव दलीपसिंह के लिए है पर वह कहीं भी इसे व्यक्त नहीं करती। किन्तु दलीपसिंह भी क्या उसके व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं था? यहाँ तक कि संसार से विरक्त ज्ञानी अचलपुरी भी कचनार के तेज से प्रभावित हो जाता है। पर कचनार का आत्मविश्वास संयम तथा धैर्य ही उसे अपराजिता बना देता है। वह अपने को सदैव दलीपसिंह की समर्पिता मानती है। सुमंतपुरी पर उसका स्नेह भी आकृति की समता के कारण दलीपसिंह के प्रति ही है और अन्त में वह उसे पा लेती है। कचनार में वर्माजी ने कुछ समस्यायें प्रस्तुत की हैं जैसे दहेज में दी जाने वाली दासियों की प्रथा, विवाह जातिभेद आदि। कचनार सभी को अत्यन्त कुशलता से हल कर देती है। अपने आत्मविश्वास, संयम तथा धैर्य के कारण वह मध्ययुग के पङ्किल वातावरण में खिले पङ्कज सी मिलती है। उसका शौर्य सराहनीय है। जिस धैर्य से वह गुप्त वेश में रोगी सुमन्तपुरी की परिचर्या करती है वह अपूर्व है। अत्यन्त ही आत्म-विश्वास से वह महन्त अचलपुरी के उद्वेग को शान्त कर देती है इस प्रकार कचनार वास्तव में वर्माजी का सर्वाधिक सफल नारीपात्र तथा एक आदर्श कल्पना है।

'मृगनयनी' वर्माजी के इसी नाम के उपन्यास की नायिका है। वह बुन्देलखण्ड के राई गाँव के अटल गूजर की बहन है। बचपन से ही निशानेबाजी और शिकार की अभ्यस्त है। राई के जङ्गलों में,

घाटियों और कछारों में अरने भैंसे और जङ्गली सूअर का शिकार खेलने वाली आश्चर्यजनक बाला है। लाखा रानी उसकी एक सखी है जो उसके भाई अटल को चाहती है। लाखा की माँ के मर जाने पर मृगनयनी उसे अपने साथ ही रखती है। इन दोनों लड़कियों के रूप तथा शक्ति की ख्याति दूर दूर तक फैल जाती है। माँडू का सुलतान इन्हें अपने हाथ में लाना चाहता है पर उसके भेजे सवार प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं।

ग्वालियर का राजा मानसिंह इन दोनों के शौर्य की प्रशंसा सुनकर अत्यन्त उत्सुक होता है। एक ही तीर से अरने भैंसे का शिकार करने वाली निन्नी के सौन्दर्य से वह हृदय से प्रभावित हो जाता है और निन्नी उसकी आठवीं रानी बन कर ग्वालियर आती है। राजा उसके लिये एक पृथक् मन्दिर बनवाता है। रानी यहाँ सङ्गीत शास्त्र के आचार्य बैजू बाबरा से सङ्गीत विद्या सीखती है। उसका भाई अटल तथा लाखा रानी परिस्थिति-क्रम से ग्वालियर आ जाते हैं। राजा के सशक्त हस्तक्षेप के कारण जातिभेद के बावजूद दोनों का विवाह हो जाता है। मृगनयनी के सम्मान के कारण बड़ी रानियाँ उससे आन्तरिक द्वेष रखती हैं पर उसे मारने के उनके प्रयास व्यर्थ जाते हैं। लाखा और अटल जागीरदार बन कर चले जाते हैं वहीं एक लड़ाई में उनकी मृत्यु हो जाती है। मृगनयनी का (गूजरी रानी का) महल बनकर तैयार हो जाता है। यहाँ उसका कला प्रेम का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

मृगनयनी एक दृढ़ चरित्र की स्त्री है। उसमें पुरुषोचित साहस तथा शौर्य है। वह मध्य युग की एक आश्चर्यजनक वीर, दृढ़ तथा शक्तिमती नारी है। आरम्भ में ही हम उसकी तुनकमिजाजी देखते हैं, एक-एक तीर के लिए अपनी सहेली से लड़ बैठने में। परन्तु हृदय से वह अत्यन्त कोमल है। अपनी सहेली लाखा को वह हृदय से प्रेम करती है और अन्त तक उसके लिए बहुत कुछ करती है।

मृगनयनी सामान्य ग्राम बाला से सर्वथा भिन्न है। हाथ में तीर-कमान लिए फिरने वाली इस लड़की को ग्वालियर के ऐश्वर्य-मन्दिर की अपेक्षा राई के बन-जङ्गल अधिक प्यारे हैं जो मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। करौंदी के कटीले झाड़, करधई के फूल और काँटे ही उसका शृङ्गार हैं।

मृगनयनी का प्रेम शक्तिशाली मन की स्वस्थ अभिव्यक्ति है। वह मानसिंह को उसके शारीरिक सौन्दर्य के कारण नहीं, उसके शौर्य के कारण ही प्रेम करने लगती है। प्रेम के विषय में उसकी अपनी निजी मान्यतायें हैं वह शक्ति तथा स्वरूप को जीवन में सर्वोपरि समझती है। मानसिंह को राज-काज में मन लगाने का परामर्श देते हुए वह कहती है—"आप भी स्वस्थ रहिए तथा मुझे भी रहने दीजिये। जो शक्ति, स्वास्थ्य लेकर मैं राई से आई थी उसे मैं। खोना नहीं चाहती।" वह आसक्ति के विरुद्ध है। उसका प्रेम केवल मुग्ध करके रखना नहीं चाहता, प्रेरणा की वस्तु बनना चहता है। यहाँ चमत्कृत पाठक की भावना ही मानसिंह के प्रश्न में व्यक्त होती है—"मृगनयनी तुमने इतनी बातें कैसे जान लीं?" उत्तर में वह स्पष्ट कहती है—"अनुभव सभी स्त्रियाँ करती हैं पर कहने का साहस नहीं पातीं।" प्रेम के आगे वह जातिवाद के अवरोध को नितान्त तुच्छ गिनती है।

इस प्रकार मृगनयनी मध्य युग की एक आश्चर्यजनक वीर, दृढ़ तथा शक्तिशाली नारी है। हृदय से वह अत्यन्त कोमल है परन्तु कर्तव्य बुद्धि से सदैव ही अनुशासित रहती है। कचनार से उसकी तुलना करने पर हम पाते हैं कि कचनार भावनामयी है तथा मृगनयनी स्पष्ट, कठिन और निर्भीक। कहीं भी पाठक उसे आँसू बहाते नहीं पाता। यद्यपि उसकी परिस्थितियाँ भिन्न रही हैं, कचनार की भाँति उसे प्रिय का वियोग नहीं सहना पड़ा है। किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। कचनार, कचनार के फूल सी ही सुकुमार तथा भाव-प्रवण है, मृगनयनी अरने भैंसे को एक ही तीर से मार गिराने वाली अजेय बाला है। सारांश में कचनार में नारीत्व की कोमलता है तथा मृगनयनी

में नारी होते हुए भी पुरुषोचित शौर्य तथा साहस है। यही बात उक्त उपन्यास की दूसरी प्रधान पात्री लाखारानी से तुलना करने में भी मिलती है।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम ही उनका परिचय है किन्तु रचनाकार की सफलता चरित्र का उसके नाम के अनुरूप अङ्कन कर सकने में ही है। राम कभी भी हिन्दू-हृदय में इतने गहरे पैठे हुए न मिलते यदि तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में उनका सफल चित्रण न किया होता। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी वर्माजी की एक ऐसी ही नारी पात्र है। उक्त उपन्यास पढ़ने के बाद पाठक के मन में रानी की जो कल्पना आती है वह श्रद्धा से उसका हृदय परिप्रोत कर देती है।

लक्ष्मीबाई का चरित्र वर्माजी के सभी नारीपात्रों में श्रेष्ठ है। इस चरित्र में वर्माजी ने अपनी एक कल्पना को रूप दिया है। इसमें नारी जाति के प्रति उनकी एक अनबोलती श्रद्धा प्रकट होती है। इतिहास स्वयं लक्ष्मीबाई के शौर्य का साक्षी है परन्तु उपन्यास की लक्ष्मीबाई के अमर शब्द—"मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी"—पाठक के मन पर कुछ और ही प्रभाव डालते हैं।

लक्ष्मीबाई प्रजा के लिए एक आदर्श शासिका हैं। वे प्रजा पर शासन ही नहीं करतीं, जन साधारण के उत्सवों में साधारण भाव से भाग लेती हैं। 'हल्दी-कुंकुम' के उत्सव में यह स्वरूप जैसे निखर उठा है।

लक्ष्मीबाई की सङ्गठन-क्षमता अपूर्व है। सहेलियों को सैन्य-शिक्षा देकर एक कुशल सेना सङ्गठित करना इतिहास में आश्चर्यजनक कार्य माना ही गया है। बरुआसागर के डाकू सागरसिंह को अपना एक वीर सरदार बना लेना रानी की कुशल सङ्गठन बुद्धि का परिचायक है। सैन्य सञ्चालन में एक स्त्री कितनी कुशल हो सकती है यह वर्माजी ने लक्ष्मीबाई के चरित्र में बड़ी ही कुशलता-पूर्वक दिखाया है। किन्तु सब से अधिक जो बात हमें प्रभावित करती है वह है लक्ष्मीबाई का आत्म-विश्वास, जो अत्यन्त सङ्कट की घड़ियों में भी लुप्त नहीं हुआ। अन्त वह वीर मृत्यु तो जैसे उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ 'फिनिशि टच्च' है जहाँ चित्र के सभी रङ्ग स्पष्ट हो उठते हैं।

लक्ष्मीबाई सूर्य के समान दीप्त पात्री हैं। अन्य सभी पात्र ग्रह-उपग्रहों के समान उन्हीं के आस-पास घूमते हैं और प्रकाश पाते हैं।

इन नारी पात्रों में वर्माजी का नारी के प्रति दृष्टिकोण सुस्पष्ट है। उनके नारी पात्र आधुनिक बुद्धिवादी लेखकों की नारी के समान बौद्धिक द्वन्द्व में फँसी, उलझी तथा मानसिक गुत्थियों की शिकार नहीं है। वह अपने आप में पूर्ण निर्भीक तथा विश्वस्त है। उसे कोई पशु-बल से परास्त नहीं कर सकता। विशुद्ध प्रणय की आन्तरिक प्रेरणा से ही वह झुकती है, जैसे कि कचनार। परन्तु नैतिकता का दृष्टिकोण सर्वत्र ही जागरूक रहता है। दलीपसिंह के प्रेम निवेदन को कचनार अत्यन्त स्थिर बुद्धि से ठुकरा देती है पर उसकी मृत्यु के उपरान्त वह जीवन से वैराग्य सा ले लेती है।

वर्माजी के नारी पात्र प्रवृत्तियों के दास नहीं हैं, प्रवृत्तियों पर शासन करते हैं। सर्वत्र ही एक विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण देखने को मिलता है जो अपने में पूर्ण तथा मानसिक कुण्ठाओं से परे है।

इन नारी पात्रों में वर्माजी की इन पात्रों के प्रति श्रद्धा का भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह तो सत्य है कि कोई भी लेखक सच्ची सहानुभूति रखे बिना किसी भी पात्र का चरित्र-चित्रण नहीं कर सकता। वर्माजी का दृष्टिकोण सच्ची सहानुभूति पूर्ण रहा है। 'कचनार' उपन्यास में ही कलावती के प्रति वे सहानुभूति शून्य नहीं हैं। 'झाँसी की रानी' में गायिका मोतीबाई तथा जूही, रानी की विशेष प्रीतिपात्र बन जाती हैं और योद्धाओं की चिर-अपेक्षित वीरगति पाती हैं।

इन नारी पात्रों में वर्माजी ने हमारे समाज जीवन की कुछ समस्यायें भी प्रस्तुत की हैं। 'कचनार' में प्राचीन समय में दहेज में दी जाने वाली दासी प्रथा का उल्लेख है। विवाह में कुछ विचित्र प्रकार के

(शेष पृष्ठ २१८ पर देखिये)

निराला की प्रयोगशीलता

श्री कृष्णदेव झारी

'भयो सिद्ध कर उलटा जापू' यदि किसी पर घट सकता है तो एक मात्र मुझ पर। कबीर उलटबाँसियों के कारण विशेषता रखते थे पर वहाँ छन्दों का साम्य है। यहाँ उलटबाँसियाँ तो नहीं पर छन्द व भाव दोनों की उल्टी गङ्गा अवश्य बहती है। निरालाजी की उपर्युक्त स्वीकारोक्ति इस बात की परिचायक है कि कवि आरम्भ से ही परम्परा विरोधी रहा है। उसने इस व्यापक विद्रोह को 'उल्टा जाप' कहा है। वस्तुतः काव्य-जगत में समय-समय पर कई प्रकार के साहित्यकार और साहित्यानुरागी पाए जाते हैं। एक ऐसे होते हैं जो गतानुगतिक विचारों और भावनाओं तथा रचना के प्राचीन साँचों से ही चिपटे रहते हैं; प्राचीन परम्पराओं में ही अन्तिम साँसें लेते रहते हैं। दूसरे ऐसे जो नए ढङ्ग की रचनाओं को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं तथा नव सृजन की ओर भी लगते हैं। पर कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिनकी दृष्टि यह पहचान लेती है कि पिछला युग अब समाप्त हो चुका है। ऐसे ही नवीन प्रतिभा सम्पन्न कवियों की लेखनी नव सृजन की शक्ति रखती है। ऐसे कवियों में भी महाप्राण निराला की प्रतिभा एवं व्यक्तित्व अत्यन्त विद्रोहात्मक रूप लेकर प्रकट हुआ "छन्द व भाव दोनों की उलटी गङ्गा बहाने" वाले इस कलाकार की सशक्त लेखनी ने हिन्दी साहित्य में क्रान्ति मचा दी थी, इसमें सन्देह नहीं।

निरालाजी ने नवीन भावनाओं और कल्पनाओं की सज्जा द्वारा काव्य की प्राण प्रतिष्ठा करने के साथ-साथ उसके बाह्य रूप-व्यापार में भी निजी प्रयोगों द्वारा क्रान्ति उपस्थित की है। छायावादी शैली के अतिरिक्त काव्य के बाह्य-पक्ष के अन्तर्गत यदि निराला की सबसे महत्वपूर्ण देन है तो वह मुक्त छन्द का निर्भय प्रयोग है। निराला व प्रसाद के पूर्व हिन्दी काव्य रीति-बद्ध था। द्विवेदी युग के काव्य में भी विषम चरणों का प्रयोग तो अवश्य हुआ, किन्तु वर्णों अथवा मात्राओं का बन्धन किसी प्रकार था ही। भिन्न तुकान्त छन्दों के निर्माता प्रसाद, गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय आदि मुक्त छन्दों के स्रष्टा नहीं हैं। मुक्त छन्द के आविष्कार और सफल प्रयोग का श्रेय निरालाजी को ही है। बँगला में माइकेल मधुसूदन ने अवश्य निराला के पूर्व इस छन्द के प्रवर्त्तन का प्रयत्न किया था। हिन्दी में निरालाजी ने अपनी व्यक्तिगत सुगठन शक्ति से कवि-सम्मेलनों में भावाभिव्यक्ति के लिए इस छन्द की सफलता सिद्ध कर दिखाई। मनुष्यों की मुक्ति जिस प्रकार कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है उसी प्रकार निराला कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग होना मानते हैं। सम्भवतः कवि के इस स्वच्छन्द प्रयोग के तीव्र विरोध की प्रतिक्रिया का ही यह परिणाम है कि निरालाजी को मुक्त-छन्द के प्रति दुराग्रह हो गया था। उनका यह मुक्त छन्द प्रयोग विभिन्न प्रयोगों में एक महत्वपूर्ण प्रयोग के रूप में सदैव सुरक्षित एवं स्मरणीय रहेगा, किन्तु हम कवि के साथ यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि काव्य की मुक्ति केवल मुक्त छन्द द्वारा ही होगी। सारे बन्धनों का तिरस्कार कर पदावली का मनमाना विधान ही सत्काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना जा सकता।

वस्तुतः निराला की गीतियों में सबसे बड़ा मौलिक प्रयोग मुक्त छन्द व स्वर के आरोह-अवरोह का ही मिलता है। सङ्गीत की दृष्टि से कवि ने इस क्षेत्र में बँगला की उस पद्धति का अनुसरण किया है जिसका आविष्कार 'रवीन्द्र' ने योरोपीय सङ्गीत के आधार पर किया था। 'मौन', 'प्रार्थना', 'दूत अलि ऋतुपति के आए', 'अलि घिर आए घन पावस के'

और 'निशा के उर की खुली कली' जैसे 'परिमल' के गीत-काव्य में नई सङ्गीत-लहरी को सामने लाए और लगा कि ध्रुपद-धम्मार और ख्याल इत्यादि ब्रजभाषा के बँधे हुए रागों के समक्ष खड़ी बोली हिन्दी भी एक नई चीज रख सकती है। पद्यों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता का प्रयोग आपकी कविता की विशेषता है—कोई चरण लम्बा, कोई छोटा और कोई मँझोला। सम विषम पदों को इस प्रकार पढ़ा जाता है कि उसमें एक लय निनादित होती चलती है। यदि चरण छोटा है तो लय भी उसी के अनुसार धीमी और छोटी होगी, यदि पद दीर्घ है तो स्वर की दीर्घता उसे अपने में समेट लेगी।

छन्दों के क्षेत्र में निराला की कुछ नई कविताएँ ऐसी हैं जिनमें उन्होंने उर्दू गजलों के नए ढङ्ग के प्रयोग किए हैं। अधिकांश गजलें उर्दू भाषा और उर्दू विचारावली का पिष्टपेषण हैं। 'बेला' संग्रह में कितनी ही उर्दू गजलें और बेंत हैं जिनमें विदेशी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का प्रचुर प्रयोग है। सन् ४० के बाद के 'बेला' आदि के ये नए ढङ्ग के गीत नई सरल भाषा में लिखने का प्रयत्न हैं। 'बेला' संग्रह में दो कविताएँ ऐसी हैं जिनमें कवि ने कजली और लोकगीतों की तर्ज अपनाई है। इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली की शक्ति को एक नए क्षेत्र में परखा है। विषय-वैचित्र्य के साथ साँचों के ये नवीन प्रयोग हिन्दी में सर्व प्रथम दिखाई पड़े। जनता की कुण्ठित भावनाओं का नवीन ढङ्ग से निम्न कविता में अच्छा चित्रण हुआ है। विषय है 'उन्नीस सौ ब्यालीस की जनता' कवि कहता है—

काले काले बादल छाए, न आए वीर जवाहरलाल
कैसे कैसे नाग मँडराए, न आए वीर जवाहरलाल
महँगाई की बाढ़ बढ़ गई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई
भूखे नंगे खड़े शरमाए, न आए वीर जवाहरलाल

'नए पत्ते' के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है—गीत का वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत करना। निरालाजी का यह प्रयोग भी अच्छा बन पड़ा है।

शब्द रचना व पद-मैत्री की दृष्टि से भी कवि ने क्रान्ति की है। निरालाजी पर बङ्ग भाषा की काव्य-शैली का प्रभाव, समास में गुम्फित पद वल्लरी, क्रिया-पद के लोप आदि में स्पष्ट झलकता है। उन्होंने अनेक रचनाओं में अनेक प्रकार की भाषा-शैली का प्रयोग किया है। प्रारम्भिक कविताओं में कुछ सरल और प्रसाद गुण से युक्त भाषा का प्रयोग है। बाद में कहीं संस्कृत गर्भित शैली ऐसी क्लिष्ट मिलेगी, यथा—'राम की शक्ति पूजा' में कि सामान्य पाठक की समझ से बाहर है। उनके काव्य का एक बड़ा भाग संस्कृत तत्सम शब्दों और लक्षणा-व्यञ्जना के नए प्रयोगों के कारण कुछ अस्पष्ट-सा हो गया है। और इसी के कारण वे 'कठिन काव्य के प्रेत' कहलाए। अन्यत्र उनकी भाषा बिल्कुल बोलचाल की मिलेगी। सन् ३० के बाद की रचनाओं में तो उनकी भाषा बिलकुल साधारण स्तर पर उतर आई है। शब्दों का वैभिन्य यहाँ द्रष्टव्य है। अंग्रेजी, उर्दू के अप्रचलित शब्दों को भी प्रयोग के मोह के कारण ही रख लिया गया है।

छन्दों और काव्य के बाह्य कलेवर सम्बन्धी नवीन प्रयोगों के अतिरिक्त निरालाजी के चिर प्रयोगशील मस्तिष्क ने विषयों और भावों के क्षेत्र में भी क्रान्ति मचाई। छायावाद युग में जब कि प्रगतिवाद का नाम भी साहित्य में नहीं आया था, निराला ने भिक्षुक, विधवा जैसे नगण्य विषयों पर काव्य की नई लीक खड़ी की। अभिव्यञ्जना की नवीनता के साथ विषय निर्वाचन भी नवीन हैं। भिक्षुक की पंक्तियाँ देखिए—

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक। ....इत्यादि।

निराला ने अपने काव्य के विषय कहीं-कहीं तो अजीब रखे हैं। कभी वे 'किसान की नई वधू की आँखें' कविता बिल्कुल सरल शैली में रच रहे हैं तो कहीं 'ठूँठ', 'कण' जैसे नगण्य विषयों पर उनकी दृष्टि पड़ती है। 'तोड़ती पत्थर' नवीन कविताओं में

पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी है। वास्तव में पुरानी कविता की जितनी कड़ियाँ निराला ने तोड़ीं हैं उतनी किसी दूसरे कवि ने नहीं तोड़ीं। निराला के काव्य में "प्रगति और परम्परा का सामञ्जस्य" बताया जाता है परन्तु हमें उनके काव्य में परम्परा पालन की अपेक्षा परम्परा विद्रोह ही विशेष रूप में नजर आता है।

निराला की युद्ध कालीन कविताओं को तो प्रयोगात्मक ही कहना चाहिए। 'कुकुरमुत्ता' जैसे नगण्य विषय पर नए ढङ्ग पर लिखना उन्हें ही सूझ सकता था। कुकुरमुत्ते की गुलाब पर प्रतिष्ठा कर निराला ने जहाँ अपनी प्रगतिवादिता का परिचय दिया है, वहाँ उससे भी अधिक प्रयोगशीलता का। 'कुकुरमुत्ता' से उदाहरण लीजिए—

अबे सुन बे गुलाब भूल मत,
गर पाई खुशबू, रङ्गोआब।
खूब चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।
कितनों को तूने बनाया गुलाम,
माली कर रखा सहाय जाड़ाय्याम।

× × ×

शाहों राजों अमीरों का रहा प्यारा,
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा।

इस प्रकार की शैली, इस प्रकार का विषय, इस प्रकार का व्यंग्य और शब्दावली हिन्दी में पहली बार आई। नये विषय और भावों के अनुरूप ही कवि के काव्य का कायाकल्प हुआ है। कुछ नवीन उपमाएँ और शब्द चित्र चौंका देने वाले हैं। उनमें सौन्दर्य भले न हो परन्तु विनोद और चुटकी अवश्य है।

व्यंग्यपूर्ण विषय वर्णन निराला की हिन्दी साहित्य की एक नई और अनोखी देन है। निराला की इस दृष्टि से हिन्दी में युग का सबसे बड़ा (Satirist) कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इनका व्यङ्ग उत्तरोत्तर तीव्र होता गया। श्रीमन्नारायण जपने वाले विप्रवर पर जो बन्दरों को तो हाथ जोड़ कर मालपूये खिलाता है किन्तु पास खड़े दरिद्र मानव की ओर से आँखें बन्द किए है, कैसा तीव्र व्यंग्य है—

झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिए।
देखा भी नहीं उधर फिर कर,
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।

उनका व्यंग्य बड़ा ही पेचीदा और तीखा है। 'प्रेम सङ्गीत' में उन्होंने प्रेम के सर्वमान्य आदर्श रूप के प्रति व्यंग्य किया है। कहीं जातिवाद की खिल्ली उड़ाई है, कहीं 'ब्राह्मण' को 'बाह्मण' लिखा है। नए पत्ते में कहीं तुलसी के वनाश्रम और रामराज्य की हँसी उड़ाई है, कहीं नेताओं पर फबती मारी है। यहाँ तक कि व्यङ्ग की नोंक झोंक में कवि सन्तुलन को भी खो बैठा है। कुछ व्यंग्य इसी कारण भदेयस भी हो गए हैं। अँग्रेजी काव्य पर यह व्यंग्य देखिए—

कहीं का रोड़ा कहीं का लिया पत्थर,
टी० एस० इलियट के जैसे दे मारा।''''

इसी प्रकार कहीं 'खुली जबान बँधने लगी' कह कर पाणिनि के व्याकरण पर व्यंग्य है, कहीं उदयशङ्कर भट्ट जैसे कलाकार को पश्चिमोन्मुखी कह कर हँसी का विषय बनाया है, कहीं नेताओं पर फबती है, कहीं वेदों से लेकर आज तक के सारे विकास पर व्यंग्य है।

निरालाजी के पेचीदा व्यङ्ग भी बड़े मार्मिक हैं। कहारी की लड़की के प्रति गर्हित बात कवि कैसे कह गया, हिन्दी पाठक को व्यंग्य विषय समझने में थोड़ी देर लगी।

'नए पत्ते' संग्रह में ही 'कैलाश में शरत' और 'स्फटिक शिला' कविताओं को हम कवि की अर्ध-चेतन मन की रचना का प्रयोग कह सकते हैं। कवि ने अपनी भावनाओं को बहने दिया है; अपनी अर्ध-चेतना (Subconscious Ego) को मुक्त चलने दिया है। भाव जैसे आए लिखता गया। सद्यस्नाता षोडषी के सौन्दर्य से आकर्षित होने पर उसकी ओर, उसकी भरी हुई देह, उठे हुए पुष्ट तन को निस्सङ्कोच देखता गया और आगे—

वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अड़ी थी निगाह,
चौंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह।
देखने की मुझे ओर,
कैसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।
मेरा मन काँप उठा, याद आई जानकी।
कहा तुम राम की,
कैसे दिए हैं दर्शन !

जानकी के नाते कवि उस ओर से विमुख होना चाहता है परन्तु मन के अन्तःप्रवाह को एकदम कैसे रोके ! अपनी दृष्टि की तुलना जयन्त की चौंच से करके निराला ने कल्पना को सचेतन ही नहीं बना दिया अपितु समस्त धर्म काव्य पर एक व्यङ्ग भी किया है।

मनोविज्ञान आज भी प्रयोगवादिता का मुख्य प्रिय विषय है। प्राचीन आख्यान को नवीन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और आत्माभिव्यञ्जना का पुट देकर उन्होंने 'राम की शक्ति पूजा' का वर्णन किया है। 'तुलसीदास' में भी मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट है। छोटी-छोटी बातों को लेकर कवि ने बड़े-बड़े मानसिक घात-प्रतिघातों को सजीव कर दिया है।

'सरोज स्मृति' जैसी Elegy (शोक गीत) भी हिन्दी साहित्य में निराला की ही नवसृजन प्रतिभा ने पहली बार दिखाई।

इस प्रकार निराला का काव्य विषय और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी में नवीन प्रयोगों से युक्त है। भले ही उनका मुक्तक-छन्द सर्वग्राह्यता न रखता हो, भले ही उनकी गजलें हिन्दी की प्रकृति के अनुसार फिट न बैठती हों, भले ही उनकी पाश्चात्य सङ्गीत लहरी विशेष अनुकरणीय न साबित हुई हो, भले ही उनके कुछ व्यंग्य भदेयस और अरुचिकर रहे हों, भले ही उनकी पदावली कहीं-कहीं कृत्रिमता और काठिन्य लिए हो—यह सब कुछ होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि निरालाजी ने भाव विषय और अभिव्यक्ति के नवीन मार्गों को प्रशस्त किया और हिन्दी काव्य में वे प्रथम प्रयोगवादी कवि के रूप में मान्य रहेंगे। काव्य के दोनों पक्षों को उन्होंने नवचेतना दी, इसमें सन्देह नहीं।

(पृष्ठ २१४ का शेषांश)

रीति रिवाज तथा रूढ़ियाँ चल जाने से उनका प्रभाव कलावती तथा मानसिंह के चरित्रों पर दिखाई पड़ता है। दलीपसिंह की अस्वस्था के कारण वर के सारे नेग उसका भाई मानसिंह पूरा करता है। परिणाम यह होता है कि कलावती उसी से प्रभावित हो जाती है और अन्त में मानसिंह से पुनर्विवाह कर लेती है। जातिभेद की समस्या 'कचनार' तथा 'मृगनयनी' दोनों ही प्रस्तुत करती हैं। कचनार के खटोलिया गोंड होने के कारण उसका विवाह दलीपसिंह से नहीं हो सकता था, मृगनयनी गूजर थी, उसके भाई अटल तथा लाखा के विवाह में तो बहुतेरी बाधायें आती हैं। सारांश में, वर्माजी ने इन नारी चरित्रों के द्वारा अनेक समस्यायें प्रस्तुत की हैं जो विचारणीय हैं।

इन नारी पात्रों का सृजन करने की प्रेरणा का स्रोत बुन्देलखण्ड का इतिहास है। बुन्देलखण्ड के नदी नाले पर्वत तथा प्राचीन स्मृतियों को कल्पना के रंगों से रङ्गकर वर्माजी ने प्रस्तुत किया है। और यही कारण है कि उनके नारी पात्र हमारे मन में अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास को जगा देते हैं।

वर्माजी के नारी पात्र रोमाण्टिक आदर्शवाद अथवा यथार्थवाद की सीमा रेखाओं में बाँध कर नहीं रखे जा सकते। भौतिक वास्तविकताओं के बीच के मानव चरित्र का श्रेष्ठ निर्माण करते हैं। वे जीवन से पलायन नहीं करते इसीलिये धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विषमताओं के होते हुए भी उनके जीवन में गुत्थियाँ या कुण्ठायें नहीं हैं। कचनार, मृगनयनी, लक्ष्मीबाई, कहीं भी नहीं।

वर्माजी ने इन नारी पात्रों में एक जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है जो वैज्ञानिक तथा शुद्ध उपयोगितावादी दोनों है। वह वातावरण सापेक्ष है इसलिए वर्माजी ने उसके चारों ओर गौरवमय इतिहास का वातावरण तैयार किया है जिसमें कि इन नारी चरित्रों का सफल प्रसरण तथा विकास होता है।

राजकवि नन्निचोड

श्री रामशेषय्या

प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति—इन दोनों में प्रतिभा श्रेष्ठतर है। यह दैवी देन है। यह जन्म-जन्म के सुकृत से प्राप्त होती है। व्युत्पत्ति तो निरन्तर की कृषि से प्राप्त होती है। प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति होने पर भी मान्यता प्राप्त नहीं हो सकती। प्रतिभा-सम्पन्न पाण्डित्य के विना भी राजता है। कवि और शिल्पी के लिए ये दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं।

शिल्प तथा कविता—दोनों दो विशिष्ट कलाएँ हैं। एक तो दृश्य है, दूसरी श्रव्य। किन्तु दोनों की उत्पत्ति अन्तःकरण के कोमल उद्‌गारों से ही होती है। शिल्प-कला मूर्त और बारीक औजारों पर अवलम्बित है। परन्तु कविता का आधार केवल लेखनी तथा पत्र है। शिल्पी अपनी कोमल अंगुलियों को घुमा-फिरा कर हृदय-स्थित मूर्ति को शिला पर चित्रित करता है तो कवि ललित पदों से अपने कोमल भाव तथा विमल विचारों को मूर्त रूप प्रदान करता है। शिल्प-कला से लौकिक रसानुभूति होती है, तो काव्य-कला से अलौकिक आनन्द मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि कविता एक शिल्प है, तो शिल्प एक कविता है। इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।

राजकवि नन्निचोड में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों थीं। उन्होंने कुमारसम्भव का स्वतन्त्र अनुवाद ही नहीं किया, बल्कि कला-विलास नामक काव्य भी लिखा है। प्रौढ़ कवि होने के कारण आपको 'कवि-राज शिखामणि' की पदवी दी गयी और दक्षिणापथ पर दिग्विजयी होने के हेतु 'टेंकणादित्य' का पद।

नन्निचोड सूर्यवंशज थे। उनकी राजधानी 'ओरयूर' थी, जो कावेरी नदी के किनारे बसी थी। उनका राज्य गोदावरी से लेकर सिंहलद्वीप तक व्याप्त था। उनके पिता का नाम चोडपल्लि तथा माता का श्रीसति था। गुरू मल्लिकार्जुन ऋषि थे।

नन्निचोड के जीवनकाल के सम्बन्ध में वाद-विवाद चल रहा है। कोई गवेषक कहते हैं कि ये नन्नयभट्ट के पूर्ववर्ती थे। नन्नय ईस्वी ग्यारहवीं सदी के थे, जिन्होंने राजराज नरेन्द्र के आश्रय में रह महाभारत के आदि सभापर्व का पूरा और अरण्य पर्व का कुछ तेलुगु में वर्णवृत्तों में अनुवाद किया है। और कोई कहते हैं कि नन्नय के पूर्व एक नन्निचोड था, किन्तु वह न तो कवि था और उनके माता-पिता के नाम भी भिन्न थे। इसलिए राजकवि नन्निचोड नन्नय के परवर्ती थे।

नन्निचोड ने कविता की तुलना उत्तम शिल्प से की है। देखिए—

* मूल छन्द (चम्पक वृत्त)—

परगु सुवर्ण बंध मृदु भाव विशेषमुलोन जूचितन
बोरपगु चित्ररूपमुनु बोले ससत्कवि काव्य मिम्महिन,
बरगु सवर्ण बंध मृदु भाव विशेषमुलोन वेल्यलन,
सरयगु रत्न पुत्रिकयु सत्कवि काव्यमु नोकरूप मै ॥

अनुवाद (चम्पक वृत्त)—

सुभग विचारयुक्त मृदु सुन्दर भाव-प्रपूर्ण काव्य में,
विभव विभूषितावयवभिन्न सुचित्रित चारु शिल्प में,
उभय कला विशेष विभवोन्नति में समता प्रपूर्ण है,
विभव-सुभाव भूषित कवींद्र तथा वर शिल्पि तुल्य है।

---

* यद्यपि तेलुगु में संस्कृत वर्णवृत्तों का ही अधिक प्रयोग होता है, परन्तु फिर भी प्रास तथा यति के सम्बन्ध में तेलुगु में एक प्रकार की विशिष्टता है। हर प्रकार के छन्द के प्रत्येक पाद का द्वितीयाक्षर प्रास होता है और विराम (यति) में पाद के प्रारम्भिक अक्षर अथवा उसके मित्राक्षर का दीर्घ रूप अवश्य होता है। मैंने पाठकों की सुविधा के लिए हिन्दी तथा तेलुग के छन्दों के नियमों का पालन किया है।

जैसे समर्थ शिल्पकार के कोमल कर के स्पर्श से कठिन-से-कठिन शिलाएँ भी नवनीत की भाँति द्रवित होकर दिव्य रूप धारण कर लेती हैं, वैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि की ओजपूर्ण लेखनी से कोमल तथा गंभीर अनुभूतियों की विभूति उपस्थित होती है। 'गागर में सागर भरना' ही कवि की भूरि चातुरी तो है।

राजकवि की यह शिल्प-रचना देखिए। सप्तऋषि गिरितनया के दर्शन कर परमेश्वर के पास पहुँचे। उन्होंने पार्वती के सौन्दर्य की यों प्रशंसा की है—

मूलछन्द (मत्तेभविक्रीडित)—

हरि नोलोपम मध्यकेशि शशि बिंबास्योष्ठ राजीव के-
सर नेत्रामल गंधि विद्रुमलता सद्वर्ण तन्वंगि सिं-
धुर कुम्भालसयान पूर्ण कुच संस्तुत्यारुणाब्जांघ्रि कं-
धर शैलासज जेघ नोप्पगु सुधाधामार्ध चूडामणी ॥
(तन्नि० कुमारसम्भव, अष्ठम आश्वास ५)

अनुवाद (मत्तेभः)—

हरि नीलोपम मध्यकेशि शशि बिंबास्योष्ठ राजीव के-
सर नेत्रामल गंधि विद्रुमलता सद्वर्ण तन्वी सुसिं-
धुर कुंभालसचारि पूर्ण कुच संस्तुत्या रूणाब्जांघ्रि कं-
धर है शैल कुमारि, हे वर सुधाधामार्ध चूडामणी ॥

इसमें पार्वती देवी का प्रत्येक अङ्ग उपमा सहित वर्णित है। शैल-तनया, हरि-मध्या, नीलकेशि, चंद्रास्या, बिंबोष्ठा, राजीवनेत्री, केसरगन्धि, विद्रुम सद्वर्णा, लता-तन्वंगी, सिंधुरालसयाना, कुम्भ पूर्ण कुचा, अरुणांघ्री और अब्जकंधरा है। इसमें कवि ने शिल्प-कला की अपनी अनुपम प्रतिभा दर्शायी है। उन्होंने सामासिक पदों में शिल्प-चातुरी भर दी है। हर एक सामासिक पद या तो उपमानद्वय से भूषित है या उपमेय युग से। यह बनावट निराली है।

पहले तो देखने पर अन्वय का अन्दाजा लगाना असम्भव-सा ज्ञात होता है। पर कुछ सोच लेने पर विदित होता है कि पूर्व उपमान सामासिक पद का तदनन्तर के उपमेय सामासिक पद से अन्वय है। जैसे—हरिनीलोपम, मध्यकेशि इसका अन्वय यों है—हरिमध्या, नीलकेशि। इसी प्रकार अन्य पदों का भी।

पार्वती देवी के सौन्दर्य का ही और एक पद्य। इसमें कवि की प्रभविष्णुता का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त होता है—

मूल छन्द (सीस पद्य)—

कोव्विरु, लेसगि पूगोलल मोपोपक नवकंपु लेदीगे नोवुलुनटुलु,
वीगारु, चनुगव ब्रेगुन गौदीग वडुवसि वाव्वुल वाडुयुंडु,
विलसिल्लु निंडारु वेन्नेललोगारु, वेरतुरु, तीगेलु वेलुगुनटुलु
तेलि मोमु पै बर्वि तोलकाडुयाय लो मेलरारु, कनुगव मेरु गुलडरु,
दावि पोंपिरिवोवु, नेत्तेम्मि,वेलयुकंपारि तेम्मेरल वीचुनटुलु
कम्मवातेर वासन गलसि कलय सोडु मुट्टुयु नूपुलु सुडियुं चुडु

अनुवाद (हरिगीतिका)—

ज्यों मृदुलवल्ली पुष्प-गुच्छे, सहन ना कर लचकती
कुच-भार से मृदु देह लतिका, स्फीत वलियुत मचकती
ज्यों पूर्णिमा में रुचिर चपला, गगन में है चमकती
त्यों नयन-युग-छवि पार्वती की, वदन पर है प्रकटती
नव पद्म की मधु सुरभि-युत ज्यों, पवन है नित विचरता
वर गंध पूरित वदन से त्यों, श्वास मृदु है निकलता

इस पद्य में पहले उपमा न देकर तदनन्तर उपमेय प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पूरा पद उपमान-उपमेयों से पूर्ण है। यह शिष्ट शिल्प इने-गिने कवियों में पाते हैं।

'प्रियागमन वेलायम, मदनावेश संभ्रमात।
विभ्रमो गंध हारादि भूषस्थान विपर्ययः ॥

नन्निचोड ने इस उक्ति का सदुपयोग कर पाठकों को मुग्ध कर दिया है, यद्यपि इस पर कलिदास का प्रभाव है।

परमेश्वर ससुराल आये हैं। उनको देखने नगर के नर-नारी निकले। किन्तु एक महिला जल्दबाजी में अलङ्कारों को कुछ का कुछ करती हुई निकली। उसने भभूत ललाट पर लगाने के बदले बदन पर मल दी। कबरी में पुष्प माला रखने के बदले सामने के शिरोभाग में रख दी अधर-राग अधर पर लगाने के बदले माथे पर तिलक के स्थान पर लगा दिया। लोचनों में काजल रखना ही चाहती थी, पर भ्रमवश

कण्ठ में रखदी। ऐसे भूषणादि विपर्यय ने उस स्त्री का उपकार ही किया। वह अनजान में शिवजी बन बैठी।

शिवजी की भाँति बदन पर भभूत, सिर पर चाँद-सा पुष्प-हार, माथे पर लोचन की भाँति लाल तिलक, गले में विष के दाग के समान काजल, इन सबने उसे शिव ही बना रखा। मार्ग के नर-नारी उसे शिव ही समझकर साष्टांग-प्रणाम करने लगे।

महाकवि सूर्य, चन्द्रोदयादि वर्णन कथा-वस्तु में रोचकता लाने के लिए प्रस्तुत करते हैं। पर नन्निचोड के चन्द्रोदय के वर्णन में एक विलक्षणता पाई जाती है, जिसका अनुकरण किये बिना परवर्ती कवि नहीं रह सके।

शैलराज के नगर में पुरुष और स्त्रियाँ प्रेमोल्लास में विलीन थे। संध्या हो चली। कवि को उन विलासियों में उमङ्ग भरने की सूझी, तो चन्द्रोद्रय प्रस्तुत किया—

मूल छन्द (चम्पक)—

तममनु नीलवर्ण परिधानमु वीडग, पूर्व शैल शृं-
गमुलनु नुन्नत स्तन युगंबु दनर्प, जकोर बंधु व-
र्गमु मुदमोंदगा, निज मुख द्युति वेल्पुग निंदु गर्भ चि-
ह्नमुलभिरामय्ये नमराधिप दिक्सतिकिन् ग्रमंबुनन्।

अनुवाद (चम्पक —

जब जनने गयी विमल चाँद सुराधिप पूत दिग्सती,
तब तम-नीलवर्ण परिधान सुशोभित, त्याग राजती,
अब दिशि पूर्व शैल शिखराग्र कुचद्वय भाँति सोहते,
सब विधि भासती बिबुध-संग, चकोर समोद कूजते॥

जो रसोचित-विलसित रचना का अनुभव रखते हैं, नन्निचोड की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते।

नक्षत्रोदय के वर्णन का औचित्य देखिये—

मूलछन्द (मणिगणनिकर)—

सरसिज हितुडट चन दरतर मु-
त्यरूण रुचिन् मेरुगडरुडु वडि नं
बरमुन नुडुतति प्रविमल मय्येन्
निरुपम 'मणिगण निकर' विभातिन'

अनुवाद (मणिगण निकर)—

सरसिज-हितु दुति घट चली;
उडुतति की विमल रुचि बढ़ चली।
विलसित हुआ गगन-वितान,
निरूपम 'मणिगण निकर' समान॥

पहले के तीन पादों में नक्षत्रोदय समाप्त हुआ। चौथे पाद में उन नक्षत्रों के समुदाय की उपमा मणि-समूह से दी गयी है। 'मणिगण निकर' छन्द के द्वारा नक्षत्र-युक्त गगन की उपमा मणिगण निकर से दी गयी है। अन्य छन्द में दूसरे प्रकार से इसकी उपमा दी जा सकती थी। किन्तु नन्निचोड को अपनी प्रतिमा दिखानी थी, इसलिए 'मणिगण निकर' छन्द प्रस्तुत किया।

इस कवि के शिल्प का और एक उदाहरण दे कर यह लेख समाप्त करता हूँ। प्रस्तुत विषय शैलजा के विशाल लोचनों का वर्णन है, पर उसकी अभिव्यञ्जना कितने मनोहर ढङ्ग से हुई है!

पार्वती देवी की कटि कहती है, मेरे दुर्बल होने का कारण लोचनों की धृष्टता ही थी। नयनों का दृष्टि-दोष था। इस पर नेत्र अपनी निर्दोषता कानों से कहते हैं—इस दृष्टि-दोष का आरोपण केवल कटि का मन-गढ़न्त है। तुम ही सोचो—उन्नत कुचों के आक्रमण से कमर का पता ही नहीं रहा, तो भला, हम उसे देख भी कैसे सकते हैं? हाँ, तुम पूछ सकते हो कि हमें यह कैसे मालूम है कि कमर पतली है। तब तो सुनो—जब यह पार्वती चलने लगी, तब नितम्बों के भार से डगमगाने लगी। उसके पद ठीक पड़ते ही न थे। इससे हमें विदित हो गया कि उसकी कमर स्वयं दुर्बल है।

मूल छन्द (चम्पक)—

नडुमरु दिंति चन्नल तनपुंन मुंदर गानराडु; मा
कडुगिडु चोट गाल्द्रमलि तंतन कौनुकु बिंद नय्येडु
दो:डत्रड जेयु'मावलन दोसमु' लेदनि चेप्प डासे ना-
गडु वेडगोंदु गौरि तेलि कन्नुलु वीनुल डासि देसियै

अनुवाद (चम्पक)—

कमर उलाहना नजर का करते सुन नेत्र ने कही,
समधिक भीति से श्रवण सङ्ग; पयोधर बीच हैं, अहा,
समद नितम्ब हेतु हम जान गये, मग पैर डोलते,
समधिक पीन है कटि, सखे! कुछ दोष नहीं विचारते।

साहित्यपरिचय

आलोचना

भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका भाग २—लेखक—डॉ० नगेन्द्र। प्रकाशक—ओरियण्टल बुक-डिपो, नई सड़क, दिल्ली। पृष्ठ ४६४, मूल्य १०)

भारतीय साहित्य-शास्त्र पर अंग्रेजी में एस० के० डे०, काणे, शङ्करन, राघवन आदि कई महानुभावों के क्रमबद्ध ग्रन्थ निकल चुके हैं। हिन्दी के नव जागरण के साथ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानों के ग्रन्थ निकले। स्वयं डाक्टर नगेन्द्र के सम्पादकत्व में रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय पर आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित तथा टिप्पणी कृत प्रामाणिक ग्रन्थों के संस्करण निकल चुके हैं। इन पूर्व प्रयासों की अपेक्षा प्रस्तुत ग्रन्थ का दृष्टिकोण कुछ व्यापक है। इसमें एक सम्प्रदाय को ले कर उसकी समान विचार-धारा का प्राचीन और नवीन अंग्रेजी और हिन्दी ग्रन्थों की विचार-धारा से मिलान किया गया है। इस प्रकार से यह पुस्तक भारतीय ही नहीं यूरोपीय विचार-धारा का भी समावेश कर विद्यार्थियों को कूपमण्डूकता दूर करने और उनके मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने में विशेष रूप से सहायक होगी। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें रीतिकालीन कवियों की रीति सम्बन्धी विचार प्रणाली का विश्लेषण किया गया है और इस प्रकार हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र बनाने की भूमिका बाँधी गई है।

यह पुस्तक का दूसरा भाग है। दूसरा भाग पहले प्रकाशित किया गया और इसको दूसरा भाग इसलिए कहा गया है कि विकास-क्रम और महत्व-क्रम में इस विवेचित रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों को रस और ध्वनि के बाद ही स्थान मिलता है। आशा है कि रस और ध्वनि सम्बन्धी पुस्तक भी शीघ्र प्रकाश में आयगी और यह भी आशा है कि हमारे आलोचक ऐसी पुस्तकों से प्रेरणा लेकर मूल स्रोतों में अवगाहन कर एक नई स्फूर्ति प्राप्त करेंगे।

विचार और विश्लेषण—लेखक—डॉ० नगेन्द्र, प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिङ्ग हाउस—दिल्ली। पृष्ठ १७२, मूल्य ५)

प्रस्तुत पुस्तक डॉक्टर नगेन्द्र के समालोचनात्मक निवन्धों का संग्रह है। जैसा कि नाम से विदित होता है विचार भाग में आलोच्य विषयों पर जैसे हिन्दी का अपना आलोचना शास्त्र, अनुसन्धान का स्वरूप, तुलसी और नारी, कामायनी का रूपक तत्त्व, कहानी और रेखा चित्र आदि नगेन्द्रजी के विचार दिये गये हैं और विश्लेषण में कतिपय महत्त्वपूर्ण पुस्तकों, जैसे जयभारत, कुरुक्षेत्र, हिमकिरीटनी और वासवदत्ता, हिन्दी साहित्य का आदिकाल आदि पर व्यावहारिक आलोचनाएँ हैं। ये निबन्ध, सिवाय 'बीबी: एक

रण' जिसमें बौद्धिकता की अपेक्षा भावात्मक व्यञ्जना अधिक है, सब ही विचारात्मक निबन्ध हैं। ये आलोचनाएँ निबन्ध की कोटि में इसलिए आती हैं कि इनमें नगेन्द्रजी के विषय वर्णन में एक अपना निजी दृष्टिकोण है, जिसमें कहीं-कहीं जैसे 'तुलसी की नारी' में वकालत का-सा उत्साह झलकता है। नगेन्द्रजी की प्रतिपादन शैली में प्रभावोत्पादन, तथ्य-कथन, आत्म-विश्वास और दृढ़ता है जो किसी अंश में एकाङ्गिता की तटस्पर्शिनी बन जाती है। (अच्छे और शक्तिशाली आलोचक का यह सामान्य दोष है) तुलसी की नारी वाला लेख ही लीजिए। जहाँ तक तथ्यों और युक्तियों का समायोजन है वहाँ तक प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता दिखाई देता है, यद्यपि उसमें भी कुछ युक्तियाँ ऐसी हैं जो विवादास्पद हैं—मसलन एक बात यह कही गई है कि सीताजी का रामचरितमानस में कोई दृढ़ व्यक्तित्व नहीं है। सीताजी का व्यक्तित्व विद्रोहात्मक तो नहीं है किन्तु वन में साथ जाने के लिए आग्रह करने में तथा रावण से बात कहते समय (जिसको लेखक महोदय ने भी स्वीकार किया है), हनूमान द्वारा विरह निवेदन कराने में—आदि स्थलों में काफी दृढ़ और स्पष्ट है। सीताजी का 'गुड़ियानुमा वधूचित्र' जो कि 'पलङ्ग पीठ तजि गोद हिड़ोला। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा' से प्रमाणित किया गया है, वह वन की विषमताओं के विरोध द्वारा निखार में लाने को किया गया है। वन गमन के आग्रह में उस सुकुमारता का खण्डन हो जाता है। राम का आश्रय लेकर जो दृढ़ता आई है वह भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तुलसी के समर्थकों का निराकरण कुछ सस्ते आत्मसन्तोष, 'निज कर गृह परिचरिजा कर ही' इसी एक चरण से सीताजी का गुड़ियानुमा वधु चित्र साफ धुल जाता है, के साथ किया गया है। इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है कि तुलसीदासजी स्त्री जाति के प्रति कुछ अनुदार थे किन्तु यह दोष तुलसीदासजी का व्यक्तिगत दोष नहीं वरन् भारतीय परम्परा और वैराग्य का है। जब कबीर जैसे क्रान्तिकारी कवि कञ्चन के साथ कामिनी को भी ईश्वर प्राप्ति में बाधक मानते हैं, तब बेचारे शास्त्रीय मर्यादा को सौमित्र रेखा का-सा महत्त्व देने वाले तुलसीदास को क्यों दोष दिया जाय। तुलसी ने वास्तव में नारी द्वारा कामवासना की बुराई की है। रामराज्य में पुरुष भी एक नारीव्रत थे। पुरुषों को खुली छूट कहीं नहीं दी 'तौ परनारि लिलग गुसाईं, तजिय चौथ चन्दा की नाईं।'

कामायिनी के रूपक तत्व में कामायिनी के रूपक को प्रसाद ने पूर्ण विस्तार दिया है। उसमें जड़-वस्तुओं जैसे जल प्लावन आदि का भी प्रतीकत्व बतलाया गया है। मैं शुक्लजी के आक्षेपों के निराकरण से पूर्णतया सहमत हूँ, उसमें इतना ही जोड़ना चाहता हूँ कि श्रद्धा जहाँ समस्त भाव वृत्ति का प्रतीक है वहाँ वह प्रातिभज्ञान (Intution) की भी प्रतीक हो सकती है और इस स्थिति में उसके द्वारा ज्ञान, इच्छा, क्रिया का एकीकरण सहज सम्भव हो सकता है। 'केशव का आचार्यत्व' जैसे लेख अन्य रीतिकालीन आचार्यों के आचार्यत्व के सम्बन्ध में लिखे जाने की आवश्यकता है। व्यावहारिक आलोचनाएँ सूक्ष्म अध्ययन और विश्लेषण बुद्धि का परिचय देती हैं।

हिन्दी काव्य की अन्तश्चेतना—लेखक-प्रो० राजाराम रस्तोगी, प्रकाशक—शिक्षा-साहित्य प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ २२६, मूल्य ५)

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं का जैसे वीर काव्य, भक्ति काव्य, रीतिकाव्य, गीतिकाव्य, छायावाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद आदि पर स्वतन्त्र विवेचनात्मक निबन्ध संग्रहीत हैं। धाराएँ प्रायः सभी आ गई हैं और पुस्तक के पढ़ने में उनके गतिमय प्रवाह में अवगाहन का आनन्द भी मिलता है। लेखकों में पारस्परिक सम्बद्धता के अभाव में वह अन्तश्चेतना पुण्यतोया अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति अव्यक्त ही रही है, उसका अविच्छिन्न रूप प्रकाश में नहीं आया है। इसका यह अभिप्राय नहीं

कि लेखक का विवेचन बिल्कुल ऊपरी है, उसने गहराई में जाने का प्रयत्न किया है किन्तु कमी सूत्रबद्धता की है। इसके प्राक्कथन में डाक्टर विश्वनाथप्रसाद का एक वक्तव्य भी है।

महाकवि निराला—(काव्य-कला और कृतियाँ) लेखक—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०, सा० र०। प्रकाशक—सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा। पृष्ठ २०६, मूल्य ३।)

महाकवि निराला सहानुभूति के पात्र अधिक रहे हैं किन्तु उनकी कृतियों की आलोचना और उनका भाव-विश्लेषण अपेक्षाकृत कम हुआ है क्योंकि पाठ्यक्रमों में उनको इतना मान नहीं मिला जितना कि उनके अन्य समकालीन और समकक्ष कवियों को।

उपाध्यायजी ने युग की राजनीतिक, साहित्यिक और सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर पश्चिम से आने वाले प्रभावों का भी उल्लेख किया है, जिन्होंने कि हिन्दी की वर्तमान काव्यधारा को प्रभावित किया है। लेखक महोदय ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि कवि की प्रतिभा ने उन देशी और विदेशी प्रभावों को किस मात्रा में और किस रूप में ग्रहण किया है। विचारों का दार्शनिक स्तर पर और भावों और कला का सौन्दर्यगत तथा शास्त्रीय भावों के आधार पर विवेचन हुआ है।

आलोचक ने कवि को प्रगतिवादी न सिद्ध कर मानवतावादी सिद्ध किया है क्योंकि अधिकांश साहित्य मानवतावादी है। कवि की प्रगतिवादी बहक की ओर संकेत तो किया गया है किन्तु उसका पूरा विश्लेषण कम है। वास्तव में प्रगतिवाद और मानवतावाद में थोड़ा ही अन्तर है। शोषितों के उद्धार में मानवतावाद और प्रगतिवाद एक हो जाते हैं किन्तु प्रगतिवाद अपने वर्गसङ्घर्ष के कारण मानवतावाद से कुछ हट जाता है। निराला में सङ्घर्ष तो है किन्तु वह व्यङ्ग्य अधिक है। ये व्यञ्जनाएँ पुस्तक में व्यङ्ग्य ही अधिक रही हैं। किन्तु लेखक ने निराला की बाह्य इतिवृत्तात्मकता को, जो 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' में ऊपरी दृष्टि से दिखाई पड़ती है, बड़े सुन्दर और स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त किया है। कवि की प्रतिभा के समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है।

साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त—लेखक—उभय श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक, प्रका.—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृष्ठ २३३, मूल्य ३)

लेखक द्वय ने एक सरल और सीधी भाषा में साहित्यालोचन के जटिल सिद्धान्तों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस पुस्तक में भारतीय दृष्टिकोण को (जैसे नाटक के रूप में) स्थान अवश्य मिला है तथापि वह उतना ही जितना कि एक औसत दर्जे का अंग्रेजी पढ़ा विद्यार्थी चाहता है। इसकी यह न्यूनता बहुत अंश में इसके सीमित आकार के कारण भी है, फिर भी इसका दृष्टिकोण अंग्रेजी आलोचना से अधिक प्रभावित है। संक्षिप्तता और स्पष्टता इसके दो गुण हैं। इसकी पद्धति विवेचनात्मक की अपेक्षा वर्णनात्मक अधिक है। साहित्य के सिद्धान्तों के विवेचन के साथ उन-उन विधाओं का हिन्दी साहित्य में क्रम-बद्ध विकास भी दिया गया है। यद्यपि इस बात में यह पुस्तक अद्वितीय नहीं है तथापि इस ऐतिहासिक तत्त्व से विधाओं के समझने और मूल्याङ्कन में सहायता मिलती है। पुस्तक की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें गद्य की नवीन विधाओं का भी जैसे संस्मरण, गद्य-गीत, रिपोर्ताज आदि का विधिवत विवेचन किया गया है। पुस्तक साहित्यालोचन के सिद्धान्तों और इतिहास को सुलभ बनाने में सहायक होगी।

—गुलाबराय

राजस्थान विश्वविद्यापीठ की पुस्तकें

राजस्थान विश्वविद्यापीठ (उदयपुर) खोज और प्रकाशन का महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। राजस्थानी साहित्य की सेवा का जो कार्य उसने अब तक किया है और जो उसका भावी कार्यक्रम है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। हम इसके लिए विद्यापीठ के सञ्चालकों को हृदय से वधाई देते हैं। विद्यापीठ की ओर से

हाल ही में जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनका परिचय हम यहाँ संक्षेप में दे रहे हैं :—

पृथ्वीराज रासौ (प्रथम भाग)—महाकवि चन्द्र विरदाई रचित पृथ्वीराज रासौ का एक ही अच्छा संस्करण चालीस वर्ष पहले काशी ना० प्र० सभा से प्रकाशित हुआ था, जो अब १५-२० वर्ष से अप्राप्य है। अब यह ग्रन्थ कविराज मोहनसिंह जी द्वारा सम्पादित होकर शब्दार्थ और अर्थ सहित प्रकाशित होरहा है। अभी केवल एक भाग प्रकाशित हुआ है जिसमें आदि कथा से प्रारम्भकर दिल्ली किल्ली कथा, दिल्ली दानकथा, पद्मावती समय आदि कन्ह पट्टी तक १९ कथाएँ बड़े आकार के ४१८ पृष्ठों में दी गई हैं। प्रारम्भ के लगभग २५ पृष्ठों में दो भूमिकाएँ हैं—एक तो स्वयं सम्पादक की ओर से है और दूसरी पीठ मन्त्री श्री भगवतीलाल भट्ट द्वारा लिखित है। दोनों भूमिकाएँ विद्वत्तापूर्ण है। इनमें कवि और काव्य सम्बन्धी अनेक वातों की विवेचनात्मक चर्चा है। इस प्रथम भाग का मूल्य दस रुपया हे।

ओझा निबन्ध-संग्रह (चार भाग)—महा० स्व० डा० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा. इतिहास के ऐसे विद्वान थे जिनकी धाक सभी पर थी। आपने समय-समय पर जो निबन्ध लिखे हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। राजस्थान विद्यापीठ ने इन निबन्धों को संग्रह कर के प्रकाशित कर दिया—यह बड़ा पुण्य कार्य किया। निबन्ध चार भागों में प्रकाशित हुए हैं।

पहले भाग में १४ निबन्ध इतिहास सम्बन्धी, २ भूगोल सम्बन्धी, २ मूर्तिकला सम्बन्धी और पाँच विविध विषयक हैं। भूगोल सम्बन्धी लेखों में भिन्न-भिन्न देशों के और राजपूताने के भिन्न भू-भागों के प्राचीन नामों की चर्चा की गई है। यह चर्चा कहीं-कहीं संस्कृत श्लोकों के आधार पर अथवा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर की गई है लेकिन कुछ ऐसे भी नाम हैं जिनके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया है। इसमें से कुछ में कहीं-कहीं मत भिन्नता भी हो सकती है। उदाहरण के लिए—स्वर्णगिरि नाम का पर्वत आपने मैरु (मारवाड़) के जालौर स्थित पर्वत को बताया है। हमारी राय में यह पर्वत झाँसी और दतिया के पास का पर्वत है जो आज भी सोनागिरि कहलाता है। पहले भाग में पृष्ठ संख्या लगभग तीन सौ और मूल्य बड़े आकार की सजिल्द पुस्तक का पाँच रुपया है।

दूसरे भाग में पाँच लेख साहित्य सम्बन्धी, ग्यारह इतिहास और पुरातत्त्व सम्बन्धी तथा दो लेख विविध विषयक हैं। हिन्दी मास के दो पक्ष—शुक्ल और कृष्ण—को साधारणतः सुदी और वदी लिखा जाता है किन्तु आपने 'सुदि और वदि' शीर्षक सात पृष्ठ के लेख द्वारा यह बताया है कि विभिन्न समयों में लोगों ने वदी और सुदी के स्थान पर किन शब्दों का प्रयोग किया है। आपने सुदी और वदी को अशुद्ध बताया है, शुद्ध है सुदि और वदि। इस भाग में भी पृष्ठ संख्या ३०० के लगभग है और मूल्य ६) है।

तीसरा और चौथा भाग संयुक्त छपा है। तीसरे भाग में तीन लेख साहित्य सम्बन्धी हैं। जिनमें से दो में दो पुस्तकों की आलोचना है। १५ लेख इतिहास और पुरातत्त्व सम्बन्धी है तथा ४ लेख विविध विषयों पर हैं। विविध विषयों में दीपावली पर भी एक लेख है। ऐतिहासिक लेखों में महाराणा प्रताप की पहाड़ों में स्थिति शीर्षक भी एक लेख है जिसमें आपने इस बात का खण्डन किया है कि महाराणा प्रताप ने सम्राट् अकबर को कोई पत्र आधीनता स्वीकार करने के सम्बन्ध में भेजा था।

चौथे भाग में ६ अंग्रेजी लेखों तथा भाषण का संग्रह है। एक भाषण को छोड़कर ये सभी लेख ऐतिहासिक ही हैं। इतिहास के विद्वानों के लिए यह चारों खण्ड बहुत उपयोगी हैं। तीसरे भाग की पृष्ठ संख्या लगभग डेढ़ सौ और चौथे भाग की लगभग साठ है। मूल्य दोनों भागों का मिलाकर ६) है।

कविता

पार्वती—लेखक-श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री, भारतीनन्दन। प्रकाशिका श्रीमती शकुन्तला रानी मङ्गल-भवन नया पुरा, कोटा। पृष्ठ ५६६, मूल्य १५)

यद्यपि यह युग महाकाव्यों का नहीं है तथापि यदा-कदा एक दो महाकाव्यों के दर्शन हो ही जाते हैं। पार्वती का चरित 'कुमार सम्भव' के रूप में कविकुल गुरु कालिदास द्वारा प्रशस्त हो चुका है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी विवाह प्रकरण को अपने पार्वती-मङ्गल में लिया है। भारती नन्दन ने उसी परम्परा पूत चरित को पौराणिक आख्यानों के पुट से पुष्ट और मांसल ही नहीं बनाया है वरन् उसे वाक्-छटा से आकर्षक और सुरम्य भी बनाया है। उसी के साथ महाकाव्य की महत्ता के अनुकूल उसमें विचारों की रसायन जो शैव सिद्धान्त से प्रभावित है, भरी गई है। पुस्तक पर आधुनिक बुद्धिवाद का भी यथोचित मात्रा में प्रभाव है। हिमालय को केवल पर्वतराज नहीं माना है वरन् उसे पर्वतराज का अधिपति राजा ही माना है। हिमालय के वर्णन में लेखक कुमार सम्भव और कामायनी से प्रभावित अवश्य है किन्तु वह उतने में सीमित नहीं है। इस वर्णन को कवि ने अपनी कल्पना का पुट देकर एक नई भव्यता प्रदान की है, देखिए:—

पाहन के कठोर अन्तर से
प्रकटित हो मृदुभाव समान।
बनते कोमल कुसुम चरित का,
सुन्दर और अपूर्व प्रमाण॥
संध्या के रञ्जित मेघों ने
बनकर रञ्जित चित्र विधान।
रंग-विरंगे पुष्प प्रान्त हैं,
इन्द्र धनुष के से उपमान॥

त्रिपुर के आयस रजत और काञ्चन पुरों का रूप कुछ-कुछ तो कामायनी का सा ही है किन्तु उसके उद्धार में सत्य श्रेय (शिव) और सुन्दर का रूप देकर मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। इसके साथ ही त्रिपुर की प्राचीन भावना को नवीन बुद्धिवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने में भी कवि सफल रहा है। यहां वर्णन एवं प्रतिपादन में प्राचीन एवं नवीन विचारों का सफल सामञ्जस्य दिखाई देता है क्योंकि एक ओर तो साहब के पुत्रों द्वारा मयदानव से निर्मित तीनों पुरों का पौराणिक वर्णन है तो दूसरी ओर रजत, आयस और काञ्चन पर स्वामित्व रखने वाले आधुनिक वैभवशाली प्रभुओं की उच्छृङ्खलता, पापाचारिता एवं अनैतिकता दिग्दर्शन कराते हुए उनके विनाश एवं दीनों के सुख-मङ्गल की कामना भी कवि ने बड़े प्रभावशाली ढङ्ग से की है :—

"लोक विश्वकर्मा से निर्मित
जगजीवन का नव रथयान,
सतत काल गति से त्रिपुरों पर,
वत्स! करेगा जब अभियान।
होगी कम्पित धरा, विकम्पित
होंगे त्रिपुरों के अधिराज,
दीनों के चरणों पर होगा,
नत प्रभुओं का दल समान।"

अन्त में, इस महाकाव्य के अन्तर्गत शैव-धर्म एवं शैव संस्कृति का अत्यन्त गम्भीरता के साथ विवेचन करते हुए उसे सुन्दर काव्य शैली में सरसता के साथ प्रस्तुत किया है। शैव-दर्शन के आनन्दवाद एवं समरसता से कवि भली प्रकार परिचित है परन्तु सबसे अधिक कवि ने शैव-संस्कृति को मानवता का प्रचार एवं प्रसार करने वाली सिद्ध किया है :—

"नारी का तप औ मान, माप संस्कृति का,
पथ उसका शुचि संस्कार निसर्ग प्रकृति का,
है मिथुन सृष्टि सीमा पशु के जीवन में,
मानवता का आनन्द आत्म-बंधन में।"
है अधिक काम से जीवन की परिभाषा,
है अधिक देह से मन की स्नेह-पिपासा,
तम-रज से बढ़कर सत्व-श्रेय जीवन में,
मानवता का मङ्गल उसके बर्द्धन में।

इतना अवश्य है कि कवि ने ये सभी विचार इस महाकाव्य में स्वतन्त्र रूप से अन्तिम सर्गों में अङ्कित किये

हैं। क्या ही अच्छा होता यदि कवि के सभी दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचार प्रसंगवश कथानक के बीच में अनस्यूत होते। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं कवि पर महाकवि कालिदास का इतना गहरा प्रभाव दिखाई देता है कि वह महाकवि के विचारों को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत न कर के उसी रूप में रखने का लोभ संवरण नहीं कर सका है जैसे कुमार सम्भव की निम्नलिखित पंक्तियाँ 'पार्वती' महाकाव्य में उसी रूप में विद्यमान हैं :—

(१) पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया
द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलास चेष्टितं
विलोल दृष्टं हरिणाङ्गनासु च॥
—कुमार सम्भव ५/१३

संयमित थे नियमशीला के सभी व्यवहार,
वचन, दर्शन और गति सब नियम के अनुसार,
वचन सखियों को, लताओं को विलोल विलास,
हरिणियों को चल विलोकन दे दिये कर न्यास।
—पार्वती सर्ग ६

(२) अरण्य बीजाञ्जलि दानलालिता-
स्तथा च तस्यां हरिणा विद्यावसुः।
कुमार सम्भव ५/१५

हाथ में खाते हरिण वे भय रहित नीवार – पार्वती

(३) विरोधिसत्त्वोज्झित पूर्वमत्सरं —कुमारसंभव

हिंस्र पशु भी प्रकृति हिंसा वृत्ति सहज विसार
—पार्वती

(४) कृताभिषेकां हुतजातवेदसं
त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्
न धर्म वृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥ —कुमारसंभव

तपः शीला पार्वती के पुण्यदर्शन हेतु,
सिद्ध ऋषि मुनि आदि आते धर्म-सागर-सेतु।
अपेक्षा करता न नय में वर्ण-वय की धर्म;
एक सिद्धाचार ही है धर्म का शुचि कर्म॥
—पार्वती

परन्तु इतना साम्य होने पर भी काव्य में धारावाहिकता विद्यमान है। फिर तुलसीदास जैसे महाकवियों ने भी संस्कृत से पदावली एवं भावों को लेकर अपने-अपने काव्यों का निर्माण किया है, तो यहाँ कवि ने यदि 'कुमार सम्भव' से पदावली एवं भावों को लेकर हिन्दी में एक धारावाहिक शैली के अन्तर्गत अपना काव्य प्रस्तुत किया है तो कोई अन्याय नहीं किया। कवि ने तो हिन्दी साहित्य में एक अभाव की पूर्ति की है और हिन्दी के भण्डार को परिपूर्ण करने का स्तुत्य प्रयास किया है। हम इस काव्य का, विशेषकर इसलिए कि यह मानवता का प्रचारक है, स्वागत करते हैं।

—गुलाबराय

मानस-मूर्च्छना—लेखक—श्री रामसेवक चतुर्वेदी शास्त्री, प्रका.—हिन्दी साहित्य प्रकाशन समिति, भागलपुर। पृष्ठ १२१, मूल्य २॥)

'मानस-मूर्च्छना', 'आँसू' और 'कामायनी' की परम्परा का काव्य है। विरह, आत्मनिवेदन तथा प्रकृति के माध्यम से अपने मानस की विभिन्न स्थितियों की कहीं झलक दिखाना, कहीं केवल उसकी ओर संकेत कर देना, कहीं रम रहना और कहीं वैयक्तिक अनुभूतियों की ओर पाठकों का जबरदस्ती चुपचाप खींच ले चलना इस काव्य की विशेषता है। शैली की दृष्टि से लेखक को प्रसाद की परम्परा का सफलतापूर्वक निर्वाह करने में सफलता मिला है। कहीं-कहीं तो हम यह भूल जाते हैं कि प्रसाद को पढ़ रहे हैं या 'मानस-मूर्च्छना' के लेखक को। उर्दू की शैली का भी यत्र-तत्र वैसा ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। मानस की मधुर-मूर्च्छना में जैसी एक-रसता होती है वैसी ही एक-रसता शैली में भी दिखाई पड़ती है। मुख्यतः कवि जिज्ञासा, कसक तथा तदाकारिता की अभिव्यक्ति में अधिक सफल हुआ है। प्रकृति माध्यम मात्र है अतः उसने उसकी सहायता की है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र व श्री पद्मनारायण आचार्य की भूमिकाओं से इस काव्य का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। हम इस सुन्दर काव्य का स्वागत करते हैं और

आशा करते हैं कि लेखक महोदय विचार की प्रौढ़ता की दिशा में प्रसादजी का अनुगमन करेंगे।

'श्रवणकुमार'—लेखक—श्री शिवबालक शुक्ल, प्रकाशक—कॉलेज स्टोर्स, मुरादाबाद। पृष्ठ ७१, मूल्य १)

गीतों के इस युग में जब तब खण्डकाव्य, महाकाव्य भी लिखे जाते हैं यह प्रसन्नता की बात है। प्रस्तुत खण्डकाव्य में काव्य द्वारा पितृ-भक्ति की शिक्षा देने का प्रयत्न अधिक है, वर्णन-चारुता व भाव गरिमा की ओर कम। द्विवेदीयुगीन खण्डकाव्यों की परम्परा का आज के युग में यह खण्डकाव्य ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करता है। बर्णन शैली में प्रवाह है, चरित्र-चित्रण भव्य है। कहीं-कहीं छन्द-विधान में त्रुटियाँ रह गई हैं।

कल्पना-कामिनी—लेखक—सुरेन्द्रमोहन मिश्र। प्रकाशक—काव्य-कुटीर, चँदौसी। पृष्ठ ६१, मूल्य १)

प्रस्तुत काव्य-संग्रह में मधुर कल्पनाओं, शृङ्गारिक भावनाओं तथा मादक क्षणों की अभिव्यक्ति मिलती है। निश्चित रूप से प्रेमी हृदयों को—केवल उन प्रेमी हृदयों को इन गीतों में दर्द मिलेगा, जिन्हें यह संग्रह समर्पित किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति के माध्यम से अपनी प्रेम-पीर व्यक्त की है। ऐसे स्थलों पर कवि की मांसल भावनाएँ छन कर पाठकों के पास पहुँचती हैं अतः उनका उन्माद शायद देर तक रह सकता है।

मिट्टी और स्वर्ग—लेखक—श्री कामेश्वरप्रसाद, प्रका०—गोकुलनन्दसहाय, वेलन बाजार, मुंगेर। पृष्ठ ४२, मूल्य १)

प्रस्तुत खण्डकाव्य में एक अध्यापक और उसकी शिष्या की प्रणय कहानी वर्णित है। लेखक स्वयं अध्यापक हैं अर्थशास्त्र के अध्यापक। यह ठीक है कि यह भी एक समस्या है—सामाजिक समस्या परन्तु भूमिका लेखक का यह मत प्रशंसनीय है—और अध्यापक होने के कारण ऐसे चित्रण में यदि वे संयम कर सके होते तो अच्छा होता। चित्रण व मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त सामान्य कोटि का है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

इतिहास

प्राग्वाट इतिहास (भाग १)—लेखक—श्री दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' बी० ए०, प्रकाशक—श्री प्राग्वाट इतिहास प्रकाशन समिति, स्टेशन रानी (मारवाड़)। आकार बड़ा, पृष्ठ ३२+७२+५२२, मूल्य २१)

मारवाड़ में प्राग्वाट नाम का एक छोटा प्रदेश है वहीं से सम्बन्धित प्राग्वाट नाम की एक जाति भी है जो जैन धर्मावलम्बी ओसवाल जाति से सम्बन्धित है। इसी जाति का इतिहास इस विशाल ग्रन्थ में वर्णित है। यह पुस्तक श्रीमद् विजययतीन्द्र सूरिजी के उपदेश से लिखी गई है और श्रेष्ठिवर्य ताराचन्द जी ने इसे लिखवाने और प्रकाशित करवाने में बड़ी मदद की है। आपका चित्र और परिचय भी पुस्तक में दिया गया है। इस पुस्तक में प्राग्वाट प्रदेश का इतिहास और प्राग्वाट जाति की उत्पत्ति आदि का पूरा वर्णन है। वर्त्तमान जैन कुलों को उत्पत्ति में अनेक प्राचीन कथाओं तथा घटनाओं का उल्लेख किया गया है। प्राचीन गुर्जर मन्त्री वंश तथा अन्य अनेक वंशों का इतिहास, धनकपुर अभिनव राजतन्त्र की स्थापना, अनेक संघ-यात्राओं, अनेक जिनालय, पुण्यकार्य, कविगण, प्रतिभा प्रतिष्ठादि कार्य, अनेक मुनियों आदि का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। देश के भिन्न-भिन्न भागों में मिलने वाली प्राग्वाट जाति द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की भी ऐतिहासिक सूची है। पुस्तक में ६० महत्त्वपूर्ण चित्र हैं, जिनका परिचय देने में बड़ा परिश्रम किया गया है। छपाई सुन्दर, कागज बढ़िया और जिल्द मजबूत है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सभी तरह से सुन्दर और उपयोगी बनाने की सफल चेष्टा की गई है। जातियों के इतिहास प्रायः तिमिराच्छन्न हैं, उनको प्रकाश में लाना आवश्यक है। इस पुस्तक के लिखने में श्री लौंढ़ा ने जो परिश्रम किया है, वह स्तुत्य है।

हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

लेखक—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) प्राध्यापक—आगरा कालेज, आगरा।

भूमिका लेखक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी विश्व-विद्यालय।

तथा

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, सागर विश्व-विद्यालय।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रतिबिम्बित दार्शनिक विचार-धाराओं का प्रौढ़ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें साहित्य व दर्शन का परस्पर सम्बन्ध, शून्यवाद, विज्ञानवाद, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शांकर वेदान्त, भक्ति का विकास, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्य भेदाभेदवाद, वैष्णव सम्प्रदाय, सूरदास के दार्शनिक विचार, तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण, बौद्ध तान्त्रिक मत, वैष्णव सहजयान, शाक्तमत, शवमत, वीर शैवमत, कापालिक, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, पाशुपत सम्प्रदाय, नाथपन्थ और दर्शन, कबीर की विचारधारा, सूफ़ी दर्शन तथा जायसी की विचारधारा, इतने शीर्षकों में दार्शनिक विचारधाराओं के अध्ययन, विकास, प्रेरणा के स्रोत, परस्पर प्रभाव, तुलनात्मक अन्तर तथा काव्य में उनके प्रयुक्त रूपों का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—"पहली ही बार हिन्दी साहित्य के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि का इस प्रकार का क्रमबद्ध विवेचन इन पृष्ठों में किया गया है।" श्री नन्ददुलारे बाजपेयी के अनुसार—"प्रस्तुत पुस्तक सांस्कृतिक विकास के दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने में पूरी सहायक होगी।" पृष्ठ संख्या ४०० (१८×२२=८), मू० ६॥)

प्रकाशक :—**साहित्य रत्न-भण्डार, ४ गांधी मार्ग, आगरा।**

हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ

लेखक—श्री रामगोपालसिंह चौहान एम० ए०

भूमिका लेखक—डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्व-विद्यालय।

इस ग्रन्थ में गद्य के सभी रूपों (नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, जीवनी, रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, गद्यगीत आदि) का क्रमबद्ध विस्तृत विवेचन किया गया है। उक्त सभी विधाओं को विकास-क्रम में रख कर उन विधाओं के प्रमुख लेखकों की कृतियों का प्रामाणिक विवरण, अनुशीलन तथा उनकी रचना-शैलियों का गम्भीर एवं विशद अध्ययन इस पुस्तक की विशेषता है।

डा० सत्येन्द्र के मतानुसार—"यह हिन्दी में गद्य-रूपों का समग्र एवं प्रामाणिक अनुशीलन प्रस्तुत करने वाली प्रथम रचना है।" हिन्दी के प्रत्येक विद्यार्थी व विद्वान के लिए यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। पृष्ठ संख्या २१५ (१८×२२=८), मू० ४)

प्रकाशक :—**साहित्य-रत्न-भण्डार, ४ गांधी मार्ग, आगरा।**

REGD. No. A. 263 NOVEMBER 1955. LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

अधिक कमीशन के लोभ में न पड़कर

अच्छी पुस्तकें खरीदनी चाहिए

कुछ जानने योग्य बातें

१—अच्छे और ख्याति प्राप्त लेखकों की पुस्तकें खरीदी जायँ।

२—पुस्तकें वही खरीदी जायँ जिनमें कीमत अधिक न छपी हो।

३—स्कूल, कालिजों में उन विषयों की जनरल पुस्तकें अधिक रक्खी जायँ जिनसे वहाँ के विद्यार्थी भी अपनी योग्यता बढ़ा सकें।

यह सभी बातें आपको हमारे भण्डार में मिलेंगी। हमारे यहाँ सभी नई से नई हर विषय की प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें आपको मिलेंगी। इस वर्ष अभी से कालेजों में पुस्तकों की खरीद प्रारम्भ हो गई है। हमारे यहाँ अब तक कितने ही आर्डर आ चुके हैं और सबको हम एक सप्ताह के अन्दर ही सब पुस्तकें भेज देते हैं।

आप हिन्दी पुस्तकों का वृहद् सूची-पत्र हमसे मुफ्त मँगायें

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हमारे यहाँ सोल एजेन्सियाँ हैं

हमारे यहाँ कितने ही बड़े-बड़े प्रकाशकों की सोल एजेन्सी हैं उनका माल हम उन्हीं के कमीशन पर विक्रेताओं को देते हैं अतः ऐसे विक्रेता जो हिन्दी की एक-एक पुस्तक मँगा कर अपना हिन्दी पुस्तकों का व्यापार बढ़ाना चाहें वे हमारा व्यापाराना सूची-पत्र मुफ्त मँगा कर लाभ उठायें।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र
—
प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा
—
मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

वर्ष १७

वार्षिक मूल्य ४)] आगरा—दिसम्बर १९५५ [विशेष संस्करण

इस अङ्क के लेख

—हमारी विचार-धारा	सम्पादक
—आचार्य शुक्ल और साधारणीकरण	श्री कुमार विमल एम० ए०
—साहित्य का चिर-साध्य क्या ?	श्री शिवप्रसाद लोहानी
—महाकवि सूरदास की सम्बन्ध-भावना	प्रो० पंकज एम० ए०, साहित्यालङ्कार
—विद्यापति की भक्ति-भावना	श्री राधेश्याम 'बंका' एम० ए०
—कवित्त-रत्नाकर में ऋतु-वर्णन	श्री राजेन्द्रमोहन 'नलिन' आचार्य,
—हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास	श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०,
—इतिहासों से उपेक्षित—ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य	श्री गंगाप्रसाद कमठान
—द्विवेदी युग में प्रसादजी की भूमिका	श्री सौमित्र एम० ए०, साहित्य-
—मैं नाटक कैसे लिखता हूँ ?	श्री विष्णु प्रभाकर
—साहित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की २० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। विना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

६ साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार होता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन नवम्बर १९५५

आलोचना

सन्त कबीर दर्शन—राजेन्द्रसिंह गौड़	२)
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा—शिवप्रसादसिंह	५)
सुमित्रानन्दन पन्त और उत्तरा— तारकनाथ वाली एम० ए०	३)
हिन्दी कवियों की काव्य भावना— प्रो० सुरेशचन्द्र एम० ए०	३)
कला क्या है—अनु० इन्दुकान्त शुक्ल	।।।≡)।।
लोक-जीवन और साहित्य— डा० रामविलास शर्मा	३।।)
प्रेमचन्द और कर्म भूमि—राम वशिष्ठ एम. ए.	२।।)
कबीर—राजनाथ शर्मा एम० ए०	२।।)

कविता

गीत गुञ्ज—निराला	।।।≡)।।

कहानी

जिन खोजा तिन पाइयाँ—गोपीनाथ	३।।)
चाँद और टूटे हुये लोग—धर्मेन्द्र भारती	३)
प्राणों की बाजी—प्रो० विराज	२।।)
भारतीय संस्कृति की कहानी— भगवतशरण उपाध्याय	१।)
भारतीय मूर्तिकला की कहानी—,, ,,	१।)
मानो न मानो—धर्मपाल शास्त्री	१।)
बुन्देल खण्ड की लोक कथाएँ—श्रीकान्त व्यास	१)

उपन्यास

सेवा और त्याग—गुलाबरत्न वाजपेयी	३)
काठ का उल्लू और कबूतर—केशवचन्द्र वर्मा	४)
द्वाभा—प्रभाकर माचवे	२)
निर्यातन—भगवती प्रसाद वाजपेयी	२)
विश्वमित्रा—धर्मेन्द्र	२।।)
मादाम बोवैरी—गुस्ताव फ्लोवर	३)
अँधेरे की भूख—डा० रांगेय राघव	३)
जीवनदान—कुँवरानी तारादेवी	५)
जहाज का पंछी—इलाचन्द्र जोशी	७)

नाटक

सृष्टि और साँझ—सिद्धनाथकुमार	४।।)

निबन्ध

मेरे निबन्ध—(जीवन और जगत)—गुलाबराय	५)
भावना और समीक्षा—ओमप्रकाश एम. ए.	४)

कोश

अवधी कोश—रामाज्ञा द्विवेदी	७।।)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

37
J.B.MANGHARAM'S
NOURISHING
Biscuits
Delicious & wholesome
ASSORTED BISCUITS
J.B.Mangharam & Co
J.B.MANGHARAM'S
AFTERNOON Tea
ASSORTED BISCUITS
THE HOME OF QUALITY
J B M & CO

वर्ष तक राष्ट्र की गौरवपूर्ण सेवा

भारतीय-गणराज्य का ९ वाँ जन्मोत्सव हम सहर्ष मना रहे हैं। दिन-प्रतिदिन हमारा राष्ट्र औद्योगिक एवं आर्थिक सम्पत्ति में धनी होता जा रहा है; हमें गौरव है कि ३८ वर्षोंसे एशिया के आधुनिकतम एवं सबसे बड़े कारखाने में उच्च कोटि के बिस्कुट तथा मिठाइयों का निर्माण करके भारत को आत्मनिर्भर बनाकर हम ऐसी सम्पत्तियों की वृद्धि में योग-दान दे रहे हैं।

जब भी आप जे. बी. मंघाराम के बिस्कुट और मिठाइयों की चर्चा करते हैं तो इसका मतलब है आप सर्वश्रेष्ठ की चर्चा करते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ खाद्य सामग्रियों से बनाये जाते हैं।

अन्य उत्पादन :—
- क्रीम वेफर्स
- नरीशिंग
- आफ्टरनून टी
- रॉयल क्रीम
- इनर्जी वेफर्स
- सॉल्टो

जे. बी. मंघाराम एण्ड कं.
ग्वालियर (भारत)

आलोचना प्रधान साहित्य-सन्देश
के
पिछले तीन विशेषांक

साहित्य-सन्देश के १७ वें वर्ष का अन्तः प्रान्तीय नाटक विशेषाङ्क हम १ अगस्त को निकाल चुके हैं। प्रत्येक वर्ष हम साहित्य सन्देश का एक विषय लेकर ऐसा विशेषाङ्क निकालते हैं जिसकी ख्याति सारे हिन्दी संसार में बनी रहती है। पिछले सभी विशेषाङ्कों में हिन्दी के विद्यार्थियों और साहित्य प्रेमियों की रुचि के अनुसार ठोस और उपादेय सामग्री रक्खी गई जिनकी बड़ी माँग रही और अभी तक बनी है। इस समय हमारे पास पिछले अनेक विशेषाङ्कों में से केवल तीन विशेषाङ्क 'भारतेन्दु अङ्क', 'आलोचनाङ्क' तथा 'कहानी अङ्क' की कुछ प्रतियाँ बची हैं जिनका प्रत्येक का मूल्य १ रुपया है। प्रसाद अङ्क के के लिये हमारे यहाँ से प्रकाशित 'प्रसाद जी की कला' नामक पुस्तक मँगायें। जो सज्जन इन विशेषाङ्कों की इच्छा रखते हैं, एक रुपया प्रति अङ्क मनीआर्डर द्वारा भेजकर अपनी इच्छित प्रति मँगालें, रजिस्ट्री से मँगाने के लिये ।=) अतिरिक्त भेजें।

❀ विद्वान सम्पादकों की सम्मतियाँ ❀

भारतेन्दु अङ्क—इस अङ्क में भारतेन्दु जी के जीवन, साहित्य, कला, भाव आदि विविध पक्षों पर जो प्रकाश विद्वान लेखकों द्वारा डाला गया है वह भारतेन्दु जी का अध्ययन करने वालों के लिये पठनीय ही नहीं है अपितु हिन्दी संसार के लिये एक अमूल्य वस्तु है।

—सम्पादक 'वीणा', इन्दौर।

आलोचनाङ्क—आलोचना-शास्त्र के नूतन और विकसित रूप की समीक्षा इस अङ्क में अनेकों साहित्य-मनीषियों ने की है। हिन्दी आलोचना के साथ ही साथ अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती और मराठी के आलोचना-शास्त्र पर भी अधिकारी लेखकों ने प्रकाश डाला है। सर्व श्री डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एस० टी० नरसिंह चारी, डॉ० भोलाशङ्कर व्यास, प्रकाशचन्द्र गुप्त, गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि विद्वानों के लेख महत्त्वपूर्ण और गवेषणात्मक हैं।

छात्रों के लिये अङ्क अत्यन्त उपयोगी और संग्रहणीय है। —सम्पादक 'लोकसेवक'

कहानी अङ्क—इस विशेषाङ्क में 'कहानी' के उद्गम (भूत) से लेकर उसके भविष्यत् की चर्चा की है। गणयमान्य विद्वानों द्वारा कहानी के शिल्प और कलात्मक विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। अङ्क हिन्दी कहानी को भारतीय कहानी के परिपार्श्व में रख देखने का, उसके मूल्याङ्कन का व्यापक एवं अभिनव प्रयास है। कहानी-कला, हिन्दी कहानी और कहानीकार, उसके विकास आदि के सम्बन्ध में इतनी सामग्री इस अङ्क में एकत्रित की गई है जो अनेक पुस्तकों में सरलता से प्राप्त नहीं है। अङ्क पठनीय तथा स्थायी महत्त्व से पूर्ण है। —सम्पादक 'वीणा'।

पता—**साहित्य सन्देश कार्यालय**, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

साहित्य-सन्देश

भाग १७]   आगरा—दिसम्बर १९५५   [अङ्क ६

हमारी विचार-धारा

हिन्दी अध्यापक का उत्तरदायित्व—

अध्यापन का अर्थ केवल शब्दार्थ बतलाना या शब्दों में निहित विचार-धारा का उद्घाटन करना मात्र नहीं है। प्रत्येक लेखक या कवि के पीछे एक सांस्कृतिक परम्परा होती है, उसका समझ लेना और समझाना भी अध्यापक के लिए आवश्यक होता है। इस सांस्कृतिक परम्परा के ज्ञान के लिए केवल प्राचीन साहित्य और किंवदन्तियों और जनुश्रुतियों का ज्ञान ही आवश्यक नहीं है वरन् राजनीति, इतिहास आदि का ज्ञान भी अपेक्षित है। प्रसादजी के नाटकों के समझने के लिए बौद्धकालीन भारत की राजनीति का ही ज्ञान नहीं वरन् भूगोल का ज्ञान भी वाञ्छनीय है। पात्रों का कार्य-कलाप उन राजनीतिक परिस्थितियों के सम्यक ज्ञान होने पर ही ठीक समझ में आ सकता है। इसी प्रकार वीर गाथा-काल के लिए राजपूत इतिहास और भूषण के लिए मुगल और मरहठा इतिहास के ज्ञान की आवश्यकता है। साहित्य के साथ भाषा का भी वैज्ञानिक ज्ञान वाञ्छनीय है। काव्य के रूपों और छन्दों के विधिवत ज्ञान के लिए प्राकृत और अपभ्रंश में उनके स्रोतों का ज्ञान आवश्यक होगा। काव्य-सौष्ठव का पूरा आस्वाद लेने के लिए साहित्य-शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए वन, पर्वत, नदियों आदि का ज्ञान और फूल और पौधों की पहचान आवश्यक है। पीली चम्पा कितने अध्यापकों ने देखी होगी? लवङ्गलता और बन्धूक से कितने अध्यापक परिचित होंगे! कर्णिकार कौन से वृक्ष का नाम है? ऐसे ही पशु-पक्षियों का ज्ञान भी आवश्यक है। बहुत से लोगों ने शायद खञ्जन की चपलता को भी न देखा होगा। कवि समयों के वैज्ञानिक पहलू का भी अध्ययन होना स्पृहणीय है। ब्रज साहित्य पढ़ाने वाले कितने अध्यापक ब्रज की परम्पराओं, रीति रिवाजों, वैष्णव मान्यताओं और स्थानीय भूगोल से परिचित होंगे। (इस अज्ञान में इन पंक्तियों के लेखक भी शामिल

हैं।) भाषाओं के अध्ययन के पीछे-पीछे विज्ञान आदि का चलता ज्ञान जरूरी है।

हिन्दी का अध्यापन उतना सहज नहीं है जितना कि समझा जाता है। इसमें दूसरे ज्ञान-विज्ञानों की सहायता चाहिए। अर्थ बतला देना यद्यपि परम आवश्यक है तथापि उतने मात्र से अध्यापक के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। हिन्दी का मान बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने विद्यार्थियों को ठोस और संश्लिष्ट ज्ञान दें।

वर्तमान हिन्दी साहित्य का पर्यवेक्षण—

हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा है। उसमें निहित ज्ञान-निधि सबको उपलब्ध हो सके और उसका समुचित उपयोग हो सके, इसके लिए यह परम आवश्यक है कि उसके वर्तमान साहित्य का एक पर्यवेक्षण कर लिया जाय। बहुत सा साहित्य प्रकाशित होता है किन्तु पढ़ने वालों के अभाव के कारण उसका प्रचार नहीं हो पाता। प्रयाग की विज्ञान परिषद की बहुत सी पुस्तकों का ऐसा ही हाल हुआ। अब जब देश में उन पुस्तकों की माँग हुई तब वे लोगों की निगाह से ओझल हो चुकी हैं। एक बार पर्यवेक्षण हो जाने से ठीक स्थिति ज्ञात हो जायगी कि हमको किस प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता है। फिर उसकी पूर्ति का योजनाबद्ध प्रयत्न हो सकता है।

सरकार की ओर से इस दिशा में दो प्रयत्न चल रहे हैं। एक तो साहित्य अकादमी ने एक विषय-सूची प्रकाशित की है और उनसे सम्बन्धित पुस्तकों की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की है। कुछ विद्वानों के पास ऐसी सूची आई है। इसमें प्रायः सभी प्रमुख विषय आगये हैं। बिना इस बात के विचार किये कि किन-किन के पास यह सूची भेजी गई है और किन के पास नहीं, इस महान कार्य में जनता का सहयोग अपेक्षित है। जिस किसी को जिन-जिन विषयों की जिन पुस्तकों की जानकारी हो वह अपनी जानकारी से पुस्तकों की सूची बना कर साहित्य अकादमी के पास भेजें। यह राष्ट्रीय कार्य है।

शिक्षा-मन्त्रालय मार्च में वैज्ञानिक पुस्तकों की एक प्रदर्शिनी कर रहा है। उसको भी पुस्तकों की जानकारी की जरूरत है। जनता और विज्ञान-परिषद के अनुभवी सज्जन अयाचित होने पर भी इस शुभ कार्य में योग दें। प्रकाशक लोग पुस्तकें नहीं तो नाम और विवरण अवश्य भेजें जिससे यह प्रदर्शिनी सफल होसके।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य के प्रति भ्रम--

हिन्दी भाषा के मध्यकालीन काव्य की प्रशंसा प्रायः सभी करते हैं और उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। परन्तु हिन्दी के आधुनिक काव्य, कथा-साहित्य आदि के विषय में आज तक बहुत से विद्वानों तथा साधारण पाठकों में महत्त्व के भ्रम हैं। उस दिन एक बङ्गाली सज्जन ने चुनौती दी कि हिन्दी में इधर जो रचनात्मक साहित्य लिखा जा रहा है उससे हिन्दी साहित्य में वृद्धि तो अवश्य हुई है (वृद्धि भी उन्होंने शायद इसलिए स्वीकार करली क्योंकि उक्त महाशय साहित्य-रत्न-भण्डार में बैठे हुए थे और वहाँ हिन्दी पुस्तकों का विशाल संग्रह देखकर प्रभावित होगए थे) परन्तु मौलिक योगदान नहीं के बराबर हुआ है। उदाहरण के लिए कविता के क्षेत्र को लीजिए। 'तुलसी, सूर को छोड़कर हिन्दी में और किस कवि के पद्य लीजेण्ड (legend) बन सके हैं। व्याख्यानों, लेखों तथा सामान्य व्यवहार में प्राचीन कवियों की उक्तियाँ ही उद्धृत की जाती हैं, नवीन कवियों की उक्तियाँ सूक्तियाँ नहीं बन सकीं। बङ्गाली महाशय की बात सुनकर हम चकित रह गए। हमने उनकी चुनौती स्वीकार कर निवेदन किया कि हम प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, बच्चन, गुप्तजी आदि की कुछ उक्तियाँ आपके सम्मुख रखते हैं, शायद आप को पसन्द आजाएँ परन्तु वह महाशय सुनने तक को भी तैयार नहीं थे। प्रश्न उठता है कि अब भी ऐसे भ्रम क्यों चल रहे हैं। आत्म-निरीक्षण के पश्चात् हमने समझा कि ऐसे भ्रमों का प्रसार कभी-कभी तो जान-बूझ कर हिन्दी को बदनाम करने के लिए किया जाता है। ऐसे लोग पूर्वाग्रहों पर चलते हैं और आधुनिक काव्य तथा

कथा-साहित्य का अध्ययन कर उसका मूल्याङ्कन करने का कष्ट नहीं उठाना चाहते। भ्रम के दो मुख्य कारण हैं अज्ञान व पक्षपात। दूसरी बात हिन्दी के मनीषी आलोचकों से सम्बन्ध रखती है। डा० देवराज जैसे विचारक, जो दर्शन व साहित्य दोनों क्षेत्रों के अनुशीलन कर्ता हैं, कामायनी कृति को बहुत महत्त्व नहीं देते। वह प्रायः 'आलोचना' में हिन्दी के आलोचकों को कामायनी के सम्बन्ध में अपना मत बदलने के लिये दावत देते रहते हैं। क्यों? शायद सर्वसम्मत मत के विरुद्ध जाकर अपनी वैयक्तिक विशिष्टता की स्थापना के लिये वे ऐसा करते हैं और ऐसे ही विचारकों को हिन्दी विरोधी अपने पक्ष-समर्थन के लिये उद्धृत करते हैं।

हिन्दी में गतिरोध—

इसी प्रकार कुछ निराशावादी विचारकों को चारों ओर गतिरोध ही गतिरोध दृष्टिगोचर होता है। हमें अपनी अपूर्णताओं के प्रति जागरूक अवश्य होना चाहिये। हमें बताना चाहिये कि हिन्दी में किन-किन क्षेत्रों में अभी कार्य होना है। किस मात्रा में, किस गति से हम आगे बढ़े हैं या पीछे हटे हैं। परन्तु प्रेमचन्द के बाद कोई उपन्यासकार नहीं दिखाई पड़ता, सीनियर छायावादी कवियों के बाद के काव्य-क्षेत्र के प्रयत्न बचकाने हैं। नाटककार तो खैर कोई है ही नहीं, निबन्ध लिखे ही बहुत कम गये हैं, कथा-क्षेत्र में प्रयोग अधिक हो रहे हैं, उपलब्धि व परिपक्वता का पूर्ण अभाव है, आलोचना के क्षेत्र में कोरी धाँधली चल रही है; अतः चारों ओर गतिरोध दिखाई पड़ रहा है·······।

निराशावादियों के ऐसे विचारों के कारण भी आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में भ्रमों का पोषण होता रहता है। प्रश्न यह है कि क्या हिन्दी में सचमुच गतिरोध है? हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसी बात नहीं है। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द के बाद सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व ऐतिहासिक उपन्यास-कला में उन्नति हुई है। सीनियर कवियों के बाद, प्रयोगवादियों को छोड़ दीजिये, नई पीढ़ी की नई कविता को पढ़कर निराशा का कोई कारण नहीं रह जाता। और डा० नगेन्द्र के अनुसार आलोचना के क्षेत्र में तो सबसे अधिक कार्य हुआ है। अतः गतिरोधवादियों की दृष्टि भ्रान्त है। तथ्य को अपनी कल्पना के अनुसार देखने से ऐसी भ्रान्तियाँ प्रायः होती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हमें आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी देनी चाहिये। निराशावादी दृष्टिकोण की जगह रचनात्मक दृष्टिकोण रखना चाहिये तथा अन्य लोगों को आधुनिक युग के विरुद्ध बोलने के पहले खूब सोचना समझना चाहिये।

तुलनात्मक अनुशीलन की आवश्यकता—

ऊपर जिस भ्रम के सम्बन्ध में कहा गया है उसके निवारण के लिए हिन्दी के कवियों तथा लेखकों का अन्य भाषाओं के कवियों व लेखकों के साथ तुलनात्मक अनुशीलन अति आवश्यक है। साहित्य सन्देश, देवनागर तथा दक्षिण की कुछ पत्रिकाओं ने कुछ ऐसा प्रयत्न किया है। अन्य पत्रिकाओं में अन्य भाषाओं की अनूदित रचनाएँ छपती रहती हैं परन्तु इस परिचयात्मक कार्य के साथ-साथ गम्भीर अनुशीलन की आवश्यकता है। साथ ही रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ अन्य प्रकार के साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के कुछ विद्वान शोध के लिए तुलनात्मक विषय चुन रहे हैं, उन्हें इस बात की सुविधा है कि वे अपनी प्रान्तीय भाषा व हिन्दी दोनों से परिचित हैं, परन्तु हिन्दी के विद्वान् तमिल, तेलुगू, कन्नड़, आदि से अपरिचित हैं। अब समय आगया है कि न केवल भ्रम-निवारण के लिए अपितु अपने साहित्य के लिए भी हम प्रान्तीय भाषाओं में से किसी एक का अभ्यास करें और तुलनात्मक अनुशीलन को अपना ध्येय बनालें। आज समय की यही माँग है। इसके लिए जहाँ जहाँ हिन्दी की उत्तम शिक्षा दी जा रही है वहाँ एक प्रान्तीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य विषय होना चाहिए। एम० ए० के लिए यह प्रबन्ध होना चाहिए।

इस दिशा में आगरा विश्वविद्यालय ने 'हिन्दी-इन्स्टीट्यूट" की स्थापना कर उचित पथ-प्रदर्शन किया है। इस प्रकार की संस्थाएँ सभी विश्वविद्यालयों में स्थापित होनी चाहिए। तभी देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नति हो सकेगी। तब न कोई हिन्दी के नेता यह कह सकेंगे कि हिन्दी में सर्व श्रेष्ठ साहित्य नहीं है और न कोई अन्य प्रान्त का व्यक्ति यह कह सकेगा कि हिन्दी में आधुनिक युग में ऐसा कोई कवि नहीं जिसकी उक्तियाँ कहावतें बन गई हों।

भ्रम और गतिरोध सम्बन्धी उक्त भावना को दूर करने और तुलनात्मक अनुशीलन करने वाले साहित्य की आज आवश्यकता है। हिन्दी के मासिक पत्रों को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए। साहित्य-सन्देश इसके लिए तैयार है। हमारे सुधी लेखक ऐसे लेख भेजेंगे तो हम उन्हें साहित्य-सन्देश में पहले स्थान देंगे। हम इसके लिए उनका सहर्ष स्वागत करते हैं।

हिन्दी की लिपि—

समाचार पत्रों से विदित हुआ है कि भारत सरकार ने हिन्दी टाइप राइटर का 'की बोर्ड' अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया है और उसका आधार वह निर्णय है जो लखनऊ में हुए लिपि सम्मेलन में हुआ था। सम्भवतः पाठकों को विदित होगा कि उस निर्णय के अनुसार ह्रस्व 'इ' का रूप दीर्घ 'ई' के रूप में ही थोड़ा अन्तर कर के होगा। दीर्घ 'ई' का रूप तो ऐसा (ी) ही रहेगा, ह्रस्व 'इ' का रूप (ी) हो जायगा। अन्तर इतना थोड़ा है और इतना अव्यवहारिक है कि समग्र हिन्दी जनता की ओर से उसका विरोध हो रहा है। ह्रस्व 'इ' को लिखकर पढ़ने में उतनी ही दिक्कतें होंगी जितनी उर्दू लिपि में होती हैं। और सच बात तो यह है कि ठीक आधे पर हाथ का रुकना कठिन होगा। अतः उसके लिखने और पढ़ने दोनों में ही कठिनाई हो जायगी। सरकार का यह कर्तव्य था कि उस निर्णय के बाद उसकी प्रतिक्रिया को देख कर और जनमत को लेकर ही यह अन्तिम निर्णय करती। किन्तु ऐसा न करके निर्णय जल्दी में किया जायगा तो उसमें बड़ी हानि होगी। अब तक प्रकाशित जनमत से यह स्पष्ट विदित होता है कि अन्य संशोधनों को स्वीकार करते हुए भी 'इ' का संशोधित रूप अधिकांश जनता को स्वीकार नहीं है। ऐसी दशा में हम यह चाहते हैं कि सरकार एक बार फिर इस विषय पर विचार कर अपनी उदारता का परिचय दे।

राष्ट्र के एकीकरण का शक्ति-स्रोत—

केन्द्रीय सरकार के व्यापार मन्त्री माननीय श्री करमरकर ने अभी एक हिन्दी सभा का सभापतित्व करते हुये दिल्ली में यह भाषण दिया था कि भारतीय राष्ट्र को एक करने के लिए हिन्दी एक बड़ा भारी शक्ति-स्रोत है, और चूँकि अब उसे राष्ट्रभाषा भी मान लिया गया है—इसलिए प्रत्येक भारतवासी को हिन्दी जानना आवश्यक है।

श्री करमरकर के यह शब्द बड़े ही महत्त्व के हैं। हिन्दी भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतीक और राष्ट्र को एक करने के लिए एक बड़ी भारी शक्ति है—यह बात और भी अनेक विद्वानों और राष्ट्रीय नेताओं ने कही है और यदि देखा जाय तो यह बात बहुत ही ठीक है। सूर, तुलसी, कबीर और मीरा तथा अनेक और सन्तों ने हिन्दी में जो रचनाएँ की हैं विशेष रूप से जो पद रचे हैं उनका प्रचार ध्रुव दक्षिण तक तथा गुजरात से बंगाल तक फैला हुआ है। सौराष्ट्र, बंगाल और मदरास तक जहाँ हिन्दी को लोग ज्यादा नहीं जानते थे, हजारों ऐसे लोग मिलेंगे जो इन सन्तों के पदों को बड़ी रुचि से गाते हैं। इन पदों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा की है, उसे एक कोने से दूसरे कोने तक फैलाया है और उसे एक राष्ट्र बनाने में सहायता दी है। भविष्य में भी हिन्दी राष्ट्र को बनाये रखने में बड़ी सहायक होगी—इसीलिए भारत के प्रतिनिधियों ने उसे राष्ट्रभाषा माना है। ऐसी दशा में प्रत्येक भारतीय का यह पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि वह हिन्दी सीखने का प्रयत्न करे।

आचार्य शुक्ल और साधारणीकरण

श्री कुमार विमल एम० ए०

साधारणीकरण हमारे साहित्य-शास्त्र का, विशेषकर रसवादी सम्प्रदाय का, प्रमुख और असमाख्येय विषय रहा है। नाट्य-शास्त्र के आदि-प्रणेता भरत मुनि की इस स्थापना—विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—की अपने-अपने मत के अनुसार व्याख्या करने वाले लगभग ग्यारह आचार्य हो चुके हैं, जिनमें लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त विशेष गौरव के अधिकारी हैं। इन्हीं रसवादियों की आधुनिक परम्परा में शुक्लजी आते हैं, जिन्होंने ऐकमत्य से रहित इस अव्याख्येय तत्त्व को कुछ सरल ढङ्ग से उपस्थित किया है।

शुक्लजी की स्थापना के विश्लेषण के पूर्व यह समुचित होगा कि हम संक्षेप में उपर्युक्त चारों आचार्यों के मत को समझ लें, ताकि प्रस्तुत विषय का सतर्क विश्लेषण-मूल्याङ्कन हो सके।

भरत की 'रसनिष्पत्ति' के सर्वप्रथम व्याख्याता भट्ट लोल्लट थे। इन्होंने अपनी 'मीमांसा-निगडित दृष्टि' से 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति माना और कार्य-कारण-भाव के अनुसार रस की मूलस्थिति अनुकार्यों में मानी। अर्थात्, इसका वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका करते हैं और उनकी वर्णिका में उपस्थित नट-नटी के माध्यम से, उनके रस की प्रतीति करने के बाद सामाजिकों के हृदय में उत्पन्न होता है। इस प्रकार सामाजिक नट-नटी में नायक-नायिका का आरोप कर नाटक का आनन्द लेता है। सारांश यह कि सामाजिक रसास्वादन प्रतीतिजन्य और अपरागत है, जबकि नायक-नायका की रस-दशा वास्तविक है। यदि लोल्लट की यह व्याख्या स्वीकार करली जाय कि रस की 'उत्पत्ति' होती है, तब सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि नायक-नायिका में 'उत्पन्न' होकर वह रस दर्शन में किस प्रकार संक्रमित होता है।

तदुपरान्त दूसरे व्याख्याता थे नैयायिक शंकुक, जिन्होंने गम्य-गम्यक-भाव से रस-निष्पत्ति मानकर अनुमितिवाद चलाया। इनके अनुसार विभावाद के संयोग से स्थायी भाव का अनुमान किया जाता है। यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, तथापि नट की कला के कौशल से पूर्वानुभव के संस्कारों से युक्त सामाजिकों के मन में वह स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है। शंकुक की अनुकरण और अनुमान सम्बन्धी दोनों मान्यताएँ सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हैं। अभिनेता के लिए अनुकार्य की वेश-भूषा, कार्य-कलाप और अनुभावों का यथाशक्य अनुकरण कर लेना सम्भव है, किन्तु, स्थायीभाव और सहचारी तो सर्वथा अनुकरणातीत हैं। दूसरी आपत्ति यह है कि मिथ्या आधार पर सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः चित्र-तुरङ्ग-न्याय के व्यवहृत माध्यम से रस-दशा की अवितर्कावस्था की प्राप्ति को स्वीकार करना कुज्झटिका-वेग को चलायमान धौतस्तूप मानने से कम भ्रामक नहीं है।

इसके बाद भट्टनायक ने सांख्यवादी दृष्टि के अनुसार भोज्य-भोजक-भाव से भुक्तिवाद की स्थापना की। इन्होंने रस-निष्पत्ति की तीन प्रक्रियाएँ मानी हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अर्थात् (क्रमशः) शब्दार्थ ज्ञान के उपरान्त विभाव एवं रत्यादि स्थायीभाव 'अयं निजः परोवेति' की स्थिति को पारकर 'न ममेति न परस्येति' की निर्विशेषावस्था में पहुँचकर उपभोग-योग्य बन जाते हैं। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रस को विषयगत अथवा वस्तुगत नहीं मानकर, विषयीगत माना।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के इन दो नवीन

व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को अशास्त्रीय मानते हुए रस-निष्पत्ति को चर्वणा अथवा व्यञ्जना के आश्रित् माना। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ व्यंग्य-व्यञ्जक-भाव माना। इनके अनुसार रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है, क्योंकि सामाजिकों में ही स्थायीभाव वासना या संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं और विभावादि द्वारा व्यंग्य-व्यंजक-भाव से उसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिस प्रकार शीकर-सिंचन से मिट्टी की पिहित गंध। सारांश यह कि अभिनव भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व को न मान कर व्यञ्जना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र कराता है।

इन पूर्वाचार्यों की खण्डन-मण्डनपूर्ण स्थापनाओं के उपरान्त हमें शुक्लजी के साधारणीकरण सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात करना है। सर्व प्रथम इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि उल्लिखित पूर्वाचार्यों में प्रत्येक ने इस साहित्य शास्त्रीय प्रश्न पर किसी-न-किसी साहित्येतर दार्शनिक मतवाद का आग्रह लेकर प्रकाश डाला था। किन्तु, शुक्लजी ने साहित्य के मानों को अनाकुञ्चित रखते हुए अपनी वस्तुपरक दृष्टि से इस पर विचार किया। दूसरी बात यह कि यद्यपि इनके काल में साहित्य का गद्य-युग प्रारम्भ हो चुका था, तथापि इन्होंने काव्य को ही दृष्टिगत रखते हुए साधारणीकरण पर अपनी स्थापनाएँ उपस्थित की हैं, हालांकि इनका दृष्टि-विस्तार भरत के नाट्यधर्मी तत्त्वों एवं वाचिक अभिनय से बहुत आगे निकल चुका था। तीसरी बात यह कि शुक्लजी रस विवेचन में बहुधा प्रचलित 'रस का लोकोतरत्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व' जैसे भ्रामक शब्दों से पूर्णतया सचेत थे। वे इन तथ्य-बोध शून्य, भावव्यञ्जक, स्तुतिपरक शब्दों को समीक्षा-क्षेत्र का अर्थशून्य वागाडम्बर मात्र मानते थे। उन्होंने इसीसे मिलते-जुलते शाब्दिक अपव्यय की भ्रामक प्रवृत्ति के लिए ब्रेडले और डा० मकेल जैसे पाश्चात्य विद्वानों पर भी अपना आक्रोश प्रकट किया है। इस तरह हमारे समक्ष शुक्लजी आडम्बरशून्य, निर्भ्रान्त और वस्तुपरक दृष्टिकोण लेकर समुपस्थित होते हैं। चौथी बात यह कि वे रसात्मकता की एक मध्यम कोटि भी मानते हैं, जो इनकी उपशान्त उद्भावना है और यहाँ की शास्त्र-परम्परा से उसका अव्यवहृत सम्बन्ध नहीं है, अतः उसकी विशेष चर्चा प्रसङ्गान्तर की बात होगी।

शुक्लजी लिखते हैं कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। ····इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। शुक्लजी इसी सन्दर्भ में आगे लिखते हैं—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है। वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।····इससे यह सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है।····तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इस मन्तव्य से स्पष्ट संकेत मिलता है कि शुक्लजी भट्ट नायक के समीप पड़ते हैं, क्योंकि दोनों ही आलम्बन पर बल देते हैं। अन्तर यह है कि आलम्बन के साधारणीकरण की प्रक्रिया में शुक्लजी रसोद्बोधन की शक्ति का ही उल्लेख कर रह जाते हैं और भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व का उल्लेख करते हैं। सो, ध्यानपूर्वक देखा जाय तो शुक्लजी भट्टनायक के भोजकत्व से बहुत दूर नहीं पड़ते। भोजकत्व में तमोगुण और रजोगुण का नाश होकर, जो दुःख और मोह के कारण होते हैं, शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्तवृत्तियों के शान्त हो जाने से वही आनन्द का कारण होता है। शुक्लजी भी 'रसात्मक बोध के

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

विविध रूपों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"रस-दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते। अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं।" स्पष्टतया 'सतोगुण का उद्रेक और शान्त चित्तवृत्ति' (भट्टनायक) तथा 'निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय' (शुक्लजी) में कोई तात्त्विक भेद नहीं दीख पड़ता।

दूसरी दृष्टि से यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विशेष महत्त्व कारयित्री प्रतिभा को देते हैं, नकि भावयित्री प्रतिभा को; क्योंकि आलम्बन खड़ा करना कवि-कर्म के अन्तर्भूत है। लेकिन शुक्लजी सामाजिक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा नहीं करते। जिस प्रकार सामाजिकों में रस की स्थिति मानने वाले आचार्य अभिनवगुप्त काव्य की मिट्टी से रस रूपी गन्ध निकालने के लिए व्यञ्जना रूपी जल के छींटे की आवश्यकता समझते हैं, उसी प्रकार शुक्लजी भी साधारणीकरण के लिए रसोद्बोधन की आवश्यकता महसूस करते हैं। साथ ही सामाजिकों में रस की स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकृति देते हुए वे काव्य के आलम्बन में 'समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा का उल्लेख करते हैं। निस्सन्देह इस शब्दावली को लिखते समय उनकी दृष्टि में सामाजिकों का पक्ष है, उनकी अभिरुचि और संस्कार-संघात भी।

अब विश्लेषण का दूसरा कोण उपस्थित करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्टनायक और अभिनव का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।"

यहाँ स्पष्टतः दो बातें हमारी दृष्टि में आती हैं। प्रथम यह कि आलम्बन कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है। इस मान्यता को स्वीकार करने के पूर्व हमें भट्टनायक और अभिनव से शुक्लजी तक सभी आचार्यों के प्रति आशा-भावना लेकर प्रस्तुत होना पड़ेगा, क्योंकि भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा कवि की वैयक्तिक अनुभूति को इतना अधिक महत्त्व देने की अनुमति नहीं दे सकती। किन्तु आज का साहित्य-चिन्तक काव्य में छिपे हुए कवि के व्यक्तित्व को उचित स्वीकृति देने में ननु-नच नहीं करेगा। लेकिन डा० नगेन्द्र की दूसरी बात आधुनिकों के लिए भी खटकनेवाली है। वह यह कि उन्होंने कवि की अनुभूति को उचित से अधिक महत्त्व दिया है। डा० नगेन्द्र की बात को बिना किसी संशोधन के स्वीकृत करने के उपरान्त पाठक अथवा श्रोता के संस्कारों का कोई महत्त्व नहीं बच पाता। संभव है कि रुचि-संस्कार गत वैपरीत्य के कारण सामाजिक कवि की अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का संवादी स्वर नहीं मिला सके। सारांश यह कि कवि की अनुभूति सत्य और प्रौढ़ हो, अधिकन्तु, उसके पीछे कुन्तक की वैदग्ध्यभंगीभणिति अथवा शुक्ल जी की रमणीयता का बल ही क्यों न हो, पर उसके साधारणीकृत होने के लिए सामाजिकों की रुचि, संस्कार और अनुभूति के साथ उसका यथाकथंचित् समुद्भूत सादृश्य अनिवार्यरूपेण अपेक्षणीय है। दूसरी बात यह है कि डा० नगेन्द्र सामाजिक के हृदय में रस की सुप्त स्थिति मानते हुए भी यह कहते हैं कि कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है। अब फिर वही पुराना प्रश्न उठता है कि क्या रस प्रेषणीय है? कवि अपनी अनुभूतियों के माध्यम से पाठक में रसोद्बोधन करा सकता है, पर वह रस-प्रेषण नहीं कर सकता। रस-प्रेषण होने पर तो पाठक का सहृदय और दाता [illegible] होना आवश्यक नहीं, उसे मात्र ग्राहिका शक्ति

NOT TO BE ISSUED

सम्पन्न ही होना चाहिए। किन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि रस-चर्वणा कवि अथवा पाठक पर निर्भर न रहकर दोनों की सहृदयता और संस्कार-संघातों के साथ सापेक्षिक सम्बन्ध रखती है और क्रमशः इनके न्यूनाधिक्य एव विरोध-अविरोध से सानुपातिक सम्बन्ध भी।

सारांश यह है कि डा० नगेन्द्र की 'अनुभूति' शुक्ल जी के 'आलम्बन' से तत्त्वतः कोई अन्य वस्तु नहीं है। दूसरी बात यह है कि सामाजिक के संस्कारों की भूमिका में (गोवलीवर्द न्याय से ही सही, क्योंकि कवि भी सामाजिक की तरह मनुष्य है और उसके संस्कार सामाजिकों से औसतन सर्वथा भिन्न-विच्छिन्न नहीं हैं) कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है—इस निष्कर्ष का पूर्व अंश (सामाजिक के संस्कार संघात) डा० नगेन्द्र की विवेचना में छूट जाता है, जिसकी रक्षा शुक्ल जी 'समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा' के निर्देश द्वारा कर लेते हैं। अस्तु, शुक्ल जी की धारणा में संशोधन की कोई अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

साहित्य का चिर-साध्य क्या ?

श्री शिवप्रसाद लोहानी

पिछले वर्षों में साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी हवा आई जिसके अनुसार साहित्य को पूर्णतः वैयक्तिक अभिव्यक्ति समझा जाने लगा। परम्परा के प्रति विराग और वैयक्तिक रुचि के अनुरूप अभिव्यञ्जन प्रणाली के माध्यम से अभीप्सित भावना का प्रकाशन उस अभिव्यक्ति का स्वरूप समझा जाता रहा है। इस स्वरूप ने नये लोगों को इतना आकृष्ट किया कि सर्वत्र ऐसी रचनाएँ और इनकी चर्चा होती रही। इतना ही नहीं इस भावना ने पूर्ववर्ती परम्परा सापेक्ष रचनाओं को सत्साहित्य मानने से इन्कार करने में भी अपने को गौरवान्वित समझा। हिन्दी में इस वैयक्तिक भावना के आगमन के कई कारणों में सबसे मुख्य कारण अंग्रेजी का रोमाण्टिक साहित्य है। विचार पूर्वक देखने पर ऐसा लगता है कि हिन्दी में वैयक्तिक भावना का प्रचलन कदापि नहीं होता यदि अंग्रेजी जीवन से यह देश निकट साम्य रखने से विरत होता। पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत के इस देश के लिए यह असम्भव था कि यह उसके प्रभाव से विरत होता।

उस वैयक्तिक भावना का ही प्रभाव है कि कविता के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गयी। प्रत्येक कवि अपने को स्रष्टा समझने लगा। छन्द, पिङ्गल, अलङ्कार और रस के परम्परागत नियमों की पूर्ण अवहेलना कर के वैयक्तिक रुचि के अनुसार कविता की जाने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैयक्तिक रुचि की तुष्टि में उच्च श्रेणी के कवियों ने नूतन छन्द-सृष्टि कर के साहित्य की श्री वृद्धि की है, किन्तु ऐसे कवि एवं कविता अत्यल्प हैं। अधिक सख्या वैसे ही कवियों की है जिन्होंने स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृङ्खलता का आश्रय गृहण किया है जिनसे काव्य क्षेत्र की अपरिमित हानि हुई है। पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी रचनाएँ जो छपीं उनसे जन साधारण की साहित्यिक रुचि ह्रासोन्मुख तो हुई ही साहित्य-क्षेत्र में अव्यवस्था का साम्राज्य-सा हो गया। ऐसा कोई सामान्य आधार नहीं रह गया जिस पर आधारित हो कर कवि अपने कर्म में प्रेरित होता। कविगण कहने लगे कि उनका स्रष्टा उनसे अनजाने कुछ लिखा जाता है वह पूर्ण है क्योंकि वह अन्तस् की वस्तु है—पवित्र एवं अकलुषित। कभी-कभी वैसी रचनाओं के रचयिता भी उनके विवेचन एवं भाव स्पष्टीकरण में अपने को असमर्थ पाते रहे। निश्चय ही साधारणतः पाठकगण उन रचनाओं में गम्भीर भाव एवं धर्म की अवस्थिति समझ उन्हें दुर्बोध कहा करते थे किन्तु बात वैसी नहीं थी। दुर्बोधता का कारण गम्भीर भाव एवं अर्थ की अवस्थिति नहीं वरन् अव्यवस्था का

आश्रय-ग्रहण था; आधार रहित शब्दाडम्बर एवं निरर्थक शब्दों के वाग्जाल के सिवाय उनमें कुछ नहीं था। हाँ, अव्यवस्था रूपी घन में सार्थक वस्तुपरक अभिव्यञ्जना बिजली के रूप में लोगों को कभी-कभी अपनी ओर आकृष्ट अवश्य करती थी।

कल्पना-लोक में विचरने वाले इन कवियों और इनकी रचनाओं के प्रति आधुनिक अंग्रेजी आलोचकों की एक बहुत बड़ी जमायत विपरीत भाव रखती है। यद्यपि हिन्दी में अंग्रेजी आलोचकों के उस दृष्टिकोण का प्रभाव अभी देखने को कम मिलता है पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयक्तिक भावपरक रचनाओं की पूर्णिमा सी हो गयी है; उसे विकासोन्मुख कदापि नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक अंग्रेजी आलोचकों की वह जमायत कविता में अनुभूति को आवश्यक मानती है और किसी कविता की आलोचना में परम्परा को नहीं छोड़ती। हृदय और मस्तिष्क दोनों का सामञ्जस्य वे इस रूप में चाहते हैं कि एक दूसरे पर कोई हावी न हो। यही कारण है कि मिल्टन ऐसे ख्याति प्राप्त कवि भी इन आलोचकों की दृष्टि में सत्कवि नहीं जिसमें शब्द भावधर्म को अभिव्यक्त करने में साधन नहीं साध्य के रूप में व्यवहृत हुए हैं। इसके विपरीत येडन जैसा साधारण मेटाफिजकल कवि में हृदय-मस्तिष्क-कल्पना और बुद्धि का अनुभूतिमय सामञ्जस्य पाते हैं। कवि को ये स्रष्टा नहीं कलाकार समझते हैं—कला को निर्माण नहीं अनुकृति समझते हैं। ग्रीक आलोचक अरिस्टोटल के विचारों से अधिकांश रूप में ये सहमत हैं, ऐसा प्रतीत होता है, जिसने कि अपनी जगतप्रसिद्ध आलोचना-पुस्तक पोएटिक्स में साहित्य को मूलतः कला की संज्ञा दी है और कला को अनुकृति माना है। इस मान्यता के अनुसार कोई साहित्यिक रचना अपना वैयक्तिक अस्तित्व नहीं रखती। किसी साहित्यिक रचना को सम्पूर्ण साहित्य की एक कड़ी के रूप में रखकर ही उसका मूल्यांकन करना ये आवश्यक समझते हैं। इन विचारों ने फिर से शास्त्रीय (classical) ढङ्ग से सोचने-विचारने की ओर लोगों को प्रेरित किया है। यह ढङ्ग एक प्रकार से सम्प्रति सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा रहा है। शास्त्रीय ढङ्ग से रचित साहित्य में भी वे चिरन्तनता की भावना पाते हैं। इस प्रकार रोमांटिक ढङ्ग से सोचने-विचारने वाले लोगों का यह कहना, कि इसमें चिरन्तनता की भावना है क्योंकि हृदय का आवेग है, का परिहार शास्त्रीय ढङ्ग से सोचने-विचारने वाले स्पष्ट शब्दों में करते से दृष्टिगत होते हैं।

उपर्युक्त बातों पर सम्यक् रूप से विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि विज्ञान के प्रचलन और विस्तार तथा मानव-जीवन से अत्यधिक सान्निध्य ने साहित्य के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक ढङ्ग से सोचने-विचारने को विवश किया है। और ऐसा समझना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि इसी का यह प्रतिफल है कि साहित्य की भावना को बुद्धि के माध्यम से प्रदर्शित होने में ही साहित्य की सार्थकता वे समझते हैं। इस ढङ्ग में वे अत्यधिक बुद्धिवादी-से हो गये हैं और साहित्य विज्ञान की तरह बहुत जटिल और पेचीदा विषय हो गया है। जन-जीवन से अत्यधिक दूर और विलग। इसलिए साहित्य में वैसी स्थिति का होना अत्यन्त कल्याणकारी एवं कलापूर्ण समझना एक प्रकार से निरापद है जैसा कि शेक्सपियर और तुलसी के साहित्य में पाया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर अमर है और उसी प्रकार तुलसी हिन्दी-साहित्य में। क्यों ? इसलिए कि इनके साहित्य में भावना-बुद्धि का कलापूर्ण सामञ्जस्य और मेल है। न तो वे अत्यधिक बुद्धिवादी हैं और न भावुक अपितु वे स्वयं एक सिद्धान्त हैं—मूर्तिमान एवं अनुपम। उनकी अमरता का सूत्र यही है और है यही साहित्य का चिरसाध्य। शताब्दियों से इन दोनों महान् साहित्यकारों की रचनाएँ विविध दृष्टिकोण से विविध व्यक्तियों द्वारा जाँची गयी हैं और प्रायः सभी ने उनके साहित्य की सराहना की है। उनके साहित्य में सन्तुलन का जो रूप पाया जाता है वह अनुपम एवं अतुलनीय है।

महाकवि सूरदास की सम्बन्ध भावना

प्रो० 'पङ्कज' एम० ए०, साहित्यालङ्कार

मनुष्य के अनेक व्यापार सम्बन्ध भावना पर आश्रित मनोभावों के अनुकूल होते हैं। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न अवसरों पर विभिन्न दृष्टि से देखते हैं। सौन्दर्य का प्रधान धर्म आह्लादकता होने के कारण जहाँ कहीं जिस वस्तु को सुन्दर माना गया है, वहाँ अनुरञ्जन ही मुख्य आधार रहा है, किन्तु अनुरञ्जन-बोधक वस्तुओं के स्वरूप में भी स्थान भिन्नता के कारण पार्थक्य होता है एवं कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण विपरीतता देखी जाती है। उदाहरण के लिए एक हब्शी जिस वस्तु को सुन्दर मानता है, एक भारतीय की आँख उसमें कुरूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं पाती। इस प्रकार सौन्दर्य भी भाव सापेक्ष है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति किसी वस्तु में सुन्दरता या कुरूपता का आरोपण अपनी ही रुचि के अनुकूल है और इस रुचि का मूल है सम्बन्ध भावना।

व्यक्ति की विशेष रुचि जब सामान्य रुचि में परिणत हो जाती है तब उसमें काव्य के प्रधान गुण प्रभविष्णुता का संयोग हो जाता है। अतएव भाव-पक्ष का आश्रय लेने वाला कलाकार इसी सामान्य रुचि का आधार लेकर चलता है। यानी साहित्य में उन्हीं व्यक्तिगत भावनाओं को स्थान मिल सकता है जो व्यक्ति सापेक्ष रहने पर भी सर्वसाधारण की बनने की क्षमता रखती हैं।

चूँकि साहित्य की भित्ति जीवन पर अवलम्बित है, इसलिए चित्रित पात्रों के अनेक कार्य सम्बन्ध भावना पर अवलम्बित रहते हैं तथा जो कलाकार इसका जितना अधिक प्रसार कर सकता है, रस निष्पत्ति में उसे उतनी ही अधिक सफलता मिलती है।

हृदय-पारखी महाकवि सूरदास ने अपने 'सूरसागर' में इसकी अत्यन्त स्वाभाविक व्यञ्जना की है।

गोपियाँ श्रीकृष्ण के हृदय-साम्राज्य की एक मात्र अधिकारिणी होना चाहती हैं। इसमें बाधा देने वाली वस्तु को वे फूटी आँखों देखना भी पसन्द नहीं करतीं। इससे उनके एकान्त प्रेम की ही झलक मिलती है, क्योंकि प्रेमी को प्रिय पात्र के अतिरिक्त अन्य का प्रेम साम्राज्य में प्रवेश स्वीकार नहीं होता।

भाव प्रवण कबीर ने इसी भावना से प्रेरित होकर-

"नैना अंतर आवतू, नैन झाँपि तोहि लेऊँ।
ना मैं देखों और को, ना तोहि देखन देऊँ॥"

का उद्गार प्रगट किया था।

'सूरदास' की गोपियाँ देखती हैं कि कृष्ण बाँसुरी बजाने की तल्लीनता में सब कुछ भूल जाते हैं। यह बेसुधी उन्हें पसन्द नहीं, क्योंकि वे तो इस अवसर का उपयोग हास-परिहास और मुक्त प्रणय-क्रीड़ा में करना चाहती हैं। अस्तु, परम सुख में बाधा देने वाली बाँसुरी के प्रति वे तीव्र असूया प्रगट करती हैं।

"मुरली अति गर्व काहू बदति नहिं आज।
हरि को मुख-कमल देखि पायो सुख राज॥"

तथा

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनु री सखी जदपि नंद नंदहिं नाना भाँति नचावति।"

आदि से यह स्पष्ट है कि वे इस अवसर पर बाँसुरी की जड़ता को बिल्कुल भूलकर उसे सम्पूर्ण रूप से सौत मानी हुई हैं। अन्यथा बाँसुरी के भार से कृष्ण के झुक जाने तथा नाना प्रकार से तङ्ग आकर भी आज्ञा-वहन करते जाने की विलक्षण कल्पना वे न करतीं।

इस प्रकार संयोग-वर्णन में अनेक स्थलों पर सूरदास ने सम्बन्ध भावना का अद्भुत चमत्कार दिखला कर रस निष्पत्ति में सफलता प्राप्त की है।

वियोग-वर्णन में इस भावना का इतना अधिक

प्रसार हुआ है कि भावों के उद्बोधन का यह केन्द्र ही बन गई है।

विरह-विधुरा गोपियाँ उन सभी वस्तुओं को साधुवाद देती हैं, जो उनकी पीड़ा में सहानुभूति प्रगट करती नजर आती हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाली वस्तुओं के लिए वे तीव्र घृणा व्यञ्जित करती हैं। यही कारण है कि कभी तो वे—

"मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥"

कहकर वृन्दावन को धिक्कारती दीखती हैं तो वे—

"बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारे।
बासर-रैन नाम लै बोलत, भयो विरह जुर कारे॥"

कह कर पपीहे को आशीर्वाद देती हुई नजर आती हैं। कहना न होगा कि वृन्दावन तथा पपीहे दोनों ही अपने स्थान पर निरपेक्ष हैं तथा गोपियों ने अपनी भावना के अनुकूल ही उनमें इन गुणों का आरोप किया है। इसी प्रकार जिस कालिंदी-कूल पर उन्होंने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाना प्रकार की प्रणय-लीलाएँ की थीं, वही स्थल प्रिय-विहीन होने पर यदि उन्हें करुणा का प्रतीक प्रतीत होता है तो हृदय की परिवर्तित अवस्था के कारण ही, न कि जड़ता में चैतन्य के सञ्चार होने के कारण।

"भरि भरि यमुना उमड़ि चलति है इन नैनन के नीर।"

तथा "देखियत कालिन्दी अतिकारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों, भई विरह जुरजारी॥"

की अभिव्यञ्जना में यही सम्बन्ध भावना काम करती है।

प्रियतम कृष्ण के साथ रासलीलादि के अवसर पर चाँदनी रात में गोपियों को अनिर्वचनीय आनन्द का बोध होता था तथा उसमें मतवाली होकर सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई वे अपने को कृष्णमयी बना देने के लिए व्यग्र हो उठती थीं, किन्तु प्रियतम के वियोग में अब काली रात उन्हें नागिन सी प्रतीत होती है तथा ज्योत्सना रात्रि तो सर्पिणी डँसकर उलट जाने के समान गरल-वर्धिनी एवं विनाशमयी ही बन जाती है। अतएव यदि वे आकुल होकर

"पिया बिनु नागिन काली रात।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया, डँसि उलटी ह्वै जात॥"

कहकर चाँदनी में सर्पिणी के उलट जाने के व्यापार का आरोपण करती हैं, तो सम्बन्ध भावना के ही कारण। अन्यथा रात्रि में संयोग एवं वियोग के कारण कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

इसी प्रकार जब उद्धव ज्ञान का सन्देश लेकर गोकुल पहुँचते हैं तब उन्हें देखकर गोपियाँ अपने को कृत कृत्य मानती हैं। प्रिय के सखा के साक्षात्कार का उनकी दृष्टि में बड़ा महत्त्व है। नीचे की पंक्तियों में इस आशय की सम्बन्ध भावना की अत्यन्त पवित्र योजना है?

ऊधो आज भईं बड़ भागी।
जिन अँखियन तुम स्याम विलोके, ते अँखियाँ हम लागीं

गोपियों को उद्धव के नयन इसलिए अत्यन्त पवित्र प्रतीत होते हैं, चूँकि उन्हें कृष्ण के दर्शन हुए हैं। ऐसी पवित्र सम्बन्ध भावना की व्यञ्जना बहुत कम कलाकारों द्वारा हो सकी है। उदाहरण के लिए कविवर बिहारी की :—

"प्रिय चूम्यो मुख चूमि" जिस पर कुछ सहृदय लट्टू हैं, इसकी छाया भी नहीं छू सकती।

प्रेम के पथ पर चलने वालों का यह स्वभाव होता है कि वह प्रिय की कठोरता का दोषारोपण भी अन्य पर ही करना चाहता है। क्योंकि उसे विश्वास नहीं होता कि उसका प्रिय पात्र भी उसके साथ ऐसा व्यवहार कर सकता है। उद्धव को गोकुल भेजने की बात कुब्जा को ज्ञात भी नहीं, किन्तु कृष्ण के भेजे हुए कठोर संदेश का मूल कारण गोपियों ने उसे ही समझा। इसका भी प्रधान कारण सम्बन्ध भावना ही है।

प्रेम में व्यवधान के लिए स्थान नहीं। वहाँ प्रेयसी और प्रियतम सर्वदा प्रेयसी और प्रियतम ही बने रहना चाहते हैं। यही कारण है कि कृष्ण के मथुरा के राजा बन जाने पर भी गोपियों को उनका

(शेष पृष्ठ XXX पर देखिये)

विद्यापति की भक्ति-भावना

श्री राधेश्याम बंका एम० ए०

आस्तिकता भारत की निजी सम्पत्ति है। भारत का मानव समाज सदा से 'भीषणं भीषणानाम्', 'पावन पावनानाम्' के प्रति नतमस्तक हो उसकी उपासना करता आया है। उपासना का स्वरूप कभी उसे अरूप अनाम, अनन्त मानकर निराकार रहा है और कभी उसे सरूप, सनाम, सगुण मान कर साकार रहा है। निराकारोपासना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए भले ही अनुकूल हो किन्तु साकार उपासना की पद्धति अपनी सरलता, सुगमता और स्पष्टता के कारण सर्व साधारण में सर्वदा और सर्वत्र प्रमुखता पाती रही है और युग-युग में भक्त-कवि अपने साकार भगवान से पति-पत्नी या माता-पुत्र या सखा-सखी या स्वामी-सेवक का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने उपास्य के अनुपम सौन्दर्य, अनन्त गुण और असंख्य लीलाओं का गायन कर स्वयं भी और अपने साथ जन समाज को भी आनन्दित करते रहे। विद्यापति भी ऐसे ही भक्त कवि हैं।

आचार्य शुक्ल अपने इतिहास में विद्यापति को शैव बताते हैं। विद्यापति की भक्ति-भावना के स्वरूप को लेकर अनेक विद्वानों ने परस्पर में एक विवाद-सा खड़ा कर दिया है। डा० श्यामसुन्दरदास इनको वैष्णव कहते हैं। इसके अतिरिक्त कोई इनको शाक्त, कोई पञ्च-देवोपासक और एकेश्वरवादी मानते हैं। डा. रामकुमार वर्मा इनके राधाकृष्ण-पदों के आधार पर इन्हें पूर्णतः शृङ्गारी ठहराते हैं।

विद्यापति को शुद्ध शृङ्गार की श्रेणी में ढकेलना सत्य की हत्या करना है। भक्ति कोई 'कोट' नहीं जब चाहा पहन लिया और फिर उतार कर खूँटी पर टाँग दिया। एक ही व्यक्ति के शिवपरक पदों के आधार पर भक्त और कृष्णपरक पदों के आधार पर शृङ्गारी कह कर सत्य से बहुत दूर जा पड़ना है। यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं। क्या राधाकृष्ण के शृङ्गार परक पद भक्ति के अन्तर्गत आ सकते हैं और आने की स्थिति में शिव भक्ति-परक पदों से इनका क्या कोई अविरोध सम्बन्ध है ?

शास्त्रानुमोदित अनेक उपासना पद्धतियों में से एक पद्धति—मधुर-भक्ति है जहाँ आराध्य पति तथा आराधक पत्नी होती है और जिसके अनुसार साधना करके अनेक सन्त महात्माओं ने अपने आराध्य से सान्निध्य का अनुभव किया है। यह भी कल्पना की गई है कि विश्व में एक मात्र 'वही' परम पुरुष है और शेष सभी जीवात्माएँ प्रकृति रूप में उसकी पत्नी हैं। इस मधुर भक्ति में 'उसे' नित्य तरुण एवं स्वयं को नित्य तरुणी माना गया है और जहाँ का लोक अलौकिक है, शरीर चिन्मय है, यौवन नित्य है, सौन्दर्य अनन्त है तथा केलि-क्रीड़ाएँ अगणित हैं। साधनावस्था में साधक, शरीर से ऊपर उठकर उस भावलोक में रमण एवं विहार किया करता है। भौतिक-लोक में उसका शरीर क्षयशील है परन्तु मानसिक लोक में वह उनकी नित्य सहचरी होने के कारण 'उनके' ही समान अमर और अजर है। मानसिक लोक की केलि क्रीड़ाएँ भौतिक लोक की केलि-क्रीड़ाओं के ही समान हैं परन्तु उस अतीन्द्रिय लोक में पाँच भौतिक शरीर का साथ छूट जाने से विकृति को कोई स्थान नहीं। विकृति स्थूल शरीर और स्थूल दृष्टि के साथ सम्बद्ध है। साधना की तन्मयावस्था में स्थिति यहाँ तक आती है कि वह अपने रूपकत्व—पति पत्नी के आरोपित रूप—को भूल कर उसे वास्तविक लीला समझने लगता है। इन लीलाओं का चिन्तन मनन गायन श्रवण ही उसका एक मात्र कार्य हो जाता है। वे केलि-क्रीड़ाएँ ऐसी ही होती हैं जैसी लौकिक मानव की, अन्तर केवल इतना ही है कि साधक साधना से अपनी रागात्मक भाव-

नाओं का दमन नहीं, उन्नयन करके, निर्मूलीकरण नहीं, निर्मलीकरण करके अपने कल्याण पथ को प्रशस्त कर लेता है। इन्हीं लीलाओं के लिए वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि लीलाओं का कोई अन्य प्रयोजन नहीं, वे स्वयं ही प्रयोजन हैं। स्वयं भागवत में आया है— "बाहुप्रसार परिरम्भकरालकोरूनीवीस्तनालभनर्मनखाग्र पातैः" (१०।२९।४६) व्रज सुन्दरियों में कामदेव को उद्दीप्त करते हुए श्री कृष्ण ने उनके साथ विहार किया। इसी 'मधुर भाव' की अभिव्यक्ति जयदेव में है जिसका अनुकरण विद्यापति द्वारा हुआ। अतः मधुर भाव की इस साधना पद्धति को न समझ कर किसी के ऊपर व्यर्थ के दोषारोपण से श्रेष्ठ यही है कि प्रथम अपने मन को सुसंस्कृत तथा दृष्टि को विस्तृत करे यह बात दूसरी है कि विरले ही उस उच्चावस्था को प्राप्त कर पाते हैं किन्तु उच्चावस्था प्राप्त भक्तों की वाणियों को अपनी संकीर्णता के कारण न समझते हुए दोषों का अन्वेषण और आरोपण उचित नहीं है।

जहाँ तक विद्यापति का प्रश्न है, वे रीति कालीन शृंगारी कवियों से बहुत अधिक ऊँचे हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि सूर और मीरा जैसी स्थिति को स्पर्श न कर पाये। मधुर कवि की भक्ति-पद्धति की दृष्टि से अपेक्षित सात्विकता की पर्याप्तांश तक स्थिति होने के कारण ही चैतन्य देव ने इनके पदों का आदर किया। इसी सात्विकता के कारण आज भी वैष्णव समाज में ये पद कीर्तन के विषय बने हुए हैं। दूसरी बात यह है कि "भलहर भल हरि भल तुअ कला" गाकर हर और हरि में, शंकर और कृष्ण में एकत्व की घोषणा करने वाले कवि के द्वारा यह कैसे सम्भव है कि शिव जीवन के इष्टदेव तथा श्रेय प्रेय के प्रदाता बने और कृष्ण तुच्छ शृङ्गारिक भावनाओं की तृप्ति के साधन बने। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का विभाजन किसी को भी योग्य न लगेगा। किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का शाब्दिक प्रकाशन ही साहित्य है। शिव पदों में पाई जाने वाली उत्कटता और सात्विकता का राधाकृष्ण के पदों में न्यूनत्व होने से ही लोग दोषारोपण करते हैं, ठीक है, पर इस न्यूनत्व के अनेक कारण हैं। इनके समक्ष न पुष्टि मार्ग जैसा सम्प्रदाय था और न श्रीनाथजी जैसा मन्दिर था जहाँ सूर के समान भक्ति में आकंठ डूबकर प्रेम विभोर हो लीला पदों का गायन करते, अपितु इनके सामने थे राजा और उनके दरबारी जिन्हें प्रसन्न करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त संस्कृत प्राकृत कवियों से प्राप्त परम्परा के रूप में राधा कृष्ण सामान्य नायिका-नायक के रूप में थे और जो शृङ्गारी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साधन थे। संस्कृत साहित्य का विशद अध्ययन होने के कारण शृङ्गारान्तर्गत नखशिख वर्णन, नायिका भेद का ज्ञान था। उपयुक्त वातावरण का अभाव, राजाश्रय की स्थिति, राधाकृष्ण की प्राप्त परम्परा; विशद अध्ययन आदि ही उस न्यूनत्व के कारण हैं जिससे कहीं-कहीं अप्रिय अश्लीलता का समवेश हो गया है। परन्तु इन कारण स्वरूप बाधाओं के होते हुए भी जितने अंश तक सात्विकता का प्रवेश कर सके, यह श्रेय इनकी पावन भक्ति भावना को है जिसमें योग दिया है जयदेव के आदर्श ने। वियोग के वर्णन में कहीं-कहीं अनुभूति इतनी गहन तथा रूपकत्व इतना स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ मुक्त होकर इन्हें भक्त घोषित करना पड़ता है।

यह भी कहा जा सकता है कि विद्यापति अपनी शृङ्गारी भक्ति भावना, गौरीशङ्कर की लीलाओं के माध्यम से प्रकट कर सकते थे परन्तु अभी तक कोई ऐसी पूर्वागत परम्परा न थी। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में अवश्य शृङ्गारी लीलाओं का समावेश किया है किन्तु यह परम्परा पल्लवित और पुष्पित न हो सकी। चली आती हुई परम्परा राधाकृष्ण की ही थी। दूसरे इनकी भक्ति समन्वयात्मक होने के कारण ये हर और हरि में अभेद समझते थे इसी कारण विद्यापति ने अपने मधुर भावों की अभिव्यक्ति राधाकृष्ण के माध्यम से की। अतः इन राधाकृष्ण पदों के आधार पर घोर शृङ्गारी कहना पूर्णतः अनुचित तो है

ही साथ ही वैष्णव कहना भी ठीक नहीं।

अधिकांश पदों में राधाकृष्ण की लीलाओं का गायन होने से इनका कवि-धर्म वैष्णव कहला सकता है परन्तु जीवन के कतिपय अन्य तथ्य इन्हें शैव ही घोषित करते हैं। इनका कुल धर्म शैव है। इनके आश्रयदाता शैव थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता एक राजा से शिवोपासना की प्रतिज्ञा कराई थी। इनके सम्बन्ध में प्रचलित अधिकांश किंवदन्तियाँ शिव सम्बन्धी हैं। इनकी चिता पर अब भी शिव मन्दिर बना हुआ है। इन्होंने अधिकांश रचना शिव और शिव परिवार को लेकर की हैं। यथा—'शैव सर्वस्व सार', 'गङ्गा वाक्यावली', 'दुर्गा भक्ति तरङ्गिणी' आदि। अधिक सात्त्विकता तथा उत्कटता के दर्शन शिव सम्बन्धी पदों में ही होते हैं। इनके शिव पदों का ही मिथिला में सर्वाधिक प्रचार है। अपने ग्राम के समीप स्थित 'वाणेश्वर महादेव' के लिए 'बान महेसर' कह कर अपनी भक्ति को प्रकट किया गया है। अतः विद्यापति पूर्णतः शैव हैं, हाँ, इतना अवश्य है कि हर और हरी में एकता, मधुर भावों की अभिव्यक्ति की अभिलाषा, राजकीय वातावरण, संस्कृत प्राकृत कवियों से प्राप्त परम्परा तथा जयदेव के आदर्श के कारण पदावली में वैष्णव से लगते हैं।

साथ ही इन्हें पञ्च देवोपासक, एकेश्वरवादी या शाक्त आदि भी कहना ठीक नहीं। विष्णु, सूर्य, शिव, दुर्गा और गणेश के उपासक पञ्च देवोपासक कहलाते हैं। ऐसा कहीं भी दिखलाई नहीं देता जहाँ विद्यापति ने सूर्य का उल्लेख किया हो। गणेश को अवश्य कहीं-कहीं काव्यारम्भ के समय स्मरण मात्र किया गया है, ऐसी दशा में उन्हें पञ्च देवोपासक कैसे कहा जा सकता है? ऐकेश्वरवादी भी कहना अनुचित होगा जब कि शिव-दुर्गा गङ्गा के प्रति विद्यापति अपनी अगाध भक्ति के उद्गार प्रकट करते हैं। उन्हें शाक्त भी नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि विद्यापति के समय बिहार में शाक्त मत की प्रधानता थी और उन्होंने 'हरि विरञ्चि महेश शेखर चुम्ब्यमान पदे' कह कर शक्ति को ही पूज्या एवं प्रणम्या कहा है परन्तु इस पूज्य भावना में तुलसीदास की सी भावना कार्य कर रही है। शक्ति की वन्दना की गई है कि वे शिव की आह्लादिनी शक्ति हैं, अर्द्धाङ्गिनी हैं। शक्ति के प्रसन्न होते ही शिव भी प्रसन्न हो जावेंगे। अतः विद्यापति पूर्णतः शैव हैं। इनकी भक्ति समन्वयात्मक है। शिव के अतिरिक्त शक्ति, गङ्गा, गणेश, राधाकृष्ण, जानकी-राम सभी को आदर की दृष्टि से देखते हैं। शिव और कृष्ण में पूर्ण एकता है। इतना होकर भी छलछलाकर निकले हुए इनके उद्गार शिव के प्रति हैं, जहाँ कभी उनकी महिमा का गायन कभी अपनी दीनता का रोदन है। अभी तक विद्यापति का जीवन लौकिक कार्यों में व्यतीत हो गया। कभी भी एकाग्र मन से आराधना न हुई। तभी उनका आर्त हृदय पुकार उठता है—

"माधव हम परिनाम निरासा"

परन्तु एक मात्र भरोसा शिव का है। अपने आराध्य से वे गुहार करते हैं—

"हरि जनि बिसरब मो ममिता।
हम नर अधम परम पतिता॥"

कवि का विश्वास है कि शिव "सन अधम उधार न दोसर"। अतः शिवाराधन ही उनके जीवन का निश्चय है।

"लोढ़ब कुसुम तोरब बेल पात।
पुजब सदा सिव गौरिक सात।"

शिव की कीर्ति का गायन करते उनकी वाणी कभी विश्राम नहीं लेती जिसकी अविरल कूक है—

"जय जय शङ्कर जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष जयति अध नारि॥"

कवित्त-रत्नाकर में ऋतु वर्णन

श्री राजेन्द्रमोहन भटनागर 'नलिन' आचार्य, साहित्यरत्न

अनादि काल से मानव प्रकृति की मनोरम सुषमा पर आरूढ़ होता चला आ रहा है क्योंकि प्रकृति मानव की चिरसङ्गिनी है और मानव की पालिका भी। अतः मानव ने भी समय पाकर प्रकृति की उन अनुभूतियों को काव्य-श्री में रखा है। इस तरह यह आपस में बहुत घुल-मिल गए हैं। अतः हमें किसी कवि के काव्य में प्रकृति-वर्णन देखना परम आवश्यक सा प्रतीत होता है। प्रकृति का अवयव ऋतु है और प्रकृति उसमें प्राण या उस अवयव का नाम भी हो सकती है। अतः हम सेनापति रचित 'कवित्त-रत्नाकर' में ऋतु-वर्णन देखेंगे जैसा कि लेख का शीर्षक संकेत करता है। सेनापति पर विचार करने से पहले प्रकृति पर कुछ विचार करते हैं।

रस सिद्धान्त के अन्तर्गत विभाव को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। विभाव के संयोग से ही रति आदि स्थायीभाव जोकि वासना के रूप में हृदय में निहित होते हैं। विभाव को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : यथा १—आलम्बन, २—उद्दीपन विभाव। शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव नायक हैं। उसके उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत कुछ तो पात्रगत बातें ही आती हैं : यथा नायक अथवा नायिका के अङ्ग प्रत्यङ्ग, उनकी मोहक चेष्टाएँ, उनकी वेश-भूषा इत्यादि; तथा कुछ ऐसी हैं जो पात्रों के बहिर्गत हैं। इसी बहिर्गत उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आचार्यों ने प्रकृति के विशाल सौन्दर्य में सेवन, उपवन, सरोवर, झरना, षटऋतु आदि प्रमुख रूपों को स्थान प्रदान किया है। इस संकुचित दृष्टिकोण से रस-निरूपण पद्धति में प्रकृति के उन स्वतन्त्र वर्णनों का समावेश न हो सका जिनसे वह स्वयं आलम्बन के रूप में दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी में संस्कृत के रीति ग्रन्थों को अपनी सम्पत्ति के रूप में पाया था। संस्कृत के ग्रंथों में भी प्रकृति का उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही लिया जाता है। अतः हिन्दी ने भी इसी का अनुकरण किया।

उपर्युक्त बातें तो व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी थीं परन्तु काव्य में यह बात इतनी दूर तक नहीं जाती है। वैसे काव्य में भी इस बात का समावेश रहता है परन्तु एक हमारे दुःख और सुख के साथ सहानुभूति के रूप में ही। यह कभी नहीं होता कि संसृति हमारी भावनाओं से अपनी भावनाओं का तादात्म्य कर दे। अतएव काव्य में वर्णित विषय इस प्रकार का हो जिससे कि वह सर्वसाधारण के उपभोग या उपयोग की वस्तु बन जाए। इसी बात पर जोर देकर संस्कृत के विद्वानों ने साधारणीकरण पर अधिक जोर दिया है। कवि को अपने व्यक्तिगत संकुचित वातावरण से उठ कर सम्पूर्ण जगत को अवलोकना पड़ता है। ऐसा करने से उसकी कविता लोकप्रिय बन सकेगी तथा कवि की प्रतिभा भी जानी जा सकेगी, जिस कविता का साधारण व्यक्ति आनन्द उठा सके वही वास्तव में कवि का कविता चातुर्य है।

हिन्दी के भक्त कवियों में हम इस व्यापक और विशाल दृष्टिकोण को देखते हैं। इसी के साथ प्रकृति-चित्रण में भी इन लोगों ने व्यापकता को दिखाया है किन्तु तब भी धार्मिक प्रभावों के कारण प्रकृति कुछ दब सी गई है। तुलसीदास ने 'मानस' में चित्रकूट का वर्णन कितना सुन्दर किया है। ऐसे ही सूर ने गोपियों की विरहावस्था को दिखाते हुए आदि। शृंगारिक कवियों में केवल नायक और नायिकाओं के क्रिया-कलापों पर दृष्टि रहने के कारण प्रकृति और भी संकुचित हो गई है। अतएव उनकी दृष्टि की पहुँच केलि-कुञ्ज, पुष्प-वाटिका, चन्द्रोदय, विद्युत, शीतल परिमल युक्त समीर; और ऋतुओं के विभिन्न स्थूल स्वरूप तक ही है। इतना नायिका या नायक के भावों

को उद्दीप्त करने के विचार से। रीतिकालीन शृङ्गारिक कवि अगर शीतल पवन का वर्णन करते हैं तो विरही जनों के जलाने को, यदि पुष्प खिलाते हैं तो किसी नायिका के केश-पास को सताने के लिए, यदि पपीहा बोलता है तो प्रीतम के स्मरण के लिए। यह कहना सत्य है कि अपने मतलब के लिए प्रकृति का सहारा लिया या वर्णन किया है। सेनापति का प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में सब स्थानों पर नहीं वरन् प्रचलित प्रभावों से प्रभावित होकर प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही है। उनके बारहमासे के कवित्त अधिकतर उद्दीपन रूप में ही लिखे हैं। किन्तु उनकी जो ऋतुओं से सम्बन्धित कविताएँ हैं वह सब उनके प्रकृति के प्रति जो असीम अनुराग था उसकी परिचायक हैं। यद्यपि परम्परा, सामाजिक एवं साहित्यिक प्रभावों के कारण वह भी बहुत संकुचित दिखाई पड़ता है। इनके प्रकृति-वर्णन में उद्दीपन की भावना अज्ञात रूप से परम्परा के प्रभाव के कारण आ ही जाती है यथा—

छिति न जरद, मानो रँगे हैं हरदि बनालि,
सोहत जरद को, मिलावै हरि पीय कौं।
मना है दुख, मिट्यौ खंजन दरद, रितु
आई है सरद सुखदाय सब जीव कौं॥

ऊपर कवि ने शरद ऋतु के मनमोहक रूप को चित्रित किया है। वह मनमोहक दृश्यों से अति प्रभावित है।

'हरिपीय' का स्मरण तो परम्परा के अनुरोध से किया है और उसका ध्यान भी मुख्यतः शरदारम्भ की ओर है। सेनापति के बारहमासे में स्थान-स्थान पर प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही आती हो ऐसी बात नहीं। ऐसे छन्द भी देखने में आते हैं जहाँ कवि प्रकृति का स्वतन्त्र निरीक्षण करते पाया गया है। नीचे के छन्द में काव्योचित भावुकता से ग्रीष्म का वर्णन है। यथा—

वृष को तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जन जरत, झरनि सारी,
छाँह कौं पकरि पंथी पंछी विरमत हैं॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनों सीरे ठौर कौ पकरि कौनो
घरी एक बैठि कहूँ घामैं वितवत हैं॥

ऐसा सुन्दर वर्णन शृङ्गारिक कवियों में बहुत कम मिलेगा। इसका कारण यह है कि वर्णनों में केवल वस्तुओं की सूची होती है। जैसे कि केशवदास ने 'कविप्रिया' में वस्तुओं के वर्णन के लिए सूत्र बताए हैं। यदि तालाब का वर्णन करना है तो इन चीजों के नाम गिना दिए हैं : यथा—

'ललित लहर, बग पुष्प, पशु सुरभि, समीर तमाल।
करभ केलि पंथी प्रगट जल धार बसहुँ ताल॥

अगर वस्तुओं के गिनाने से किसी दृश्य का वर्णन हो जाए तो कविता करना बहुत सरल हो गया होता। किसी दृश्य के चित्रण करने के लिए अर्थ ग्रहण करा देने से भी कार्य नहीं चलता वरन् उसका 'बिम्ब ग्रहण' करना परम आवश्यक है। कवि को वर्ण्य वस्तुओं की संलिष्ट योजना करनी पड़ती है न कि वस्तुओं की अधिक गणना। कवि यदि मुख्य-मुख्य बातों के साथ अपना काम चलाना चाहे तो चला सकता है। बस वस्तुएँ इतनी ही हों जिनके द्वारा उस वर्णित दृश्य का स्पष्टीकरण हो जाये यथा क्वार की वर्षा का नीचे वर्णन है—

खण्ड खण्ड सब दिग् मण्डल सेत,
सेनापति मानों सृङ्ग फटिक पहार कै।
अम्बर अडम्बर सौ उमड़-घुमड़ छिन,
छिछके, छछारे छिति अधिक उदारकै।
सलिल सहल मानौं सुधा के महलनभ,
तूल के पहल किधौं पवन आधार कै।
पूरब को भाजत है, रजत ते राजत हैं,
गग जका गाजत गगन घन क्वार कै।

इस क्वार वर्णन में कवि ने मुख्य बातों का ही समावेश किया है, आँखों के सामने एक चित्र-सा खड़ा हो

जाता है। यदि श्रावण मास की वर्षा से इसकी तुलना करें तो भेद और भी स्पष्ट हो जायेगा। यथा—

गगन आँगन घनाघन तै सघन तम,
सेनापति नेक हूँ न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक, जोगनान की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सों न अटकत हैं।
रवि गयो दबि मानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि से न कहूँ फटकत हैं।
मानो महा तिमिर तै भूलि यह बाट तातै,
रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से हमें सेनापति का स्वतन्त्र एवं गम्भीर प्रकृति निरीक्षण का पता चलता है। ऐसा वर्णन हिन्दी साहित्य में इना-गिना सा है। काव्य ग्रन्थों में पाए जाने वाले ऋतु वर्णन से ही उन्होंने बारहमासा नहीं लिखा था बल्कि अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण द्वारा लिखा।

सेनापति के ऋतु वर्णन की यह विशेषता है कि वह सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित है। रीतिकाल के कवि महल में रहने के कारण, अपना दृष्टिकोण राजदरबार से ही रखते थे और समाज में यही दृश्य भौतिक सुख का आदर्श माने जाते थे। अतः साधारण जनता इन्हीं सुखोपलब्धि में रहती थी। इसी कारण सेनापति में महलों का वर्णन अधिक पाया जाता है। जेठ के माह में तहखानों की मरम्मत होने लगती है। यथा—

जेठ नजि काजे सुधरत खसखाने, तल,
ताख तहखाने के सुधीर झरियत हैं।
होति है मरम्मत विविध जल जन्त्रन की,
ऊँचे-ऊँचे आरे ते, सुधा सुधारित हैं।
सेनापति अतर, गुलाब, अरगजा, सजि,
सार तार हार मोल लै लै धरियत हैं।
ग्रीषम के वासर कौं सीरे सब,
राज भोग काज साज यौं सम्हारियत हैं।

इसी प्रकार अगहन मास के वर्णन में प्रायः लोगों के उपभोग की सामग्री का वर्णन है। यथा—

प्रातः उठि आइये को गरम हमाम कौं,
मलि-मलि न्हाइबे को गरम हमाम हैं।
ओढ़िबे को साल, नै विसाल हैं अनेक रङ्ग,

× × ×

आये अगहन हिम पवन चलत लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत विस्रम है।

कवि दृष्टि राजदरबार तक ही सीमित नहीं रही वरन जिन पर रङ्गीन दुशाले तथा गरम हमाम नहीं हैं और जो अलाव जला कर तापने वाले हैं उन पर भी पड़ती है, यथा—

सीरा कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ्यो दल,
निबल-अनल गयो सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं विषम तीर,
रही गरम मानै कोनन में जाइके।
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाई रहैं नैक सुलगाइ कै। आदि

सच्ची भावुकता मानव जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को छूती है, इसी भावुकता का कवि को परिचय देना पड़ता है। विना इसके काव्य में सर्वभौम रूप नहीं खड़ा हो सकता है। इसी में मानव मात्र के अभ्यन्तर को स्पर्श करने वाली शक्तियाँ सञ्चित हैं। साधारण व्यक्ति दुशाले, शाल को कहाँ से पावें। इन बातों के द्वारा हम कह सकते हैं कि सेनापति का ऋतु वर्णन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। वैसे वर्णन अलङ्कार प्रधान हो गए हैं पर इनकी भावुकता में कमी नहीं, इनका अधिकार निर्धनों की कुटिया और महल दोनों तक गया है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इनका ऋतु वर्णन हिन्दी साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखता है।

हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास

प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, सा० र०

विश्व की भाषाओं के कुल तथा उपकुलों को दृष्टि-पथ में रखते हुए हम हिन्दी की वंश-परम्परा एवं स्थान के विषय में सूक्ष्म रूपेण कुछ कहना चाहें तो इतना कह सकते हैं कि भारत-यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय आर्य शाखा की आधुनिक भाषाओं में हिन्दी एक प्रमुख भाषा है।

भारतीय आर्य भाषाओं के जन्म और विकास के सम्बन्ध में कहते हुए हिन्दी-भाषा तक आना लगभग साढ़े तीन हजार वर्षों की अवधि का भाषा विषयक सूक्ष्म विवरण माना जा सकता है। समय की इतनी बड़ी अवधि को भाषा-शास्त्रियों ने तीन कालों में विभक्त कर लिया है—

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (ई० पू० १५०० से ई० पू० ५०० तक)—इसे वैदिक भाषा तथा लौकिक संस्कृत का काल भी कहा जा सकता है।

(२) मध्य भारतीय आर्यभाषा-काल (ई० पू० ५०० से १००० ई० तक)—इसे प्राकृत तथा अपभ्रंशों का काल कह सकते हैं।

(३) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल (१००० ई० से आज तक)—इसे हिन्दी तथा भारत की वर्तमान प्रादेशिक भाषाओं के काल से नामाङ्कित कर सकते हैं।

पाश्चात्य प्रमुख विद्वान् इस बात पर एक मत हैं कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं हैं। वे बाहर से आये थे। प्रसिद्ध विद्वान् ब्रान्देन्स्ताइन ने आर्यों के पूर्वजों का मूल निवास-स्थान सिद्ध करने के लिए जो प्रमाण दिये हैं उनसे सिद्ध होता है कि भारत-यूरोपीय जन अपनी आद्यावस्था में किसी ऐसे प्रदेश में निवास करते थे, जहाँ हरे-भरे जङ्गल नहीं थे; परन्तु थीं छोटी-छोटी बनालियाँ; जिनमें ओक, वेतस् और भूर्ज के वृक्ष थे। वहाँ फलदार वृक्ष न थे। जङ्गली पशुओं में बराह, भेड़िया, लोमड़ी, रीछ, खरगोश और ऊदबिलाव वहाँ पाये जाते थे। पालतू पशुओं में गौ, बकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता और सूअर मुख्य थे। मछली तथा कुछ जलचर जीवों को वे जानते थे।

उपरि कथित प्राकृतिक लक्षण बहुत अंशों में यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरवीज़ के मैदानों पर घटित होते हैं। अतएव यहाँ आद्य भारतीय आर्यों की मातृ-भूमि सिद्ध होती है। यहाँ का निवासी जनसमुदाय 'विरोस' नाम से पुकारा जाता था। विरोस् (Wiros) आद्य भारतीय यूरोपीय भाषा का 'मनुष्य' वाची शब्द है। संस्कृत का 'वीर', लैटिन का 'उईर', जर्मन का 'वेर' आदि शब्द 'विरोस' के ही विकसित रूप हैं। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक, प्राचीन फारसी, ग्रीक, जर्मन, लैटिन आदि भाषाओं के बोलने वाले मनुष्यों के आदि पूर्वज एक थे और उनकी भाषा भी एक ही थी। अँगरेजी, फारसी और संस्कृत के बहुत-से शब्द एक से पाये जाते हैं जो इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—अङ्गरेजी भाषा का 'मदर', फारसी का 'मादर' और संस्कृत का 'मातृ' शब्द बताता है कि मूलतः वे किसी एक भाषा के एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं जो देश-काल के प्रभाव से 'मदर', 'मादर' और 'मातृ' हो गये हैं।

आर्य भारत में कब आये, इसे निश्चित रूपेण नहीं बताया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य बताया जा सकता है कि ईसा से १५०० वर्ष पूर्व आर्य लोग सम्भवतः काकेशस पर्वत के मार्ग से उत्तरी मैसोपोटामिया तथा ईरान होते हुए भारत में आये और पञ्जाब में आकर बसे। आर्यों के भारत में आने से पहले यहाँ निषाद, द्रविड़ और किरात जातियाँ आचुकी थीं। इन अनार्य-जातियों की सभ्यता एवं संस्कृति का पता मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों

और भवनों से लग जाता है। अतः आर्य-सभ्यता एवं आर्य-भाषाएँ वास्तव में आर्य-अनार्य सभ्यता एवं आर्य-अनार्य भाषाओं का समन्वित स्वरूप हैं। संस्कृत-साहित्य में पौराणिक गाथाएँ तथा दन्त कथाएँ अनार्य संस्कृति की देन हैं। अथर्ववेद के जादू-टोने आदि में अनार्य-उपादानों की ही सन्निहिति है। वैदिक काल में जो छान्दस भाषा का साहित्यिक स्वरूप था उसमें तत्कालीन प्रचलित लोक भाषाओं के शब्द भी यत्र-तत्र गृहीत हुए थे। इसका प्रमाण ऋग्वेद है। प्रत्येक काल में भाषा की दुहरी अवस्था रही है। साहित्यिक स्वरूपों के साथ-साथ लोक में जन-जीवन से सम्बद्ध भाषाओं के लोक-प्रचलित रूप भी चलते रहे हैं। ब्राह्मी लिपि की विकसित अवस्था नागरी लिपि में लिखे हुए ऋग्वेद के बहुत से मन्त्रों में हमें लोक-भाषा (प्राकृत भाषा) के शब्दों के प्रयोग मिल जाते हैं। निम्नांकित मन्त्र में 'दूलभ' शब्द का प्रयोग हुआ है जो वास्तव में 'दुर्लभ' का लोक-प्रचलित रूप ही है—

"परि ते दूलभो रथोऽस्माँ अश्नोतु विश्वतः।"

—ऋक् ४|९|८

(अर्थात् तेरा दुर्लभ रथ हमको सब तरफ से प्राप्त हो।)

तैत्तिरीय संहिता (२|३|१४) में भी सं० 'अप्रगल्भ' शब्द के स्थान पर 'अपगल्भ' शब्द का प्रयोग हुआ है। कालिदास के काल में भी लौकिक संस्कृत ने प्राकृत के शब्दों को उधार लेकर अपनी सम्पत्ति बनाया था। सं० 'मनोऽर्थ' शब्द का प्राकृत में 'मनोरथ' रूप स्वरभक्ति (Anaptyscis) के नियम के आधार पर बना है। परन्तु प्राकृत के इस 'मनोरथ' शब्द को लौकिक संस्कृत (पाणिनीय संस्कृत) ने अपना लिया। कालिदास के ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है—

"तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं
मनोरथानामगतिर्न विद्यते।"

—कुमारसम्भव ५|६४

'मनोरथ' के अतिरिक्त भी वट, लांछन, पुत्तल, भट्टारक, भट आदि अनेक शब्द हैं जो स्वरूपतः प्राकृत के होते हुए भी संस्कृत में गृहीत हुए हैं, यद्यपि वे मूल में क्रमशः वृत, लक्षण, पुत्र, भर्ता और भृत थे (देखिए, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ९७)

इससे सिद्ध होता है कि लौकिक संस्कृत पर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (प्राकृतों) का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। वास्तव में लोक भाषाओं (प्राकृतों) की शब्दावली को ग्रहण करने के कारण ही पाणिनीय संस्कृत लौकिक संस्कृत कहलाने की अधिकारिणी हुई है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि—"पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, कालिदास आदि के युग में भाषा की दुहरी (साहित्यिक रूप तथा लोक-प्रचलित रूप) स्थिति थी। उससे पहले भी रही होगी। मध्यकाल में थी और आज भी है।"

वर्तमान हिन्दी भाषा में भी हम उसी प्रकार की दोहरी स्थिति के दर्शन कर रहे हैं। इसके साहित्यिक स्वरूप में हम जनपदीय शब्दों के भी दर्शन करते हैं। लौकिक संस्कृत की भाँति हिन्दी को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने के लिए हमें इसके शब्द-भण्डार में लोक-प्रचलित-शब्दावली को प्रचुर मात्रा में सन्निहित करना पड़ेगा। वास्तव में हिन्दी-क्षेत्र के जनपदीय शब्द ही हिन्दी-भाषा की अपनी सम्पत्ति हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों को दुहराते हुए हम कह सकते हैं कि—"जनता की बोलियों में तद्भव शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। 'कृष्ण' की अपेक्षा 'कान्हा' या 'कन्हैया' हिन्दी का अधिक सच्चा शब्द है।"

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'हिन्दी' कौन-सी भाषा है और उसका जन्म किस भाषा से हुआ है?

हिन्दी वास्तव में उत्तरी भारत के मध्यदेश की साहित्यिक एवं जन भाषा है। उच्च हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी नाम से हिन्दी भाषा के तीन साहित्यिक स्वरूप हैं। जन-भाषा के रूप में इसके अन्तर्गत निम्ना-

ङ्कित ग्रामीण बोलियाँ भी समाविष्ट हैं—(१) कौरवी या खड़ी बोली, (२) बाँगरू या जाटू या हरियानी, (३) व्रज-भाषा या व्रज-बोली, (४) कन्नौजी, (५) बुन्देली, (६) अवधी, (७) बघेली, (८) छत्तीसगढ़ी, (९) भोजपुरी।

मध्यदेश की हिन्दी के साहित्य और बोली की दृष्टि से हिन्दी के अन्तर्गत उपर्युक्त ग्रामीण बोलियाँ समाविष्ट की गई हैं किन्तु भाषा शास्त्री भोजपुरी को हिन्दी के अन्तर्गत नहीं मानते। वास्तव में भोजपुरी बिहारी की एक विभाषा है। कौरवी, बाँगरू, व्रज-भाषा, कन्नौजी और बुन्देली—ये पाँच बोलियाँ भाषा-शास्त्र की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी की विभाषाएँ हैं और अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी पूर्वी हिन्दी की विभाषाएँ हैं। पूर्वी हिन्दी कुछ बातों में पश्चिमी हिन्दी से मिलती है और कुछ बातों में बिहारी भाषा से। अतः भाषा शास्त्री भाषा-शास्त्र की दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी को ही 'हिन्दी' नाम से पुकारते हैं क्योंकि इसी के एक कौरवी रूप से उच्च हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी की उत्पत्ति हुई है और यह मध्यदेश की वर्तमान भाषा भी कही जा सकती है। मध्यदेश की सीमाएँ इस प्रकार हैं—पूर्व में भागलपुर, पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर में शिमला तथा नैपाल और दक्षिण में खँडवा तथा रायपुर। इस सीमा के अन्तर्गत आने वाले भू-भाग को मध्यप्रदेश कहते हैं और इसमें प्रचलित भाषा तथा बोलियाँ साधारणतया हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

ईसा पूर्व १५०० से लेकर ई० पू० ६०० तक वैदिक भाषा (छान्दस भाषा) का अधिपत्य रहा था। फिर उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य में लौकिक संस्कृत का प्रचलन आरम्भ हो गया था। फिर ई० पू० ५०० वर्षों के लगभग पश्चिमोत्तर पञ्जाब में पाणिनि का जन्म हुआ। इस वैयाकरण ने लौकिक संस्कृत का अध्ययन किया और उसे नियमबद्ध करने के लिए सूत्रों की रचना की। जिन शब्दों को पाणिनि अपने सूत्रों से सिद्ध न कर सके, उन्हें 'आर्ष प्रयोग' कह दिया गया। वास्तव में आर्ष प्रयोग ब्राह्मण-ग्रन्थ-कालीन लोक-भाषाओं के ही शब्द हैं। लौकिक संस्कृत का अभ्युदय उसी प्रदेश में हुआ था जिसमें कि हिन्दी का। उत्तरी भारत के मध्यदेशीय भूमि-भाग को उस समय उदीच्य प्रदेश पुकारते थे। इस प्रदेश में आर्य भाषा विशुद्ध रूप (साहित्यिक संस्कृत रूप) में बोली जाती थी और प्राच्य प्रदेश में लोक-भाषा प्रचलित थी। यास्क ने निरुक्त में बताया है कि दराँत को उदीच्य प्रदेश में 'दात्र' और प्राच्य प्रदेश में 'दाति' कहते हैं—

> "दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।"
>
> —यास्क, निरुक्त, नैगमकाण्ड २।१।२

उदीच्य प्रदेश का 'दात्र' शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है—

> "हस्ते दात्रं च नाददे।" —ऋक् ८।७८।१०

अतः सिद्ध होता है कि वैदिक काल छान्दस भाषा और लौकिक संस्कृत एक ही भाषा-परम्परा में हैं।

बुद्ध के काल (ई० पू० ५५० वर्ष) में ही प्राच्य बोली संस्कृत से इतनी पृथक् तथा भिन्न हो चुकी थी कि उसे एक स्वतन्त्र बोली ही माना जाने लगा था। बौद्ध और जैन वैदिक याग-यज्ञ तथा पशु-बलि समन्वित कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे। अतः बौद्धों और जैनों ने वैदिक याग-यज्ञ का उपदेश देने वाली छान्दस एवं संस्कृत भाषा का प्रयत्न पूर्वक परित्याग किया और अपने उपदेशों का प्रचार तत्कालीन मध्य-युगीय भारतीय आर्य भाषा (प्राकृत) के एक पूर्वीय रूप में किया। इसी लोक प्रचलित भाषा के रूप का विकास आगे चलकर 'अर्द्ध मागधी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यदि महावीर तथा बुद्ध की भाषा मध्य कालीन आर्य भाषा (प्राकृत का पूर्वीय रूप) प्राकृत की आद्यावस्था है, तो अर्द्ध मागधी मध्यकालीन आर्य-भाषा की द्वितीय अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद मूल पूर्वी बोली से अन्य कई प्रादेशिक बोलियों में हुआ था। उनमें से एक पाली (पालि) भी थी। पालि मध्यदेश (उज्जैन

से मथुरा तक) की प्राचीन भाषा पर आधारित एक साहित्यिक भाषा थी। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि पालि को पश्चिमी हिन्दी का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मथुरा केन्द्र वाले प्रदेश में शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक ललित एवं सुष्ठ प्राकृत थी जो मध्य भारतीय आर्य भाषा-काल के उत्तरार्द्ध में प्रचलित थी। वस्तुतः यह ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी। संस्कृत नाटकों के कुलीन एवं अभिजात पात्र कहीं कहीं संस्कृत न बोलकर शौरसेनी प्राकृत में ही वार्तालाप करते हैं। महाराष्ट्र प्रदेश में महाराष्ट्री प्राकृत भी शौरसेनी प्राकृत के साथ ही साथ अपना विकास कर रही थी, जिससे आगे चलकर वर्तमान मराठी भाषा का जन्म हुआ। श्री मनोमोहन घोष का मत है कि महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का पश्च रूप है। कालान्तर में शौरसेनी प्राकृत ही विकसित होते-होते शौरसेनी अपभ्रंश कहलाई। यदि श्री घोष का मत सत्य मान लिया जाय तो महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की एक कड़ी सिद्ध होती है (देखिए डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, पृ० १७७)

अपभ्रंश भाषाओं में तीन बहुत प्रसिद्ध थीं—(१) नागर। (२) ब्राचड़। (३) उपनागर। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में लिखा भी है—"नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।" नागर अपभ्रंश को ही पश्चिमी अपभ्रंश अथवा शौरसेनी अपभ्रंश के नाम से पुकारते हैं। ईसा की १० वीं शती से १२ वीं शती तक संस्कृत तथा अन्य अपभ्रंशों के होने पर भी पश्चिमी अपभ्रंश सर्व साधारण की साहित्यिक तथा बोलचाल की भाषा रही। गुजरात के जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के अनेक उदाहरण दिये हैं (देखिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् १९९७, पृ० २२, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७९)

पश्चिमी अपभ्रंश के संज्ञा शब्दों में और विशेषण शब्दों में प्रायः संयुक्त व्यञ्जनों वाले आकारन्त शब्दों का बाहुल्य मिलता है। क्रियापद भी आकारान्त मिलते हैं जैसे 'हुआ', 'मारियाँ' आदि। किसी भाषा का स्वरूप और प्रकृति उसमें प्रयुक्त क्रिया-पदों तथा परसर्गों से ही जानी जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि पश्चिमी अपभ्रंश से ही खड़ी बोली का विकास हुआ है। खड़ीबोली अपने क्रिया पदों में आकारान्त है और ब्रजभाषा औकारान्त या ओकारान्त। खड़ी बोली में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी—समाविष्ट हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से ही ब्रजभाषा विकसित हुई, उदा० शौ० प्रा० मारिदो, मरिओ, ब्र० भा० मार्‌यौ।

अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी की जननी पश्चिमी अपभ्रंश और मातामही शौरसेनी प्राकृत है। वैसे हिन्दी में संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँगरेजी, तमिल आदि अनेक भाषाओं के शब्द प्रयुक्त होते हैं। सभी प्रकार के शब्दों का वर्गीकरण करें तो उन्हें हम निम्नाङ्कित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) तत्सम, (२) तद्भव, (३) अर्द्ध तत्सम, (४) तत्समाभास, (५) विदेशी, (६) देशज।

तत्सम—'तत्सम' शब्द का अर्थ है 'संस्कृत सम' हिन्दी में प्रयुक्त वे शब्द जो सीधे संस्कृत से अपने मूल रूप में आये हैं, तत्सम कहलाते हैं; जैसे हस्त, पद्म, शङ्ख आदि।

तद्भव—'तद्भव' शब्द का अर्थ है संस्कृत-भव'। संस्कृत के वे शब्द, जो प्राकृत भाषाओं के माध्यम से हिन्दी में आये हैं, तद्भव कहलाते हैं; जैसे सं० हस्त, प्रा० हत्थ, हिं० हाथ। सं० रक्तिका, प्रा० रत्तिआ, हिं० रत्ती। सं० आदर्शिका, प्रा० आदरसिका, आरसिआ, हिं० आरसी।

अर्द्ध तत्सम—जो शब्द संस्कृत से मध्यभारतीय आर्य-भाषा में कुछ विकसित हुए और फिर उसी रूप में हिन्दी में गृहीत होगये, वे अर्द्ध तत्सम कहलाये, जैसे सं० पद्म, प्रा० पदुम, हिं० पदुम—"पद पदुम

(शेष पृष्ठ XXX पर देखिए)

इतिहासों से उपेक्षित—ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

श्री गङ्गाप्रसाद कमठान

हिन्दी के इतिहासों में सबसे अधिक उपेक्षित विषय रहा है—ब्रज भाषा का गद्य साहित्य। इस दिशा में प्रवर इतिहासकारों ने जो अनुसंधान किये वे वार्ता-साहित्य, कथा साहित्य तथा टीका ग्रन्थों पर भी अपने में पूर्ण न हो केवल नोटिस मात्र हैं। ब्रज-जनपद की भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' कही जाती थी। इसी प्रदेश में 'कथा सरित्सागर' जैसे बृहद् ग्रन्थ कथा-साहित्य का सृजन हुआ। विभूतिमयी ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य विशेषकर लोक कथा साहित्य सरस और सुरुचिपूर्ण होता हुआ भी पद्य-साहित्य की भाँति गौरवन्त हुआ है। फलतः ब्रज की लोक-कथाओं में बिखरा गद्य-साहित्य गाथाओं, अवदान और कहानियों को अन्तर्गत लिये हुए पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है।

भक्तिकाल में रूढ़िवादी प्राचीन परम्पराओं से गुम्फित लोक कथाएँ वल्लभकुल सम्प्रदाय में निजी वार्ता अथवा निजघरी कथा की रूप-रेखा पर आश्रित हो घरू वार्ता का भी आंशिक रूप ले गईं हैं। वस्तुतः ये वार्ताएँ ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की एक युग-प्राचीन थाती हैं।

श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव का यह मत—"इतिहासकारों ने यह तो स्वीकार कर लिया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व गद्य का किसी भी रूप में विकास नहीं हुआ था और हृदय में उद्भूत प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति पद्य के माध्यम से ही हुआ करती थी।"* खेद है, खोजपूर्ण तथ्यों पर टिका हुआ नहीं है। क्योंकि धौलपुर नरेश के निजी पुस्तकालय से ई० पन्द्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के ब्रजभाषा के गद्य में मँजे पत्र तथा लघु कथाएँ अव्यवस्थित पन्नों में प्राप्त हुई थीं। पत्रों में 'श्रीमुख पत्रियों' की तथा लघु-कथाओं में भेड़िए—बन्दर की आपसी वार्ता और कुछ धार्मिक-कथाओं के लघु रूप अधिक देखने में आए हैं। साथ ही अक्षर सुन्दर, स्पष्ट और जड़े हुए से हैं।

पन्द्रहवीं शती के पत्र की प्रतिलिपि दे रहा हूँ। पत्र राम महाराज को लिखा गया है जिसमें घोर वर्षा की चर्चा चलाई गई है किन्तु पत्र लिखने वाले का नाम कहीं पर भी लिखित नहीं है।

"सिद्धि श्री रांम मंहांराज कौं पाइलागव बंचने। तुमारो धर्म करम हम कौ सिखावो ताते स्नेह सौ हृदय भर आयो। पत्र न आयो सो बहुत दिन रैन भए हैं। मेह हमारे गाम पै बरसो हतो। जामें गाभिन गऊ बह गई हती। अतिबलवांना गोवर्द्धनजी की कृपा तै नारायण अबी आयौ है। बाइ तुम्हारो विश्वास नीको हतो। मिती जेठ सुदि भौनवार संवन १५७८।"

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा गद्य के इस प्राचीन पत्र में अनुनासिक व्यंजनों के रूप उपलब्ध होते हैं, जैसे—रांम, मंहांराज आदि।

१६ वीं शती में श्री हितहरिवंशजी के द्वारा प्रिय शिष्य विट्ठलदासजी को लिखे गये पत्र में ब्रजभाषा का गद्य साहित्यिक, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत होता चला गया है—

"श्री सकल गुण संपन्न रसरीति बढ़ावन चिरंजीव मेरे प्राणन के प्राण बीठलदास जोग्य लिखितं श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवंश सुमिरन बंचनौ। जोरी सुमिरन मत्त रहौ। जोरी जोहें सुख वरषत है। तुम कुशल स्वरूप हौं। तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं। सुख अमृत स्वरूप हों। पत्री बांचत आनन्द उमड़ि चलै है। मेरी बुद्धि कौं इतनी शक्ति नहीं जो कहि सकौं पर तोहि जानत हैं। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद देंय हम यही

---

* 'साहित्य-सन्देश' मई १९५५—ब्रज भाषा गद्य का विकास।

आशीर्वाद देत हैं कि तिहारौ आयुष बढ़ौ। और तिहारी सकल सम्पति बढ़ौ। तिहारे मन को मनोरथ पूरण होहु हम नेत्रनि सुख देखैं। हमारी भेंट यही है। यहां की काहू बात चिन्ता मत करौ। तेरी पहचान तैं मोकूं श्री श्यामाजू बहुत सुख देत हैं। तुम लिखी हौ दिन दश में आवोंगे सोई आशा प्राण रहे है। श्री श्यामाजू वेगि लैं आवैं। चिरंजीव कृष्णदास कौ जोरी प्रसन्न है। श्यामबंदिनी विहार चन्दन लेनौं। गोविंददास संतदास की दण्डौत गांगू मैदा को कृष्ण सुमिरन बांचनौ।"

इससे प्रतीत होता है कि समास शैली से युक्त, लम्बी चौड़ी भूमिका के चौखटे में जड़ी, बहु विशेषणों से जटित सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा शिष्य को लिखी पत्री होती थी। पत्र लिखने की शैली संस्कृत की पत्र-लेखन शैली से प्रभावित होती थी। पत्र जिस हेतु लिखा जा रहा है उस धर्म तथ्य की ओर केवल नाममात्र आभास का दिग्दर्शन होता है। यही पत्र की विशेषता है तथा उक्त शती के व्रजभाषी गद्य की सहिष्णुता है। उस काल के पत्रों में 'श्री वृषभानुनंदिनी जयति' लिख कर श्री राधा को अधिक मान्यता दी गई है। अतएव पुष्ट-सम्प्रदाय के अधिकांश पत्रों में प्रारम्भिक भाग संस्कृत-गर्भित और शेष में व्रजभाषा का सुथरा-मँजा गद्य चलता है। किन्तु सर्वत्र पत्रों में धार्मिक भावना का पुट प्रधान अङ्ग बना हुआ है।

सोलहवीं और सत्रहवीं शती के सन्धिकाल में लिखे गए पत्र की प्रतिलिति दे रहा हूँ :

"श्री वृषभानुनंदिनी जयति। श्री हरिवंश बीठल दास के कोटिकोटि अपराध मैं खेबी आगले पाछिले। बीठलदास मेरे प्राण हैं जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरुमहिमा ऐसे ही सत्य है तौ व्रज-नव-तरणि कदम्ब चूड़ामणि श्री राधे तिहारे स्थाये। गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौं होत है। ताते यह मर्यादा राखनो। तुम दोऊ सफल आनन्द बरसो। बीठलदास को अहो सींचनौ।"

भक्तिकाल के वार्ता साहित्य में भी व्रजभाषा की प्रौढ़ एवं सुन्दर गद्य रचना के दर्शन होते हैं। हरिरायजी द्वारा सम्पादित 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में १०६ संख्यक वार्ता, एक व्रज जनपदीय (व्रजवासी) ब्राह्मण की वार्ता है—

"तब अधिकारी ने श्री गुसाईंजी सुं बिनती कीनी जो महाराज अमूको व्रजवासी सूरत पठायो हुतो सो पत्र तथा हुंडी तीसरे दिन ले आयो है। तब श्री गुसाईंजी पत्र बांचिके देखें तो तामें वैष्णवन के समाचार लिखे हुते सो सब जाने।"

निस्संदेह, मध्यकाल व्रजभाषा के गद्य की उन्नति का विकसित काल कहा जा सकता है, जिसमें भाषा का रूप गद्य के ढाँचे में ढला हुआ परिष्कृत दीखता है।

'कृष्णार्जुन संवाद ग्यान माला' पुस्तक सं० १८८३ की लिखी हुई है। यह व्रजभाषा गद्य में है। मूल लेखक का नाम पुस्तक के आदि और अन्त के पुष्प में नहीं दिया है। मूल लेखक की यह महान कृति उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से कहीं अधिक पूर्व की लिखी प्रतीत होती है। क्योंकि पुस्तक के अन्तिम भाग का पाठ करने पर ज्ञात होता है कि लाला रामनाथ, जो सम्भवतः कायस्थ था, ने इसकी दूसरी प्रति सम्पादित की है "इति श्री कृष्न-अर्जुन संवादे ग्यानमाला संपूरन समापता॥ मिति जेठ सुदी ४ संवत् १८८३ मुकाम दलीप नग्र लिषत लाला रामनाथ की जु कोउ बाँचे सुनै ताकों श्री राम-राम ब्रह्मन को दण्डवत।"

उक्त पुस्तक की भाषा का स्वरूप इस प्रकार है :—
"येक समयौ श्री सुषदेव जु श्री व्यास जु के पुत्र राजा परीछत कैं आवत भये॥ तिनकौ महा आदर सौं आगे देकैं लेत भये॥ अरु सिंघासन बैठक देत भये तब राजा पारीछत पुछत हैं॥ कै अहो सुषदेव जु आप हम पर महा क्रपा करौ॥ जु हम कौं दरसन दये॥ हम कौ सनाथ करौ।"

सत्यतः इस पुस्तक में आद्योपान्त व्रजभाषा का सफल प्रयोग बन पड़ा है। आचार्य शिवनाथ की लिखी हुई 'सपनै परिछा' पुस्तक में प्राचीन व्रजभाषा

के उभरे रूप में दर्शन होते हैं। पुस्तक पर पूर्ण विराम संवत् १८८३ में लगा है। हास्यरस से रँगी हुई शिवनाथजी की रचना स्वप्न के फलाफल से पूर्ण है—

"सपनै मैं नूगै पावै तौ दुषन तै छूटै अनुकिकिर छुटै अनु परमेसुर नीकै राषै। सपनै मैं तामौ देषै तौ रोगु होइ। सपने मैं बड़ो मुतिया देषै तौ वेटा होइ छोटौ मुतिया देषै तौ बिटिया होइ।

पन्द्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के ब्रजभाषा गद्य का तुलनात्मक अध्ययन हेतु विस्तार से समस्त सामग्री को न रख कुछ थोड़े उदाहरण व्याकरण के आधार पर अवश्य रखना चाहूँगा। उदाहरणार्थ कारक चिह्नों को ही लीजिए :—

	१६ वीं से ले १९ वीं	पन्द्रहवीं शताब्दी
कर्म—संप्रदान	कुं, कूं	कौं, को
करण—अपादान	सुं, सूं	सौं, सो सौ

क्रियाओं के नीचे लिखे रूप भी देखने योग्य हैः-

वर्तमान	हु हूँ हैं	हौं हौं है
भूतकाल	हुतो हुते हुती	हतो हते हती

उदाहरणार्थ १५ वीं शती तथा अन्य शतियों (१६ वीं, १७ वीं, १८ वीं और १९ वीं शती) के ब्रजभाषा की गद्य के कुछ एक वाक्य नीचे दिये जाते हैं:—

पन्द्रहवीं शताब्दी:—

करौ—रीति-प्रीति हृदय में धारण करके कलेऊ करौ
हैं—पत्र न आयो सो बहुत दिन रैन भए हैं
कौं—ईगुर कौं तिलक दै
सौं—सौं कथा अन्त होवे कौ नहिं आवे

१६ वीं, १७ वीं, १८ वीं और १९ वीं शती :—

हौं—जो कहि सकै पर तोहि जानत हौं
सुं—तब अधिकारी ने श्री गुसाईंजी सुं विनती कीनी
हुतो—जो महाराज अमू को ब्रजवासी सूरत पढ़ायो हुतो
बरसो—तुम दोऊ सफल आनन्द बरसो

खड़ी बोली हिन्दी में वर्तमान निश्चयार्थ नहीं पाया जाता है किन्तु पुरानी साहित्यिक ब्रजभाषा में यह काल मिलता है, 'तिहारे हस्ताक्षर बारम्बार आवत हैं।' यह वर्तमान कालिक कृदन्त है।

पन्द्रहवीं शती के गद्य में लिखी कथा का कुछ भाग देखने योग्य है—"सो एक दिन सियार मन्त्री और बन्दर महाराज वार्ता करत रसमग्न होइ गये। सो कछु फल पदारथ की सुधि नाहीं रही। सो अर्ध-रात्रि होइ गई। कथा अन्त होइवै को नहिं आवै। तब बंदरिया बन्दर सौं बोली महाराजाधिराज! कथा को सगरो फल जानियो ता उपरान्त मेरे सङ्ग मन लगाय रीति-प्रीति हृदय में धारण करके कलेऊ करौ। ददाजू के अक्षर बारम्बार आवत हैं।"

श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव ने लल्लूलालजी के बारे में जो आपत्ति उठाई है, "लल्लूलालजी तथा सदल मिश्र ने गद्य में पुस्तकें लिखने का कार्य फोर्ट विलियम कालेज तथा डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से किया था। उसके अतिरिक्त उनके पूर्व भी हिन्दी गद्य में बहुत सी रचनाएँ लिखी जा चुकी थीं किन्तु जो लोग किसी परिश्रम को प्रस्तुत न होकर लल्लूलाल जी को ही आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्मदाता कह देते हैं निश्चय ही वे उन मौन तपस्वियों के प्रति महान् अन्याय करते हैं जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से साहित्य का भण्डार भरा है और जिनके पूर्व योग के आधार पर लल्लूलालजी को श्रेय प्राप्त हो सका है।"* वह वास्तव में निराधार तथ्यों पर टिकी हुई है। क्योंकि डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, "खड़ी बोली का सबसे प्रथम प्रयोग लल्लूलालजी ने 'प्रेम-सागर' की भूमिका में किया है। लल्लूलालजी के ये वाक्य खड़ी बोली शब्द के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं, अतः ज्यों के त्यों नीचे उद्धृत किये जाते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के आदि रूप का भी यह उद्धरण अच्छा नमूना है।" लल्लूलाल लिखते हैं—"एक समय व्यासदेव कृत श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को चतुर्भुज मिश्र

---

* साहित्य-सन्देश मई ५५, ब्रजभाषा गद्य का विकास।

ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया । सो पाटशाला के लिए श्री महाराजधिराज, पुण्यवान, महाजान मारकुइस विलजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलक्रिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० ई० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्त्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में यह नाम प्रेमसागर धरा ।”+ डा० धीरेन्द्र वर्मा के मत की पुष्टि श्री एफ. ई. के. की इस विचारधारा से हो जाती है, “The first work in this new dialect, and one which is regarded as a standard was Lallujilal's Prem sagar which is a Version of the tenth chapter of the Bhagavata Purana.”×

यदि नभाआ भाषाओं में सरस, सरल और सुबोध शक्तिशाली गद्य-शैली का आविर्भाव शीघ्र से शीघ्र होगया होता, तो विना किसी अवरोध के भारतीय चिन्तन के पुनर्निर्माण में महान् योग मिलता, जिसके सहारे भारतीय मानसिक जागृति के विकास की मङ्गलमय बेला का उदय कितने ही समय की माँग से पूर्व होगया होता । और ब्रजभाषा कविता की जगह तर्क को अपनाकर अपना एक अलग ही रूप स्थिर कर लेती, उसकी सहोदरा बोलियाँ उसके साहित्यिक सौन्दर्य को बचाने में पीछे न रहतीं । फिर भी पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा के गद्य में दार्शनिकता का पुट दीखता है । बात लोकाचार तथा मानव को मानव बनाने की भावना से भरी होती है । अधिक सूक्ष्म विचारों को वहन नहीं किए होती केवल कथात्मक रूप को ही—“मेरौ बेटौ रांम नांम काल्हि घरै आयौ ॥ वानै मेरौ कह्यौ न मान्यौ । चाम की जीन घोड़ा पै कसवाइ, ईगुर कौ तिलक दै अँगरखा लै गयौ साँच, बाकौ सोच मोइ अधिक भयौ ॥ वेटा कान्ह वा द्वार सौं कबहुँ न जइहैं अइसी डगर तै मानुष्य कौ पानी धूल जइसी हो जाइ ॥”

लेखक के इस मत का प्रतिपादन अक्षरशः डा० सुनीतिकुमार, चाटुर्ज्या के विचारों से हो जाता है, “नभाआ भाषाओं में जहाँ भी कहीं गद्य का उपयोग हुआ है, वहाँ वह वैज्ञानिक या दार्शनिक या विचारात्मक रूप में न होकर, सीधे-सादे कथात्मक रूप में हुआ । यह बात प्राचीन गुजराती, आद्य पञ्जाबी, ब्रजभाषा, आद्य मैथिली और आद्य आसामी में उपलब्ध गद्य के उदाहरणों का अध्ययन करने मात्र से प्रमाणित होती है ।”*

श्री अम्बाप्रसादजी का दृष्टिकोण गोरख-पंथी ग्रन्थों के विषय में, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल × के मत पर आधारित है, “हिन्दी साहित्य में गोरख-पन्थी ग्रंथ ही प्राचीन गद्य में लिखे मिलते हैं । यह ग्रंथ सं० १४०० वि० के मिलते हैं ।” वास्तव में गोरख-बानी अर्थात् गोरख-पंथी ग्रंथों के पण्डित शिरोमणि डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शोधानुसार, “मैं अधिक सम्भव यह समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ग्यारहवीं शती में हुए । ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता । परन्तु इसमें भी प्राचीन के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो ।”+ फलतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोरख पंथी ग्रंथों का गद्य १४ वीं शती से भी पूर्व ११ वीं शती के अन्त में जन्म ले विकास की ओर बढ़ उठा था ।

हमारे इस मत का पुष्टीकरण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उल्लेख से भी हो जाता है, “मत्स्येन्द्रनाथ दसवीं शताब्दी से पूर्व अवतरित हुए ये……गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिए उनका समय

+ हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ ६३ ।

× A History of Hindi literature, Page 89.

* भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ११०

× हिन्दी साहित्य का इतिहास

+ गोरख-बानी (जोगेसुरी बानी, भाग १)

भी इसी के आस-पास होगा। ''''''हिन्दी में भी गोरखनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं।''* निस्सन्देह, गोरखपन्थी ग्रन्थों का कमल ११ वीं शती के अन्त में विकसित हो उठा था, जिसके पराग में भींजा हिन्दी का गद्य-साहित्य भी रूप-रेखा को लिए दिए एन-केन प्रकरणों सहित सुगन्धित हो उठा था। साथ ही ११ वीं-१२ वीं शती के सन्धिकाल में साफ-सुथरे गोरखपन्थी गद्य के लगभग तीन शताब्दी बाद ब्रजभाषा के गद्य के नमूने दीख उठते हैं।

ब्रजभाषा के गद्य को मौखिक रूप देने वाले प्रभु गोकुलनाथजी की 'दो सौ बावन वार्ता' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एक साथ, एक साँस में उनकी नहीं कही जा सकतीं। गो० गोकुलनाथजी के मौलिक प्रवचन रूप वचनामृत जो उनके शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध कर लिए गए तथा सुसम्पादित किए गए 'चौरासी वार्ता' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'दो सौ बावन वार्ता' व्याकरण की दृष्टि से १७ वीं शती की रचना प्रतीत होती है इससे प्रतीत होता है कि श्री प्रभूदयालजी मीतल द्वारा किए गए अनुसन्धान अपने में पूर्ण नहीं हैं, ''गोकुलनाथजी ने स्वयं उनको कभी नहीं लिखा था, किन्तु उनके गोकुलनाथजी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि उन रचनाओं के मूल वचन स्वयं उनके मुख से निकले थे। इस प्रकार की मौलिक रचनाओं में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मुख्य हैं।''† 'क्या दो सौ बावन वार्ता' गोकुलनाथजी कृत हैं? इस सम्बन्ध में लिखा डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख× पढ़ने योग्य है।

आशा है, आज के इतिहासकार पूर्व इतिहासकारों की परम्परागत प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ इतिहासों से उपेक्षित ब्रजभाषा गद्य की समस्त सामग्री को जुटा एक क्रमबद्ध इतिहास लिखने का सतत प्रयत्न करेंगे। इससे इतिहासकारों की व्यापक दृष्टि का तथा उनकी विशाल हृदयता का एवं साहित्य के विस्तृत क्षेत्र का योग कविता-कहानी से आगे बढ़ नष्ट होते सदियों के ऋषियों के कार्य को सुरक्षित कर सकेगा।

---

* हिन्दी-साहित्य (उसका उद्भव और विकास) पृष्ठ ३२-३३।

† अष्टछाप-परिचय पृष्ठ ७८।

× विचारधारा पृष्ठ १३६-१४५।

(पृष्ठ २३६ का शेषांश)

गोपाल रूप ही सर्वदा दृष्टि-गोचर होता है तथा वे 'अहीर' कृष्ण को ही अपना समझती हैं—

''जदपि अहीर जसोदा नन्दन तदपि न जात छड़े।
वहाँ बने जदुवंश महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥''

कह कर वे इसी स्वाभाविक हृद्गत भावना का परिचय देती हैं।

इसी प्रकार राधा को अत्यन्त मैला वस्त्र पहनना वीकार है, किंतु वह उसे धुलवाना नहीं चाहती, योंकि उसमें कृष्ण कुछ ऐसी वस्तु दे गए हैं, जो धुल जाने के बाद मिल नहीं सकती। निम्नलिखित पंक्तियों से इसी की व्यञ्जना होती है।

''अति मलीन वृष भानु-कुमारी।
हरि स्रम जल अन्तर तनु भीजे,
ता लालच न धुवावति सारी॥''

अतः समस्त सूर-सागर सम्बन्ध भावना के चमत्कार पूर्ण प्रदर्शन से भरा पड़ा है, जहाँ कला मर्मज्ञ सूर की विलक्षण प्रतिभा पर विदग्ध हृदय को दङ्ग रह जाना पड़ता है।

द्विवेदी युग में प्रसादजी की भूमिका

श्री सौमित्र एम० ए०, सा० र०

प्रसादजी की काव्य साधना का समय हिन्दी काव्य-विकास के दो युगों द्विवेदी एवं छायावाद युग के बीच फैला हुआ है। इन दोनों ही युगों में उनकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसका कारण यह है कि वे केवल काव्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के प्रयोक्ता ही नहीं वरन् नयी काव्य परम्परा के निर्माता भी रहे हैं। उनमें एक अनुयायी कलाकार की प्रतिभा न थी बल्कि एक अग्रणी रचनाकार की प्रतिभा थी। एक ओर उन्होंने कविता में रोमाण्टिक प्रवृत्तियों का विकास कर द्विवेदी-युग में ही काव्य के क्षितिज का विस्तार किया दूसरी ओर छायावाद के प्रधान कवि के रूप में उसकी कलात्मक शक्तियों को epic excellence पर पहुँचाया।

इस दृष्टि से स्पष्टतः उनके काव्य विकास की दो मंजिलें थी। पहली मञ्जिल द्विवेदी-युग में समाप्त हुई, दूसरी छायावादी युग में। ये दोनों मञ्जिलें हिन्दी रोमाण्टिक काव्य विकास की भी मञ्जिलें हैं। इनमें से पहली प्रसादजी की आरम्भिक काव्य साधना की मञ्जिल थी जो उनके ऐतिहासिक महत्त्व की ओर संकेत करती है; दूसरी प्रौढ़ रचनाओं की, जो उनकी प्रतिभा की कलात्मक ऊँचाइयों को बताती है।

छायावादी कविता मूलतः द्विवेदी युग की रोमाण्टिक काव्य प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप है। अपनी काव्य-साधना की पहली मञ्जिल में प्रसादजी ने इन प्रवृत्तियों का आभास ही नहीं दिया वरन् उनके विकास की दिशा भी निर्धारित की। इसलिए ऐतिहासिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से उनकी प्रारम्भिक रचनाओं का काफी महत्त्व है। वास्तव में ये रचनायें छायावादी काव्य परम्परा की आधार भूमि बनाती हैं जिसमें उसके विकास के बीज निहित थे। उनकी ये रचनायें एक ऐसे युग में लिखी गयीं, जब कविता-भाव की सरस भूमि से उतर कर यथार्थ के सुधारमूलक चिन्तन पर विकसित हो रही थीं; जिसमें न आन्तरिक प्रेरणा दिखाई देती थी, न भावना की तीव्रता। इस कविता की प्रेरणा प्रधानतः सामाजिक सुधार, रूढ़ि रीतियों से मुक्ति, राष्ट्रीय सङ्घर्ष की भावना अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आकांक्षा थी। इस चौमुखी दायरे से बाहर न जा सकने का परिणाम यह हुआ कि कविता ने कला का माधुर्य खो दिया और उसकी विषय भूमि का विस्तार जीवन की स्थूल माँगों की ओर हो गया। जीवन की स्थूल माँगों के प्रति काव्य का झुकाव वास्तव में कला का ह्रास नहीं बल्कि एक रचनात्मक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया ही है। द्विवेदी-युग की कविता इसलिये आलोच्य नहीं कि उसमें जीवन की स्थूल माँगों के प्रति झुकाव था किन्तु इसलिए है कि उसमें जीवन की वास्तविकता को अक्सर उपयोगिता की स्थूल दृष्टि से देखा गया; जिसके कारण कविता में एक ऐसी सुधारवादी भावना प्रबल हो गयी जिसमें न भावनाओं का रस था, न स्वरों का सङ्गीत, न कल्पना का वैभव था न यथार्थ का मार्मिक चित्रण।

आवश्कता यह थी कि काव्य की इस परम्परा से एक सक्रिय दिशान्तर बनाकर नयी कविता के विकास का रास्ता बनाना; कविता को स्थूल विचार दृष्टि से मुक्त कर पुनः भावनाओं की भूमि पर प्रतिष्ठित करना; ताकि वह अपनी भावनाओं के सङ्गीतमय उल्लास से हृदय के सूक्ष्म तारों को छू सके। यह एक असाधारण काम था, जिसे प्रसादजी की असाधारण प्रतिभा ने पूरा किया। वे मूलतः रोमाण्टिक प्रकृति के कवि थे। इसलिए स्वभावतः ही कविता में जीवन की स्थूल वास्तविकता उन्हें आकृष्ट न कर सकी। उन्होंने एक नई भावभूमि पर ऐसी कविताओं की रचना आरम्भ की जिनमें भावनाओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति

तथा कल्पना की नयी उड़ान दिखाई देती थी।

इसी प्रकार द्विवेदीयुग में दो काव्य परम्पराओं का विकास हो रहा था। एक के प्रेरक आचार्य द्विवेदी थे दूसरी के प्रसादजी। द्विवेदीजी की काव्य दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, नैतिकता के भार से दबी हुई सुधारमूलक प्रकृति की थी; अतः उनके प्रभाव में निर्मित काव्य जैसा कि ऊपर संकेत किया, जीवन वास्तविकता की स्थूल अभिव्यक्ति से ऊपर न उठ सका। इसके विपरीत प्रसादजी की काव्य-दृष्टि अधिक विशद थी, जिसका प्रधान झुकाव सौन्दर्य भावना की ओर था, अतः उनकी कविता में जीवन के रमणीय रूपों के प्रति अनुरक्ति एवं प्रकृति के प्रति रोमाण्टिक आसक्ति नजर आती है, जिसमें आन्तरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ कल्पना और सङ्गीत का अपूर्व सामञ्जस्य दिखाई देता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जहाँ द्विवेदीजी के अनुयायियों की संख्या बहुत थी, वहाँ प्रसादजी के अनुयायी शायद गिनने को भी न थे। वे अकेले ही एक चतुर शिल्पी की तरह नये काव्य की मूर्ति बना रहे थे।

भारतेन्दु युग की कविता के अन्तिम दिनों में पं० श्रीधर पाठक ने रहस्यानुभूतिपरक एवं प्रकृति के प्रति रागात्मक भावना व्यक्त करने वाली रचनाओं का सृजन किया, जिनमें कल्पना के सौन्दर्य के साथ ही साथ भावनाओं की तीव्रता एवं एक नया रचना शिल्प दिखाई दिया। कविता में ये 'स्वच्छन्द विकास के चिह्न' थे। प्रसादजी ने इसी 'स्वच्छन्द विकास' के सूत्रों को अपनाया और द्विवेदीजी के प्रभावान्तर्गत विकसित हो रही कविता से सक्रिय दिशान्तर दिखाते हुए भावानुभूति एवं कल्पना वैभव से परिपूर्ण कविताओं की रचना आरम्भ की। और इस तरह द्विवेदी कविता के समानान्तर कविता के नये विकास की आधार शिला रखी। उनकी पहली रचना सन् १९०६ में लिखी गयी। इसके बाद वे निरन्तर लिखते रहे। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ मुख्यतः 'इन्दु' में निकलीं। हिन्दी कविता के इतिहास में इस पत्र का भी लगभग वही महत्त्व है जो 'सरस्वती' का है। 'इन्दु' नयी कविता का 'मञ्च' ही न था वरन् नये सौन्दर्यात्मक मूल्यों का विचारक भी था। उसके द्वारा प्रसादजी अपनी भाव-परक कविताओं से नयी कविता के विकास की दिशा निर्धारित कर रहे थे, साथ ही कला के नये मान मूल्य भी स्थिर कर रहे थे।

द्विवेदी युग के काव्य की दृष्टि नैतिक एवं सुधारमूलक थी, जो काव्य के स्वच्छन्द विकास के लिए बाधक थी, पं० श्रीधर पाठक ने जिन दिशाओं की ओर संकेत किया कविता उनकी ओर भी न बढ़ सकी। इसलिए यह आवश्यकता थी—इस दृष्टि के सम्मुख आई हुई नैतिक तथा सुधारमूलक कुण्ठा को हटा कर भावानुभूति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने की। यह काम केवल नये ढङ्ग की रचना करने से ही पूरा न होगा—प्रसादजी यह समझते थे, अतः उन्होंने काव्य प्रयोजन का विवेचन करते हुए रचना सम्बन्धी नयी धारणाओं को भी निर्भीकता से लोगों के सम्मुख रखा। 'इन्दु' की पहली संख्या की प्रस्तावना में ही उन्होंने लिखा—

"साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं, उसके लिए कोई विधि का निबन्ध नहीं—क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है—संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है।"

हो सकता है प्रसादजी का यह वाक्य विवादास्पद हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं युग की सुधारमूलक साहित्यिक धारणा की प्रतिक्रिया में साहित्य के प्रयोजन की यह मीमांसा रोमाण्टिक कविता के विकास का आदर्श थी जो कविता को यथार्थ के सुधारमूलक चिन्तन से ऊपर उठा भावनाओं की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहती थी। एक दूसरे अङ्क में उन्होंने "भावमयी उत्तेजनामयी, अपने आपको भुला देने वाली कविताओं" की आवश्यकता पर जोर देते हुये अपने युग के कवियों को "जातीय सङ्गीतमयी वृत्ति स्फुरण कारिणी, आलस्य को भङ्ग करने वाली, आनन्द

बरसाने वाली, धीर गम्भीर पद-विक्षेपकारिणी, शान्तिमयी कविता की ओर" अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। क्योंकि उनके मतानुसार "सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण कर के जो समाज के भाव बदल रहे हैं; उनके अनुकूल कविता नहीं मिलती।"

द्विवेदी युग के यौवनकाल में कविता की स्वतन्त्र सत्ता पर जोर दे कर भावमूलक काव्य परम्परा की रचना के लिए जमीन तैयार करना प्रसादजी का एक ऐतिहासिक कार्य था जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया।

अपने युग की सामान्य कविता की चर्चा करते हुए उन्होंने एक स्थान पर कहा है—"पुरानी कविता को पढ़ना तो मानो महाद्वेष सा प्रतीत होता है क्योंकि इस ढङ्ग की कविता बहुतायत से हो गयी है ...।" प्रसादजी की समस्त काव्य साधना इस पुरानी कविता की प्रतिक्रिया में आत्मा के सङ्गीत का समारोह है जिसमें पहली बार रोमाण्टिक प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा आभास मिलता है। विशेष विस्तार में न जाते हुए यहाँ प्रसादजी की पहली मञ्जिल की रचनाओं की सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लेना ही अलम् होगा।

(१) प्रकृति के प्रति अनुरक्ति—अभी तक हिन्दी कविता में प्रकृति उपेक्षणीय ही रही। प्रसादजी ने पहली बार उसको उसकी स्वतन्त्र एवं निजी सत्ता में देखा। प्रिय-प्रवास में अवश्य ही प्रकृति के कई रूपों का चित्रण हुआ किन्तु वह मुख्यतः कथा की पृष्ठभूमि के रूप में ही है अतः उसमें हृदय की उन्मुक्त अनुभूतियों का आभास अपेक्षाकृत कम मिलता है। प्रसादजी ने प्रकृति के प्रति एक नयी भावात्मक दृष्टि व्यक्त की तथा उसके भिन्न-भिन्न रूपों की मन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसे वाणी प्रदान की।

मनोवृत्तियाँ खग कुल सी थी सो रहीं
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में
नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही

प्रकृति के साथ मानव हृदय का यह रागात्मक सम्बन्ध सर्व प्रथम प्रसादजी की रचनाओं में व्यक्त हुआ। मन की भिन्न-भिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति से उपादान चुन कर भावाभिव्यक्ति को तीव्र करने की यह प्रणाली हिन्दी कविता के नये विकास की सूचक थी।

(२) प्रकृति का मानवीकरण—छायावाद की एक मुख्य विशेषता प्रकृति का मानवीकरण करना थी। प्रकृति को मूर्त रूप देने के लिए उसके भिन्न-भिन्न रूपों का मानवीकरण करने की प्रवृत्ति प्रसादजी में आरम्भ से ही दृष्टिगोचर होती है। 'पावस प्रभात' नामक इस कविता में मानवीकरण कितना सजीव हुआ है यह द्रष्टव्य है:—

क्लान्त तारकागण की मद्यप मण्डली
नेत्र-निमीलन करती है, फिर खोलती
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़क कर है गिरा
रजनी के आपानक का अब अन्त है
रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपाङ्गों से देखा, कुछ हँस पड़ी
लगी टहलने प्राची प्राङ्गण में तभी।

(३) प्रेमानुभूति की निर्बन्ध अभिव्यक्ति—द्विवेदी कालीन काव्य में प्रेमानुभूति की निर्बन्ध अभिव्यक्ति का सर्वथा अभाव था। सुधार मूलक मनोदृष्टि एवं स्थूल नैतिक मूल्यों के कारण इस कविता में प्रेम की अभिव्यक्ति न हो सकी। प्रसादजी जो साहित्य को सर्वतोगामी प्रतिभा का प्रकाशन समझते थे—जीवन एवं जगत के समस्त रमणीय रूपों की ओर आकृष्ट हुये। इन रमणीय रूपों में प्रेम का कोई गौण स्थान नहीं। अतः प्रसादजी की कविताओं में प्रेमानुभूति परक रचनाओं की संख्या कम नहीं।

(४) आध्यात्मिक भावों की व्यञ्जना—द्विवेदी युग के दूसरे दशक की भाव-चेतना गीतांजलि के प्रभाव से मुक्त न रही। गीतांजलि का काव्य-चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ा। अन्य कवियों की तरह प्रसाद जी भी उससे अछूते न रह सके। किन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रसादजी की रचनाओं में

आरम्भ से ही एक आध्यात्मिक भावना दिखायी देती है। गीताञ्जलि के प्रभाव ने उसे और भी अधिक प्राञ्जल रूप में व्यक्त होने की प्रेरणा दी। यह अध्यात्म भावना अधिकतर भक्त कवियों की तरह ईश्वरीय सत्ता के महिमा वर्णन में ही व्यक्त हुई है; रहस्यानुभूति के रूप में कम। जैसे ....

जिस मन्दिर के दीप इन्दु दिनकर औ तारा
उस मन्दिर के नाथ को
निरुपम निर्मम स्वस्थ को
नमस्कार मेरा सदा
पूरे विश्व गृहस्थ को।

इन प्रवृत्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त प्रसादजी की इस समय की रचनाओं में शैलीगत विशेषताओं की भी प्रचुरता दिखाई देती है जो छायावादी काव्य के नये शैलीविन्यास की पूर्व सूचना देती हैं।

इस प्रकार प्रसादजी की द्विवेदीकालीन काव्य-साधना कविता के इतिहास में एक उल्लेखनीय स्थान रखती है। इसका महत्त्व इसी से प्रगट होता है कि इसने एक व्यापक भावभूमि तैयार कर हिन्दी कविता के उस विकास को प्रशस्त किया जिसमें 'परिवर्तन' 'आँसू' 'कामायनी' 'राम की शक्तिपूजा' 'तुलसीदास' आदि श्रेष्ठतम कृतियों की रचना सम्भव हो सकी।

मैं नाटक कैसे लिखता हूँ ?

श्री विष्णु प्रभाकर

[यह लेख हमारे नाटक अङ्क के लिए लिखा गया था, किन्तु कुछ विलम्ब से आने के कारण उस अङ्क में नहीं छप सका था।]

—सम्पादक

'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' समझ में नहीं आता कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ। सच पूछिये तो मुझे अपने लिखने में कोई भी बताने योग्य बात दिखाई नहीं देती। न मुझे लेट कर लिखने का शौक है और न खड़े होकर। मेज पर, खाट पर, जमीन पर, घर में, जङ्गल में सब कहीं मैं लिख लेता हूँ और अगर कोई सीधे मुझी पर प्रहार न करे आस-पास शोर, तोड़-फोड़ और दूसरा कैसा भी उत्पात क्यों न हो मुझ पर उसका कोई विशेष असर नहीं होता। अधिकतर अपने हाथ से लिखता हूँ पर बोल कर भी लिखा सकता हूँ........।

लेकिन प्रश्न केवल यही नहीं है कि मैं कैसे लिखता हूँ? बल्कि यह है कि मैं नाटक कैसे लिखता हूँ?

उसे वार्तालाप के रूप में लिखना पड़ता है। कहानी में तो लेखक भी बहुत कुछ कह सकता है पर नाटक में सब कुछ पात्रों को कहना पड़ता है, फिर कोष्ठक, निर्देशक, अङ्क, दृश्य इन सब का भी झमेला रहता है। ध्यान रखना पड़ता है कि नाटक पढ़ा नहीं जायेगा देखा या सुना जायेगा। तो भाषा कुछ सरल होनी चाहिये और भावों में तीव्रता रहनी चाहिये।....

तब मैंने स्कूल के दिनों में बच्चों की एक पत्रिका के सम्पादक को एक पत्र लिखकर लेखक होने की दीक्षा ली थी पर फिर कविता से शुरू करके गद्य काव्य और लेखों का क्षेत्र पार करता हुआ शीघ्र ही कहानी के क्षेत्र में आगया। यहाँ आकर लगा कि जैसे इस यात्रा का अन्त आ पहुँचा है लेकिन अक्सर जिसे हम अन्त समझ लेते हैं वही आरम्भ बन जाता है, कम से कम मेरे नाटक लिखने की बात कहानी में ही आरम्भ होती है, वह आरम्भ कथा की तरह रोचक और नाटक की तरह नाटकीय है। वह दिन मुझे बहुत अच्छी तरह याद है उस दिन मेरा विवाह हुआ था, ऐसा रोमाञ्चक दिन किसे याद न रहेगा।....

उस दिन की बात है। बारात खाने पर बैठी थी, उसमें कई साहित्यिक बन्धु भी थे। जैनेन्द्रकुमार,

प्रभाकर माचवे, नेमीचन्द्र जैन तथा यशपाल जैन आदि। न जाने किस रास्ते से होकर बात मेरे लिखने तक पहुँच गई तब एकाएक माचवेजी ने कहा—"विष्णुजी, आप नाटक क्यों नहीं लिखते। आपकी कहानियों में नाटकीय तत्त्व अधिक रहता है। आप यदि नाटक लिखें तो अवश्य सफल होंगे।"

यह बात मेरे मन में खुबकर रह गई पर मैं शीघ्र ही कोई नाटक न लिख सका। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध मासिक 'हंस' का 'एकाङ्की नाटक अङ्क' प्रकाशित हुआ, हिन्दी में शायद वह पहला प्रयास था। नाटक लिखने वाले तब उँगलियों पर गिनने लायक थे, एकाङ्की तो और भी कम लोग लिखते थे। कहना नहीं होगा उस अङ्क ने मित्र के सुझाव को बल दिया और मेरे मन में नाटक लिखने की बात रूप ग्रहण करने लगी।

आखिर कुछ दिन बाद मैंने एक नाटक (हत्या के बाद) लिखा और छपने के लिए एक पत्रिका में भेज दिया, उत्तर के लिये उत्सुक होना स्वाभाविक ही था। लेकिन बहुत दिन तक कोई उत्तर नहीं आया। इसी तरह कई महीने बीत गये तब एक दिन क्या देखा, वह नाटक लौट आया है, बड़ा धक्का लगा क्योंकि पत्रिका बहुत प्रसिद्ध थी और उसके सम्पादक तो उससे भी प्रसिद्ध साहित्यिक थे (सौभाग्य से आज भी हैं।) तब वे बन्धु गलत कहते थे, मैं नाटक नहीं लिख सकता। उन दिनों साधारणतया कहीं से लौटी रचना को निकम्मी समझ कर मैं फाड़ कर फैंक देता था, लेकिन उस बार न जाने क्या हुआ, मैंने उस नाटक को कुछ संशोधन करने के बाद (असल में कुछ संक्षिप्त करने के बाद) एक दूसरी पत्रिका (हंस) में भेज दिया, अगले मास वह उसमें छपा और यही नहीं आलोचना साहित्य की प्रसिद्ध पत्रिका 'साहित्य सन्देश' ने उस मास में प्रकाशित नाटकों में उसे पठनीय भी माना।

इसका यह अर्थ नहीं है कि मेरी कहानियों में जो नाटकीय तत्त्व रहता है उसकी ओर जब मेरा ध्यान दिलाया गया तभी मुझ में नाटककार होने की वृत्ति जागी। यूँ तो नाटककार मैं आज भी नहीं हूँ पर इस कला से मेरा सम्बन्ध बचपन से ही रहा है। जैसा कि सब गाँवों में होता है मेरे गाँव में भी स्वाँग आदि बहुत होते थे। रामलीला हमारे गाँव की दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। नाटक की तरह पूरे दस दिन तक उसका अभिनय होता था और मेरे चचा लोग उसमें भाग लेते थे। हमारा भी मन ललचाता था पर राम की सेना के बन्दर बनने के अलावा हम कुछ और आगे नहीं बढ़ पाये। हाँ लालच को पूरा करने के लिए घर पर हम सब बच्चे अपनी अलग रामलीला खेल कर बड़ों की नकल अवश्य कर लिया करते थे।

आगे चल कर जब पञ्जाब में रहना हुआ तब हिन्दी का शुद्ध उच्चारण होने के कारण अनायास ही मुझे तत्कालीन पारसी थियेटर स्टेज पर स्थान मिल गया। फिर तो मैं अभिनेता, निर्देशक, मन्त्री यहाँ तक कि एक नाटक मण्डल का संस्थापक भी बन गया। सर्व श्री आगा हश्र, बेताब, राधेश्याम कथावाचक आदि तत्कालीन नाटककारों के कितने ही नाटक हमने खेले। कृष्ण और दशरथ से लेकर 'एक वेद। वेदनी बेटा बेटी साथ' इस मन्त्र के बल पर शास्त्रार्थ जीतने वाले विदूषक तक का अभिनय मैंने किया। आज तो मुझे देख कर किसी को विश्वास नहीं आयगा पर तब नाटकों के सैकड़ों शेर मुझे याद थे। उस उछल कूद, उस अस्वाभाविक वार्तालाप का भी अपना एक मजा था। असल में उन दिनों नाटकों की एक धूम थी, एक नशा था लेकिन जैसे बुझने से पहिले दीया एक बार तेजी से जलता है वैसी ही दशा पारसी थियेटर स्टेज की थी। बहुत शीघ्र सिनेमा भारत में आ पहुँचा और एक सवेरे उठने पर हमें पता लगा कि लोगों की रुचि नाटकों में बिल्कुल नहीं रही है। हमारा नशा भी सैलाब के पानी की तरह एक थकान छोड़ कर उतर गया। सब शेर भूल गये, लेकिन नाटककार होने की भावना किसी कोने में दबी रह गई और जब मैं कहानी लिखने लगा तब वही

दबी हुई भावना फिर जाग उठी, अभिनय न सही कहानियों के वार्तालाप के रूप में ही वह अपने को प्रकट करने लगी।

इस प्रकार पारसी थियेटर रङ्ग-मञ्च से सम्बन्ध, कहानियों में नाटकीय तत्त्व का रहना, मित्र का सुझाव और 'हंस' के एकाङ्की अङ्क का प्रकाशन, ये सब मिल कर मेरे नाटककार होने के कारण बने। लेकिन इन बाहिरी प्रेरणाओं के अतिरिक्त एक और प्रेरणा होती है जिसका स्रोत खोजना असम्भव जैसा ही है। वह प्रेरणा ऐसी ही है जैसे कोयल में गाने की और बये में घोंसला बनाने की प्रेरणा।

मैं नाटक लिखता हूँ और जब लिखता हूँ तो मेरे सामने कई बातें रहती हैं क्योंकि नाटक कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि कमरे में बैठ कर उसका रस लिया जासके। बेशक बहुत से नाटक ऐसे ही हैं और आज भी बहुत से लेखक इसी दृष्टि से लिखते हैं, शुरू में मैंने भी इसी प्रकार के नाटक लिखे। लेकिन केवल वार्तालाप रहने से ही कोई रचना-नाटक नहीं बन जातीं, नाटक दृश्य और श्रव्य काव्य है, उसमें नेत्रों और कानों का व्यापार प्रमुख रहता है, इसलिए केवल पढ़ने के लिए नाटक लिखने का कोई मूल्य नहीं है। नाटक का उपयोग आज तीन स्थानों पर है—सिनेमा, रङ्ग-मञ्च और रेडियो पर। सिनेमा के लिये मैंने कभी कुछ नहीं लिखा। जो लिखा है वह केवल अमेचर रङ्गमञ्च और रेडियो के लिये। हिन्दी रङ्गमञ्च अभी निर्माण की स्थिति में है। पारसी थियेटर रङ्ग-मञ्च की अस्वाभाविकता के लिये अब कोई स्थान नहीं रह गया है। प्राचीन काल के रङ्गमञ्च की जटिलता और भाव-प्रदर्शन के लिए अस्वाभाविक उत्तेजना भी अब नहीं रही है। देवता और राजा रानी आदि पात्रों का स्थान जैसे साधारण मानव ने ले लिया है उसी तरह रङ्गमञ्च और अभिनय में भी यथार्थवाद और सरलता का समावेश हो गया है। चूँकि नाटक सब से बड़ी सामाजिक कला है उसका अधिक से अधिक जनता से सम्बन्ध है, इसलिये सफल नाटक की भाषा भी वही हो सकती है जो अधिक से अधिक लोगों की समझ में आ सके। नाटक लिखते समय इन बातों का और इन जैसी दूसरी बातों का ध्यान रहता ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हिन्दी रङ्गमञ्च अभी निर्माण की अवस्था में है, पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया पर हो रहा है। जहाँ तक सम्भव हो सकता है मैं उससे सम्बन्ध बनाये रखता हूँ। नाटक देखता हूँ, नये-नये प्रयोगों का अध्ययन करता हूँ बल्कि मैं कहूँगा अभी लिखने से अधिक अध्ययन की ओर मेरी रुचि है, कई नाटक इसी कारण अधूरे पड़े हैं। सच तो यह है कि अभी तक मैंने रेडियो के लिए ही लिखा है। उनमें से कई एकाङ्की रङ्गमञ्च पर आये हैं और उन्होंने मेरे इस विश्वास को दृढ़ किया है कि रङ्गमञ्च और रेडियो कला की दृष्टि से बिल्कुल दो चीजें हैं।

रेडियो नाटक केवल-श्रव्य काव्य है। नाद और शब्द ही उसका आधार है। रङ्गमञ्च पर अभिनेता अद्भुत हाव-भाव से जनता को हँसा सकता है पर रेडियो पर वह सारा काम शब्द और उनके उच्चारण पर ही निर्भर है। रेडियो चूँकि शब्दों की भाषा है इसलिए वहाँ घटनाओं का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है, भावना का महत्त्व है। इसलिए रेडियो पर सङ्गीत-रूपक, मॉनोलाग और मनोवैज्ञानिक नाटकों का पुनर्जीवन हुआ है। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ ऐसी पावन्दियाँ हैं जिनका सम्बन्ध उसके सरकारी होने से है। रेडियो उसी कला का प्रचार व प्रसार करता है जिसे सरकार का समर्थन प्राप्त है।

यूँ सुभीते भी वहाँ बहुत हैं, पृष्ठभूमि का सङ्गीत है, पुरानी स्मृति को आसानी से रूपान्तरित किया जा सकता है। हवा, आँधी-पानी, समुद्र का गर्जन-तर्जन, नदी की लहरों का सङ्गीत, सब कुछ बड़ी सरलता से नाद के द्वारा सुनने वालों के मस्तिष्क पर अङ्कित कर दिया जा सकता है। कथा पर काल और समय का कोई बन्धन नहीं है। क्षण भर में दिल्ली से लैपलैण्ड पहुँचा जा सकता है और बच्चे को बूढ़ा

बनाया जा सकता है। अभिनेताओं के लिये वेशभूषा रुपये की कोई शर्त नहीं है, शर्त बस आवाज की है। वहाँ भीम का पार्ट कोई भी दुबला-पतला पर भारी आवाज का व्यक्ति कर सकता है।

सो इन बातों का ध्यान न रखूँ तो नाटक नाटक कैसे बने ? जहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने में सब से कम रुचि है। जो एक दो लिखे हैं वे असल में लिखाये गये हैं। मैंने दो बड़े ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं 'समाधि' व 'नवप्रभात'। समाधि बड़ा है अभिनेय नहीं है। वह मञ्च पर आवे इससे पूर्व मुझे उसे आधा कर देना होगा। 'नवप्रभात' इस दृष्टि से सफल है। कुछ संशोधनों के बाद वह रङ्गमञ्च पर लाया जा सकता है। ये संशोधन इसलिये आवश्यक हैं कि मूलतः मैंने उसे रेडियो के लिये लिखा था।

सबसे अधिक रुचि मुझे मनोवैज्ञानिक नाटक लिखने में है। सामाजिक, घरेलू या राजनीतिक कैसा भी कथानक हो मैं उसका ताना-बाना मनोवैज्ञानिक आधार पर ही बुनता हूँ। मेरे लिये मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ है कि मनुष्य जो कुछ दिखाई देता है केवल वही नहीं है, उसके अतिरिक्त वह कुछ और भी है, बल्कि वह और कुछ ही अधिक है। आदर्श और यथार्थ का समन्वय मुझे प्रिय है, मानवता मेरा लक्ष्य है। हाँ, हिन्दी रङ्गमञ्च अभी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से घबराता है, वहाँ व्यंग सर्वप्रिय है।

मैं एक ही बार में कोई नाटक नहीं लिख पाता। बड़े नाटकों में महीने ही नहीं, वर्ष लगे हैं छोटे नाटकों में भी कई दिन लग जाते हैं। अक्सर विचार महीनों मस्तिष्क में घूमते रहते हैं, कभी कोई विशेष विचार सूझता है तो उसे कहीं लिख कर डाल देता हूँ घटनाओं की, आँखें खुली रक्खें तो जीवन में कोई कमी नहीं है। मैं विचारों के माध्यम से कम, घटनाओं के माध्यम से अधिक लिखता हूँ, यानी विचार लेकर घटनाओं का निर्माण नहीं करता बल्कि अधिकतर जीवन को देख कर उस पर से विचार लेता हूँ। जो मैंने नहीं देखा जिसका मैंने अध्ययन नहीं किया, जो मेरे अनुभव में नहीं आया उसको लेकर मैं बहुत कम लिखना पसन्द करता हूँ।

किसी के आदेश पर या प्रार्थना पर भी लिखना कठिन पड़ जाता है। यूँ कभी-कभी लिखना पड़ता ही है। पेट और परिवार का उत्तरदायित्व कुछ न कुछ लिखवाता ही रहता है पर फिर भी सच यही है कि जो किसी भी प्रकार के दबाव से लिखा गया है उसमें रस नहीं है, है तो कम है। स्कूल, कालेज, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सभी प्रकार की ओर से बराबर माँग आती रहती हैं, पर याद नहीं पड़ता कि कभी किसी की इच्छा पूरी कर सका हूँ। यूँ इन माँगों का असर होता अवश्य है। और मन भी जिस प्रेरणा के सहारे चलता है उसमें भी सामाजिक तत्त्व कम नहीं रहते। आखिरकार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी ही तो है।

मेरे सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रेडियो नाटकों में जो बहुत लोकप्रिय हुए हैं उनमें से कुछ ये हैं:—

(१) उपचेतना का छल।
(२) दोराहा।
(३) और वह जा न सकी।
(४) जहाँ दया छाप है।
(५) जज का फैसला।
(६) लिपस्टिक की मुस्कान (व्यङ्ग प्रधान)।
(७) ममता का विष।
(८) दूर और पास।

इनमें से कुछ तो मराठी, कन्नड़ तथा आसामी आदि भाषाओं में अनूदित होकर प्रसारित हो चुके हैं।

मैंने कुछ मॉनोलोग भी लिखे हैं। रेडियो को दृष्टि में रखते हुए मैंने उस टैकनीक में कुछ परिवर्तन किया है यानी उसमें कथा-सूत्र को बनाये रखा है। धुआँ, 'सड़क' तथा 'नहीं, नहीं, नहीं' पूर्ण रूप से सफल हैं यह तो नहीं माना जा सकता पर उस दिशा में एक बढ़ा हुआ कदम अवश्य है। संक्षेप में मेरे नाटक लिखने की कहानी यही है।

साहित्य परिचय

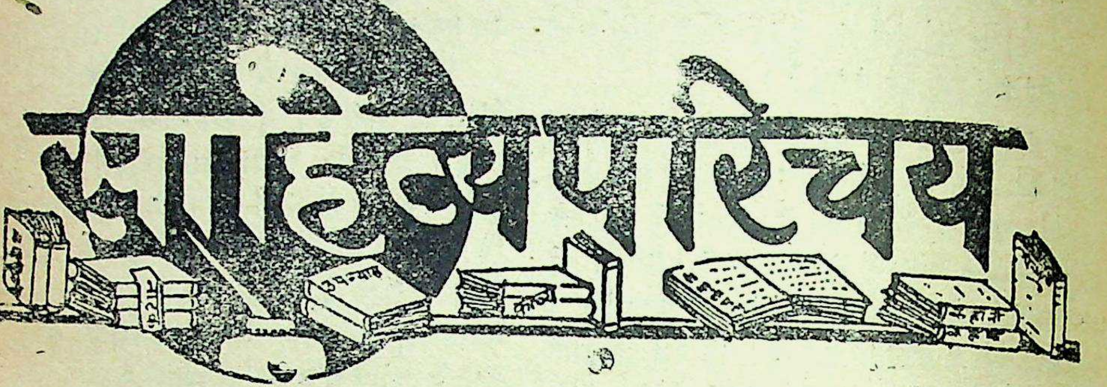

आलोचना

लोक जीवन और साहित्य—लेखक–डॉक्टर रामविलास शर्मा, प्रकाशक–विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा। पृष्ठ १६६, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत पुस्तक में डॉक्टर रामविलास शर्मा के आठ साहित्यिक निबन्ध संग्रहीत हैं। इन सभी निबन्धों को एक कोटि में बाँधना तो कठिन होगा किन्तु इनके सम्बन्ध में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सिवाय 'फिराकजी और हिन्दी' वाले लेख के और सभी गम्भीर सैद्धान्तिक चिन्तन का परिचय देते हैं। सभी निबन्ध साहित्यिक हैं और सरस साहित्यिक शैली में, जिसके पीछे एक विस्तृत अध्ययन की परम्परा है, लिखे गये हैं। शर्माजी के विचारों से चाहे कोई सहमत न हो किन्तु उनका हास्य-विनोद और उनके दिये हुए साहित्यिक उद्धरण प्रत्येक विनोद प्रिय लेखक को प्रसन्नता देंगे।

शर्माजी मार्क्सवादी विचार धारा के हैं और उन्होंने प्रसादजी जैसे छायावादी कवि में भी वर्ग-सङ्घर्ष और वर्गहीन समाज के मार्क्सवादी तत्त्व खोजने का प्रयत्न किया है। असली बात तो यह है कि हम किसी को चाहे जितना एकाङ्गी कहें कोई विशुद्ध एकाङ्गी नहीं होता। फिर महाकवियों में तो सभी तत्त्व रहते हैं किन्तु वे किसी एक के नहीं हो जाते। प्राचीन काल में जैसे तुलसीदासजी नहीं छोड़े जा सकते वैसे वर्तमान युग में प्रसादजी को सभी अपनाना चाहते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।' प्रसादजी संसार को मिथ्या नहीं मानते, प्रसादजी जड़ और चेतन को एक मानते हैं। यहाँ तक कि प्रसादजी भौतिकवादियों के साथ हैं किन्तु जहाँ वे चित्तशक्ति की व्यापकता मानते हैं वहाँ वे भौतिकवाद से पृथक हैं। शर्माजी के हिसाब से परिवर्तनशील के साथ शाश्वत का मेल चाहे असङ्गत हो किन्तु उस अलौकिक सत्ता की यही विशेषता है कि वह असङ्गतियों में भी सङ्गति स्थापित कर देती है। जिस प्रकार हेगिल द्वन्द्वात्मक गतिशीलता को मानते हुए भी मार्क्सवादी नहीं हैं और न मार्क्स इस कारण हेगिलवादी है उसी प्रकार प्रसादजी भी भौतिकवादी नहीं। कामायनी में सङ्घर्ष की आंशिक विजय है। पूर्ण विजय श्रद्धा की ही है। कामायनी में जहाँ सङ्घर्ष है वहाँ यन्त्रों की बुराई एवं सरल जीवन और अहिंसा के गांधीवादी तत्त्वों की बड़ाई भी है। फिर भी यह लेख प्रसादजी के प्रभाव विस्तार और मूल्याङ्कन में विशेष रूप से सहायक होगा।

सौन्दर्य की उपयोगिता शीर्षक लेख विशेष रूप से विचारोत्तेजक है। भौतिकवादी होने के कारण शर्माजी वस्तुगत सौन्दर्य को अधिक महत्ता देते हैं। उन्होंने विषयीगत (Subjective) सौन्दर्य की व्याख्या विषयी के ज्ञान की श्रेणी से और उसकी

पहुँच से की है। यह बड़ी सुन्दर व्याख्या है किन्तु विषयी की रुचि बहुत कुछ हेर-फेर ला सकती है। यह मानना ही पड़ेगा। यद्यपि फिराकजी के हिन्दी विरोध की हँसी उड़ाई जाने में मुझे भी प्रसन्नता होती है तथापि यह मेरी कमजोरी है। उनको तो यह सोच कर क्षमा कर देना चाहिए था कि वे उर्दू के उस वातावरण में पले हैं कि जहाँ समुद्र का समुन्दर हो जाता है और प्रसाद परसाद। वहाँ कोयल कमल की अपेक्षा कंबल को अधिक पसन्द करना स्वाभाविक ही है। रहा कृति को 'कीर्ति' कर देना वह एक कदम आगे की बात है। फिराकजी वस्तु की अपेक्षा उसके लक्ष्य को अधिक महत्त्व देते हैं। कृतियाँ कीर्ति के लिए ही लिखी जाती हैं फिर इसका विरोध क्यों? यह तो रही विनोद की बात, किन्तु पुस्तक चाहे विनोद मन्दिर का प्रकाशन हो उसमें गाम्भीर्य है जो चिन्तन और विवेचन की अपेक्षा रखता है।

—गुलाबराय

भारत-दुर्दशा—लेखक—श्री रामप्रकाश अग्रवाल, एम० ए०, प्रकाशक—सरस्वती प्रेस बुक डिपो, मेरठ। पृष्ठ १६६, मूल्य १।)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित नाटिका 'भारत-दुर्दशा' इधर कुछ परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक हो गई है। अतएव परीक्षार्थियों की सहायता के लिए इस कर कई सहायक पुस्तकें पिछले एक-दो वर्ष में निकल गई हैं। इनमें प्रस्तुत पुस्तक सबसे सुन्दर, छात्रों के लिए उपयोगी और त्रुटि-रहित निकली है। छपाई कागज की सुन्दरता के रहते हुए भी मूल्य बहुत कम रक्खा गया है।

कविता

'उद्जन' (काव्य संग्रह)—लेखक-शशिभोगलेकर, प्रकाशक—सूर्यप्रभा साहित्य सदन, रतलाम। पृष्ठ ४०, मूल्य ॥)

'उद्जन' शशिजी की दस कविताओं का प्रथम संग्रह है। प्रथम कविता 'उद्जन' बम पर है, इसमें 'नीरज' की इसी विषय पर कविता का-सा कल्पना-वैभव तथा प्रवाह तो नहीं है परन्तु इसमें मर्मस्पर्शिता और कुछ नये प्रयोग अवश्य हैं। अन्य कविताओं की प्रथम पंक्तियाँ पाठक को गुनगुनाने के लिए विवश कर देती हैं यथा "तुम गये, मगर गीतों की गुन गुन गई नहीं।" भाषा चलती हुई है और लोक गीतों का मिठास लिए हुए है। हम इस उदीयमान कवि का स्वागत करते हैं।

अभियान (काव्य-संग्रह)—लेखक—महेन्द्र भटनागर, प्रकाशक—आदर्श-विद्या-मन्दिर प्रकाशन, गौराकुण्ड, इन्दौर। पृष्ठ ८७, मूल्य डेढ़ रुपया।

महेन्द्र भटनागर के कवि रूप से पाठक परिचित हैं। उनमें बौद्धिक जागरूकता भी है और हार्दिक उद्वेगशीलता भी। वे अपनी भावना को सरलता के साथ प्रेषणीय बनाना भी जानते हैं। उनका जोश, विद्रोह, कोलाहल व चीत्कार सब तूफानी है परन्तु कोलाहल के इस युग में विद्रोह में आन्तरिकता लाने की आवश्यकता है, इसीलिए कोलाहल व विद्रोह में अन्तर माना जाता है और इसीलिए जब आक्रोश व्यञ्जित नहीं होता, वह जब प्रचार का रूप पकड़ता है तब कविता में आन्तरिकता का अभाव हो जाता है। 'अभियान' काव्य संग्रह की रचनाओं में इसी आन्तरिकता का अभाव मुझे सबसे अधिक खटकता है, परन्तु जनता को जगाने के लिए सभी प्रकार के स्वरों की आवश्यकता है और चूँकि कवि प्रगति के प्रवाह को पहचानता है अतः उसकी ललकार, उसका चीत्कार, उसकी पुकार सामयिक है और सामयिकता में मर्मस्पर्शिता आती ही है, यदि कवि हृदय से उसके प्रति सच्चा है। प्रसन्नता की बात है कि अभियान के आक्रोश में वह सच्चाई प्रत्येक शब्द से व्यक्त हो रही है।

मधुहाला—लेखक और प्रकाशक—रावत हिम्मतसिंहजी, भैंसरोडगढ़, वाया नीमच (जोधपुर)। पृष्ठ ६४, मूल्य ।॥)

उमर खय्याम की प्रसिद्ध रुबाइयों के अनुवाद हिन्दी में कई महानुभावों ने किए हैं। प्रस्तुत पुस्तक

के लेखक का भी इस क्षेत्र में यह एक सफल प्रयास है। रावत साहब ने अनुवाद पद्य और गद्य दोनों में किया है। पृष्ठ के एक ओर पद्यानुवाद है और उसके सामने ही उसका गद्यानुवाद है। दोनों में मूल के भावों को सुन्दर रूप देने की चेष्टा की गई है। चार-पाँच चित्रों ने पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ा दिया है।

दोहा मणिमाला—लेखक व प्रकाशक—मातादीन चतुर्वेदी, औरैया, इटावा। पृष्ठ ५५, मूल्य ≋)

दोहा मणिमाला में नीति व सुधार सम्बन्धी दोहे हैं, चेतावनी देना उनका उद्देश्य है। 'वृन्द' की परम्परा में चतुर्वेदीजी के दोहों को रख कर उनका स्थान निर्धारित किया जा सकता है। आज की समाज-व्यवस्था को कवि ने पैनी दृष्टि से देखा है। कई दोहे बड़े मार्मिक बन पड़े हैं।

रागारुण (काव्य-संग्रह)—लेखक व प्रकाशक—श्री दीपनारायणसिंह एडवोकेट, फतहपुर। पृष्ठ ७२, मूल्य १।)

'रागारुण' की कविताओं में क्रान्ति का आवाहन है। कवि 'दीप' पूँजीवाद के घोर शत्रु हैं और उसके विनाश के लिए जनभावना को जगाना ही अपनी कविता का उद्देश्य मानते हैं, न उनके पास भाषा के परिष्कार को समय है, न अभिव्यञ्जना की धार को तेज करने को। उन्हें प्रहार में आनन्द आता है और प्रहार के लिए साहस की आवश्यकता है। हथियार चाहे जैसा हो, कवि 'दीप' के पास ऐसा साहस है, अतुलित मात्रा में है। कविताओं के अनुरूप संग्रह का नाम 'रक्तारुण' होता तो शायद अधिक उपयुक्त होता।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

नाटक

भारत माता—ले०—रघुवीरशरण मित्र, प्रका०—भारतीय साहित्य प्रकाशन २३२, स्वराज्य पथ सदर, मेरठ। पृष्ठ १०४, मूल्य २)

मित्रजी ने अभिनय के अनुकूल कई नाटक लिखे हैं, उनके 'धरती माता' नाटक की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इस नाटक में चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव आदि क्रान्तिकारियों की कार्यवाहियों को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसे नाटकों में सबसे बड़ा भय यह रहता है कि लेखक पात्रों के मुख लम्बे-लम्बे कथोपकथन कराते चलते हैं, पात्रों की मानसिक स्थिति तथा बाह्य परिस्थिति का द्वन्द्व चित्रित नहीं हो पाता, परन्तु इस नाटक में एक सीमा तक इस दोष से बचने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण कम है। प्रचारात्मकता कम से कम नाटक के लिए खतरनाक है। यह नाटक क्रान्ति के चित्रों को जीवित रूप में प्रस्तुत करता है।

कहानी

अँखियाँ निहार के! पग धूरि झार के!!—लेखक—श्री बरुआ, प्रकाशक—रामपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता। पृष्ठ २२८, सचित्र मूल्य ४)

हमारा आज का दाम्पत्य-जीवन कितना करुणापूर्ण, आह्लादरहित और जर्जर है यह कौन नहीं जानता। घर घर में कोई न कोई झगड़ा, कहीं न कहीं विषाद की एक रेखा दिखाई देगी। बरुआजी ने इसी जीवन को भीतर से झाँक कर उसका चित्र इस पुस्तक में अङ्कित किया है। चित्र वास्तविकता लिए हुए हैं, अतः सबल हैं और पाठक को विवश करते हैं उसके आगे क्या करें—यह सोचने के लिए। परन्तु इन चित्रों के देखने से लाभ तो तभी होगा जब उन परिस्थितियों से निकलने का कोई मार्ग दर्शन भी दिया जा। जिसका इस पुस्तक में अभाव है।

मिट्टी का सत्य—लेखक—योगेन्द्र, प्रका०—नालन्दा प्रेस, बिहार शरीफ, पटना। पृष्ठ ७३, मूल्य १।)

इस कहानी संग्रह में ६ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कहानियाँ सामान्यतः मनोरञ्जक हैं। लेखक की कहानी-कला में अभी परिपक्वता का अभाव है। फिर भी लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ—ले०—श्री गोयलीय,

प्रकाशक—मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृष्ठ २१६, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने देखने, सुनने, पढ़ने और समझने से जो तथ्य प्राप्त किये हैं उनका एक अपूर्व संग्रह है। इसमें जो घटनाएँ दी गई हैं वे प्रायः सच्ची हैं और उनमें कुछ काल्पनिक कथाओं से कहीं अधिक आश्चर्यजनक हैं। सच्ची होने के कारण ये घटनाएँ अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इस पुस्तक में कहानी के से कौतूहल के साथ छोटी कहानी की सी शिक्षाप्रदता भी है। भाषा अधिकांश में उर्दू से प्रभावित है किन्तु उसकी प्रकृति और ढाँचा हिन्दी का ही है। पुस्तक एक साथ शिक्षाप्रद और मनोरञ्जक है।

उपन्यास

अर्हत का शाप—लेखक—श्री जान ओ' हिन्द, प्रकाशक—दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली। पृष्ठ १६४, मूल्य लिखा नहीं।

यह एक बौद्धकालीन उपन्यास है जिसमें सम्राट् हर्ष के समय का राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक वर्णन बड़े ही सजीव ढङ्ग से किया गया है। कूटनीतिज्ञ भिक्षु भैरव, नीतिकुशल राजा शशांक, प्रेम दीवानी राजकुमारी रमादेवी, राजनीतिज्ञ सम्राट् हर्ष, रूप पुजारी जयवर्मा, अल्हड़वाला शीलमती आदि इस उपन्यास की प्रमुख पात्र-पात्राएँ हैं, जिनका चित्रण बड़ी कुशलता से किया गया है। उपन्यास की विशेषता यह है कि इसका नायक कोई एक व्यक्ति नहीं है। उपन्यास पठनीय और अपने ढङ्ग का नया है। कुछ चित्रों ने इसे और भी सजीव बना दिया है।

अपराधी कौन—लेखक—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृष्ठ २८८, मूल्य ५)

हिन्दी के पुराने प्रौढ़ लेखक श्री इन्द्रजी ने इस उपन्यास में भारतीय समाज के कई विकृत अङ्गों का चित्रण कर समाज के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि विषम परिस्थितियों में किए गये गर्हित कार्यों की जिम्मेदारी किस पर है और वास्तव में अपराधी समाज है या व्यक्ति विशेष। इस दृष्टि से यह पुस्तक बड़ी सफल है। इसके पढ़ने पर उपन्यास का मौलिक आनन्द तो मिलता ही है, अपने देश और समाज की कुछ समस्याओं को समझने और उनको सुलझाने का भी अवसर मिलता है। इन्द्रजी इसके लिए बधाई के पात्र हैं।

यात्रा

कलकत्ता से पीकिंग—लेखक—श्री भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृष्ठ १७३, मूल्य ३॥)

श्री भगवतशरण उपाध्याय हिन्दी के यशस्वी लेखक हैं। १९५२ में आप भारतीय प्रतिनिधि के रूप में शान्ति सम्मेलन में भाग लेने चीन गए थे। उसी यात्रा के पत्रों के रूप में लिखे हुए आपके यह संस्मरण चीन की वर्तमान प्रगति और स्थिति का बड़ा ही यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हैं। यह पुस्तक मनोरञ्जन का ही काम नहीं करेगी—वहाँ की राजनैतिक और सामाजिक अवस्था का भी दिग्दर्शन कराएगी।

स्फुट

चरित्र-निर्माण (प्रथम भाग)—सम्पादक—श्री उग्रसेन जैन एम० ए०, प्रकाशक—भा० दि० जैन परिषद प० हाउस, दिल्ली। पृष्ठ १३१, मूल्य ।॥)

यह पुस्तक विद्यार्थियों को चरित्र सम्बन्धी शिक्षा देने और उन्हें आदर्श युवक बनाने की नीयत से छापी गई है। इसमें कई महापुरुषों के जीवन, कई तीर्थों के वर्णन, कई सुन्दर कहानियाँ और कई अच्छी कविताएँ हैं। जैन स्कूलों के लिए तो बनाई ही गई है और लोग भी इससे लाभ उठा सकते हैं।

विश्व और व्यक्ति—लेखक—श्री जगतनारायण, प्रकाशक—नारायण प्रकाशन मन्दिर, कमच्छा—बनारस। पृष्ठ १३५, मूल्य ॥=)

प्रस्तुत पुस्तक में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि संसार की वर्तमान प्रमुख समस्याएँ क्या-क्या हैं

और उन्हें कैसे सुलझाया जा सकता है। साथ ही यह भी दिखाने की चेष्टा की गई है कि कैसे-कैसे प्रत्येक व्यक्ति इन जटिल समस्याओं को सुलझाने में सहायक हो सकता है।

स्त्री-उपयोगी

नारी का रूप शृङ्गार—ले०–श्रीमती सावित्री-देवी वर्मा, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ २५६, सचित्र, मूल्य ६)

नारी के रूप सौन्दर्य पर हिन्दी में बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं। जो थोड़ी सी छपी हैं वे भी सर्वत्र सुलभ नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक में नारी के सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा है। उदाहरण के लिए स्नान से सम्बन्ध रखने वाली जितनी बातें हैं—उबटन, तैल-मर्दन, स्नान के भेद-प्रभेद सभी के गुण और प्रक्रिया हैं। इसी प्रकार केशों की सार-सँभाल और केश-विन्यास, वेश-भूषा, आभूषण आदि का देशी और विदेशी वर्णन दिया गया है। सौन्दर्य के उपर्युक्त बाह्य प्रसाधनों के अतिरिक्त अन्तरङ्ग सौन्दर्य की भी बातें लिखी गई हैं। व्यक्तित्व का आकर्षण कैसे बढ़ाया जाय, बातचीत और आचरण से कैसे अपने को ऊँचा उठाया जाय—यह सब बातें इस पुस्तक में दी गई हैं। इस प्रकार यह पुस्तक महिलाओं और कन्याओं के लिए बहुत उपयोगी बन गई है। स्थान-स्थान पर जो सैकड़ों चित्र दिए गए हैं उनसे पुस्तक की उपयोगिता और सुन्दरता दोनों बढ़ गई हैं।

बालोपयोगी

(१) भगवान कृष्ण का सन्देश, (२) भगवान राम का सन्देश, (३) भगवान बुद्ध का सन्देश, (४) महात्मा गान्धी का सन्देश—चारों के लेखक–सेवकराम बाल सेवक, प्रकाशक–भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ ३२—३२, मूल्य प्रत्येक का ॥)

इन छोटी सुन्दर पुस्तकों में सम्बन्धित महात्माओं के उपदेशों का सङ्कलन किया गया है। नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं।

सोने का नीबू—लेखिका–श्रीमती किरण, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ६०, मूल्य १)

देश में प्रचलित लोक कहानियों की इस छोटी पुस्तक में अनेक आकर्षक कहानियों का संग्रह किया गया है। अनेकों चित्रों ने कहानियों को और सुन्दर बना दिया है। पुस्तक बाल, वृद्ध सबके लिए अच्छी है।

(पृष्ठ २४६ का शेषांश)

धाइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं"—तुलसीदास, रा० च० मा० अयोध्याकांड। "बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा"—तुलसीदास, रामचरित मानस, गीताप्रेस, बालकाण्ड, १|१

तत्समाभास—अज्ञान या भ्रम से कुछ शब्द शुद्ध संस्कृत के समझ लिये जाते हैं और प्रयुक्त होते रहते हैं, उन्हें तत्समाभास कहते हैं; जैसे जागृति, उपरोक्त, मनोकामना, बनोवास आदि। इनके तत्सम शब्द क्रमशः जागर्ति, उपर्युक्त, मनःकामना और बनवास हैं।

विदेशी—हिन्दी भारतीय आर्य-भाषा-परिवार की एक भाषा है। भारत से बाहर की अथवा अनार्य भाषा की शब्दावली में से लिया हुआ शब्द जब हिन्दी में प्रयुक्त होगा तो वह विदेशी कहलायगा; जैसे बटन, तोप, पिल्ला, टोसा आदि।

देशज—वे शब्द, जो भारतीय आदि वासियों की भाषाओं तथा बोलियों से वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में समय-समय पर आये हैं और जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं की जा सकती, देशज कहलाते हैं; जैसे गोड़, फीका, गैल, लोटना आदि।

हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज

'साहित्य-सन्देश' के अक्टूबर और नवम्बर के अङ्कों में हमने हिंन्दी के हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज पर कुछ लिखा था। उसे पढ़ कर हमारे पचासों प्रेमी पाठकों ने हमें पत्र भेजे हैं और इस काम म मदद करने का वचन दिया है। हम चाहते हैं कि खोज का यह काम और भी जोरों से चले। इसके लिए हमने एक फार्म छपवा लिया है जिसका नमूना गताङ्क की विचार-धारा के साथ छपा था। जो सज्जन इस काम में मदद देना चाहें वे इन फार्मों को नवम्बर के अङ्क से देख कर या फाड़ कर अथवा हमसे मँगा कर खोज का काम कर सकते हैं। हम उनका सभी प्रकार से स्वागत करेंगे।

विगत मास में जो परिचय हमें मिले हैं उनमें से दो अज्ञात ग्रन्थों का परिचय हम नीचे दे रहे हैं—

भगवद्दास रचित शृङ्गार-सिन्धु

प्रिय महेन्द्रजी,

आपने हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों के परिचय प्राप्त करने का अनुरोध किया है। मुझे करीब चालीस, पचास रचनायें ऐसी ज्ञात हुई हैं जो सर्वथा अज्ञात हैं जहाँ-जहाँ भी खोज की जाती हैं नित्य नये अज्ञात ग्रन्थों की जानकारी मिलती है। सचमुच इस विषय पर और भी अनुसन्धान होना चाहिए। इस समय एक अज्ञात ग्रन्थ का विवरण आपकी सेवामें भेज रहा हूँ जिसकी प्रति कच्छ से प्राप्त पाटण के हेमचन्द्र सूरि ज्ञान मन्दिर में है। मुनि पुण्य विजयजी की कृपा से मैंने उसे मँगाकर यह विवरण लिया है। ग्रन्थ का नाम है 'शृङ्गार सिन्धु'। इसके रचयिता भगवद्दास, कृष्णदास के वंशज थे। संवत् १७७० बैसाख सुदी ३ गुरुवार को इसकी रचना हुई। ग्रन्थ बारह कल्लोलों में विभक्त है। कवि कृष्ण भक्त है अतः उनके पूर्वज कृष्णदास अष्टछाप के कवि कृष्णदास ही हैं—इस विषय में बल्लभ सम्प्रदाय के साहित्यिक विद्वान श्री द्वारकादास पारीक और श्री कण्ठमणी शास्त्री आदि से विशेष जानकारी अपेक्षित है।

आदि कवित्त—

अंकुर है भाव प्रेम कंदलय प्रनय शाखा,
पल्लव है राग सोई नीके कैं जानियैं।
अनुराग कलिका सौं झुकि रह्यौ चहुँ ओर,
विसन कुसुम नित्त प्रफुलित मांनियैं॥
स्नेह फल नूतन अखंड है विराजमान,
कहै रिझवार। [भाव पूरन प्रमांनियैं।
लपटि रही है वृज सुंदरी लतानि जहाँ,
औसो रसरुप सुरतरु उर आनियैं ॥१॥

दोहा—

रसिक राइ नव रसमई, पूरन आनन्द कंद।
प्रतिछिन रस अनुभव करत, प्रगटत परमानन्द ॥२॥
नव रस मैं शृंगार रस, सरस रसनि सिरमौर।
विप्रलंभ संयोग मिलि, एकैं युगल किसोर ॥३॥
नव रस मैं शृंगार रस, सब रस को है भूप।
विप्रलंभ संयोग मिलि, आनन्द युगल सरूप ॥४॥
चरन चारु चित राखिकें, नमन करौं रस रीति।
सदा रहौ रति इन विषैं, छिन छिन वाढ़ौं प्रीति ॥५॥
जे ए रस के अनभवी, जानौं कृपा सहाय।
मन बंछित फल देत है, परसत उनके पाय ॥६॥
विप्रलंभ विनु वाहिनें, होत पुष्ट संभोग।
अतिरंग वाढ़त वस्त्र कौं, कियें कशा विनयोग ॥७॥
उदाहरन जे सरस अतिं, रस ग्रंथनि में सार।
उपयोगी या ग्रन्थ के, ते नीकैं उद्धार ॥८॥
पहिलैं कारन होयकैं, कारिज पाछैं होय।
रस के कारन भाव है, कहत रसिक सब कोय ॥९॥

अथ भाव लछनं—

होत और को और मन, मन विकार यहै जानि।
मन विकार अनुकूल रस, ताकों भाव बखानि ॥१०॥

अन्त—

इति द्वादश मास वर्णन

चैत्र चांदिनी कौ सुख, माधौ में फुहारे बाग।
जेठ जल केलि औ असाढ़ मेह भीजियैं।
सावन बिहार चन भादौं भर पूर घन,
क्वार षेलिजू चादेव पूजि सुष लीजियैं।

कातिकदै दीपमाल अगहन सेइ वाल।
पूष रति माह में बसंत केलि कीजियैं।
फागुन में खेलि फागु, संक तजि अंक भरौं।
कहै रिझवार प्यारे देखि सुख जीजियैं ॥३६॥

दोहा—

करे कवित्त भाषा अवे, जे सिंगार रस अंग।
करथों सिंधु सिंगार तिन, लहि रसिकन कौ संग ॥४०॥
पंडित-जन मंडित लख्यौ, जागे सुर इहिनाम।
रच्यौ सिंधु सिंगार लै, ता संमत सुखधाम ॥४१॥
करता रस भगवान के, भई जु कछु इहिंबार।
नवरस मधि बहु प्यार करि, बरनन कियौ सिंगार ॥४२॥
हों सबकौ रस रीति कै, पद रज हूं निरधार।
बरनत भूल परी कछू, सो छमियौ इहिं बार ॥४३॥
संवत् सत्रहसें सुभग, सत्तरि बरष बषानि।
माधव सित तृतीया गुरौ, धाता सोभन मानि ॥४४॥

इति श्री कृष्णदास वंश संभव भगवद्दास प्रकाशिते श्रृंगार सिंधौ द्वादश मास वर्णनं नाम द्वादश कल्लोल सं० १८५७ ना वर्षे श्रावण मासे शुक्ल पक्षेम्येकादशी तिथौ शुक्रवासरे लिपिकृता ॥

सकल भट्टारक पुरंदर भट्टारक श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री १ कनक कुशल सूरीश्वर तत्छिष्य सकल पंडित शिरौमणि पंडित श्री श्री श्री १०८ श्री श्री कल्याण कुशल जीतत्शिष्य पंडितोत्तम पंडित श्री १०८ श्री ज्ञान कुशल जीतत्छिष्य पं० कीर्ति कुशलेन लिखिता श्री शुपार्श्व जिन प्रसादात श्रीमान कुआ मध्ये इदं पुस्तकं स्वार्थे लिखिता लेखक पाठकयो शुभं भवतु।

—अगरचन्द नाहटा

बोधीदास कृत झूलना

श्रीमान् सम्पादक महोदय,

आपने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर बहुत जोर दिया है। मेरे नानाजी के पास एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ है जिसकी चर्चा मैंने किसी इतिहास ग्रन्थ में नहीं देखी। आपकी जानकारी के लिए मैं इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।

पुस्तक का नाम है "बोधीदास कृत झूलना"। यह पुस्तक मुक्तककाव्य के रूप में झूलना छन्दों में लिखी गई है। इसमें कुल ६८ छन्द और ३६ पृष्ठ हैं। पुस्तक के अक्षर बहुत सुन्दर हैं। हिन्दी के प्रत्येक अक्षरों से दो या एक छन्द प्रारम्भ हुए हैं। पढ़ने से लेखक निर्गुण पन्थ ज्ञानाश्रयी शाखा का अनुयायी ज्ञात होता है। पुस्तक के अन्त में यह लिखा है:—

इदं पुस्तकं पीरपैंती ग्राम निवासी श्री बैष्णव सन्त जन सेवी नदियाचान्द साहु अवलेखितम् कृतम्—१—शुभमस्तु।

पिरपैंती शुभ ठाम इक ॥ गङ्गा केर किनार ॥ तहँ सुरसरि परतापते भा पुस्तक तय्यार ॥ सौ बारह सन पंचानवे ॥ दिवस शुक्र शुभ जान ॥ श्रावण में सुदि चौथ को ॥ उल्था किया सुजान ॥

पुस्तक मिलने का इतिहास इस प्रकार है :—

मेरे स्वर्गीय नाना साहब भागलपुर में पीरपैंती ग्राम में रहते थे। वे एक साधु विचार के मनुष्य थे, वहीं से इसे लाये थे और इसका पाठ भी किया करते थे। उदाहरणार्थ दो छन्द नीचे दिये जा रहे हैं—

घाम औ सीत जहाँ सूर्य औ चन्द हैं,
तहाँ निर्वाण का असल डेरा।
बिना करताल मृदङ्ग जहाँ बाजता,
बिना मुख बासुरी बेनु टेरा।
बिना दृग ज्योति परकाश तहँ देखिये,
बिना जल चले तहँ ऊर्ध बेरा।
कह दास बोधी तहँ सन्त कोई मगन है,
बिना पगु जाय नित करे फेरा।
गगन के शिखर में जिकर लागा रहे,
सुने कोइ संत सु अमिय बानी।
शब्द के सिन्धु में गोत जिन मारिया,
तहाँ एक रतन अनमोल ठानी।
मोहे जो देखते शेष औ शारदा,
शंकर विरंचि औ शूल बानी।
कह दास बोधी सो वस्तु है संग में,
खोजते जाहि सुर मुनिन्ह ज्ञानी ॥२॥

—वासुदेवसिंह शास्त्री

अधिक कमीशन के लोभ में न पड़कर

अच्छी पुस्तकें खरीदनी चाहिए

कुछ जानने योग्य बातें

१—अच्छे और ख्याति प्राप्त लेखकों की पुस्तकें खरीदी जायँ।

२—पुस्तकें वही खरीदी जायँ जिनमें कीमत अधिक न छपी हो।

३—स्कूल, कालिजों में उन विषयों की जनरल पुस्तकें अधिक रक्खी जायँ जिनसे वहाँ के विद्यार्थी भी अपनी योग्यता बढ़ा सकें।

यह सभी बातें आपको हमारे भण्डार में मिलेंगी। हमारे यहाँ सभी नई से नई विषय की प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें आपको मिलेंगी। इस वर्ष अभी से कालेजों में पुस्तकों की खरीद प्रारम्भ हो गई है। हमारे यहाँ अब तक कितने ही आर्डर आ चुके हैं और सबको एक सप्ताह के अन्दर ही सब पुस्तकें भेज देते हैं।

आप हिन्दी पुस्तकों का वृहद् सूची-पत्र हमसे मुफ्त मँगायें

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हमारे यहाँ सोल एजेन्सियाँ हैं

हमारे यहाँ कितने ही बड़े-बड़े प्रकाशकों की सोल एजेन्सी है उनका माल हम उन्हीं के कमीशन पर विक्रेताओं को देते हैं अतः ऐसे विक्रेता जो हिन्दी की एक-एक पुस्तक मँगा कर अपना हिन्दी पुस्तकों का व्यापार बढ़ाना चाहें वे हमारा व्यापाराना सूची पत्र मुफ्त मँगा कर लाभ उठायें।

साहित्य-रत्न-भडार, आगरा।

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की १० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। विना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ।।) होगा।

६ साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश मे प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार रहता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन दिसम्बर १९५५

आलोचना

कालिदास जीवन और साहित्य—भगवतशरण उपाध्याय	१।)
हिन्दी में समस्या नाटक—गोविन्द प्रसाद श्रीवास्तव	२)
शब्द साधना—रामचन्द्र वर्मा	५)
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखायें—परशुराम चतुर्वेदी	३॥)
संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	२॥)
प्रसादजी की कला—गुलाबराय एम. ए.	४)
साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र	३॥)

कविता

प्रथम सुमन—सत्यवती शर्मा	१)

कहानी

पानी का पेड़—कृष्णचन्द्र	२॥)
आर-पार की माला—शिवप्रसादसिंह	२)

उपन्यास

जहाज का पंछी—इलाचन्द्र जोशी	७)
प्रबल पराक्षा—कुँवर वीरेन्द्रसिंह	३॥)
बुझते दीप—दयाशङ्कर मिश्र	३)
पाप की छाया—रमेशचन्द्र प्रेम	२॥)
चढ़ती धूप—अंचल	४)
शैतान की आँख—राहुल	२।)

नाटक

नारी—वैकुण्ठनाथ दुग्गल	१॥)

सांस्कृतिक

सांस्कृतिक भारत—भगवतशरण उपाध्याय	३।)

स्त्रियोपयोगी

नारी का रूप शृङ्गार—सावित्रीदेवी वर्मा	६)

हास्यरस

सचित्र व्यंग विनोद—अरुण बी. ए.	६॥)

कला

कला की परख—के० के० जसवानी	३)

धार्मिक

कुरान और धार्मिक मतभेद—सैयद जहूरुलहुसैन	२)

बालोपयोगी

गाय और बाघ—	॥)
बालकों का चलन—सन्तराम बी. ए.	२)
छत्तीसगढ़ की लोक कथायें—	१॥)
भूत भाग गया—	१)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

भाग १७] आगरा—जनवरी १९५६ [अङ्क ७

हमारी विचार-धारा

भारतीय भाषाओं में संस्कृत का पुट—

हम उन लोगों का जोरदार विरोध करेंगे जो कहते हैं कि संस्कृत राष्ट्रभाषा बने। यह प्रस्ताव सर्वथा अव्यावहारिक है, संस्कृत में वह चलतापन और लचीलापन नहीं जो उसे जन साधारण की भाषा बना सके। किन्तु हम उन लोगों के साथ भी नहीं हैं जो संस्कृत से दूर भागते हैं। संस्कृत भारतीय भाषाओं की मातामही है। भारतीय भाषा विधान में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसमें हमारी संस्कृति के बीज निहित हैं। उसके द्वारा प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से हमारा सम्बन्ध बना रह सकता है। हम अपनी भाषा में संस्कृत का पुट अवश्य चाहते हैं किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के नियम की सदा रक्षा करते हुए। संस्कृत के पुट रहने से हमारी भाषा बँगला, मराठी, गुजराती भाषाओं के अधिक निकट आ जाती है। इन भाषाओं में भी संस्कृत का पुट अधिक रहने के कारण ही हिन्दी में इन भाषाओं से इतने अधिक अनुवाद हो सके हैं। दक्षिण की वे भाषाएँ भी जिन में संस्कृत का पुट कम है उसकी मात्रा कुछ बढ़ालें तो उत्तर वालों को उनकी भाषाएँ सीखने में अधिक सुगमता होगी और उनकी भाषा से अधिकाधिक अनुवाद हो सकेंगे। हम चाहते हैं कि राष्ट्रभाषा में सभी भाषाओं का साहित्य रहे। भाषाओं की प्रकृति की रक्षा करते हुए उनके प्राचीर अभेद्य न रहें तो राष्ट्रीय एकता के लिए अच्छा है। राष्ट्रीय एकता के लिए भाषाओं का आदान-प्रदान सुगम बनाना अत्यन्त वांच्छनीय है। भाषा में संस्कृत का पुट देने में कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि वह जन साधारण के बोलने के योग्य नहीं रहेगी, ऐसा नहीं है। बङ्गाली में संस्कृत का पुट अधिक है किन्तु उसे पूर्व बङ्गाल के मुसलमान भी सुगमता से बोलते हैं। संस्कृत का पुट देने में भी हमें आवश्यक सावधानी और धैर्य से काम लेना चाहिए। भाषा का सुधार समय साध्य है। हमको अपनी भाषा के सुधार में यह ध्यान

रखना चाहिए कि वह किस प्रकार राष्ट्रीय एकता की अधिक से अधिक साधना कर सकती है।

साहित्यिक भाषा और लोक भाषा—

हमारे प्रधान मन्त्री ने अपने हाल ही के एक भाषण में यह सलाह दी है कि साहित्यिक भाषा लोक भाषा से दूर न रहे जिससे कि हमारे उच्च-विचारक और कवियों की कृतियाँ कवीन्द्र रवीन्द्र की कृतियों की भाँति लोकप्रिय और जन साधारण में प्रचलित हो जायँ। इस परामर्श के सम्बन्ध में हमारा उनसे कोई मतभेद नहीं। किन्तु साहित्यिक भाषा एक सीमा के भीतर ही लोक भाषा के निकट आयेगी। विषयों के अनुकूल भाषा का स्तर बदलेगा, और कुछ विषयों में उच्च विचार सम्बन्धी ग्रन्थों और जन साधारण के लिए लिखे हुए साहित्य में अवश्य अन्तर रहेगा। यह अन्तर अँगरेजी भाषा में भी है।

अन्तर को कम करने के लिए साहित्यिक भाषा जनता के मानसिक धरातल तक आये अवश्य किन्तु साथ ही यह प्रयत्न भी होना चाहिए कि जनता का भी मानसिक धरातल कुछ ऊँचा उठे। बङ्गाल में कवीन्द्र रवीन्द्र की भाषा जनभाषा के निकट अवश्य है किन्तु वहाँ की जन भाषा भी हिन्दी की अपेक्षा कुछ अधिक संस्कृत गर्भित है। जनभाषा, साहित्यिक भाषा से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकती। जैसे-जैसे हिन्दी का प्रचार बढ़ेगा वैसे-वैसे लोक-भाषा भी हिन्दी से प्रभावित होती जायगी। आज भी यह प्रभाव दिखाई देने लगा है।

वास्तव में यह आदान-प्रदान का मार्ग दोनों ओर का होना चाहिए तभी दोनों भाषाओं का अन्तर कम किया जा सकता है।

नेहरूजी और उर्दू—

नेहरूजी ने अपने हैदराबाद के भाषण में उर्दू के सम्बन्ध में कहा है कि वह कोई विदेशी भाषा नहीं है, वह संस्कृत से ही निकली है। यह बात बहुत अंश में ठीक है किन्तु उर्दू का जो वर्तमान रूप है वह संस्कृत से बहुत दूर होता जाता है। उसकी क्रियाएँ चाहे संस्कृत की पुत्री या प्रपौत्री हों किन्तु उसकी अधिकांश संज्ञायें विदेशी देन हैं। उसने अपनी काव्य-परम्पराओं में भी फारसी अरबी की परम्परायें अपनायी हैं और विदेशी संस्कृति से ही वह अधिक प्रभावित है। उसके कवि कुवेर और कर्ण की धन सम्पन्नता, दानशीलता का वर्णन न करके कारून और हातिम का यश-गान करते हैं। वे लोग कमल और हारशृङ्गार का वर्णन न कर नर्गिश और गुलेलाला का वर्णन करते हैं। जहाँ हिन्दी को उर्दू के निकट आने की सलाह दी जाती है वहाँ यदि उर्दू को भी हिन्दी के निकट आने की सलाह दी जाये तो वह विदेशी न रह कर देशी बन सकती है। वह यदि भारतीय संस्कृति और नागरी लिपि को अपनाले तो हिन्दी-उर्दू का अन्तर न रहे।

भारतीय संस्कृति को अपनाने के कारण जायसी, कुतबन आदि के ग्रन्थ आज भी हिन्दी में मान-स्थान पाते हैं। फिर भी भारतीय होने के कारण उर्दू के कवि और लेखक हमारे ही कवि और लेखक हैं, हमको उनसे कोई द्वेष नहीं।

उर्दू की लोकप्रियता—

उर्दू की लोक प्रियता के सम्बन्ध में पंडित जी की एक नई उक्ति यह है कि उर्दू के अखबारें अधिक हैं और वह बोली भी अधिक जाती है। हिन्दी और गुरुमुखी के वाद-विवाद के सम्बन्ध में जो लेख निकलते हैं वे उर्दू में ही हैं। जहाँ तक अखबारों की संख्या का प्रश्न है वहाँ तक पण्डित जी अपने दिल्ली और पञ्जाब के अनुभव की ही बातें करते हैं। कुल हिन्दी भाषी क्षेत्र के हिन्दी अखबारों की गणना की जाये तो उर्दू के अखबार नगण्य से रह जायंगे। फिर संख्या ही सब कुछ नहीं है। उनका स्तर भी देखना चाहिए। हिन्दी के समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का स्तर चाहे अँग्रेजी की समानता न कर सके किन्तु उर्दू से बहुत ऊँचा है। हिन्दी गुरुमुखी विवाद का प्रश्न, उसका उर्दू के लेखों में निकलना एक लज्जाजनक स्थिति है। उसका कारण यह है कि उर्दू को अँग्रेजी राज्य में

जितना पोषण मिला है उसका शतांश भी हिन्दी को नहीं मिला है। पोषण के अभाव में हिन्दी ने जो उन्नति की है वह आश्चर्यजनक ही नहीं वरन् सराहनीय है।

हिन्दी गुरुमुखी—

हिन्दी गुरुमुखी का प्रश्न इतना जटिल नहीं है जितना कि उसको साम्प्रदायिक और प्रान्तीय भावनाओं ने बना दिया है। गुरुमुखी का साहित्य सोलह आना भारतीय है। उसकी काव्य-परम्परायें भारतीय हैं। गुरु ग्रन्थ साहब में उस समय के प्रमुख हिन्दी के सन्त कवियों को यथेष्ट मान मिला है। उसमें भी उसी राम नाम की महिमा गाई गई है जिसकी कि तुलसी ने गाई है। गुरुमुखी और हिन्दी की वर्णमाला भी एक है। लिपि में ही थोड़ा अन्तर है, भाषा में विशेष अन्तर नहीं है। हिन्दी वाले गुरुमुखी लिपि को सहज में सीख सकते हैं और गुरुमुखी वाले नागरी लिपि को दोनों ही भाषाओं के पढ़ने वाले एक दूसरे की भाषा के ग्रन्थों से लाभ उठा सकते हैं और पूरे प्रेम और सौहार्द के साथ रह सकते हैं।

हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय मान—

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतवर्ष को उसकी अद्वेष और मैत्रीपूर्ण नीति के कारण यथेष्ट अन्तर्राष्ट्रीय मान मिला है किन्तु उसकी भाषा को अभी वह अन्तर्राष्ट्रीय मान नहीं मिला है जो उसके गौरव के अनुकूल उसका प्राप्य है। इसका मूल कारण यह है कि अभी भारत में भी उसको समुचित मान नहीं मिला है। किन्तु उसको उसका सतत् उचित गौरवपूर्ण मान दिलाने के प्रयत्न हो रहे हैं।

यद्यपि रूस, जेकोस्लाविया, इङ्गलैण्ड चीन आदि देशों में हिन्दी का प्रचार बढ़ता जाता है (मार्शल बुलगानिन ने भी यह आश्वासन दिया है कि वे यह प्रयत्न करेंगे कि उनके देश में अधिक से अधिक लोग हिन्दी सीखें, उसके लिये हम उनके अनुग्रहीत हैं।) तथापि इस बात का प्रयत्न कम हुआ है कि उसको संयुक्त-राष्ट्र संघ की मान्य भाषाओं में स्थान दिलाया जाये। भारत की जनसंख्या और उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व देखते हुये यह सर्वथा उचित है कि हिन्दी को यह गौरव मिले। भारतीय साहित्य का विदेशों में मान बढ़ाने के लिये वहाँ के लोगों को [illegible]-सरस अनुवादों द्वारा, अपने ग्रन्थों का रसास्वादन कराय। हमारे उच्च-विचारक भी हिन्दी को अपनायें। जिससे कि उनके विचारों का श्रेय और यश हिन्दी को मिले। और बाहर के लोग हिन्दी को पढ़ने और समझने का प्रयत्न करें।

पुस्तकों के अस्पताल—

मनुष्यों और जानवरों के तो अस्पताल सब जगह होते हैं किन्तु पुस्तकों के अस्पताल अभी तक नहीं सुने गये थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में पुस्तकों के अस्पताल का उल्लेख किया है। इन अस्पतालों में असफल पुस्तकों की परीक्षा कर उनका निदान होता है कि वे क्यों असफल रहीं। निदान के पश्चात् चिकित्सा भी होती है। उनके आकार-प्रकार में परिवर्तन कर और उनके आवश्यक संशोधनों के साथ बाजार में एक स्वस्थ रूप में लाया जाता है। जो पुस्तकें असाध्य समझी जाती हैं उनको नष्ट कर दिया जाता है। वैसे तो सभी आलोचना करने वाली पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें इस प्रकार के अस्पताल का ही रूपान्तर हैं फिर भी भारत में ऐसी संस्थाओं की आवश्यता है जो प्रकाशित या अप्रकाशित पुस्तकों पर अपनी विशेषज्ञतापूर्ण सम्मति दे सकें। विदेशों में लेखों के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी पत्रिकाएँ हैं जो उचित संशोधन कर छापने से पूर्व उन संशोधनों को लेखकों को दिखाकर उनकी सहमति प्राप्त कर लेते हैं। यदि भारत में भी कुछ ऐसी संस्थाएँ खुल जायँ जो पुस्तकों के प्रकाशन के पूर्व उनकी आलोचना कर उनकी त्रुटियाँ प्रकाशकों और लेखकों को बतला दें तो प्रकाशन संस्थाओं का बहुत सा अपव्यय बच जाया करे।

साहित्य सम्मेलन का दीक्षान्त भाषण—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दीक्षान्त भाषण देते हुए प्रान्त के राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी ने हिन्दी

ने शीघ्र ही उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने पर बल दिया। इस सम्बन्ध में उनके निम्नाङ्कित वाक्य उल्लेखनीय हैं। "देश भर में हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया जाय........यदि उच्च शिक्षा के लिए कई भाषाओं को समृद्ध करने का प्रयत्न किया गया तो उसमें देश की शक्ति का अपव्यय होगा और अन्त में हम किसी भी भाषा का विकास न कर पायेंगे—राष्ट्रभाषा का तो बिल्कुल नहीं।"

हम देश भाषाओं की समृद्धि के विरोधी नहीं, देश की प्रान्तीय भाषायें जितनी समृद्ध होंगी उतना ही देश का गौरव बढ़ेगा और राष्ट्रभाषा की समृद्धि में योग मिलेगा। किन्तु इस बात में हम श्री मुंशीजी से पूर्णतया सहमत हैं कि जहाँ तक उच्च स्तर के वैज्ञानिक ग्रन्थों का प्रश्न है, वहाँ एक ही केन्द्रीय भाषा को पूरी शक्ति के साथ पोषण किया जा सकता है और जब तक उच्चतर शिक्षा के लिए एक ही भाषा को सारा देश न अपनायेगा तब तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सहकारिता होना कठिन है। प्रान्तीय भाषायें अपना-अपना सरस साहित्य समृद्ध करें इसमें देश का हित ही है।

राज्य भाषा आयोग—

राज्य भाषा आयोग की एक बैठक भुवनेश्वर में नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुई थी। उसकी कार्यवाही पर प्रकाश डालते हुए उसके सभापति श्री वी० जी० खरे ने निम्नोल्लिखित तथ्य व्यक्त किये हैं। आयोग ने प्रचारित प्रश्नावली का उत्तर दिया है। इनमें से बहुत कम ने सरकारी भाषा के लिए हिन्दी के अतिरिक्त किसी और भाषा का सुझाव दिया है, प्रायः सभी ने हिन्दी को स्वीकार किया है। अन्तर इसी बात में है कि सरकारी भाषा के रूप में हिन्दी प्रयोग कितने चरणों में किया जाय। बहुत बड़ी संख्या ने यह विचार व्यक्त किया कि भारत की सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी हो। अंग्रेजी अङ्क बनाये रखने के बारे में भी लोगों ने अपने मत प्रकट किये हैं। रोमन लिपि के समर्थक पहले ही थोड़े थे, अब उन्होंने भी अपना विचार छोड़ दिया है।

योरोप की भाँति भारत में भी एक लिपि हो जायँ। सारे भारत में एक नागरी लिपि का प्रचार हो जाये तो भाषा-भेद की बहुत सी समस्याएँ हल हो जाये, कम से कम गुजराती, पञ्जाबी, बङ्गाली आदि भाषाओं का हिन्दी से अन्तर कम हो जाये और हिन्दी भाषी भी इन भाषाओं के प्रकाशित साहित्य से लाभ उठा सकें। रही हिन्दी के प्रयोग में चरणों की बात, वह जितने ही क्षिप्र गति से हो सके देश के लिए उतना ही अच्छा है। कुछ श्रेणियाँ और चरण रहेंगे अवश्य किन्तु वे हिन्दी को उचित स्थान दिलाने में बाधक न हों।

अंग्रेजी अङ्क बनाये रखना एक अशोभन बात होगी। वह 'आधा तीतर आधा बटेर' का सा बेमेल जोड़ होगा।

सच्ची शिक्षा या उद्देश्य—

बनस्थली विद्यापीठ में भाषण देते हुए हिन्दी की कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा—सची विद्या वह है जो मनुष्य में अहं की ग्रन्थि को खोलदे, और समष्टि के साथ उसे समरस बनादे। जैसे शरीर में विभिन्न खाद्य पदार्थों से एक रस बनता है इसी प्रकार सभी प्रकार की शिक्षा से मनुष्य में एक ही मानवता का रस उत्पन्न होता है।

हमारे लेखक और कवि यदि साहित्य सृजन में यह आदर्श अपने सामने रखें तो साहित्य अपने नाम को सार्थक कर सकेगा और अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हो सकेगा।

इञ्जीनियर्स जर्नल—

यह पत्रिका हिंदी में श्री ब्रजमोहनलाल एम.आई.ई. रिटायर्ड चीफ इञ्जीनियर के सम्पादकत्व में निकल रही है। इसकी अन्य प्रवृत्तियों के साथ इसमें शिल्प शास्त्र सम्बन्धी मानसार का हिन्दी अनुवाद भी धारावाहिक रूप से निकल रहा है। इस अनुवाद से बहुत से शिला शास्त्र सम्बन्धी शब्द हमको मिल जायँगे। यह पत्रिका हिन्दी में शिल्प शास्त्र सम्बन्धी वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध करने में सहायक होगी।

प्रकृति-वर्णन में रस

डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण' एम० ए०, पी-एच० डी०

यद्यपि प्राचीन भारतीय काव्य में प्रकृति का मानव-निरपेक्ष, स्वतन्त्र, प्रकृति-विषयक रति पर आधारित, संश्लिष्ट व रसात्मक वर्णन हुआ है जिसके आधार पर रस के शास्त्रीय ढाँचे में ही रह कर 'प्रकृति रस' की स्थापना सहज ही की जा सकती है, किन्तु न जाने क्यों हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रकृति को प्रायः शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण कर अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान ली है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अनुशीलन तथा यूरोप के प्रकृति-बहुल काव्य के प्रभाव से बीसवीं शताब्दी के हिन्दी काव्य में प्रकृति का इतना और ऐसा चित्रण हुआ कि प्रकृति-वर्णन में रस है या नहीं—इस पर सन्तुलित दृष्टि से पक्षपात रहित सम्यक विचार-विमर्श करने की पूरी-पूरी आवश्यकता है। यह बात निश्चित है कि प्राचीन साहित्य में मुख्य दृष्टि मानव-जीवन पर ही थी (होनी चाहिए, सृष्टि में सब कुछ मानव की ही सुख-समृद्धि व विकास के लिए है!) मानव के चारों ओर जो प्रकृति-जगत् है वह अविद्या या माया का ही प्रसार समझा जाता था। परम्परागत भारतीय योग में ईश्वर की पुरुष के रूप में कल्पना की गई और समस्त व्यक्त प्रसार की प्रकृति के रूप में। पुरुष प्रकृति में सर्वथा स्वतन्त्र है। इस विचार-धारा के अनुसार भी प्रकृति प्रायः उपेक्षित ही रही है। भक्तिकालीन हिन्दी-कविता—विशेषतः ज्ञानाश्रयी—पर इसका पर्याप्त प्रभाव है। ऋग्वेद के क्रान्तदर्शी स्वप्न द्रष्टा कवि प्रकृति का दर्शन करके ईश्वर की रहस्यमयी भावना में डूब कर, उल्लसित होकर, ऋचाओं में फूट पड़े थे किन्तु वह स्वर फिर आगे कभी न सुनाई पड़ा। लौकिक साहित्य में कविता पुनः व्यक्त जीवन व जगत् तक ही सीमित रह कर मानव व उसके कर्म-चक्र तक ही सिमट गई। कविता में रहस्य भावना का विकास नहीं हुआ। इतना ही नहीं जिज्ञासा व कौतूहल की स्वाभाविक व काव्योपयोगी भावना भी देखने को न मिली। फिर भी वाल्मीकि, कालिदास व भवभूति जैसे रस सिद्ध प्रकृति प्रेमी कवियों ने प्रकृति का भरपूर सौन्दर्य देखा व उसका चित्रण किया। इन्होंने प्रकृति का आलम्बन, उद्दीपन व अलङ्कार रूप में ग्रहण कर उसका प्रचुर प्रयोग किया। उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में कविता राजदरबारों की ही वस्तु रह गई। प्रकृति के मुक्त क्षेत्र में जाकर स्वयं उसका दर्शन करना प्रायः बन्द हो गया अतः उसके प्रति स्वतन्त्र अनुराग बढ़ने का अवसर कहाँ था। प्रकृति केवल उद्दीपन की ही वस्तु रह गई। आलङ्कारिकों ने वहाँ से उपमान मात्र ही ढूँढे। उपदेशक कवियों ने प्रकृति के दृश्य-चित्र के माध्यम से उपदेश मात्र दिये। बस! प्रकृति की दृष्टि से हिन्दी का वीर-गाथा-काल शून्य सा है। भक्ति-काल में सगुण भक्ति धारा की कृष्ण-भक्ति शाखा में नायक के प्रकृति से घनिष्ठतम् रूप में सम्बद्ध रहने के कारण तथा निर्गुण-भक्ति धारा की प्रेमाश्रयी शाखा में रहस्य-भावना व विश्वव्यापी अलौकिक प्रेम-व्यञ्जना के हेतु प्रकृति का प्रचुर प्रयोग हुआ किन्तु राम-भक्ति शाखा व कबीर की निर्गुण-धारा में प्रकृति का अत्यल्प प्रयोग हुआ। रीतिकाल में तो प्रकृति केवल उद्दीपन की वस्तु ही रही, भोगियों के सुख दुःख की व्यञ्जना में परिचारिका की तरह। उसका उपयोग अलङ्कार—विधान व उपदेशात्मकता के लिए भी हुआ। किन्तु आधुनिक काल में प्रकृति का बहुमुखी व सर्वाङ्गीण प्रयोग हुआ है और वह प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ी हैं जिनके स्वरूप पर विचार करके प्रकृति वर्णन में रस की सम्भावना पर बाध्य होकर विचार करना ही पड़ता है। काव्य में प्रकृति के जितने भी उपयोग

हैं उनके मूल में है प्रकृति के प्रति सहज, स्वाभाविक व मौलिक, प्रेम। कवि के इसी मौलिक प्रेम के कारण अन्य प्रकार के उपयोग सार्थक, सबल व प्राणवान् होते हैं। अतः इस पर ध्यान रख कर ही इस सम्बन्ध में यथार्थ विचार हो सकता है।

प्रकृति पर भारतीयों की दो प्रकार की दार्शनिक दृष्टि रही है—(१) प्रकृति माया है, पुरुष को बाँधने वाली है। उससे स्वतन्त्र रहता है। यह योग की दृष्टि है। वेदान्त में भी सृष्टि का सारा प्रसार माया है। शङ्कर का 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' प्रसिद्ध ही है। (२) प्रकृति ब्रह्म के नाते सत् है, चेतन है, और आनन्द पूर्ण है। यह दृष्टि वेदान्त की भी है और भक्ति की भी। प्रकृति में सर्वत्र ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद यही है। सब विचार-धाराओं का समन्वय करने वाले ग्रन्थ गीता में सब पदार्थ जगत् को एक ही ब्रह्म भावना में गुम्फित व अनुस्यूत बताया है—

यत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
यपि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
रसो हमप्सु कौन्तेय प्रमास्मि शशि सूर्य योः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

—गीता ७।७-८।

जहाँ-जहाँ भी सत्व और श्री का दर्शन होता है वहाँ-वहाँ उसी प्रभु का तेज प्रकाशित होता है—

यद्यदिव भूतिमत्सत्वं श्रीमदर्जित मेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोशंसंभवम्॥

—गीता १०|४१

उपनिषद् में सारे बाह्य प्रसार या प्रकृति को उसी ब्रह्म-भावना से ओत-प्रोत बताया गया है—

ओम् ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन, भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्गुनम्॥

—इशोपनिषद्

शङ्कराचार्य ने बाह्य जगत् को माया ठहराकर निस्सार घोषित किया किन्तु भक्तिमार्ग के आचार्यों ने व्यक्त जगत् में प्रभु की मङ्गल कला का दर्शन किया। इस दृष्टि से शङ्कर व वल्लभ की धारणा में कितना पार्थक्य है, इसे लक्षित कराते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास' (कृष्ण भक्ति शाखा) में लिखते हैं—

"रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सब का लक्ष्य शङ्कराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था, जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी। शङ्कर ने निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने, सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्म-कृति कहा। अपने को अंश-रूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव—तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत्, चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित्त का आविर्भाव रहता है; पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।"

तात्पर्य यह कि प्रकृति जड़ भी है और चेतन भी। यूरोप के दार्शनिकों में भी इसी प्रकार दो सम्प्रदाय रहे—(१) वैज्ञानिक–जो जड़ता का सिद्धान्त मानकर प्रकृति को आत्म-सत्ता-शून्य मानता है। (२) दार्शनिक—जो प्रकृति को आत्मा, ईश्वर व ब्रह्म-भावना से ओत-प्रोत मानता है। अरस्तू, दर्क, ब्रेन, एडिसन, होगार्थ, रेनाल्ड्स, स्पेन्सर, डार्विन, डेविड ह्यूम, रस्किन आदि की दृष्टि वस्तु-परक है और शुकरात, प्लेटो, प्लोरिनस, सेण्ट आगस्टाइन, बामगार्टन बिक्टर कूज्याँ, लिवेक, जाफ्राय, शेफ्ट सबरी, रीड, शिलर, लोज, हरबार्ट, शेलिङ्ग, कांट, हेगल, शोपेनहावर आदि की आत्म-परक।

प्रकृति को केवल उद्दीपन ही मानना—मानव के सुख में सुखी और दुःख में दुखी ही बनाना—मानव

का घोर स्वार्थ है। आत्मा की मूल एकता के नाते प्रकृति से हमारा घनिष्ठतम सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध प्रेममूलक है और कविता में कवि का प्रकृति-विषयक प्रेम उसी सम्बन्ध की गहराई के अनुपात में प्रकट होता है। आचार्यों ने प्रकृति वर्णन में रस न मान कर प्रकृति का केवल शृंगार के उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण कर मानो वस्तु-परक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही प्रश्रय दिया है। किन्तु कविता व विज्ञान की दृष्टि में मौलिक अन्तर है। इस अन्तर को बा० गुलाबराय जी ने बहुत स्पष्टता के साथ दर्शाया है—"वैज्ञानिक मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और साहित्यिक प्रकृति को भी मानव के समकक्ष बना लेता है × × × यह साहित्य के मानवी दृष्टिकोण को प्रमाणित करता है। साहित्य प्रकृति को मानवी धरातल पर ले जाता है, और विज्ञान मनुष्य को भी प्रकृति के समतल पर घसीट लाता है। इतना ही नहीं, वरन् यह बात साहित्य की साहित्यता और समन्वय बुद्धि की परिचायक भी है।" वास्तव में इस युग के कवि ने प्रकृति को मानवीयता प्रदान कर उसमें चेतनता का आरोप किया है और उसके साथ अभूतपूर्व तादात्म्य अथवा आत्मीयता स्थापित की है। आज के ही कवि ने नहीं, प्राचीन और मध्यकाल के कवि ने भी तो यह किया है—

तामायुष्मन्मम च वचनादात्म्यनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृश्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥

—मेघदूत (उत्तरमेघ, ३८)

मधुबन ! तुम कत रहत हरे !
विरह वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े कस न जरे !

—सूरदास

हे खग मृग, हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनैनी॥ —'मानस'

आप कहेंगे, चेतन का तो आरोप मात्र होता है, वस्तुतः प्रकृति जड़ ही है। उत्तर में निवेदन है कि प्रकृति को जड़ विज्ञान ही मानता है, काव्य नहीं। प्रकृति की ही क्या बात, विज्ञान तो फूल व मनुष्य दोनों को ही भौतिक परमाणुओं का संघात मात्र ही कहेगा।

स्वयं कालिदास तक कहते हैं—

धूम ज्योतिः सलिल मरुतां संनिपातः क्व मेघः
संदेशार्था क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।

—मेघदूत (पूर्वमेघ, ५)

पर काव्य का सारा व्यापार कल्पना व भाव के आधार पर चलता है। उसमें गणित या पदार्थ-विज्ञान की तरह वस्तु-सत्य उतना प्रधान नहीं होता जितना भाव-सत्य या कल्पना सत्य। कल्पना का सत्य कितना सत्य और मधुमय होता है, 'कामायनी' में देखिये—

आह कल्पना का यह सुन्दर जगत मधुर कितना होता।
सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता-सोता॥

इसी तथ्य को आत्मसात् कर आधुनिक कवियों ने प्रकृति में चेतना की पूर्ण प्रतिष्ठा कर दी है और हाड़-मांस के व्यक्ति की ही तरह उसके साथ कल्पना-जगत् में जीवित आत्मिक सम्पर्क स्थापित कर लिया है।

सिन्धु सेज पर धरा बधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किए सी, ऐंठी सी॥

—प्रसाद (कामायनी)

फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पङ्ख पसार,
सुमद पैरते शुचि ज्योत्सना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

—पंत (बादल)

मुसकाता सकेत-भरा नभ
अलि ! क्या प्रिय आने वाले हैं !

—महादेवी वर्मा (यामा)

प्रकृति मानव की सहचरी, मां, प्रिया और दासी है और वह मानव सुलभ आचरण करती है। इस दृष्टि से प्रकृति सचेतन है। पर अब भी शायद आप कहेंगे कि प्रकृति के साथ कवि भाव-जगत् में चाहे

आत्मीयता स्थापित कर ले पर मधुर भाव वाले सम्बन्ध में कवि व प्रकृति के बीच नायक-नायिका की सी तुल्यानुराग की सी प्रतिष्ठा कहाँ ? शृङ्गार रस में तो तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा से पूर्ण रस-निष्पत्ति होती है किन्तु यहाँ कहाँ ? पर, तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा में ही रस की निष्पत्ति क्यों मानी जाए ? क्या एकाङ्गी प्रेम में रस की कल्पना नहीं की जा सकती ? सूफियों का सारा प्रेम एकांगी होता है पर क्या उसमें पूर्णता, तीव्रता व मार्मिकता नहीं होती ? क्या प्रेम प्रत्युत्तर के अभाव में प्रेम ही नहीं ? सम्भवतः वह प्रेम प्रत्युत्तर वाले प्रेम से कहीं अधिक मार्मिक, उदात्त, व सात्विक होता है। जीवन में एकांगी प्रेम में भी उच्च धरातलों पर पूर्ण तीव्रता देखी जाती है, चाहे शास्त्रीय दृष्टि वाले आलोचक उसे 'रसाभास' की संज्ञा से ही क्यों न अभिहित करें। हमारा कहना यह कदापि नहीं कि तुल्यानुराग वाला प्रेम प्रेम नहीं। हमारा पक्ष तो केवल इतना ही है कि एकांगी प्रेम भी विशिष्ट दशाओं में प्रेम की सर्वोच्च भूमि पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है। इसलिए प्रकृति को जड़ या अचेतन कह कर, उसके सम्बन्ध को प्रत्युत्तर-रहित एकांगी व काल्पनिक प्रेम सम्बन्ध मात्र कह कर रस के प्रश्न को टाल नहीं सकते। 'प्रकृति-रस' मानने में शृङ्गार रस के 'रस राजत्व' पर कोई आँच नहीं आयगी। 'वीभत्स' से लेकर 'भक्ति तक का रस व स्वीकार कर लिया गया है फिर मानव हृदय की सहचरी' आनन्द की मूल-धारा प्रेम और सौन्दर्य की निधि प्रकृति के वर्णन में स्वतन्त्र रस की सत्ता क्यों न मानी जाए ! जिसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होता है, जो हमारे गूढ़तम रति भाव का स्वतन्त्र आलम्बन है, जो अनादि काल से हमारे हृदय की गंभीरतम जड़ों में रस सींचती आई है, हमारे जीवन का सारा स्नायु जाल जिसके रस से अभिसिंचित है उसके वर्णन में 'रस' की सत्ता न मानना हमारी रूढ़ि-प्रियता व संकीर्ण मनोवृत्ति के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ! वस्तुतः आज हमारे अनेक विकासशील व प्रगतिगामी समीक्षक 'प्रकृति-रस' की स्वीकृति के पक्ष में पूरे-पूरे झुके हुए जान पड़ रहे हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार ऊपर व्यक्त किए ही जा चुके हैं। बाबू गुलाबराय अपने 'काव्य में प्रकृति-चित्रण' नामक निबन्ध में लिखते हैं—"शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरव पूर्ण स्थान देती है किन्तु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है उस प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व-स्थापन कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की शास्त्रीय परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा।" पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अपने 'वाङ्मय विमर्श' में लिखते हैं—"शास्त्रों में रस प्रक्रिया का विवेचन करते हुए प्राकृतिक विभूतियाँ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में रख दी गई है। जिस प्रकार व्यक्ति या वस्तु के मेल में आने से नाना प्रकार के भावों का उद्रेक होता है उसी प्रकार स्वच्छन्द प्रकृति के संपर्क में आने से जो भाव जगता है उसका कोई पृथक नामकरण भी नहीं किया गया। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि प्रकृति वर्णन से किसी प्रकार का रस व्यंजित होने की संभावना ही नहीं। यदि भानु भट्ट 'माया रस' की कल्पना कर सकते हैं तो 'प्रकृति रस' की कल्पना प्रकृति-प्रेमियों के लिए आश्चर्य की बात नहीं। संसार में लोकेषणा, धनेषणा, पुत्रेषणा नामक वांछाओं की पूर्ति में प्रवृत्त रहने वाले माया रस के आश्रय होते हैं। प्रकृति गत भाव की सीमा इससे भी विस्तृत है। संसारी और वीतराग सभी प्रकृति की विभूति पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। प्रत्यक्षानुभूति और काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्ब तत्त्व से उत्पन्न मनःस्थिति रसमय ही होती है। यह इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता है।" श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अपने 'रस मंजरी' नामक ग्रन्थ में यद्यपि प्रकृति वर्णन में प्राचीन परम्परा के अनुसार भाव व रसाभास (पशु-पक्षियों के प्रेम-वर्णन आदि में) ही मानते हैं किन्तु देव-विषयक रति के प्रसङ्ग में उन्होंने जिस उदारता के साथ 'भक्ति रस' के स्वतन्त्र रस माने जाने का प्रतिपादन किया है, यदि उसी तर्क

शैली पर चल कर वे प्रकृति पर भी विचार करते तो अवश्य हमारे पक्ष का समर्थन व पोषण करते। इस सम्बन्ध में सेठजी यदि और विचार कर सकें तो श्रेष्ठ है।

अँग्रेज कवि वर्डसवर्थ ने प्रकृति की शक्ति, प्रभावशीलता व मापकता पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किए हैं जिनका उल्लेख प्रकृति रस के निरूपण के सम्बन्ध में अनुपयुक्त नहीं होगा। मानव व प्रकृति में आत्मिक साम्य की यह उक्ति देखिए—

To her fair works did Nature link the human soul that through me ran; and much it grieved my heart to think what man has made of man.

प्रकृति हमें कितने बहुमूल्य सन्देश देती है—

One impulse from a vesnal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all thesages can.

प्रकृति का दर्शन करते-करते हमें ऐसी बहुमूल्य चित्त-वृत्ति व अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है—

That serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,
Until, the breath of this Corporal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body and become a living soul;
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy,
We see into the life of things.

हमारे कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त को प्रकृति मानव की तुलना में कितनी स्पृहणीय जान पड़ती है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन—
भूल अभी से इस जग को?

अभिप्राय यह कि प्रकृति केवल बाहरी जड़ सत्ता ही नहीं है, वह सचेतन है, और हमारी आत्मा के साथ इसका घनिष्ठतम सम्बन्ध है। वह एक प्रत्यक्ष, प्राणवान सत्ता है। ऐसी प्रकृति के चित्रण या वर्णन में स्वतन्त्र रस की सत्ता न मानना कदापि न्यायोचित नहीं। मानव आत्मा से प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध इस अनादि सहचरी के प्रति यह उपेक्षा-भाव त्याग कर अवश्य एक स्वतन्त्र 'प्रकृति रस' को मान्यता मिलनी चाहिए। शायद परम्परा-प्रेमी पूछना चाहेंगे कि अच्छा तो रस के शास्त्रीय ढाँचे के भीतर प्रकृति-रस के अवयव क्या-क्या होंगे, और किस प्रकार होंगे, तो स्थूल रूप से वह इस प्रकार रखा जा सकता है—

आश्रय—कवि या भाव-व्यंजना करने वाला पात्र

आलम्बन—कोई भी प्राकृतिक दृश्य।

उद्दीपन—दृश्य को देखने पर उसके प्रति जगी भावना को उद्दीप्त करने वाले प्रकृति के क्षण-क्षण बदलने वाले हल्के गहरे रङ्ग, रूप, ध्वनियाँ, आकृतियाँ, पवन-प्रेरित स्पन्दन, कम्पन आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, कम्प, अश्रु, स्तम्भ, भावोद्गार व आत्मिक उल्लास सूचक हर्ष मुद्राएँ आदि।

सञ्चारी भाव—स्मृति हर्ष, औत्सुक्य आदि।

इस प्रकार प्रकृति वर्णन में रसानुभूति की पू सम्भावना है। कर्म-चक्र में फँसे व्यावहारिक प्राणियों खीज कर ही वर्डसवर्थ ने यह मर्मोद्गार व्यक्त किया—

The world is too much with us : la and so
Getting and spending, we lay was our powe
Little we see in Nature that is ou
We have given our hearts away, sordid boo

क्या इसके बाद भी हम प्रकृति की स्वतन्त्र न मानकर अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटते रहेंगे?

काव्य-भाषा का स्वरूप

श्री चन्द्रबलीसिंह एम० ए०, साहित्य-रत्न

किसी भी कवि का साफल्य उसकी प्रेषणीयता (Comunicability) की शक्ति पर ही आश्रित करता है । जो कवि जितने ही मार्मिक और सहज ढङ्ग से अपनी अनुभूति को पाठकों तक पहुँचा पाता है, वह उतना ही सफल कवि कहा जा सकता है । इसी अनुभूति और अभिव्यक्ति के आधार पर काव्य के दो पक्षों—भावपक्ष और कलापक्ष—का निरूपण किया जाता है । रस को काव्य मानने वाले आचार्य भावपक्ष को ही प्रधानता देते हैं । अलङ्कार और रीति को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य अभिव्यक्ति को महत्त्व प्रदान करते हैं । ध्वनि और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय वाले भीतरी पक्ष को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उनका झुकाव अभिव्यक्ति की ओर ही है । हमारे यहाँ भावपक्ष पर कुछ अधिक बल दिया गया है । पाश्चात्य देशों में कल्पनातत्त्व को विशेष आश्रय मिला है । इसके मूल में शायद यही कारण है कि वहाँ के समीक्षा-शास्त्र के प्राथमिक आचार्यों ने अनुकृति पर विशेष बल दिया है । यद्यपि भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार या शैली से है किन्तु वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते । इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करके एवरक्राम्बी ने अपनी पुस्तक 'दि आइडिया आव ग्रेट पोइट्री' में लिखा है कि—'Poetry does not consist of separable qualities, if it exists at all, it exists as an indivisible whole.' फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये काव्य के दो पक्ष किये ही जाते हैं।

काव्य-भाषा से सम्बन्धित निम्न प्रश्न विचारणीय हो सकते हैं—

(१) क्या काव्य-भाषा और गद्य-भाषा में कोई अन्तर नहीं है ?

(२) काव्य की भाषा आदर्शोन्मुख होनी चाहिए या यथार्थोन्मुख ।

(३) काव्य-भाषा में अलङ्कारों और छन्दों की योजना ।

अंग्रेजी-साहित्य के अठारहवीं शताब्दी की कविता में एक विशेष प्रकार की काव्य-भाषा का प्रयोग किया जाता था जो भाषा गद्य-भाषा से बिल्कुल ही भिन्न समझी जाती थी । इसी बन्धन से ऊब कर रोमांटिक कवि वर्डसवर्थ ने लिखा कि काव्य-भाषा और गद्यभाषा में बिल्कुल ही अन्तर नहीं है । किन्तु एक बात यहाँ पर विचारणीय है कि वर्डसवर्थ ने जिस गद्यभाषा को दृष्टि में रखकर अपना मत, स्थिर किया था, वह साधारण गद्य की भाषा से भिन्न है । उसकी भाषा में काव्य-सुलभ भावों के उद्गीरण की शक्ति है । अतः उसके गद्य को गद्य-काव्य ही कहना उचित होगा । वर्डसवर्थ के समकालीन कालरिज ने दोनों भाषाओं के पार्थक्य का निरूपण अपने 'टेबल टाक' में किया है । शब्द को उनके सुन्दरतम ढङ्ग से प्रस्तुत करने की क्रिया को गद्य कहा जाता है और सुन्दरतम ढङ्ग से प्रस्तुत करने की विधि काव्य की है । (Prose-words in their best order, poetry—the best words in the best order.)

हिन्दी में इन दोनों के पार्थक्य की प्रवृत्ति बहुत दिनों से चली आ रही है । जहाँ कहीं भी काव्य-भाषा सम्बन्धित प्रश्न उठता है वहाँ पर 'शुष्कः काष्ठ तिष्ठति अग्रे' और 'निरस तरुवर विलसित पुरतः' वाला संस्कृत का उद्धरण—जो अब लोकोक्ति का रूप धारण कर गया है—प्रस्तुत किया जाता है । हिन्दी के आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने भी 'अर्थ-ग्रहण' और 'बिम्बग्रहण' की चर्चा अपने 'कवि और कविता' वाले निबन्ध में चलाई है । 'बिम्बग्रहण' का तात्पर्य किसी

रचना के साधारण अर्थ से होता है किन्तु काव्य का लक्ष्य होता है प्रतिपाद्य विषय को चित्ररूप में उपस्थित करना। शुक्लजी के 'बिम्बग्रहण' वाली क्रिया में अंग्रेजी के कल्पना वाले सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन है क्योंकि अंग्रेजी के 'इमेज' का अर्थ ही होता है 'बिम्ब'। इस प्रकार काव्य की भाषा और गद्य-भाषा का पार्थक्य स्वाभाविक है क्योंकि लक्ष्य एक होते हुए भी प्रस्तुत करने का ढङ्ग भिन्न है।

द्वितीय प्रश्न का मूल उत्स भी पाश्चात्य साहित्य ही कहा जा सकता है। मध्यकाल में सर्वप्रथम इटली के प्रमुख कवि दाँते ने काव्य-भाषा को यथार्थ भूमि पर देखने का प्रयत्न किया। दाँते के पूर्व काव्य की भाषा और आम जनता की बोलचाल की भाषा में बिल्कुल ही अन्तर होता था। दाँते ने अपने ग्रन्थ 'डी वल्गैरी इलोक्वियो' में Illuctrous Vulgar tongue का निर्देश किया। जिसके फलस्वरूप काव्य की भाषा में बोलचाल की भाषा का प्रवेश हुआ। आगे चलकर पुनः अठारहवीं शताब्दी में निअटेक्लासीकल काल में क्लासिकल पीरिएड की प्रवृत्ति को अपनाने के कारण काव्य की भाषा अवरुद्ध होगई और एक विशेष प्रकार की शब्दावली का ही प्रयोग होने लगा। इसके प्रतिकूल वर्डसवर्थ ने आवाज उठाई और अठारहवीं शती की काव्य-भाषा को घृणित काव्य-भाषा के नाम से अभिहित किया। वर्डसवर्थ ने काव्य-भाषा के यथार्थवादी पल्ले को पकड़ा और इसके लिए तर्क उपस्थित किया कि बोलचाल की भाषा में माधुर्य अधिक होता है क्योंकि जनता में उसका बार-बार अभ्यास होने के कारण उसमें एक नवीन सौन्दर्य आ जाता है। ऐसी भाषा को उसने 'डिक्शन आव पोइट्री' का नाम दिया है।

हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल की प्रथम बोलचाल की भाषा कों काव्य भाषा का स्थान न मिल पाया था। इस काल में आकर प्रथम बार भक्तों और सन्तों की वाणी में बोलचाल की भाषा का रूप विकसित हुआ। अनेक कारणों में से यह भी एक कारण हो सकता है—जिसके कारण भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। रीति कालीन कविता में भाषा का स्वरूप एक विशेष प्रकार का हो गया। जिस प्रकार भाव के क्षेत्र में विविधता का पूर्णतः अभाव है उसी प्रकार भाषा का पथ भी एक निर्दिष्ट पथ ही है। रीतिकाल के किसी प्रमुख कवि की रचना को पढ़कर उस काल में व्यक्त भावों और भाषा के स्वरूप का परिचय भली भाँति मिल जाता है। आधुनिक युग के साथ काव्य के उभय पक्ष—भाव पक्ष और कलापक्ष—में सशक्त आन्दोलन चला। कवियों का ध्यान बाह्य पक्ष की ओर से हट कर अंतर की ओर उन्मुख हुआ। भावों के अनुसार ही भाषा के स्वरूप का निर्धारण होता है, अतः जहाँ मैथिलीशरण गुप्त ने सरल और सुबोध भाषा का प्रयोग किया वहाँ प्रसाद जी ने संस्कृत गर्भित भाषा को ही प्रश्रय दिया। अतएव यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया जाना चाहिए कि लोकभाषा को साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिले क्योंकि साहित्य और जीवन में पार्थक्य नहीं किया जा सकता। किन्तु जिस प्रकार दांते ने लोक भाषा को Illustrious Valgar Tongue का रूप दिया और इसमें गँवारू भाषा को स्थान न दिया उसी प्रकार गँवारू भाषा को काव्य-भाषा के आसन पर न लाना ही श्रेयस्कर होगा।

काव्य में अलङ्कारों का विधान अलग से नहीं किया जा सकता। यदि साधारण और बोधगम्य शब्दों से ही भाव का स्पष्टीकरण हो जाता और उसकी तीव्रता का अनुभव पाठक कर लेते हैं तो अलङ्कारों के विधान की कोई आवश्यकता नहीं थी। अलङ्कारों को काव्य में अङ्गी रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि ऐसा विधान नहीं हो पाता है तो कवि का ध्यान साध्य से हटकर साधना पर ही आ जाता है। कालिदास की उपमाओं में बाह्य से आरोपित कुछ भी नहीं मिलता। भक्त-कवियों ने भी अलङ्कारों का विधान भावों की तीव्रता (Intensity) को बढ़ाने के लिए ही किया है। रीतिकाल के कवियों

का ध्यान काव्य की आत्मा से हटकर उसके शरीर पक्ष पर ही आ डटा। फलस्वरूप साधारण भाव को भी व्यक्त करने में अनेक अलङ्कारों की योजना करना आवश्यक हो गया। इस काल में भी घनानन्द जैसे कुछ एक कवि हैं जिनकी रचनाओं में भाव के साथ खिलवाड़ नहीं किया है। आधुनिक युग में तो ऐसा माना जाता है कि कविता कामिनी की शोभा विना अलङ्कारों के भी नहीं घट सकती है।

कविता में छन्द-विधान की योजना का मूल प्रयोजन है उसके गेय तत्त्व को उभारना। क्योंकि कविता का नाम लेते ही लोगों के हृदय में एक भावना उठ पड़ती है कि कुछ मधुर और लयपूर्ण चीज सामने आयेगी। कविता के गेय पक्ष को ध्यानावस्थित करके ही ई० ए० पो ने कविता, गद्य और गेय पदों के अन्तर का निर्देश किया है—

'Music, when combined with a pleasurable idea, is poetry, music, without the idea, is simply music, the idea without music, is prose, from the very definition.'

अर्थात्—गीत में कोई मधुर भाव सम्मिलित हो जाय तो वह कविता, विना उसके वह केवल गीत और भाव ही भाव हो—गीत न हो तो वह गद्य है।

डॉक्टर जानसन ने केवल छन्द बद्ध रचना को ही कविता मान लिया है। किन्तु वस्तुतः केवल छन्द-बद्ध रचना ही काव्य नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो गाँवों में बहुत सी ऐसी रचनायें हुआ करती हैं, उनको भी काव्य के ही अन्तर्गत माना जाता। इसके प्रतिकूल आधुनिक काल में विना छन्द की रचनाएँ हो रही हैं और उनको उच्चकोटि के काव्य में स्थान दिया जाता है। इसका मुख्य कारण है कि ऐसी रचनाएँ 'पैशन' भावावेश से आपूरित हैं जिसका महत्त्व काव्य में बहुत है। अँग्रेजी के विद्वान ने भी लिखा है कि—

Passion is the characteristical mark of poetry and therefore it must be everywhere; for without passion there can be no poetry....'

अर्थात्—कविता का मुख्य चिह्न है भावोद्रेक और इसलिए कविता में भाव सर्वत्र मिलना चाहिए। यदि भावोद्रेक नहीं है तो वह कविता ही नहीं है।

इसी तत्त्व की ओर पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने भी 'कविता क्या है' में संकेत किया है। इस प्रकार विना छन्द की योजना के उत्कृष्ट काव्य की रचना सम्भव है किन्तु उसके गेय तत्त्व की दृष्टि से छन्द का होना आवश्यक सा प्रतीत हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष-स्वरूप यही कहा जा सकता है कि काव्य-भाषा कविता का एक बाह्य अङ्ग है फिर भी इसके पृथक्करण की क्रिया उतनी ही दुर्लभ है जितनी किसी गुलाब की पङ्खड़ी से उसके रङ्ग को अलग करने की। कविता में लोक भाषा का व्यवहार ही होगा किन्तु इसमें भी चयन की ही पद्धति का अनुकरण होना चाहिए। काव्य में अलङ्कारों से एक ऐसी प्रतिध्वनि होनी चाहिए कि कविता का भाव (प्राण) झनझना उठे ऐसी ही काव्य-भाषा का पल्ला पकड़ना हमारे विचार से किसी भी स्वस्थ साहित्य के लिए श्रेयस्कर होगा।

सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमरगीत

श्री अनिरुद्ध झा एम० ए

भ्रमर-गीत कृष्ण भक्त कवियों के लिए एक अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। यह परम्परा अभी तक समाप्त नहीं हो सकी है। आज से कुछ वर्ष पूर्व 'रत्नाकरजी' का 'उद्धवशतक', श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' एवं महाकवि हरिऔध प्रणीत 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य में इस विषय की चर्चा पूर्णरूपेण पायी जाती है। यहाँ पर हम आधुनिक कृतियों की चर्चा मात्र करके अपने प्रतिपाद्य विषय अष्टछाप के कवि-रत्नद्वय के भ्रमरगीतों की समीक्षात्मक विवेचना करेंगे। साथ ही भ्रमरगीत की परम्परा पर विचार करते हुए दूत-काव्यों पर भी विहङ्गम दृष्टि डालेंगे। संस्कृत-साहित्य में दूत-काव्य का अस्तित्व वेद में भी पाया जाता है और तदुपरान्त वाल्मीकि-रामायण में राम हनूमान को अपना दूत बना कर लंका भेजते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि कवि कालिदास कृत 'मेघदूत' सम्भवतः पूर्ववर्ती रचना की प्रेरणा पर ही आधारित है। प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लिनाथ जी ने लिखा है "सीतापति रामस्य हनुमत्संदेशं मनसि निधाय मेघ संदेशं कविः कृत वानित्याहुः।" इसी प्रकार सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने १५ दूतकाव्यों के नाम गिनाये हैं और उन्होंने उदाहरणों के द्वारा सिद्ध किया है कि 'महाभारत' में भी दूत की परम्परा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक यह परम्परा परिपोषित होती रही है और इस परम्परा को हिन्दी काव्य में सर्व-प्रथम प्रतिष्ठित करने का श्रेय महाकवि सूरदासजी को ही है। सूर ने तीन भ्रमरगीतों की रचना की किन्तु प्रथम और द्वितीय में वे सफल न हो सके। तृतीय रचना उनके मनोनुकूल हुई और इसी से आज हम लोग परिचित हैं। नन्ददास ने एक ही भ्रमरगीत की रचना की जिसका नाम उन्होंने 'भँवरगीत' रखा। अब तक जितने भ्रमरगीत रचे गये हैं उन सबों की कथा प्रायः एक ही है और उसका आधार है भागवत; उद्देश्य में भी कोई अन्तर नहीं—निर्गुण पर सगुण की विजय की स्थापना, कहीं तर्कपूर्ण, कहीं वाग्वैदग्ध्यपूर्ण और कहीं पर हृदय पक्ष का पूर्ण सामञ्जस्य दीख पड़ता है। यद्यपि भागवत में ज्ञानपक्ष की ही प्रतिष्ठा की गई है तथापि प्रेममार्ग को सर्वोत्कृष्ट बतलाया गया है। भागवत में भ्रमरगीत कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता—इसके ४७ वें अध्याय में केवल दस श्लोकों के अन्तर्गत इसे कथाबद्ध किया गया है।

सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमर-गीतों की तुलनात्मक समीक्षा यदि कम से कम शब्दों में करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि एक में भाव पक्ष की प्रधानता है तो दूसरे में कला पक्ष की। सूर में भावराशि अपनी सम्पूर्ण रंगीनियों के साथ प्रशान्त महासागर के समान गम्भीर है तो नन्ददास में कलापक्ष हिम-धौत-गिरि के उच्चतम शिखर पर आसीन है। एक में बिछुड़ी हुई आत्मा अपने प्रियतम से मिलने के लिए आकुल है जो हमारे हृदय-प्रदेश को सुदूर तक चीर डालता है तो दूसरे की फिसलती एवं चहकती भाषा तथा गजब का शब्द शोधन हमारे मस्तिष्क में ऐन्द्रजालिक दृश्य उपस्थित कर देता है। किन्तु, हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता वरन् तर्क के उलझनों में हमें डुबो देता है।

नन्ददास उच्च कोटि के कलाकार थे, इसमें सन्देह नहीं किन्तु उन्होंने भ्रमर गीत की रचना में विवेकपूर्ण दृष्टि नहीं अपनायी। किसी श्रेष्ठ कलाकार के सम्बन्ध में यह एक विचित्र एवं बेतुकी सी बात है, किन्तु कठोर सत्य को छिपाना भी तो एक दोष ही है। नन्ददास ने 'भँवर गीत' की रचना करते समय एक छोटी सी प्रस्तावना की भी आवश्यकता नहीं समझी और उद्धव जी को एकाएक 'आकाश मार्ग' से गोपियों के

समक्ष ला पटका और कृष्ण का कुशल-समाचार कहना तो दूर रहा उनका नाम तक नहीं लिया और लगे उपदेश झाड़ने—

ऊधव को उपदेसु सुनौ ब्रज नागरी।
रूप-सील-लावण्य सबै गुन आगरी॥

यह भी कुछ इनकी मौलिक उद्भावना नहीं बरन् सूरदास के प्रथम भ्रमर गीत का आरम्भ देखने पर इसका स्पष्टीकरण स्वयं हो जाता है—

ऊधौ के उपदेश सुनौ किन कान दै
सुन्दर श्याम सुजान पठाओ मान दै।

प्रथम पंक्ति तो ज्यों की त्यों नन्ददास ने ले ली, केवल किन कान दै' के स्थान पर 'ब्रज नागरी' शब्द को स्थानापन्न कर दिया। दूसरी पंक्ति का 'रुप-सील-लावण्य' भी 'सुन्दर श्याम सुजान' का उलथा मात्र प्रतीत होता है।

सूरदास केवल कवि ही नहीं बरन् मनीषी भी थे और इसीलिए उन्होंने देखा कि 'ऊधौ' को एकाएक ब्रजभूमि में गोपियों के समक्ष ला रखना तर्क सङ्गत नहीं प्रतीत होता, फलतः उन्होंने उस 'भ्रमर गीत' (प्रथम) को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया लेकिन नन्ददास ने उसे ही अपना आदर्श बनाया। सूर ने अपने अन्तिम 'भ्रमर गीत' में विस्तृत प्रस्तावना दी है। भगवान श्री कृष्ण अपने अलौकिक प्रेम का अमृत पिला गोपियों को छोड़कर मथुरा चले गये हैं, विरहोन्माद में चेतना को समाधिस्थ कर गोपियाँ यत्र-तत्र मारी फिरती हैं। कहीं कुछ सुहाता नहीं, जो कुछ भी सामने आता है वह नटनागर श्याम की स्मृति लिए। झल्ला उठता है गोपियों का विरह विह्वल हृदय और वे मधुवन को भी धिक्कारने लगती हैं—

मधुवन कस तुम रहत हरे!
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

वास्तव में गोपियों का अखण्ड संयोग, अखण्ड वियोग में परिणत हो गया था। उन लोगों ने कृष्ण पर अपने जीवन की बाजी लगा दी थी लेकिन आज वह दाँव हारे बैठी हैं। सावन के दिन आये, झूला झूलने की स्मृति जग जाती है लेकिन "परम वियोगिन गोविन्द विनु दिन कैसे वितवै सावन की"।

पावस के उद्दीपन मन को कुरेद रहे हैं पर आलम्बन बनवारी कहाँ? ऐसी स्थिति में गोपियों के कुन्तल राशि बिखरे हैं। मुख म्लान हैं 'ज्यों नलिनी हिमकर के मारे' की भाँति! वे विस्मृत करने की भी चेष्टा करती हैं लेकिन भूल भी नहीं पातीं क्योंकि— "लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।" कहीं आकाश में मेघमाला को देख कर गोपियाँ 'स्याम की अनुहारि' कहने लगती हैं और कभी-कभी तो 'लखियत कालिन्दी अति कारी' का भी भान हो जाता है। पत्रों एवं सन्देशों का ताँता बँध गया और यहाँ तक कि 'सन्देसनि मधुवन कूप भरे' और तब कहीं कृष्ण गोपियों को समझाने-बुझाने के लिए उद्धवजी को ब्रजभूमि में भेजते हैं। उद्धवजी भी ज्ञान-वैराग्य एवं योग की गठरी सिर पर लादे गोपियों के बीच पहुँचते हैं और गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे कर कृष्ण-विमुख करना चाहते हैं। उद्धव को ब्रज में भेजने का एक दूसरा रहस्य भी है और वह यह कि उनका ज्ञान-दम्भ तोड़ा जाय। उद्धव ब्रज में आते हैं और सर्व प्रथम 'नन्द बाबा' के यहाँ जा कर नन्द-यशोदा को कृष्ण का सन्देश देते हैं। यह सूचना समस्त ब्रज में बिजली की भाँति फैल जाती है और अपने-अपने कार्यों को छोड़ कर सभी गोपियाँ 'नन्द बाबा' के दरवाजे पर आ जाती हैं और कुशल वार्ता के उपरान्त वार्तालाप आरम्भ हो जाता है। इस भाँति सम्पूर्ण चित्रण स्वाभाविक एवं तर्कसङ्गत है। कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं, सर्वत्र वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि सम्पूर्ण घटना क्रम-क्रम से चित्र के समान आँख के सामने आती जाती है।

इस भूमिका के पश्चात् हम सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमर-गीतों के कलापक्ष एवं भावपक्ष पर अलग-अलग विचार प्रस्तुत करेंगे और देखेंगे कि दोनों की रचनाओं में कहाँ साम्य है और कहाँ वैषम्य? आरम्भ ही में कहा जा चुका है कि सूरदास की गोपियाँ भावुक

हैं, विह्वल हैं और उनकी वाणी हृदय प्रदेश के अन्तस्तल में एक चिरन्तन वेदना उत्पन्न कर देती है, किन्तु नन्ददास की गोपियाँ तार्किक हैं और वे तर्क के बल पर ही सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ एवं उपासना योग्य बताती हैं। इस तर्क के तूफ़ान में नन्ददास का हृदय-पक्ष उड़-सा गया है और सर्वत्र एक दार्शनिक उलझन ही दीख पड़ती है।

कलापक्ष—सर्वप्रथम हम कलापक्ष को ही लें। हम कह आये हैं कि जहाँ तक कलापक्ष का प्रश्न है उनमें नन्ददास बाजी मार ले गये हैं। सूर में कलापक्ष बिलकुल गौण हो गया है और भावपक्ष प्रखर। रचना-शैली को ही लें—सूर की रचना क्रम रहित तथा अगठित है; आरम्भ के ही एक पद से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है—

चलो-चलो धौरी सुनिये सब बातें
कहहु कहहु ऊधो हरि की कुशलातें
कहहु-कहहु ऊधो तुम क्यों ब्रज आये
तब हँसि वचन कहै हम कृष्ण पठाये।
गोप सखा चिति जिनि राखो अविगत है अविनासी
मोहन काया पीर न पाया सब घट सदा निवासी।

× × ×

ऊधो तुम कमल नयन सौं कहियौ जाई
एक बार कैसेहू ब्रज देहु दिखाई।

—सूर (भ्रमर गीत)

ध्यान देने पर स्पष्टरूपेण लक्षित होता है कि सम्पूर्ण भ्रमर गीत का कथानक इसी एक पद में समाहित है। इससे तो स्पष्ट है कि वे दूसरे या तीसरे पद में कुछ लिखें तो वह पुनरुक्ति मात्र होगी।

यह उनकी रचना-शैली की क्रमहीनता का परिचायक है। रघुराजसिंह कृत भ्रमर गीत में भी आरम्भ का पद कुछ इसी प्रकार का है—

रे-रे मधुकर ब्रज में तू कैसे चलि आयो।

× × ×

मधुप जाहु, मधुप मधुपुरी लौट तुम
इत नहिं काम तिहारो। आदि आदि!

परन्तु नन्ददास क्रम-क्रम से सतर्कता पूर्वक आगे बढ़ते हैं। गोपियों के चरित्र की प्रशंसा वे सर्वप्रथम करते हैं जिससे गोपियाँ उद्धवजी की बातें ध्यान-पूर्वक सुनें। फिर अपने आने का कारण बतलाते हैं। "कहन स्याम सन्देस एक मैं तुम पै आयो"। श्याम का नाम सुनते ही गोपियाँ प्रेमावेश में अपने आपको भूल जाती हैं, फिर चित्र स्थिर होने लगता है और तब वह श्याम-सखा का यथोचित सत्कारादि सम्पन्न कर उनसे सन्देश पूछती हैं, किन्तु यह सुन कर कि 'मिलिहैं थोड़े दिवस में' वे फिर मूर्च्छित हो जाती हैं। पुनः जब चेतना लौटती है तो निर्गुण भक्ति एवं योग पर एक से एक तर्क, उपालम्भ एवं फटकार सुनाती हैं और साथ ही अनुनय-विनय करने में भी वे थकती नहीं हैं और फिर विलाप—

'ता पीछे एक बार ही रोयीं सकल ब्रजनारि।'

उद्धव गोपियों की यह अनन्य भक्ति एवं तन्मयता देख कर चकित हो जाते हैं और अनायास उनके मुख से निकल जाता है—

अब रहिहैं ब्रजभूमि की है पग-मारग धूरि
विचरत मद मोपै परै, सब सुख जीवन मूरि,
मुनिन हू दुरलभै।

और इस प्रकार जब वे मथुरा पहुँचते हैं तो श्रीकृष्ण पर एकाएक बरस पड़ते हैं—

'करुणामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठि।'

गोपियों की यह प्रेम-साधना सुन कर कृष्ण भी विह्वल हो जाते हैं, उनका रोम-रोम गोपीमय हो जाता है। फिर वे स्वयं गोपी रूप में प्रकट होते हैं और वे उद्धव से बतलाते हैं कि वस्तुतः उनमें और गोपियों में कोई अन्तर नहीं है—

मो में उनमें अन्तरो, एकौ छिन भर नाहिं
ज्यों देखी मो माँझ वे, त्यौं मैं उनहीं माँहिं
तरंगनि बारि ज्यों! ३७०।

और यहीं पर आकर उनका भ्रमर गीत समाप्त हो जाता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक क्रमबद्धता का

सूत्र टूटने नहीं पाया है और सर्वत्र एक-सूत्रता का आभास मिलता है।

यद्यपि सूरदास में क्रमबद्धता का अभाव है तथापि भाव के क्षेत्र में नन्ददास बहुत पीछे छूट गये हैं। सूर के पद सरस, सुकोमल एवं अलङ्कारों से सुसज्जित हैं किन्तु तथ्य निरूपण के समय भाषा उखरी-उखरी सी लगती है और ऐसें स्थलों पर सरलता का भी अभाव है :—

यह उपदेस कहेउ हैं माधो,
करि विचारि जिय साधन साधो।
इला पिङ्गला सुष्मन नारी,
सून्य सहज में रहत मुरारी
रे अलि कहाँ सिखावन आयो।
ये तो नैन रूप रस राचे,
कहेऊ न कहत पराये।

सूरदासजी भाषा के स्वरूप की रक्षा न कर सके। तथ्य-निरूपण के समय सूर अपने स्वाभाविक गुण माधुर्य को भी नहीं मिला सके जो उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

नन्ददास ने शुद्ध व्रजभाषा का सर्वत्र प्रयोग किया जिसमें प्रसाद गुण तो है ही, मुहावरों के समुचित प्रयोग ने तो अपूर्व मणि-काञ्चन संयोग उपस्थित कर दिया है—

'जो तुमको मन लांहीं तिनको मैलो कूप'

शुद्ध व्रजभाषा से मेरा तात्पर्य है व्याकरण सम्मत। सूर के पदों का अर्थ निकालने के समय जो कठिनाइयाँ होती हैं, वह व्याकरण की गड़बड़ी से ही हैं।

नन्ददास 'जड़िया' कवि प्रसिद्ध हैं। वे 'जड़िया' कवि हों अथवा नहीं किन्तु इससे तो कतई नहीं इनकार किया जा सकता है कि शब्दों को उपयुक्त स्थान पर रखने में वे सिद्धहस्त एवं कुशल थे। यहाँ केवल एक पद से ही हम उनकी कुशलता एवं सिद्धहस्तता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं :—

जो उनके गुन नांहि और गुन भये कहाँ ते?
बीज विना तरु जमै मोहि तुम कहो कहाँ ते?
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच
गुन ते गुन न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच
सखा सुनु स्याम के।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कविवर बिहारी के अतिरिक्त 'अर्थ अमित अति आखर थोड़े' की बात कहीं चरितार्थ होती है तो वह नन्ददास में ही। भाषा के सम्बन्ध में इतना कहने के पश्चात् हम छन्द एवं सामग्रियों पर भी ध्यान देना चाहते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि भ्रमर गीत में मिश्रित छन्द का प्रयोग नन्ददास की मौतिक उद्भावना है—पहले एक रोला, फिर एक दोहा और अन्त में दस मात्रा की एक टेक। किन्तु मिश्रित छन्द का प्रयोग भी सूरदास ने ही सर्वप्रथम अपने (प्रथम) भ्रमर गीत में किया था जैसा कि इस उदाहरण से स्पष्ट है—

अगह अपार आदि अवगत है सोई
आदि निरञ्जन नाम ताहि रज सब कोई
नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनासी विनसै नहीं, हो सहज ज्योति प्रकास॥

यहाँ पर सूर ने अन्त में १० मात्रा की टेक नहीं वदी है किन्तु, एक अन्य स्थल पर सूर ने भी दस मात्रा की टेक के साथ इस मिश्रित छन्द का प्रयोग किया है। अतः अपनी इस मौलिकता के लिए नन्ददास, सूर के ही ऋणी कहे जायँगे।

नन्ददास के भ्रमर गीत की एक विशेषता यह भी कही जाती है कि उसमें एक पद गोपी कहती है और उद्धव फिर दूसरे पद में उसका उत्तर देते हैं। इस कथोपकथन से काव्य में जागरूकता ही नहीं आती वरन् नाटकीयता का गुण भी समाविष्ट हो जाता है। परन्तु यह नाटकीयता का गुण मानने का श्रेय भी हम महाकवि सूरदास को ही देंगे; सर्वप्रथम उन्होंने ही इसका प्रयोग किया था। यथा—

उद्धव— वह अच्युत अविगत अविनासी
त्रिगुण रहित वपु धरै न दासी
हे गोपी सुनु बात हमारी
है वह शून्य सुनौ व्रजनारी।

गोपी— बार-बार ये वचन निवारो
भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो —'सूर'

अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि नन्ददास ने सूर की इन नितान्त बिखरी हुई सामग्रियों को सङ्कलन कर एक सूत्र में बाँधने का कुशल एवं सफल प्रयास किया और फलस्वरूप एक खण्ड-काव्य के सृजन में वे समर्थ हुये। इसलिये नन्ददास की कलात्मकता में उनकी मौलिकता की दाद देना कदापि युक्ति-युक्त नहीं है। हाँ, नन्ददास भाषा के सम्बन्ध में अवश्य ही विचारणीय हैं और वे भाषा के उद्भट विद्वान घोषित किये जा सकते हैं।

भावपक्ष—जैसा कि मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि नन्ददास में भावपक्ष गौण हो गया और वह तर्कों के उलझन में कुण्ठित सा प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक चित्रों की जो बहुलता हम महाकवि सूरदास में पाते हैं वह नन्ददास में नहीं है। श्री वियोगी हरिजी ने इन्हें अत्यन्त भावुक कवि कहा है। मैं उनके कथन का विरोध नहीं करता लेकिन मेरा यह निवेदन अवश्य है कि नन्ददास के भ्रमरगीत में वह वाग्वैदग्ध्यता, भावुकता, स्वाभाविकता एवं मनोवैज्ञानिकता नहीं, जिससे हृदय आर्त्त-क्रन्दन कर उठे। तर्क एवं दार्शनिक उलझनों के मध्य सम्भवतः कवि की भावुकता खो-सी गई है। सूर के हृदय में बैठी हुई विरहिणी नारी की आत्मानुभूति वेदना जब "मेरी नैना विरह की बेलि बई, सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई।" कह क्रन्दन कर उठती है तो हमारे हृदय के तार-तार झंकृत हो उठते हैं और उसे दुहराने लगता है, रोम-रोम में वेदना सिसकने लगती है और ज्ञात होता है कि गोपियों का यह कथन सम्पूर्ण सत्य है :—

निसि दिन बरसत नयन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पै जबते स्याम सिधारे।

सूर के भ्रमरगीत में पपीहे की 'पी कहाँ' एवं कोयल की कूक की समधुर ध्वनि है, जो नन्ददास में नहीं है। हाँ, कलात्मक विकास में अवश्य ही सूर आगे नहीं। फिर भी नन्ददास के—

"ता पाछे एक बार ही रोई सकल ब्रजनारि।
हा करुणामय नाथ हो केशव कृष्ण मुरारि॥"

में वह ध्वनि, वेदना एवं कसक कहाँ, जो 'मेरी नैना विरह की बेलि बई' एवं 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' में है। सूरदास की गोपियों में जो अनन्यता एवं तन्मयता है वह नन्ददास की गोपियों में नहीं है। सूरदास की गोपियाँ स्पष्ट रूपेण कहती हैं—

उर में माखन चोर गड़े।
अबं कैसेहु निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जो अड़े।

× × × ×

यदपि अहीर यशोदा नन्दन, हमहिं न लगत बड़े।

अन्तिम पंक्ति में जो आत्मीयता एवं भावों का चमत्कार है। वह हम नन्ददासजी के भ्रमर गीत में नहीं पाते हैं।

सगुण एवं निर्गुण भक्ति के निरूपण में सूरदास ने नन्ददास की भाँति तर्क एवं दर्शन को उतना प्रश्रय नहीं दिया है, फिर भी उनका खण्डन-मण्डन अत्यन्त रोचक, स्वाभाविक एवं वाग्वैदग्ध्य पूर्ण है। सूर ने अपने भ्रमरगीत में विप्रलम्भ शृंगार की सभी अन्तर्दशाओं का वर्णन बड़ी ही सूक्ष्मता एवं सहृदयता के साथ किया है। मालूम होता है कि गोपियों के विरह विह्वल हृदय के टुकड़े गल-गल कर पानी बन आँखों की राह बह चले है। उद्धव के निर्गुण सिद्धान्त पर और नाम रूप गुण लीला धाम कृष्ण को भूल जाने के उपदेश पर गोपियों के जो उद्गार प्रकट हुए हैं उनमें मानव-मनोवृत्ति का सम्यक विश्लेषण दिखाकर सूर ने अवश्य ही अपना स्थान महा कवियों में सुरक्षित कर लिया है। गोपियों की झुँझलाहट, खिझलाहट, निर्वेद, उपालम्भ, उत्सुकता, अधीरता, शंका, उदासीनता और राधा की मनोमन्थनकारी मूकता, "हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिणि दूजै अलिजारी" की स्थिति, गोपियों के स्वानुभूतिपरक सहज एवं सरल प्रश्न 'विरह रस के मंत्र कहिये क्यों चले संसार?' और

कृष्ण के विरह में उनकी यह विह्वल उक्ति—

सखी इन नैनन ते घन हारे।
विनु ही ऋतु बरसत निशि वासर,
सदा मलिन दोऊ तारे।

हृदय में एक चिरन्तन हाहाकार उत्पन्न कर देती है। ये सभी सूर की निजी उद्भावनाएँ हैं। कभी गोपियाँ कृष्ण के चले जाने में अपनी किसी भूल की कल्पना करने लगती हैं, ।तब उनके उपालम्भ की तीव्रता एकांत कोमलता, उदारता एवं सहिष्णुता में परिणत हो जाती है। उनकी यह उक्ति—

कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन वेणी फूल
कहिहौं न बरन सिंगार बट तर, वसन यमुना कूल।

कि "जाने दो मोहन, भूलें होगईं हमसे, पर अब ऐसा न होगा। अब तुम्हें हम कभी न सतायेंगी न शृंगार के लिए हठ करेंगी। न जावक रचना के लिए आग्रह होगा, न केशों को सजाने की फरमाइश, बस, तुम आजाओ, यही सब कुछ है।"

कितनी मर्म भरी उक्ति है, कैसी भोली-भाली प्रतिज्ञा है, जिसमें अनुताप, अधीनता, अधीरता एवं त्याग के उद्गार भरे पड़े हैं। गोपियों का आत्मोत्कर्ष, अनन्य एवं अपंकिल प्रेम अपने चूड़ान्त उत्कर्ष पर पहुँच जाता है। भले ही कुछ लोग इसमें भौतिक प्रेम की छाया देखें लेकिन जब गोपियों का प्रेम आध्यात्मिक लोक में पहुँचता है तब गोपियाँ विरह विदग्धा न रह कर बिछुड़ी हुई आत्मा का रूप धारण कर लेती हैं और कृष्ण पूर्ण परब्रह्म का! वास्तव में यही तो भ्रमरगीत का एक विशेष मर्म है और आध्यात्मिक रहस्य! परमात्मा से बिछुड़ी आत्मा की तड़प एवं चाह हम गोपियों के विरह में पाते हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी वे विरह विह्वल गोपियाँ अपने मन-मोहन की हित चिन्तना ही करती हैं और तभी तो कहती हैं—

"जहँ-जहँ रहौ राज करौ तहँ-तहँ लेहु कोटि सिरमार,
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनिवार।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर का भ्रमर गीत हिन्दी साहित्य में अपना मूर्द्धन्य स्थान बनाये हुए है और उसमें सगुण-निर्गुण का खण्डन-मण्डन भी विशेष रूपेण समाविष्ट किया गया है।

* * *

(पृष्ठ २६४ का शेषांश)

"मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"

बेकन भाषा की व्यंजना शक्ति से उतना काम नहीं लेता जितना शुक्लजी और इसीलिए शुक्लजी के निबन्धों में रस अधिक मिलता है। उदाहरणार्थ — "लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी भी प्रकार कम नहीं होता।....न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है, न रक्त चूसने में दया। लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमानसमता, तुम्हारा तप, अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा, अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है!!" इसका कारण यह है कि शुक्लजी एक कवि थे जो विषय के प्रभाव से अपने को निर्लिप्त नहीं रख सकता और बेकन एक न्यायाधीश था जो वादी-प्रतिवादी से अपने को अलग ही रखता था; हाँ यह बात दूसरी है कि रिश्वत वह दोनों ओर से ले लिया करता था।

* * *

'निशा-निमन्त्रण' और बच्चन

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०

हिन्दी में छायावाद का विवेचन जिस जागरूकता के साथ हुआ उतनी सजगता के साथ शायद आधुनिक साहित्य के किसी 'वाद' या धारा का नहीं हुआ, परन्तु छायावाद के आलोचकों ने छायावाद के प्रथम रूप अथवा पूर्वकालीन छायावाद पर अधिक लिखा। पन्त, प्रसाद, महादेवी व निराला के सम्बन्ध में जितना विचार हुआ (इससे भी अधिक यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि पन्त व प्रसाद पर अधिक लिखा गया) उतना उत्तरकालीन छायावाद पर नहीं। उत्तरवर्ती छायावाद में बच्चन, अञ्चल, नरेन्द्र आदि कवियों की रचनाएँ आती हैं, पूर्ववर्ती छायावाद में वैयक्तिकवाद की जो प्रवृत्ति प्रचलित हुई, उत्तरवर्ती छायावादी कवियों में वह अतिवैयक्तिकतावाद की सीमा पर जा पहुँची। यह अतिवैयक्तिकतावाद पूर्ववर्ती छायावाद से अधिक स्पष्ट, निर्भीक व अभिधा-प्रधान शैली में अभिव्यक्त हुआ। फलतः पूर्ववर्ती छायावादी गोपन की प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में अतिवैयक्तिकतावादी भावनाओं ने पाठकों के हृदय पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। अभिव्यञ्जना की वक्रता न रहने से उत्तरकालीन छायावादी कविता का प्रचार विद्युत की गति के समान हुआ। मधुशाला के प्रचार के युग को पाठक अभी तक नही भूले होंगे।

किन्तु अभिव्यञ्जना पद्धति कितनी ही मुखर और स्पष्ट क्यों न हो यदि उसमें व्यक्त भाव व विचार गतानुगतिक होते हैं तो शैली के आन्दोलन 'प्रयोगवाद' की तरह विचित्र बन कर रह जाते हैं। बच्चन की कविताओं में सामाजिक नियमों के तोड़ने के लिए सूफियों जैसा जोश मिलता है अतः रूढ़िग्रस्त समाज में फक्कड़पन, मस्ती, लापरवाही, घरफूँक मस्ती और घोर उच्छृङ्खलता की घोषणा एक क्रान्तिकारी जोश के साथ प्रचार पा जाती है। बच्चन की ख्याति का कारण उनकी सरल शैली और यह अनुत्तरदायित्व तक ले जाने वाली स्वतन्त्रता की प्यास है। और चूँकि यह उच्छृङ्खलता प्रायः यौन सम्बन्धों के क्षेत्र में पाई जाती है। अतः शराब व शाकी के माध्यम से घोषित होने वाली उच्छृङ्खल युवक कवि की चिनौती को 'हालावाद' की संज्ञा ठीक ही मिली।

परन्तु अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्वतन्त्रता की भावना चाहे कितने ही मादक प्रतीकों के माध्यम से सरल शैली में व्यक्त हो, इन कवियों की रचनाओं में प्रत्येक रचना वैयक्तिकतावाद की सीमा में रहकर भी सामान्य भावनाओं के विरोध में नहीं पड़ती। बच्चन की ऐसी रचनाओं में जिनमें सामान्य भावनाओं का भी वर्णन मिलता है, 'निशा-निमन्त्रण' का मुख्य स्थान है।

असामान्य और व्यक्तिगत मानसिक स्थिति को कवि साधारणीकृत कर सकता है, यदि व्यक्तिगत मानसिक स्थिति अत्यधिक विचित्र न हो। एक ही प्रेम की भावना के अनुभव के अनेक रूप हो सकते हैं अतः विरह की अभिव्यक्ति प्राचीन पद्धति पर भी होती है और नवीन पद्धति पर छायावाद में भी प्रेम को अभिव्यक्ति मिली है जिसमें वैयक्तिकतावादी कवियों ने अपनी प्रेम-भावना में अपनी विशेषता रखकर भी सामान्य भावना से पूर्णतया अलगाव प्रकट नहीं किया। 'महादेवी' की कविताएँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

इसी प्रकार 'निशा-निमन्त्रण' में 'बच्चन' ने व्यक्तिगत मानसिक स्थिति को साधारणीकृत रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि बीच-बीच में कुछ गीतों में अपनी बहादुरी दिखाने के लिए असामाजिक और निराली अतः उच्छृङ्खल विचारधारा की अभिव्यक्ति मिली है तथापि 'निशा निमन्त्रण' में पत्नी की मृत्य

से उद्दीप्त अंतर्दाह को ही वाणी मिली है।

प्राचीन व मध्यकालीन कविता में विरह की स्थिति में प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के रूप में ही होता था परन्तु 'निशा-निमन्त्रण' में व सामान्य मानसिक स्थिति के साथ-साथ वैयक्तिक तत्त्व होने से प्रकृति के ऊपर कवि की प्रतिक्रिया में भी मध्यकालीन व प्राचीन कविता से अन्तर पाया जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि कवि ने अपनी पूर्व पत्नी की मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष तक कुछ नहीं लिखा। यदि मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही कवि अपने विरह का वर्णन करता तो जो स्थिरता 'निशा-निमन्त्रण' में दिखाई पड़ती है वह शायद न दिखाई पड़ती। 'निशा-निमन्त्रण' विरह की स्थिति में उत्पन्न हाहाकार व चीत्कार को व्यक्त नहीं करता जैसा कि 'प्रिय-प्रवास' में होता है या जैसा मध्यकालीन कविता में पाया जाता है। 'निशा-निमन्त्रण' में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि आँसू थम जाने पर अपनी कसक को टटोलता है, अपनी कोमल अनुभूतियों के स्पर्श से प्रकृति को रँगता हुआ, और साथ ही प्रकृति को देखकर अपने अंतस् के उच्छ्वास के वेग को थपकी देता हुआ प्रतीत होता है, जैसे वेदना को रात्रि के अन्धकार के भूले पर झुला रहा हो, जैसे अन्धकार के साथ साम्य समझ कर सुखी जीवन की सन्ध्या से प्रारम्भ कर, निराशा की उद्दीपिका निशा के साथ तादात्म्य कर, आशा मुक्त प्रातः काल के पक्षियों के कलरव तक अपने अवसाद को नवीन अरुणोदय के प्रकाश में खोदने के लिए वह आकुल है। परन्तु साथ ही वह एक वर्ष के विरह-काल में अंतर्व्यापी पीड़ा से इतना प्यार करने लगा है कि उस दाहकारिणी वेदना को सहसा छोड़ देने के लिए भी प्रस्तुत नहीं है। पीड़ा से मुक्ति पाने और पीड़ा से प्यार करने का द्वन्द्व 'निशा-निमन्त्रण' में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। किन्तु जिस प्रकार 'प्रसाद' जी 'आँसू' में व्यक्तिगत विरह को दर्शन का रूप दे देते हैं वैसे ही 'निशा-निमन्त्रण' में कवि ने निजी वेदना को बर्दाश्त न कर सकने वाले आचारवादी 'वृद्धों' के सम्मुख एक सिद्धान्त के रूप में 'वेदनावाद' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस मानसिक स्थिति में प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप से हो ही नहीं सकता, भावना के भीतर से वस्तु को देखने के कारण कवि केवल उन वस्तुओं को चुनता है जो उसकी मानसिक स्थिति के मेल में रहती हैं, 'निशा-निमन्त्रण' में इसीलिए कवि को निशा किस-किस रूप में प्रतीत होती है, इसका चित्रण अनेक प्रकार से कवि ने किया है।

कवि का ध्यान सदा वस्तु पर न रह कर अपनी मानसिक दशा पर केन्द्रित रहने के कारण 'निशा-निमन्त्रण' में आंतरिकता आगई है जो मध्यकालीन कविता में नहीं मिलती। और चूँकि जैसा मैंने पहले कहा कि यह मानसिक दशा कवि के निजत्व के साथ साथ एक दम विचित्र और घोर वैयक्तिक नहीं है अतः पाठक भी उसे सहज ही हृदयंगम कर लेता है। जो लोग 'बच्चन' की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उनके 'व्यक्तित्व की एकता' में देखते हैं वे गलत नहीं हैं। यद्यपि व्यक्तित्व की एकरूपता सर्वत्र नहीं मिलती, क्योंकि बच्चन जी सामूहिक मानस को भी चित्रित करते हैं परन्तु यहाँ 'निशा-निमन्त्रण' में तो निश्चित रूप में उनके व्यक्तित्व की एकता दिखाई पड़ती है।

'बच्चन' जी का व्यक्तित्व, उन्मुक्त भोग की भावना, निराशा, नियति तथा उन्मत्तता का संघात है। निराशा जब पूर्णता की सीमा का स्पर्श करती है तो नियतिवाद में बदल जाती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, क्योंकि मृत्यु जैसे विषय की व्याख्या करते-करते विचारक अपनी चिन्तन की असमर्थता को स्वीकार कर लेता है। चूँकि कवि की चिन्तन-पद्धति वैयक्तिक है अतः वह 'निदान' न खोजकर दुख को सहते हुए भी वह दुःख में ही मग्न है। दुःख में ही सच्चा आनन्द है, दुःख और आँसू ही जीवन का सार है, मनुष्य के दुःख से डर कर ही ईश्वर पाषाण के रूप में मनुष्य के द्वारा पूजित हुआ है (अन्यथा वह द्रवित हो जाता) इस प्रकार की विचारधारा विकसित होती है। 'निशा-निमन्त्रण' में उक्त सभी तत्त्व सुरक्षित हैं।

'मधुशाला' इत्यादि में भोग की भावना प्रधान है पर निराशा कभी-कभी झलक देकर ओझिल हो जाती है। वहाँ भोग की भावना और उन्मत्त का सहज ही संयोग हो गया है। 'निशा-निमन्त्रण' में स्थिरता अधिक होने से उन्मत्तता अपेक्षाकृत कम है परन्तु वह है अवश्य और सिद्धान्त के रूप में व्यक्त हुई है। यदि उन्मत्तता का संयोग न होता तो कवि जीवन के अन्य सङ्घर्षों में कोमल संवेदनाओं को सम्प्रदाय के रूप में नहीं रख पाता, क्योंकि उन्मत्तता किसी मानसिक दशा विशेष को बनाये रखने तथा उसके अतिरिक्त और सब कुछ भूलने का प्रयत्न करने में सहायता करती है। मन अपने ऊपर हुए किसी आघात को या तो बौद्धिक प्रयत्न द्वारा दूर करता है या उसी आघात को वरदान मान कर, उसे ही सर्वस्व समझ कर अन्य सभी अनुभवों का निरादर कर उसी विषएण स्थिति को भिन्न स्थिति वाले दर्शकों के सम्मुख अपनी विशेषता के रूपमें उपस्थित करता है। यही कारण है कि बचनजी की विषएणता के साथ उन्मत्तता अवश्य रहती है जो उनके दुःख भुलाने का भी है साधन और उनके व्यक्तित्व को दूसरों से अलग करने वाली भी। निशा-निमन्त्रता में इस उन्मत्तता का संयोग दुःख के साथ है अतः वह उन्मत्तता उतनी भयङ्कर नहीं जान पड़ती। परन्तु 'अञ्चल' की रचनाओं में इसी उन्मत्तता का संयोग भोग की भावना के साथ हो गया है अतः वहाँ वह भयङ्कर हो गई है। 'अपराजिता' की किसी कविता में आप यह स्थिति देख सकते हैं।

'निशा-निमन्त्रण' की वर्णनपद्धति भी विशिष्ट है। दिन ढलने से लेकर दिन निकलने तक का यहाँ वर्णन है और इन बीच की घड़ियों में क्रमशः परिवर्तित होने वाली हृदय-दशाओं को प्रकृति के माध्यम से कवि व्यक्त करता चलता है। इस प्रकार 'निशा-निमन्त्रण में एक ओर तो प्रकृति के कई चित्र सम्मुख प्रस्तुत करता है और साथ ही कवि के हृदय का उद्घाटन भी होता चलता है, परन्तु जैसा मैंने पहले कहा कि कवि ने उन्हीं चित्रों को लिया है जो उसकी हार्दिक स्थिति के मेल में पड़ते हैं, गृह-सुख की लालसा को व्यक्त करने की पद्धति देखिए—

दिन जल्दी-जल्दी ढलता है
बच्चे प्रत्याशा में होंगे
नीड़ों से झाँक रहे होंगे
मुझसे मिलने को कौन विकल
मैं होऊँ किसके हित चञ्चल ?
यह प्रश्न शिथिल करता पद को,
भरता उर में विह्वलता है

प्रकृति के सौन्दर्य व सहानुभूति को एक साथ चित्रित करने की विशिष्ट पद्धति देखिये—

सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है,
उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है।
आँसू की बूँद कपोलों पर,
शोणित की-सी बन जाती है।

बचन का अप्रस्तुत-विधान भी वैसा ही स्पष्ट होता है जैसा उनकी स्पष्ट कथन-पद्धति।

मैंने कहा है कि बचन का ध्यान वस्तु पर कम मानसिक दशा पर अधिक केन्द्रित रहता है। अतः निशा निमन्त्रण की वर्णन पद्धति की विशिष्टता यह है कि प्रकृति की विस्तृत छबियाँ पन्त व महादेवी की तरह यहाँ अङ्कित नहीं होतीं। महादेवी जिस प्रकार 'बसन्त रजनी' के सौन्दर्य को सांगरूपक द्वारा चित्रित करती हैं उसके लिये उनके पास तटस्थता है, यह तटस्थता बचन जी के पास नहीं है। यही कारण है कि कवि एक-दो शब्द-चित्र देकर अपनी भाव-दशा पर उतर आता है—

है यह पतझर की शाम सखे !
नीलम से पल्लव टूट गये,
मरकत से साथी छूट गये,
अटके फिर भी दो पात,
पात जीवन डाली को थाम, सखे !

यहाँ कवि ने पतझर की शाम में ज्यों ही पल्लवों को गिरते हुये देखा वैसे ही अपना वियोग उनमें

मूर्तिमान दिखाई पड़ा और इसलिये वह पतझर के चित्र को विस्तृत न कर अपनी मानसिक दशा व पतझर को साथ-साथ चित्रित करने लगा—

मरकत से साथी छूट गये।

निशा-निमन्त्रण की अधिकतर कविताएँ इसी पद्धति पर लिखी गई हैं और ऐसी कवितायें सामान्य भावभूमि को ही चित्रित करती हैं और मार्मिक हैं। एक और उदाहरण लीजिये—

रात-रात भर श्वान भूकते
इस रव से निशि कितनी विह्वल
बतला सकता हूँ मैं केवल
इसी तरह मेरे उर में भी असन्तुष्ट अरमान भूकते।

विरह की इस भावना को कवि ने सैद्धान्तिक रूप दिया है, इसीलिये उसमें वैयक्तिकतावाद आ गया है, मैंने कहा है कि वह अति की सीमा तक नहीं पहुँचता जैसा कि मधुशाला आदि में हुआ है। यहाँ यह विशिष्टता कई प्रकार से व्यक्त हुई है—सिद्धान्त रूप में विरह भावना की अभिव्यक्ति—

मैंने दुर्दिन में गाया है
जीवन का क्या भेद बताऊँ
जगती का क्या मर्म जताऊँ ?
किसी तरह रो-रो कर मैंने अपने मन को बहलाया है।

कवि का कथन है कि उसके विरह गीत कम से कम विरही जनों के लिये अवश्य उपयोगी हैं—

"शान्त किसी दुखिया का मन हो,
जिनको सूने पन में गाकर।"

कवि विरह-वाणी को शाश्वत मानता है, वह प्रगतिवाद के इस कथन को नहीं मानता कि युग-भावना को व्यक्त करना चाहिये, वह युग-युग की वाणी को व्यक्त करने का विश्वासी है—

"युग वाणी बोले या बोले वह,
जो है युग-युग की वाणी।"

अथवा

युग कर पाये माप न जिसकी,
मैंने ऐसा क्षण देखा है,
मैंने भी जीवन देखा है।

कवि इसी बात पर तुला हुआ है कि विरह का वर्णन प्रतिक्रियावाद नहीं हो सकता—

"क्या मैं जीवन से भागा था" कविता में यही बताया गया है। कवि मानता है कि आचारवादियों के विरुद्ध क्रान्ति करना स्वयं एक क्रान्तिकारी कार्य है और यह ठीक है, मानवीय भावनाओं को आचार की मिट्टी से ढक देने से वे गन्ध बन कर उसमें समा जाती हैं और समय पर फूट पड़ती हैं कवि ने इसी तथ्य की घोषणा की है—

है पावस की रात अँधेरी।
है सहसा जिह्वा पर आई
घन-घमंड……वाली चौपाई
जहाँ देव भी काँप उठे थे, क्यों लज्जित मानवता मेरी?

अपने निजी दुःख को इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत करते समय जहाँ कवि आचारवादियों को ललकारता है वहाँ निश्चित रूप से वह मानवीय भावनाओं को गौरव देता है। परन्तु जैसा मैंने कहा कि कवि का दृष्टिकोण वैयक्तिकतावादी है, अतः वह इन प्रेम जैसी मूल प्रवृत्तियों की वकालत करते-करते सारे प्रगतिवादी चिन्तन को ललकारता है और ऐतिहासिक विकास के विभिन्न सोपानों में, भावना के परिवर्तित रूपों में विश्वास न कर भाव को शाश्वत सिद्ध करने लग जाता है। उसे लगता है कि बाह्य सामाजिक क्रान्ति के कोलाहल में व्यक्ति के निजी जीवन का निरादर करना मानवता का घोर अपमान है। मानवीयता जिस प्रेम-भावना पर आधारित है वह नित्य है, वह बदल नहीं सकती और चूँकि कवि इस प्रश्न के समाधान के लिए वैज्ञानिक चिन्तन पद्धति को स्वीकर नहीं करता। अतः वह घोषणा करने लगता है—

जग बदलेगा किन्तु न जीवन!
क्या न करेंगे उर में क्रन्दन
मरण-जन्म के प्रश्न चिरन्तन
हल कर लेंगे जब रोटी का मसला जगती के नेतागण!

यह प्रश्न चिन्तन की अवैज्ञानिकता का द्योतक है

क्योंकि मार्क्सवाद ने यह कब कहा है कि चिरन्तन प्रश्न साम्यवाद की स्थापना के पश्चात् स्वयं शान्त हो जायँगे, प्रकृति के रहस्यों के नए-नए उद्घाटन करना ही तो मनुष्य का सदा से लक्ष्य रहा है, परन्तु मार्क्सवाद कल्पनाओं के द्वारा शङ्काओं का समाधान पसन्द नहीं करता जो 'दर्शन' की पद्धति रही है। 'ज्ञान को विज्ञान सदा ही यथार्थता देता रहा है।' यह बात तो पन्तजी जैसे अध्यात्मवादी तक मानते हैं। अतः जगत भी बदलेगा और जीवन भी। रूढ़िवादी समाज में यदि बच्चनजी का जन्म न हुआ होता तो उनके क्रन्दन का स्वरूप दूसरा होता इसे वह नहीं सोचते। यही कारण है कि मार्क्सवाद को प्रायः बाह्य क्रान्ति के रूप में वह ग्रहण करते हैं, जबकि वह सर्वाङ्गीण क्रान्ति का जनक है। इतिहास गवाह है कि बदलती हुई युग की व्यवस्थाओं में प्रेम का स्वरूप बराबर बदलता रहा है अतः जीवन भी बदलता है। परन्तु यह तो मार्क्सवाद भी नहीं कहता कि कोई युग ऐसा आएगा जबकि मनुष्य प्रेम करना बन्द कर देगा, परन्तु प्रेम में जो घुटन, दमन व कुत्सितता आज की व्यवस्था में पाई जाती है और जिसके कारण फ्रायड जैसे चिन्तक यह सोचने को वाध्य होगये कि अवचेतन ही सब कुछ है। वह अवश्य नष्ट हो जायगी और तब मनुष्य के प्रेम का स्वरूप स्वस्थ व सन्तुलित होगा, अतः जीवन भी बदलेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवाद का प्रारम्भिक सङ्कीर्णतावादी कुत्सित समाज-शास्त्रीय व्याख्याओं से असन्तुष्ट होकर ही कवि पुकार उठा है—

प्रणय स्वप्न की चञ्चलता पर
जो रोएँगे सिर धुन धुन कर
नेताओं के तर्क वचन क्या उनको दे देंगे आश्वासन?

इस प्रकार जब कवि इस समस्या को नहीं सुलझा पाता तो नियतिवाद की शरण लेता है—

मानव-भाग्य पटल पर अङ्कित
न्याय नियति का जो चिर-निश्चित
धो पाएँगे उसे तनिक भी नेताओं के आँसू के कण
जग बदलेगा किन्तु न जीवन

कहना न होगा कि यह शुद्ध बूर्ज्वा भ्रम है जिसे शाश्वतवाद की छत्रछाया में सदा शरण मिलती रही है। व्यवस्था व तदनुसार मानवीय सम्बन्धों को न समझकर प्रेम का सम्बन्ध नियति से जोड़ना व्यर्थ है।

नियतिवादी कवि अपने मन को संतुष्ट तो कर लेता है परन्तु दुनियाँ को समझने का प्रयत्न नहीं करता, उसकी शिकायत अधिक करता है और वह उसके लिए विवश है क्योंकि अंततः कवि मन तात्कालिक विषय व्यवस्था के प्रभाव को इसी प्रकार तो व्यक्त करेगा—

वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल जलाती,
है चिता की राख कर में माँगती सिंदूर दुनियाँ
आज मुझसे दूर दुनियाँ,

इस प्रकार 'निशा-निमन्त्रण' के गीत वैयक्तिकवादी कवि के विरहोद्गारों को व्यक्त करते हैं। प्रेम की स्वाभाविक स्थिति में जब कवि विरह भावना को साम्प्रदायिक रूप नहीं देता तब कोमल कवि मन व्यापक सहानुभूति की स्थिति में स्वयं रोदन-पथ से हटने को प्रस्तुत हो जाता है ताकि जगत के प्रेमी और मदमाते युवक-युवतियों की प्रेम-क्रीड़ा में उसके आँसुओं से बाधा न पड़े। यह प्रशंसनीय आत्म-त्याग है, और इससे कवि पाठक की सहानुभूति का पात्र बनता है। इसी प्रकार कवि विरह की स्थिति में भी तमाशा बनकर नहीं बैठना चाहता। (तू क्यों बैठ गया है पथ पर) वह कम से कम चिता तक अपने ही पैरों से चलना चाहता है, मशीन युग में ऐसे भी प्रेमी मिलेंगे जिन्हें चिता तक जाने के लिए भी मोटर की आवश्यकता होती है। अतः बच्चन जी के इतना कष्ट उठाने के लिए जगत व जीवन दोनों को आभारी होना चाहिए।

दो निबन्धकार—बेकन और पं० रामचन्द्र शुक्ल

श्री मोहनलाल अवस्थी 'मोहन'

निबंध वह है जिसमें विचार भली-भाँति कसे या बँधे हुए हों। इस दृष्टि से देखने पर अँग्रेजी में बेकन की ओर हमारा ध्यान जाता है और हिन्दी में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की ओर। अतः इन दोनों निबंधकारों के एक दो निबंधों पर विहंगम दृष्टि डालते हुए, हम उनकी मूल प्रवृत्तियाँ दिखाना चाहते हैं; क्योंकि बेकन अँग्रेजी साहित्य में निबंधों का जनक माना जाता है और हिन्दी में इस प्रकार के उच्च कोटि के निबंधों के प्रवर्तक शुक्लजी हैं। यों तो तुलना करना कठिन है, क्योंकि शुक्लजी ने विवेचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त आलोचनात्मक और साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं, लेकिन मनोविकारों पर लिखे गए निबंध ही हमारा विषय हैं। यहाँ हम बेकन के love और Envey और शुक्ल जी के 'लोभ और प्रीति' तथा 'ईर्ष्या' नामक दो निबंधों पर विचार करेंगे। हमारा उद्देश्य किसी की हीनता प्रमाणित करना नहीं, अपितु, दोनों की सामान्य प्रवृत्तियों को सामने रखना है।

किसी भी विषय पर निबन्ध लिखते समय शुक्लजी प्रथम पंक्ति में ही सूत्र रूप में, उस विषय का सार रख देते हैं। यह वाक्य उस मनोभाव या विषय की परिभाषा होता है। उदाहरण के लिए 'ईर्ष्या' नामक निबंध के प्रारम्भ का यह वाक्य—'जैसे दूसरे के दुःख को देख कर दुःख होता है, वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी एक प्रकार का दुःख होता है, जिसे ईर्ष्या कहते हैं।'

बेकन अपने 'ईर्ष्या' नामक निबन्ध में लिखता है—'कोई भी मनोविकार इतना आकर्षक और मनोहारी नहीं होता, जितने प्रेम और ईर्ष्या, । बेकन अपने निबन्ध को एक दम प्रारम्भ कर देता है। जिस विषय पर वह लिखना चाहता है, उस विषय से सम्बन्धित अपने विचारों को पाठक के समक्ष रखने लगता है। जिसके विषय में कुछ कहता है, उसकी परिभाषा नहीं देता। लेकिन शुक्लजी सर्वप्रथम उसकी परिभाषा देकर पाठक के मस्तिष्क में यह बात जमा देना चाहते हैं, कि आखिर वह वस्तु क्या है, जिसके विषय में हम लिखने जा रहे हैं। सरल परिभाषा देने के पश्चात् भी, वह उस बात को समझाते हैं, और तब कहते हैं कि ईर्ष्या एक संकर भाव है, जिसकी संप्राप्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है।'

यहाँ पर आलस्य शब्द विचारणीय है। शुक्लजी का कथन है कि 'ईर्ष्या, प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नहीं है। एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं है, तो दूसरा व्यक्ति इस बात के लिए तीन प्रकार से दुःख प्रकट कर सकता है :—

(१) क्या कहें हमारे पास भी वह वस्तु होती!

(२) हाय वह वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती।

(३) और वह वस्तु किसी प्रकार उसके हाथ से निकल जाती; चाहे जहाँ जाती।

इन तीनों वाक्यों में पहले वाक्य में जो भाव झलकता है, वह ईर्ष्या नहीं है, साधारण स्पर्द्धा अर्थात् लाभ की उत्तेजित इच्छा का एक अच्छा रूप है। दूसरे वाक्य में ईर्ष्या का कुछ, और तीसरे में पूरा आभास है।····स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है।' लेकिन बेकन ने लिखा है कि उन (प्रेम और ईर्ष्या) दोनों में उद्वेगपूर्ण इच्छाएँ होती हैं।'

यह तो ठीक है कि प्रेम में उद्वेगपूर्ण इच्छा होती है किन्तु ईर्ष्या में उद्वेगपूर्ण इच्छा कैसे हो सकती है।

उद्वेगपूर्ण इच्छा यदि होगी तो मनुष्य उसे प्राप्त करने का उद्योग करेगा और जब मनुष्य दूसरे आदमी से आगे बढ़ने का प्रयास करता है, तब उसे हम स्पर्द्धा कहते हैं। ईर्ष्या तो तभी होती है जब हम किसी मनुष्य से बाजी मारने में अपने को असमर्थ पाते हैं, और मन में कुढ़कर उसके प्रति अकल्याणकारी भावना रखने लगते हैं। इसलिए शुक्लजी का आलस्य शब्द बड़े महत्त्व का है।

बेकन का प्रेम और ईर्ष्या को एक ही साथ बाँधना उचित नहीं। यदि ईर्ष्या में उद्वेगपूर्ण इच्छा होती भी है तो अहित करने की। लेकिन इसके लिए उस पद को स्पष्ट करना चाहिए था, और तब प्रेम ईर्ष्या के साथ नहीं आ सकता था; क्योंकि प्रेम में हित करने की उद्वेगपूर्ण इच्छा होती है। लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं। ईर्ष्या में अहित करने की भी उद्वेग पूर्ण इच्छा नहीं होती क्योंकि अहितकर भावना जब अधिक उद्वेगपूर्ण हो जाती है, तब हम उसे द्वेष कहने लगते हैं; अतएव आलस्य शब्द का रहना अनिवार्य है।

इसके पश्चात् बेकन कहता है, किन्तु इन उत्सुकतापूर्ण बातों को छोड़कर अब हम बताएँगे कि किन लोगों की प्रवृत्ति दूसरों से ईर्ष्या करने की होती है, कौन लोग ईर्ष्या के सर्वोत्तम पात्र हैं तथा व्यक्तिगत और सामाजिक ईर्ष्या में क्या भेद है? इसके बाद वह स्पष्ट करता है—"जिस मनुष्य में कोई गुण नहीं होता, वह सदैव दूसरे के गुणों से ईर्ष्या रखता है, क्योंकि मानव मस्तिष्क को या तो अपनी भलाई से खाद्य प्राप्त होता है या दूसरों की बुराई से और जिसे दूसरों के गुण प्राप्त करने की आशा नहीं रहती वह दूसरों के भाग्य को अवनत करने में सन्तोष प्राप्त करता है।"

यहाँ पर बेकन ने निराशा पर बल दिया है, जिसे शुक्लजी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है। निराशा वाली बात तो सोलह आने सही है, किन्तु जिस मनुष्य में कोई गुण नहीं होता, वह सदैव दूसरों के गुणों से ईर्ष्या रखता है, यह बात नितान्त सत्य नहीं। इस प्रकार तो एक आदमी संसार भर से ईर्ष्या कर सकता है। शुक्लजी का विचार इससे भिन्न है। उनका कथन है कि "ईर्ष्या व्यक्ति विशेष से होती है। यह नहीं कि जिस किसी को ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न देखा उसी से ईर्ष्या हो गई। ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि हमारे साथ इन पर भी पड़ेगी या पड़ती होगी।"

बेकन आगे लिखता है, "कि विरूप व्यक्ति, नपुंसक, गोलक तथा वृद्ध लोग ईर्ष्यालु होते हैं; क्योंकि सम्भवतः जो अपनी स्थिति में सुधार नहीं कर सकता, वह दूसरे की स्थिति बिगाड़ने का प्रयत्न करेगा।"

शुक्लजी का मत भी इससे मिलता-जुलता है—"सम्पन्न व्यक्ति की ओर जो स्पर्द्धावान का बार-बार ध्यान जाता है, वह उसकी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी स्थिति में परिवर्तन करने के लिए। स्पर्द्धा में दुःख का विषय होता है, "मैंने उन्नति क्यों नहीं की? और ईर्ष्या में दुःख का विषय होता है, उसने उन्नति क्यों की?"

बेकन ईर्ष्या का कारण शारीरिक मानता है, क्योंकि वह विरूप व्यक्ति को ईर्ष्यालु कहता है। लेकिन यह आवश्यक नहीं। ईर्ष्या मानसिक व्यापार है, उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि विरूप पुरुष ईर्ष्यालु होते हैं, तो क्या सभी रूपवानों को फरिश्ता मानना चाहिए?

बेकन का कथन है, "निकट सम्बन्धी, कार्यालय के साथी और एक साथ पोषित हुए व्यक्ति अपने बराबर के साथियों से जब वह पद में बढ़ जाते हैं, ईर्ष्या करने लगते हैं।" इसी को शुक्लजी इस प्रकार कहते हैं—"सम्बन्धियों, बालसखाओं, सहपाठियों और पड़ोसियों के बीच ईर्ष्या का विकास अधिक देखा जाता है। लड़कपन से जो आदमी एक साथ उठते बैठते देखे गए हैं उन्हीं में से कोई एक दूसरे की बढ़ती से जलता हुआ भी पाया जाता है।"

बेकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है—"प्रसिद्ध गुणों के मनुष्य जब और अधिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं तब उनसे लोग कम ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि उनका भाग्य उनका अर्जित फल है; और ब्याज चुकाने पर कोई भी ईर्ष्या नहीं करता, ईर्ष्या तो पारितोषिक तथा अनुदान पर ही की जाती है। जहाँ होड़ नहीं, वहाँ ईर्ष्या नहीं; इसीलिए राजाओं से राजाओं के अतिरिक्त कोई दूसरा ईर्ष्या नहीं करता।" शुक्लजी ने इस बात को लगभग छोड़ दिया है अथवा इतने सुन्दर ढङ्ग से नहीं स्पष्ट किया।

बेकन अपने प्रेम नामक निबन्ध में प्रेम की परिभाषा इत्यादि नम्बर दे कर कहता है कि "रङ्गमञ्च पर प्रेम सुखान्त और दुखान्त दोनों प्रकार के नाटकों का विषय होता है पर जीवन में वह अधिकतर शरारत ही करता है, कभी एक आकर्षक सुन्दरी की भाँति और कभी क्रोधोन्मत राक्षसी की तरह।" शुक्लजी लोभ और प्रीति की परिभाषा देते हैं—"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं—विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है, जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। लोभ सामान्योन्मुख होता हैं और प्रेम विशेषोन्मुख।"

बेकन के निबन्धों में विषय का विस्तृत विवेचन नहीं हैं। उनके भीतर विचारक लेखक का वैदग्ध्य अधिक मिलता है। किसी बात को वह चमत्कारपूर्ण भाषा में कहने का अधिक ध्यान रखता है। शुक्लजी विषय में प्रवेश कर के उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं और सीधी-सादी भाषा में रख कर पाठक के लिए अधिक ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करते हैं।

शुक्लजी विस्तृत व्याख्या के बाद सूत्र रूप में कुछ बातें कह देते हैं, किन्तु बेकन सर्वत्र ही समास शैली का प्रयोग करता है। उसकी भाषा में लाघव है, चुस्ती है, गम्भीरता है। शुक्लजी में भावों की गम्भीरता के साथ भाषा की रमणीयता है।

बेकन के पाठक को सिर ऊपर उठा कर देखने का अवकाश नहीं मिलता। अर्थात् चाहे विषय गंभीर हो चाहे न हो (जैसे उसके Gardens और Travel आदि निबन्ध)। बेकन की शैली उसे इतना गम्भीर बना देती है कि पाठक उसमें उलझा रहता है। शुक्लजी में इसके विपरीत गम्भीर विषय को यथासम्भव सरल बनाने का प्रयत्न लक्षित होता है।

बेकन अपने पाठकों को हँसने का अवसर बिल्कुल ही प्रदान नहीं करता, किन्तु शुक्लजी से विना हँसाए नहीं रहा जाता। यही शुक्लजी की विशेषता है। इस कारण उनके निबन्धों में पाठक से उनका पूरा तादात्म्य हो जाता है। उनके गम्भीर से गम्भीर लेखों में भी हास्य कहीं न कहीं छिटक ही जाता है। लज्जा और ग्लानि जैसे गम्भीर, विवेचनात्मक निबन्ध में सङ्कोच मनोविकार को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—"सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी सङ्कोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में सङ्कोच करते हैं, साफ-साफ बात कहने में सङ्कोच करते हैं, लेटने में सङ्कोच करते हैं। यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं।

बेकन के लेखों में काव्य तत्त्व नहीं मिलता। यद्यपि कुछ लोगों ने 'हैमलेट' और 'अथेलो' से दो चार उद्धरण देकर नाम मात्र के लिए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, लेकिन तथ्य यही है कि उसके निबन्ध मस्तिष्क ही की शुद्ध उपज हैं। शुक्लजी के निबन्धों में बुद्धि तत्त्व के साथ हृदय का भी अनूठा सामञ्जस्य है।

बेकन के निबन्धों में उसके व्यक्तित्व की झलक तो अवश्य मिलती है, किन्तु उसकी बहुत कुछ दृष्टि निरपेक्ष है। उसकी दृष्टि एक तटस्थ द्रष्टा की दृष्टि है। शुक्लजी बिलकुल निरपेक्ष्य नहीं। मनोवेगों का विवेचन करते समय वह अपने मनोवेगों को पूर्णतः नहीं रोक पाते और उनके मुँह से निकल ही पड़ता है—

(शेष पृष्ठ २८६ पर देखिए)

लोक साहित्य एवं शिक्षित साहित्य

श्री त्रिवेणीप्रसाद मिश्र एम० ए०

प्रस्तुत विषय को समझने के लिए यह आवश्यक है कि लोक-साहित्य को संकुचित अर्थ में न लिया जाय। डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के अनुसार लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों एवं गावों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। जिनमें सरल एवं अकृत्रिम जीवन के अभ्यास एवं परिष्कृत रुचि की सुकुमारता को जिला रखने की शक्ति होती है। इस प्रकार के जीवन के इस साहित्य का ही नाम लोक साहित्य है।

शिक्षित जनता का साहित्य किसी खास उद्देश्य वा परिस्थिति के कारण बनता है। अतः शिक्षित साहित्य में हृदय-पक्ष की अपेक्षा मस्तिष्क-पक्ष का प्राधान्य रहता है। उसका भावपक्ष ऊहा के बोझ एवं कलापक्ष की औपचारिकता से दबा रहता है। अलङ्कारों एवं छन्दशास्त्र की नपी तुली संकुचित नालियों द्वारा प्रवाहित होने वाले इस साहित्य में स्वाभाविकता का अभाव रहता है। किन्तु 'मसि कागद नहिं छूआ' वाले ग्रामीण गायक के गीत स्वान्तः सुखाय होते हैं। वह प्रदर्शन के लिए नहीं गाता वरन् फागुन मास का मस्त बासन्ती वातावरण भोजपुरिया जवान का फाग, सावन की रिमझिम, मिर्जापुरी गायक की कजली, तथा इसी तरह अन्य वातावरण स्थानीय गायकों का शेरा, आल्हा, मल्हार आदि गाने को विवश कर देते हैं। प्राकृतिक प्रेरणा से प्रसूत यह लोक-साहित्य इसीलिए शिक्षित साहित्य से बाजी मार ले जाता है।

शिक्षित साहित्य को हम सम्पूर्ण जनता का साहित्य नहीं कह सकते क्योंकि एक तो वह पढ़े-लिखों तक ही सीमित है, जबकि लोक-साहित्य सभी के लिए है। दूसरे भाषा की दृष्टि से भी हमें शिक्षित साहित्य में भाषा का स्वाभाविक रूप नहीं मिलता। ग्रामीण गायक अपनी बात अपनी ही भाषा में कहता है, जबकि शिक्षित साहित्यिक ग्रामत्य दोष से बचने के लिए भाषा पर साहित्यिक पालिश कर देता है। ग्रामीण नागरिक शब्दों को ग्रहण करता है किन्तु अपने अनुसार। उदाहरणार्थ ग्रामीण ने मोटर का हॉर्न सुना, उसे पों पों सरीखी ध्वनि सुनाई पड़ी और उसने उसका नामकरण कर दिया भौंपूँ। यदि इसी शब्द के अनुवाद का उत्तरदायित्व किसी शिक्षित आदमी को दिया जाता तो वह शब्द कोष के आधार पर सींग अथवा शृंगी बाजा इत्यादि शब्द रचता। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ऐसे अनेक शब्दों का जो ग्रामीण हैं किन्तु साहित्यिक भाषा में भी प्रयुक्त होते हैं वर्णन करते हुए लिखा है कि यदि हम लोक-साहित्य का सहारा लें तो हमें कृषि, ऋतु, रोग तथा अन्य अनेक विषयों के लिए पचास हजार नये शब्द मिल जायेंगे। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में भी हमें बहुत सहायता मिलेगी।

विचार गाम्भीर्य की दृष्टि से भी लोक-साहित्य शिक्षित साहित्य से हलका नहीं उतरता। निम्नाङ्कित पद की तुलना सन्त बिचारधारा से की जा सकती है—

"आतम दुलहिन वरमनमान।
तेयो परमातम तेजनिआन ॥
सतगुरु शब्द कहल अगुवाई।
भँवरा लै ऐलिहि लगन लिवाई ॥
बाबा के करम से रहले ठगाई।
मायामोरी माई परेलि मुरझाई ॥

× × ×

धरनी नीके दशम दुवार।
जिन्ह विश्वास मिलेल परिवार ॥

—बाबू दुर्गाप्रसादसिंह—भोजपुरी

आत्मा तो दुलहिन है, वर परमात्मा है, सतगुरु के उपदेश ने अगुवाई की। मोरा लगन लिये आया। पिता कर्म से ठगे गए। माता (माया) मुरझा गई। जिनको विश्वास होता है उनको मूल परिवार (परमात्मा) मिल जाता है। (रहस्यवादी विचार वाले सन्तों के पदों से कितना साम्य है)।

रस की दृष्टि से यदि तुलना की जाय तो भी लोक साहित्य शिक्षित साहित्य से कम धनी नहीं है। आचार्यों ने यद्यपि नौ रसों एवं तेतीस सञ्चारियों का नामकरण कर दिया है किन्तु शिक्षित साहित्य कुछ ही रसों (वीर, शृंगार, वात्सल्य वगैरह) तक सीमित है। लोक साहित्य में विभिन्न रसों के लिये विभिन्न प्रकार के गीत तथा अवसर है। वीर रस के लिए 'आल्हा' तथा अन्य राजस्थानी गीत, शृंगार के लिये विरहा, शेरा, मल्हार, कजली आदि, वात्सल्य तथा करुणा के लिये सोहर तथा हास्य के लिये फाग तथा गारी आदि गीत हैं जो उत्तर-प्रदेश बिहार, राजस्थान, बघेलखण्ड, बुन्देलखण्ड आदि स्थानों में विभिन्न नामों से गाये जाते हैं। बाबू दुर्गाप्रसादसिंहजी के अनुसार भोजपुरी के नब्बे प्रतिशत गीत करुण रस के हैं।

आदान-प्रदान की दृष्टि से लोक-साहित्य एवं शिक्षित साहित्य दोनों एक दूसरे के ऋणी हैं। स्वर्गीय रामचन्द्रजी शुक्ल ने सूरसागर तथा जायसी के पद्मावत को उत्तरी भारत विशेषकर अवध में चली किसी मौखिक परम्परा पर आधारित माना है। शिक्षित साहित्य के स्फुट गीतों पर भी लोक-साहित्य का प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार लोक-भाषा में अनजाने ही कभी-कभी जो नये-निखरे शब्दों का दर्शन मिल जाता है वह शिक्षित साहित्य के ही कारण है।

शिक्षित साहित्य विचार-प्रधान होने के कारण वादों पर आधारित है। वादों की आयु निस्सन्देह कम होती है इसलिए शिक्षित साहित्य में स्थायित्व नहीं होता। जबकि लोक-साहित्य अनुभूति प्रधान होने के कारण स्थायी है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि लोक-साहित्य एक बँधा हुआ कुएड है वरन् लोक साहित्य भागीरथी है जिसने प्रवाह को ही जीवन माना है।

भावपक्ष की तुलना की दृष्टि से लोक-साहित्य शिक्षित साहित्य से बहुत आगे है। लोक गायक की बोल में हृदय लिपटा चला आता है। प्रेम एवं करुणा का मार्मिक चित्रण निम्नाङ्कित सोहर में देखा जा सकता है—

"छापक पेंड़ छितखिया तो पतवन गहवर हो,
अरे रामा,
ओहीं तरे ठाढ़ि हरिनिया तो मन अति अनमन हो।
रामा चरतइ चरत हरिनिया तो हरिनी से पूँछह अछ हो।
हरिनी कि तोर चरहा झुरान कि वानी विन अनमन हो।
नहिं मोर चरहा झुरान न पानी विन मुरझिऊं हो।
हरिना राजाजी की छट्ठी है आज तोहई मारि डरिहई हो।

घने पत्तों वाले टेसू के पेड़ के नीचे मुरझाई हुई हरिणी खड़ी है। जब उसके इस निराशा का कारण हरिण उससे पूछता है तब वह उत्तर देती है कि मेरी उदासी का कारण यह नहीं कि मेरा चारागाह सूख गया है अथवा पानी नहीं मिला, वरन् बात यह है कि आज राजकुमार की छठी है और तुम्हें मार डाला जायगा।

उस दुखिया का पति मार डाला जाता है फिर भी हरिणी रानी के पास चमड़े के लिए प्रार्थना करने जाती है। वह अपने बिछुड़े प्रीतम की निशानी अपने मन बहलाने के लिए चाहती है।

रानी मसुबा तो सिझिहौ रसोइयां खलरिया हमें देतिउ हो।
रानी पेड़वा से टांगब खलरिया तो मन समुझाउब हो।
रानी हेरिफेरि देख वह खलरिया जबुक हरिना जीतइ हो।

हृदय की इस मार्मिक उक्ति की तुलना में कोई अलङ्कार विशारद टिक नहीं सकता। कितना करुणा से पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कौन वियोगिनी अपने प्रीतम की कुछ निशानी नहीं चाहती।

रानी इंकार कर देती है। हरिण के चाम से डफली बनवाई जाती है और—

"जब-जब बाजइ डफलिया शब्द सुनि अनकइ हो ।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ हो ।"

अपने निकटतम सम्बन्धी की चर्चा मात्र से हमारे स्मृति पटल पर उसका ध्यान आ जाता है तब भला सुख-दुःख के सगे प्रीतम की ही बनी डफली की थाप में यदि हरिणी को 'हरिन की तौर चरहा झुरान कि पानी बिन मुरझिउ हो' सुनाई पड़ता रहा हो तो क्या आश्चर्य ।

दहेज के कुपरिणाम से खीझी हुई एक मां की झुँझलाहट देखिये—

"नीले-नीले घोड़वा छयल असवरवा, कि कुरखत हनई निशान ।
खिरकी उघारि के अम्माजी निरखे धिया दश ओरहि होइ ।
भयल बिआह परेल सिर सेन्दुर नौलख दायज थोर ।
भितरा माड़ बहर दइ मरली सतरू के धिया जाने होइ ।"

नीले घोड़े पर सवार सजीले जवान वर को देख कर मां ने सोचा काश ! दश बेटियाँ और होतीं, किन्तु जब ब्याह में नौ लाख दहेज भी थोड़ा पड़ा तो भीतर का वर्तन बाहर पटकने लगी (झुंझलाहट का कितना सुन्दर चित्रण है) और कहने लगी भगवान शत्रु को भी बेटी न दे ।

पशु-मनोवैज्ञानिकता का एक बघेली गीत देखिये—

एक बन बगरी है छेरिया बोकरिया दूजो बन बगरी है गाय ।
तीजो बन बगरी है राम की हरिनिया की चौंकि-चौंकि फल खांय ।"

हरिणी का चौंक-चौंक कर चरना कितना सूक्ष्म निरीक्षण है ।

अचेतन प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित करना कोई नई बात नहीं है कालिदास के यक्ष ने मेघ को दूत बनाया था । पन्त ने भी प्रकृति को एक स्थल पर मां कहा है किन्तु एक अशिक्षित नायिका को देखिये जिसने कितने नम्र शब्दों में मेघ एवं बदली से अपनत्व स्थापित किया है—

"काली बदरिया से ते मोर माई कि मेघ लगे मोर भाय ।
आजु की रतिया ओनई के बरसे कि कन्त घरे रह जाय ।"

काली बदली तू मेरी मां है और मेघ मेरा भाई अस्तु तुम आज की रात इतना जल वर्षण करो कि मेरा परदेशी प्रीतम घर पर ही रह जाय । यहाँ प्रकृति का मानवीकरण ही नहीं किया है वरन् उसे आत्मीय भी बना लिया है ।

कला की दृष्टि से शिक्षित साहित्य, हो सकता है कि कुछ बढ़ जाय क्योंकि एक तो वह प्रयास प्रसूत है दूसरे पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित भी । किन्तु ग्रामीण गायक, उन सन्तों की तरह है जो अपनी बानी कहना जानता है और यदि कोई अलङ्कार शास्त्री उसमें भी अलङ्कार आदि ढूंढ़ निकाले तो उसका भाग्य । फिर भी हम लोक साहित्य को हलका नहीं पाते । निम्नाङ्कित गीत में पं० रामनरेशजी त्रिपाठी ने यह दिखाया है कि किस तरह से लोक गायक नवीन उपमानों की रचना कर लेता है ।

रेलिया होइ गई मोर सवतिया पिय के लादि ले गई हो ।

रेल की उपमा सौत से देना एक बिलकुल नवीन किन्तु उपयुक्त उपमान है ।

इसी प्रकार निम्न उद्धरण में कुछ नवीनता तथा कुछ परम्परागत उपमानों के दर्शन हो जायेंगे ।

"अलबेली जच्चा रानी खूब बनी,
जैसे रेसम के लच्छा जच्चा रानी केश बनी ।
जैसे चन्दन के होरछा जच्चा रानी माथ बनी ।
जैसे आम के फंकिया जच्चा रानी नैन बनी ।
जैसे सुग्गा के ठोरवा जच्चा रानी नाक बनी ।
जैसे अनार के कलिया जच्चा रानी होठ बनी ।
जैसे केरा के खमिया जच्चा रानी जाँघ बनी ।
जैसे केरा के छीमिया जच्चा रानी अंगुरी बनो ।"

यह नखशिख वर्णन परम्परागत है किन्तु मस्तक की उपमा चन्दन पीसने वाली शिला से (विशालता दिखलाने के लिए) होंठ की तुलना अनार की कली से, एवं अंगुलियों की तुलना केले की छीमियों से करना मौलिक है ।

भाषा की जो सजीवता लोक साहित्य में परि-

लक्षित होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जिन गीतों में जो शब्द हैं उनके स्थान पर दूसरे पर्यायवाची रख देने से उनके सौन्दर्य एवं मिठास दोनों में कमी आ जाती है।

अस्तु मैं भी स्वर्गीय शुक्लजी के शब्दों में कहना चाहूँगा कि भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने परिचित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। केवल पण्डितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा ही अलम् नहीं है।

'कुरुक्षेत्र' और उसका षष्ठ सर्ग

श्री शम्भुनारायण लाल एम० ए०

कुरुक्षेत्र 'दिनकर' की सर्वश्रेष्ठ काव्य कृति है। यों तो इसे सप्त-सर्ग-बद्ध पौराणिक प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है, पर इसकी पौराणिकता की अपेक्षा इसकी नवीनता ही अधिक दृढ़ है। इसकी प्रबन्धात्मकता पर तो 'दिनकर' जी ने स्वयम् ही कहा है—"कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है। प्रायः सोचता ही रहा हूँ, भीष्म के सम्मुख पहुँच कर कविता जैसे भूल सी गई हो।" स्पष्टतः कुरुक्षेत्र एक चिन्ता प्रधान लम्बी पर नवीन कविता ही जान पड़ती है। प्रो० नगेन्द्र जी ने इसे अभी समाप्त होने वाले योरुप के द्वितीय महासमर से प्रेरित एक लम्बी "चिंता प्रधान कविता" माना है और डा० देवराजजी ने उसे "एक समस्यामूलक काव्य" कहा है। 'दिनकर' के अपने शब्दों में "कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"

'कुरुक्षेत्र' की समस्या युद्ध की औचित्य और अनौचित्य की समस्या है। कवि की दृष्टि में युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है। किन्तु उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछा कर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है, या उस पर जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है? इन्हीं समस्याओं पर कुरुक्षेत्र आधारित है।

'दिनकर' के इस काव्य में 'कुरुक्षेत्र' युद्ध का प्रतीक है और 'युधिष्ठिर' और 'भीष्म' कवि के विचारों के पक्ष और विपक्ष के प्रतिनिधि। युधिष्ठिर और भीष्म को ही आधार बना कर कवि युद्ध के औचित्य और अनौचित्य की समस्या को लेकर हृदय में उठने वाली उस शङ्का के समाधान की ओर अग्रसर हुआ है जिसने उसे द्विविधा में डाल अस्थिर कर दिया है। दूसरे शब्दों में हम युधिष्ठिर को अहिंसा का प्रतीक कह सकते हैं जो किसी भी परिस्थिति में युद्ध को उचित नहीं मान सकता। और भीष्म को उस न्याय भावना का प्रतीक कह सकते हैं जो युद्ध को उचित ही नहीं पर अन्याय के दमन के लिए निःसङ्कोच भाव से आवश्यक भी मानता है। 'कुरुक्षेत्र', 'युधिष्ठिर' और 'भीष्म' इन्हीं तीनों प्रतीकों के सहारे दिनकर ने अपने हृदय और मस्तिष्क को विचलित बना देने वाली युद्ध की भीषणता से मुक्ति पाने की चेष्टा की है। इसी चेष्टा में 'दिनकर' ने षष्ठ सर्ग में धरणी पर स्वर्ग को उतारने की अभिलाषा की है। उन्होंने महाभारत के भग्नावशेष पर हिंसा लोलुप मानव को ज्योति प्रदान करने के लिए "नवधर्म का दीप" जलाना चाहा है। इसी सर्ग में उन्हें पूर्णरूपेण अपनी आत्मा की वाणी को झंकृत करने का अवसर भी मिला है। डॉ० नगेन्द्रजी ने इस सर्ग को प्रक्षेप स्वीकार किया है। इस सर्ग में कवि के विचारों की प्रधानता है। एक ओर तो उन्हें मनुष्य का वैज्ञानिक विकास चमत्कृत करता है तो दूसरी ओर मनुष्य के चारित्रिक पतन को देख, वे विह्वल हो उठते हैं। 'दिनकर' के सम्मुख आज के मानव की विचित्र स्थिति ही आ उपस्थित होती है और उन्होंने इसी का विशद वर्णन किया है। युद्ध की परम्परा आज की नहीं पर प्राचीन परम्परा है और प्राचीन काल से ही वह ज्यों की त्यों चली आ रही है। आज का युग प्राचीन युग नहीं रहा, वह वैज्ञानिक युग हो गया है। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है। आकाश की विशालता

अब नहीं रहीं, मनुष्य के सम्मुख वह संकुचित हो गई है। यदि मनुष्य की इस प्रगति पर दिनकरजी विचार करते हैं तो उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य ने केवल बुद्धि की प्रगति की है। मनुष्य का हृदय पिछड़ा रह गया है—

"किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष—
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।"

दिनकर के विचार से मस्तिष्क की इस प्रगति का फल अच्छा न हुआ। विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य को वासना का दास बना दिया। मनुष्य का भीषण पतन हुआ। उसकी पशुता जागती गई और देवता का ह्रास होता गया। इसीलिए तो उन्होंने कहा—

"नर मनाता नित्य नूतन, बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।"

अहिंसा के अनन्य पुजारी, शान्ति के सशक्त स्तम्भ पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी इसी प्रकार की धारणा अपनी "Discovery of India" में व्यक्त की है—"The world of to-day has achieved much but for all its declared love for humanity, it has based itself for more on hatered and violence than on the virtues that make man human."

विज्ञान ने मनुष्य को उच्च आकाश में उड़ाया पर उसका हृदय ऊपर उठ न सका। राजा राधिकारमणप्रसादसिंह ने भी कहा है—"हम भी साइन्स के करिश्मे देख कर दङ्ग हैं। यह उसी की शान है कि आज इतनी लम्बी-चौड़ी दुनिया सिमट कर हमारी मुट्ठी के भीतर आ गई है। मगर हाँ, वह मुट्ठी ही तक रही, छाती तक नहीं उतरी। आदमी को उसने आसमान पर उड़ा दिया पर साथ-साथ उसके दिल को ऊँचा उठा न सका। उसने बल को तो बढ़ाया पर दिल को बढ़ने नहीं दिया।"

इधर आदमी की तरक्की है, उधर आदमियत की तबाही। इधर दिमाग का बोलबाला है, उधर दिल का दिवाला……राजनीति हँस रही है, नीति रो रही है। बल ताल ठोकता है, शील कपाल ठोकता है।*

पर मस्तिष्क का विकास सब कुछ नहीं है। जिस प्रकार मस्तिष्क का विकास विज्ञान ने किया उसी प्रकार हृदय का विकास भी होना चाहिए। उसके लिए स्निग्ध, सौम्य, एवं पुनीत बनाने वाली भावना का आगमन होना चाहिये। स्नेह से सिक्त न्याय पर नये विश्व का निर्माण आवश्यक है। दिनकर जी ने इसी सर्ग में मानव हृदय की उन्नति की कामना की है। और इसीलिये परम पिता परमात्मा से पूछा है—

"धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा
विश्व में भगवान्!"

उनकी कामना है कि सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त हो, जली सूखी रसा के प्राण सरस हो जायँ।

इस सर्ग में दिनकर ने मानवता का महान् आदर्श संसार के सम्मुख रखा है और कहा है—

यह मनुज, जो ज्ञान का आगार!
यह मनुज जो सृष्टि का शृङ्गार!
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो विचारो कृत्य!
यह मनुज संहार सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाखण्ड इसका ज्ञान।
यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम अपमान।

अतः उन्होंने सात्विक वृत्ति का हृदय से स्वागत किया है और युद्ध की ज्वर-भीति से मानव को मुक्त करना चाहा है। इसके लिए उन्होंने साम्य की स्निग्ध एवं उदार रश्मि का आवाहन् किया और इस निष्कर्ष पर अपने को पाया कि यह तभी सम्भव है जब मनुष्य में समता विधायक ज्ञान एवं स्नेह सिंचित न्याय का आगमन होगा और मनुष्य नव विश्व का निर्माण कर सकेगा तथा समर एवं शोषण रहित संसार में सुधा का कोष सन्तोष की स्थापना कर सकेगा। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य को सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर विकसित होने का अवसर मिलेगा और धर्म का

---

* जिसकी जवानी, उनका जमाना।

आलोक प्राप्त कर मनुष्य, मनुष्य से उचित सम्बन्ध जोड़ सकेगा। अतः साम्य की स्निग्ध ज्योति के लिए पवित्र हृदय से उन्होंने कामना की है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषित—
हो सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण?

'दिनकर' जी ने इस सर्ग में अपनी कला का जो रूप उपस्थित किया है, वह स्तुत्य है। यदि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी प्रतिभा अभिव्यक्ति एवं कला का सुन्दर रूप सरसतापूर्वक 'साकेत' के 'नवम् सर्ग' में उपस्थित किया है और प्रसादजी ने 'कामायनी' के 'श्रद्धा सर्ग' में तो दिनकरजी ने 'कुरुक्षेत्र' के 'षष्ठ सर्ग' में। दिनकरजी की सफलता पर देवराज ने कहा भी है—"कुरुक्षेत्र की कविता का धरातल खड़ी बोली के श्रेष्ठ काव्य का धरातल है। विचार प्रधान होते हुए भी कुरुक्षेत्र न तो अमूर्त्त हो पाया है न धुँधला या अस्पष्ट। यह दिनकरजी की निर्माण कुशलता का ज्वलन्त प्रमाण है। उनकी अनुभूति सर्वांश में प्रकृत कलात्मक अनुभूति है और उसकी अभिव्यक्ति वैसी ही हुई है। इस दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' का कवि कामायनी के प्रणेता से कहीं अधिक सफल हुआ है।" यह कथन दिनकरजी के 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण सत्य है।

चीनी एकांकी साहित्य

श्री हीरालाल पंडित बी० ए०, सा० र०

चीन की प्रसिद्ध मासिक नाट्य पत्रिका 'चू-एन' ने गत वर्ष एकांकी नाटकों की प्रतियोगिता का एक सुन्दर आयोजन किया था। उस प्रतियोगिता में कुल मिलाकर ६६७ एकांकी भेजे गये थे।

इन सभी एकांकियों में सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त एकांकी का नाम है 'स्त्री प्रतिनिधि'। इस एकांकी के लेखक हैं श्री 'सून्यु'।

राज्याश्रित नाट्य संस्था की ओर से यह एकांकी पाँच सौ से भी अधिक बार सफलतापूर्वक विभिन्न स्थानों तथा अनेक अवसरों पर खेला जा चुका है।

द्वितीय पुरस्कार विजेता एकांकी का नाम है 'क्वालिटी फर्स्ट'। इस एकांकी में इस बात की झाँकी कराने का सफल प्रयास किया गया है कि लाल चीन के ग्राम्य प्रदेशों में किस शीघ्रता से यन्त्रीकरण का काम किया जा रहा है।

तृतीय पुरस्कार प्राप्त है एक व्यंग्य और हास्य प्रधान एकांकी, जिसका नाम है 'मुलाकात'।

चीनी एकांकी नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। आजादी के बाद चीनी एकांकी साहित्य का बहुत विकास हुआ। कई एकांकी रङ्गमञ्च पर सफलतापूर्वक खेले गये। ऐसी कई संस्थाएँ भी खुल गईं जिन्होंने स्थान-स्थान पर अनेक एकांकी खेल कर जनता को इस नई नाटकीय अभिव्यक्ति की ओर आकर्षित किया।

इन एकांकियों ने नाटकों का रङ्ग फीका कर दिया है। सामान्य जनता इन एकांकियों को नाटकों की अपेक्षा अधिक पसन्द करती है। लाखों की तादाद में लोग एकांकी देखने जाते हैं।

नये उदीयमान कलाकार एक ओर यदि एकांकी के तन्त्र, स्वरूप, टेकनीक आदि की ओर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं तो दूसरी ओर कथावस्तु जनता की अभिरुचि, जन कल्याण, समाज, राष्ट्र की समस्याओं तथा अवश्यकताओं पर भी ध्यान देते हैं।

'पति-पत्नी' एक ऐसा ही एकांकी है। इसमें पति-पत्नी के परम्परागत मान्य सम्बन्धों पर कस कर व्यंग्य किए गए हैं और बदली हुई परिस्थिति के अनुसार बदलने का संकेत किया गया है।

ये कलाकार एकांकी के आरम्भ पर अधिक ध्यान देते हैं और फिर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से उसका विकास करते हैं।

ये एकांकी नृत्य प्रधान भी होते हैं और गीत प्रधान भी। इनके लेखक भी प्रायः किसानों और मजदूरों से ही निकले हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि चीनी एकांकी साहित्य का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है।

साहित्य परिचय

आलोचना

आलोचना के सिद्धान्त—लेखक—श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ—२०६, मूल्य ४)

हिन्दी में आलोचना के सिद्धान्तों पर यद्यपि अनेक पुस्तकें मिलती हैं तथापि कुछ पुस्तकों में तो पश्चिम के सिद्धान्तों से पाठकों को परिचित कराने का दृष्टिकोण प्रमुख रहता है और कुछ पुस्तकों में देशी समालोचना शास्त्र का परिचय दिया जाता है। लेखक अपनी रुचि के किसी एक आचार्य के मतों से सहमत होकर उसी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है, कतिपय पुस्तकों में केवल अभिज्ञता-प्रदर्शन का प्रयत्न अधिक होता है। हिन्दी में एक ओर इङ्गलैण्ड के आलोचना-सिद्धान्तों को साहित्य पर आजमाया जाता है, रूसी सिद्धान्तों को विना देश-काल, पात्र का विचार किए लागू कर दिया जाता है, जिसका फल 'कुत्सित समाज शास्त्र' होता है तो दूसरी ओर मम्मट, विश्वनाथ, पं० राज के निष्कर्षों को शाश्वत माना जाता है। अतः आलोचना को एक ओर से विदेशी साहित्य के तोतों से खतरा है तो दूसरी ओर अपने यहाँ के गड्डलिका प्रवाहवादियों से। अब जबकि हम देश-विदेश के सौन्दर्य शास्त्र से परिचित हो चुके हैं, हो रहे हैं, तो आवश्यकता यह है कि आज के साहित्य के मूल्यांकन के लिए दूसरों के मापदण्डों का तटस्थ दृष्टि से अनुशीलन करें, उनकी सीमाओं से परिचित हों और सारग्राहिणी प्रतिभा से उनसे सहायता लेकर अपने सिद्धान्तों का निर्माण करें। आदर्शवादी व प्रगतिवादी दोनों क्षेत्रों में अभी यह काम नहीं हो सका। प्रस्तुत पुस्तक में देशी-विदेशी सभी प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय देकर वाद-विशेष के आग्रह से बचकर "मानवतावादी" दृष्टि अपनाकर आलोचना के सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न किया गया है। सौन्दर्य और अभिव्यञ्जना, कलाओं का विभाजन, समालोचना का विकास, चित्रकला व काव्यकला, कल्पना, समालोचक का अधिकार व कर्तव्य आदि विषयों पर विभिन्न विद्वानों के मत देकर अपना अभिमत व्यक्त करने में पूर्ण तटस्थता का निर्वाह किया गया है। एडीसन, लेसिंग तथा कजिन्स के ऊपर अच्छा विचार किया गया है। परम्परावादियों व कुत्सित समाज शास्त्रियों—दोनों को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए, सामान्य विद्यार्थी के लिए भी यह पुस्तक शिक्षाप्रद है।

—वि० ना० उपाध्याय

हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलिया—लेखक—श्री रामगोपालसिंह चौहान, प्रका०—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ २१५, मूल्य ४)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने हिन्दी-गद्य की विविध विधाओं की नवीनतम रचनाओं एवं उनके रचयिताओं का शैलीपकर तथा चेतनागत परिचय दिया है। इसमें

सन्देह नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक में कुछ लेखकों एवं कुछ कृतियों का परिचय छूट गया है और कुछ अति साधारण नए लेखकों को स्थान दिया है। उदाहरणार्थ आलोचकों में आचार्य विनयमोहन शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवनाथ, कमलाकान्त पाठक आदि प्रेमचन्द को निबन्धकार के रूप में, नाटककारों में बोरगाँवकर, मिलिन्द आदि। यह कमी होते हुए भी लेखक का प्रयास सराहनीय है। आशा की जानी चाहिए कि दूसरे संस्करण में यह कमी न रहेगी। पुस्तक छात्रों के लिए, इतिहास-लेखकों के लिए एवं हिन्दी गद्य का विकास जानने के लिए उपयोगी है—इसमें दो मत नहीं हो सकते। लेखक की शैली में विश्लेषण की कमी नहीं है। मूल्याङ्कन तर्कसङ्गत ढङ्ग से किया गया है। विचारों में सर्वत्र गम्भीर संयम परिलक्षित है। आशा है, पुस्तक छात्र-वर्ग में विशेष रूप से लोकप्रिय होगी। —महेन्द्र भटनागर

तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त—लेखक–यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६०, सजिल्द, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में तुलसी कृत ग्रन्थों की गम्भीर परख है। रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, गीतावली व कवितावली पर विशेष ध्यान रखते हुए, तुलसी की प्रत्येक रचना सूक्ष्म व गवेषणात्मक दृष्टि से देखी गयी है।

पुस्तक नौ अध्यायों में विभक्त हैं। इन अध्यायों में क्रमशः तुलसीदास की जीवनी, तुलसीकालीन परिस्थितियों तथा विचारधाराओं, तुलसी की रचनाओं और उनकी भाषा, तुलसी की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति, तुलसी के आध्यात्मिक तत्त्वों, तुलसी की धर्म-भावना, तुलसी की भक्तिधारा आदि पर विचार किया गया है। प्रत्येक अध्याय में स्वगत-स्थापन का प्रयास किया गया है जो श्लाघ्य है।

पुस्तक लिखते समय लेखक को उन पाठकों का पर्याप्त ध्यान रहा है जो तुलसीदास पर लिखे गए दीर्घकाय ग्रन्थों की भूल-भुलैयों में भटकते हैं और अन्त में कुछ ठोस वस्तु पाने की अपेक्षा अन्यान्य उलझनें लिए हुए बाहर निकलते हैं। 'थोड़े में बहुत' इस ग्रन्थ की विशेषता है। लेखक ने मतभेदों के निराकरण का प्रयत्न किया है। विशेष रूप से तुलसी के धार्मिक सिद्धान्तों, उनकी मान्यताओं व आस्थाओं विषयक मतों को स्थिर किया है। पुस्तक पठनीय व संग्रहणीय है। —तपेशकुमार चतुर्वेदी

कविता

सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-रूपक—लेखक–श्री सिद्धनाथकुमार, प्रकाशक–पुस्तक मन्दिर, बक्सर (आरा) पृष्ठ १७५, मूल्य ४॥)

मैं गतिरोधवादी तो नहीं हूँ परन्तु यह सही है कि विकलाङ्ग अनुभूति, जन-हृदय से अपरिचय तथा बौद्धिक दम्भ के कारण आज कविताएँ मार्मिक नहीं हो पातीं। कवि सम्मेलन में गले के जोर पर कविता हमें आकर्षित करती भी है परन्तु बाद में उसी कविता के मौन-पाठन के पश्चात् पाठक असन्तोष अनुभव करता है। कहा गया है कि संवेदनाओं, विचारधाराओं के परिवर्तित हो जाने से अब नई काव्य-विधाएँ ही मार्मिक हो सकती हैं, और ऐसी काव्य-विधाएँ हैं भी अनेक जो इधर विकसित हुई हैं इन्हीं में से एक 'काव्य रूपक' भी है। पन्तजी, उदयशङ्कर भट्ट आदि ने काव्य-रूपक लिखे हैं परन्तु इनमें पन्तजी के काव्य रूपकों में क्रिया का अभाव, दार्शनिकता का आधिक्य, शब्दावली की दुरूहता, घोषणात्मकता तथा शैली की एकरसता अधिक पाई जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में कुमारजी के पाँच रूपक संग्रहीत हैं। मुझे ये काव्य-रूपक इसलिए अधिक रुचिकर प्रतीत हुए क्योंकि इनमें सामाजिक समस्याओं को सरल किन्तु लययुक्त मुक्त छन्द में प्रस्तुत किया गया है। पन्तजी के काव्य-रूपकों में—रजत शिखर, शिल्पी आदि में अन्तःश्चेतनावाद का प्रचार मात्र है और वह भी जटिल शैली के माध्यम से, क्रिया (Action) का वहाँ अभाव है। कुमारजी के रूपकों में प्रवाह युक्त मुक्त छन्द में आंतरिक सङ्घर्ष से कथानक के माध्यम

बड़ी सफलता से चित्रित किया गया है। जीवन जैसा है वैसा ही इन काव्य-रूपकों में उतरता है यथा "सृष्टि की साँझ" पुरुष की एकाधिकारिता की वृत्ति पर प्रहार किया गया है परन्तु यह सत्य स्वतः कथा संवाद व चित्रण से व्यक्त होता है, पन्तजी की तरह उसकी घोषणा नहीं होती। कुमार की सामाजिक चेतना अधिक जागरूक है उसमें एकान्तिक, कल्पनामय, गति रहित चित्रण नहीं मिलते। हम इस नई प्रतिभा का स्वागत करते हैं और वेनीपुरीजी को आश्वासन दिलाते हैं कि हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत होने पर भी उसमें नई प्रतिभाओं की वाणी को सुनने वाले भी विद्यमान हैं। —वि० ना० उपाध्याय

उपन्यास

जहाज का पंछी—लेखक—श्री इलाचन्द जोशी, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ५५२, मूल्य ७)

'जहाज का पंछी' विद्रोही कवि निराला को समर्पित किया है और निश्चित् रूप से इस उपन्यास में उस विद्रोह के प्रति लेखक सजग है जो निराला, प्रेमचन्द, यशपाल, रांगेयराघव की वाणी का विषय रहा है अर्थात् समाज के अन्तर्विरोधों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही विद्रोह का एकमात्र सहायक पथ है। 'जहाज का पंछी' में एक व्यक्ति अपनी स्वयं कहानी कहता है। यह व्यक्ति कलकत्ता महानगरी के नरकों में स्वयं साझीदार बनता है—वह भिखारी बनता है, पुलिस के अत्याचार सहता है, वेश्याओं व पहलवानों के जीवन को देखता है, भादुड़ी महाशय जैसे व्यवसायी व नेता-प्रिय नागरिकों की हमदर्दी व क्रोध का शिकार बनता है, एक धोबी के यहाँ रहकर 'वेला' जैसी लड़की का प्रेम पाता है, चकले के नारकीय जीवन को देखता है, और अन्त में एक अभिजात वर्ग की 'लीला' नामक लड़की के प्रेम में बँधकर—पहले तिरस्कार कर परन्तु उसके त्याग से वश में होकर 'जहाज के पंछी' की तरह एक आत्म-तुष्टि या आत्मोपलब्धि की स्थिति में अपने स्वाभाविक जीवन को अपनाता है। उपन्यास का अन्त प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की तरह सुधारवादी ढङ्ग पर हुआ है। 'लीला' अपने प्रेम के लिए सम्पत्ति का त्याग कर देती है परन्तु विभिन्न वर्गों में पले व्यक्तियों की चेतनाओं का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास की विशेषता है। सबसे बड़ी कमी इस उपन्यास की यह है कि एक मध्यवर्ग का व्यक्ति जिसे "आत्म-ज्ञान" कहता है—जो संस्कारों का संघात मात्र है और कुछ नहीं, उससे लेखक अन्त में समझौता कर लेता है और तभी यह कह दिया गया है कि "ऐसा कौनसा कार्य है जो उसने (जिसकी कहानी कही गई है) अन्तस् की संतुष्टि के लिए न किया हो" अर्थात् सारे यथार्थ जीवन के चित्रण को लेखक आत्मानुभव का साधन मात्र समझ कर करता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करता यह गलत है। व्यक्ति की चेतना स्वयं इसी बाहरी यथार्थ से 'आत्मानुभव' के नाम पर स्वयं अपने लिए, समाज के लिए युग-युगों से विडम्बना बनती आई है, जोशीजी इसे जानते हैं। वर्गीय मनोवृत्ति वर्गीय संस्कारों पर विजय दिखाना ही यथार्थवादी दृष्टिकोण का उद्देश्य है। उपन्यास के अन्त में लेखक इस दृष्टिकोण का विरोधी बन कर विद्रोह को सस्ते सुधार में बदलकर 'लीला' की प्रेमलीला की विजय दिखाता है—व्यक्ति की समाज पर विजय दिखादी जाती है। लीला जैसी लड़कियों के—लाखों रुपये दान देने मात्र से समाज नहीं बदल सकता। समाज की मूल व्यवस्था के बदलने का प्रश्न है जिसके न बदलने से कलकत्ता के नारकीय जीवन को लेखक चित्रित करने चला है—जोशीजी जानबूझ कर अन्त में अपनी पुरानी आदतों से समझौता कर लेते हैं। परन्तु आत्मानुभूति के प्रचार को एक ओर रखकर—उपन्यास के अन्त पर विचार न कर यदि आज के समाज की दशा को देखना चाहें तो मैं कहूँगा कि 'जहाज का पंछी' पढ़िये—इधर सभी नये उपन्यासों में यह उपन्यास श्रेष्ठ माना जा सकता है। विष्णु-प्रभाकर के 'निशिकान्त' में आर्य-समाजी उथलापन

तथा दूसरी ओर जैनेन्द्र की दृष्टि अपनाने से जो अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया है उसने एक ओर तो निशिकान्त को सहज जीवन से ऊपर उठे हुये कुछ स्वयं अपने से मिलते,जुलते आदर्शवादी पात्र में बदल दिया है और दूसरी ओर विना किसी गम्भीर परिस्थिति के ही हैमलिट-चिन्तन की पद्धति अपना कर लेखक ने जैनेन्द्र का सफल अनुकरण अवश्य किया है। सजीव साहसी पात्र का निर्माण वह नहीं कर सका। 'जहाज का पंछी' का नायक निशिकान्त की तरह भावुक नायक नहीं, वह बौद्धिक रूप से अधिक जागरूक, क्रियात्मक रूप से अधिक साहसी और इसीलिये अधिक ईमानदार नायक है। बस, अध्यात्मवादी प्रवृत्ति का स्पर्श उसे अन्त में सुधारवाद की ओर मोड़ देता है, अन्यथा 'जहाज का पंछी' आज के यथार्थ का दर्पण माना जा सकता है। जिस प्रकार 'निशिकान्त' में नायक से अधिक आकर्षक पात्र 'पंडितजी' हैं इसी प्रकार 'जहाज का पंछी' में अधिक सफल पात्र 'चचा' हैं।

हम जोशीजी को इस उपन्यास के लिये बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि अगले उपन्यास में वह और भी अधिक सापेक्ष्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करेंगे।

निशिकान्त—लेखक—श्री विष्णुप्रभाकर, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० ३२४, मू० ५)

श्री विष्णु प्रभाकर से हिन्दी के पाठक परिचित हैं। उनका यह प्रथम सामाजिक व राजनैतिक उपन्यास है। इसका घटना चक्र १९२० से १९३९ तक बिखरा हुआ है। पहले यही उपन्यास वृहत् रूप में 'ढलती रात' शीर्षक से छपा था परन्तु उसे कुछ लोग ही पढ़ सके थे। अबकी बार लेखक ने २१९ पृष्ठ कम कर दिये जो वास्तव में बहुत बड़ी बात है। व्यर्थ विस्तार क्यों किया जाय! इस उपन्यास को जीवनी भी कहा जा सकता है। इसमें 'निशिकान्त' नामक मध्यवर्ग के एक व्यक्ति की कहानी है जो देश-भक्त, कथाकार, चरित्रवान, सुन्दर युवक है परन्तु सरकारी आफिस में एक साधारण क्लर्क है। निशिकान्त आर्यसमाजी होने पर भी और 'फिलहाल' हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को अलग-अलग मानकर भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या को आर्थिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखता है। हिन्दू-मुस्लिम दंगों में उसकी प्रेमिका 'कमला' का पति मोहनकृष्ण मारा जाता है और कमला अध्यापिका बन जाती है। कुमार कांग्रेसी है, ऊपर से आदर्शवादी और उदार, भीतर से दुर्बल। कुमार व निशिकान्त के लिए कमला के मन में द्वन्द्व है परन्तु निशिकान्त में रकाबत कहीं नहीं दिखाई जाती, अलबत्ता कुमार के मन में कुछ कमजोरी अवश्य आती है। अन्त में कुमार अपनी पूर्व पत्नी को—जो परिस्थितिवश पतित हो चुकी थी, स्वीकार कर लेता है और भयानक मानसिक सङ्घर्ष के पश्चात् कमला को निशिकान्त भी स्वीकार कर लेता है। उपन्यास का प्रारम्भ नीरस लगता है, परन्तु कुमार व कमला का मानसिक संघर्ष पूरी सावधानी व सहृदयता से चित्रित किया गया है। जैनेन्द्रजी की सैद्धान्तिक शैली का सफल अनुकरण यहाँ किया गया है। यद्यपि वह गहराई कहीं नहीं मिलती पर यह उपन्यास के हक में अच्छा ही हुआ है। सुरैया व हबीब जैसे पात्रों को पहले तो लेखक बहुत महत्त्व दे गया परन्तु पीछे उन्हें छोड़ देना पड़ा। कथा के त्रिकोण में उनका स्थान सम्भव भी नहीं था उन्हें वस्तुतः पहले से इतना महत्त्व देने की आवश्यकता थी ही नहीं। उपन्यास में परिस्थितियों का चित्रण—क्लर्क-वर्ग, विधवाओं की दशा, आर्यसमाजी का दम्भ आदि का चित्रण अच्छा बन पड़ा है परन्तु लेखक की राजनैतिक चेतना अधूरी ही रह गई है। आर्यसमाज, हिन्दू-मुस्लिम समस्या, बेकारी व प्रेम की समस्या ही मुख्य समस्याएँ हो गई हैं। इस उपन्यास में निशिकान्त से भी अधिक आकर्षक पात्र हैं 'पण्डितजी' जिनमें दम्भ व मनुष्यता का अद्भुत संयोग दिखाया गया है।

निशिकान्त के मानसिक द्वन्द्व के नीचे दोनों

कारण महत्त्वहीन हैं जब कि आर्यसमाज में विधवा विवाह बुरा नहीं माना जाता और कथाकार के लिए क्लर्की छोड़ देना कोई बहुत बड़ा त्याग नहीं था इसीलिए किसी ने 'निशिकान्त' को कायर कह दिया होगा और इसका अर्थ यह नहीं कि उपन्यास असफल रहा। हाँ सर्वश्रेष्ठ बताने की बात साहस की बात है जब कि 'जहाज का पंछी' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। और 'निशिकान्त' से उसे हीन नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह कहा जा सकता है कि विष्णुजी को आलोचकों से भी अब शिकायत न रहेगी।

उद्भ्रान्त—लेखक–श्री जैन कुमार, प्रकाशक–आनन्द प्रेस, भागलपुर। पृष्ठ २००, मूल्य ३)

उपन्यासों के व्यवसाय में लेखकों व प्रकाशकों को लाभ अधिक हुआ है, पाठकों को कम। कारण यह है कि चोरी के लेखकों ने अवचेतन की छानबीन और परिणामतः विकृतियों का चित्रण तो अधिक दिया है परन्तु जीवन को समग्र रूप में देखने की प्रवृत्ति इनमें नहीं मिलती। यह तो अति यथार्थवाद हुआ। यथार्थवादी उपन्यासों में समाज शास्त्र व इतिहास की झाँकियाँ तो मिलती हैं परन्तु उनके पात्र की मनःस्थिति का गहराई से वर्णन नहीं होता। ऐसे पात्र मिलते हैं जो सिद्धान्तों को रटते चलते हैं न उनमें संवेदना है न अंतर्द्वन्द्व। प्रस्तुत उपन्यास में अवचेतन का उद्घाटन अवश्य है परन्तु तिवारी व निरञ्जन दोनों में सद्वृत्तियों की भी विद्यमानता स्वीकार की गई है। कथा व वर्णनों में भी संतुलन है, पात्रों की मनःस्थिति का गहराई से वर्णन करते हुए उनमें व्यक्तिवादी, अराजकतावादी तथा अपराधवादी प्रवृत्तियों के ऊपर सच्ची सामाजिक क्रान्ति की भावना धीरे-धीरे जागृत की गई है। पात्र स्वयं ही परिस्थिति वश सोचते समझते, गलतियाँ और पश्चाताप करते हुए समाज के मुख्य रोग को पहचान लेते हैं, लेखक कुछ ऊपर से आरोपित नहीं करता। श्री जैनकुमार में जैनेन्द्रकुमार की गहराई तो है परन्तु वह डूब मरने के लिए तो नहीं होनी चाहिए।

—वि० ना० उपाध्याय

इतिहास

हिन्दू सभ्यता—लेखक–डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक–डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ३५०, मूल्य ६॥)

प्रस्तुत पुस्तक मूल लेखक डा० राधाकुमुद मुकर्जी की अँग्रेजी पुस्तक 'हिन्दू सिविलीजेशन' का हिन्दी अनुवाद है। मूल पुस्तक का बड़ा स्वागत हुआ था और इसके तीन संस्करण अंग्रेजी में हो चुके हैं। अनुवादक महोदय ने अनुवाद में बड़ी सूझ-बूझ, बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से काम लिया है। इस मूल पुस्तक में केवल ऐतिहासिक विवरण ही नहीं वरन् भूगर्भ पुरातत्व और नृ-विज्ञान आदि विज्ञानों की कठिन पारिभाषिक शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है। उसके अनुवाद में लेखक ने बड़ा कौशल दिखाया है। भवनों आदि की निर्माण सामग्री में विभिन्न प्रकार के पत्थरों का जो उल्लेख हुआ है उनके वे ही नाम दिये गये हैं जो मिस्त्रियों, कारीगरों और तत्सम्बन्धी संस्कृत फारसी आदि भाषाओं की पुस्तकों में प्रचलित हैं। अंग्रेजी पुस्तक में उल्लिखित संस्कृत और पाली आदि के शब्द और उद्धरण मूल ग्रन्थों से मिलाकर नागरी अक्षरों में लिखे गये हैं। इससे भारतीय विद्यार्थियों का विशेष उपकार होगा, क्योंकि रोम अक्षरों में लिखे हुए संस्कृत व पाली के शब्दों का विद्यार्थियों द्वारा ठीक उच्चारण नहीं होता। इस पुस्तक में पूर्व वैदिक काल से लगा कर ३५० ई० तक का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास दिया गया है, जिसमें भारतियों के ज्ञान विज्ञान और कला-कौशल का पूरा-पूरा विवरण आ गया है। इसमें महाभारत-कालीन और बौद्ध-कालीन प्राचीन भारत के मानचित्र भी संलग्न हैं, जिससे साहित्य में आये हुए प्राचीन नगरों और प्रदेशों का स्थान-निर्देश हो जाता है। इस पुस्तक में विद्वत्तापूर्ण पाद टिप्पणियाँ हैं जिनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। यह पुस्तक अंग्रेजी से अनुवादित ग्रन्थों का एक अच्छा उदाहरण उपस्थित करती है। —गुलाबराय

भगवानदास रचित 'शृङ्गार-सिन्धु'

प्राचीन हिन्दी साहित्य का अभी तक विषय विभाजन करके एक-एक विषय के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करने का प्रयत्न बहुत ही कम किया गया है। जबकि इस विषय की सामग्री बहुत भरपूर है उदाहरणार्थ कोष, छन्द, अलङ्कार, काव्यरीति, वैद्यक, कथा कहानी, गद्य-भाषा टीकाएँ भक्ति साहित्य आदि अनेक विषय के ग्रन्थ प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। थीसिस के लेखक व उनके निर्देशक इस ओर ध्यान दें तो हिन्दी साहित्य का सर्वाङ्गीण परिचय मिल सके। बहुत से ग्रन्थों के अवलोकन का अभी तक कोई अवसर नहीं आया, इसी से हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ का तो नाम निर्देश ही मिलता है और बहुतों का विवरण तो खोज रिपोर्टों में ही पड़ा है। साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उसका उल्लेख तक नहीं किया जाता। उन सब रचनाओं का मूल्यांकन तभी हो सकेगा जब एक-एक विषय को लेकर उस विषय के समस्त प्राप्त व ज्ञात ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय। ऐसा एक प्रयत्न डाक्टर भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' नामक अपना एक थीसिस में किया है। इसमें अपने विषय से सम्बन्धित १७५ हस्तलिखित व मुद्रित ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आपने अलङ्कार, रस, शृङ्गार और नायिका भेद और काव्य शास्त्र की प्राप्त रचनाओं का परिचय अपने ग्रन्थ में दिया है पर इस विषय के अभी और अनेक अज्ञात ग्रन्थ यत्र-तत्र प्राप्त है। मैंने अपने हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज के दूसरे और चौथे भाग में विविध विषय अज्ञात ४५० हिन्दी रचनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में (१) नाममाला, (२) छन्द, (३) अलङ्कार, (४) वैद्यक, (५) रतन परीक्षा, (६) सङ्गीत, (७) नाटक, (८) कथा, (९) ऐतिहासिक काव्य, (१०) नगर वर्णन, (११) सकुन, सामुद्रिक, ज्योतिष, सरोदय, रमल इन्द्रजाल (१२) हिन्दी ग्रन्थों की टीकाएँ। इन बारह विषयों के १८६ ग्रन्थों का विवरण प्रकाशित है। चौथे भाग में (१) पुराण (२) रामकथा (३) कृष्ण काव्य (४) संत साहित्य (५) वेदान्त (६) नीति (७) सतक (८) बावनी, बारहखड़ी बत्तीसी (९) अठोतरी छत्तीसी, पच्चीसी आदि (१०) जैन साहित्य (११) बारह मासा—इन ग्यारह विषयों की २१३ रचनाओं का और पूर्व भाग की पूर्ति रूप ४८ ग्रन्थों का विवरण दिया है। इस प्रकार ४५० रचनाओं को २३ विषयों में विभाजित करके विवरण दिये हैं जिससे इन विषयों के अन्य ग्रन्थों का सम्मिलित अध्ययन करने में सुविधा हो। हिन्दी साहित्य की खोज का कार्य तो ५५ वर्षों से हो रहा है पर इस तरह अज्ञात ग्रन्थों का विषय विभाजित कर विवरण देने का शायद मेरा प्रथम प्रयास है।

—अगरचन्द नाहटा,

काल के अन्तराल में डूबे हुए कवि श्री हरिचरणदासजी

जन्मस्थान—कवि के द्वारा ही लिखित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इनका जन्म बिहार प्रान्त में (सारनि सरकार) जहाँ कि सरयू, गङ्गा अपार शोभा पाती हैं और उसमें भी जहाँ पर सालग्रामी, सरयू नदी गङ्गा से जाकर मिली हैं उसी परगने में 'चैनपुर' गाँव में हुआ। चैनपुर गङ्गा से उत्तर की ओर स्थित है।

वंश-परिचय—श्री हरिचरणदासजी जाति से सरयूपारी ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम श्री रामधनजी त्रिपाठी, तथा पितामह का नाम श्री वासुदेवजी त्रिपाठी था। उनके पितामह तथा पिता दोनों ही संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। कवि का वंश गोत्र सांडिल्य था। लोकप्रिय त्रिपाठी के नाम से थे।

रचनाएँ—(१) मोहनलीला, (२) रामायण सार, (३) टीका कविप्रिया, (४) भाषा-भूषण, (५) टीका भाषा-भूषण, (६) सभा प्रकाश, (७) कवि बल्लभ, (८) श्रुति भूषण, (९) बृहत्कर्णाभरण, (१०) लघु कर्णाभरण, (११) भागवत् प्रकाश।

इनमें प्रथम दो अप्राप्य और शेष सभी प्राप्य हैं।

—गोपाल शर्मा

पुस्तकालयों की शोभा

श्रेष्ठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाएँ

ऋतम्भरा—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	२॥)
विचार-धारा—डा० धीरेन्द्र वर्मा	३॥
विचार और वितर्क—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	४)
मध्यकालीन धर्म-साधना— ,, ,,	४)
मध्यकालीन प्रेम-साधना—श्री परशुराम चतुर्वेदी	४)
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ—श्री परशुराम चतुर्वेदी	३॥)
दिल की बात—श्री गुरुदयाल मल्लिक	४)
साहित्यावलोकन—श्री विनयमोहन शर्मा	४)
प्राचीन लोकोत्सव—श्री मन्मथराय	२॥)
सौन्दर्यशास्त्र—डा० हरद्वारीलाल शर्मा	३)
कला और संस्कृति—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	४॥)
सङ्गीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाए—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	२॥)

साहित्य-भवन लिमिटेड, इलाहाबाद

भूत और वर्तमान कालीन भारत

भारत दर्शन चित्रों में

भारत की कहानी दिग्दर्शित करने वाले विविध चित्रों का यह अनमोल संग्रह है। इसमें देश के निवासी, पशु, वनस्पति, उसकी प्राकृतिक रचना आदि का विहंगावलोकन है। भारतीय जीवन, विचारधारा, परिस्थिति, प्राकृतिक दृश्य इत्यादि विविध पहलुओं का इसमें स्थलानुरूप समावेश किया गया है। मूल्य ७॥)

भारतीय कला का सिंहावलोकन

मोहिन्जोदारो के समय से लेकर वर्तमान भारत की कला का अनुरेखन करने वाले ३७ रंगीन और १०० एकरंगी चित्रों का यह संग्रह, भारत के प्राचीन मध्ययुगीन तथा आधुनिक कला की मनोरंजक विभिन्नताएं प्रस्तुत करता है। मूल्य ६॥)

हमारा संविधान

यह पुस्तिका भारत के संविधान के विषय में है। इसमें संविधान के मुख्य-मुख्य विषय लोकप्रिय परंतु ठीक-ठीक रूप में संक्षेप में लिखे गये हैं। मूल्य १)

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली-८

योजना की प्रगति नं० १

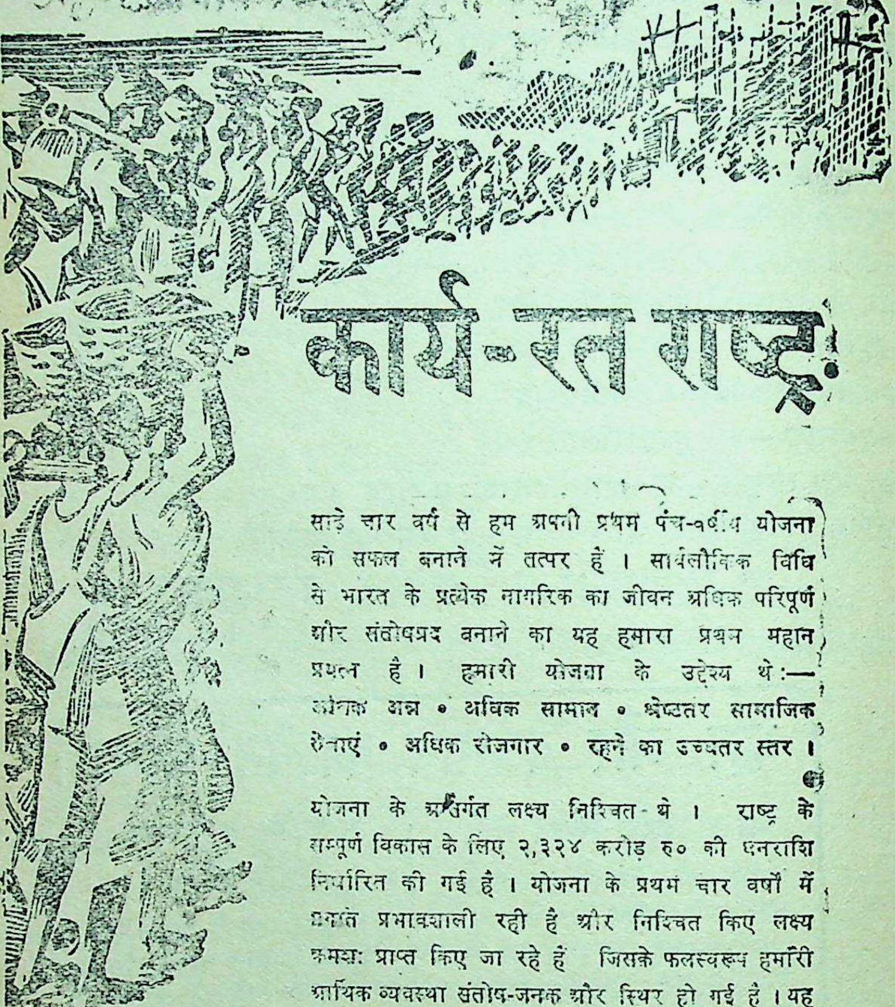

कार्य-रत राष्ट्र

साढ़े चार वर्ष से हम अपनी प्रथम पंच-वर्षीय योजना को सफल बनाने में तत्पर हैं। सार्वलौकिक विधि से भारत के प्रत्येक नागरिक का जीवन अधिक परिपूर्ण और संतोषप्रद बनाने का यह हमारा प्रथम महान प्रयत्न है। हमारी योजना के उद्देश्य थे:— अधिक अन्न • अधिक सामान • श्रेष्ठतर सामाजिक सेवाएं • अधिक रोजगार • रहने का उच्चतर स्तर।

योजना के अन्तर्गत लक्ष्य निश्चित थे। राष्ट्र के सम्पूर्ण विकास के लिए २,३२४ करोड़ रु० की धनराशि निर्धारित की गई है। योजना के प्रथम चार वर्षों में प्रगति प्रभावशाली रही है और निश्चित किए लक्ष्य क्रमशः प्राप्त किए जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप हमारी आर्थिक व्यवस्था संतोष-जनक और स्थिर हो गई है। यह सफलता हमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अधिकतर उन्नति करने का प्रोत्साहन देती है।

जनता की योजना
जनता के हित में

अधिक कमीशन के लोभ में न पड़कर

अच्छी पुस्तकें खरीदनी चाहिए

कुछ जानने योग्य बातें

१—अच्छे और ख्याति प्राप्त लेखकों की पुस्तकें खरीदी जायँ।

२—पुस्तकें वही खरीदी जायँ जिनमें कीमत अधिक न छपी हो।

३—स्कूल, कालिजों में उन विषयों की जनरल पुस्तकें अधिक रक्खी जायँ जिनसे वहाँ के विद्यार्थी भी अपनी योग्यता बढ़ा सकें।

यह सभी बातें आपको हमारे भण्डार में मिलेंगी। हमारे यहाँ सभी नई से नई हर विषय की प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें आपको मिलेंगी। इस वर्ष अभी से कालेजों में पुस्तकों की खरीद प्रारम्भ हो गई है। हमारे यहाँ अब तक कितने ही आर्डर आ चुके हैं और सबको हम एक सप्ताह के अन्दर ही सब पुस्तकें भेज देते हैं।

आप हिन्दी पुस्तकों का बृहद् सूची-पत्र हमसे मुफ्त मँगायें

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हमारे यहाँ सोल एजेन्सियाँ हैं

हमारे यहाँ कितने ही बड़े-बड़े प्रकाशकों की सोल एजेन्सी हैं उनका माल हम उन्हीं के कमीशन पर विक्रेताओं को देते हैं अतः ऐसे विक्रेता जो हिन्दी की एक-एक पुस्तक मँगा कर अपना हिन्दी पुस्तकों का व्यापार बढ़ाना चाहें वे हमारा व्यापाराना सूची-पत्र मुफ्त मँगा कर लाभ उठायें।

साहित्य-रत्न-भंडार, आगरा।

REGD. No. A. 263 JANUARY 1956. LICENSE No. 16.
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

कालेजों में पुस्तकों की—

खरीद प्रारम्भ होगई

सरकारी स्कूल, कालेजों में प्रायः फरवरी-मार्च में हिन्दी पुस्तकों की खरीद शुरू होती थी, और चूँकि वर्ष का अन्त होने के कारण उन्हें उसी महीने बजट का पूरा रुपया खर्च करना पड़ता था, अतः जल्दी में उन्हें अच्छी पुस्तकें नहीं मिल पाती थीं।

हमने गत वर्ष सभी स्कूल कालेजों से प्रार्थना की थी कि यदि वे अच्छी पुस्तकें चाहते हैं तो कुछ पहले वे पुस्तकों की खरीद का कार्य प्रारम्भ किया करें। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अधिकांश स्कूल, कालेजों को हमारा सुझाव पसन्द आया और इस वर्ष अभी से उन्होंने पुस्तकों की खरीद शुरू करदी है और हमारे पास बराबर—

आर्डर आ रहे हैं !

इस प्रकार उन्हें अपनी लायब्रेरी में अच्छी पुस्तकें मिल जायेंगी। आप भी जल्दी ही आर्डर भेजिये अथवा हमसे पूछताछ कीजिये।

सञ्चालक—

साहित्य-रत्न-भण्डार,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

ाहित्य सन्देश

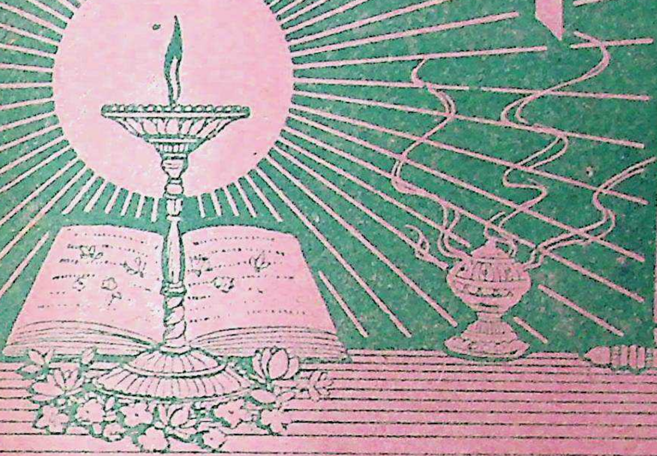

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

ग १७

अङ्क ८

मूल्य ४)]   आगरा—फरवरी १९५६   [साधारण संस्करण

इस अङ्क के लेख

गी विचार-धारा — सम्पादक
लोचना का आधार 'वाद' या 'शास्त्र'? — श्री श्रीराम प्रसाद एम० ए०
हित्य में राधा का स्वरूप-विकास — श्री पुरुषोत्तमदास अग्रवाल एम० ए०, सा० र०
र की साखियों का अध्ययन — प्रो० ओमानन्द रू० सारस्वत एम० ए०
की उपासिका शबरी की भक्ति (मातृ-भाव की या पत्नी-भाव की?) — प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०
कालीन काव्य उपेक्षित क्यों? — श्री नन्दन झा 'कांत'
और मैक्सिम गोर्की की साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि — श्री शीतल साहित्यालङ्कार
बोली का पहला कवि : सन्त चतुर — श्री मथुराप्रसाद अग्रवाल 'पतङ्ग' एम० ए०
काव्य के विकास की रूपरेखा — श्री तिलकराज चोपड़ा
हित्य-परिचय

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की १० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिए। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६ साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिए जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार रहता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन जनवरी १९५६

आलोचना

पद्मावत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	१५)
पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ—ब्रजविलास श्रीवास्तव	३)
साहित्य-चिन्तन—इलाचन्द्र जोशी	२॥।)
छायावाद और रहस्यवाद का रहस्य—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	३)
आलोचना की ओर—ओमप्रकाश	१॥।)
हिन्दी गद्य का आविर्भाव और विकास—प्रो० धर्मचन्द सन्त	२।)

कविता

नीम के पत्ते—दिनकर	॥।)
नील कुसुम— ,,	३)
दिल्ली— ,,	॥।)
शान्ति लोक—गोपालकृष्ण कौल	४)

कहानी

लम्बे दिन जलती रातें—सत्यप्रकाश सेंगर	२)

उपन्यास

सागर लहरें और मनुष्य—उदयशङ्कर भट्ट	४॥)
परिवार—यज्ञदत्त	५)
सुबह शाम—गेटे	२॥)
यथार्थ से आगे—भगवतीप्रसाद वाजपेयी	४॥)
काले फूल का पौधा—लक्ष्मीनारायणलाल	३)

नाटक

सिद्धार्थ बुद्ध—बनारसीदास	२)
सरजा शिवाजी—गोपालचन्द्र देव	१॥)
भारतेन्दु—सेठ गोविन्ददास	२)
रहीम— ,,	२)

बालोपयोगी

बच्चों की फुलवारी—रामचन्द्र श्रीवास्तव	॥।)
यात्रा के आविष्कार की कहानियाँ—सन्त गोकुलचन्द	॥।)
वीरता की अमर कहानियाँ— ,,	॥।)
बच्चों का मन्त्र— ,,	॥।)
पर्दे के खेल— ,,	॥।)
बापू की बातें— ,,	॥।)
सरल गान— ,,	॥।)
देखी सुनी कहानियाँ— ,,	॥।)
दोनों को उल्लू बनाया— ,,	॥।)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

भाग १७] आगरा—फरवरी १९५६ [अङ्क ८

हमारी विचार-धारा

कहानी का प्रचार—

कहानी साहित्य का प्रचार हिन्दी में खूब बढ़ा है। कोई मासिक-पत्र ऐसा नहीं जिसमें कहानियाँ एक-दो न छपती हों। कुछ साहित्यिक पत्र तो अब कहानी के पत्र ही हो गए हैं। केवल कहानी छापने वाले पत्रों की भी कमी नहीं है। बिक्री की दृष्टि से तो शायद वे ही सबसे अधिक नम्बर ले जायँगे। परन्तु इनमें से अधिकांश पत्रों का स्तर नीचा और ध्येय पैसा कमाना मात्र है। साहित्यिक सुरुचि और सदाचार से उन्हें कोई मतलब नहीं है। और ऐसे पत्रों की ही बिक्री भी अधिक है। शायद पाठकों की अभिरुचि भी अभी तक निम्न स्तरीय ही बनी हुई है। आवश्यकता है इस अभिरुचि को ऊँचा उठाने की, उसे सुधारने की। और यह काम पत्र ही कर सकते हैं। यदि प्रेम और वासना की कहानियों को एकदम न छोड़ा जा सके तो यह किया ही जा सकता है कि कुछ कहानियाँ सदाचारमूलक और चरित्र को ऊँचा उठाने वाली भी छापी जायँ। वीरता की, युद्ध की, साहस की, उदारता की, वात्सल्य की, भाई-चारे की, विवेक की और सैकड़ों ऐसे विषय हो सकते हैं जिन पर उत्तम-से-उत्तम कहानियाँ लिखी और प्रकाशित की जा सकती हैं। हमारे लेखक भी इस विषय में अगुआ बन सकते हैं। वे चाहें तो पत्रों को ऐसी कहानियों से पाट सकते हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियों की कितनी माँग है, उनकी कितनी बिक्री है, कितना सम्मान है—पर कहीं भी उनका स्तर नीचा हो पाया है! परन्तु जो लेखक अंग्रेजी की कहानियाँ पढ़ कर उनका अनुवाद हिन्दी में कर देते हैं या उनकी छाया हिन्दी को दे देते हैं, वे हिन्दी के साथ कोई भलाई नहीं करते। वे अपना भी कुछ भला नहीं कर पाते। ऐसे लेखकों को कौन जानता है और कौन उनका नाम लेता है। नाम तो उन्हीं का रहता है जो समाज को, साहित्य को कुछ स्थायी, कुछ उपयोगी, कुछ मौलिक वस्तु प्रदान करते हैं। और यदि दूसरी भाषाओं से

ही लेना हो तो दूसरी भाषाओं में भी अच्छे कथानकों की अच्छी कहानियों की कमी नहीं है। अभी 'कहानी' और 'प्रसाद' के कहानी विशेषांक हमारे सामने हैं। दोनों में अहिन्दी कहानियों की कमी नहीं है, 'प्रसाद' के विशेषांक का तो नाम ही अहिन्दी कहानी अंक है। दोनों विशेषांक इस दृष्टि से बुरे नहीं हैं, उपादेय हैं। क्या हिन्दी के दूसरे कहानी पत्र इनका अनुकरण नहीं कर सकते ? क्या वे अपने लिए नया मार्ग नहीं बना सकते ? हमारा तो यह विश्वास है कि यदि कोई कहानी पत्र अपना आदर्श और स्तर ऊँचा बनाना चाहेगा तो उसे जनता से, पाठकों से पर्याप्त प्रोत्साहन मिलेगा। आवश्यकता है पहल लेने की। हम जानते हैं कि मनोहर कहानियों की दसियों ,पत्रिकाओं को सैकड़ों पाठक अपने घर नहीं लाना चाहते। वे बड़ी प्रसन्नता से अपने बच्चों के लिए ऐसी पत्रिकाएँ खरीदना पसंद करेंगे जो मनुष्य के मस्तिष्क को विकसित, चरित्र को उज्ज्वल और विचारों को पवित्र बनाने में मदद करेंगी।

बिहार-राष्ट्र भाषा-परिषद—

बिहार की राष्ट्रभाषा-परिषद यद्यपि एक सरकारी संस्था है—परन्तु जिस ढङ्ग से उसका काम चल रहा है और हिन्दी की जैसी सेवा उसके द्वारा हो रही है—हम उसे एक आदर्श संस्था कह सकते हैं। हमारे सामने परिषद का गत वर्ष (१९५४—५५) का कार्य विवरण है। इसमें प्रारम्भ में विगत वर्षों के कार्य का संक्षिप्त विवरण है। चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन की पूरी कार्यवाही है। और इस वर्ष के कार्यों का विवरण है।

परिषद प्रतिवर्ष एक दो भाषण कराती है—विद्वानों से तात्विक विषयों पर महत्त्वपूर्ण भाषण जो पीछे पुस्तकाकार छप जाते हैं। अब तक ऐसे जितने भाषण हुए हैं सभी प्रशंसनीय हैं। परिषद की ओर से सहित्यिक संस्थाओं को अनुदान दिया जाता है—ऐसा जिससे उनका कार्य भी अच्छे ढङ्ग से चला जाय। परिषद की ओर से १५-२० पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हुई हैं और वे सभी पुस्तकें हिन्दी की शोभा और परिषद का सम्मान बढ़ाने वाली हैं।

इसके अतिरिक्त परिषद की ओर से हिन्दी के लेखकों को पुरस्कार दिये जाते हैं। हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की जाती है, लोक साहित्य का संग्रह किया जाता है, अनुशीलन पुस्तकालय है, और योजनाबद्ध अनुवाद करने की व्यवस्था है। इस प्रकार परिषद की ओर से अनेक उपयोगी कार्य हो रहे हैं। इन कार्यों में परिषद ने एक लाख इकसठ हजार रुपया इस वर्ष व्यय किया है। हम इस सबके लिए परिषद के सञ्चालकों, विशेष कर उसके मन्त्री श्री शिवपूजन सहाय को हार्दिक बधाई देते हैं और यह कामना करते हैं कि वे बहुत दिन तक इसी प्रकार साहित्य की सेवा और साधना का काम करते रहें।

प्रकाशकों की समस्या—

अभी कुछ ही दिन हुए अ० भा० प्रकाशक सम्मेलन में भाषण देते हुए हमारे देश के प्रधान मन्त्री श्री नेहरूजी ने प्रकाशकों को चेतावनी दी और समझाया कि वे लेखकों के साथ अच्छा व्यवहार करें अन्यथा प्रकाशन का कार्य सरकार अपने हाथ में ले लेगी। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि प्रकाशन का काम बीमा कम्पनियों का काम नहीं है जिसे वह एक रात में आर्डिनेस निकाल कर हथिया सके। इस व्यवसाय में पूँजी गरकाई जाती है और पैसा बहुत धीरे-धीरे निकलता है। यह व्यवसाय ऐसा नहीं है जिसमें लगी हुई पूँजी को कभी भी निकाला जा सके। और अभी तो इस व्यवसाय में इतना रुपया लगाने की आवश्यकता है कि उसे प्रकाशक लोग लगा भी नहीं सकते। यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना है और यदि सभी प्रादेशिक भाषाओं का प्रचार करना है तो सरकार को स्वयं इस व्यवसाय में पड़ना जरूरी है। इसके लिए चाहे वह स्वयं अपनी प्रकाशन संस्था खोले या दूसरी ऐसी संस्थाओं को सहायता दे। परन्तु विना सरकारी सहायता प्राप्त किए—यह व्यवसाय पनप नहीं सकता। प्रकाशन व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण अभी न सम्भव है, न आवश्यक ही।

रही लेखकों के साथ अच्छे व्यवहार की बात। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि लेखकों के साथ अच्छा व्यवहार होना चाहिए। हमें खेद है कि कुछ प्रकाशकों ने अपने व्यवहार से सारे प्रकाशकों को बदनाम कर दिया है। सभी व्यवसायों में ईमानदारी का व्यवहार होना चाहिए। जहाँ ईमानदारी नहीं होगी वहाँ व्यवसाय नष्ट होगा और बदनामी होगी। लेखकों के साथ तो यह और भी आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के परिश्रम, ज्ञान और अनुभव से पुस्तक तैयार होती है, जिसे छाप कर प्रकाशक लाभ उठाता है।

परन्तु प्रकाशकों के साथ लेखकों को भी अपना शील और सदाचार सुधारने की आवश्यकता है। जब एक प्रसिद्ध लेखक सौ-पचास रुपये देकर एक दूसरे अप्रसिद्ध लेखक से पुस्तक लिखवा कर या संग्रह कर के अपना नाम देता है और बिना कुछ परिश्रम किए उस पुस्तक से हजारों की रायल्टी लेता है या लेना चाहता है, और फिर उस गरीब अप्रसिद्ध लेखक को एक पैसा नहीं देता तब उसका सदाचार का ढोल पीटना और प्रकाशक को बदनाम करना शोभा नहीं देता। अच्छे व्यवहार की आशा लेखक जहाँ प्रकाशक से करता है, वहाँ गरीब छुटभइया लेखक भी अपने बड़ों से कुछ आशा रखता है, जिसे भुलाना किसी तरह भी ठीक नहीं है। हम चाहते हैं कि विवेक की वृद्धि लेखक और प्रकाशक दोनों में हो। यह नहीं होना चाहिए कि जिस प्रकाशक ने किसी लेखक को चमकाया है, उसे प्रकाश में लाया है, और जो निहायत ईमानदारी का व्यवहार करता है उसे छोड़कर वह दूसरे प्रकाशकों को तलाश करे और अपने थोड़े से लोभ के लिए पुराने प्रकाशक को धता बता दे।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नया मोड़—

मनोविज्ञान से मतलब फ्रायड व जुङ्ग की खोजों से है। जिनके आधार पर अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि ने उपन्यास लिखे हैं। इस बृहत्रयी में इलाचन्द जोशी का एक नया उपन्यास 'जहाज के पंछी' अभी प्रकाशित हुआ है। 'शेखर एक जीवनी' की तरह यह उपन्यास भी एक व्यक्ति की अपनी कहानी है। यद्यपि इस व्यक्ति के उपचेतन का उद्घाटन भी लेखक करता चलता है परन्तु यही इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है, बल्कि कलकत्ता जैसे नगर में विभिन्न वर्गों के अन्तर्विरोधों व अन्तःसङ्घर्षों का यथार्थ व सजीव चित्रण ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। श्री जोशी पर जुङ्ग का अधिक प्रभाव रहा है, पाठक यह जानते हैं। अतः अज्ञेय से उनका मनोविज्ञान कम खतरनाक है। जोशीजी की विकसित सामाजिक चेतना आगे के उपन्यासों में 'जहाज के पंछी' से भी अधिक विकसित हो कर आयेगी, ऐसी आशा इसे पढ़ कर होती है। बात यह है कि व्यक्ति के अहं को सर्वथा स्वतन्त्र मान कर ऊहापोह करने का युग समाप्त हो चुका। अब व्यक्ति व समाज का परस्पर घात-प्रतिघात दिखाना ही स्वस्थ दृष्टिकोण हो सकता है—'जहाज के पंछी', जैनकुमार के 'उद्भ्रान्त', रजनी के 'प्यासे बादल' तथा विष्णुप्रभाकर के 'निशिकान्त' में यही दृष्टिकोण मिलता है—ये सभी शीघ्र ही प्रकाशित उपन्यास हैं। 'गुनाहों के देवता' जैसे उपन्यासों में व्यक्ति को चरम उच्चता व चरम जघन्यता के मनमाने स्तरों पर रख कर जिस आदर्शवादी निरपेक्षतावाद व दार्शनिक जघन्यतावाद का प्रचार होता है, वह इन नए उपन्यासों में नहीं देख पड़ता। अतः हम उपर्युक्त उपन्यासों और विशेषकर 'जहाज के पंछी' जैसे उपन्यासों में एक मनोवैज्ञानिक लेखक के अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक दृष्टिकोण के विकास को एक नया मोड़ कह कर उसका स्वागत करते हैं।

नएविषय—लेखकों से निवेदन—

'साहित्य-सन्देश' में जो लेख प्रकाशनार्थ आते हैं उनमें एक प्रवृत्ति यह रहती है कि लेखक पिष्टपेषित विषयों पर बहुत लिखते हैं। इतना नया साहित्य प्रकाशित होता है—नयी कविताएँ, नए उपन्यास, नये कहानी संग्रह, नये निबन्ध आदि,

उनके विवेचन-विश्लेषण की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित होना चाहिए। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने ठीक ही लिखा है कि नयी-प्रतिभाओं के नाम वातावरण में प्रतिध्वनित नहीं हो पाते। इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवाद, रहस्यवाद व छायावाद, प्रसाद व पन्त का प्रकृति वर्णन, विद्यापति भक्त थे कि शृङ्गारी कवि आदि, विषयों पर तो लेखक बहुत लिखते हैं परन्तु नवीनतम कृतियों, प्रवृत्तियों व उनके तुलनात्मक अध्ययन की ओर लेखक उदासीन रहते हैं। नए लेखकों के लिए तो नयी प्रवृत्तियों पर लिखना और भी स्वाभाविक है। दूसरी ओर शोध-सम्बन्धी विषयों पर प्रायः बहुत कम लेख आते हैं। या तो पिष्टपेषित विषयों पर नूतन दृष्टिकोण से विचार किया जाय, या नूतन प्रवृत्तियों का आकलन, विवेचन व विश्लेषण प्रस्तुत हो, या शोध सम्बन्धी दृष्टि गम्भीरता से विकसित होती चले, साहित्य के मानदण्डों के सम्बन्ध में विचार हो या मूल्याङ्कन करते समय सतही विवेचन के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन व अनुभूति के आधार पर अधिक जागरूकता प्रयोग में लायी जाय या सामाजिक, मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक दृष्टि से विचार हो—आज की आलोचना के ये ही स्तम्भ हैं, इनमें भी यदि लेखक अपना-अपना क्षेत्र चुन लें तो और भी अच्छा। 'साहित्य-सन्देश' की अपील पर भी पाठकों ने पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की खोज के विषय में इसीलिए जागरूकता नहीं दिखाई क्योंकि "सूरदास वात्सल्य व शृङ्गार के कवि हैं" इस विषय पर लिखना और लेखक बन जाना अधिक आसान है अपेक्षा इसके कि लेखक नए विषयों, नई कृतियों, नई हस्तलिखित प्रतियों व नई प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित हों। हमें आशा है कि लेखक इधर ध्यान देंगे और आलोचक के गम्भीर उत्तरदायित्व को पूरा करेंगे।

प्राचीन प्रकाशित साहित्य के पुनः प्रकाशन की आवश्यकता—

प्रकाशित साहित्य के राज पथों (High ways) से प्रायः हमारे प्राध्यापक गण परिचित हैं, किन्तु उनमें भी पिछले युगों के साहित्य से हमारा सम्पर्क छुटता-सा जा रहा है। यह बात नहीं कि पिछले साहित्य में कोई संरक्षणीय और मूल्यवान तत्त्व नहीं। विकास और मनोवैज्ञानिक अध्ययन और तत्कालीन ऐतिहासिक ज्ञान के लिए पुराने साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इस अध्ययन के अभाव के मुख्य कारणों में प्राचीन के प्रति रुचि की कमी ती है ही किन्तु उससे अधिक पुस्तकों की अनुपलब्धि है। रीति कालीन और भक्ति कालीन साहित्य बहुत सा तो अप्रकाशित ही पड़ा है किन्तु हरिश्चन्द्र युग और द्विवेदी युग का बहुत सा मूल्यवान प्रकाशित साहित्य भी अप्राप्य है। उसको प्राप्य कराना प्रकाशकों और सरकार का कार्य है। जनता का भी यह कर्तव्य है कि वह अपने प्राचीन साहित्य में भी यथोचित रुचि ले। प्राचीन साहित्य के प्रकाशन में चुनाव की अवश्य आवश्यकता है। इस कार्य को साहित्य-सम्मेलन अथवा नागरी प्रचारिणी सभा काशी अथवा केन्द्रीय सरकार का शिक्षा विभाग उपयुक्त कमेटियों द्वारा करा सकता है। सरकार प्रकाशकों और अन्य संस्थाओं द्वारा उनका प्रकाशन सस्ते मूल्यों पर करा सकती है। सस्ते मूल्य के लिए सम्पादकों को भी अपने आर्थिक स्वार्थों का आंशिक बलिदान करना पड़ेगा और सरकार को भी अनुदानों द्वारा प्रकाशकों के घांटे की पूर्ति करनी होगी। पुस्तकालयों का भी यह कर्तव्य होगा कि उन प्रकाशनों को सार्थक बनाने के लिए उनको उदारता पूर्वक खरीदें और उनका प्रचार करें तभी हम प्राचीनता के प्रति न्याय कर सकेंगे।

आलोचना का आधार 'वाद' या 'शास्त्र'

श्री श्रीरामप्रसाद एम० ए०

साहित्यकार और युग—हिन्दी साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल साहित्य में विभिन्न प्रयोगों का काल है। यद्यपि साहित्य में प्रत्येक काल में प्रयोग हुए हैं, किन्तु वर्तमान काल में जीवन-सम्पर्क विज्ञान से अधिक बढ़ने के कारण तार्किकता की अभिवृद्धि से साहित्य में अनेक वादों के बखेड़े उत्पन्न हो गए हैं और वस्तुवाद की प्रधानता बढ़ती जा रही है। सर्वप्रथम कवि कर्म को जान कर ही इन वादों की ओर प्रवृत्त होना उपयुक्त होगा. किन्तु कवि की कृति में जो कला है उसमें मानव-कल्याण का कहाँ तक ध्यान रखा गया है, देखा जाय।

साहित्यकार को युग विधायक कहते है। वह विधायक और सृष्टा दोनों ही है। वह अलौकिक प्रतिभा लेकर युग-विशेष में अवतरित होता है। अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर वर्तमान को समझना और भविष्य का द्रष्टा बनना उसको ही सम्भव है। वह समाज की निधि, समष्टि का मस्तिष्क होता है। उसे गतिमान करने हेतु अभिनव योजनाओं का विधायक हो कर नये सिद्धान्त किंवा नई सारणि प्रशस्त करना उसका धर्म है। उसके लिए परमावश्यक है कि वह युग को समझे, युग के कर्म एवं मर्म को भी समझे। उसका दायित्व महान् होता है। सङ्कीर्णता उसे लोक-प्रतिष्ठा नहीं प्रदान कर सकती। वह विश्व को दृष्टिकोण में रखता है। मानवता उसका व्रत है। अस्तु, युग का परिज्ञान अपने मेधा बल से प्राप्त कर, उसके मर्म को यथावत् व्यक्त करता है और पुनः युग को कर्म में निरत रहने का निर्देश देता है।

हाँ, तो वह कलाकार विनश्वर है; जिस युग, जिस समाज में वह रहता है और जिसकी वह चर्चा करता है वह युग भी नश्वर है। सूक्ष्म या दार्शनिक दृष्टि से नश्वरता का अर्थ अस्तित्व-विहीनता नहीं है, बल्कि रूपान्तरण मात्र है, उसका रूप विकृत सत् असत् किसी रूप में हो जाता है। युग की इस परिवर्तनशीलता के साथ-साथ साहित्य-सर्जना का कार्य भी सतत् गतिमान रहता है। नव युग को अतीत के साहित्य से कुछ न कुछ पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होता है। वर्तमान के अर्जन द्वारा कुछ वृद्धि के साथ युग का साहित्य भविष्य को प्राप्त होता है। क्षणभंगुर साहित्यकार मानव के द्वारा ही यद्यपि अस्थायी युग का साहित्य रचा जाता है किन्तु युग परिवर्तन के साथ बदलते हुये साहित्य की स्थिति में भी अतीत के साहित्यकार का नाम अमर हो ही जाता है।

परम्परा के साथ चिपके रहना मानव की विशेषता है। यह भी देखा गया है कि अतीत के प्रति उसकी कुछ श्रद्धा भी होती है। ऐसी दशा में अतीत के साहित्यिक महारथियों के नाम पर अनेक सिद्धान्त अथवा उनके द्वारा व्यक्त किये गये विचार के आधार पर अनेक वाद खड़े हो जाते हैं। अतीत की कितनी समस्याएँ भी वर्तमान से मिलकर भविष्य की समस्याओं को जटिल बना सकती हैं। जटिलता की उस दशा में बौद्धिक कौशल की अपेक्षा होती है, क्योंकि परिवर्तन के साथ विधाता के नियमानुसार मानव-शक्ति का ह्रास होना भी सम्भव माना गया है।

युग की प्रतिक्रिया : साहित्यकार की कृति—साहित्यकार इन अनेक जटिल समस्यामय वातावरण में ही रहता है। समाज के अनेक सुख-दुख उसे उठाने पड़ते हैं। वह व्यापक दृष्टि से निरीक्षण करता है, अनेक सत्यों का अन्वेषण करता है। उसकी इन साधनाओं का पर्यवसान है, उसकी अनुभूति बनना। इस अनुभूति में किसी एक या अनेक को प्रतिक्रिया किसी भाव या भावों के टक्कर से होती है। साहित्यकार में अपने को व्यक्त करने का अदम्य

उत्साह है ही, बस इन युगीय विभिन्न आवश्यकताओं को ही कलाकार आदर्शमय साहित्य के रूप नानात्व में मूर्त्त करता है। हाँ, यह सम्भव है कि जो धारायें युग में प्रवाह-मान है साहित्यिक उनमें से किसी एक को ही विशेष गति दे सके।

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से ही हमें रुचि की विभिन्नता के, किसी भाव-विशेष के गतिमान अथवा प्रतिक्रियात्मक भावना के उदाहरण मिलेंगे। जिनमें से अधिकांश भावनायें युग-विशेषानुकूल ही रहीं। वीर गाथा काल, भक्ति काल और रीति काल क्या रुचि-वैभिन्य और प्रतिक्रियात्मकता के उदाहरण नहीं हैं रीतिकाल की जो रुचि रही, उससे भिन्न उसी युग में क्या भूषण की नहीं रही? क्या भूषण ने युग को ठीक नहीं पहचाना? आधुनिक युग में भी हम इन्हीं प्रतिक्रियाओं, रुचि की विभिन्नताओं के दर्शन पाते हैं और आज तो पाश्चात्य के सम्पर्क में आने के कारण हममें और भी अनेक उलझनें पैदा हो गई हैं। सच तो यह है, कि प्राच्य और पाश्चात्य इन दो विभिन्न सभ्यताओं के सङ्घर्ष में निश्चय ही हमारा मस्तिष्क विकास की प्रतिक्रिया से चलकर एक विशेष स्तर तक पहुँचा है। स्वतंत्रयुग में जीवन-जगत का यथार्थ साहित्य मानव के लिये मङ्गलमय होगा पर आदर्श को कलाकार कैसे भूल सकेंगे। इस तथ्य को साहित्य मर्मज्ञों या साहित्यकारों ने पहचाना है और साहित्य की रचनायें ऐसी होने लगी हैं, जो आज के मास्तिष्क के अनुकूल पड़ें। अंग्रेजी अध्येता को यदि ऐसे विचार जो अंग्रेजी-साहित्य में व्यक्त किये गये हैं, हिन्दी-साहित्य में नहीं दृष्टिगोचर होते, तो झट कह बैठता है कि हिन्दी में अभी बहुत कमी है। पर इसके लिए दोषी वही है जिसने हिन्दी-साहित्य का पूर्णरूपेण अध्ययन नहीं किया है। एक और बात है कभी-कभी ख्याति लोभ में आकर भी कितने लोग पूर्वादर्शों अथवा किसी सर्वप्रिय सिद्धान्त को भङ्ग करने में उत्साह दिखलाते हैं, इसके कारण भी वादों का आविर्भाव होता है। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वह इस प्रकार अनन्त-गह्वर में लुप्त हो गया कि उसके पोशाक और प्रवर्द्धक की कौन कहे उसके नाम लेवा भी न रहे।

प्रतिक्रियाओं से वाद का जन्म—बस स्पष्ट हुआ मानव की बदलती हुई रुचि के साथ विचारों की प्रतिक्रिया के रूप में ख्याति लोभ ने नवीन सिद्धान्त-प्रसार के रूप में, तथा प्रयोगों के और अनुकरण के रूप में साहित्य में अनेक वादों का आविर्भाव हुआ और हो रहा है। वादों के उद्भव में एक अन्य कारण भी अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। जिसके कारण ही काव्य में इतने विवाद खड़े हो गये हैं और काव्यानुशीलन में युवकों, छात्रों अथवा जिस किसी को अनेक विवादों के चक्रव्यूह में पड़ना पड़ता है, वह है काव्यालोचन या प्रत्यालोचन में समालोचना के नित्य नये सिद्धातों से काम लेना। किन्तु लेखक का निजी मत है कि समालोचना के सिद्धान्त साहित्य के समझने में सहायक नहीं हो सकते, साहित्य (काव्य) का अध्ययन प्रथम हो, उसका प्रभाव अपने पर आँका जाय, क्योंकि कृतिकार की परिस्थिति का अध्ययन ही तो समालोचना है। इतने पर भी समालोचकों के विचार में साम्य सम्भंव नहीं। भला समालोचना सिद्धान्त से साहित्यिक कृति के अध्ययन में कहाँ से सहायता मिल सकेगी? स्पष्ट है, आज का समालोचक किसी भी साहित्यिक कृति में प्रथम वाद का ही अन्वेषण करता है, यह साहित्य के साथ अन्याय है। समालोचक को वाद नहीं ढूँढ़ना चाहिये। उसे कृतिकार की युग-प्रवृत्ति की परख और उसकी सूक्ष्म-दर्शिता को देखना चाहिए।

काव्यालोचन का आधार क्या?—संस्कृत का समालोचना-शास्त्र पर्याप्त सम्पन्न है, संस्कृत हिन्दी की जननी है, अस्तु मैं दबे हृदय से कह सकता हूँ कि हिन्दी समालोचना-शास्त्र पाश्चात्य से अनुग्रहीत आधुनिक युग की देन है। इसे स्वीकार करने में किसी को बाधा नहीं होनी चाहिये। हमारे समालोचना शास्त्र में त्रुटि अथवा अभाव हो यह तो सह्य है किन्तु

हिन्दी का काव्य-शास्त्र इतना सम्पन्न नहीं है जितना सम्पन्न अन्य भाषा के काव्य शास्त्र विश्वास नहीं होता। अस्तु, क्या कारण है कि हम किसी काव्य की आलोचना करते समय साहित्य के नव-रस की ओर प्रवृत्त न होकर वादों की ओर झाँकें ? यह भी विचारणीय है कि क्या आज के प्रचलित सभी वादों की रचनाओं का परिगणन काव्य के नव रस में नहीं हो सकता ? भावों के उत्कर्ष-अपकर्ष या आरोह-अवरोह अथवा उत्थान-पतन को ही तो साहित्य कहते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और निर्वेद ये ही नव स्थायी भाव तो सर्व देशीय मानव के हृदय में होंगे। यद्यपि कुछ विद्वानों ने भक्ति और वात्सल्य को भी स्थायी भावों में स्थान दिया है पर इनको भी हम उन्हीं नव में स्थान दे सकते थे। ये नव या ग्यारह स्थायी भाव ही कवि के हृदय में प्रकृति-कीट, पतङ्ग, नदी, पर्वत आदि आलम्बन के प्रति भाव या विचार की अनुभूति उत्पन्न करते हैं, अथवा उनको उद्दीप्त करते हैं। तथा जो कटाक्षादि-कायिक और अन्य मानसिक अनुभावों और स्मृति, श्रम इत्यादि-संचारी भावों के संयोग से क्रमशः शृंगार, अद्भुत, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक वीभत्स एवं भक्ति और वात्सल्य रस की निष्पत्ति करते हैं। यदि हम गम्भीरता से विचार करेंगे तो स्पष्ट होगा कि आज विश्व-साहित्य के अन्तर्गत निश्चय रूप से नव या दस स्थायी भाव ही निहित होंगे। पुनः इससे पृथक जाकर काव्यालोचना वाद के आधार पर करना, किंवा वाद-विवेचन करना भी तो पाठकों को विवाद में डालना होगा, और साथ ही प्रकारान्तर से साहित्य-शास्त्र पर आक्षेप होगा। या तो साहित्य-शास्त्रज्ञ वादों की सीमा निर्धारित कर दें, या शास्त्र को अभिनव रूप दें, परन्तु किसी चीज की सीमा-निर्धारण से कवि के स्वच्छन्दतावाद को धक्का लगेगा और साहित्य-शास्त्र को अभिनव रूप देने वाली वार्त्ता अनर्गल होगी; क्योंकि उसे हम पूर्ण मानते हैं और अब तक की रचनाओं को उनके अन्दर स्थान दिया जा सकता है। विषय और शैली दोनों ही में स्वच्छन्द-प्रियता दृष्टिगत होती है। श्रीधर पाठक से लेकर रामनरेश त्रिपाठी तक, गुप्तजी से लेकर पन्त, निराला, बच्चन प्रभृति कवियों तक में स्वच्छन्दता है और प्रयोग-वादियों के द्वारा तो नवीन प्रयोग हो ही रहे हैं। परन्तु सबकी रचनाओं में वस्तु-वर्णन तो शास्त्रीय हैं, शैली भी, "रमणीय, अर्थ प्रतिपादकं वाक्यं काव्यम्" के द्वारा शास्त्रीय होगी, किन्तु आलोचकों की आलोचना 'वाद' के आधार पर चल कर उलटी दिशा अपनाती हैं। यहाँ यह कथन भी परमावश्यक प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल ने वादों का झमेला मिटाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। उनके पश्चात् भी कुछ विद्वानों की आलोचनायें उसी मार्ग पर चली हैं। इस मार्ग में नवीनता से दूर भागना भी ठीक नहीं है। समन्वयात्मक-बुद्धि से समालोचना करने वाले श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी आज के अभिनव प्रयोगों को नवीन दृष्टिकोण से देखते हैं। आगरा से प्रकाशित 'साहित्य सन्देश' की प्राचीन प्रतियों के उलटने से ऐसा अनुभव हुआ कि कुछ विद्वानों की राय में साहित्य-शास्त्र में संशोधन की आवश्यकता है। कुछ लोगों का विचार है कि आचार्यों के सिद्धान्त आज नये साहित्य पर पूरे नहीं उतरते। पर यहाँ इन विचारों से मेरा तात्पर्य यही है कि आज के कवि या उनके कतिपय समालोचक शास्त्र की अपेक्षा नहीं समझते। वस्तुतः रचना करते समय भी वाद-विशेष को ही दृष्टि में रखते हैं। वैसे ही आलोचक भी कोई न कोई वाद ढूँढते हैं। मैं समझता हूँ वाद, कविता का जनक नहीं है उससे जन्य है। शुक्ल जी ने कहा है—"काव्य में हम वाद का बाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि वाद शब्द के विना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो, तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है, "अभिव्यञ्जनावाद" और "सामञ्जस्यवाद" वस्तुतः वाद हैं क्या और उसका आधार क्या है ?

ज्योतिष में वाद का आधार सौर-मण्डल या भू-

मण्डल है। इतिहास में आप्तोपलब्ध विचार या पुरातत्त्व के अन्वेषण हैं और जिस प्रकार अध्यात्म में वादों का आधार आस्तिकता और नास्तिकता है, राजनीति में वादों का आधार शासन प्रणालियाँ हो सकती है, उसी प्रकार साहित्यिक वादों का आधार भी अवश्य होना चाहिये। क्या इन वादों का आधार मानव की चिंत्तवृत्तियाँ समझी जायँ तब तो इन्हीं चित्तवृत्तियों के रूप ही स्थायी भाव भी हैं और उनका वर्णन ही साहित्य शास्त्र में रहता है और जो भाव ही काव्याधार हैं। अस्तु इसके हेतु भी शास्त्र की ही शरण में जाना समीचीन होगा। वाद राजनीतिक दलबन्दियों के लिए तो ठीक हो सकता है, पर साहित्य में विरोधी प्रवृत्तियों के द्वारा वर्ग-वादिता ठीक नहीं। 'वाद' है क्या? विचार करने पर अनुभव होता है कि वाद कोई सिद्धान्त होगा, कोई सारणि होगी जो किसी प्रशस्त मार्ग को इङ्गित करेगी। यदि वाद ने किसी निश्चित पथ का संकेत नहीं दिया, यदि वाद के सिद्धान्त से समाज को कोई गति न मिली तो वह वाद किस काम का और उसका राग अलापने से क्या प्रयोजन? उसका अनुसरण भी क्यों किया जाय? मनुष्य प्रकृति तथा इतिहास की समस्याओं को सुलझाने के लिए ही तो सिद्धान्त या वाद का जन्म होता है। साहित्य के इन वादों से साहित्य की कौन-सी समस्या सुलझेगी? हाँ, आशा है साहित्य-शास्त्र के विद्वान इन वादों के आधार का पता देकर इनकी सीमा निर्धारित करेंगे, अथवा इन्हें साहित्य (शास्त्र) में स्थान देंगे। डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद' नामक पुस्तक में वादों का आधार बतलाया है पर न तो वर्गीकरण किया है और न उनको सीमित किया है, यदि वाद असीम है तो मुझे कुछ नहीं कहना है अन्यथा साहित्य के ये वाद न केवल साहित्य का अपकार करेंगे अपितु उसे दुरूह बना, छात्रों को विवाद में डालकर साहित्य में संक्रामक रोग का रूप ग्रहण करेंगे, फिर तो हर वाद (विचार) के आगे वाद के संयोग से नया वाद खड़ा किया जाना सम्भव होगा।

लेखक महोदय वादों की अपेक्षा शास्त्र को अधिक महत्त्व देते हैं। वाद ही परपक्व होकर शास्त्र बनतें हैं, वाद मात्र से प्रेरित होकर या उसको रूढ़ि बनाकर आलोचना करना भूल होगी। किन्तु वाद में जो मूल प्रेरणा है उसको ध्यान में रखते हुए आलोचना करना गौरव ही की वस्तु होगी। वादों को रूढ़ न बनाकर उनका प्राचीन साहित्य-शास्त्र के आदर्शों से मिलान करना और उनको शास्त्र की सीमा के भीतर बाँधना हिन्दी के सैद्धान्तिक आलोचकों का काम है। किन्तु शास्त्र के चौखटे में बैठालने के लिए हमको वादों की अनुचित खींच-तान या काट-छाँट न करना चाहिये। उनको अन्तः प्रेरणा का अध्ययन कर उसको प्रकाश में लाना चाहिये। प्राचीन साहित्य शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय भी एक प्रकार के वाद ही थे और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते, फिर नवीन वादों की उपेक्षा क्यों की जावे।

—सम्पादक

—: साहित्य-सन्देश का भारतेन्दु अङ्क :—

साहित्य सन्देश के सभी विशेषाङ्क अपना एक उच्च स्थान रखते हैं। अब तक पिछले विशेषाङ्कों में से तीन विशेषाङ्क मिलते थे, इस समय केवल भारतेन्दु अङ्क ही उपलब्ध है जो एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से पठनीय है। मूल्य १)

साहित्य सन्देश कार्यालय, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

साहित्य में राधा का स्वरूप-विकास

श्री पुरुषोत्तमदास अग्रवाल एम० ए०, सा० र०

'राधा' तत्त्व परम गूढ़ है। पुरातनता और अप्रत्यक्ष स्थिति ही इस गूढ़ता का कारण है। इस शब्द का उद्भव कहाँ से और कब हुआ है, निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना तो कठिन है, परन्तु ब्रह्मवैवर्त्य पुराण में इस पर विचार करते हुए कहा गया है कि "राधा शब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता" अर्थात् राधा शब्द की व्युत्पत्ति का निरूपण सामवेद में हुआ है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में यज्ञ पुरुष की दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी कही गई हैं। इसी लक्ष्मी को आगे चलकर श्री निम्बर्काचार्य ने वृषभानुजा कह कर इन्हें कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित किया है।

राधा शब्द 'रास' के 'र' और 'धा' को जोड़ कर बनाया गया प्रतीत होता है। दूसरे स्थान पर 'रा' का दानवाचक और 'धा' को निर्वाणवाचक कह कर जिस राधा की स्थापना की गई, वह राधा निर्वाण-पद दात्री हुई। कृष्ण जन्म खण्ड में भी इसका संकेत मिलता है। यथा—

'रासे गोलोके साद्धावः हरे पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविदिर्भः द्विजोत्तमः॥
रा कारो दानवाचकः। धा निर्वाणञ्च तद्दात्री
तेन राधा प्रकीर्तिता।

ऋग्वेद के राधिकोपनिषद की चर्चा करते हुए ऐसा कहा गया है कि कृष्ण की सब शक्तियों में उनकी आह्लादिनी शक्ति ही प्रधान है। यही शक्ति परम अन्तरभूता श्री राधा है। कृष्ण की आराधिका है। कृष्ण इनकी आराधना करते हैं और ये कृष्ण की। अतः उन्हें राधा कहा जाता है। कृष्ण ही वह परम पुरुष है, जा अपने आनन्द रूप में स्वयं रमण करते हैं। उसमें लीन होते हैं और उसी शक्ति के मेल से सृष्टि का उन्मीलन करते हैं। अर्थात् वे स्वयं अपनी आराधना में लीन हो जाते हैं, इसी से उनकी शक्ति को राधा कहा गया। दार्शनिक रूप से दोनों एक हैं, दोनों अभिन्न हैं। कहा जाता है कि "शुद्ध और निराकार प्रेम की घनीभूत मूर्ति श्री वृन्दावन धाम और राधा-कृष्ण हैं। इन्द्रियाँ सखि स्वरूप हैं, मन श्रीकृष्ण है और आत्मा श्री राधिका है।" शरीर और इन्द्रियों की आधीनता मन और आत्मा से ही है। अतः राधा तत्त्व कृष्ण तत्त्व से अभिन्न और उसी का आत्मस्वरूप है। भगवान को 'रसो वै सः' कहा गया है। यही रस रूप तत्त्व एक होता हुआ भी राधा और कृष्ण दो रूपों में रमणेच्छा से भिन्न हो जाता है।

राधा का यही रूप कृष्ण जीवन का आधार है। विना इसके कृष्ण कुछ नहीं कर पाते। ब्रह्मवैवर्त्य पुराण में कृष्ण ने क्षीर-धवलता, अग्नि-दाहकता, पृथ्वी-गन्ध आदि के उदाहरणों से अभिन्नता प्रगट करते हुए कहा है कि मैं भी उसी प्रकार तुम से मिला हुआ हूँ, तथा तुम्हारे विना सृष्टि नहीं कर सकता—

ममाराधा सदा त्वञ्च तवात्माऽहन् परस्परम्।
यथात्वञ्च तथाऽहञ्च समौ प्रकृति पुरुषौ।
नहिं सृष्टिर्भवेत् देवि, द्वयोरेकतरम् विना।

× × ×

तथा त्वया विना सृष्टिं न च कर्तुमहं क्षमः।
सृष्टेराधार भूतात्त्वं बीज रूपाऽहमच्युतः।

× × ×

ममार्द्धांश स्वरूपात्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी।

अतः यही राधा सांख्य की मूल प्रकृति हुई। इनका उद्भव भी अलौकिक है। गीता में कृष्ण ने अपने लिए 'जन्म कर्म च में दीव्यम्' कहा है। इस उद्भव की पुष्टि स्वयं भगवान करते हैं—

अयोनि सम्भवा त्वञ्च भविता गोकुले सति।
अयोनि सम्भवोऽहञ्च नावयोः गर्भ संस्थितिः॥

अर्थात् राधा और कृष्ण दोनों ही स्वयंभूत हैं।

और ये ही पुरुष और प्रकृति कृष्ण-राधा हैं। इसकी पुष्टि भी वहीं हो जाती है। इसी पुरुष ने अपनी शक्ति से कहा है—

वृषभानु गेहे च्चीप्रम् व्रज त्वमपि राधिके।

हे राधे, तुम भी शीघ्र ही वृषभानु के घर में प्रगट होवो। उस वृषभानु की स्त्री कलावती बड़ी साध्वी हैं। अतः उसी के घर जन्म लेकर शीघ्र ही नन्द के व्रज में चली जावो। मैं भी वहीं तुम्हें बाल-रूप में मिलूँगा।

तस्याम् गेहे जन्मलभ, शीघ्रम् नन्द व्रजम् व्रज।
त्वामंह बालरूपेण गृहणामि कमलानने॥

इसी स्थान पर यह शक्ति भी अपने को राधा कहती है और भगवान से भूतल पर प्रगट होने के उपरान्त अपने को विस्मरण न करने की प्रार्थना करती है—

कृष्ण त्वं राधिकाहञ्च प्रेम सौभाग्य भावयोः।
न विस्मरामि भूमो च देहि महाम् वरम् परम्॥

सूर ने भी राधा कृष्ण की एकता का वर्णन स्थान-स्थान पर किया है। पर जो दृश्य वैभिन्य है, वह केवल वाणी का विलास मात्र ही है—

प्रकृति-पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।

यही प्रकृतिवाद मायावाद का मूल है। तन्त्र-मत में शक्ति के रूप में इसी का विकास हुआ। वैष्णवों में इसी शक्ति ने श्री और राधा का रूप ग्रहण किया। नन्द द्वारा भाण्डीर बन में भेजे जाने पर—

तब नागरि मन हरष भई।
प्रीति पुरातन जान श्याम को, अति आनन्द भई।
जनम-जनम युग-युग यह लीला, प्यारी जानि लई॥

यहीं पर कृष्ण ने अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान राधा को कराकर इसे गुप्त रखने को कहा। सखियाँ भी कहती हैं कि 'तू कृष्ण की प्रिया है वे सदैव तेरे पति हैं, तू सदैव उनकी नारी है' तेरी सगाई नई नहीं है—

१—समुझि री नाहिन नई सगाई।
सुनि राधिके तोहि माधव सों, प्रीति सदा चलि आई।
२—विहँसि कह्यौ हम तुम नहीं अन्तर,
यह कहिकै उन व्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, व्रज-विहार नित नई नई।

यह राधा साधारण नहीं है। रमा इनकी दासी हैं। उमा, शची, अरुन्धती इनका दर्शन करने आती हैं—

'रमा, उमा अरु शची अरुन्धती नित प्रति देखन आवें।

अतः यह सिद्ध हुआ कि राधा आदि शक्ति हैं, रमा आदि से भी इनका उच्च स्थान है। केवल पुरुष सृष्टि करने में असमर्थ है। यह अयोनिजा, कृष्ण की आराध्या, दीप्य एवं लीला के लिये ही अवतरित हुई हैं। इनका प्रेम पुरातन है। कृष्ण आश्रय और राधा आश्रित हैं। परन्तु आगे चल कर कृष्ण ही आश्रित हो जाते हैं। अतः राधा कृष्ण से बड़ी हुईं, फिर भी उनमें अभेद है—

'हम बिच तुम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज छाया।'

राधा के जिस रूप से आज हम इतने परिचित हैं, उसका सर्वप्रथम वर्णन कहाँ आता है, यह कहना तो बहुत कठिन है, पर इतना अवश्य है कि १० वीं शदी के आस-पास प्रत्यक्ष रूप से इनकी उपासना एवं वर्णन प्रारम्भ हो गया था। इसके पहले भी कुछ संकेत मिलते हैं, पर वह कृष्ण के किसी प्रिय गोपिका के सम्बन्ध में है। अथर्ववेद के गोपाल तापनी उपनिषद में एक प्रधान गोपी का वर्णन है, जो कृष्ण को बहुत प्यारी है। पर इसका नाम वहाँ पर गांधर्वी कहा गया है। भागवत के दशम स्कन्ध में (१०-३०) एक विशेष गोपी का वर्णन है, जिन्हें गोपियों ने रासलीला के अवसर पर कृष्ण के उसके साथ अन्तर्ध्यान हो जाने पर बड़ी भाग्यशालिनी बतलाया है। उनके शब्दों में :—

अनया ऽऽ राधितो नूनंम् भगवान हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनद रहः॥

अवश्य ही भगवान कृष्ण की इसने आराधना की है। इसीसे कृष्ण हम लोगों को छोड़कर इसे एकान्त में ले आये हैं; परन्तु यहाँ पर भी राधा नाम नहीं

आया है। हो सकता है कि इसी आराधना शब्द से राधा बना लिया गया हो। कृष्ण की जो आराधिका हो, वही राधा या राधिका है। पर भागवत के पूर्व भी राधा की स्थिति ग्राम्य-गीतों में देखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त राधा विषयक सामग्री राधा तापना उपनिषद्, पद्मपुराण, हरिवंश, गर्ग-संहिता, आदि पुराण और तंत्र शास्त्रों में भी प्राप्त हो सकती है।

विल्हण के विक्रमांक दव चरित्र में झूला के प्रसङ्ग पर राधा का वर्णन निम्निलिखित प्रकार से आता है—

दोला लोलद् धनजधनया राधया यत्र गग्नाः।
कृष्ण क्रिड़ाङ्गन विटपिनो नाधुनाप्युच्छ्व सन्ति।
जल्प क्रिड़ा मथित माथुराः सूर्यचक्रेण केचित्।
तस्मिन् वृन्दावन परिसरे वासराः येन नीताः।

पद्मपुराण के पाताल खण्ड (७६-८३) में कृष्ण की रास-क्रीड़ा का वर्णन भी है और उस स्थान पर राधा का नामोल्लेख है। जीव गोस्वामी ने नीलमणि की टीका में राधा को कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति कहा है। बौद्धों के तन्त्रवाद में स्त्री को शक्ति स्वरूप मान कर ब्रज ८४ कोस एवं पञ्चकोसी आदि को भी स्त्री शरीर से ही स्पष्ट किया जाने लगा। इसका भी कुछ प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ता दीखता है। पञ्चतन्त्र और गाथा-सप्तसती में भी राधा का नाम है। ध्वन्यालोक में एक श्लोक इस प्रकार भी आता है—

तेषाम् गोपवधू विलास सुहृदो राधा रहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र. कलिन्द राजतनया, तीरे लता वेश्मनाम्।

अभी तक राधा के जिस रूप की चर्चा की गई है, वह सब लोकोत्तर और दिव्य रूप ही है, परन्तु इसके बाद साहित्यिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से राधा का वर्णन हुआ है। इसका पहला स्थान जयदेव का गीत-गोविन्द है। ये ब्रह्मवैवर्त्य पुराण से ही प्रभावित हुए हुए थे। बङ्गाली वैष्णवों ने राधा में माधुर्य का समावेश किया। चैतन्य महाप्रभु ने रागानुगा भक्ति पर विशेष बल दिया। वे राधा सम्बन्धी पद को गाते-गाते अपने को भूल जाया करते थे। इन्ही सब का प्रभाव जयदेव पर भी पड़ा और इनका प्रथम श्लोक ही राधा कृष्ण सम्बन्ध की चिरन्तनता की ओर संकेत करता है—

मेंधैर्मे दुरमम्बरं बनभुव श्यामास्तमाल द्रुमैः।
नक्त भीरुरयं त्वमेव तदिम राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्ज द्रुमम्।
राधा माधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः॥

इस प्रसङ्ग में लौकिक पिता की आज्ञा पालन से मर्यादा की रक्षा भी हो जाती है, तथा राधा-कृष्ण का शाश्वत मिलन भी हो जाता है। इसी स्थान पर सूरदास ने भी इसी रूप में वर्णन किया है।

सूरदास का राधा-कृष्ण प्रसङ्ग क्षणिक उन्माद या यौवन की उद्दाम भावनाओं का फल नहीं है, अपितु अनन्त और असीम की सशान्त, निश्छल, ससीम एवं दिव्य लीला है। यमुना के तट पर दोनों उसी पुरातन प्रेम में फिर बँध जाते हैं।

"नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्द भई।
जन्म-जन्म युग-युग यह लीला, प्यारी जानि लई॥"

परन्तु फिर भी परिचय पूछा जाने लगा। राधा एक मुखर बालिका की भाँति कह देती है कि मैं ब्रज में क्यों आऊँ, वहाँ तो नन्द का ढोटा माखन-दधि की चोरी किया करता है। व्युत्पन्न मति कृष्ण भी कह उठते हैं कि :—

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहों, खेलन चलो संग मिलि गोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि, बातन भुरई राधिका भोरी।

राधा भी अब नित्य मिलने लगती है। उसे 'श्याम-भुजङ्ग' डस लेता है। अतः कृष्ण को भी गारुड़ि के रूप में आना पड़ता है। इसमें प्रेम की पूर्णता का ज्ञान हो जाता है। बाल-सहचरी के इस रूप में सूर का वर्णन बहुत उच्चकोटि का है, यद्यपि सूर ने अन्य रूपों पर भी प्रकाश डाला है :—

(१) परकीया भाव से राधा का चित्रण। इसमें 'राधा श्याम, श्याम राधा रंग' में होते हुए भी कृष्ण कहते हैं कि—'लोक लाज कुल कानि न तजिए, जाते भलै कहै सब कोई।" अतः मर्यादा की रक्षा भी हो जाती है।

(२) स्वकीया भाव से खण्डिता प्रसङ्ग में मान का वर्णन भी किया गया है यह मान, श्याम को दूसरों के वश में जानकर, भ्रम-वश रति-रस चिन्हों के कारण और प्रत्यक्ष रूप से दूसरी गोपी के यहाँ देखकर (इन तीन कारणों से, उत्पन्न होता है। परिस्थिति के अनुसार यह मान लघु या गुरु होता है। इनमें अन्तिम गुरु मान है, जिसके लिए कृष्ण को भी कहना पड़ता है:—

ऐतो श्रम नाहिंन कबहू भयो !
सुनि राधिके जेतो श्रम मोकूं, तैं यह मान दियो।
अघ, वघ, बच्छ, केसरि मारयो, दावानल अचयो।

× × ×

सूर सो बल तोहिं मनावत मोहिं सब बिसरि गयो।

(३) दम्पति के रूपमें झूले और बसन्त ऋतु में:—

झूलत श्याम श्यामा सङ्ग।
निरखि दम्पति अङ्ग शोभा, लजत कोटि अनङ्ग।

(४) वियोगिनी राधा का चित्रण तो बहुत ही मार्मिक है। यहीं पर राधा का प्रेम अन्तर्मुखी होकर गाम्भीर्यपूर्ण हो जाता है। वह अपने प्रेम और लगन का वर्णन स्वयं नहीं करती है, अपितु उसकी सखियों की विकलता ही उसके वैकलव्य को प्रकट कर देती है:

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिश्रम जल अन्तर तनु भीजै, ता लालच न
धुवावति सारी।

उद्धव भी कृष्ण का विशेष ध्यान आकृष्ट करते हुए राधा का चित्रण करते हैं कि:—

चित दै सुनहु श्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा मैं जु देखी छीन।
जब संदेशा कहन सुन्दरि, गवन मों तन कीन।
नैन जल भरि रोय दीनि, कण्ठ गदगद कीन।

यहाँ पर राधा कुछ कह भी न सकीं। सखियाँ कृष्ण को ही दोष देती हैं। पर राधा सखियों को ऐसा कहने से मना करती हुई कहती हैं कि मेरे ही स्नेह में कहीं कपट है, अन्यथा मुझे इतना दुःख न मिलता :—

सखि री हरि को दोष न देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत, मेरोई कपट सनेहु।

'इस प्रकार सूर के राधा चित्रण में हमें सच्ची प्रेमिका का चरित्र-चित्रण मिलता है, जो विरह की असह्य ज्वाला में जलती है, पर उफ तक नहीं करती; जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है, परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ; जिसकी कर्त्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत कोमल, जिसे माखन प्रिय नवनीतचोर कृष्ण ने हँसते-खेलते ही चुरा लिया।' इसका यह प्रेम कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर मूक वेदना में बदल जाता है। कुरुक्षेत्र में दोनों का मिलाप होता है। राधा इतने दिनों के बाद अपने हृदय सर्वस्व को देखती है, कितनी आशाएँ रहती हैं, पर कृष्ण के समक्ष वह बोल भी न सकी। उसका हृदय भर आता है। एक टीस मन में रह ही जाती है :—

करत कछु नहिं आजु बनी।
हरि आये हौं रही ठगी सी, जैसे चित्त धनी।
हृदय हरखि आसन नहिं दीनों, कमल कुटी अपनी।

रुक्मिणी कृष्ण से पूछती हैं कि इन स्त्रियों में राधा कौन हैं ? पर कृष्ण को बताना नहीं पड़ता है। क्योंकि उसने 'देख्यो री नैननि चुवत अचेत।' दोनों आपस में मिलती हैं पर राधा इतने निकट होने पर भी श्याम से न मिल सकी। राधा तो सोचती ही रहती है कि :—

'कबधौं मिलै श्यामसुन्दर सखि,
जदपि निकट है आये।'

रुकमिणी दोनों के मिलने का अवसर देती है और :—

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृङ्ग गति है जु गई।
माधव राधा के रँग राचे, राधा माधव रँग रई।
राधा माधव प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई।
विहँसि कही हम तुम नहिं अन्तर,
सूरदास प्रभु राधा माधव व्रजविहार नित नई-नई

यह है प्रेम का आदर्श, जिसमें दोनों की एक

सत्ता हो जाती है। दोनों अपने-अपने स्वरूप को एक दूसरे में लय कर देते हैं। यही एकत्व जीवन का चरम लक्ष्य है। भक्त अपने प्रेम से प्रभू को भी अपने धरातल पर खींच लेता है और दोनों एक रँग में रँग जाते हैं। इसी स्थान पर हमें प्रेम, भक्ति, काव्य, पूजा, समर्पण, सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। वास्तव में सूर की राधा एक ऐसी देन है, जिसको भुलाया नहीं जा सकता है!

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि साहित्य में राधा के तीन रूप हमें प्राप्त होते हैं—

(१) आराध्य रूप—इस रूप में शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य के बाद प्रगाढ़ माधुर्य की पूर्णता की असीम परिणति है। कृष्ण यहाँ पर राधा की आराधना करते हैं, तथा रसिक सिद्ध और राधा भाव में स्थित चैतन्य आदि महात्माओं ने इस रूप में दर्शन भी पाया है। विद्यापति और चन्डीदास का प्रवेश भी इस रूप में कहीं-कहीं हुआ है। राधा कृष्ण का इस रूप में नितान्त निगूढ़ मिलन स्थल केवल जमुना तटीय कुञ्ज है इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उद्दीपन भाव है ही नहीं, सभी आलम्बन ही आलम्बन है।

(२) आराधिका रूप—इसमें भी कई रूप मिलते हैं तथा उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।

(क) राधा कृष्ण की प्रेयसि के रूप में।

(ख) सन्तों, भक्तों, वेदान्तियों की राधा आराधिका रूप में।

(ग) इनकी लीला का आधार निकुञ्ज और रास मण्डल है।

(घ) अष्टसखी कृष्ण की प्रसन्नता में तत्पर रहती हैं।

(ङ) राधा के आदि रूप पर प्रकाश डालकर दार्शनिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

(३) कवियों की राधा—इसमें लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही रूप दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो यह वर्णन सांसारिक धरातल तक भी पहुँच जाता है। इस रूप में वृन्दावन की राधा और कृष्ण का वर्णन है। विद्यापति की राधा इसी प्रकार की हैं; पर उनके आन्तरिक भावों का वर्णन उच्चकोटि का है। राधा अपना अस्तित्व तक भूल कर तन्मय हो जाती है। जब वह अपने को राधा समझती है, तो कृष्ण का और जब कृष्ण समझती हैं, तो राधा का ध्यान उसे लगा रहता है। और उसका वियोग उन्हें हर दशा में सहना ही पड़ता है।

अनुखन माधव-माधव सुमिरत, सुन्दरि भेलि मधाई।
राधा सयँ जब पुनि ताँय माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं छूटत, बाढ़त विरहक बाधा।
दुहु दिसि दारु दहन जैसे दगधइ, आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधा मुखि, कवि विद्यापति भान।

चन्डीदास में परकीया भाव होते हुए भी राधा को अपने मान पर पश्चाताप होता है। और वह आत्म-बलिदान तक करने को प्रस्तुत हो जाती है।

आपन सिर हम आपन हाते काटीन,
काहे करिन् हेन मान।
श्याम सुनागर नटवर शेखर,
कहाँ सखि करल पयान॥

इसके पश्चात् राधा-कृष्ण के रूप में, परिस्थितियों के वश, इतना अधिक परिवर्तन हुआ कि उनका पूर्ववर्ती अस्तित्व समाप्त हो गया और वे दोनों ही एक साधारण नायक नयिका हो गये और रसिक कवियों ने अपनी कुत्सित भावनाओं का प्रकाशन, दूती, मान, शृङ्गार, रति, अभिसार आदि के माध्यम से करना प्रारम्भ कर दिया। कन्हैया शब्द एक रस-लम्पट, लोलुप और कली-कली का रस पान करने वाले का बोधक हो गया। तात्पर्य यह है कि भक्ति का उच्चभाव गिर गया और लौकिक भावनाओं के समावेश ने राधा कृष्ण विषयक रति तक का वर्णन करने में भी कवियों के हृदय में लज्जा एवं संकोच का अनुभव न होने दिया। और एक कवि ने तो बड़े गर्व के साथ यहाँ तक कह डाली कि—

'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई,
नातरु राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

कबीर की साखियों का अध्ययन

प्रो० ओमानन्द रू० सारस्वत, एम० ए०

साखी क्या है ?—कबीर की वाणी का संग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं; रमैनी, सबद और साखी। रमैनी दोहा और चौपाई में है, सबद गीतों (पदों) में और साखी दोहा शैली में है।

संस्कृत 'साक्षी' को ही प्राकृत में साखी कहते हैं। उसका मूल अर्थ है—"वह पुरुष जिसने किसी वस्तु या घटना को अपनी आँखों देखा हो।" स्पष्ट अर्थ गवाह है। झगड़े या द्वन्द्व के मूल को जानते हुए भी जो द्वन्द्व के पक्षपात से उदासीन और उसके समीप रहते हैं—उन्हें गवाह या साक्षी कहते हैं।

साखी का तात्पर्य 'साक्षात् की हुई बात' से है। आत-पुरुष जिस बात को अपने ज्ञान-चक्षुओं से देख लेते हैं, वह प्रामाणिक होती है। स्वयं कबीर साखी का लक्षण इन शब्दों में बतलाते हैं—

'स्वास सुरति के मध्य ही, न्यारा कभी न होय।
ऐसा साखी रूप है, सुरति-निरति से जोय ॥'

श्वेताश्वर उपनिषद् में भी परमात्मा को समस्त भूतों का साक्षी या सर्वद्रष्टा कहा है—

'एको देव सर्वभूतेषुः गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥'

कबीर के रूप और इस स्वरूप में पूर्ण साम्य है। कबीर की साखियों में उस साक्षी के साक्षात्कार से प्राप्त निष्कर्ष निहित है। उसका स्वरूप जानने के प्रयत्न में कबीर ने विभिन्न अङ्गों की झलक संसार के सामने रक्खी।

साखी की पावनता में सन्देह नहीं है, किन्तु उसके पढ़ लेने से ही काम नहीं चलेगा। उसमें अंकित तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना पहले आवश्यक है। उस तत्त्व या आत्मज्ञान के बिना साखी निरर्थक है—

पद गाये मन हरषिया, साषी कह्याँ अनन्द।
सो तत नांव न जाणियां, गल में पड़ियाँ फन्द ॥

डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' के अनुसार तो "कबीर की साखियाँ उपनिषदों की जन संस्करण है।" क्योंकि वही तत्त्व और वही विचारधारा इनमें व्याप्त है।

द्वन्द्वपूर्ण इस असार संसार में अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। मत-द्वन्द्व के कारण चैतन्य साक्षी स्वरूप की स्थिति का बोध किसी को नहीं हो पाता। ऐसी विकट दुविधा में पड़े मानव की मुमुक्षित आत्मा को 'साक्षी-स्वरूप' का बोध कराने के लिए समय-समय पर कबीर ने साखियों से साक्षी देकर सत्य न्याय किया है—

जीव दया चित राखिके, साखी कहै कबीर।
भवसागर के जीव को, आनि लगावै तीर॥

कबीर सिद्ध थे। उनका वचन पवित्र था। इस पवित्रता को श्रद्धा और पूजनीयता प्रदान करने के लिए कबीर के शिष्यों ने उनकी सूत्रमय प्राप्य अनुभूतियों को साखी या साक्षी कह कर पुकारा।

सन्तों की सिद्धान्तमयी 'बानियों' के लिए भी साखी शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है, क्योंकि इन साखियों की ओर हमारा ध्यान उस समय अधिक जाता है, जब हमारे सामने आध्यात्मिक या व्यावहारिक समस्या आ खड़ी होती है। इस भ्रम अथवा सन्देह के अन्धकार को दूर करने के लिए आलोक की आवश्यकता पड़ती है—साखी उस समय हमारे लिए 'ज्ञान की आँख' का काम करती है—

साखी आँखी ज्ञान की, समझ देख मन माहीं।
बिन साखी संसार के, झगड़ा छूटत नाहीं॥

अर्थात् यदि भली-भाँति विचार कर देखा जाय तो साखियाँ वास्तव में ज्ञान चक्षु का काम देती हैं क्योंकि साक्षी स्वरूप के समान तत्त्व-निर्णायक मान कर इनके द्वारा, यदि हम चाहें तो अपना भव-बन्धन तक छुड़ाने में समर्थ हो सकते हैं।

साखी का इतिहास—ऊपर बता दिया गया है कि संस्कृत की साक्षी ही 'साखी' बन कर हिन्दी में आई। इसकी प्राचीनतम रचना कब हुई और किसने की—यह बताना कठिन है। बाबा गोरखनाथ (११५०—१२४० ई०) ने भी कई साखियों की रचना की, जिसमें कुछ के संग्रह 'गोरखनाथ की बानी' और 'योगेश्वरी साखी' नामक ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

इनके पूर्ववर्ती नामदेव ने 'नामदेव की साखी' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे पता चलता है कि कबीर से पूर्व भी साखी का प्रचलन था; किन्तु सर्व-साधारण में 'साखी' कबीर ने ही प्रचलित की। सम्भवतः कबीर को नाथ-परम्परा से ही साखी की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

साखियों की संख्या—कबीर की साखियों की संख्या में बड़ा मतभेद है। सं० १५६१ की प्रति में, जो कबीर के शिष्य मलूकदास की संग्रहीत बताई जाती है, साखी की संख्या ८१० लिखी है। इसे ही डा० श्यामसुन्दरदास भी प्रामाणिक मानते हैं।

सं० १८८१ की एक अन्य कबीर-वाणी संग्रह में १३१ साखियाँ मलूकदास की प्रति से अधिक हैं।

'कबीर-ग्रन्थावली' के परिशिष्ट में १९२ अन्य साखियों का संग्रह है, जो श्री गुरुग्रन्थ साहिब से उद्धृत की गई हैं।

डा० मुन्शीराम शर्मा उनकी कुल संख्या ८१९ मानते हैं। उन्होंने बतलाया है कि ग्रन्थावली में ८०९ संख्या अन्त में दी है, किन्तु संख्या १७० के बाद ८ साखियाँ हैं—जहाँ भ्रम से १६८ लिख दिया है जो कि १७८ होना चाहिए था। अतः साखियों की संख्या ८१९ होनी चाहिए।

साखियों का विभाजन—कबीर की साखियों का विभाजन अङ्गों में हुआ है। अङ्ग का अर्थ है प्रकरण या भाग। सं० १५६१ की प्रति में ६९ अङ्गों का उल्लेख है। ग्रन्थावली में ५९ अङ्ग हैं।

अङ्ग का नामकरण विषय को बतलाता है, जैसे 'निहकर्मी पतिव्रता का अङ्ग'। कई अङ्गों का विभाजन बड़ा ही स्थूल है, जैसे 'उपदेश को अङ्ग'। समस्त साखियों में उपदेश की भरमार है, फिर उसका एक अङ्ग रखना ठीक नहीं। सम्भवतः कबीर के शिष्यों ने इन शीर्षकों का उचित सङ्कलन न किया हो।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर की सम्पूर्ण साखियों को मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया है—(१) नियम, (२) मानवी स्वभाव, (३) पाखण्ड, (४) गुरुदेव, (५) परमात्मा-परिचय, (६) प्रेमाभक्ति, (७) आदर्श व्यवहार, (८) उपदेश व नीति।

स्थूल रूप से हम साखियों के तीन विभाग कर सकते हैं—(१) साम्प्रदायिक, (२) नीरस उपदेश और (३) सरस काव्य उक्तियाँ।

साखियों की प्रामाणिकता—कबीर की वाणी में साखियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इसे ही स्वीकार किया है, वे लिखते हैं—

"कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं, जिनके अन्त में एक-एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करने का अर्थ होता है कि कोई दूसरा आदमी इन रमैनियों को लिख रहा है और इस रमैनी रूप व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी या गवाही पेश कर रहा है।"

श्री रामचन्द्र शुक्ल भी यह मानते हैं कि कबीर के सिद्धान्तों की जानकारी का सब से उत्तम साधन साखी ही है।

साखी का भ्रामक अर्थ—किसी-किसी ने साखी का अर्थ किया है—"सन्तों की अनुभवपूर्ण वाणी, जो दोहों में कही गई हो।" किन्तु यह अर्थ भ्रामक है। यद्यपि अनेक साखियाँ दोहों में लिखी गई हैं, परन्तु उनमें ३० प्रकार के विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए कबीर के 'वैसास को अङ्ग' में प्रथम दोहा न होकर षट्पदी है।

साखियों का विषय-तत्त्व और उनकी विशेषताएँ—नैतिक और आध्यात्मिक विषयों को सरल और बोधगम्य भाषा में रख कर कबीर ने साखियों को जनसाधारण के योग्य बनाया। आत्मा, परमात्मा,

और अन्य रहस्यमय तत्त्वों को साधारण रूप में रखना साखियों की अपनी विशेषता है। कुछ पद्य तो आत्म-परिचयात्मक हैं और कुछ में विरह-तत्त्व की अधिकता है, जहाँ कवि अपने आपको मिटाना चाहता है—

"यह तन जालों मसि करों, लिखौं राम का नाउँ।
लेखनी करूं करंक की, लिखि-लिखि नाम पठाउँ॥

कुछ साखियाँ उलटबासियाँ हैं जिनमें अद्भुत रस का अद्भुत मिश्रण हुआ है—

"घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ।"

कुछ साखियाँ मात्र उपदेशात्मक हैं, कुछ में केवल धर्म (नैतिकता) है, कुछ में दार्शनिक गुत्थियों का हल है, कुछ में हठयोग की सरल व्याख्या है तथा कुछ में साहित्यिक रस का परिपाक भी देखने में आता है जिनमें साहित्यिक अलङ्कारों के उदाहरण भी प्राप्य हैं—

"गगन दमांमां बाजियां, पड्या निसानै घाव।
खेत बुहार्‌या सूरिमै, मुझ मरणे का चाव॥"

कबीर की साखियों में इस प्रकार की कई विशेषतायें हैं, जो अन्य लोगों की साखियों में प्राप्य नहीं हैं। कबीर ने अपनी साखियों में साधारण जीवन में प्राप्त प्रतीक-योजना को अपनाया है। जुलाहा, उसका सूत, करघा आदि अनेक प्रतीक साधारणतः दैनिक जीवन के व्यवहार से लिये गए हैं।

साखियों में कोई बात संगत है तो कहीं पर उसी बात का विरोध सा भी है—सम्भवतः यह कबीर ने विभिन्न धर्म वाले लोगों से कही होंगी।

द्वैत और अद्वैत से परे 'जीवन्मुक्त' अवस्था का वर्णन और अधिकतर उसी को मान्यता साखियों में दी गई है। कहीं-कहीं साखियों में साम्प्रदायिक शिक्षा और उपदेश भी दिये गये हैं।

एक ही वस्तु के लिए कबीर ने कहीं-कहीं अनेक प्रतीक मान लिए हैं। उदाहरण के लिए आत्मा को नारी माना गया है; किन्तु नारी के भी कई रूपों का वर्णन है। कहीं पर कुमारी कन्या, कहीं सुन्दरी, कहीं विरहिणी, कहीं पर सती आदि अनेक नारियों को प्रतीक रूप माना है।

क्या साखियों में काव्य है?—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने कबीर को कवि नहीं माना है।

श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी सिद्धों और योगियों की रचनाओं को ज्योतिष और आयुर्वेद की कोटि में मान कर, उन्हें साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र ही बतलाया है, जिनका जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से सम्पर्क नहीं है।

हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि कवि किसी प्रेरणा से ही काव्य का सृजन करता है। कबीर की साखियों में ईश्वर की भक्ति या प्रेम ही मूलतः पाया जाता है। प्रेम के प्रसङ्ग को लेकर जो साखियाँ बनाई गई हैं, उन्हें काव्य के अन्तर्गत ही मानना युक्तिसङ्गत होगा। स्थूल रूप से काव्य के तीन अंग होते हैं—(१) विचार, (२) भाव, (३) कल्पना।

कबीर में कल्पना का अभाव नहीं है, किन्तु वह कम है। विचार की अधिकता में भावों की भी उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना हुई है—इसमें सन्देह नहीं है। विरह, प्रेम आदि के अङ्गों में विचारों के साथ भावों का मिश्रण भी हुआ है—

"आँख न मीचूं डरपता, मत सुपना ह्वै जाय।"

भावों में कहीं नम्रता है, कहीं पर कठोरता है, कहीं संयोग है तो कहीं वियोग है—

"कै विरहिण को मीचु दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझणा, मो पै सह्या न जाय॥"

इस प्रकार कबीर की साखियों को हमें काव्य मानना पड़ेगा। मात्र साम्प्रदायिक संज्ञा देकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—और ऐसी कौन सी कविता या ऐसा कौन सा कवि है, जिसमें साम्प्रदायिक भाव न आ पाये हों। कबीर में माधुर्य भाव की कमी नहीं, पति-पत्नी रूप की वैष्णव भावना भी प्राप्य है।

भाषा—कबीर की साखियों की भाषा 'स्वाभाविक' है। उस पर एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जा सकता है।

तुलसी की उपासिका शबरी की भक्ति (मातृ-भाव की या पत्नी-भाव की ?)

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

गोस्वामीजी का परम प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित-मानस भक्ति प्रधान ग्रन्थ है। उसके सभी पात्र किसी न किसी रूप में राम के भक्त हैं। यहाँ तक कि जड़ और कीट पशु संसार पर भी राम का प्रभाव है। रावण तक राम का शत्रु भक्त है 'तो मैं जाइ वैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।' इतना होने पर भी भक्तों में साम्य नहीं। प्रत्येक पात्र की भक्ति अलग है। कोई भी भक्त दूसरे के समान नहीं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। दशरथ और जनक दोनों पूज्य हैं। दशरथ सगे पिता हैं तो जनकजी धर्म पिता। किन्तु दोनों का स्नेह, दोनों की भक्ति एक नहीं। जनकजी का स्नेह विवेक-मिश्रित है। वे राम के स्नेह में लीन तो होते हैं परन्तु नितान्त डूब नहीं जाते। 'उर उमगेउ अम्बुधि अनुरागू' 'प्रेम मगन मन जानि नृप करि विवेक धरि धीर।' उधर राजा दशरथ का स्नेह सच्चा स्नेह है। वे उसमें पूर्णतया डूब जाते हैं। अपने मन को, अपनी बुद्धि को, अपनी आत्मा को उसी में डुबो देते हैं। 'बन्दउ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद·······जीवन राम दरस अधीना।' हनुमान और लक्ष्मण दोनों ने दास्य भाव-भक्ति की। दोनों सच्चे सेवक हैं तब भी कुछ अन्तर अवश्य है। हनुमान पूर्ण दास हैं राम के हाथों बिके दास हैं 'जाना मन क्रम वचन यह कृपा सिन्धु कर दास।' लक्ष्मण आत्म-समर्थी भक्त हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व राम के चरणों में चढ़ा दिया है। राम उनके हृदय की धड़कन हैं, उनकी नाड़ियों के रक्त हैं। वह केवल विना देखे भाले, विना सोचे समझे, आज्ञा पालन और सेवा करना जानता है। 'मोरे सबहिं एक तुम स्वामी—सेवहिं लखन सिय रघुवीरहिं जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।' निषाद और सुग्रीव दोनों सखा हैं परन्तु दोनों के सख्य-भाव में अन्तर है, सुग्रीव केवल सखा है। वह पहले राम के सख्य-भाव की परीक्षा लेता है, तब मित्रता का हाथ बढ़ाता है। बस केवल सखा, भौतिक सखा है। "सखा सोच त्यागहु बल मोरे।' किन्तु निषाद 'सुजान सखा है।' वह राम के हित को जानने वाला है। साथ ही लक्ष्मण से राम के ब्रह्मत्व पर वार्ता भी करता है तभी तो सुजान सखा बना 'कहुउ सत्य सब सखा सुजाना'।

इसी प्रकार 'भायप भगति' के आदर्श भरत, चरण पिपासु केवट, परोपकारी-भक्त जटायु इत्यादि सभी भक्त हैं। शबरी के हृदय में भी राम की भक्ति है। उसका स्थान भी बहुत ऊँचा है। केवल उसे ही राम ने नवधा भक्ति के उपदेश का पात्र समझा; केवल उसी के वेर खाये। कितना ऊँचा है पद इस अकुलीन बन वासिनी शबरी का। वह राम की भक्त है। पर उसकी भक्ति किस प्रकार की है? 'रामचरितमानस' में वह राम को पति भाव से पूजती है। उसने दूर से स्याम-गौर सुन्दर दोउ भाई देखे श्याम गौर तो थे ही साथ में सुन्दर भी थे, वह प्रेम में मग्न हो गयी। आनन्दातिरेक में उसके मुख से शब्द भी न निकल सका। प्रभु ने भी प्रेम से शबरी के कन्द-मूल-फल खाये। प्रभु को देख कर शबरी के हृदय में अब तो और भी प्रीति बढ़ आयी जिसका पति रूप में वह ध्यान करती थी वह नेत्रों के सामने थे। क्यों न प्रीति बढ़ती। पत्नी का सबसे बड़ा सौभाग्य है कि वह पति के जीतेजी उसका मुख निहारती मर जाय। यह स्पृहणीय सौभाग्य शबरी को प्राप्त हुआ—"विलोकि हरि·······तजि जोग पावक रहे।"

क्या राम ने भी शबरी को उसी रूप में स्वीकार किया। भगवान राम को जो जिस भाव से भजता है वे उसके सत्य स्नेह के वश में होकर उसी रूप में

दर्शन देते हैं। "जाकर जा पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहिं न कछु सन्देहू।" राम ने भी शब्द मात्र से शबरी का पत्नीत्व मान लिया और उसे हरिपद में लीन कर लिया। राम ने शबरी को 'भामिनी' और 'करिवर गामिनी' का पद दिया। वे कहते हैं—

"कह रघुपति सुनि भामिनि बाता।"
"सोई अतिशय प्रिय भामिनि मोरे।।"
"जनकसुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कछु करिवर गामिनी।।"

भामिनी और गजगामिनी माता या बहिन या ऐसे ही सम्बन्धों के लिए प्रयुक्त नहीं होते। ये शब्द अपनी पत्नी या सुन्दर स्त्री के लिए प्रयुक्त होते हैं। भामिनी के दो अर्थ हैं 'भा' का अर्थ है कान्ति या शोभा। अतः भामिनी का अर्थ हुआ रूपवती या शोभाशालिनी। एक पुरुष किसी सुन्दरी को 'भामिनी' कह सकता है जहाँ बहिन जैसी भावना न हो। एक स्त्री दूसरी स्त्री को मोह ईर्ष्यावश भामिनी कह सकती है। मन्थरा कैकेयी से कहती है "भामिनी करहु तो कहौं उपाई।" ग्राम वधुयें सीता को भी भामिनी कहती हैं, रामचरित मानस में भी कवितावली में भी। 'भामा' या 'भामिनी' दूसरा अर्थ है 'पत्नी'। पत्नी के विशेष गुणों के कारण उसका नाम वामा भामा, अबला पड़ गया है वह वामा कहलाती है क्योंकि वह कहने के विरुद्ध जाती है। इसी प्रकार वह क्रोध करती है अतः 'भामा' या 'भामिनी' कहलाती है 'भाम्' संस्कृत धातु का अर्थ है क्रोध करना। तुलसी दास ने इस अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है। दशरथ कैकेयी से कहते हैं "भामिनि भयउ तोर मन भावा" "भामिनि राम समथ सत मोही।" वनबास के समय सीता को समझाते राम कहते हैं—

"सब विधि भामिनि भवन भलाई"
तुलसीदास प्रभु विरह वचन सुनि मुरछित भई भामिनि
(गीतावली)

राम ने शवरी को तीन बार भामिनी कह कर पुकारा। यही उनकी स्वीकृति है। मर्यादावादी भगवान राम के मुख से इतना ही क्या कम है "जेहि सपने पर नारि न हेरी" ऐसे राम शबरी को 'करिवर गामिनी' कहकर उसके हृदयगत भाव को स्वीकार कर लेते हैं यह भक्त के लिए नीचे उतर आना है। 'करिवर गामिनी' शब्द भी प्रणय भावना से लिपटा हुआ है। दशरथ कैकेयी से कहते हैं "कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर"। राम सीता से कहते हैं "राज कुमारि कठिन कण्टक मग, क्यों चलि हौ मृदु पग गजगामिनी"।

किन्तु जब हम 'गीतावली' में इस प्रसङ्ग को पढ़ते हैं तो वहाँ और भी भाव पाते हैं वहाँ शबरी माता समान है और राम ने भी माता के समान उसका आदर किया शबरी राम के लिए कन्द मूल फल लाकर एकत्र करती है जैसे माता पुत्र के लिए करती है। अलङ्कार का पर्दा देकर शबरी को माता रूप कहा है। मातृत्व की भावना तो है ही चाहे परोक्ष रूप से ही क्यों न हो।

'अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सग आनिकै
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै।'
(गीतावली पद ३)

राम ने भी उसका भाव देख माता समान आदर किया—

'सो जननी ज्यों आदरी सनुज, राम भूखे भाव के।'
(गीतावली पद ४)

माता का भाव रख कर राम ने जलाञ्जलि भी दी।

तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई।
(गीतावली पद ८)

एक विचित्र उलझन सामने है। रामचरित मानस में शबरी पत्नी रुपा है गीतावली में मातृ रूपा। तुलसीदास जी ऐसे महाकवि से यह विरोध कैसे बन पड़ा? इस समस्या का समाधान भी कुछ है। अवश्य है, इस प्रश्न का उत्तर यह सिद्ध करता है कि 'गीतावली' का निर्माण 'रामचरित मानस' के बाद हुआ। पंडित रामनरेश त्रिपाठी और बाबा वेणीमाधवदास गीतावली का निर्माण-सम्वत् रामचरित मानस से पूर्व

का देते हैं। डा० माताप्रसादजी रामचरित मानस के ग्यारह वर्ष बाद गीतावली का निर्माण काल बताते हैं। मैं डाक्टर गुप्त से सहमत हूँ। हाँ, इसकी पुष्टि में निम्नलिखित कारण भी हैं।

गोस्वामीजी के कुछ प्रसङ्ग यह सिद्ध करते हैं कि 'गीतावली' रामचरित मानस के बाद की रचना है। हम केवल ऐसे तीन प्रसङ्गों को लेंगे।

(१) विभीषण देश-द्रोही माना जाता है। वह राम का भक्त है। तुलसीदास ने उसे राम का भक्त बनाकर उसके अपराध को मिटाने का सफल प्रयास किया है। विभीषण ने ब्रह्मा से वर माँगा था 'भगवत पद कमल अमल अनुराग' शैवों की पुरी में अकेला वैष्णव भक्त विभीषण किस संकट से दिन गुजारता था, इसका संकेत विभीषण ने हनुमान को देते हुये कहा था 'सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन महिं जीभ विचारी।" भक्त शिरोमणि हनुमान ने विभीषण से मिलकर उसकी राम-भक्ति पर तेज धार दी। उसे बता दिया कि जब अटक पड़े मेरी तरह राम की शरण आजाना। उनकी आदत ही है 'करहिं सदा सेवक पर प्रीती'। यह मत सोचना कि मैं राक्षस हूँ। मेरी दशा देखो, मैं कौन कुलीन हूँ? बन्दर हूँ, सब प्रकार से हीन हूँ, जो प्रातःकाल नाम ले ले उसे दिन भर भूखों मरना पड़ता है, तब भी मुझ पर भगवान ने कृपा की। सोने में सुहागा मिल गया। भक्ति का रङ्ग गहरा हो गया। फलतः जब रावण ने लात मारी तो विभीषण अपने मन्त्रियों के साथ राम के पास चला गया। पुकार कर रावण को सुनाता गया।

राम सत्य सङ्कल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुवीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥

मन में कुछ इच्छा लेकर गया और क्या इच्छा हो सकती थी। रावण को मरवा कर राजा बन जाऊँ। वह पूरी भी हुई। जाते ही राम ने राज्य तिलक कर दिया।

तुलसी ने विभीषण को भक्त रूप दिया। तब भी लोगों ने आक्षेप अवश्य किया होगा। विभीषण एक दम राम के पास चला गया। मन्त्रियों को भी साथ लेता गया। वह राज्य-लोलुप था, तभी सीधा राम से जा मिला। तुलसी ने 'गीतावली' में इस त्रुटि का परिमार्जन कर दिया। वहाँ का प्रसङ्ग रामचरितमानस का पूरक है, संशोधक है। 'गीतावली' में भी रावण ने लात मारी, वह भी हृदय में। वह सीधे 'एक वासना' ले राम के पास नहीं उड़ जाता। वह माता के पास जा सब हाल कहता है। माता समझाती है कि कोई बात नहीं, बेटा! रावण तेरा भाई है। बड़ा भाई स्वामी और पिता होता है। चुप होजा, इसी में तेरी बड़ाई है। लोग कहेंगे कि विभीषण कितना 'शान्त' और 'सज्जन' है परन्तु विभीषण को बड़ी ग्लानि हो रही है। माता बोली क्रोध न कर। अच्छा जा राम की शरण चला जा। जब संसार विमुख हो तो राम की शरण जाना ही अच्छा है राम जिसे ऊपर उठाते हैं वही उठता है। विभीषण चरण वन्दन कर चल दिया सगुन भी शुभ थे।

—(गी० पद २६)

चल तो दिया—मन में अन्तर्द्वन्द्व है, २७ वां पद बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वह सोच रहा है 'क्या भाई जैसा काम करूँ? बदला लूँ। डरता हूँ। कुसमय है। राम के पास जाऊँ या बड़े भाई कुबेर से भी सलाह ले लूँ। निश्चय कर वह कुबेर के पास गया। विभीषण ने पूरी कथा सुना कर सम्मति माँगी। बेचारे कुबेर भी चक्कर में पड़ गये। क्या परामर्श दें? संयोग से उसी समय शङ्करजी वहाँ आ गये। उन्होंने हितकारी परामर्श दिया—

राम की सरन जाहि, सुदिनु न हेरै,
मेरो कह्यौ मानि तात! बाँधे जिनि बेरै····

अब मन शान्त हो गया निश्चित मार्ग दीख गया। माँ की आशा, परोपकारी नेता शङ्कर का परामर्श। उस पर सगुन भी मिला। मुदित हो विभीषण राम की ओर चल दिया। —(गीतावली पद २७)

(शेष पृष्ठ ३३५ पर देखिए)

रीतिकालीन काव्य—उपेक्षित क्यों ?

श्री नन्दन झा 'चाँद'

भारतीयों के प्रतिकूल आँग्ल शिक्षा का प्रभाव यहाँ के मानवों के मस्तिष्क में अचल बीज की नाईं प्रसारित हो गया है—जो नाश नहीं हो सकता। इसी के प्रभावान्तर्गत हिन्दी साहित्य के तथाकथित आलोचक रीतिकाल को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं—कहते हैं कि रीतिकालीन काव्य ही सब अनर्थों की जननी है।

पर गहन अध्ययन एवं मनन के पश्चात् यह सर्वथा अनुचित जँचता है। आलोचक यदि आलोचना में कठोर वाक्यों का प्रयोग करें तो यह उनकी क्षुद्रता है। आलोचकों को तो सागर की तरह उदार हृदय होना चाहिये। इसी अनुचित वातावरण एवं पद्धति का विशेषीकरण होता देख हिन्दी साहित्य के सत्समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'आजकल आध्यात्मिक रङ्ग के चश्मे इतने सस्ते हो गये हैं कि जो, जो कुछ कहना चाहता है—बखूबी कह डालता है।'

यह तो सर्व-विदित एवं सर्वमान्य है कि पूर्ववर्ती से परवर्ती प्रभावित रहता है। अतः रीतिकाल भी अपने पूर्ववर्ती काल से प्रभावित है। अब यदि रीतिकाल उपेक्षित है तो पूर्ववर्ती काल भी उपेक्षित होगा, यही बात आधुनिक युग के साथ भी होगी। यदि रीतिकाल उपेक्षित है तो आधुनिक काल भी उपेक्षित है, चूँकि यह आधुनिक काल भी परवर्ती होने के नाते पूर्ववर्ती रीतिकाल से प्रभावित है। इस तरह देखा जाता है कि हिन्दी साहित्य का हर काल उपेक्षित है और तब ऐसा कहने वालों पर क्षोभ और तरस प्रकट होता है। कितना बड़ा अन्याय है। जरा सा बिना सोचे समझे लिख देने से सारा साहित्य उपेक्षा की दृष्टि से देखा जा सकता है। साहित्य का विनष्टप्राय पौधा जिसे हिन्दी साहित्य के कर्मठ करों ने सींच कर पल्लवित और पुष्पित किया है—फिर विनष्ट हो सकता है—यदि ऐसी ही पद्धति आलोचना की रही।

रीतिकाल में शृङ्गार की प्रधानता है। आज के साहित्य में भी शृङ्गार रस को ही रसराज की संज्ञा से विभूषित किया गया है। अब देखना है कि और किसी काल में इसकी प्रधानता है या नहीं। विद्यापति को शृङ्गार रस का पहला कवि माना जाता है। वैसे तो 'चन्द वरदाई' के काव्यों में भी यत्र-तत्र वयःसन्धि के कुछ उदाहरण मिलते हैं, पर वे अत्यधिक सजग नहीं। भावों का संगुम्फन विद्यापति ने इस अनूठे ढङ्ग से, कुछ अभूतपूर्व कलात्मकता के साथ किया है कि शृङ्गार अपनी परम सीमा पर आरूढ़ है। इसी हेतु इन्हें पहला शृङ्गारी कवि माना जाता है। इन्होंने शृङ्गार को विशेष रूप से अपने काव्य में स्थान दिया है। भक्तिपरक, व्यक्तिगत या रहस्यवादी कविता तो शायद इनकी मनःस्थिति के ऊब जाने पर लिखी गई प्रतीत होती है। फिर भी इनके काव्य को उपेक्षित नहीं समझा जाता। इन्हें सिर्फ शृङ्गारी कवि कह कर ही सजा दी गई है। भक्त कवियों की श्रेणी में इन्हें नहीं रखा गया है—ये भी क्या कुछ कम और आसान सजा दी है आलोचकों ने? इसी विषय को किसी आलोचक ने लिखा है—"अपने जीवन के तीन हिस्सों में विद्यापति ने युवतियों के नखशिख के साथ खेल किया है, सद्यःस्नाता को देखकर खुश हुए हैं और युवती को स्नान करते देख परम सौभाग्यशाली मानते हैं अपने को! पर जब अन्त में घृणात्मक दृष्टि की खबर हुई तो अन्तिमकाल में लिखने लगे—

माधव हम परिनाम निरासा....

या—तातल सैंकत वारि विन्दु सम....

इनके पश्चात् 'सूर' का नाम उल्लेखनीय है 'सूर' भी परवर्ती हैं और विद्यापति से प्रभावित हैं। पर आध्यात्मिक रङ्ग के चश्में को चढ़ाकर आलोचकों ने

इन्हें भक्त व्यक्ति मान लिया है और यह सर्वमान्य है।

कुछ पंक्तियों को उदाहरण की वेदी पर लाकर देखा जाय तो पता चलता है कि इन दो कवियों के काव्य में भी शृङ्गार की कितनी व्यापकता है और इसे उपेक्षित नहीं समझा जाता है।

विद्यापति के सद्यःस्नाता चित्र को देखिए—

कामिन करए सनाने
हेतहि हृदय हनए पंचवाने····
तितल बसन तन लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू

और भी—एक ही पलङ्ग पर कान्ह रे,
मोर लेख दूर देश भान रे"

इस पद को आलोचक रहस्यवादी भावनाओं से समाहित मानते हैं पर सांकेतिक अर्थ खोजना प्रत्यक्ष सत्य की अवहेलना करना है। मैं इसे रहस्यवादी भावनाओं से समाहित नहीं मानता। यह तो प्यार की प्रगल्भता है जिससे महानता का सृजन हुआ है।

और भी हैं— पल्लव राज चरन जुग सोभित
गति गज राज कमाने
कनक कदलि पर सिंह
समारल तापर मेरु समाने—

क्या यह बिहारी के दोहों को भी मात नहीं कर रहा है? क्या यह देव, मतिराम या और अन्य रीतिकालीन कवियों की काव्य-प्रतिभा से कम है।

मेरु उपर दुई कमल फुलायल,
नाल बिना रुचि पाई"

"तुअ बिन करव भुवन रितु पान"

यहाँ गणित का प्रयोग हुआ है। भुवन = १४, ऋतु = ६, १४+६ = २० (विष)

अब सूर के भी कुछ पदों को देखा जाय—

"वेद नखत ग्रह जोरि अरध करि सोई बनत अब खात"

यहाँ भी गणित का प्रयोग है—

वेद = ४, नक्षत्र = २७, ग्रह = ६, ४+२७+६ = ४० ÷ २ = २० (विष) तो दोनों विष का उपयोग कर रहे हैं—विद्यापति भी और सूर भी!

"जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त
तापर सिंह करत अनुराग"
"हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर
गिरि पर फूले कञ्ज पराग"

अब स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि दोनों की भावनायें किस तरह एकाकार हैं और परवर्ती कितनी दूर तक पूर्ववर्ती से प्रभावित हैं।

इसी तरह पूर्ववर्ती विद्यापति एवं सूर से रीतिकाल काव्य के कलाकार भी प्रभावित हैं। कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

"नींवीं उकसाय, नेंकु नैननि हँसाय, हँसि
शशिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी" —देव
विहँसति सकुचति-सी दिये कुच आँचर बिच बाँह
भींजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह॥ बिहारी
"पैरे जहाँ ही जहाँ वह बाल,
तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।" —पद्माकर

सद्यःस्नाता के जो चित्र इन तीन कवियों ने चित्रित किये हैं—क्या उससे कम किया है विद्यापति ने। निकटतम सम्पर्क है दोनों की भावनाओं में।

यदि सूर या विद्यापति किसी सुन्दरी नायिका के विना विष पान करते हैं तो 'केशवदासजी' को कुए में डूबना ही उत्तम और भला जँचता है—

केशव अब मरिबो भलो परहु कूप में जाय।
चन्द्रवदनि पानी भरै, परै कुचन की छाँह॥

यदि विद्यापति ने कहा कि—

कटिक गौरव पाओल नितम्ब।
एक क खीन अओक अवलम्ब॥

तो बिहारी ने भी कहा है कि—

"स्तन, मन, नैन, नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन"

इस प्रकार विद्यापति और सूर ने एक ओर तो भक्तिकालीन कवियों को प्रभावित किया, दूसरी ओर रीतिकारों को पोषक तत्त्व दिये। अतः रीतिकाल के जन्मदाता या पालनकर्ता तो ये दोनों ही कवि ठहरे या पूर्ववर्ती काल ही। इन दोनों ने शृङ्गार का बीज भक्ति के क्षेत्र में ही बो दिया था जो युग-युग तक

सबों को आनन्दित करेगा। इसी बीज का अंकुर मुगलों की विलासिता कामिनी के पुष्प-पङ्खड़ी रूपी अधरों का पराग पाकर यौवन की रङ्गीनी के साथ पल्लवित और पुष्पित हुआ जिसे रीतिकालीन उपज कहा जाता है।

व्यक्त साहित्य में भी यही बात देखनें को मिलती है—रीतिकालीन पदों और छायावाद की सुनहली साड़ी में आवेष्ठित छोटे-छोटे वाक्यों की छोटी-छोटी कविता में कुछ भी अन्तर नहीं। सिर्फ शैली की ही भिन्नता है। भाषा भी दो हैं।

यदि बिहारी किसी ग्रामीण युवती को शृंगार मंजूषा के आगे देखकर गुनगुना उठा—

"कुचन बाँधि कर भुज उलटि खए सीस पट डारि
काको मन बाँधे न यह जूरो बाँधनि हारि"—

तो 'पन्त' किसी पनिहारिन को देख बोल उठे—

खींचती उबहनी वह बरबस
चोली से उभर उभर किसमस
खिंचते सङ्ग युग रस भरे कलश

पनघट पर पानी से भरे गागर खींचते समय चोली की उभार के साथ युवती के दोनों उरोज रूपी रस कलशों की कस-मस क्रीड़ा यथार्थवादिता से ओत-प्रोत रहने पर भी रीतिकालीन पदों की अनुयायी है इसे कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा। दोनों पदों में कुछ भी अन्तर नहीं, प्रत्युत देखा जाय तो पन्त की पंक्तियाँ ही विशेष उत्तेजक हैं।

प्रगतिवादी कवि तो शृङ्गार क्या वीभत्स रस का चित्रण कर देते हैं। नवीन युग के नव-उन्मेष क्षितिज पर जो युवक या युवतियाँ कविता करती हैं—उसकी व्याख्या असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

अतः किसी भी शर्त पर रीतिकालीन काव्य उपेक्षित नहीं कहा जा सकता है यदि ऐसा ही होता तो रीतिकाल के महान कलाकार 'बिहारी' की सतसई पर दर्जनों टीकायें नहीं प्रकाशित होतीं।

शृङ्गार रस की महत्ता हर काल में व्याप्त है—फर्क इतना ही है कि रीतिकाल के कलाकारों ने बड़ी ही जिन्दादिली से, ओत-प्रोत होकर, डूबकर और पूर्ण होकर शृङ्गार के तड़ाग में विचरण किया है। निःसन्देह अनियन्त्रित प्यास के साथ शृङ्गार के मधु-कुम्भ का उन्मादकारी रसपान किया है। कविवर बिहारी ने अपनी सतसई में 'गागर में सागर' की सार्थकता को अभिव्यञ्जित कर दिखाया है। इसकी गहनता और इसमें पड़े शब्द मधुर-रत्नों का मूल्य कोई विरला कला-मर्मज्ञ ही समझ सकता है (रीतिकालीन काव्य की एक-एक पंक्ति गार्हस्थ्य जीवन के साथ एकाकार है। युवतियों के मांसल-शृङ्गार की अभिव्यञ्जना हुई है।) रीतिकाल में और यह तो स्वाभाविक है। युवावस्था में सौन्दर्य में विशेष आकर्षण होता है और वह मादक भी होता है। रीतिकाल में शृङ्गार-वर्णन युवावस्था को प्राप्तकर रहा है। शृङ्गारिक भावनायें अपनी शैशवावस्था में विद्यापति और सूर के आगे फुदकती रहीं और युवावस्था में यह रीतिकाल के कलाकारों के साथ आँख मिचौनी करने लगीं। परिस्थिति पर ही मनुष्यों की भावना अनुरञ्जित रहती है। जमाना विलासिता कामिनी के नूपुर की झङ्कारों से मदहोश था और मदहोशी की अवस्था में, अलस मदिर तन्द्रिलता में जो देखा व्यक्त कर दिया है।

जिस तरह तुलसी के 'रामचरितमानस' और 'सूर' के 'सूरसागर' को विश्व की अक्षुण्ण निधियों में सादर स्थान प्राप्त है उसी तरह रीतिकाल के कलाकारों की भी कुछ रचनायें ऐसी ही हैं।

भक्तिकालीन और रीतिकालीन दोनों ही कवियों ने शृङ्गारिक कविता की है किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भक्तिकाल के कवि के हृदय में जो उल्लास है वह रीतिकालीन कवि के हृदय के उल्लास से भिन्न है। रीतिकालीन कवि नारी को भोग्या ही मानकर चले हैं। दूसरी बात यह है कि उन्होंने अलङ्कारों और छन्दों के उदाहरण उपस्थित करनें के लिए कविता की है न कि निजी उल्लास और प्रेरणा से। फिर रीतिकालीन सभी कवियों की उपेक्षा नहीं की जाती। देव, मतिराम, बिहारी आदि की कविता की कोई उपेक्षा नहीं करता। यदि उपेक्षा की गई है तो वह केवल रीतिकाल के दृष्टिकोण के कारण —सम्पादक

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

प्रेमचन्द और मैक्सिम गोर्की की साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

श्री शीतल साहित्यालङ्कार

साहित्य और समाज का सम्बन्ध चोली-दामन का सा है, या यों भी कहा जाय कि साहित्य समाज की ही वस्तु है तो कोई अतिरञ्जना नहीं। प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त के शब्दों में—"साहित्य और समाज का सम्बन्ध आज का कोई नवीन प्रश्न न होकर शाश्वत काल से चला आने वाला सम्बन्ध है।" अतः जब हम साहित्य को समाज की वस्तु मान लेते हैं, तो साहित्य में समाज का स्वस्थ चित्रण अपेक्षित हो जाता है। समाज में भले और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं अतः उनके चित्रण की ही बहुलता साहित्य की पृष्ठभूमि होती है। प्रेमचन्द के कथनानुसार भी साहित्य वही है, जिसमें जीवन की यथार्थता और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हो। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि साहित्य की परिभाषा जीवन की आलोचना है।

जब साहित्य समाज की ही वस्तु है तो साहित्यकार देश काल से पूर्ण प्रभावित अवश्य रहता होगा। जब देश में कोई लहर उठती होगी, तो साहित्यकार भी उस प्रभाव से अप्रभावित नहीं रहता होगा। साहित्यकार तत्कालीन परिस्थिति के साथ होकर देश काल की सचाई और अनुभूति को प्रकट करता होगा। अतः किसी भी साहित्यकार की साधना की पृष्ठभूमि का मूल्याङ्कन करने के निमित्त देश काल की राजनीति, उसका उन पर प्रभाव, जानना वांछनीय हो जाता है।

प्रेमचन्द :—इनके समय में भारत का राजनीतिक आन्दोलन तीव्र गति पर था। वह संक्रान्ति युग राजनीति का महत्त्वपूर्ण युग था। जैसा महत्त्वपूर्ण युग था वैसे ही महान व्यक्तित्व वाले युग-पुरुष थे। महात्मा गांधी के साथ उनकी कांग्रेस तो उस समय सक्रिय थी ही, जनता में भी काफी सजगता आ गयी थी। गान्धीजी के समस्त आदर्श जनता के सामने थे, और उसका सङ्घर्ष उनकी पूर्ति के लिए ही हो रहा था। प्रेमचन्द पर इन आदर्शों का स्पष्ट प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वैयक्तिक अनुभवों का भी इन पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। सामाजिक परिस्थितियों ने इन्हें घोर वास्तविकता के धरातल पर ला पटका। तभी तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"प्रेमचन्द युग से पदमर्दित, पग-पग पर अपमानित बेकसों और नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे।" इसका एक मात्र कारण है कि प्रेमचन्द एक आदर्श समाज के पृष्ठ-पोषक थे या यों कहा जाय कि वे समाजवादी व्यवस्था के पक्षपाती थे, तो आपत्ति की कतई गुञ्जायश नहीं जान पड़ती। सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था पर इनका अपार प्रेम था जैसा कि निम्नाङ्कित पंक्तियों के देखने से स्पष्ट हो जाता है—

"यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को सहजोर चूँसे। हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है, शायद यहाँ भी कुछ दिनों में रूस जैसा हो।"—प्रेमचन्द 'घर में' पृष्ठ १४६

यही कारण है कि समाज का जर्जर रूप दिखाने के सिल-सिले में आपके उपन्यासों की भावभूमि कठोर यथार्थ तो हुई है किन्तु आदर्श समाज की कामना आपको सदा आदर्शोन्मुख रखती है। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण कथा साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि होरी के चरित्र से हमें इन्होंने जो संकेत किया है, उस जीवन पर्यन्त काल्पनिक स्वतन्त्रता, काल्पनिक समता, और काल्पनिक न्याय की भ्रान्तियों से सङ्घर्ष करने के बाद प्रेमचन्द निश्चय ही अपने अन्तिम दिनों उस मार्ग पर पहुँच गये थे, जिसे समाजवाद का प्रशस्त मार्ग धड़ल्ले के साथ कहा जा सकता है। इसी की चरम परिणति दीख पड़ती है, प्रेमचन्द के अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास 'मङ्गल-सूत्र' में। इसके लिए

‘मंगल-सूत्र’ से उद्धृत अधोलिखित पंक्तियों का दृष्टव्य यथेष्ट होगा। ऐसा मेरा विश्वास है—

“पण्डित देवकुमार को धमकियों से झुकाना असम्भव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही झुक जाती थी। इन दिनों वे यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं नहीं जा पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करने पर भी भूखों मरता है और दूसरा आदमी हाथ पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्मवाद है या घोर अनात्म। बुद्धि जवाब देती है—यहाँ सभी स्वाधीन हैं। सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शङ्का पूछती है: सबको समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है, मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं। और जब उसके पास पैसे नहीं हैं तो सबको बराबर का अधिकार कैसे माना जाय? × × × और कहाँ है न्याय? एक गरीब आदमी किसी खेत में बालें नोचकर खा लेता है, कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है।”

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के अन्तराल में समाज के आर्थिक और धार्मिक पहलुओं के प्रति क्रान्ति की भावना हाहाकार कर रही थी। इसीलिए वे कला को जीवन से भिन्न मानने के लिए कदापि तैयार न थे। चूँकि उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था। ‘सेवा सदन’ में उनके आदर्शों की दर्शनीय अभिव्यक्ति है। हाँ, आदर्श प्रतिपादन के सिलसिले में इनकी कई एक कृतियाँ अस्वाभाविक पड़ गई हैं। निर्मला, वरदान, और प्रतिज्ञा की अस्वाभाविकता का कर्मभूमि में यथार्थवादी रंग एकाएक गहरा हो उठता है। ‘गोदान’ में यह यथार्थवाद किसी गहरी निराशा की छाया में अनन्त विश्राम ग्रहण करता है। यह निराशा लेखक की अपनी नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह होरी के रूप में आजीवन नैराश्यपूर्ण परिस्थितियों से गुजरते हुए जीवन की ज्योति को अमिट बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील होता है। कैसी महानता है; युगों के अनाचार को सहते हुए भी, अन्तरतम अपनी चेतना को सुप्त नहीं करना चाहता। आगे चलकर आशा का क्षीण आलोक भविष्य का पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

प्रेमचन्द के समस्त पात्र कर्मठ हैं। जीवन में गतिशीलता है। जहाँ कहीं भी प्रेमचन्द के पात्र उच्चवर्गीय, आलसी और निकम्मे दृष्टिगोचर होते हैं, वे सफल चित्रित नहीं हो सके। हाँ जिसके जीवन में गति मिली उसके चित्रण में तो इनकी लेखनी ने चार चाँद लगा दिये हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार के शब्दों में भी आप सुन सकते हैं—“जब मनुष्य अपना व्यक्तित्व खोकर समूह की भीड़ का एक छोटा-सा अंग बन जाता है तब प्रेमचन्द का क्षेत्र शुरू होता है।” इसीलिए प्रेमचन्द के पात्र सर्व साधारण होते हुए भी दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं। होरी, बलराज, मनोहर, सलोनी, कादिर और सूरदास प्रभृति पात्र सर्वस्व गँवा कर भी हार मानने वाले नहीं। समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त शोषक शोषित के सङ्घर्ष से पूर्ण परिचित थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में भूखे, नंगे, गाँव के पीड़ित, दुरवस्था का खरा और स्पष्ट चित्रण हुआ है। इससे यह भी विदित होता है कि उस जर्जरता को रङ्गीन आवरण में छिपाना लेखक का अभीष्ट नहीं। और लेखक इस व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन का इच्छुक है।

मैक्सिम गोर्की:—“साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्त्तक के रूप में, नवयुग के एक क्रान्तिकारी सन्देश वाहक और नव जीवन के द्रष्टा तथा सर्वहारा संस्कृति के स्रष्टा के रूप में, नये युग के नये आदमी की नयी परिभाषा संसार के सामने रखने वाले प्रथम कलाकार के रूप में गोर्की आज समाज के

प्रत्येक वर्ग, सजग व्यक्ति के हृदय में अपना प्रेरणा पूर्ण स्थान बना चुके हैं।[‡] वस्तुतः ये अपने युग के सबसे सजग कलाकार थे। उन्होंने आजीवन हर एक सामाजिक तत्त्व के खिलाफ केवल आवाज ही बुलन्द नहीं की वरन् अनवरत अग्रगण्य होकर क्रियात्मक सङ्घर्ष करने की माँग की। चूँकि इनका युग भी रूसी जनता के लिये पुनर्जागरण का युग था। पुनर्जागरण का वह युग, जिसमें रूस ने सदियों पुराने सामन्ती उत्पीड़न, घोर अज्ञानता और पिछड़ेपन से छुट्टी पायी थी। सन् १९०५ और १९१७ की क्रान्तियाँ इनके सामने हुई थीं। उनके फलस्वरूप ही तो इन्होंने अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने देश के क्रान्तिकारी युग की वाणी को बल प्रदान किया। प्रेमचन्द के समान इन्होंने भी बड़ी खूबी और ईमानदारी के साथ जनता के सङ्घर्ष का, उसकी आशा-आकांक्षाओं का सजीव चित्र उपस्थित किय; जो ईमानदारी कलाकार का अविभाज्य अङ्ग है। क्योंकि "सांस्कृतिक निर्माण की रचनात्मक प्रवृत्ति के अधिक वेगशील और द्विगुणित होने के लिये गोर्की यह आवश्यक मानते थे कि कलाकार को अपने देश और जनता को प्यार करना चाहिए। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'मेरे लिये सच्चा कलाकार हमेशा अपने देश का सर्वश्रेष्ठ पुत्र रहा है और रहेगा। वह अपने देश को दूसरों से कहीं अधिक तीव्रता और गम्भीरता से प्यार करता है। दूसरों से कहीं अधिक मात्रा में वह जानता है कि आजादी के बिना न कला ही सम्भव है और न संस्कृति ही।....और इसी लिये अपने देश के दुर्भाग्य के दिनों में उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने देश की जनता में उदात्त और वीर भावनाओं को उसकी आत्मा और उसकी संज्ञा को जगाने की कोशिश करे।"[*] इन्होंने उन क्रान्तियों में आगे बढ़कर अपना पूरा-पूरा हाथ बटाया।

प्रेमचन्द को छोड़कर विश्व में शायद ही किसी अन्य साहित्यकार ने गोर्की की भाँति अपने समाज के त्याज्य और कुत्सित, गर्हित लोगों की इतनी समीप से जानकारी हासिल कर उसकी अभिव्यक्ति की हो। जिस प्रकार प्रेमचन्द की छाती जीवन-सङ्घर्षों की रगड़ से घिस गयी थी उसी प्रकार गोर्की के जीवन-चक्र ने उन्हें जनता के दुःख-कष्टों के अभावों का प्रत्यक्ष दर्शन कराया। दुर्दान्त गरीबी ही लिखने का कारण हो गया। जैसा उन्होंने स्वयं लिखा हैं—"मैंने लिखना शुरू किया, क्योंकि मेरे लिये गरीबी से बने कण्टकमय जीवन का भार असह्य हो उठा और क्योंकि अपने इस जीवन-काल में मेरे पास बड़ी प्रभावपूर्ण अनुभूतियों का इतना बड़ा भण्डार इकट्ठा हो गया था कि मैं अपने को लिखने से रोकने में असमर्थ था[†]।

असह्य यातनाओं से आक्रान्त-त्रस्त रूसी जनता का करुण-कराह सुनकर इनका भुक्तभोगी हृदय द्रवीभूत हो उठा। आजादी की तीव्र भावना से अनुप्राणित हो उठा। यही कारण है कि इनकी आरम्भिक रोमाण्टिक रचनाएँ अपने निराले ढङ्ग से रूसी जीवन में एक नये युग के शुभारम्भ का संकेत करती हैं—"इनकी रोमाण्टिक रचनाओं में रोमांस व्याप्त है। उनमें कर्मशीलता, साहसिक कार्यों और वीरतापूर्ण जीवन का आह्वान है। ऐसे चरित्रों को प्रस्तुत करने के लिये गोर्की ने लोक-कथाओं का प्रभावपूर्ण ढङ्ग ही ठीक समझा।

"एक रोमाण्टिक और आदर्श पृष्ठभूमि पर गोर्की ने अपने एक ऐसे 'हीरो' की सृष्टि की जो मुक्ति का सन्देश-वाहक और अपनी जनता का सच्चा लड़का था। रूस की सामाजिक उथल-पुथल के दिनों में वीसवीं सदी के उसी काल में गोर्की ने अपने प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासों की सीरीज लिखनी आरम्भ की। और क्रमशः 'फोमा गोर्देयवे', 'वे तीनों', 'माँ' 'माटमेव कोजेलीकोव का जीवन' लिखकर उन्होंने

[‡] श्रीकान्त व्यास—'साहित्य में श्रमजीवी मानवता के प्रतिष्ठापक—मैक्सिम गोर्की' शीर्षक लेख।

[*] श्रीकान्त व्यास—वही।

[†] मैंने लिखना क्यों शुरू किया—अनुवादक श्रीकान्त व्यास।

तत्कालीन रूसी समाज के लगभग प्रत्येक वर्ग के जीवन का मानो एक 'इन्सलाईक्लोपीडिया' (विश्व-कोश) उपस्थित कर दिया। शुरू के दो उपन्यासों में गोर्की ने ऐसे नायक को पेश किया है जो व्यक्तिनिष्ठ विद्रोही है। समाज की वर्तमान व्यवस्था और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाता है तथा अकेले ही आगे बढ़ने का साहस दिखलाता है।'' —श्रीकान्त व्यास

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोर्की और प्रेमचन्द दोनों ने साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि वास्तविकता का ठोस धरातल कही है। दोनों ही क्रान्तिमूलक भावना से अनुप्राणित थे। दोनों की समाजवादी व्यवस्था पर पूर्ण आस्था थी और इसकी सफलता के लिये सिर्फ आवाज ही बुलन्द न करते रहे वरन् क्रियात्मक कदम उठाने से बाज न आये। दोनों ने सदियों से उत्पीड़ित जनता की जर्जरता और शोषकों की बर्बरता की जानकारी भुक्तभोगी बनकर हासिल की थी। दोनों की जिन्दगी संघर्षपूर्ण परिस्थितियों से गुजरी है। अतः दोनों ही अपने-अपने देश-काल के नेता कहे जायँ तो कोई अतिरञ्जना नहीं। हाँ प्रेमचन्द ने हंस के सम्पादकीय लेखों में सोवियत रूस के प्रति अपना प्रेम और सहानुभूति प्रकट की है।

मेवाड़ी बोली का पहला कवि : सन्त चतुर

श्री मथुराप्रसाद अग्रवाल 'पतङ्ग' एम० ए०

झीलों से लहरीला निर्झरों के कलकल निनाद से ध्वनिमय, घनी और गहरी तरु-घटाओं से मुखरित, आड़ावाला की गिरिमालाओं से ठट्ठ मेवाड़ प्रान्त का इतिहास असंख्य उज्ज्वल रत्नों से भरा पड़ा है। जिन्होंने समय-समय पर देश, जाति और धर्म के लिए मर मिट कर अपने आपको अमर बनाया है। इस रत्न-गर्भा वसुन्धरा (मेदपाठ भूमि) में कुंभा जैसे सुशासक, प्रताप जैसे कर्मनिष्ठ, मीरां जैसे भक्त और सन्त, चूड़ा जैसे त्यागी और पितृभक्त, भामा जैसे आत्म-समर्पण करने वाले और पन्ना जैसी स्वामिभक्त हुई हैं। इसी स्वर्णभूमि को महान् विभूति महाराज चतुरसिंहजी ने भी अपने आदर्श चरित्र के उपहार से गौरवान्वित किया है। आप अनन्य भक्त, दार्शनिक और पूर्ण सन्त थे।

राजस्थानी बोलियों का जन्म नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। डा० मोतीलाल मेनारिया के मतानुसार इसकी कुल नौ बोलियाँ हैं—(१) मारवाड़ी, (२) मेवाड़ी, (३) बागड़ी, (४) ढूँढाड़ी, (५) हाड़ौती, (६) मेवाती, (७) ब्रज, (८) मालवी, (९) राँगड़ी।

मेवाड़ी मेवाड़ प्रान्त के अधिकांश भाग में बोली जाती है। पं० नरोत्तमस्वामी इसे मारवाड़ी के अन्तर्गत मानते हैं। किन्तु इसकी अपनी विशिष्टता है। इसमें अधिक साहित्य रचना नहीं हुई है। परन्तु मारवाड़ी की भाँति मेवाड़ी को भी आधार और शक्ति प्राप्त हुई है। मेवाड़ी और मारवाड़ी में मुख्य अन्तर क्रिया के व्यवहार का है। मेवाड़ी में 'ए' और 'ओ' की ध्वनि का विशेष उपयोग होता है और मारवाड़ी आकार प्रिय भाषा है। बेलण-काकड़ी के समान मारवाड़ी अन्दर से भले ही मधुर हो पर ऊपर से रूक्ष बोली है। मेवाड़ी एक मधुर बोली है। मधुरता के कारण ही इसे हम प्रभावोत्पादक-बोली की संज्ञा भी दे सकते हैं।

जैसा कि प्रत्येक भाषा में होता है, राजस्थानी में भी मौखिक एवं लिखित दोनों प्रकार का ही साहित्य मिलता है। मौखिक साहित्य भी उतने ही परिमाण में उपलब्ध है जितना कि लिखित। मोटे रूप में राजस्थानी-साहित्य प्रधानतया छः रूपों में विभाजित किया जा सकता है—(१) चारणी साहित्य, (२) जैन-

साहित्य, (३) सन्त-साहित्य, (४) ब्राह्मणी साहित्य, (५) गद्य साहित्य, (६) लोक साहित्य। राजस्थान का सन्त-साहित्य भरा-पूरा है। इस साहित्य की बहुत सी सामग्री विचरते हुए एवं गृहस्थी साधू-सन्यासियों के तम्बूरों, सितारों और खड़तालों पर भी सुनी जा सकती है। राजस्थान अपने सन्त साहित्य और चारणी साहित्य के बल पर ही गर्व भरी वाणी में गर्जना कर रहा है। सन्तों की पवित्र स्मृति में लगने वाले मेले अब तक चले आ रहे हैं जिनमें दूर-दूर से हजारों की संख्या में साधू आते हैं। राजस्थान के इस सम्बन्ध के कारण अन्यान्य भारतीय सन्तों की वाणी में भी राजस्थानी भाषा का यथेष्ट पुट विद्यमान है। सन्त साहित्य का जितना अच्छा संग्रह राजस्थान में है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। मीरां की अमर वाणी समूचे भारत की गौरवमयी ध्वनि बन कर गूँज रही है। गोरख, दादू, कबीर, रैदास आदि महात्माओं ने इसी भूमि पर विचरण किया है। और अपनी वाणियों से राजस्थानी समाज को जागृत किया है। गिरिधर की दीवानी मीरां ब्रह्मज्ञानी सुन्दरदास और महात्मा जसनाथ इत्यादि की जन्मभूमि होने के कारण भारतीय सन्तों के लिए राजस्थान एक तीर्थस्थल-सा बन गया है।

राजस्थानी साहित्य का आधुनिक काल स्थूल रूप से सं० १९०० के पास से प्रारम्भ होता है। इस काल को मोटे रूप में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) परिवर्तन काल और (२) उत्तर परिवर्तन काल। प्रारम्भ के २०—३० वर्षों के समय को परिवर्तन काल तथा उसके बाद से आज तक के समय को उत्तर परिवर्तन काल की संज्ञा दी जा सकती है। परिवर्तन काल के सबसे बड़े कवि बूँदी के सूर्य्यमल्ल हुए। इस कारण कोई-कोई इसे सूर्य्यमल्ल-युग भी कहते हैं। सूर्य्यमल्ल के पश्चात् राजस्थानी कविता के आधुनिक काव्य में उल्लेख योग्य लोकख्याति कवि महाराज चतुरसिंह जी हुए हैं। कबीर के समान इन्होंने समाज-सुधार, उपदेश, सूक्ति तथा ज्ञान-वैराग्य विषयक कविता की है। इनके पद प्राचीन गौरव और नये युगात्मा की स्पर्श वेदना से पूर्ण हैं और मेवाड़ में गाये जाने लगे हैं। सरल और सुष्ठु मेवाड़ी में इनके पद हैं। ज्ञानालोकित अनाशक्ति के साथ महिलाओं, राजपूतों और राजस्थानी जन के जीवन गौरव को इन्होंने मोक्ष चिन्तन द्वारा याद किया है। इन्हीं चतुरसिंहजी के साथ राजस्थानी कविता का आधुनिक युग समाप्त होकर एक नया युग परिवर्तन प्राप्त करता है।

फ्रांस के एक प्रसिद्ध आलोचक के कथनानुसार किसी कलाकार की कृतियों के रहस्य को हृदयङ्गम करने की आधार-शिला उसके जीवन की सभी घटनाओं का भली भाँति अध्ययन ही है अस्तु—

मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) के चार पुत्र हुए—(१) जगतसिंह, (२) नाथसिंह, (३) बाघसिंह, (४) अर्जुनसिंह। अग्रज होने से जगतसिंह ही संग्रामसिंह के बाद मेवाड़ की गद्दी पर बैठे और इनके शेष भाइयों को क्रमशः बागौर, करजाली तथा शिवरती की जागीरें और 'महाराज' की उपाधि मिली। महाराज चतुरसिंहजी करजाली के स्वामी बाघसिंह के वंशज थे। और उनसे छठवीं पीढ़ी में हुए थे। इनका जन्म संवत् १९३३ माघ कृष्णा १४ को हुआ था। इनके पिता का नाम सूरतसिंह और दादा का नाम अनूपसिंह था। आपके पिता बड़े धर्मात्मा और भगवद्भक्त थे। अतः चतुरसिंहजी के हृदय में भी भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य के अंकुर जन्म से ही पनप गये थे। अपने पिता के चार पुत्रों में चतुरसिंहजी सबसे छोटे थे। अठारह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ जिससे इनके दो कन्याएँ हुई। परन्तु १० वर्ष बाद इनकी धर्म-पत्नी का देहान्त होगया। इससे सांसारिक विषय वासनाओं से इनका मन एकदम उचट गया। और दूसरा विवाह करने का विचार छोड़ अपना अधिक समय योगाभ्यास, ईश भजन, शास्त्राध्ययन आदि में व्यतीत करने लगे। ये बड़े सरल हृदय, साधु प्रकृति और उदार थे। घर में रहने से स्वाध्याय में बाधा पड़ती थी इसलिए इन्होंने घर भी छोड़ दिया

और उदयपुर के बाहर सुकेर नामक गाँव के पास एक झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। इस झोंपड़ी में महाराज साहब कई वर्षों तक रहे। प्रकृति के दीर्घकालीन मनन ने इनके व्यक्तित्त्व को भी प्रकृतिमय बना रखा था। ये ऊँच-नीच का विचार छोड़कर सभी श्रेणियों के लोगों से बड़ी विनम्रता और प्रेम-भाव से मिलते और सम्भाषण करते थे। सरलता तो इनके जीवन का मूल-मन्त्र ही था। सरल जीवन और उच्च विचार के ये ज्वलन्त उदाहरण और जीवित प्रतिमा थे। इनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से, वेशभूषा से, वार्तालाप से, व्यवहार से जहाँ देखो वहाँ से सादगी प्रस्फुटित होती थी। वार्तालाप करते समय वे इतनी सरल एवं मधुर भाषा का प्रयोग करते थे कि देखते ही बनता था। कठिन से कठिन विषय को सरल करके लोगों को समझा देना इनके नीचे था। कैसा भी कठिन विषय इनकी प्रतिभा-खराद पर चढ़कर नया रूप धारण कर लेता था। उसकी दुरूहता छू-मन्तर हो जाती थी।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश की उन्नति कृषि और ग्रामीण उद्योग धन्धों के विकास पर निर्भर है। लेकिन यह सब जानते हुए भी समाज के विकृत मन में शहरी वातावरण का ऐसा प्रभाव जम गया है कि हम कृषक एवं ग्रामोत्थान चाह कर भी इसकी प्रगति के पथ पर रचनात्मक एवं व्यावहारिक कदम नहीं उठा सकते। महाराज साहब ने इस खटकते हुए अभाव को पूरा किया है। वे कृषकों से स्नेह करते थे। 'ये करसा मित्र हमारे हैं' उन्होंने व्यर्थ नहीं कहा है। उन्होंने अपनी मित्रता को व्यावहारिक जीवन में दिखलाया था। कृषकों के साथ हमारी सहानुभूति स्वभावतः बौद्धिक ही होती है। हम अपना झूठा बड़प्पन-प्रदर्शन के लिए उनके प्रति उदारता का भाव प्रकट करते हैं। किन्तु महाराज साहब ने ऐसा नहीं किया। कृषक उनके मित्र थे और वे उनके। छीका डांगी नामक एक किसान ही उनके आध्यात्मिक गुरु थे। भारतीय कृषक की सादगी और श्रम का जीवन बिताकर भी उनके लिखने पढ़ने में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। उनके भाव और विचार तो अधिकाधिक सौन्दर्य के साथ मिल गये थे, क्योंकि उनमें स्वाभाविक सत्य था। उनका जीवन विचार और कर्म का समन्वय था।

विक्रम संवत् १९८६ की आषाढ़ कृष्णा नवमी को प्रातः ९ बजे इनका स्वर्गवास हुआ।

चतुरसिंहजी संस्कृत के अच्छे विद्वान होकर हिन्दी के सिवाय गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाएँ भी जानते थे। हिन्दी के कवियों में कबीर, तुलसी, मीराँ दादू, नानक आदि की कविताएँ इन्हें बहुत पसन्द थी। इन्होंने ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, रामानुज भाष्य, उपनिषद्, श्री मद्भगवद् गीता, योगवाशिष्ठ, पञ्चदशी, आत्मपुराण, विचार सागर, श्रीमद्भागवत, आदि ग्रन्थों का मनन और चिन्तन कर रखा था। इन्होंने छोटे मोटे कुल १६ ग्रन्थ बनाये वे निम्न हैं—

(१) भगवद्गीता की समश्लोकी सार दर्शावणी और गङ्गा जली टीका (२) परमार्थ विचार भाग १ से ७ (३) योग सूत्र की हिन्दी और मेवाड़ी टीका। (४) सांख्य तत्त्व समास की टीका (५) सांख्य कारिका की टीका (६) मानव मित्र रामचरित्र (७) शेष चरित्र (८) अलख पचीसी (९) तुँही अष्टक (१०) अनुभव प्रकाश (११) चतुर चिन्तामणि भाग १ से ३ (१२) महिम्न स्तोत्र—मेवाड़ी समश्लोकी अनुवाद (१३) चन्द्र शेखराष्टक–मेवाड़ी समश्लोकी अनुवाद (१४) हनुमान पञ्चक (१५) समान बतीसी (१६) चतुर प्रकाश।

महाराज साहब ने प्रधानतः राजस्थानी, मेवाड़ी, ब्रजभाषा आदि में कविता की है। आप पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने मेवाड़ी में भाषा को साहित्य का रूप दिया है। आपने अपनी रचनाओं में मानव-जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर पूर्ण प्रकाश डाला है। कविता में प्रसाद गुण है। छन्दों में भजन और दोहे प्रमुख हैं, सवैये भी उत्तम बन पड़े हैं। आपकी कवितायें आध्यात्म की ओर ले जाने वाली हैं। वेदान्त के तत्त्वों के पक्षपाती आप सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

आपने भारतीय दर्शन का अच्छा अध्ययन किया था। आपके विचारों पर स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ का अच्छा असर पड़ा है। आपके श्रमशील अध्ययन और गम्भीर मनन के परिणामस्वरूप आपके समक्ष जीवन की कई जटिल समस्यायें और गुत्थियाँ स्पष्ट थीं। आपकी कवितायें नीति और उपदेश की अनमोल निधियाँ हैं। वे एक कवि, दार्शनिक और सन्त थे। इनकी कविताओं में 'स्वान्तः सुखाय' का भाव झलकता है। "चतुर कहे चरड़ो मत कोई मन समझायो म्हारो" इसी का परिचायक है। वे अपने गुणों को ईश्वर की कृपा तथा अभाव को भी ईश्वर की देन ही मानते थे। आपने योग विषय का शास्त्रीय और व्यावहारिक अभ्यास प्राप्त किया था। ठाकुर गुमानसिंह इनके योग के गुरु थे। इन्होंने आत्मा की अमरता और शरीर की क्षणभंगुरता की ओर भी संकेत किया है। इनके मतानुसार कर्त्तव्य पालन ही जीवन और सांसारिक भोग भोगना ही मृत्यु है। आप मृत्यु के रहस्य को समझ लेना बड़ी उच्चकोटि की बात मानते हैं। ये बड़े शिक्षा प्रेमी थे। शिक्षा के सम्बन्ध में इनके अपने विचार थे। आपके सामाजिक विचार भी बहुत उन्नत थे।

इनकी कविता की भाषा बहुत सरल, संयत तथा सादी है। और इनकी कविता से इनका व्यक्तिगत जीवन प्रतिबिम्बित होता है। इन्होंने भक्ति और वैराग्य पर प्रधान रूप से लिखा है। जो भी लिखा है वह दूसरों से लेकर नहीं, बल्कि अपने अनुभव के आधार पर। इसीलिए इनके काव्य में सचाई और स्वाभाविकता है। वे बड़े उच्चकोटि के अनुवादक थे। उदाहरणार्थ—

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्
प्रसादये त्वामहमीश मीड्यम्।
पिते व पुत्रस्ये सखे व सख्युः
प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

—भगवद्गीता

भगवद्गीता के इस श्लोक का अनुवाद कितना सफल है—

ईसूं अवे मूं झूकने मनावूँ,
क्षमा सभी ईं अपराध पाऊँ,
ज्यों पुत्ररा बाप सखा सखा रा,
मारा खमोज्यो नर नारियाँ रा।

—(भगवद्गीता की समश्लोकी सारदर्शी वाणी और गंगाजली टीका)

एक बहुत बड़ी विशेषता जो महाराज साहब की कविता में दीख पड़ती है, वह यह है कि अत्यन्त भावमयी एवं मौलिकतापूर्ण होने के साथ-साथ वह सदुपदेशों से ओत-प्रोत है और मानव मात्र को उच्च आदर्शों के दर्शन कराती है। ऐसे सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के रचयिता बहुत कम पैदा होते हैं।

(पृष्ठ ३२५ का शेषांश)

निश्चित है कि रामचरित-मानस के विभीषण का संशोधित संस्करण गीतावली का विभीषण है। शेष पदों में राम की शरणागति है। यहाँ विभीषण नहीं कहता है—मेरी कुछ इच्छा थी वह आपको देख नष्ट हो गयी है।

(२) रामचरित-मानस में सीता वनवास का प्रसङ्ग नहीं है, गीतावली में यह प्रसङ्ग दिया है।

(३) तीसरा प्रसङ्ग है शबरी का प्रसङ्ग। रामचरित-मानस में शबरी संकेत रूप से पत्नी रूप से भक्ति करती है, वह सफल भी होती है। तुलसीदासजी ने बाद में सोचा—यह ठीक नहीं हुआ। शब्द मात्र से ही पत्नी भाव व्यञ्जित हुआ है। तब भी यह ठीक नहीं हुआ। इसका सुधार होना चाहिए। फलतः गीतावली में उसकी मातृ रूपा भक्ति हो गयी। गीतावली में शबरी की भक्ति को भी सुधार दिया है।

पञ्जाबी काव्य के विकास की रूपरेखा

श्री तिलकराज चोपड़ा

समग्र भारतीय साहित्य में कदाचित् पञ्जाबी साहित्य ही एक ऐसा सबल एवं स्वस्थ साहित्य है जिसे अपने विकास तथा समृद्धि के लिए किसी भी सम्राट् अथवा महाराजा का आभार नहीं स्वीकार करना पड़ा।* पञ्जाबी भाषा का यह सौभाग्य ही है कि वह कभी राजभाषा पद की अधिकारिणी न हो सकी। सच बात तो यह है कि राजभाषा पद प्राप्त हो जाने पर किसी भी जन प्रिय भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य विनष्ट हो जाता है। भाषा की नैसर्गिक सुन्दरता जनप्रियता का ही दूसरा नाम है। जो साहित्य जितना ही अधिक जनता के निकट रहता है उसी अनुपात से उसकी स्वाभाविकता तथा सरलता में भी वृद्धि होती है। इस दृष्टि से पञ्जाबी साहित्य समस्त भारतीय साहित्य में एक विशिष्ट पद का अधिकारी है।

इस जनप्रिय साहित्य के समूचे विकास को विस्तारपूर्वक बतलाना एक लघु प्रबन्ध की सीमा के बाहर है। यहाँ संक्षेप में पञ्जाबी कविता के ही विकास की रूप-रेखा मात्र दी जाती है।

पञ्जाबी काव्य के समुचित विकास का आरम्भ तो सिक्खों के प्रथम गुरु नानकदेव के समय में ही हुआ। किन्तु उनसे भी पहले की कुछ ऐसी पद्यात्मक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनकी अन्तर्वस्तु अधिकांश में विदेशी अथवा इतर प्रान्तीय होने पर भी बाह्यरूप पूर्णतः पञ्जाब का है। ऐसी रचनाओं में गुरु गोरखनाथ (?), चरपटनाथ तथा अमीर खुसरो की कतिपय पद्यात्मक कृतियों की परिगणना की जाती है। अमीर खुसरो की पहेलियों तथा मुकरियों की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश और पुगनी ब्रजभाषा मानी जाती है। अतः दोनों भाषाओं का, पुरानी ब्रजभाषा और पञ्जाबी का मूल-स्रोत एक ही—शौरसेनी अपभ्रंश होने के कारण यदि खुसरो में पञ्जाबी का प्रारम्भिक रूप मिल जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

बाबा फ़रीद शकरगञ्ज† (११७३—१२६५ ई०) पञ्जाबी भाषा का आदि कवि माना जाता है। यह सूफ़ी कवि था और केवल एक पीढ़ी पूर्व पञ्जाब में आकर रहने लगा था। इसकी कतिपय साखियों का संग्रह 'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' में है, जिनकी भाषा ठेठ पञ्जाबी है। इन साखियों के अतिरिक्त भी इसके नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें उपलब्ध हुई हैं जिनकी प्रामाणिकता पर्याप्त सन्दिग्ध है। बाबा फ़रीद के पश्चात् हिन्दी के कवि कबीरदास तथा रैदास और महाराष्ट्र के सन्त नामदेव में पञ्जाबी भाषा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है परन्तु इन्हें हम पञ्जाबी भाषा का कवि नहीं कह सकते।

मध्ययुग के आरम्भ में राजनीतिक दृष्टि से इस्लाम का पूर्ण प्रभुत्त्व स्थापित हो चुका था। इस समय पुराने जनपदों का अलगाव काफ़ी अंशों में दूर हुआ और भारत में एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना हुई। छोटे-छोटे राज्यों या जनपदों के पारस्परिक झगड़ों से कुछ समय के लिये अवकाश मिला और एक प्रकार की राजनीतिक शान्ति का वातावरण तैयार हुआ। ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण में हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर विचार-विनिमय और भाव-परिवर्तन ने कई नवीन विचारों और भावनाओं को जन्म दिया। इन्हीं संयुक्त भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति मध्य-कालीन भारतीय साहित्य में हुई,

---

* अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सिखों के राज्य होने पर भी राजभाषा फ़ारसी ही रही, यद्यपि राज-दरबारों में पञ्जाबी कवियों का कम सम्मान नहीं होता था।

† बाबा फ़रीद शकरगञ्ज पञ्जाबी ही नहीं भारतीय साहित्य का पहला सूफ़ी कवि है।

जिसे आज हम भक्ति काव्य की संज्ञा देते हैं।

पजाबी भक्ति काव्य× की प्रतिष्ठापना गुरु नानक देव ने की। इनके अतिरिक्त गुरु अंगद साहिब, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अरजुनदेव, भाई गुरदास तथा गुरु गोविन्द सिंह ने अपनी कोमल कृतियों द्वारा इस काव्यधारा को गति एवं शक्ति प्रदान की। इन भक्त कवियों में तथा तत्कालीन, इतर प्रान्तीय भक्त कवियों में एक लक्षणीय अन्तर है। जिस सामाजिक सतर्कता एवं राजनीतिक चेतना का परिचय पञ्जाबी भक्त-कवियों ने दिया, वह शायद कबीर को छोड़कर हिन्दी के अन्य किसी भक्त-कवि में उपलब्ध नहीं होती। कबीर ने भी राजनीतिक परिस्थितियों का वैसा यथार्थ चित्रण नहीं खींचा जैसा गुरु नानक ने अपनी 'बाबर-वाणी' शीर्षक कविता में उपस्थित किया है। उन्होंने तत्कालीन समाज की दशा का विना किसी साम्प्रदायिक भेद-भाव के देशभक्ति से पूर्ण अपूर्व चित्रण किया है। गुरु अमरदास (१४७९—१५७४) ने अपनी कविताओं में बहुत सरल किन्तु मार्मिक ढङ्ग से अस्पृश्यता, जातिगत भेद, एवं सती प्रथा का विरोध किया है। आपने धार्मिक विद्वेष को मिटाने के लिये धर्म का एक समन्वयात्मक स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित किया। गुरु रामदास (१५३४–१५८१) ने अपने काव्य में पारस्परिक प्रीति पर अधिक जोर दिया है। इन गुरुओं की एक प्रधान विशेषता यह है कि इनका कार्य-एवं प्रचार-क्षेत्र सामान्य-जन-जीवन ही रहा। इनकी वाणी में किसी प्रकार की अलौकिकता को स्थान नहीं मिला। इन महात्माओं ने धर्म और ईश्वर को भी शुद्ध लौकिक रूप देने का सफल प्रयास किया है।

भक्ति-काव्य के अतिरिक्त इस काल में सूफियों ने भी अपनी 'प्रेम की पीर' सुनाई। जो सूफी पञ्जाब में पहले-पहल आये वे, तो मुख्य रूप से इस्लाम का प्रचार ही करते रहे, किन्तु गुरु नानक के बाद में आने वाले सूफी कवियों पर भारतीय मायावाद एवं गुरुनानक के प्रीतियुक्त भक्तिवाद (?) का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गुरु नानक का समकालीन फरीदसानी शङ्कर के अद्वैतवाद से पर्याप्त प्रभावित हुआ है। उसने संसार की असारता तथा स्त्री में आसक्ति के कुपरिणामों के स्पष्ट चित्र खींचे हैं। फरीदसानी की ही परम्परा में शाह हुसैन, सुल्तान बाहू, शाह शरफ प्रभृति कवि हुए हैं। इन कवियों ने मुख्यतः मन को वश में करने तथा सांसारिक भोग-विलास से अपने आप को दूर रखने का उपदेश दिया है।

इसी समय सूफी और सिख कविता की प्रतिक्रिया में लौकिक प्रेम की धर्म-निरपेक्ष (सेक्यूलर) अभिव्यञ्जना रोमाण्टिक प्रबन्ध काव्यों के रूप में हुई। आरंभ में इन काव्यों का वस्तु-चयन प्रायः वास्तविक जीवन से ही होता था जिसमें कवि को अपनी ओर से कुछ कहने या जोड़ने की स्वतन्त्रता बहुत ही कम थी; किन्तु कालान्तर में सूफी कवियों ने इन प्रेमाख्यानों को अपने मत-प्रचार का प्रधान माध्यम बनाया और रूपक की पूर्णता के लिए पर्याप्त निरंकुशता से काम लिया इसीलिये आरम्भिक रोमाण्टिक कविता में जो सरलता, स्वाभाविकता और पारिवारिकता है वह बाद के सूफी रोमाण्टिक कवियों में दुर्लभ हो गई।

रोमाण्टिक काव्य का प्रिय कथानक प्रधानतः हीर और रांझे का दुःखपूर्ण प्रेम जीवन रहा। इसको सर्व प्रथम काव्यात्मक अभिव्यक्ति दमोदर ने दी। दमोदर सम्राट् अकबर और अपने चरितनायकों, हीर और रांझे का समकालीन था। उसने अपने काव्य में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि हीर के पिता चूचक ने ही उसकी जीविका का प्रबन्ध किया था। यह बात दमोदर के कवि-हृदय की साहसिकता का प्रमाण है कि उसने अपने काव्य में सर्वत्र हीर का ही पक्ष

× पञ्जाबी भक्तिकाव्य उस अर्थ में अस्तित्त्वहीन-सा ही है जिस अर्थ में हम सूरदास और मीरांबाई के पद्यों को भक्ति-काव्य मानते हैं। यद्यपि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गुरु नानक आदि की ज्ञानाश्रयी सन्त कविता भी भक्तिकाव्य की रस-माधुरी से हीन नहीं है।

लिया है, अपने जीविका-दाता चूचक अथवा उसके वंश का नहीं। दमोदर की 'हीर' में यद्यपि घटनाओं के वस्तुगत वर्णन के प्रति पर्याप्त आग्रह है किन्तु उसमें मर्म को छू देने वाली भावात्मकता और सरसता का भी अभाव नहीं है। कदाचित दमोदर की 'हीर' की सफलता देखकर ही सूफ़ियों ने इसको अपने मत-प्रचार का मुख्य साधन बनाया था।

रोमाण्टिक परम्परा के अन्य कवियों ने भी दमोदर के आदर्श को अपनाया। पीलू ने उसी सरलता एवं मार्मिकता से 'मिरजा-साहिबाँ' के आख्यान को छन्दोबद्ध किया। हाफ़ज बरखुरदार ने 'ससी-पुन्नू' 'मिरजा साहिबाँ' और 'यूसफ़-जुलेखाँ' नाम से तीन काव्यों की रचना की। 'यूसफ़ जुलेखाँ' पञ्जाबी का सर्व प्रथम प्रेमाख्यान है जिसकी कथा सामान्य लोक-जीवन से न ली जाकर एक धर्म पुस्तक (कुरान) से ली गई है। इन तीनों काव्यों के कथानक पूर्ववर्ती रोमाण्टिक कथानकों के प्रतिकूल दुःखान्त हैं जिससे इनकी मार्मिकता में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। अहिमद ने केवल 'हीर-रांझा' की कथा को ही छन्दोबद्ध किया। इसने अपने काव्य की रचना उसी छन्द में की है जो पञ्जाब का सबसे मधुर गेय छन्द है और जिसका प्रयोग एक शती के अनन्तर पञ्जाब के सर्व श्रेष्ठ कवि वारसशाह ने किया था। इस छन्द का नाम है बैंत।

इन रोमांटिक कवियों की एक सामान्य विशेषता यह थी कि इन सभी कवियों की रचनाएँ गेय हैं। आज भी पञ्जाब का सरल ग्रामीण इन कथाओं को अपनी परुष ध्वनि में मिठास मिलाकर उच्च स्वर से गाता है।

मुगल वंश के अन्तिम सम्राट् औरङ्गजेब के पश्चात् सिखों ने युद्ध में व्यस्त रहने के कारण किसी प्रकार की साहित्य-रचना में मन नहीं लगाया। किन्तु इस काल के पञ्जाबी मुसलमानों ने अपने साहित्य की समृद्धि के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है। इस युग की रचना प्रधानतः सूफ़ियों के द्वारा ही हुई है। बुल्लेशाह, अलीहैदर और बजीद ने अद्वैतवाद से प्रभावित सूफ़ीमत का सैद्धान्तिक प्रचार ही अधिक किया; किन्तु मुकबल, वारसशाह और हामद ने हीर-रांझे* के प्रचलित आख्यान को अपने काव्य का आधार बनाया। इन तीनों में से वारसशाह (१७३०-१७६०) की 'हीर' पञ्जाबी काव्यकला का सर्वोच्च निदर्शन है। वारस ने कथानक तो प्राचीन और काफ़ी घिसा हुआ लिया था किन्तु उसकी बहुमुखी प्रतिभा ने उसे अमर कर दिया। वारस की हीर में वह तड़प और अनुभूति है जिसके लिए उर्दू के प्रसिद्ध कवि इन्शा को भी विवश होकर कहना पड़ा था—

सुनाया रात को किस्सा जो हीर राँझे का,
तो अहले दर्द को पञ्जाबियों ने लूट लिया।

वारस की हीर का वैशिष्ट्य उसके भाव पक्ष में ही नहीं, सच बात तो यह है कि उसकी गीतात्मकता ने ही पञ्जाबी साहित्य में उसे सर्वोच्च पद पर आसीन कर दिया है। उसके स्वाभाविक अलङ्कारों और सरल वर्णन-प्रणाली में साधारण ग्रामीण जनता को अपनी ओर खींच लेने की अद्भुत शक्ति है।

महाराज रणजीतसिंह का राज्य काल (१८००-१८६०) पञ्जाबी इतिहास में अपनी सम्प्रदाय-निरपेक्षता के कारण बहुत प्रसिद्ध है। इस युग में मुसलमान सूफ़ियों के साथ सिखों ने भी साहित्य-रचना में हाथ लगाया। किन्तु उनकी रचना अत्यल्प है। सूफ़ियों की कविता का मुख्य विषय वही रहा—दुःखान्त प्रेमाख्यान। हाशम ने पहली बार 'सोहनी-महिवाल' के किस्से को काव्यात्मक अभिव्यञ्जना दी। पञ्जाब के अन्य सब प्रेमाख्यानों से सोहनी-महिंवाल की कथा अधिक मर्मस्पर्शी एवं हृदय विदारक है, यद्यपि इसका साहित्यिक सौन्दर्य वारसशाह की हीर की तुलना करने में सर्वथा असमर्थ है। वास्तव में हाशम की 'सोहनी-महिंवाल' का सौन्दर्य उसकी

---

* सन् १७६० ई० में गुरदास खत्री ने हिन्दी में हीर-रांझे का किस्सा लिखा था, परन्तु कदाचित हिन्दी साहित्य के इतिहासकार इससे परिचित नहीं जान पड़ते।

सरलता और पारिवारिकता में है। अहिमद यार ने 'हीर' और 'यूसफ जुलेखाँ' के किस्सों को लिखने के साथ-साथ 'राजबीबी' की अभिनव प्रेम कथा को भी छन्दोबद्ध किया। राजबीबी के आख्यान में घटनाएँ बहुत कम हैं किन्तु इसका अन्त अत्यधिक दुःखपूर्ण है।

रोमाण्टिक कथानकों के अतिरिक्त इस युग में कुछ कवियों ने देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता को भी अपनी कविता का वर्ण्य बनाया। शाह मुहम्मद (१७८२–१८६२) पञ्जाबी भाषा का सबसे पहला राष्ट्रीय कवि है। इसने महाराजा रणजीतसिंह तथा सिखराज्य के उत्थान एवं पतन का बड़ा सजीव वर्णन किया है। एक-दो भूलों को छोड़कर उसने बड़े परिपक्व ऐतिहासिक ज्ञान के साथ कविता की है। सिखों और अङ्ग्रेजों के युद्ध का अच्छा वर्णन किया है, और पञ्जाब की रक्षा के लिये लड़ने वाले सिखों को उसने खूब उत्साहित किया है। राष्ट्रीय कवियों में शाह मुहम्मद के पश्चात् मटक काहनसिंह और भाई वीरसिंह विशेष प्रसिद्ध हैं।

सिख-राज्य के पतन के बाद अंग्रेजी राज्य पञ्जाब में प्रतिष्ठित हो गया। अंगरेजों के शासन के साथ ही साथ उनकी संस्कृति एवं साहित्य ने भी पञ्जाबी सस्कृति एवं साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव डाला। तथापि पञ्जाब का ग्रामीण अभी तक अपने सहज एवं सरल लोक-साहित्य की समृद्धि पूर्ण रचना में व्यस्त था। किस्से के रूप में काव्यों की रचना करने वालों में गुलाम रसूल, कालीदास और किशनसिंह आरफा प्रमुख हैं। इनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है।

भारत के प्रायः सभी प्रदेशों की आधुनिक कविता का आरम्भ रहस्यवादी लहर ने किया। पञ्जाबी कविता भी इस लहर से परिचालित हुए बिना न रह सकी। यद्यपि कालान्तर में रहस्यवाद पञ्जाबी कविता का एक महत्त्वपूर्ण वर्ण्य न बन सका। रहस्यवादी कवि कहलाने का अधिकारी पञ्जाबी का केवल एक कवि भाई वीरसिंह (१८७२–) ही है। भाई वीरसिंह वास्तव में आधुनिक पञ्जाबी कविता का जन्मदाता है। 'लहिरॉं दे हार' तथा 'प्रीतवीणा' इनके आरम्भिक कविता-सग्रह हैं। वास्तव में इनका रहस्यवाद हिन्दी के राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त के 'झंकार' वाले रहस्यवाद जैसा ही है।

आज का समग्र पंजाबी साहित्य आधुनिक अर्थों में पूर्णतः प्रगतिशील है। कविता में रूप की दृष्टि से यद्यपि नये प्रयोग हो रहे हैं, परन्तु पञ्जाबी प्रतिभा प्रयोगवाद से प्यार नहीं करती। अन्तर्वस्तु और सार की ओर पञ्जाबी कवि का अधिक ध्यान है। प्रो० मोहन सिंह और डा० गोपाल सिंह 'दर्दी' पंजाबी कविता में समाज-वादी आदर्शों की घोषणा कर रहे हैं। प्रो० पूरण सिंह ने पंजाबी में अतुकान्त कविता का प्रचार किया, इनकी कविताओं का मुख्य विषय प्रेम है। धनीराम चातक तथा किरपासागर ने इतिवृत्तात्मक कविता को अपना लक्ष्य बनाया है।

वर्तमान-युग के कवियों में अमृता प्रीतम का नाम पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। अमृता का नारी व्यक्तित्व पंजाबी कविता में सहज-अनुभूति और सरलता का दान देता है। उच्च शिक्षा प्राप्त होने के कारण उसकी अनुभूतियों में एक व्यवस्था और गहराई भी है जो कोरी भावुकता से बहुत ऊँची उठी हुई है। अमृता का साहित्यिक जीवन बहुमुखी है। उसने साहित्य और जीवन का कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा। अभी पंजाबी कविता को उनके उदात्त व्यक्तित्व से बहुत आशाएँ हैं।

अन्य प्रदेशों की कविता की ही तरह पञ्जाबी कविता भी आज प्रबन्धात्मकता से गीतात्मकता की ओर जा रही है। यद्यपि साहित्य की यह विधा अब बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं रह गई है, तथापि पंजाबी में इसका विशिष्ट स्थान है। करतारसिंह बलग्गन के सम्पादकत्व में 'कविता' नाम का एक मासिक पत्र अपने जीवन का पांचवां वर्ष स्वस्थतापूर्वक पूर्ण कर रहा है।

साहित्य परिचय

आलोचना

रेडियो-नाट्य शिल्प—लेखक—सिद्धनाथकुमार एम. ए., प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । पृष्ठ १७७, मूल्य २॥)

रेडियो का प्रचार हमारे देश में खूब हो रहा है और उससे प्रसारित रचनाओं की ओर लेखकों का ध्यान जा रहा है । साहित्य में भी रेडियो रूपकों का विवेचन होने लगा है । प्रस्तुत पुस्तक में रेडियो पर प्रसारित होने वाली रचनाओं के गुण-दोषों की, उनकी सीमाओं और सम्भावनाओं की वैज्ञानिक और सोदाहरण विवेचना है । स्वयं लेखक रेडियो का व्यावहारिक ज्ञान रखते हैं और रेडियो पर प्रसारित होने वाली रचनाएँ लिखने में सिद्धहस्त भी हैं । अतः पुस्तक रेडियो के लिए लिखने वालों को अत्यन्त उपयोगी है । साथ ही साहित्य के अध्येताओं के लिये भी रङ्गमञ्च और तत्सम्बन्धी अन्य आधुनिकतम बातों की अच्छी जानकारी देती है, पुस्तक संग्रहणीय है ।

निबन्ध

बेनीपुरी ग्रन्थावली—लेखक—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशक—बेनीपुरी-प्रकाशन, पटना । पृष्ठ ५२५, मूल्य १२॥)

बेनीपुरीजी हिन्दी के अद्वितीय शब्द शिल्पी हैं । दिनकरजी के शब्दों में—वे 'कलम के जादूगर' हैं । उपन्यास, नाटक, कहानी—सभी में उनकी यह जादूगरी दिखाई देती है । शब्द-चित्र लिखने में तो उन्होंने कमाल हासिल किया है । उनकी लिखी पुस्तकों के संग्रह बेनीपुरी ग्रन्थावली के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं । अभी पहला खण्ड हमारे सामने है । इसमें अभी छः पुस्तकें संग्रहीत हैं—पतितों के देश में और कैदी की पत्नी उपन्यास, चिता के फूल कहानियाँ और माटी की मूरतें, लालतारा, गेहूँ और गुलाब शब्द-चित्र । यह ग्रन्थावली दस खण्डों में निकलेगी । प्रत्येक खण्ड का मूल्य १२॥) होगा । समग्र ग्रन्थावली लेने पर १००) देने होंगे । हिन्दी में यह प्रयास अपने ढङ्ग का पहला है । हम इसका सहर्ष स्वागत करते हैं । पहला खण्ड छपाई, सफ़ाई और जिल्द आदि की दृष्टि से बहुत सुन्दर है । हम आशा करते हैं कि सभी पुस्तकालयों में इसे स्थान मिलेगा । —म

कविता

आम-महुआ—लेखक—केशरी, प्रकाशक—पुस्तक भण्डार, पटना । पृष्ठ ५६, मूल्य २)

हिन्दी में बालोपयोगी साहित्य का बहुत अभाव है । केसरीजी ने इस संग्रह में बच्चों के लिए कविताएँ लिखी हैं कुछ कविताएँ मर्म-स्पर्शी हैं, यथा बुद्धन काका, बाबा की दाढ़ी तथा बालकों की ओर से। केसरी ने अपने को दूर तक बच्चों में मिला कर लिखा है । प्रयत्न यदि जारी रहे तो कविताओं में जो उपदेशात्मक स्वर आ जाता है वह कलात्मक रूप पा सकता

है। बच्चों की भावनाओं के चित्रण के लिए एक विशेष प्रकार के भोलेपन व कोमलता का गुण अति आवश्यक है। मैं समझता हूँ केसरी में 'ओज व उपदेश' के साथ-साथ उसके अंकुर हैं और उन्हें वह विकसित कर सकते हैं। सूरदास बच्चों को शायद सबसे अधिक समझते थे परन्तु 'व्यक्तित्व-निर्माण' का कार्य उन्हें नहीं करना था, केसरी को यह भी करना है अतः यह दुहरी जिम्मेदारी उन्हें उठानी है। इस संग्रह में उनकी सफलता के लिए बधाई। —कमलेश

'जिप्सी'—लेखक–'पुश्किन', अनुवादक–वीर राजेन्द्र ऋषि, प्रस्तावना लेखक–प्रमथनाथ बनर्जी। प्रकाशक–आत्माराम एण्डसन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृष्ठ ७७, मूल्य २)

'पुश्किन' की काव्य-कथाओं काकेशिया का बन्दी, पोलतखा, ताम्बे का घुड़सवार, येवगैनी आनेगिन आदि में 'जिप्सी' बड़ी ही मार्मिक काव्य कथा है। इसमें "नगर निवासी आलेको शहरी जीवन से ऊब कर जिप्सियों की टोली में जा मिलता है। जिप्सी युवती जेम्फीरा से उसका प्रेम हो जाता है। परन्तु वह कुछ समय बाद किसी अन्य से प्रेम करने लगती है। आलेको दोनों का बध कर देता है।" यह है जिप्सी की कहानी। नगरों के कृत्रिम जीवन, जिप्सियों के दयनीय किन्तु स्वच्छन्द जीवन के चित्रों व अनुभवों से यह काव्य-कथा ओत-प्रोत है। नगर का चित्रण देखिए :—

घने बसे हुए निबिड़ अनुन्मुक्त नगरों को
कैसे वहाँ लोग भिंच-भिंच रहते हैं सीमा में,
प्रेम में लजाते, देते उभरने उमङ्गों को न
करते हैं सौदा वे अपनी स्वच्छन्दता का
चाहते हैं धन, शृंखलाएँ वरदान में

× × ×

जिप्सी जीवन की एक झाँकी देखिए:—

जाहिल हैं हम और कोई कानून नहीं कुछ भी हमारे यहाँ
देते नहीं दुःख हम किसी को, दण्ड नहीं देते—
हमें नहीं चाहिए खून और ठण्डी आहें
पैदा नहीं हुआ है तू वन्य जीवन-हित
तू चाहता है, स्वच्छन्दता केवल अपने लिए

ऐसे यथार्थ चित्रों व भावनाओं से जिप्सी की रचना की गई है। अनुवादक राजेन्द्र ऋषि ने मूल काव्य को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत कर अनुवाद किया है अतः सीधा रूसी भाषा से अनूदित होने के कारण इस अनुवाद का मूल्य बढ़ गया है। ऋषि जी यदि पुश्किन के सारे काव्यों का अनुवाद प्रस्तुत कर सकें तो हिन्दी का बड़ा हित हो। अङ्गरेजी से जो अनुवाद होते हैं वे 'थर्ड-रेट' तो नहीं होते परन्तु 'थर्ड-हैण्ड' अवश्य होते हैं। अनुवादक व प्रकाशक इस अनुवाद के लिए बधाई के पात्र हैं।

कदम्ब—लेखक–केसरी, भूमिका लेखक–नलिन विलोचन शर्मा, पुस्तक भण्डार, पटना। पृष्ठ १६०, मूल्य ४)

कदम्ब में कुछ राष्ट्रीय, कुछ प्रेम सम्बन्धी तथा कुछ प्रगति सम्बन्धी कविताएँ हैं। भूमिका-लेखक ने 'लखिया' शीर्षक कविता की तुलना ग्राम्या (पन्त) से की है और 'लखिया' को अधिक स्वाभाविक बताया है। 'आश्वासन' शीर्षक कविता की दो पंक्तियों में कवि की प्रतिभा देखिए—

तिमिर-काव्य रचने वाले! सूखे न तुम्हारी स्याही।
लिखो धरा की इञ्च इञ्च में, विपदा और तबाही॥

बिहारी कवियों ने 'विपदा और तबाही' के साथ साथ फड़कती हुई भाषा में राष्ट्रीय-भावनाओं का वर्णन किया है। दिनकर ऐसी कविताओं के अग्रदूत हैं। कदम्ब में वैसा ही ओज है, वैसी ही शक्ति है। परन्तु विपदा व तबाही के करुण चित्र देकर फिर विद्रोह का जो उद्घोष सुनाई पड़ना चाहिए वैसा इन कविताओं में नहीं मिलता। प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में स्थानीय प्रभाव को उत्पन्न करने में कवि को सफलता अवश्य मिली है परन्तु कथा का सूत्र छोड़कर चित्रण-कला के विकास की अभी और आवश्यकता है। शैली, पन्त आदि ने जो चित्रण किये हैं उनमें सुगन्धि के लिए पुष्प का बलिदान इसलिए नहीं

होता कि इन कवियों ने पर्याप्त मात्रा में प्रकृति के प्रति अपने अनुराग व उल्लास का वर्णन किया है। प्रकृति के सुरम्य चित्रों के प्रति पन्त की विशेष रुचि है। यथार्थ जीवन का चित्रण करते समय भी पन्त सुरम्यता की खोज में रहते हैं। कल्पना के सहारे सामान्य वस्तुएँ भी असामान्य सौन्दर्य की खोज करती हैं। इस दृष्टि से वस्तु का यथार्थ सौन्दर्य कल्पना के द्वारा प्राप्त सौन्दर्य के साथ साथ चित्रित होने के कारण कदम्ब के भूमिका लेखक को यह सहज ही भ्रम हो सकता है कि रोमानी कवि में सुगन्धि रह जाती है, फूल का बलिदान हो जाता है। फोटोग्राफी व चित्रण में यदि अन्तर है तो चित्रण के चातुर्य को स्वीकार करना ही होगा। इसी चित्रण-शक्ति के अभाव में यथार्थ चित्रों की प्रतिलिपियाँ तो हिन्दी में बहुत उतारी गई हैं परन्तु खेतों, खलिहानों, ग्रामीणों, झोंपड़ियों, आँसुओं व आहों में कवि के रागात्मक सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होने वाली छबियाँ व भावनाएँ चित्रित नहीं हो पाईं। केवल रुचि के स्वाद को बदलने के लिए यथार्थ का वर्णन श्लाघनीय नहीं है, अपितु यथार्थ में रम रहने वाली वृत्ति की आवश्यकता है। तब ग्रामीण का सौन्दर्य-चित्रण न तो स्वाद-परिवर्तन के लिए होगा और न कोरी प्रतिलिपि उतारने के लिए, अपितु ग्रामीण का उसके परिवेश, उसके जीवन, उसके सुख दुख, उसकी रुचि व अरुचि के सभी सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होगी और तब ग्रामीण का वर्णन यथार्थ होगा इसके लिए सामाजिक यथार्थ के वास्तविक ज्ञान के साथ अनुभूति की तीव्रता तथा उच्च कोटि की कल्पना-शक्ति, चित्रण की शक्ति की आवश्यकता है अन्यथा 'फोटोग्राफी' को हम यथार्थ नहीं कह सकते। केसरी में कवि की निष्ठा पूरी-पूरी है।

हमें 'कदम्ब' को देखकर आशा है कि वह अपने मुख्य गुण ओज व प्रत्यक्षता (directness) के साथ साथ संवेदना व चित्रण-शक्ति का विकास करता चलेगा। —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

उपन्यास

प्यासे बादल—लेखिका—श्रीमती रजनी पनिकर, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। पृष्ठ २५६, मूल्य ५)

आज का युग उपन्यास के क्षेत्र में यथार्थ और मनोविज्ञान का युग है। यह इस साहित्यिक विधा के विकास के लिए अत्यन्त शुभ है। लेकिन यथार्थ और मनोविज्ञान के नाम में सस्ती भावुकता और निम्नकोटि की कामुकता का प्रदर्शन होना भारतीय साहित्य की पवित्र परम्पराओं के नितान्त विरुद्ध है। जब कि हिन्दी के बड़े-छोटे अनेक उपन्यासकार विकृत यथार्थ और घृणित मनोविज्ञान की भूलभुलैयों में उलझे हैं। श्रीमती रजनी पनिकर ने स्वस्थ और सामयिक परिस्थितियों को बल देने वाले यथार्थ और मनोविज्ञान को लेकर उपन्यास जगत में प्रवेश किया है। प्रस्तुत उपन्यास इस बात का सब से अच्छा प्रमाण है। समस्या मध्यम वर्ग के ऐसे परिवार की है जिसका स्वामी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के रङ्ग में रँगा है। घर का रहन-सहन तो अंग्रेजी ढङ्ग का है पर घर वालों के संस्कार पुराने ही हैं। इसी सङ्घर्ष से कथा-विकास हुआ है। रोजशीला इस कथा की नायिका है। उसका व्यक्तित्व प्रखर और गम्भीर दोनों भावों को समेटे है। यह लड़की उन भिखारियों के वर्ग की प्रतिनिधि है, जिनके पास घरवार नहीं है और जो बड़े शहरों में मिट्टी और फूँस के घरौंदे बना कर, पुलों या घिनौने स्थानों में रहते हैं। वह जयन्त के घर से कुत्ते की प्लेट से रोटी चुराती पकड़ी जाती है और इस घटना से उसके यहाँ आश्रय पा जाती है। जयन्त का एक भाई है जो प्रेम में आत्महत्या के प्रयत्न में टाँगें खो चुका है। रोजशीला पर उसकी देख-रेख का भार डाला जाता है। यों प्रेम का त्रिकोण बनता है। जयन्त की ओर रोजशीला का झुकाव है और बलराज का भी। परेश और कान्ता में एक आधुनिक मनचले युवकों का प्रतीक है और दूसरी ईर्ष्यालु स्वार्थ प्रकृति की नारी, जिसमें पाखण्ड प्रबल है। जयन्त

का विवाह होता है पर वह रहती नहीं और परिस्थिति रोजशीला को अपनाने की बनती है, पर तभी बलराज और रोजशीला को छोड़ कर जयन्त विदेश चला जाता है। रोजशीला प्यासा बादल बन कर ही जीती है। उपन्यास का कथानक और पात्रों का चरित्र नितान्त सत्य है और मनोविज्ञान भी अतीव आकर्षक है। रोचकता का तो कहना ही क्या ? हमें विश्वास है कि 'प्यासे बादल' का नये उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

साँझ का सूरज—लेखक-श्री ओम्प्रकाश शर्मा, प्रकाशक-सरस्वती सहकार, दिल्ली। पृ. २३१, मू. ३॥)

यह उपन्यास भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की प्रथम चिनगारी सन् ५७ के विद्रोह से सम्बन्ध रखता है। उपन्यास का सम्बन्ध दिल्ली से विशेष रूप से है। हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए इस उपन्यास में जो स्वाभाविक भूमिका प्रस्तुत की गई है उसके लिए लेखक बधाई का पात्र है। भारतीय राजनीति, समाज की स्थिति और अंग्रेजों की चालों का एक साथ समावेश इस उपन्यास की विशेषता है। भाषा-शैली तो कमाल की है। चलती हुई भाषा, जिसमें हिन्दी-उर्दू का गङ्गा-जमुनी प्रभाव सुखद स्पर्श-सा लगता है, उपन्यास को रोचक बना देता है। श्री नरेलाल नागर के शब्दों में—हम उपन्यास पढ़ने के बाद इरादा करेंगे कि चाहे जो हो बहादुरशाह की भाँति दिल्ली को अब हम फिर कभी विद्यार्थियों की पेंशन पर आधारित परवशतापूर्ण जीवन नहीं बिताने देंगे—एक ऐसा जीवन जिसके भाग्य में काल की क्रूर गति की भाँति अस्त होना ही बदा होता है। और यह एक बहुत बड़ी बात है। इसीलिए यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए, हमारी सम्मति में आदर्श है।

नाटक

सेठ गोविन्ददास के दो नाटक—(भारतेन्दु तथा रहीम—प्रकाशक-ओरियन्टल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली। पृष्ठ संख्या क्रमशः १२०, ११८, मूल्य २) प्रति पुस्तक।

सेठजी छोटे-बड़े ८५ नाटक लिख चुके हैं। शतक पूरा करने में १५ नाटक शेष रहे थे। उस संख्या की पूर्ति के संकल्प स्वरूप यह नाटक लिखे गये हैं।

आजकल प्रायः ऐतिहासिक नाटक उन्हीं नाटकों को कहते हैं जिनके नायकों ने देश की राजनीति और उसके उत्थान पतन में भाग लिया हो। किन्तु वास्तव में लेखक लोग भी, जो जनता की विचार-धारा को प्रभावित करते हैं, ऐतिहासिक कहे जाने का अधिकार रखते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और खान-खाना रहीम ऐसे ही व्यक्तियों में से हैं। भारतेन्दुजी से तो लेखक महोदय ने अपना, कई बातों में साम्य दिखलाया है। दोनों ही बल्लभ कुल के दीक्षित रहे हैं और दोनों ही ऐसे सेठों के वंशज हैं जिन्होंने कि ब्रिटिश-सरकार की मदद की थी और दोनों ही लेखकों ने स्वतन्त्रता की भेरी बजाकर अपने पूर्वजों के दोषों का प्रायश्चित किया था।

भारतेन्दु तथा रहीम दोनों का जीवन ऐसा रहा है जो नाटक का उपयुक्त विषय बन सके। दोनों ही अपनी दान-शीलता में एक दूसरे से बढ़कर हैं, दोनों ने ही अच्छे दिन देखकर गरीबी के बुरे दिन देखे।

भारतेन्दु नाटक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन की प्रायः सभी प्रमुख घटनायें आ गई हैं। नाटक में उनका जीवन ५ वर्ष की आयु से आरम्भ होता है और मृत्यु पर्यन्त चलता है। भारतेन्दुजी के जीवन की प्रायः सभी प्रमुख घटनायें बड़े नाटकीय ढङ्ग से इसमें गुम्फित हुई हैं। लेखक ने ऐतिहासिक घटनाओं को ज्यों का त्यों रखा है किन्तु उनके क्रम में कहीं-कहीं थोड़ा-सा हेर-फेर कर दिया है। दानशीलता के सभी उदाहरण प्रायः एक ही अङ्क में आ गये हैं जो कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। स्वयं लेखक का भी ध्यान इस त्रुटि की ओर गया है। इसमें जो कवितायें और संगीत हैं वे प्रायः हरिश्चन्द्र के ही हैं पर प्रसङ्ग बदल दिया गया है।

नाटककार भारतेन्दुजी की जीवन-झाँकी देने में बड़े सफल हुये हैं जहाँ उनके गुणों का उद्घाटन हुआ

है वहाँ उनके दोषों को भी नहीं छिपाया गया है और उनकी कृतियों से उनके जीवन-दर्शन का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। उनकी पत्नी मन्नोदेवी का चरित्र एक सहनशील भारतीय-नारी का सच्चा चरित्र है।

रहीम के जीवन के चित्रण में भी वैसा ही घटनाओं का संयोजन किया गया है जैसा कि भारतेन्दु में। रहीम की भाषा पात्रानुकूल होने के कारण कहीं-कहीं उर्दू मिश्रित हो गई है। इसमें भी नये-नये प्रसंगों में रहीम और तत्कालीन कवियों के कविता के उद्धरण आये हैं। और वे उद्धरण उपयुक्त वातावरण में रखे गये हैं। प्रसंगागत होने के कारण उन उद्धरणों का अर्थ कुछ अधिक प्रासादिकता धारण कर लेता है। दोनों ही नाटक ऐतिहासिक होने के साथ-साथ पूर्णतया साहित्यिक भी है। —गुलाबराय

दर्शन

विश्व-धर्म-दर्शन—ले० श्री साँवलिया बिहारी लाल वर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। पृष्ठ संख्या—४८४, मूल्य १३॥)

हिन्दी साहित्य के पाठक बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद् के प्रकाशनों से परिचित हैं। परिषद् के महत्व पूर्ण ग्रन्थों में प्रस्तुत पुस्तक भी अपना एक स्थान रखती है। ग्रन्थ को ८ खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में भारत के प्रागैतिहासिक काल के धर्मों का परिचय कालानुक्रम से दिया गया है। द्वितीय खण्ड में रामायण, महाभारत, गीता व यहूदी धर्म की चर्चा है। तृतीय खण्ड में जैन, बौद्ध तथा चीनी मतों का विवेचन है। चतुर्थ खण्ड में पुराण, शैव, शाक्त, बौद्ध तन्त्रों का वर्णन है। पाचवें खण्ड में इस्लाम मत, शांकर मत, योग, वैष्णव मत, सिक्ख व सन्त मतों का सारांश दिया गया है। छठे खण्ड में शिन्तो-धर्म तथा १९वीं शती के भारतीय मतों का विवरण है। सातवें खण्ड में भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ एकत्र की गई हैं और अन्तिम खण्ड में वर्तमान काल में भारतीय धर्म पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अनेक धर्म-साधनाओं व दर्शनों का परिचय पाने के लिए पठनीय है। विषय विस्तृत होने के कारण किसी एक मत का सांगोपांग अध्ययन इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं था, परन्तु सामान्य पाठक के लिए विभिन्न धर्मों की एक झलक पाने के लिए यह ग्रन्थ पठनीय है। वस्तुतः विश्व के अनेकानेक धर्मों का विवरण एक ग्रन्थ में असम्भव है, अतः लेखक भारतीय धर्मों पर ही अधिक लिख सका है। ग्रन्थ की उपयोगिता विद्वानों के लिए इस बात में है कि इसमें काल क्रम देने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है और संदिग्ध विषयों में पञ्चायती ढङ्ग से निर्णय नहीं दिए गए जैसा कि प्रायः होता है। भारतीय संस्कृति की समन्वय-प्रिय विशेषता पर बहुत बल दिया गया है और यह ठीक है परन्तु धर्मों की उत्पत्ति के सामाजिक कारणों, उनके परस्पर द्वन्द्वों तथा अन्त में उनके समन्वय के स्वरूपों की चर्चा यहाँ नहीं की गई है। ग्रन्थ अपनी सीमाओं में उपयोगी है। एतदर्थ हम लेखक तथा परिषद् को बधाई देते हैं और यह सुझाव देते हैं कि वर्माजी यदि अध्ययन के क्षेत्र को सीमित कर किसी एक मत के सांगोपांग अध्ययन की ओर प्रवृत्त हों तो और भी अच्छा हो।

नीति और सदाचार

रश्मि-माला अथवा जीवन संदेश गीताञ्जलि—लेखक—डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ १६०, मूल्य ३॥।)

लोगों में धर्म और सदाचार की भावना जाग्रत करने के लिए विद्वान लेखक ने अपने जीवन भर के अध्ययन, मनन और चिन्तन से प्राप्त ज्ञान और अनुभव को इस पुस्तक में साकार रूप देकर एक ऐसी वस्तु प्रदान की है जिसे अनेक धर्म शास्त्रों, पुराणों और उपनिषदों के पढ़ने के पश्चात् भी पाठक इस रूप में नहीं पा सकता। पुस्तक संस्कृत श्लोकों में लिखी गई है जो बड़े सरल हैं। फिर भी नीचे प्रत्येक श्लोक का अर्थ भी दिया गया है। हम ऐसी सुन्दर

पुस्तक का हृदय से स्वागत करते हैं। और उसकी रचना के लिए विद्वान लेखक को बधाई देते हैं।

राजनीति

बन्दी जीवन के अनुभव—संग्रहकर्त्ता-प्रो० महावीरप्रसाद अग्रवाल एम. ए., प्रकाशक-लोकमान्य प्रेस, मथुरा। पृष्ठ १०४, मूल्य १।)

इस संग्रह पुस्तक में सात महान व्यक्तियों के लोक जीवन के अनुभव हैं। सब उन्हीं की लिखी पुस्तकों से लिए गए हैं, अतः उनकी उपादेयता में सन्देह ही क्या। यह संस्मरण महात्मा गांधी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, पं० जवाहरलालजी, श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित, डॉ. सुशीला नैयर, श्री भवानीदयाल संन्यासी और श्री महादेव देसाई की आत्मकथाओं से लिए गये हैं।

कलकत्ता से पीकिङ्ग—लेखक-श्री भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ६। पृष्ठ १७३, मूल्य ३॥)

१९५२ में चीन में जो शान्ति सम्मेलन हुआ था लेखक उसमें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। वहीं की यात्रा सम्बन्धी यह संस्मरण हैं जो पत्रों के रूप में बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से लिखे गए हैं और चीन की सामाजिक, राजनैतिक और भौगोलिक जानकारी सरलता से देते हैं। यात्रा पुस्तकों में यह एक अच्छी वृद्धि है।

स्फुट

ग्रामीण अर्थ-शास्त्र—लेखक-डॉ० मोहनलाल गुप्त, एम० ए०, प्रकाशक-रतन बुक डिपो, मथुरा। पृष्ठ ३५०, मूल्य ३)

ग्रामीण अर्थशास्त्र सम्बन्धी ३३ विषयों की इस पुस्तक में चर्चा है। पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पुस्तक प्रस्तुत की गई है और उसके सर्वथा उपयुक्त है।

कथा-साहित्य में धूम मचाने वाला

हमारा लोक-प्रिय प्रकाशन

उपन्यास

द्वाभा—प्रभाकर माचवे	२)
बहता पानी—मन्मथनाथ गुप्त	३।)
मरु प्रदीप—रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल'	३।।)
मुक्ति की राह—अनु० एस० पी० खत्री	६)
अनबुझी प्यास—दुर्गाशङ्कर मेहता	७।।)
चाँदनी के खण्डहर—गिरधर गोपाल	२)
काठ का उल्लू और कबूतर—केशवचन्द्र वर्मा	४)
सूरज का सातवाँ घोड़ा—धर्मवीर भारती	१।।)
गुनाहों का देवता— ,,	५)

कहानी

प्रायश्चित—सत्यजीवन वर्मा	[illegible])
छायातप—डा० रघुवंश	२।।)
आँसू और पसीना—रामप्रताप बहादुर	२)
पूँजीपति—गोपेश	२)
मेरा देश—डा० नजीम कासिमी	२)
मन की मौज—राजेन्द्रसिंह गौड़	२।।)
आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ— अनु० धर्मवीर भारती	२)

साहित्य-भवन लि०, इलाहाबाद

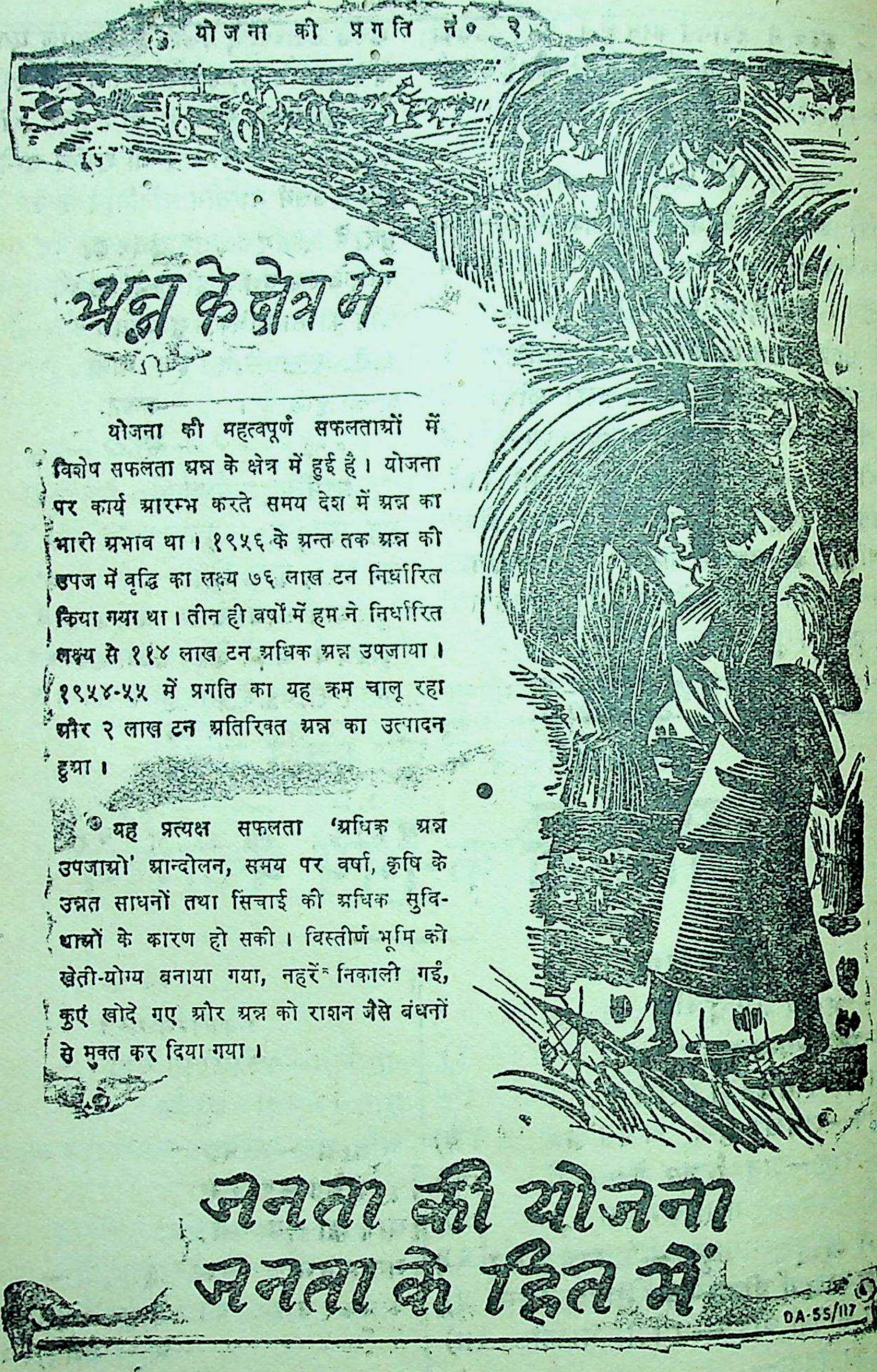

योजना की प्रगति नं० २

अन्न के क्षेत्र में

योजना की महत्वपूर्ण सफलताओं में विशेष सफलता अन्न के क्षेत्र में हुई है। योजना पर कार्य आरम्भ करते समय देश में अन्न का भारी अभाव था। १९५६ के अन्त तक अन्न की उपज में वृद्धि का लक्ष्य ७६ लाख टन निर्धारित किया गया था। तीन ही वर्षों में हम ने निर्धारित लक्ष्य से ११४ लाख टन अधिक अन्न उपजाया। १९५४-५५ में प्रगति का यह क्रम चालू रहा और २ लाख टन अतिरिक्त अन्न का उत्पादन हुआ।

यह प्रत्यक्ष सफलता 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन, समय पर वर्षा, कृषि के उन्नत साधनों तथा सिंचाई की अधिक सुविधाओं के कारण हो सकी। विस्तीर्ण भूमि को खेती-योग्य बनाया गया, नहरें निकाली गईं, कुएं खोदे गए और अन्न को राशन जैसे बंधनों से मुक्त कर दिया गया।

जनता की योजना जनता के हित में

DA-55/117

सहायक ग्राहक बनकर

साहित्य सन्देश मुफ्त प्राप्त कीजिएगा

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनाने की इस योजना से इधर पिछले वर्षों में हमारे ग्राहकों को विशेष लाभ रहा है। हम चाहते हैं कि हमारे अधिक से अधिक ग्राहक इससे लाभ उठावें।

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनने के लिए हमने कोई विशेष नियम नहीं रक्खे हैं। ग्राहक को एक बार १००) हमारे यहाँ जमा कराने होते हैं। रुपया मिलने पर उन्हें कार्यालय से टिकिट लगी हुई पक्की रसीद मिलेगी। जब तक उनका रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा उनका नाम साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहकों में लिखा रहेगा और उन्हें प्रतिमास विशेष संस्करण (अच्छे कागज) का अङ्क निःशुल्क भेजा जायगा। ग्राहक चाहे जब अपना पूरा रुपया वापस मँगा सकते हैं। रुपया लौटाने के बाद अङ्क भेजना बन्द कर दिया जायगा।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि पिछले १७ वर्षों से साहित्य-सन्देश हिन्दी और हिन्दी प्रेमियों की अधिक से अधिक सेवा कर रहा है।

आशा है कि हमारे समर्थ ग्राहक महोदय सहायक ग्राहक बनने के लिए रुपया भेज कर हमें सहयोग देंगे।

सञ्चालक—

साहित्य सन्देश कार्यालय,

साहित्य कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. A. 263 FEBRUARY 1956. LICENSE No. 16,
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

स्कूल कालेजों में पुस्तकों की खरीद—

मार्च के महीने तक ही होगी

सरकारी बजट अगले महीने में ही समाप्त हो रहा है और उन्हें अपने बजट की पुस्तकें इस महीने में ही खरीदना हैं—मार्च के महीने में बहुत से स्कूल कालिजों में वार्षिक परीक्षाओं की तैयारी में काफी समय लग जायगा अतः इसी फरवरी में उन्हें पुस्तकों का चुनाव कर लेना है।

जितना जल्दी आप पुस्तकें खरीद लेंगे उतनी ही आपको अपनी मन पसन्द पुस्तकें मिल जायँगी। जितना आप देरी करेंगे उतनी ही आपको अच्छी पुस्तकें कम मिल पावेंगी, क्योंकि मार्च के महीने में अधिकांश में स्टॉक प्रायः समाप्त हो जाता है और फिर अच्छी पुस्तकें नहीं मिल पातीं।

हमने गत वर्ष सभी स्कूल कालेजों से प्रार्थना की थी कि यदि वे अच्छी पुस्तकें चाहते हैं तो कुछ पहले वे पुस्तकों की खरीद का कार्य प्रारम्भ किया करें। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अधिकांश स्कूल, कालेजों को हमारा सुझाव पसन्द आया और इस वर्ष अभी से उन्होंने पुस्तकों की खरीद शुरू करदी है और हमारे पास बराबर—

आर्डर आ रहे हैं!

इस प्रकार उन्हें अपनी लायब्रेरी में अच्छी पुस्तकें मिल जायँगी। आप भी जल्दी ही आर्डर भेजिये अथवा हमसे पूछताछ कीजिये।

सञ्चालक—

साहित्य-रत्न-भण्डार,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

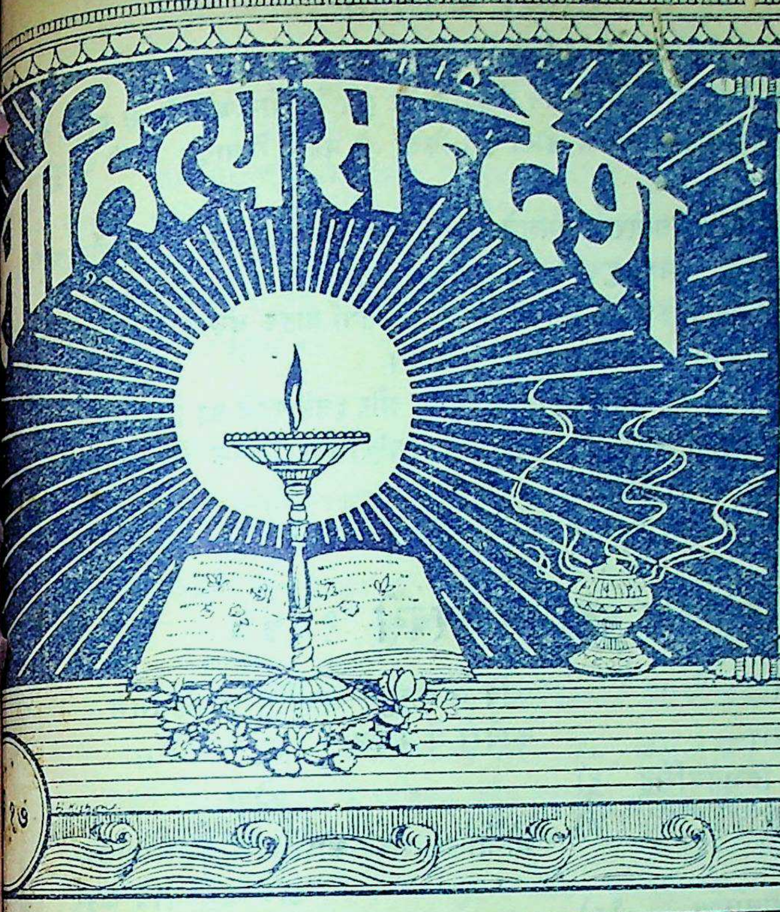

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

१७

अङ्क ९

मूल्य ५)]　　आगरा—मार्च १९५६　　[साधारण संस्करण ४)

इस अङ्क के लेख

गी विचार-धारा	सम्पादक
य में वैयक्तिकता	श्री श्रीधरसिंह एम० ए०
ापति—'भक्त और श्रृङ्गारी'	श्री पुरुषोत्तमदास राही एम० ए० (प्र०)
ाकवि भूषण के सम्बन्ध में नई खोज	श्री शूरवीरसिंह पी० सी० एस०
काव्य में प्रबन्ध काव्य का अभाव क्यों ?	प्रो० कृष्णकान्त चौधरी एम० ए०
ी साहित्य में प्रगतिवाद	श्री श्रृङ्ग बी० ए०
तिवाद का सूखा सा कण्ठ	श्री रामयाद झा एम० ए०
यावा" : विशेषतायें और सीमायें	प्रो० रवीन्द्र एम० ए०
जी के नारी पात्र	श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०
ाहित्य परिचय	

योजना की प्रगति — नं० ③

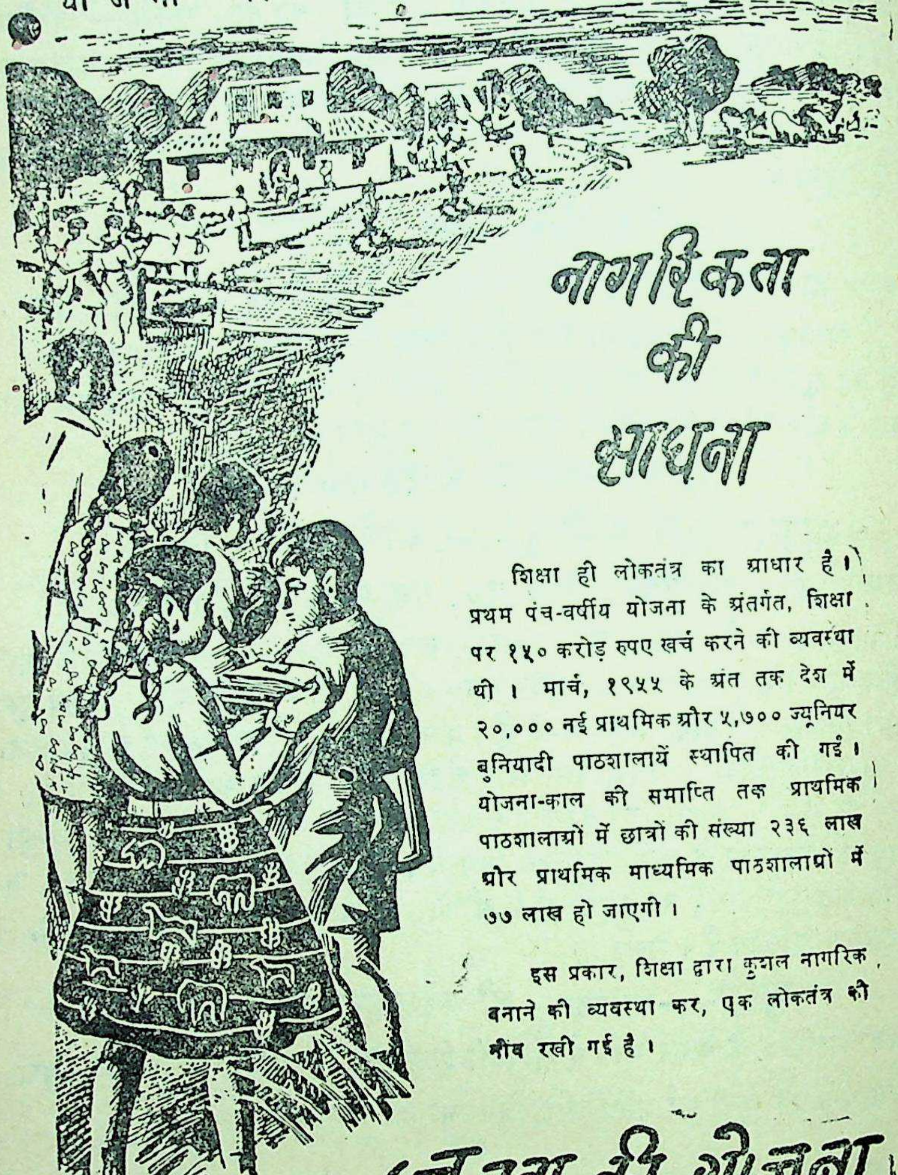

नागरिकता की साधना

शिक्षा ही लोकतंत्र का आधार है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के अंतर्गत, शिक्षा पर १५० करोड़ रुपए खर्च करने की व्यवस्था थी। मार्च, १९५५ के अंत तक देश में २०,००० नई प्राथमिक और ५,७०० ज्यूनियर बुनियादी पाठशालायें स्थापित की गईं। योजना-काल की समाप्ति तक प्राथमिक पाठशालाओं में छात्रों की संख्या २३६ लाख और प्राथमिक माध्यमिक पाठशालाओं में ७७ लाख हो जाएगी।

इस प्रकार, शिक्षा द्वारा कुशल नागरिक बनाने की व्यवस्था कर, एक लोकतंत्र की नींव रखी गई है।

जनता की योजना
जनता के हित में

डी.ए. ५५/१३०.

उच्च कक्षाओं एवं लाइब्रेरियों के लिए हमारे उपयोगी प्रकाशन

साहित्य-रत्न प्रश्नोत्तर (Complete)—
प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए० १२)
आधुनिक कवि महादेवी वर्मा की टीका एवं
आलोचनात्मक अध्ययन—सांख्यधर ३)
नाटक की रूप-रेखा—प्रो० दशरथ झा ३)
हिन्दी के गौरव ग्रन्थ—प्रो० मनमोहन गौतम ३)
सूर एक सरल अध्ययन— ,, ,, २)
तुलसी का विवेचनात्मक अध्ययय—प्रो० दशरथ झा २)
भाषा-विज्ञान गाइड—प्रो० मनमोहन गौतम २॥)
साहित्यालोचन सिद्धान्त—प्रो० मनमोहन गौतम १)
मौखिक प्रश्नोत्तर— ,, ,, ।॥)
साहित्य-रत्न निबन्धमाला—प्रो० भारतभूषण ४॥)
प्रबन्ध प्रदीप— ,, ,, ५)

प्रत्येक प्रकार की हिन्दी पुस्तकें, पञ्जाब यूनीवर्सिटी की रत्न-भूषण-प्रभाकर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की साहित्यरत्न-मध्यमा-प्रथमा और दिल्ली व पञ्जाब यूनीवर्सिटी की मैट्रिक, एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की पुस्तकें मिलने का सर्वोत्तम स्थान—

हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली।

नोट—सूचीपत्र विना मूल्य हमसे मँगाइये। हमारी ये सभी पुस्तकें M/s 'साहित्य-रत्न-भण्डार' आगरा से भी उसी व्यापारिक कमीशन पर मिल सकती हैं।

भूत और वर्तमान कालीन भारत

भारत दर्शन चित्रों में

भारत की कहानी दिग्दर्शित करने वाले विविध चित्रों का यह अनमोल संग्रह है। इसमें देश के निवासी, पशु, वनस्पति, उसकी प्राकृतिक रचना आदि का विहंगावलोकन है। भारतीय जीवन, विचारधारा, परिस्थिति, प्राकृतिक दृश्य इत्यादि विभिन्न पहलुओं का इसमें स्थलानुरूप समावेश किया गया है। मूल्य ७॥)

महात्मा गांधी

राष्ट्रपिता के जीवन का यह चित्रमय, कालक्रमानुसार विवरण, प्रथम बार प्रकाशित हुआ है। बढ़िया आर्ट पेपर पर सुन्दर, सुरुचिपूर्ण छपाई। सजिल्द मूल्य केवल १०)

भारतीय कला का सिंहावलोकन

मोहिन्जोदारो के समय से लेकर वर्तमान भारत की कला का अनुरेखन करने वाले ३७ रंगीन और १०० एकरंगी चित्रों का यह संग्रह, भारत के प्राचीन मध्ययुगीन तथा आधुनिक कला की मनोरंजक विभिन्नताएं प्रस्तुत करता है। मूल्य ६॥)

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली-८

ac 53/49

अपने स्कूल की पत्रिकाएँ हमसे छपवाइये

इस वर्ष हमने विशेष रूप से विद्यालयों की पत्रिकाएँ प्रकाशित करने के साधन रक्खे हैं—अब तक कितने ही विद्यालयों की पत्रिकाएँ हमारे पास छपने आ चुकी हैं।

अच्छे कागज पर पत्रिकाएँ छपवाने के लिये कागज बाजार-भाव होगा, ब्लाक भी हम बनवा देंगे, रेट भी हमारे सस्ते हैं—

❀ कागज, छपाई, बँधाई के साथ ❀

पेज का नाप १०"×७"

दर ५०० प्रतियों के लिए····प्रति पेज ४), १००० प्रतियों के लिए····प्रति पेज ५)

समय—३२ पेज के लिए केवल ४ दिन, आर्डर भेजकर समय निश्चित करा लें।

सस्ते में शुद्ध और आकर्षक छपाई देना हमारा ध्येय है।

प्रश्न-पत्र १।।) पेज (गोपनीय की गारण्टी है।)

हम समय के पूरे पाबन्द हैं। विशेष जानकारी के लिए पत्र-व्यवहार करें।

साहित्य-प्रेस, ५, गांधी-मार्ग, आगरा।

हमारी आलोचनात्मक पुस्तकों के संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण

तथा

नई प्रकाशित पुस्तकें

१—हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० ६।)
२—हिन्दी गद्यकार और उनकी शैलियाँ—श्री रामगोपालसिंह चौहान ४)
३—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—श्री गुलाबराय एम० ए० ३।)
४—प्रसादजी की कला— ,, ४)
५—साकेत एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र ३।।)
६—सुमित्रानन्दन पन्त— ,, ३)

प्रकाशक—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

भाग १७] आगरा—मार्च १९५६ [अङ्क ९

हमारी विचार-धारा

साहित्य में गत्यवरोध—

दिसम्बर की 'नई धारा' में उसके सम्पादक बेनीपुरी जी ने साहित्य और सत्ता की चर्चा करते हुए चार पाँच नोट लिखे हैं, जिसकी ओर हम साहित्य महारथियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। उनके यह शब्द पठनीय हैं—

"आज कहा जा रहा है कि साहित्य में गत्यवरोध है। प्रमाण में कहा जाता है, देखिये, 'गोदान' और 'कामायनी' के बाद हिन्दी-साहित्य ने कौन-सी बड़ी देन दी। किन्तु यह नहीं सोचा जा रहा है कि ऐसा हुआ क्यों। संयोग देखिये, १९३७ में देश के अधिकांश अञ्चलों में स्वदेशी सत्ता का श्रीगणेश हुआ और यही समय है, जब से साहित्य के गत्यवरोध का भी श्रीगणेश होता है।

"स्वदेशी सत्ता प्रारम्भ से ही साहित्य और साहित्यिकों की ओर उन्मुख हुई और अब तो धीरे-धीरे वह इस क्षेत्र पर पूर्णतः छा गई है। जहाँ सत्ता के इस स्नेह और कृपा का यह फल होना चाहिये था कि साहित्य का दिन-दिन विकास होता, वहाँ उसे गत्यवरोध का यह ग्रहण क्यों लग गया? क्या बात है कि जहाँ हमारे गालों पर थोड़ी ललाई दौड़ने लगी है, वहाँ साहित्य दिन-दिन पीला पड़ता जा रहा है? हमारे कलेवर की ही तरह उसके कलेवर में चर्बी और मांस के लोथड़े तो बढ़ रहे हैं, किन्तु वह स्फूर्त्ति, वह तेज, वह पौरुष कहाँ चला गया?

साहित्य का सच्चा स्रोत बताते हुए आपने लिखा है—"साहित्य का आदि-स्रोत कहाँ है? क्या यह समझाने की बात रह गई है? उसका सच्चा स्रोत तो है साहित्यिक का वह विकल-विह्वल, भावनाओं से उफनाता, विचारों की तरङ्गों से आडोलित मानस-सागर, जो पृथ्वी पर होने पर भी आकाश को, उसके पूर्णचन्द्र को चूमने को हर क्षण लालायित रहता है।

“उसके ज्वार और भाटे का अपना नियम है। आकाश में अनेक बिजली के हंडे टँगवा दीजिये, जो पूर्णचन्द्र से भी अधिक रोशनी दे सकें, उसमें ज्वार आप ला नहीं सकते। बड़ी से बड़ी नदियों की धाराएँ भी उसके जल की सतह में घट-बढ़ ला नहीं सकतीं। मन्दराचल की अनेक मथनियों से उसे मथिये, उसके वीचि-विलास में कोई अन्तर नहीं आ सकेगा वह अपने नियम का अनुसरण करेगा! आपके ये सारे कृत्रिम उपाय व्यर्थ जायँगे, व्यर्थ जायँगे, व्यर्थ जायँगे। यही नहीं, ऐसे उपाय प्रायः उलटा ही फल लायँगे।”

सत्ता का संरक्षण—

आपका यह विश्वास है कि सत्ता के संरक्षण में रह कर साहित्यिक सच्ची सेवा नहीं कर सकता। रूस का उदाहरण देकर आपने लिखा है—“गोर्की रूस की क्रान्ति के बाद भी जिन्दा रहा। रूस की नई क्रान्तिकारी सत्ता को उसने अपना पूर्ण समर्थन दिया। सत्ता ने भी उसे सम्मानित करने और उसके विश्व-व्यापी नाम का उपयोग अपने पक्ष में करने की एक भी चेष्टा उठा नहीं रखी। सत्ता उसमें सफल हुई किन्तु क्रान्ति के बीस वर्षों तक जीवित रहने पर भी गोर्की कोई रचना दे सका जो उसके पहले के यश को बढ़ा सके? हम दावे के साथ कह सकते हैं, यदि प्रेमचन्द और प्रसाद जीवित होते और हमारी वर्तमान सत्ता उन्हें वही सम्मान दे पाती जो गोर्की को प्राप्त हुआ था, तो वह भी दूसरा ‘गोदान’, दूसरी ‘कामायिनी’ नहीं दे पाते! हमारे जो साहित्य-महारथी आज सत्ता से सम्मानित या प्रतिपालित हो रहे हैं, उन्होंने ही क्या दिया था और क्या दे रहे हैं उनकी तुलना कर देखिये?

“विटामिन गोलियाँ कुछ चर्बी ला दें, बनावटी सुर्खी ला दें, पूर्ण स्वास्थ्य का वरदान वे नहीं दे सकतीं। पूर्ण स्वास्थ्य सिर्फ अच्छा भोजन ही नहीं खोजता, वह कुछ मेहनत; कुछ मशक्कत भी खोजता है। और सबसे बढ़कर खुली, निर्बन्ध, स्वच्छ वायु भी। और क्या यह सच नहीं कि सत्ता के समीप सबसे बढ़कर इसी की कमी होती है।”

कई प्रश्न—

इस बात पर कई प्रश्न उठते हैं। क्या इसी डर से कि संरक्षण से आलस्य आता है, सत्ता अपनी ओर से संरक्षण देना बन्द करदे। यदि ऐसा हो तो गरीब साहित्यिक क्या करे और जिस साहित्यिक ने जीवन भर साहित्य की अर्चना की है वह अपने अन्तिम दिनों में अपनी स्वाभाविक लोकैषणा की तृप्ति कैसे करे। लोकैषणा ही नहीं कभी-कभी शरीर-यात्रा का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सत्ता का संरक्षण मिले विना यह काम कैसे हो सकता है? सत्ता यदि साहित्यिक का मान सम्मान नहीं करती तो वह अपने कर्त्तव्य से विचलित हुई मानी जायगी। सत्ता का धर्म है कि जिस व्यक्ति ने साहित्य की, देश की, समाज की जीवन भर सेवा की है, उसे समाज सेवा करने वाले सेवक की तरह केवल पेंशन ही न दे वरन् उसे ऐसी भी कोई चीज दे जिससे समाज में उसका व्यक्तित्व सम्मान के साथ देखा जाय। जिसे साहित्यिक स्वयं भी आत्म सम्मान के विपरीत न समझे, जिससे वह अपने अन्तिम जीवन में भी, हो सके तो, कुछ साहित्य की सेवा कर सके, जाते-जाते भी कुछ दे सके।

संरक्षण के खतरे—

संरक्षण देने में बेनीपुरी जी ने एक खतरा बताया है—संरक्षण मिलने पर साहित्यिक आलस्य में पड़ जाता है और फिर उससे काम नहीं होता। यह खतरा तो है पर इसके लिए तो साहित्यिक को स्वयं सजग रहने की जरूरत है हम ऐसे अनेक साहित्यिकों को जानते हैं, जिन्होंने संरक्षण मिलने पर उतना काम नहीं किया; जितना वे अन्यथा करते थे। हमारे ही एक मित्र वर्षों सब तरह के साधनों से युक्त रहने पर भी वह काम नहीं कर पाए जो वे साधन-हीन अवस्था में करते थे, या कर पाए थे।

संरक्षण में एक खतरा और है। ऊपर का खतरा तो साहित्यिक की कमजोरी से आता है और स्वभावतः

आता है। इस खतरे से हम तभी बच सकते हैं जब साहित्यिक स्वयं अपने कर्त्तव्य को पहचाने और एक निश्चित कार्य-क्रम बनाकर कार्य में लगा रहे। दूसरा खतरा सत्ता की ओर से पैदा होता है। कभी-कभी संरक्षण देते हुए सत्ता के आधीन अधिकारी साहित्यिक को न-कुछ समझकर उसके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे साहित्यिक का आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है और उसकी कर्त्तव्य बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इस अवस्था में अधिकतर उसे आदेश पर काम करना पड़ता है अतः वह अपने हृदय की सर्वोत्तम वस्तु नहीं दे पाता। अथवा उसे लिखा पढ़ी और फायलों का इतना और ऐसा काम मिल जाता है जिससे साहित्यिक का मेल नहीं खाता। फलतः उद्देश्य-सिद्धि नहीं हो पाती। अपने इस कथन में हम उच्च कोटि के अपने उन साहित्यिकों को पेश कर सकते हैं जिन्हें 'आकाशवाणी' में स्थान मिला है। आकाशवाणी से उन्हें पैसा तो यथेष्ट मिल जाता है और यह अभीष्ट भी है, आवश्यक भी है, पर आकाशवाणी में रहकर वे साहित्य को कोई अमर कृति दे सकेंगे--इससे हमें सन्देह है। इसीलिए हम कहते हैं कि संरक्षण से उत्पन्न यह भी एक स्वाभाविक खतरा है।

खतरे से कैसे बचें—

पहले खतरे से बचने का उपाय साहित्यिक को करना चाहिए, करना पड़ेगा। दूसरे खतरे से बचने का उपाय सत्ता को सोचना चाहिए। उसे ऐसा माध्यम निकालना चाहिए जिससे साहित्यिक को आवश्यक, जितना अब मिलता है—पैसा तो मिलता जाय और वह साहित्य की सेवा भी निर्बाध रूप से करता रहे, पर उसका आत्म-सम्मान नष्ट न हो, उसकी मेधा मलीन न हो और उसकी कर्त्तव्य-बुद्धि जाग्रत रहे। सत्ता का यह भी धर्म है कि वह निरपेक्ष-भाव से साहित्यिक को सहायता दे, इस सहायता का दुरुपयोग न करे। साहित्यिक को अपनी स्फूर्ति और प्रेरणा से काम लेने दे। जहाँ सरकार का यह धर्म है कि साहित्यकारों का सम्मान करे वहाँ साहित्यकार का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शक्ति भर समाज और साहित्य को अपनी देन से सम्पन्न बनाता रहे। प्रसाद और प्रेमचन्द भाग्य से ही आते हैं, बनाने से नहीं बनते। स्फूर्ति के स्रोतों में कोई बाहरी बाधा न होनी चाहिये। साहित्य अपनी गति से अवश्य चलेगा। वास्तव में सत्ता और संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका समाधान सत्ता और साहित्यिक दोनों बैठ कर ही कर सकते हैं।

* * *

हिन्दी पुस्तकों का मूल्य—

हमें यह देखकर चिन्ता और खेद हो रहा है कि इधर हिन्दी के कुछ प्रकाशक पुस्तकों का मूल्य बहुत अधिक रखने लगे हैं। २५० पृष्ठ की साधारण पुस्तक का मूल्य पाँच रुपया रखना कहाँ तक उचित है यह उन्हें सोचना चाहिए। साधारण आकार की दो पुस्तकें अभी हमें आलोचना के लिए मिली है, एक १६७ पृष्ठ की है और दूसरी २५६ पृष्ठ की। इन पुस्तकों का मूल्य क्रमशः ३॥) और ५) रक्खा गया है। इन पुस्तकों में न तो कोई चित्र है न विषय ही ऐसे हैं जिन पर लेखक या प्रकाशक को विशेष व्यय करना पड़ा हो। फिर इतना मूल्य रखना हिन्दी के प्रचार में बाधा डालना ही है। यह सही है कि कुछ प्रकाशक राजधानी में वहाँ की छत्र-छाया से अपनी पुस्तकें अधिक मूल्य होने पर भी बेच लेते हैं, पर हिन्दी हित की दृष्टि से मूल्य कम रख कर जनता में अधिक पुस्तकों की खपत हो, ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है। गीता-प्रेस ने यह आदर्श रखा है, उतना न सही पर इस ओर प्रकाशकों का ध्यान तो जाना ही चाहिए। अन्ततोगत्वा अधिक मूल्य रखने से न लेखक का लाभ है, न प्रकाशक का। खेद तो तब होता है जब हम यह देखते हैं कि वे संस्थाएँ भी अपने नाम को सार्थक नहीं करतीं जो सार्वजनिक पैसे से चलती हैं और जिन का ध्येय पैसा कमाना नहीं है, न होना चाहिए।

चार भाषा सीखिए—

भांगल में एक सभा में भाषण देते हुए हमारे प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने कहा कि प्रत्येक भारतीय को चार भाषाएँ सीखना चाहिए—(१) अपनी मातृ-भाषा अर्थात् अपने प्रदेश की भाषा, (२) राष्ट्र भाषा, हिन्दी, (३) एक प्रदेशीय भाषा—बङ्गला, गुजराती, तमिल तेलुगु आदि में से कोई एक, (४) एक विदेशी भाषा—जैसे अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, रूसी या चीनी भाषा। नेहरूजी के इस कथन में बड़ा सार है। जब तक हम लोग यह तीन-चार भाषा नहीं सीखेंगे तब तक हमारी राष्ट्रीयता पक्की नहीं होगी, न तब तक हमारा दृष्टिकोण विशाल होगा। एक प्रदेशीय भाषा सीखने का अनुरोध हम बराबर करते आ रहे हैं। यह अनुरोध हमारा विशेष रूप से हिन्दी वालों से है। उनका यह कर्तव्य है कि वे कम से कम एक प्रदेशीय भाषा अवश्य सीखें—कोई भी भाषा सीखें और उसका साहित्य पढ़ें। हिन्दी के लेखकों को तो विशेष रूप से हिन्दी और प्रदेशीय भाषाओं से आदान-प्रदान का काम तेजी से प्रारम्भ कर देना चाहिए। समय और राष्ट्र की इस आवश्यकता की ओर हिन्दी वालों का ध्यान तुरंत जाना चाहिए। जन-साधारण न सही उन लोगों को तो ऐसा करना ही चाहिए जो राजनैतिक व साहित्यिक कार्यों में योग देते हैं।

श्री राजगोपालाचार्य का अंग्रेजी प्रेम—

श्री राजगोपालाचार्य देश के प्रमुख नेताओं में से हैं किन्तु कभी-कभी हमारे बड़े-बड़े नेता भी प्रान्तीयता के फेर में पड़कर राष्ट्रीय हितों को भूल जाते हैं। हाल ही में श्री राजाजी ने अंग्रेजी को २० वर्ष तक और अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनाये रखने की सलाह दी है। यह केवल इसलिए कि दक्षिण वालों के लिए सार्वजनिक सेवाओं की परीक्षाओं में अथवा पत्र-व्यवहार में हिन्दी का माध्यम, निश्चित रूप से असुविधा-जनक होगा। दक्षिण के लोगों ने जहाँ एक विदेशी भाषा पर मातृ भाषा जैसा अधिकार प्राप्त कर लिया है वहाँ हिन्दी भाषा पर भी अधिकार प्राप्त करना कुछ असुविधा-जनक न होगा। जिन सज्जनों ने दक्षिण में हिन्दी को सीखा है उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि हिन्दी दक्षिण वालों के लिए दुरूह नहीं। उत्तर वालों के लिए अपेक्षाकृत दुरूह है क्योंकि इधर जन साधारण में इसका इतना प्रचार नहीं है। राजाजी को सारे भारत का ख्याल करना चाहिए था। वे अधिक से अधिक यह माँग कर सकते थे कि दक्षिण वाले जो हिन्दी में उत्तर लिखें उनको १० प्रतिशत अङ्कों की विशेष सुविधा दी जाय। हिन्दी के व्यवहार को २० वर्ष तक टालना उसके साथ अन्याय करना है। न्याय में देरी करना न्याय से इन्कार करना है। Justice delayed is justice denied.

इसके अतिरिक्त स्वाभिमान का भी प्रश्न है। अपनी कोई सार्वजनीन भाषा का न होना देश के स्वाभिमान के विरुद्ध है। अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए भी अनिवार्य नहीं। और देश भी अंग्रेजी के विना काम चलाते हैं। हिन्दी की अब उपेक्षा की गई तो वह कभी सम्पन्न न बन सकेगी और अंग्रेजी का चलन यदि २० वर्ष तक रहा तो दक्षिण की भाषा की उन्नति में बाधा पड़ेगी। हिन्दी दक्षिणी भाषाओं से चाहे जितनी भिन्न हो किन्तु भारतीय सांस्कृतिक एकता के कारण हिन्दी अंग्रेजी की अपेक्षा दक्षिणी भाषाओं के अधिक निकट है। दक्षिण की सभी भाषाएँ संस्कृत से विमुख नहीं हैं। अंग्रेजी के साथ हमारा कोई सांस्कृतिक मेल नहीं है। उच्चकोटि के अध्ययन के लिए कुछ लोग अंग्रेजी पढ़ें किन्तु सब के लिए अनिवार्य करना जन-साधारण के साथ अन्याय होगा।

काव्य में वैयक्तिकता

श्री श्रीधरसिंह एम० ए०

सृष्टि की सभी मूलगत मान्यताएँ व्यक्ति की वैयक्तिक उद्भावनाओं के परिणाम हैं। यदि जगत अथवा सृष्टि ब्रह्म की इच्छाओं का बाह्यीकरण है तो यह भी असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्ति ही उस पदार्थगत सत्य का व्याख्याता है। सृष्टि की सभी मान्यताएँ, कल्पना-जल्पना, विश्वास आदि व्यक्ति निर्मित हैं। समस्त सत्यों का मूल सत्य स्वयं ब्रह्म, व्यक्ति विनिर्मित है। जड़वत सृष्टि के उत्स से चेतना की अजस्र धारा प्रवाहित करके उसे नाना आशा-विश्वास, भावना-विचार, कल्पना-प्रकाश से मण्डित करके चतुर्दिक उसी से आप्लुत होना व्यक्ति का स्वाभाविक गुण है। इसे चाहे हम दार्शनिक शब्दावली में माया कहें, चाहे राग-द्वेष संपृक्त मानव-जीवन की विशेषता कहें, बात एक ही है। यही कारण है कि इच्छाओं की अभिव्यक्ति के अब तक जितने भी उद्भूत साधन अथवा माध्यम हैं, उन सब में व्यक्ति की वैयक्तिकता ही प्रमुखतः मुखर हुई है। उसी से सारे ज्ञान-विज्ञान आद्योपान्त स्नात हैं।

उपरोक्त कथन का प्रयोजन साहित्य अथवा काव्य की कौन कहे सर्वत्र, मात्र वैयक्तिकता की सर्व-व्यापकता निदर्शित करने का था। काव्य की तो सत्ता ही व्यक्ति और उसकी व्यक्तिगत अनुभूति पर अवलम्बित है। इसे हम एक शब्द में आत्मानुभूति भी कह सकते हैं। यद्यपि आत्मा एवं अनुभूति के अभिन्न सम्बन्ध पर दार्शनिकों, विशेषकर अद्वैतवादियों का विरोध हो सकता है। काव्य की प्रेरणा, संस्थान और प्रभाव सभी कुछ अनुभूत्याश्रित हैं। इनमें अनुभूति की जितनी ही गहराई होगी, काव्य-आदर्श काव्य के उतने ही निकट होगा। अनुभूति-हीन काव्य को इसी से भारतीय आचार्यों ने 'गुणीभूत व्यंग्य' अथवा 'चित्रकाव्य' की संज्ञा दी है। काव्य की व्यापकता, प्रसार तथा वह शक्ति जिसकी झकझोर से मानव-मात्र के रागात्मक सम्बन्ध झंकृत हो उठते हैं, अनुभूति सापेक्ष हैं। इसी आधार पर पं॰ रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और साहित्य जगत के नाना भावों की अभिव्यक्ति है। यदि यहाँ 'जगत के नाना भावों' में किसी को शुक्लजी के 'अति लोकवाद' की गन्ध आए और यदि वह 'वैयक्तिक अनुभूति' पर बाह्य नियन्त्रण की दुहाई दे बैठे तो उसे एक अन्य संस्कृतज्ञ समीक्षक जानकीवल्लभ शास्त्री की परिभाषा देखनी ठीक होगी। शास्त्रीजी लिखते हैं—"सत्य मौन है, वाणी मुखर है। सत्य निर्मल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करने वाली····। सत्य सम्पूर्ण रूप में कभी भी व्यक्त नहीं हो सकता ····। अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी ही का नाम साहित्य है।" यद्यपि इस परिभाषा में काव्य की स्थूल रूप रेखा ही प्रस्तुत की गई है, उसकी अभिव्यक्ति प्रक्रिया का ही उल्लेख है फिर भी वैयक्तिकता के मूलगत भाव से ओतप्रोत है।

अनुभूति सदैव व्यक्तिगत होती है, समूहगत अथवा समष्टिगत नहीं। यह जितनी ही प्रकृत एवं एकनिष्ठ, अनुभूत्य होगी उतनी ही संवेद्य भी। इस 'संवेद्य' गुण के लिए 'कार्य-कारण' सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु चाहे हम 'रागात्मक सम्बन्ध' की कल्पना करें। चाहे हृदय-भाव-भूमि की समानता का और चाहे मानव मात्र की एकरूपता तथा प्रकृत-पुरुष के पारस्परिक संयोग आदि का। इस 'अनुभूत्य संवेद्य' को सर्व संवेद्य के उपयुक्त बना देना ही कवि-कर्म होता है। वह अपनी प्रकृत्या अनुभूति-जन्य घुमड़ती विह्वल हृदय भाव-लहरियों को जब कल्पना के झीने, पर सर्व बोधगम्य तार में फँकता है तब जिस उदात्त

सौन्दर्याभिसिक्त रागिनी की सृष्टि होती है, जिस अलौकिक आनन्द की लहादेह वर्षा होती है, वही काव्य की संज्ञा से अभिहित होता है। यहीं सत्य, शिव और सौन्दर्य की त्रयी एकाकार हो उठती है और प्रयाग जैसे तीर्थराज की परिकल्पना हो उठती है। भारतीय आचार्यों ने इस अनुभूति प्रधानता को एक स्वर से स्वीकार किया है। रस-सम्प्रदाय के—'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः'—के मूल उत्स में यही स्वीकृत तथ्य है। ध्वनिवादियों में यह और स्पष्ट है। शब्दों पर ही बल देने वाले नैयायिकों एवं वैयाकरणों को काष्ट-कुड्म की उपमा देकर हमारे पूर्वज आचार्यों ने अनुभूति प्रधानता सिद्ध की है। अरस्तू तथा प्लेटो ने काव्य में अनुभूति (ऐहिक) की आत्यंतिकता के कारण ही इसे हेय ठहराया। वेनीडोटो क्रोचे तो अनुभूति, अभिव्यक्ति और काव्य तीनों को एकार्थी मानता है। उसके मत से अनुभूति ही अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति ही काव्य है।

परन्तु यहाँ अनुभूति की प्रधानता का तात्पर्य ऐकान्तिक वैयक्तिकता अथवा अतिवादी व्यक्तिवाद नहीं। काव्य व्यक्ति की व्यक्तिगत क्रीड़ा-भूमि नहीं है। अनुभूति सदैव व्यक्तिगत होती है अवश्य, पर जब वह प्रणेता के अन्तस्तल में प्रविष्ट होती है तो उसका निर्व्यक्तीकरण हो जाता है और वह स्थूल से सूक्ष्म हो उठती है। इसका स्वयं ग्रहण भी—यदि निःसङ्कोच कहा जाय तो अंशतः व्यक्ति की मनःस्थिति विशेष अथवा युगीन परिस्थिति, वातावरण एवं संस्कार के अनुसार ही होता है। उस अनुभूति संवेद्य की घुटन को अभिव्यक्त करने के लिए जब प्रणेता के प्राण आकुल हो उठते हैं, जब उसे वीणा-पाणि का स्मरण करना पड़ता है, तब वह स्वयं अपने क्षुद्रगत स्वार्थों एवं तद् परिपार्श्व से ऊपर, बहुत ऊपर उठ जाता है, 'सतोवृत्ति' का निवास हो जाता है और उसका 'विशिष्ट' 'सामान्य' बन जाता है। उसका संवेद्य युग-युग की मानवता का संवेद्य हो जाता है। उसकी अनुभूति वैयक्तिकता के सङ्कीर्ण कटघरे से निकल कर 'सामान्य' की उन्मुक्त-वायु में रस-वृष्टि करने लगती है। यद्यपि यह सत्य है कि मानव-हृदय के समतल होने के कारण सभी अनुभूतियाँ सर्व ग्राह्य हैं और काव्य की सर्वव्यापकता का यही आधार है, फिर भी कहा जा सकता है कि किसी परिस्थिति विशेष अथवा धारणा-विशेष की मनःस्थिति में आयत्त व्यक्तिगत अनुभूतियाँ उसी रूप और उसी रस में सब में समान प्रभाव का उद्रेक नहीं कर सकतीं। बिहारी की नायिका की तरह सबको जाड़े की रात में भी उसी प्रचंड गर्मी की उष्णता का आभास नहीं हो सकता जिसमें सखियाँ जलने के भय से गीले वस्त्र ओढ़ कर पास जाती हैं।

प्रत्यक्ष अनुभूति (भौतिक अनुभूति) और काव्यानुभूति में सदैव अन्तर होता है। इसी से विशिष्ट और सामान्य का भेद है रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत 'सहृदय' की कल्पना इसी तथ्य का द्योतन करती है। प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा भौतिक अनुभूति में कल्पना-तत्त्व तथा बुद्धि-तत्त्व दोनों मिलते हैं, तब काव्यानुभूति बनती है। 'रस-निष्पत्ति' के अन्तर्गत 'भाव' एवं 'रस' को अलग-अलग मानने का यही रहस्य है। आश्रय जैसे 'भाव' पाठक अथवा प्रेक्षक में नहीं उद्बुद्ध होते बल्कि रस-उत्पन्न होता है और सभी 'भाव' (रस) आनन्दप्रद होते हैं, चाहे दुखमूलक ही क्यों न हों। होना तो यह चाहिए कि शोक, दुख, आदि की अनुभूति ठीक वैसी ही हो जैसी आश्रय को प्रत्यक्ष हुई हो। माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाद-वध' में रावण के पुत्र-शोक पर पाठक को भी शोक भाव होना चाहिए पर होती है करुण (रस)। शकुन्तला एव दुष्यन्त के उद्यानमध्य के व्यवहार पर 'रति भाव' का उदय होना चाहिए पर होता है शृङ्गार रस। क्यों? इसके मूल में ऊपर लिखित तथ्य ही है। यदि ऐसा होता तो काव्य का आनन्द ही लुप्त हो जाता और दुखान्त साहित्य का अन्त हो जाता। कारण कोई साहित्याध्ययन इसलिए नहीं करता कि उसे भौतिक दुःख के

उपलब्धि हो। घायल घाव नहीं चाहता। वह तो इसलिए पढ़ता है कि उसका हृदय उदात्त हो, उसे आनन्द की प्राप्ति हो। इस भाव परिवर्तन की प्रक्रिया का कारण भी है। प्रणेता आश्रय की अनुभूति की कल्पना अपनी वैयक्तिक अनुभूति के आधार पर करता है। 'अभिज्ञान-शकुन्तलम्' की अनुभूतियाँ दुष्यन्त एवं शकुन्तला की नहीं बल्कि स्वयं कालीदास की हैं। 'मेघनाद वध' के प्रसङ्ग की अनुभूति रावण की नहीं वरन् माइकेल मधुसूदन की है। चरित्रों में वे स्वभाव, युग एवं परिस्थिति के अनुसार आरोपित हैं। इस प्रक्रिया में अनुभूति की पूर्व तीव्रता, अथवा स्थूल मांसलता कवि में आकर समाप्त हो जाती हैं और काव्य-प्रणयन की अवस्था में उसका और भी परिष्कार हो जाता है। इसी परिष्कृत अनुभूति से पाठक अथवा प्रेक्षक का 'साधारणीकरण' होता है और उसे रस की प्राप्ति होती है। यह अनुभूति प्रत्यक्ष (वैयक्तिक) अनुभूति से भिन्न होती है, नहीं तो पाठक को भी वैसी ही अनुभूति होती। 'अलङ्कार', 'रीति', 'वक्रोक्ति', 'ध्वनि' आदि सभी सम्प्रदायों में प्रकारान्तर से यह तथ्य किसी न किसी रूप में स्वीकृत है।

पश्चिमी विद्वान कान्ट ने भी अनुभूति को विशुद्ध-ज्ञान और व्यवहारिक ज्ञान के मध्य की वस्तु माना है। यद्यपि जहाँ कान्ट का उद्देश्य कला की स्वतन्त्र तथा शास्त्रीय साहित्य की वस्तुपरकता से पृथक सत्ता की स्थापना करना ही था, फिर भी उसने वैयक्तिकता की उस एकान्तिक स्वर-लहरी को प्राणान्वित न किया जिसने आगे चल कर स्वच्छन्दतावादी साहित्य को प्रश्रय दिया। कला अथवा कलाभूमि पर प्रतिष्ठित अनुभूति को मध्यवर्तिनि मानने का यही रहस्य था। अभिव्यञ्जनावादी क्रोचे ने वैयक्तिक और काव्यानुभूति में प्रत्यक्ष विभेद-रेखा खींच दी है। उसने कहा कि वही अनुभूति, अनुभूति (काव्यानुभूति) है जो काव्य में अभिव्यक्त हो अन्यथा वह या तो इन्द्रियता है अथवा मानसिक जमुहाई। उसने काव्य को मन की सक्रिय अवस्था की सृष्टि बतलाया है। 'इन्ट्युशन' ही 'एक्सप्रेशन' कहा है। इस व्याख्या में कितने ही स्थलों पर मतैक्य नहीं हो सकता परन्तु प्रत्यक्ष एवं काव्यानुभूति की भिन्नता के प्रश्न पर तो सम्भवतः सबको एक स्वर होना चाहिए। यद्यपि कितने ही 'वाद' विपरीत स्वर निकालते हैं। टी० एस० इलियट को तो प्रत्यक्ष अनुभूति प्रकाशन अथवा यों भी कहलें कि नितान्त वैयक्तिकता के उत्सर्जन से जैसे चिढ़ सी हो गई है। उसने श्रेष्ठ कलाकार की तटस्थता को बिना अनावश्यक भावुकता के यथार्थ को ज्यों का त्यों चित्रित कर देने में माना है। उसने निर्व्यक्तिकता की की ओर बढ़ती कला को विज्ञान का समरूपी तक मान लिया है। लिखा है—"It is in this that art may be said to approach the condition of science." प्रत्यक्ष अनुभूतिगत आवेग के बिना भी मात्र संवेदनों के आधार पर कविता का निर्माण हो सकता है; यह उसकी धारणा है। लिखता है—"....Or great poetry may be made without the direct use of any emotion whatever : Composed out of feelings solely." यद्यपि इलियट भी अतिवाद के एक छोर पर ही है पर यहाँ इसे उद्धृत करने का मात्र अभिप्राय यह कि काव्यगत वैयक्तिकरण, सीमान्त स्थिति छोर के रूप में एकदम उपेक्षित नहीं।

वास्तविकता तो यह है कि काव्य में प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा एकांतिक वैयक्तिकता का तो नहीं, पर हाँ, व्यक्तित्व का उत्सर्जन अवश्य होता है। यद्यपि कुछ 'उत्सर्जन' को न मानकर 'अभिव्यक्ति' शब्द को अधिक सार्थक समझते हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में भावना-विचार, हृदय-मस्तिष्क, आन्तरिक और बाह्य सभी परिस्थितियों एवं अवस्थाओं का सम्मिश्रित प्रभाव पड़ता है तथा उत्सर्जन अवस्था में वास्तविक काव्यानुभूति की सृष्टि स्वतः हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो कवि, उच्छृङ्खल तथा पागल की कोटि

में आ जाता और उसका काव्य युग-युग की वाणी को न सँजो सकता।

'मात्र व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ सदैव 'वास्तविक अनुभूति' नहीं बन पातीं। काव्य असाधारण अनुभूति की सृष्टि होता है। यह 'असाधारणत्व' प्रणेता के व्यक्तित्व पर निर्भर होता है। व्यक्तित्व जितना ही असीम होगा, धरातल और आकाश के मध्य की परिधि जितनी ही अल्प होगी, काव्य उतना ही महान होगा। वाल्मीक, व्यास, कालीदास, कबीर, सूर, तुलसी, टैगोर आदि यदि महान हैं तो इसलिए कि सूक्ष्म एवं स्थूल, यथार्थ एवं आदर्श, भाव एवं वस्तु की उभय डोर पकड़े हैं। तभी उनमें जहाँ एक ओर जीवन के सूक्ष्मतम रंध्रों के भीतर गहरी पैठ है वहीं उन रंध्रों को एक अलौकिक आभा से उद्दीप्त कर देने की दमक भी। यह सामर्थ्य 'अतिवाद' में कहाँ? नितान्त वस्तुपरक अथवा व्यक्तिपरक, दोनों ही प्रकार की तथाकथित अनुभूतियाँ, काव्य निर्माण के लिए अनपेक्षित हैं। काव्य तो व्यक्तित्व-विसर्जन के पथ में स्वतन्त्र जीवन कल्पना है। इसमें उपरोक्त उभयपक्षों का नीर-क्षीर सा सम्मिश्रण तो स्वयं आ जाता है बशर्ते प्रणेता स्वयं, प्रणयन वेला में 'सचेतन कलाकार' न बन बैठे।

परन्तु दुख है कि आज काव्य-क्षेत्र में जितनी क्षितिज के किसी एकान्त कोने को ललचाई दृष्टि से देख लेने की साध है उतनी विस्तृत नभ मण्डल में प्रसरित समूचे सौर-मण्डल को निहार लेने की नहीं। कहीं अति व्यक्तिवाद है तो कहीं—अति वस्तुवाद। हिन्दी साहित्य में भी 'अन्तर्चेतनावाद' 'प्रगतिवाद' आदि जैसे कितने ही 'वाद-उपवाद' जाने, अनजाने चले आ रहे हैं। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि न तो मात्र 'कुण्ठाओं' के प्रकाशन से सद्काव्य की सृष्टि हो सकती है और न व्यक्ति के 'अहं' को पूँजीवादी वृत्ति घोषित करते हुए वस्तुपरक स्थूल मान्यता से ही। दोनों में अपेक्षित सन्तुलन ही चिरस्थायी और स्वस्थ हो सकता है। ठोस यथार्थ में इतनी शक्ति नहीं कि वह विकासोन्मुखी मानवता का पथ-प्रदर्शन कर सके और न 'दमित कुण्ठा' में ही इतनी शक्ति है कि वह मानव को खड़े होने के लिए ठोस और स्वस्थ धरातल दे सके। 'कृष्ण' और 'राम' की उदात्त कल्पना जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष अनुभूति सापेक्ष है वहीं दूसरी ओर युग-युग की चिर-अभीप्सित मानवता की साध (सामूहिक भावना) भी लिए हैं। यह निश्चित है कि यथार्थ के राम-कृष्ण अथवा नन्दनन्दन और दशरथ-पुत्र उपरिलिखित 'राम-कृष्ण' से शक्ति, शील और सौन्दर्य सबमें बहुत निम्नश्रेणी के रहे, पर वही मनुष्य की भावना-क्षेत्र में आकर एक ऐसी मञ्जिल बन गए जहाँ तक अग्रसर होना सबका प्रेय बन गया।

सारांश यह कि अभिव्यक्ति के अन्य क्षेत्रों की भाँति काव्य में व्यक्ति ही प्रमुख है बल्कि अन्य की अपेक्षा अधिक प्रमुख है। इलियट की तरह निर्वैयक्तिक काव्य की कल्पना ही भ्रान्तिपूर्ण है। लुहार और कुम्हार तक की दस्तकारी में व्यक्तित्व की छाप नहीं बच सकती। साहित्य के नितान्त वस्तुपरक अङ्ग—कहानी, नाटक आदि तक में व्यक्तित्व को छोड़ा नहीं जा सकता। गीति-काव्य का तो कुछ कहना ही नहीं। पर उसका एकान्तिक स्वरूप सदैव अकाम्य है। जहाँ एक ओर वैयक्तिकता के अभाव में काव्य (सत् काव्य) की रचना ही असम्भव है, वहीं दूसरी ओर अतिवैयक्तिकता को रुग्ण पीटिका पर उसकी रचना संस्कार-संग्रह, इच्छा-संग्रह और तथ्य-संग्रह मात्र है। व्यक्ति समाज की और साथ ही साथ इतिहास की इकाई है। इन्हीं के बीच उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। इन सभी विशेषताओं को व्यापक पीठिका पर प्रस्तुत कर कल्पना-तूलिका के सहारे ऐसी उदात्त सौन्दर्य सृष्टि करनी है जिससे वह और उसका काव्य अलौकिक आभा से आलोकित हो उठे—कवि और काव्य का चरम लक्ष्य है।

विद्यापति—'भक्त और शृङ्गारी'

श्री पुरुषोत्तमदास राठी एम० ए० (प्र०)

प्रेम की उत्कटता ने भारतीय भक्ति के पावन क्षेत्र में शृंगार का सहारा लिया। दिव्य प्रेम ही ईश्वर है और उसी दिव्य प्रेम की अनन्यता को पाने का सबसे उत्तम साधन है—दाम्पत्य भाव की मधुर उपासना। यह ठीक है कि प्रेम के प्रकटन के अन्य अनेक साधन हैं किन्तु जितनी उत्कटता, जितना सम्मोहन, जितना आकर्षण तथा हृदय की कोमल रागात्मक वृत्ति को झंकृत करने की अपूर्व क्षमता दाम्पत्य भाव की उपासना में है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि भक्ति के क्षेत्र में यह पूत भावना एक-देशीय न रहकर विश्वजनीन बन गई है। भारत में वैष्णव भक्त, फारस में सूफी और यूरोप में कैथोलिक भक्त सभी दाम्पत्य उपासना के सहारे ईश्वरीय साक्षात्कार का प्रयास करते रहे हैं। उपनिषदों के नीरस दार्शनिक रहस्यवाद में भी उसका समावेश है। सूफी धर्म तो फिर 'इश्क' का धर्म ही है।

भारतीय प्रेम-साधक भक्तगण भी उसी उपास्य की मधुर भावना लेकर चले हैं। इसी कारण भक्त-कवियों के काव्य में शृंगार और भक्ति के मध्य कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन ही नहीं निष्फल प्रयास होगा। इसी कारण किसी भी भक्त कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने से पूर्व मधुरा भक्ति या मधुर-रस को समझ लेना अनिवार्य है। "प्रायः भक्त-गण भगवत-प्रेम का वर्णन करने में मानवीय प्रेम की भाषा का व्यवहार करते हैं। मूर्ख लोग इस वर्णन को नहीं समझते। × × × प्रकृत भगवत-प्रेमी इससे सन्तुष्ट नहीं होता। उसकी दृष्टि में पुरुष-पत्नी का प्रेम भी यथेष्ट उन्मादकर नहीं होता। इसलिये वह अवैध (परकीय) प्रेम-भाव ग्रहण करता है क्योंकि वह अनन्त प्रबल होता है। अवैध प्रेम की अवैधता उसका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम की प्रकृति यह है कि वह जितना ही रोका जाता है। उतना ही उग्र होता जाता है।" (स्वामी विवेकानन्द) भक्त भगवान के अलौकिक दिव्य प्रेम का आकांक्षी होता है। लौकिक प्रेम साधन फिर उस अलौकिक प्रेम को कैसे प्राप्त कर सकता है। उसके हेतु किसी दिव्य और अलौकिक उपासना स्रोत की आवश्यकता होती है और वही अलौकिक स्रोत भक्त की भावना परकीय भाव में पा लेती है। उसमें उत्कटता होती है, प्रियतम से मिलने की आकांक्षा और वेदनापूर्ण तड़पन। उसी प्रेम-भावभूमि के सहारे साधक अपने आराध्य का सानिध्य पा जाता है। यही उसका परम लक्ष्य है और साधना का चरम ध्येय। अनन्त प्रेमार्णव विभु को प्राप्त करने का यह साधन भारतीय सन्तों को सदैव प्रिय रहा है। किसी भी कवि की भक्ति-भावना के निर्णय से पूर्व इस सामान्य कसौटी पर उसके काव्य को परख कर ही उसके वास्तविक रूप के दर्शन किये जा सकते हैं।

मैथिल कोकिल विद्यापति की मधुर काकली, जिसने बगाल को मुग्ध कर दिया; हिन्दी संसार में बसन्त बसा दिया; तथा रसिकों की कोमल हृद्तन्त्री के तारों को एकबारगी झंकृत कर दिया, विद्वानों के मत-वैभिन्य का उपादान रही है। कुछ आलोचक उनको नितान्त शृंगारी कवियों की ही श्रेणी में स्थान देते हैं और उनके काव्य को सामाजिक-नैतिक ह्रास में सहायक मानते हैं। जबकि विद्वन्मण्डली का अन्य पक्ष उनको शृङ्गारी कवियों की श्रेणी से बहुत ऊपर उठा कर रहस्यवादी और माधुर्यभाव का भक्त उपासक करार देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस युग में विद्यापति का आविर्भाव हुआ, उस युग में संस्कृत के समृद्ध-साहित्य की पोषित प्रबल शृङ्गारी परम्परा ने सारे देश को अपने मधुर सम्मोहन से आकर्षित कर रखा था। हिन्दी साहित्य के उस शैशव के काव्य में

किसी कवि में इतनी शक्ति न थी कि वह उस सुदृढ़ संस्कृत-शृंगारी परम्परा के बन्धनों को तोड़ कर अपने निज के उद्घाटित मार्ग पर चल सके। जयदेव की कोमल-कांत-पदावली का सम्मोहन भला कैसे विच्छिन्न किया जा सकता था? विद्यापति महाकवि थे, दिव्य काव्य-प्रतिभा उनके चरण चूमती थी किन्तु उनमें तुलसी सी प्रतिभा, अद्भुत व्यक्तित्व और लोक-संग्रह की भावना नहीं थी, बस शृङ्गार की धारा में बह जाना उनके लिये स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य था। इस कारण शृङ्गार-भावना का दोष विद्यापति का पूर्ण अपना नहीं था, आखिर लोक रुचि का कवि भी कायल होता ही है। 'भूषण' इसके प्रमाण हैं। विद्यापति शृङ्गारी थे यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है। किन्तु इस एकांगी आधार पर ही उसका निर्णय अन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। कवि के काव्य का दूसरा पक्ष भी देखना आलोचक का पावन कर्त्तव्य है। विद्यापति भक्त भी थे इस का प्रबल प्रमाण उस समाज में, जिसमें उनका उद्भव हुआ था, फैली किम्वदन्तियाँ देती हैं। जन-श्रुति के अनुसार वे एक पहुँचे हुये भक्त थे। हाँ वह भक्ति के क्षेत्र में किस देव के उपासक थे, यह हमारे विषय की सीमा के परे की बात है। कुछ भी सही दोनों पक्ष अपना-अपना मत विभिन्न तर्कों से सिद्ध करना चाहते हैं। उनमें कौनसा सत्य के अधिक समीप है, इसका निर्णय उनके मतों के विवेचन से ही स्पष्ट उद्भासित हो सकता है।

विद्यापति नितान्त शृङ्गारी कवि थे—विद्यापति की 'पदावली' पुकार कर कहती है कि वह एक कामुक, वासना-प्रधान अथवा सौन्दर्य प्रिय कवि की लेखनी से प्रसूत हुई हैं। उसमें न तो सूर-तुलसी जैसी भक्ति-भावना है और न आध्यात्मिकता तथा हृदय को पवित्र करने वाली पूत भावना ही। विद्यापति के प्रेम में लौकिक वासना की गंध है। उनके राधा-कृष्ण मृत्यु-लोक के साधारण नायक-नायिका हैं जिनका प्रेम इस लोक का ही है, किसी अनन्त दिव्य लोक का नहीं। उसमें धार्मिक चेतना का सर्वथा अभाव है। संयोग-शृंगार कहाँ तक सत् साहित्य के औचित्य का अनुगामी है इसका ध्यान विद्यापति को नहीं था। 'पदावली' के पदों के पीछे न तो कोई धार्मिक प्रेरणा है और न आध्यात्मिक रूपक। उन्होंने राधा-युवती और कृष्ण-युवक के दैहिक नग्न विलास का नग्न चित्रण किया है। उनकी वृत्ति भी शृंगार के विभिन्न विषयों के उपकरणों के विशद वर्णन में ही रमी है। नखशिख, सद्यःस्नाता, अभिसार, मिलन, विपरीत विलास का वर्णन आपत्ति जनक ही नहीं वरन् सभ्य समाज के मध्य में वर्णन करने की वस्तु भी नहीं है। संभोग के प्रसङ्ग में—"मुनिहु के मानस मनमथ जागी।" कहकर वे मानव की स्वाभाविक वासना वृत्ति को उभाड़ना ही चाहते हैं। सद्यः स्नाता के वर्णन में विद्यापति ने आधुनिक सौन्दर्य प्रतियोगिता के समान वर्णन किया है। नायिका के अङ्ग-प्रत्यंग का नग्न चित्रण क्या औचित्य की सीमा को नहीं लाँघता! क्या हृदय की गर्हित भावनाओं को जाग्रत करने में सहायक नहीं होता? देखिये नायिका का रूप—

"कामिनि करय सनाने, हेरइत हनय हृदय पँचवाने।

× × ×

तितल वसन तन लागी, मुनहु के मानस मनमथ जागी।

यही नहीं नायिका के नग्न तन की आभा कुछ छिपी रह गई थी, उसे भी स्पष्ट करने में वे नहीं चूके। अचानक आँचल खस पड़ा। किन्तु कामिनी ने शीघ्रता से कनक-शंभु के समान पयोधरों को दोनों हाथों से ढाँक लिया; वस्त्र से ढाँकने की उसे फुरसत ही न रही—

"अम्बर खसि अकामिक कामिनि
कर कुच झाँप सुछंपा।".

इस प्रकार विद्यापति के पदों में नग्न शृङ्गार के अनेक चित्र भरे पड़े हैं। उनकी वृत्ति भगवान के पवित्र, मनोहारी रूप का दर्शन नहीं करती। वरन् दैहिक विलासमयी मूर्त्ति का उद्घाटन करती है। ठीक इसी भावना को ध्यान में रखते हुए हिन्दी के समर्थ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल की संयत लेखनी यह लिखने को बाध्य हो गई—"आध्यात्मिक रङ्ग के

चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत गोविन्द के पदों में आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।" इस प्रकार के वे पद निरे श्रृङ्गार के ही ठहरते हैं। यही नहीं, हिन्दी के दूसरे आलोचक डा० रामकुमार वर्मा की ध्वनि भी उसी ओर प्रसारित हुई है—"उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे अवश्य भक्ति से ओत-प्रोत हैं किन्तु राधा-कृष्ण सम्बन्धी जो पद इन्होंने लिखे हैं उनमें भक्ति न होकर वासना है। इस क्षेत्र में जयदेव की श्रृङ्गार-भावना ने विद्यापति को बहुत प्रभावित किया है।"

कुछ भी सही, इन पदों में विद्यापति कोकशास्त्र के पण्डित, कलाकार, शृंगारी-रसिक के रूप में प्रकट हुए हैं। उनमें एक आकर्षण करने वाला चमत्कार है, वाग्वैदग्ध्य है और कवि की अद्भुत शिल्पकारिता। संयोग, रत्यान्त, सद्यःस्नाता आदि में उन्होंने संस्कृत की परम्परा का अनुकरण किया है, इसमें सन्देह नहीं। वे अनुकरण के प्रबल उत्साह में औचित्य को भी भुला बैठे हैं। सम्भव है महाप्रभु चैतन्य की विह्वल भक्ति-भावना ने उनमें धार्मिक भावों का दर्शन किया हो, भावोन्मेष प्रात किया हो, किन्तु मूल में यह विद्यापति की श्रृङ्गारी-भावना के प्रतिपादक ही हैं। "जाकी रही भावना जैसी" की अक्षरशः सत्य वाणी के सहारे विद्यापति का पाप-परिहार नितान्त असम्भव है। चैतन्य की विह्वल भावना के बल पर विद्यापति भक्त नहीं हो सकते। विद्यापति के अनुकरण में हिन्दी की गीत-काव्य-धारा का प्रवाहन हुआ जो अपनी श्रृङ्गारिक भावना की प्रबलता के कारण रीतिकाल में गर्हित वासना के सरोवर में निमग्न हो गई। जिसने साहित्य की निर्मल धारा को ही दूषित नहीं किया वरन् भारतीय जनता के परमाराध्य भगवान कृष्ण के पावन स्वरूप को भी लौकिक बना डाला।

यौन-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से विद्यापति की कवि शिल्पता अमूल्य है किन्तु धर्म के क्षेत्र में वह विकारी ही है। इन पदों में कवि की श्रृङ्गारप्रियता इतने गहरे और चटकीले रङ्ग लेकर उभरी है कि उसे रहस्यवाद और भक्तिवाद की श्वेत चादर की ओट में छिपाना असफल प्रयास ही होगा। इसके अतिरिक्त जन प्रचलित उनका और 'लखिमादेई' का लौकिक प्रेम, भक्ति की आधार शिला पर आघात ही करता है। संयोग के पदों में अन्तिम पंक्ति में प्रेमी युगल "शिवसिंह और लखिमा देई" को ही राधा-कृष्ण बना डालना भक्ति की आधार शिला के अवशेषों को भी चूर-चूर कर डालता है। लौकिकता उनमें भरी है।

ये दरबारी कवि थे। उनका काव्य फरमाइशी काव्य था। भारतीय भक्त-कवियों की प्रवृत्ति सदैव से "सन्तन कहा सीकरी सौं काम" की ओर रही है। भक्त विरक्त थे, किन्तु विद्यापति सदैव राजदरबार की शोभा बढ़ाते रहे और मानव युगल का गुणगान करते रहे। यह बात भक्त प्रकृति की विरोधी है। भक्त का वैराग्य उसे दरबार की कृत्रिमता से दूर ले ही जाता है।

एक बात और विद्यापति को श्रृङ्गार का उपासक ही करार देती है। वह है काव्यगत विषय का चयन। विद्यापति ने कृष्ण के रसिक, मधुर रूप का ही वर्णन किया है, जब कि वे हृदय-स्पर्शी प्रसङ्गों और वात्सल्य की मर्मस्पर्शी भावनाओं को एकदम भूल गये हैं। इस प्रकार वह एक शृंगारी कवि की ही कोटि के अधिकारी हैं; भक्त नहीं।

विद्यापति भक्त कवि भी थे—विद्यापति के जटिल व्यक्तित्व का यह एक अन्य पक्ष है। विद्यापति का उद्भव मिथिला की धर्मपरायण भूमि में हुआ था, जहाँ रहस्य-भाव का प्रभाव था। विद्यापति भी उस धारा में सहयोग देते प्रतीत होते हैं, ऐसा कुछ का मत है। अंग्रेज आलोचक प्रायः (ग्रियर्सन) विद्यापति को भक्तों की श्रेणी में स्थान देते हैं। वैसे भी विद्यापति का जन्म एक भक्ति परायण वंश में हुआ था। भक्ति की परम्परा उनको जन्म से ही मिली थी। शिव की उपासना में रचे नचारी, महेश बानी, गंगा की स्तुति, शक्ति की भावपूर्ण वन्दना और साथ ही साथ

महाभारत की प्रतिलिपि आदि विद्यापति के भक्त होने के प्रमाण हैं। शिव का 'उदना' के रूप में आना, गंगा का प्रवाह बदलना, तिलक-छापे लगाना आदि की प्रचुर जनश्रुतियाँ विद्यापति को एक भक्त ही बताती हैं।

विद्यापति के सम्पूर्ण काव्य का अनुशीलन भी इस तथ्य को जन्म देता है कि उसका अधिकांश भक्ति-परक है। भले ही विद्यापति में वैसी धार्मिक भावना और प्रेमानुभूति की तीव्रता न रही हो जितनी कि एक भक्त के हेतु अपेक्षित है। किन्तु यह तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें इतनी भावुकता, तन्मयता और अतीन्द्रिय आनन्द को उत्पन्न करने की अलौकिक क्षमता वर्तमान थी, जिसने भावुक वैष्णवों को अपनी प्रेमानुभूति, हृदय स्पर्शी तान और मधुरिमा के द्वारा अपना बना लिया। महाप्रभू से सम्बन्धित है उनका काव्य, महाप्रभु पद गान करते करते मूर्च्छित हो जाते थे। यद्यपि यह तर्क विद्यापति से उतना सम्बन्ध नहीं जितना कि महाप्रभु चैतन्य की भावुक तन्मयता से, किन्तु तब भी महाप्रभु के नाम से सम्बन्ध रहने के कारण विद्यापति का काव्य एक पूत भावना का द्योतक तो हो ही गया है—पारस के सान्निध्य में रह कर लोहा भी कञ्चन हो जाता है।

भक्ति का आन्दोलन बङ्गाल के माध्यम से उत्तर में आया। विद्यापति पर उसका प्रभाव तो पड़ना अनिवार्य था। वे उपासना के क्षेत्र में भी समन्वय-वादी थे। सभी देवों का स्तुति-गान उन्होंने भावना से किया है।

विद्यापति को नितान्त शृङ्गारी कवि बताने वाले भूल जाते हैं कि उनके पदों में एक दूसरी भावना का भी समावेश है। कुछ अंश निर्विवाद भक्ति-परक हैं, उनमें हृदय से निस्सृत पूत भावनायें हैं—और है प्रियतम को पाने की उत्कट आकांक्षा :—

"विद्यापति ऐ हो भाने, गुज्जरि भजि भगवाने"
"भनय विद्यापति सुनि ए सुचेतनि,
हरि सन कसन गान हे।
कपट गेलि कहु भजहु जे,
हरिकइ अंतकाल होइ ठाम हे।"

उनकी पश्चाताप और कातरता से भरी वाणी का आग्रह कौन स्वीकार न करेगा—

"माधव बहुत मिनत कर तोय।
दइ तुलसी तिल देह सौपइल दया जनु छाँड़सि मोय।"

यही नहीं एक सच्चे भक्त की भाँति उनको अपने प्रभु की शरण-शक्ति पर अटल विश्वास भी है। वे बिना सङ्कोच उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर सकते हैं—

"हे हरि वन्दों तुइ पद नाइ।
तुइ पद परिहर पाप पयोनिध पारक कउन उपाय॥"

इन पदों की वेदन पूर्ण भावना, आत्म-विश्वास की घनीभूतता, निश्छल आत्म समर्पण और विह्वलता कवि को भक्त सिद्ध करती है। किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यह पद विद्यापति के अवसान के समीप के हैं जबकि मानव स्वभाव से ही भक्ति की ओर उन्मुख होता है। प्रौढ़ावस्था में विद्यापति भक्ति का काव्य करते थे, इसमें सन्देह ही है।

कुछ लोग उनके पदों में आध्यात्मिक रहस्यवाद की खोज भी करते हैं। डा० जनार्दन मिश्र ने अनेक शिव सम्बन्धी पदों में रहस्य का समावेश माना है। शृंगार के आवरण में छिपे कुछ संकेत पाये हैं—

"साजन अकथ कही न जाय।
अवल अरुण शशि गण के,
मण्डल भीतर रहे लुकाय।"

आदि में परमात्मा की अकथ कहानी की ही व्यञ्जना मानी है। एक पद है—

"करु धरु कर मोय पारे कनहैया।
देवि मैं अपरुप हारे कनहैया।
हम न जाइब तुअ पासे,
जाइब अवघट घाटे कन्हैया।"

इस पद को अनेक रहस्यात्मक उक्ति मानते हैं। और 'अवघाट', 'घाट' शब्दों के आधार पर साधना का संकेत किया जाता है, जो ठीक नहीं। "हम न जाइब तुअ पासे……" वाली राधा की उक्ति से

तात्पर्य उस संकुल घाट पर (लोक लाज के कारण) न मिलने से है। 'अवघट घाट' कह कर के स्पष्ट संकेत करती हैं कि चलो उस 'वीहड़' एकान्त घाट पर मैं जा रही हूँ। वहीं केलि करें। इस घाट पर हम न आ सकेंगी। इस प्रकार व्यञ्जना से यह पद रहस्यवाद का नहीं, संयोग की आकांक्षा का ठहरता है। रबड़ को आप कितनी देर तक खींचे रह सकते हैं ?

एक यह भी तर्क है कि उनका विरह वर्णन, संयोग से अधिक मार्मिक है। उसमें ईश्वर की बिछुड़न की तड़प है ! इस कारण वे बिहारी, देव आदि से ऊपर उठ जाते हैं। उनके विरह में आत्मा की विकलता है। राधा-कृष्ण की काम क्रीड़ा को भी वे लौकिक नहीं वरन "मनोभव मङ्गल माया" कह कर अलौकिक बना देते हैं। उनके हेतु संसार में कृष्ण एक मात्र पुरुष और राधा एक मात्र युवती हैं। इस कारण वे उनके उपास्य ही ठहरते हैं।

पदावली के लौकिक गान वर्णन वाले पदों में वे अन्त में प्रणयी युगल 'शिवसिंह' और 'लखिमा' को पुकारते हैं। किन्तु जहाँ वे प्रेम की सात्विक अभिव्यञ्जना करते हैं उन पदों में 'युगल' नहीं। इसका तात्पर्य है कि संयोग के अश्लील चित्र शासक आश्रयदाता की प्रेरणा का फल है, विद्यापति की कामुकता का नहीं। इस प्रकार उनको भक्त ठहराया गया है।

औचित्य—इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व मतभेद का विषय है। यह ठीक है कि विद्यापति में कुछ भक्ति-परक पद भी हैं और उनमें एक सच्चे भक्त की सी भावना है। इस प्रकार वे नितान्त शृङ्गारी नहीं हैं। किन्तु शृङ्गार की धारा का पोषण और समर्थन विद्यापति की पदावली इतने बल के साथ करती है कि उसके प्रवाह में दूसरा पक्ष तिरोहित हुआ सा जान पड़ता है। उनके नग्न शृंगार ने पूत, स्वाभाविक भाव-राशियों को ढाँक रखा है। फिर भक्ति के पद अन्तिम काल के हैं जब कि जीवन का अवसान निरन्तर चेतावनी दे रहा था। वृद्धावस्था में चेतनता और बोध होना स्वाभाविक बात है। इस प्रकार यह कुछ पद उनकी शृंगार-प्रियता को छिपाने में अपर्याप्त से देख पड़ते हैं। जहाँ तक विरह की मार्मिकता का प्रश्न है, वह भी उनका साथ नहीं देती।

हाँ कवि रूप में वे महान् हैं। काम चेतना मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। विद्यापति को यदि भक्तों की श्रेष्ठ पंक्ति से सर्वथा बहिष्कृत कर भी दिया जाय तो भी वे अमर हैं। उनका काव्य-जीवन के एक चिरन्तन सत्य को लेकर चला है। मानव जीवन के सागर में गोता लगाकर जीवन के चिरन्तन भाव-मोतियों का उद्घाटन करना यदि सत्कवि का कर्त्तव्य है तो विद्यापति इस कसौटी पर खरे कञ्चन ही हैं।

(पृष्ठ ३६५ का शेषांश)

जन-साधारण के दिल-दिमाग का सन्तुलन कायम रखा। इसलिये पुष्टि-मार्ग के कवियों ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में अपने को सम्पूर्ण-रूप से खो दिया। लोकादर्श और लोक-धर्म के प्रचार की चिंता उन्हें न थी।

कृष्ण-चरित पर महाकाव्य एवं प्रबन्ध-काव्य के अभाव का कारण गीति-शैली भी है। गीति-काव्य की पद्धति में रचना प्रस्तुत करना प्रबंधात्मकता से बहुत दूर चला जाना है। एक तो कृष्ण की मधुर रूप-कल्पना और दूसरे गीति-शैली का अनुकरण, दोनों ने मिलकर प्रबंधात्मकता के क्षेत्र को सीमित कर दिया। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—'सूर की कविता में कृष्ण-चरित्र की प्रबंधात्मकता गीति-काव्य के कारण स्पष्ट नहीं है, तथापि कृष्ण के जीवन की घटनाओं की विविधता और उनके साथ कृष्ण के बाल और किशोर-जीवन की छवि, मानवी-जीवन के इतिहास में चिरस्थायी हो गई है।' यह उक्ति प्रायः कृष्ण-काव्य के सभी कवियों के लिये चरितार्थ है। गीति-पद्धति के अवलम्बन के कारण कृष्ण-भक्त कवि इतने भावुक हो गये हैं कि प्रबंधात्मकता भावुकता के समक्ष टिक नहीं सकी।

महाकवि भूषण के सम्बन्ध में नई खोज

श्री शूरवीरसिंह पी० सी० एस०

महाकवि भूषण के सम्बन्ध में जो अन्वेषण अब तक हुये हैं, उनमें भूषण के काल के सम्बन्ध में मतभेद रहा है। श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित ने भूषण का जन्म संवत् १७३८ एवं मृत्यु संवत् १८०० माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म संवत् १६७० और मृत्यु काल संवत् १७७२ लिखा। है 'मिश्रबन्धु विनोद' में भूषण का जन्म-काल अनुमान से संवत् १६७० और मृत्यु संवत् १७७२ बताया गया है। इनके ग्रन्थ 'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दसक' और स्फुट छन्द ही अब तक हिन्दी जगत के समक्ष आये हैं। 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिश्र बन्धुओं ने 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' एवं 'भूषण हजारा' नामक ग्रन्थ भी महाकवि भूषण द्वारा रचित लिखे हैं। परन्तु साथ ही यह भी लिखा कि इन तीनों ग्रन्थों का अब पता नहीं चलता।

'मिश्रबन्धु विनोद' में महाकवि भूषण का कविता काल संवत् १७०५ माना गया है। सौभाग्य से मुझे हाल ही में भूषण कृत एक 'अलङ्कार प्रकाश' नामक ग्रन्थ की प्रतिलिपि उपलब्ध हुई है, जिसका रचना काल भी संवत् १७०५ ही है। इसमें दस उल्लासों में भूषण की रचना है, जिससे यह विदित होता है कि संभवतः यही वह 'भूषण उल्लास' ग्रन्थ होगा, जिसका न मिलना मिश्रबन्धु विनोद में लिखा है। इस ग्रन्थ में श्रृङ्गार रस के छन्द भी प्रचुर मात्रा में हैं। इस ग्रन्थ से महाकवि भूषण का काल प्रमाणित तौर से निश्चित हो जाता है एवं हिन्दी जगत के समक्ष भूषण का वास्तविक नाम भी प्रगट हो जाता है जो अब तक अज्ञात था। यह पुस्तक एक साहित्य प्रेमी सज्जन के द्वारा जिला उन्नाव से प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ गहरवार वंशीय नरेश देवीशाह अथवा देवी सिंह बुंदेला के लिये भूषण ने रचा था। पुस्तक के दूसरे पन्नों के बाद के भी पन्ने लुप्त हैं, जिसमें सम्भवतः भूषण का वंश परिचय एवं निवास-स्थान का भी विस्तृत उल्लेख होगा, क्योंकि राजवंश वर्णन का क्रम दूसरे पन्ने में है। प्रायः पुराने रीतिकालीन कवियों का यह नियम रहता था कि वे अपने आश्रयदाता के वंश-परिचय के पश्चात् अपना वंश-परिचय एवं निवास स्थान भी लिखते थे। ग्रन्थ के अन्त में भी भूषण ने अपना वंश परिचय इस प्रकार लिखा है—"वीराधिवीर राजाधिराज श्री राजा देवीशाह देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वर आत्मज कवि भूषण मुरलीधर विरचिते अलङ्कार प्रकाश अविवानि रूपनी नाम दसमी उल्लासः समात शुभम् भूयात्।" इन्हीं शब्दों में प्रत्येक उल्लास के अन्त में भूषण ने अपना परिचय दिया है। इस ग्रन्थ के ४३२ वें दोहे में भी भूषण ने अपना वंश-परिचय इस प्रकार दिया है।

> रामकृष्ण कश्यप कुलहि, रामेश्वर सुत तासु।
> ता सुत मुरलीधर किया, अलङ्कार परकासु॥'

इस दोहे से भूषण के कश्यप गोत्रीय होने की भी पुष्टि होती है। ग्रन्थ का रचना काल भूषण दोहा ४३३ में इस प्रकार दिया है।

> 'पाँच सुन्न सत्रह वरिस, कातिक सुदि छठि जानु।
> अलङ्कार परकासु को, कवि कीनो निरमानु॥
> सं० १७०५।

मैंने आगे जो और खोज इस सम्बन्ध में की तो यह पता चला कि जिला हमीरपुर में संगरा नाम का एक गांव तहसील चरखारी में है, जहाँ सत्रहवीं एवं अठारहवीं शती में गहरवार वंश का प्रबल पराक्रमी राज्य था। वहां अब भी इस प्राचीन राज्य वंश का सुदृढ़ पुराना किला विद्यमान है। इस वंश के एक राजा अर्जुन के नाम पर अर्जुन पुस्तकालय भी वहां है, जिसमें बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ भी हैं।

अलङ्कार प्रकाश से भी इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है "तिसु भयउ पूत । सङ्कर सपूत । महि महीपाल । अरजुन्न पाल" इत्यादि........

इस प्रकार महाकवि मतिराम के सम्बन्ध में भी अब तक एक भ्रम था । 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है कि भूषण एवं मतिराम का सगा भाई होना परम्परा से प्रसिद्ध है और तिकवापुर निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र कहे जाते हैं। मुझे सौभाग्य से मतिराम कृत ग्रन्थ वृत्त कौमुदी की हस्तलिखित प्रति अभी उपलब्ध हुई है। श्री कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित मतिराम ग्रन्थावली एवं मिश्रबन्धु विनोद में महाकवि मतिराम के रचित ग्रन्थों में 'छन्दसार पिङ्गल' का नाम है। 'मिश्रबन्धु विनोद' से विदित होता है कि 'छन्दसार पिङ्गल' के थोड़े-से ही पृष्ठ मिश्रबन्धुओं ने देखे थे। इसी तरह श्रीकृष्णबिहारीजी की 'मतिराम ग्रन्थावली' से भी पता चलता है कि 'छन्दसार पिङ्गल' ग्रन्थ उनके देखने में नहीं आया। श्री भागीरथ प्रसाद ने वृत्त कौमुदी को ही छन्दसार पिङ्गल ग्रन्थ माना है, परन्तु श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने इन दोनों को पृथक ग्रन्थ माना है। उन्होंने लिखा है कि श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित का कहना है कि उनको अब यह ग्रन्थ वृत्तकौमुदी नहीं मिल रहा है। श्रीकृष्णबिहारी मिश्रजी के सतत् प्रयास करने पर भी उनको वृत्तकौमुदी ग्रन्थ नहीं मिला, जिससे उन्होंने माधुरी एवं नागरी प्रचारिणी सभा के छपे हुये अंश के आधार पर ही इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रगट की। छन्दसार पिङ्गल के नाम का पता 'शिवसिंह सरोज' से ही मिश्रजी को लगा। ग्रन्थ उन्होंने नहीं देखा परन्तु अब वृत्त-कौमुदी के उपलब्ध होने से उपरोक्त भ्रम दूर हो जाता है और इस ग्रन्थ के अध्ययन करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यही ग्रन्थ वह छन्दसार पिङ्गल है जो "शिवसिंह-सरोज" में इन्हीं महाकवि मतिराम द्वारा रचित बताया गया है, जिन्होंने 'रसराज', 'ललित ललाम' एवं "मतिराम सतसई" ग्रन्थों की रचना की है। भाषा एवं शैली भी इन ग्रन्थों की एक ही है। यह छन्दसार नाम का संग्रह पिङ्गल ग्रन्थ महाराज स्वरूपसिंह बुन्देला के लिए महाकवि मतिराम ने 'वृत्त-कौमुदी' नाम से रचा था।

ग्रन्थ वृत्त-कौमुदी (छन्दसार) की रचना संवत् १७५८ में हुई। इस ग्रन्थ में मतिराम ने अपने को विश्वनाथ का पुत्र 'बनपुर' निवासी होना बताया है। मतिराम ने ग्रन्थ के अन्त में वंश वर्णन इस प्रकार किया है—

"तिरपाठी बनपुर बसै वत्स गीत मुनि गेह"
× × ×
तिनके तनय उदार मति, विश्वनाथ हुअ नाम
× × ×
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह सरूप सुजान को, बरनै सुजस अपार॥

इस ग्रन्थ में मतिराम ने जो अपने आश्रयदाताओं का वर्णन किया है, उससे यह सिद्ध होता है कि वे वही मतिराम हैं, जिन्होंने महाकवि भूषण के साथ भारत भ्रमण किया था। मतिराम ने इस ग्रन्थ में अपने आश्रयदाताओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

दाता एक जैसो शिवराज भयो तैसो अब,
फतेसाहि सीनगर साहिबी समाज है।
जैसो चित्तौर धनी राना नरनाह भयो,
तैसोई कुमाऊं पति पूरो रज लाज है।
जैसे जयसिंह जसवन्त महाराज भयो,
जिनको मही में अजों बढ़यो बल साज है।
मित्र साहिनन्दसी बुन्देल कुल चन्द जन,
ऐसो अब उदित स्वरूप महाराज है॥

यह तो इतिहास सिद्ध है कि महाकवि भूषण एवं मतिराम ने तत्कालीन प्राचीन राज्यों गढ़वाल एवं कुमाऊँ की यात्रा की थी। भूषण ने गढ़वाल नरेश फतेशाह की प्रशंसा में निम्नलिखित छन्द रचे थे।

लोकध्रुव लोकहूँ ते ऊपर रहैगो भारो,
भानु ते प्रमानि की निधान आनि मानैगो।

सरिता सरित सुरसरि तें करैगो साहि,
हरि ते अधिक अधिपति ताहि मानैगो।
उरध परारर्ध ते गिनती गिनैगो गुनि,
वेद ते प्रमान सो प्रमान कछु जानैगो।
सुयश ते भलो मुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढ़वार राज पर राज जो बखानैगो।

महाकवि भूषण ने शिवराज-भूषण के २४९ वें छन्द में अपने आश्रयदाताओं का निम्न वर्णन किया है।

मोरंग जाहु कि जाहु कुँमाऊं,
सिरीनगरे की कवित्त बनाये।
बान्धव जाहु कि जाहु अमेरि, कि
जोधपुरे कि चित्तोरहि धाये।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै, कि
दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
'भूषन' गाय फिरो महि में,
बनि है चित चाह शिवाहि रिझाये।

'वृत्त-कौमुदी' के उपरोक्त छन्द व 'शिवराज-भूषण' के ये छन्द स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि इन दोनों महाकवियों के आश्रयदाताओं में समानता थी।

इसी तरह इन दोनों ग्रन्थों मतिराम कृत 'वृत्त-कौमुदी' (छन्दसार पिंगल) एवं भूषण कृत 'शिवराज-भूषण' में गजराज वर्णन के निम्नलिखित छन्दों में भाव-साम्य एवं भाषा साहित्य में इतनी विलक्षण एकता है कि इससे इन दोनों महाकवियों की आपस की घनिष्ठता स्वतः प्रगट होती है।

जिनकी गरज सुन दिग्गज वे आब होत।
—शिवराज भूषण

जिनकी गरज होत दिग्गज अचेत है।
—वृत्त कौमुदी

जकरे जञ्जीर जोर जकरे किरिरि है।
—शिवराज भूषण

जकरे रहत जे न जालिम जंजीरन सों।
— वृत्त कौमुदी

महाकवि भूषण का 'अलङ्कार प्रकाश' नामक ग्रन्थ जो मुझे उपलब्ध हुआ है और जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है उसके कुछ छन्दों के भाव, छन्द-रचना एवं लक्षण आदि की परिभाषा में 'ललित ललाम' से इतनी अधिक सादृश्यता पाई जाती है कि उससे भी इसकी पुष्टि होती है कि महाकवि मतिराम ने 'ललित ललाम' में भूषण के 'अलङ्कार प्रकाश' का अनुकरण किया है और 'अलङ्कार प्रकाश' भी उसी भूषण कवि का बनाया हुआ है जिससे मतिराम का बन्धुत्व था, एवं जिन्होंने शिवराज-भूषण की रचना की।

दृष्टान्त—

जितहि बिंब प्रतिबिंब गति, कवि भूषण निज होइ।
कवित माँझ तहँ जानिये, दृष्टान्ता पै सोइ॥
—अलङ्कार प्रकाश

जग समूह जुग धर्म जहँ, जिमि बिंबहि प्रतिबिंब।
सुकवि कहत दृष्टान्त है, जो मन दर्पन बिंब॥
—ललित ललाम

निदर्शन—

एक अर्थ की सरस जहँ, अर्थ दूसरो ठानु।
कवि भूषण कहि कवित में, तहाँ निदर्शन जानु॥
—अलङ्कार प्रकाश

सहस वाक्य जुग अर्थ को, जहाँ एक आरोप।
वरनत तहाँ निदर्शना, कवि जनमत अति ओप॥
—ललित ललाम

अनन्वय—

एकहि को जो कीजिये, उपमित अरु उपमान।
वाहि अनन्वय कहत हैं, कवि भूषण कवि जान॥
—अलङ्कार प्रकाश

जहाँ एक की बात को, उपमेयी उपमान।
तहाँ अनन्वय कहत हैं, कवि-मतिराम सुजान॥
—ललित ललाम

व्याज-स्तुति—

कीजै निन्दा पै जहाँ, बहुत बड़ाई होय।
करत बड़ाई निदई, जित व्याजस्तुति सोय॥
—अलङ्कार प्रकाश

निन्दा में स्तुति पाइये, स्तुति में निन्दा होइ।
व्याजस्तुति सो कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ॥
—ललित ललाम

अलङ्कार-प्रकाश की रचना संवत् १७०५ में होनी सिद्ध है और शिवराज भूषण की रचना संवत् १७३० में, जैसा शिवराज-भूषण के इस छन्द में मिलता है—

सम सत्रह सै तीस पर, शुचि वदि तेरह मान।
भूषण शिव भूषण कियो, पढ़ियो सकल सुजान॥

ललित ललाम संवत् १७१८ और संवत् १७१९ में रची गई है। (बूँदी नरेश भाऊसिंह का राज्य-काल १७१५ से १७३८ है) भूषण का महाकवि मतिराम से जेष्ठ होना सभी अन्वेषकों ने माना है। अलङ्कार-प्रकाश के रचना-काल से भी इसकी पुष्टि होती है। अलङ्कार-प्रकाश भूषण का प्रथम ग्रन्थ होना प्रतीत होता है। अलङ्कार-प्रकाश के अध्ययन से इन दोनों कवियों का सगा भाई होने का भ्रम भी दूर हो जाता है। इनका वंश भास्कर, मुन्शी देवीप्रसाद, श्री शिवसिंह सेंगर एवं श्री गुलामअली बिलग्रामी आदि ने भाई होना लिखा है। यद्यपि प्रमाण किसी ने नहीं दिया। इससे एवं इनकी आपस में घनिष्ठता होने से यह विदित होता है कि संभव है कि वे मौसेरे या ममेरे भाई हों। बनपुर से जाकर ये त्रयम्बकपुर में बसे, इससे भी सिद्ध होता है कि ये स्थान एक दूसरे के बिल्कुल समीप होंगे।

'शिवराज भूषण' का निम्नलिखित छन्द ही अब तक उनके वंश परिचय का आधार था। इस छन्द से भी उनका त्र्यम्बकपुर में बसना ही विदित होता है—

दुज कनौज कुल कश्यप, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्र्यम्बकपुर नगर, तरनि तनूजा तीर॥

अब यह प्रश्न है कि 'अलङ्कार प्रकाश' के उपर्युक्त छन्द व 'शिवराज भूषण' के छन्द में पिता के नाम में जो अन्तर मिलता है उसमें क्या रहस्य है। मेरा विचार यह है कि 'रत्नाकर' महाकवि भूषण के पिता रामेश्वर की उपाधि थी। जिस प्रकार ये मुरलीधर कवि 'भूषण' की उपाधि से प्रसिद्ध हुये उसी तरह उनके पिता रामेश्वर 'रत्नाकर' नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। कवियों में यह प्रथा थी कि अपना नाम अथवा उपनाम छन्द व भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए पदों में उपयुक्त स्थान पर रखते थे। इसी तरह भूषण ने इस छन्द में अपनी प्रसिद्ध 'भूषण' उपाधि के साथ-साथ अपने पिता रामेश्वर की 'रत्नाकर' उपाधि लिखना उचित समझा। अलङ्कार प्रकाश में छन्दों के साथ अधिकतर भूषण उपाधि से ही अपने को व्यक्त किया है। परन्तु वहाँ अपना नाम मुरलीधर भी लिखा जहाँ अपने पिता का वास्तविक नाम रामेश्वर कहा।

इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि उस काल में नाम रत्नाकर, सुधाकर आदि नहीं होते थे किन्तु रामेश्वर, शङ्कर, विश्वनाथ आदि नाम प्रचलित थे। इस ग्रन्थ का भूषण की अन्य रचनाओं की तरह प्रकाश में न आने का कारण यह होगा कि महाकवि भूषण उस काल में वीर-रस के प्रतिनिधि कवि विख्यात हो चुके थे और सम्भव है इस कारण 'अलङ्कार प्रकाश' को उन्होंने स्वयं भी ख्याति न दी हो।

उपरोक्त कुल बातों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि महाकवि भूषण छत्रपति शिवाजी के राज्यकाल में वयस्क थे और शिवराज भूषण की रचना उन्होंने छत्रपति शिवाजी के दरबार में संवत् १७३० के लगभग जाकर की थी। सम्भाजी एवं साहूजी के राज्यकाल में भी भूषण विद्यमान थे जैसा भूषण कृत 'शिवाबावनी' एवं उनके स्फुट छन्दों से सिद्ध ~~होता~~ है। सम्भाजी का राज्यकाल संवत् १७३६ से १७४६ तक रहा और साहूजी संवत् १७६६ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् कैद से छूटकर दक्षिण आये। काल विचार से भूषण का जन्म जैसे संवत् १६७० के लगभग माना जाता है इससे संवत् १७६४ में उनकी आयु ९४ वर्ष की होती है। १०० वर्ष की आयु के भीतर बहुत से कवियों ने अपनी रचनाएँ की हैं। भूषण का तो दीर्घायु होना प्रसिद्ध ही है, इसलिए ९४ वर्ष की आयु में साहूजी की प्रशंसा में रचना करना सम्भव ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वसनीय है।

कृष्ण-काव्य में प्रबन्ध-काव्य का अभाव क्यों ?

प्रो० कृष्णकान्त चौधरी एम० ए०

कृष्ण-चरित्र पर आज तक कोई प्रबन्ध या महाकाव्य हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत नहीं किया गया है। राम काव्य में राम के चरित्र सम्बन्धी जो महाकाव्य प्रबन्ध रूप में तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' नाम से उपस्थित किया वैसा प्रयास कृष्ण-चरित्र की दिशा में नहीं हुआ है। विविधता की दृष्टि से यद्यपि कृष्ण का चरित्र राम के चरित्र से कहीं अधिक व्यापक है, पर स्वतन्त्र रूप में कोई भी महाकाव्य कृष्ण चरित्र पर नहीं लिखा गया।

संस्कृत साहित्य में भी इसका अभाव खटकता है। संस्कृत साहित्य में कृष्ण सम्बन्धी काव्य तो बहुत व्यापक रूप में लिखा गया, लेकिन स्वतन्त्र रूप में कृष्ण के चरित्र पर कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया है। ऐसा महाकाव्य जिसमें कृष्ण प्रधान चरित्र हों और दूसरे अन्य प्रधान चरित्र के पूरक हों। भागवत, महाभारत, शिशुपाल-वध, गीतगोविन्द आदि महाकाव्य तथा अन्य काव्यों का प्रणयन तो हुआ, पर कृष्ण का चरित्र उसमें ऐसा चित्रित नहीं हो सका जो सभी दृष्टियों से हमारे समाज के लिए श्रेय हो और उनके जन्म से जीवन पर्यन्त तक का सारा वृत्तान्त उल्लिखित हो और कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन आदि से अन्त तक अपनी विविधताओं के साथ वर्णित हो, जैसा वाल्मीकि रामायण में हुआ है।

जहाँ तक 'महाभारत' का सम्बन्ध है यह कौरवों तथा पाण्डवों के बीच हुए युद्ध का ही वर्णन स्थल है। कृष्ण का भी चरित्र महाभारत महाकाव्य में आंशिक रूप से उपस्थित किया गया है। कर्मठ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, नेता एवं योद्धा के रूप में कृष्ण का जीवन महाभारत में अङ्कित हुआ है। थोड़ा बाल जीवन का भी चित्र देखने को यत्र-तत्र मिलता है। अगर 'श्रीमद्भागवत' के. कृष्ण को देखने का अवसर मिलता है तो उन्हें हम बाल एवं किशोर रूप में ही ज्यादा देखते हैं। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं का चित्र हमें वहाँ भी लक्षित नहीं होता है। फिर 'गीत गोविन्द' में तो उनके सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं की एकात्मक झाँकी का तो अभाव ही है।

अस्तु, संस्कृत साहित्य में कृष्ण-सम्बन्धी महाकाव्य का तो अभाव है ही, हिन्दी में भी इसकी कमी है। वैसे तो कृष्ण के सम्बन्ध में पुराणों आदि में भी बहुत कुछ वर्णन मिलता है, लेकिन काव्यात्मक ढङ्ग का नहीं। हिन्दी साहित्य में कृष्ण का जीवन सम्बन्धी काव्य तो बहुत अधिक मात्रा में प्रस्तुत किया गया है, लेकिन कृष्ण के चरित्र पर प्रबन्ध-काव्य तथा महाकाव्य का अभाव ही है। विद्यापति, सूर, नन्ददास, रीतिकालीन प्रायः सभी कवि, हरिऔध आदि ने कृष्ण-चरित्र पर सुन्दर गीतों का प्रणयन किया है लेकिन महाकाव्य एवं प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से सबके सब पीछे पड़ गये हैं। हाँ, थोड़ी 'बहुत हरिऔध जी को इस दिशा में सफलता मिली है। देशकाल के अनुरूप आपने कृष्ण को एक आदर्श कर्मयोगी के रूप में उपस्थित किया है जो महाभारत के बहुत समीप है। परन्तु इस महाकाव्य की भाषा इतनी जटिल और गंभीर है कि जन-साधारण इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं।

यद्यपि कृष्ण का चरित्र रोमांटिक है, तथापि महाकाव्य एवं प्रबन्ध-काव्य का अभाव है। यह प्रश्न बड़ा ही गंभीर और आकर्षक है। कृष्ण का चरित्र इतना विशद है कि उनके चरित्र की एक-एक घटना पर एक एक महाकाव्य एवं प्रबन्ध-काव्य लिखे जा सकते हैं। इस तरह का भाव-प्रवण चरित्र भारतीय जीवन में दूसरा नहीं है। इनके जीवन में बचपन से लेकर अन्त तक घटनाओं का अभाव नहीं है। यहाँ तक कि

इनका जन्म ही घटनाओं से आवृत्त है। देवकी के गर्भ में आते ही कृष्ण के जीवन की घटनाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। कारागार की चहार दीवारियों के अन्दर ही जन्म, फिर जन्म लेते ही रातों रात गोकुल जाना और वहीं बाल-जीवन-यापन एवं भरण-पोषण स्वयं महाकाव्य है। जीवन की ये करुण अद्भुत, वीररस पूर्ण घटनाएँ महाकाव्य की प्रेरक शक्तियाँ हैं। इतना ही नहीं इस तरह की अनेकानेक घटनायँ हैं। कंस तथा शिशुपाल का बध, नाग का नाथना, व्रज में गोपियों से प्रेम, फिर विरह, राक्षसों की हत्यायें, पूतना की अभिलाषा पूर्ति और वध, महाभारत का श्रीगणेश और अर्जुन का सारथी बनना आदि अनेकानेक ऐसे प्रसङ्ग हैं जिन पर महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य लिखना आसान है। लेकिन इतना बड़ा विशाल रोमान्टिक चरित्र होने पर भी 'रामचरित मानस' के समान प्रबन्ध-काव्य का अभाव खटकने वाली बात है। इसका कारण क्या है ?

कृष्ण चरित्र पर प्रबन्ध-काव्य का अभाव है इसका प्रथम कारण कृष्ण का माधुर्य है। कृष्ण के चरित्र में मधुरता इतनी है कि कवि प्रेम का दीवाना भक्त बन जाता है। कृष्ण के मधुर चरित्र से आकर्षित होकर कवि कृष्ण-सौन्दर्य का ही गीत गाता है। 'भागवत' ऐसे संस्कृत काव्य में भी कृष्ण का बाल रूप ही विशद रूप से अंकित हो सका है। हाँ, कृष्ण के जीवन काल की कुछ लीलाएँ भी उसमें अवतरित हुई हैं। कृष्ण की सहधर्मिणी राधा का तो रूप ही नहीं मिलता है। कृष्ण के रूप-माधुर्य का अवलोकन करके कवि लोक-मङ्गल तथा लोक-मर्यादा को बिलकुल भुला देते हैं। फल होता है कि कृष्ण के चरित्र का किशोरावस्था से आगे का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। गोपियों के कृष्ण के प्रति प्रेम में ही कवि उलझ कर रह जाते हैं। थोड़ा बहुत 'हरिऔध जी' के 'प्रिय प्रवास' में गोपियों के प्रेम का संक्षिप्त तथा कृष्ण के चरित्र का लोकनायक रूप अधिक निखर सका है। इसका कारण इतना ही है कि हरिऔध जी युग-धर्म की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। अतः महाभारत के कर्म-निष्ठ, राजनीतिज्ञ, युवक कृष्ण का रूप प्रिय-प्रवास में थोड़ा विस्तार के साथ देखने को मिलता है।

कृष्ण-चरित्र पर प्रबन्ध-काव्य के अभाव का कारण श्री बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का नया मत भी है। भक्ति के क्षेत्र में पुष्टिमार्ग की स्थापना कर, श्री कृष्ण को ब्रह्म मान कर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत् चित के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा है और सगुण को व्यवहारिक या मायिक बताया है। इसके ठीक विरुद्ध बल्लभाचार्य ने ब्रह्म के सगुण रूप को ही असली या पारमार्थिक समझा। फिर बल्लभ ने प्रेम-साधना में लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा दोनों को गर्हित ठहराया। अतः इस युग के कवियों ने अपनी प्रेम-लक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण के मधुर रूप को ही पर्याप्त समझा। परिणाम स्वरूप कृष्ण-भक्त कवियों ने फुटकल शृंगारिक रचनाएँ कीं। इनके पदों में न जीवन के गम्भीर-पक्षों का मार्मिक वर्णन उपस्थित हुआ और न उसकी अनेक-रूपता ही प्रकट हुई।

श्री बल्लभाचार्य की इस भक्ति पद्धति पर देश-काल का भी प्रभाव पड़ा। देश में उस समय तक मुसलमानी साम्राज्य दृढ़ हो चुका था। सिर्फ दक्षिण में एकाध हिन्दू-राज्य बच गये थे। इसके साथ ही इस्लामी संस्कार तो जमता ही जा रहा था। सूफीमत का प्रचार भी हो रहा था। ऐसी अवस्था में वेद-मार्ग तथा मर्यादा का पालन असम्भव था। इतने पर भी निर्गुण पंथ के अनुयायी जन-साधारण की श्रद्धा एवं आस्था पर चोट कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में श्री बल्लभाचार्य ने देश-काल के अनुरूप पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया, जिसका अपनाना लोगों के लिए आसान हो गया। श्रीकृष्ण के मधुर रूप ने तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक मनोवृत्तियों का परिष्कार किया और बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में

(शेष पृष्ठ ३५९ पर देखिये)

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद

श्री राजेन्द्रमोहन शर्मा 'शृङ्ग'

परिवर्तन जग का अटूट नियम है और चूँकि 'साहित्य समाज का दर्पण है'। अस्तु समाज में परिवर्तन के साथ साहित्य में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि हमें अपने काव्य-क्षेत्र में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। विविध वाद परिवर्तन इसके प्रमाण हैं। यद्यपि रहस्यवादी एवं छायावादी काव्य ने हिन्दी-साहित्य की कलात्मक अभिवृद्धि की। किन्तु आदर्श को ग्रहण कर यथार्थ की ओर से कोई आँख नहीं मूँद सकता। अस्तु मनुष्य ने कल्पना को छोड़ यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया एवं तब उसके हृदय से जो भाव प्रसूत हुए, उनमें यथार्थ जीवन का चित्रण था। आधुनिक कवि के अन्तर से निकली ये पुकार ही प्रगतिवाद थी। प्रकृति सौन्दर्य का प्रेमी कवि पन्त भी इसकी उपेक्षा न कर सका और उसकी हृत्तन्त्री से निम्न शब्द फूट पड़े—

कहाँ खोजने जाते हो ?
सुन्दरता औ आनन्द अपार।
इस मांसलता में अङ्कित है,
सकल भावनाओं का सार।

प्रगतिवाद शब्द बड़ा सार्थक है। 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है आगे, और गति का अर्थ है बढ़ना। अस्तु यदि हम दोनों को जोड़ दें तो प्र+गति=आगे बढ़ता हुआ। इस प्रकार जो विचारधारा हमें आगे बढ़ने की ओर प्रवृत्त करे वह प्रगतिवाद हुई।

समाजवादियों के अनुकूल "प्रगतिवाद वह काव्य है जो कृषक, दलित एवं शोषित वर्गों के सुख दुःख को वाणी देने का दावा करता है।"

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि जिस काव्य में हमें सर्वहारा वर्ग का चित्रण मिलता है वह काव्य प्रगतिवादी है।

प्रगतिवाद का लक्ष्य लोक कल्याण है। आज कवि ताजमहल को देखकर कह उठता है :—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जहाँ विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन॥
—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

प्रगतिवाद और यथार्थवाद में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रगतिवाद पर रूसी मार्क्सवाद का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जिसके कारण ही इसके विषय फावड़ा और कुदाल चलाने वाले श्रमिक एवं हल लेकर खेत जोतने वाले किसान हो सके।

वैसे तो सभी साहित्य सृष्टाओं ने प्रगतिवादी रचनाएँ की हैं एवं की जा रहीं हैं। किन्तु कुछ की रचनाएँ उत्कृष्ट कही जाने योग्य हैं। अधिकांश हिन्दी के कवि प्रगतिशीलता की आड़ में अश्लील रचनाओं की सर्जना कर रहे हैं। 'प्रगतिशील धारा के मुख्य कवि हैं :—उदयशङ्कर भट्ट, बचन, दिनकर और नरेन्द्र। भट्टजी की विवेचना दार्शनिकता लिए है। बचन जीवन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों के साथ घुलमिल जाने में बड़े प्रवीण हैं। आज उनकी सृष्टि में कवि है, लय में दार्शनिक। अञ्चल की वाणी में लय और हुङ्कार है। दिनकर की प्रेरणा भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। नरेन्द्र मस्तिष्क से प्रगतिशील है किन्तु हृदय से रोमांटिक।'—(युगारम्भ में भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

लीजिए अब कवि अञ्चल की मार्मिक रचनाओं का रसास्वादन कीजिए :—

तू देख रहा दुःख की रजनी का,
ये वीराना अन्धकार।
पग-पग पर जिनके श्वान खड़े,
उन शिशुओं की तृष्णा अपार।
ये नस्ल जिसे कहते मानव,
कीड़ों से आज गई बीती।

बुझ जाती तो आश्चर्य न था,
हैरत है पर कैसे जीती।

—अञ्चल 'किरणवेला' की पन्थदान नामक कविता में

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने आज के मानव की दुर्दशा का कितने मार्मिक शब्दों में चित्रण किया है कि आज मानव की दशा पशु से भी गई बीती हो गई। कवि को तो यही आश्चर्य है कि ये जी किस प्रकार रही है।

निम्न पंक्तियों में भी कवि की उक्ति कितनी मर्मस्पर्शी है एवं इसमें कितना अधिक कटु सत्य है —

और यही परिवार खड़ा है,
भूखे शिशु अकुलाती माता।
बच्चे से जिसको बस केवल,
पैदा कर देने का नाता।

—अञ्चल 'सर्वहारा' से

कुछ अन्य उदाहरण भी देखिए: —

गाज गिरी श्रमिकों के सुख पर,
फूली धन सत्ता इतराती।
फाड़ गया हो जैसे कोई,
फोड़ों से धुँधआती छाती।
दिन भर प्राण जलाते धू-धू,
ये पशु से जघन्य कृश जर्जर।
सन्ध्या को ले चुसी हड्डियाँ,
आते भिखमङ्गों से कातर।

— अञ्चल 'सर्वहारा' में

अञ्चल की उपर्युक्त कविता में श्रमिकों, कृषकों, दरिद्रों आदि के प्रति कितनी गहरी सहानुभूति है। ये पाठकगण स्वयं अनुभव कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अञ्चल के चित्रण में वास्तविकता है, मार्मिकता है और साथ ही इन शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति की एक हुङ्कार है। जो शोषकगण दरिद्रों, कृषकों एवं श्रमिकों का शोषण कर रहे हैं एवं जिन्होंने मानव की वह दुर्दशा करदी है कि कवि अञ्चल ये कहने को बाध्य हुए कि—"ये नस्ल जिसे कहते मानव कीड़ों से आज गई बीती……" अञ्चल के इस प्रगतिवादी चित्रण में पत्थर से पत्थर मानव को भी पिघलाने की शक्ति है।

अब लीजिये श्री रामधारीसिंहजी 'दिनकर' को जिन्होंने कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रगतिवादी चित्रण किया है। 'दिल्ली' नामक कविता की निम्न पंक्तियाँ कितनी मर्मस्पर्शी हैं :—

वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेध की रानी दिल्ली।

कवि दिल्ली को धिक्कारने लगता है और दिल्ली से भी कह उठता है कि ओ दिल्ली तुझे अपने वैभव की पड़ी है, जब कि तुझ ही में कृषकों को सताया जा रहा है। उनका शोषण हो रहा है।

कवि दिनकर की निम्न पंक्तियों का चित्रण कितना करुणोत्पादक है। इन पंक्तियों में शोषकों की नीति का कितना स्पष्ट दर्शन मिलता है। यथा—

देख कलेजा फाड़ दे रहे,
कृषक आज शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही,
वैभव की ऊँची दीवारें॥

—दिनकर : 'हाहाकार' नामक कविता

उपर्युक्त पंक्तियों के अतिरिक्त भी निम्न पंक्तियों में कितना नग्न चित्रण कवि ने शोषितों की स्थिति का खींचा है —

ऋण शोधन के लिए दूध घी बेच बेच धन जोड़ेंगे।
बूँद बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे॥
शिशु मचलेंगे देख देख जननी उनको बहलाएगी।
मैं फाड़ूँगी हृदय लाज से आँख नहीं रो पाएगी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि दिनकर के हृदय में भी शोषक वर्ग के प्रति एक विद्रोह छिपा है जो शब्दों का रूप लेकर उनके काव्य में फूट पड़ा है।

अब आप प्रगतिवादी विचार धारा के तृतीय स्तम्भ श्री नरेन्द्र शर्मा के काव्य का रसास्वादन कीजिए—

यहाँ बिलखते लाल देख लो,
और निरक्षर युवक कुमार।
वञ्चित व्यथित युवतियाँ देखो,
कुम्हलातीं कलियाँ सुकुमार।

जग को जो भोजन देते हों,
आज उन्हें भूखा देखो।
और दूसरी ओर देखलो,
धन-मद, यौवन-मद, व्यभिचार।
—नरेन्द्र शर्मा 'प्रभातफेरी' पृ० ११३

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि नरेन्द्र शर्मा ने कृषकों की विषम परिस्थितियों का कितना मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। कवि के शब्दों में आज कृषक की यह परिस्थिति इन शोषकों ने करदी है कि वह स्वयं अन्न उपजाता है किन्तु स्वयं उसे अन्न का अभाव रहता है। जब कि शोषक वर्ग अपने रास-रङ्ग में व्यस्त रहता है। उसे अन्नाभाव की चिन्ता कैसी ?

श्री नरेन्द्र शर्मा की 'प्रभात' शीर्षक कविता प्रगतिवादी विचारधारा लिए हुए है। कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

आओ हथकड़ियाँ तड़का दूँ,
जागो रे नत शिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासों में,
आज फूँक दूँ लो नवजीवन।
भर दूँ उनमें तूफ़ानों का,
अगणित भूचालों का कंपन।
प्रलयवाहिनी हो स्वतंत्र हो,
तेरी ये साँसें बन्दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि नरेन्द्र शर्मा का दृष्टिकोण भी प्रगतिवादी है। कवि नरेन्द्र के भावों में ओज है और इन शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति की हुङ्कार निहित है।

श्री अञ्चल, श्री नरेन्द्र शर्मा एवं श्री रामधारीसिंहजी 'दिनकर' के अतिरिक्त भी अन्य कवियों ने साहित्य में प्रगतिवादी अभिव्यञ्जना की है। उनमें श्री भगवतीचरण वर्मा, डॉ. सुधीन्द्र, डॉ शिवमङ्गलसिंह 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि हैं—।

श्री भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं का भी आस्वादन कीजिए ;—

वें भूखे अधखाए किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें।
नंगे बच्चे चिथड़े पहने माताएँ जर्जर डोल रहीं।
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही धूल उड़ाती हैं राहें।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने कृषक की दीन दशा का परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त भी भैंसागाड़ी नामक कविता में प्रगतिवाद की अभिव्यक्ति बड़े ही मोहक ढङ्ग से हुई है। यथा—

चाँदी के टुकड़ों को लेने, प्रतिदिन पिसकर भूखों मरकर।
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ जा रहा, चला मानव जर्जर॥

कवि सुधीन्द्र की 'प्रलय वीणा' नामक रचना में प्रगतिवादी अभिव्यञ्जना हुई है। यथा—

एक ओर समृद्धि थिरकती,
पास सिसकती है कङ्गाली।
एक देह पर एक न चिथड़ा,
एक स्वर्ण के गहनों वाली॥
उधर खड़े हैं रम्य महल,
वे आसमान को छूने वाले।
और बगल में बनी झोंपड़ी,
जिसके छप्पर चूने वाले॥

इन पंक्तियों में भी दीनों की आहों की कितनी स्पष्ट अभिव्यञ्जना हुई है। साथ ही ये पंक्तियाँ हृदय पर सीधी चोट करने वाली भी हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'जूँठे पत्ते' एवं 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ' शीर्षक कविताएँ भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण लिए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवाद, यथार्थवाद का ही दूसरा नाम है। प्रगतिवाद की निम्न विशेषताएँ हैं—

१—ईस विचारधारा की रचनाओं में मूलतः शोषक के प्रति शोषितों के उद्‌गार चित्रित किए जाते हैं।

२—प्रगतिवाद यथार्थवाद का ही पोषक है, आदर्श का नहीं। जो है, वही सत्य है; जो होना चाहिये उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

(३) इसके विषय फावड़ा और कुदाली भी हैं। क्योंकि ये मार्क्सवाद से प्रभावित है।

(४) प्रगतिवादी प्रत्येक वस्तु की आलोचना आर्थिक कसौटी पर रख कर करते हैं।

(५) मानवी श्रम में विश्वास करता है।

(६) प्रगतिवादी रचनाओं के छन्द भी स्वतन्त्र हैं एवं भाषा स्पष्ट तथा कटु है।

(७) इसमें क्रान्ति की हुङ्कार होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रगतिवादी रचनायें साहित्य में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती है। आज का युग वैज्ञानिक युग है। अस्तु जब तक ये युग वर्तमान है प्रगतिवादी रचनाएँ निरन्तर होती रहेंगी।

प्रगतिवाद का सूखा-सा कंठ

श्री रामयाद झा एम० ए०

[इसमें प्रगतिवाद की कुछ न्यूनताओं की ओर संकेत किया गया है। पाठकों को दोनों ही पक्षों से अवगत कराने के लिये हम दोनों लेख दे रहे हैं।]

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावादी काव्य-धारा के उपरान्त प्रगतिवाद की उत्पत्ति हुई। छायावादी कविताओं में जब जीवन-विच्छिन्न तथा युग-निरपेक्ष तत्त्वों का समावेश हुआ, उनमें तरल, वायवी एवं अमूर्त्त कल्पना की मनोभूमि का शृङ्गार होने लगा, मादक सौन्दर्य-स्वप्नों तथा उद्दाम वैयक्तिकता की उत्ताल तरंगे हिलोरें लेने लगीं, तब इसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद साहित्य-भूमि पर आरूढ़ हुआ। वस्तुतः वह नूतन-नवीन स्वरों का उन्नायक-उद्घोषक सिद्ध हुआ। इधर छायावादी काव्य-प्रवृत्ति के प्रवर्तक और पोषक—प्रसाद, पन्त और निराला—'आँसू', 'उच्छ्वास' का व्यथा-भरा सङ्गीत सुनते थे, तारक-लोकों की झङ्कार में मस्त रहने वाली महादेवी "मैं नीर भरी दुःख की बदली" में अरूप के प्रति विचित्र सजीला गीत गाती थीं, उधर भारतीय जन-जीवन के वक्षस्थल में उद्बुद्ध होने वाले स्पन्दन सर्वथा उपेक्षित थे, क्षण-क्षण भूख की प्रचण्ड ज्वाला से तिलमिलाती जनता के सूखे अधर एवं मौन-दारिद्रय गुमसुम कुछ संकेत करते थे। १९३६ ई० में प्रेमचन्द के सभापतित्व में होने वाली प्रगतिशील-सङ्घ की प्रथम बैठक उसी संकेत का प्रतिरूप थी। इसके पूर्व ही साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन एवं युग-मानस से सम्पृक्त-एकरस करने के लिए जिनेवा में रोलाँ, जीद, हक्सले, ज्वायस, गोर्की, हेमिंग्वे आदि की संरक्षकता में प्रगतिशील साहित्य-सङ्घ की स्थापना हो चुकी थी।

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद का आरम्भ छायावाद के अग्रदूत—पन्त और निराला की रचनाओं से ही होता है। पन्त की 'युगवाणी' युग की समष्टिगत चेतना की अभिव्यक्ति न होकर, मार्क्सवाद के सिद्धान्त-दर्शन का काव्यात्मक-संश्लेषण है। वास्तविक प्रगतिशीलता और विकसनशीलता की दृष्टि से अनेकानेक काव्यकार प्रगतिवादी हैं और उनकी काव्य-रचनायें प्रगतिशील हैं—निराला, पन्त, दिनकर, तथा हिन्दी के नितान्त प्रौढ़ कवि कलाकार गुप्तजी आदि। किन्तु आधुनिक विशिष्ट प्रगतिशील साहित्य के कवियों में शिवमङ्गल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा, अञ्चल, महेन्द्र भटनागर, रांगेयराघव आदि प्रमुख हैं। इन प्रगतिवादी युग द्रष्टाओं के काव्यरूपों में जनवादी इच्छाओं, लोक-जीवन की भाव-धाराओं, शोषितवर्ग के हाहाकार, आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न पीड़ा, दैन्य-दारिद्रय और अभाव को मुखरित करने का प्रयास है। परन्तु, है यह प्रयास ही। आज प्रगतिवाद के इन उद्घोषकों का कण्ठ सूख-सा रहा है, हिन्दी काव्य का यह विशिष्ट चिन्ताधारा क्षीण-सी हो रही है।

इस विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति की क्षीणता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गंभीर कारण है—इसका एक विशेष मतवाद की सीमा में आबद्ध होना। साहित्य-क्षेत्र में समय असमय एक निश्चित सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन तथा विशेष मतवाद का तराना छेड़ देना साहित्य को अपने लक्ष्य से वंचित कर देना है, तब साहित्य रचनात्मक न होकर प्रचारात्मक हो जायगा; हृदय का

सहज-सरल उद्गार न होकर मस्तिष्क का जटिल सिद्धान्त बन जायगा। प्रगतिवादी कवि शिवमङ्गलसिंह सुमन का दृष्टिकोण निछक्का मार्क्सवादी है। उनकी "मास्को अब भी दूर है" तथा "चली जा रही है बढ़ी लाल सेना" आदि कविताओं में रूसी विलक्षणताओं के प्रचार की निष्ठा है। नरेन्द्र शर्मा का काव्य तो प्रधानतः प्रचार-कला का पोषक है। "रूस के मैदान', 'चीन और हिन्दुस्तान' जैसी कविताओं में उनका यह दृष्टिकोण स्पष्टतः परिलक्षित होता है :—

"पेट काटकर महल बना है दुनिया के मजदूरों का,
लाल फौज जिसकी रखवाली रूस देश मजदूरों का।
चाहे अपने लोहू से हो चाहे झण्डों के नीचे,
लाल हमें करना दुनियाँ को लाल सितारे के नीचे।"

अतः एक अनिश्चित मतवाद की लीक पर चलने तथा प्रचार और प्रदर्शन की अभिरुचि रखने के कारण इस वर्ग का साहित्य सर्वथा उदात्त सिद्ध नहीं हो सका। मिटिङ्ग में होने वाले प्रस्तावों और मात्र नूतन-नवीन विचारणाओं के निरूपण से स्थायी साहित्य का निर्माण असम्भव है। व्यापक एवं उत्कृष्ट साहित्य की निर्माण-परक-धारा विशिष्ट वर्ग-सिद्धान्तों की सीमा में प्रवाहित नहीं होगी, वरन् वह तो अग-जग का स्पर्श करेगी; धरती के धूमिल कण से लेकर श्यामल तन आकाश तक पहुँचेगी।

जिस प्रकार समष्टि-रूपा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना में आनन्द-तत्त्व निहित हैं, उसी प्रकार काव्य की सर्जना और इसकी चरम सिद्धि दोनों में ही आनन्द-तत्त्व का प्राधान्य है। आनन्द के इसी अजस्र प्रवाह के कारण ही कविता हृत्तंत्री की कोमल झङ्कार प्रमाणित होती है और मस्तिष्क की ऐंठ से वंचित होती है। इस बुद्धिवादी तथा वस्तून्मुखी युग में भी साहित्य अपनी इसी विशिष्टता के कारण विशाल जन-समूह को आकृष्ट करता और समस्त भावुक हृदयों को आन्दोलित-मथित करने में सक्षम सिद्ध होता है। प्रगतिवादी कवियों ने काव्य के इस मूलाधार पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया; इसका मूल रस, चिरन्तन एवं शाश्वत सत्य ही विस्मृत हो गया। परिणामतः सम्पूर्ण प्रगतिवादी काव्य की काव्य-जनित प्राणवत्ता शेषप्राय होगई।

प्रगतिवादी काव्य-सृजन की सबसे बड़ी दुर्बलता है, उसमें अनुभूति का अभाव। वस्तुतः कविता विचार, चिन्तन और प्रयत्न से भिन्न अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति है। अनुभूति और भावना के अभाव में काव्य-रचना रीढ़हीन, निष्प्राण और जर्जर सिद्ध होगी। जीवन की वाह्य वास्तविकता काव्य का वस्तु-सत्य है और निरन्तर गतिमान आन्तरिकता उसका भाव-सत्य। किन्तु, भाव काव्य की प्राणधारा है, वस्तु उसकी जड़ देह मात्र। प्रेरणामयी भावात्मक मनोभूमि ही काव्य का मूलभूत आधार है। प्रगतिवाद की सीमा में आबद्ध कवियों में अनुभूति का अभाव है, इसका सर्व प्रमुख कारण नव-जागरूक आलोचक कामेश्वर शर्मा के शब्दों में यह है कि "हँसिया-हथौड़ा के नारे बुलन्द करने वाले प्रगतिवाद के इन वन्दों ने न तो कभी हँसिया थामी है, न हथौड़ा छूआ है" सुख और आनन्द के सृष्टा कृषक-मजदूरों के मौन-दारिद्रय की स्वाभाविक अभिव्यञ्जना के लिये यत्नशील इन कवियों ने मजदूरों की टोली के अभाव, पीड़ा, दुःख और क्लेश का अनुभव नहीं किया है। अतः इनकी अनुभूति अनभूत नहीं, अपितु पठित है, स्वाभाविक नहीं वरन् कृत्रिम है।

प्रगतिवादी काव्य-संग्रहों पर काल्पनिक रोमांस का संभार तो नहीं है, किन्तु सिगमंड फ्रायड के यौनवादी विचारों की गहरी छाप है। यथार्थवाद का आधार ग्रहण कर इस काव्य ने उद्दाम शृंगारिकता को महत्त्व प्रदान किया है; सम्पूर्ण काव्य उच्छृङ्खल यौन-परिकल्पनाओं से लदा भरा है। यों तो शृङ्गार रस हृदय के कोमलतम भाव की सहज अभिव्यक्ति है। विश्व-साहित्य की समृद्धि और समपन्नता में इस रस का विचित्र और विस्मयकारी योगदान है। स्पष्टतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी शृङ्गारिक काव्य-प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है। संस्कृत के काव्य-ग्रंथों

से लेकर हिन्दी के आधुनिकतम ंथों तक इसकी स्वाभाविक अभिव्यञ्जना हुई है समस्त रीतिकालीन साहित्य-धारा शृङ्गार की मोहक-मादक तरङ्गों से आलोड़ित-विलोड़ित है। वस्तुतः यह रस-काव्य की प्राण-धारा की उच्छल सङ्गीत है। एक-डेढ़ दशाब्दियों का यह प्रगतिवादी-साहित्य भी इस रस के प्राधान्य एवं वैशिष्ट्य को उपेक्षित नहीं कर सका। किन्तु, इसके ग्रहण करने में इन कवियों की रीति निराली थी, प्रस्तुतीकरण का ढङ्ग एकान्त अद्भुत और विचित्र था। अञ्चल ने मैकू का जो चित्र स्वरूप प्रस्तुत किया हैं, वह यथार्थतः वीभत्स रस की सृष्टि करता है तथा सर्वथा कुरुचि पूर्ण है :—

"तब मैकू का कुछ नशा घटा,
वह चला गया घर से बाहर
रह गई अकेली वह,
आधा शिशु बाहर था आधा अंदर।"

प्रगतिवाद के इन पोषकों ने यथार्थ के नाम पर बालरति, वृद्धरति, मृत्युरति आदि का चित्र प्रस्तुत किया। रमण के द्वारा खींचा गया यह चित्र ध्यातव्य है :—

"हाथ,
मटर के दानों पर जा,
जगा देते हैं एक सनसनी,
बिजली दौड़ जाती है,
एक झनझनी !"

यह सत्य है कि कतिपय चित्र रसात्मक भी बन पड़े हैं। नरेन्द्र ने "आज न सोने दूँगी बालम" तथा अञ्चल ने "सावन की मदभरी रात" में यौनवृत्ति का जो चित्र अङ्कित किया है वह स्वाभाविक तथा रसात्मक है। फिर भी यथार्थवादिता के नाम पर होने वाले उपर्युक्त प्रतिपादनों से तो साहित्य का सर्वयुगीन, सर्वकालीन एवं सार्वभौम तत्त्व—शिवम्—मर्माहत होता है। यह हिन्दी-साहित्य के विकास में गत्यवरोध की अग्रिम सूचना है।

प्रगतिवादी कवियों की सर्व-विशिष्ट दुर्बलता और कमजोरी है—उनकी निषेधात्मक धारणा। साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार में निष्ठा रखने के कारण वे सत्य का निषेध करते हैं, यथार्थ पर आवरण डालते हैं। उनकी समस्त रचनाओं तथा साहित्य-गत चिन्तनों में यह धारणा प्रमुख है। उनके मतानुरूप भारत स्वतंत्र नहीं हुआ है। भारतीय जनता के जनवादी स्वातंत्र्य-संग्राम में उनकी विजय नहीं, प्रत्युत् हार हुई है। उनके निषेध का यह बड़ा प्रमाण है। इस निषेधात्मक झुकाव पर आधार ग्रहण करके समृद्ध-सम्पन्न साहित्य की सृष्टि असम्भव है। विराट् मानव-समुदाय को अगणित-असंख्य स्वरूपों में प्रस्तुत करने वाला, उसके विशाल एवं अनेक विध अनुभव-खंडों की सहज अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला तथा मानव-हृदय में निहित समतत्त्वता और एकरूपता को स्वर प्रदान करने वाला साहित्य मात्र निषेध-जनित धारणा पर स्थिर नहीं हो सकता। इस वृत्ति में उच्च और उत्कृष्ट निर्माण सम्भव नहीं है।

(पृष्ठ ३७४ का शेषांश)

सामाजिक कारण भी ढूँढ़ने का प्रयास किया है। छायावाद में आये नारी एवं कोरे आदर्शवाद की तह में पहुँचते हुए वे लिखते हैं—"परन्तु ये सीमायें प्रायः उस युग के सम्पूर्ण मध्यवर्ग की हैं। उस मध्यवर्गीय विचारों के प्रतिनिधि गाँधीवाद में भी इसी तरह की असङ्गतियाँ दिखाई पड़ती हैं।" (पृष्ठ–३०) छायावाद का प्रगतिवाद की पृष्ठि में खो जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि बाद में चलकर उसमें ऐसी असङ्गतियाँ अवश्य उद्भूत हो उठी थीं जो समाज की माँगों के अनुरूप न थीं। पर छायावाद के अन्तर्गत ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ जन्म ले चुकी थीं। जिसकी आधारशिला बनाकर 'प्रगतिवाद' अपना सिक्का जमा सका। छायावाद के बिना आगे की प्रगति रुकी रहती इसमें रञ्च मात्र भी सन्देह करना सत्य से मुँह मोड़ना ही होगा।

छायावाद : विशेषताएँ और सीमाएँ

श्री रवीन्द्र

जिस प्रकार बेतार का तार ग्राहक (Reciever) आकाश-मण्डल में विचरती हुई विद्युत-तरङ्गों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि व लेखक अपने समय के वायु-मण्डल में घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है। अपनी इन बातों की पुष्टि करते हुए श्री गुलाबराय स्पष्ट स्वरों में कहते हैं कि साहित्य में अपने समय के जातीय भावों की छाप रहती है। (प्रबन्ध-प्रभाकर पृ० २६) अतः छायावाद को अभारतीय एवं विदेशी प्रभाव का परिणाम घोषित कर उसकी कटु आलोचना करने वाले सम्भवतः यह नहीं जानते कि छायावाद की सामाजिक भूमि क्या थी ! गम्भीर मनन एवं चिन्तन के उपरान्त भी कुछ विद्वानों को छायावाद में केवल त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ दिखलाई पड़ती हैं। फलतः अपने लेखों का वे निष्कर्ष निकालते हैं—अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामञ्जस्यता, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विफलता ही छायावाद का आधार है। (साहित्य-सन्देश, अक्टूबर ५५, पृ० १६५) इन आक्षेपों के वैज्ञानिक विवेचन के लिए छायावाद की प्रवृत्तियों के मूल स्रोत को ढूँढ़ना अत्यावश्यक है।

छायावाद का आविर्भाव उस समय हुआ जब साहित्य द्विवेदी-युग के नीतिमत्ता, बौद्धिकता, उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मक प्रणाली के कठोर कर-पाशों में आबद्ध हो कराह रहा था। उसे सदियों से चली परम्परागत रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा से सिक्त कठोर तथा स्थूल रास्ते पर अपनी गाड़ी खींचने को विवश किया जा रहा था। इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप छायावाद फला-फूला जिसके बीज में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था, बौद्धिकता के स्थान पर कल्पना-प्रवणता का आह्वान था और था उपदेशात्मकता के प्रति वैयक्तिक वेदना तथा सौन्दर्य के प्रति अपरिमित अनुराग। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें शृंगारकालीन काव्य की रसमयता तथा भक्तिकालीन रचना की तन्मयता—दोनों का अद्भुत सामञ्जस्य है।

छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद आदि विभिन्न वादों में प्रायः लोग उलझ जाते हैं। वस्तुतः एक होने पर भी अपनी विविधता तथा उन्मुक्तता के कारण यह कविता कभी रहस्यवाद कहलायी तो कभी स्वच्छन्दतावाद से सम्बोधित हुई। मूलतः कविता एक थी पर जब स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह परिलक्षित हुआ तो 'छायावाद', फिर जब सामाजिक और काव्य सम्बन्धी रूढ़ियों के विरुद्ध उन्मुक्त अभियान किया तो 'स्वच्छन्दतावाद' और जीव, जीवन तथा जगत के रहस्यों के प्रति जब यह उत्कण्ठित हुई तो 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारी गई।

साहित्यकार समाज की इकाई होने के नाते उसके भीतर होने वाली विभिन्न प्रतिक्रियाओं से स्वयमेव प्रभावित होता रहता है। अतः उसके हृदय से प्रस्फुटित काव्य व्यक्तिगत भावनाओं के साथ ही साथ समाजगत अनुभूतियों से भी अनुप्राणित होता है। १९ वीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसन्धानात्मक उत्पादक शक्ति से उत्पन्न एवं विकसित पूँजीवाद और उसके शोषण ने समाज को विनाश, पीड़ा एवं व्यथा के साम्राज्य में ला छोड़ा। साथ ही स्पिनोजा के 'निसर्ग-वाद' और हिगेल के 'विज्ञानवाद' से प्रभावित पश्चिमी साहित्य के प्रभाव के कारण आँसू और वर्षा में कोई अन्तर नहीं रह गया। इसीलिए महादेवी ने लिखा 'मैं नीर भरी दुख की बदली' या 'सजनि मैं उतनी सजल हूँ जितनी सजल बरसात' पर इन आँसुओं का

सामाजिक अवमूल्यन भी किया जा सकता है। कष्ट एवं प्रताड़ना से जर्जरित समाज की प्रतिक्रिया के स्वरूप कवि या तो विद्रोह करता या निराशा के गीत गाता। पर विद्रोह के लिए जो जागरूक अन्तःप्रवृत्ति तथा कर्मठ जीवन अभीष्ट था जिसका उस काल के कवियों के अन्तस्तल में नितान्त अभाव था। कवि स्वयं उस मिट्टी की उपज था जिसमें दुख-दैन्य. एवं निराशा जन्म पा रही थी। यही कारण है कि महादेवी 'दुख' को ही अपना जीवन-दर्शन का मूल हेतु मान बैठीं। बचन विरह के गीत गाने में नहीं हिचके तथा प्रसाद ने 'आँसू' ऐसी अपूर्व रचना कर डाली।

वैयक्तिकता का प्रवेश छायावाद की प्रमुख विशेषता है। रीतिकालीन कवियों की रूढ़िग्रस्त, निर्लिप्त एवं अकर्तृत्व शृंगारिक रचनाओं के विपरीत छायावाद में आत्मा का निर्मुक्त एवं कल्पना का स्वच्छन्द आह्वान था। महादेवी की प्रायः सभी रचनायें आत्माभिव्यञ्जक है। महादेवी ने जब गाया—"मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश' तो बचन की लेखनी से 'इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।' प्रसूत हुई। फिर पन्त की भी भावनायें उद्भूत हो उठीं—'मैं मन्दहास सा उसके मृदु अधरों पर मँडराया।' निराला ने तो स्पष्ट लिखा—'मैंने, मैं शैली अपनाई'। कहने का तात्पर्य यह कि इस 'वाद' के प्रायः सभी अग्रगण्य कवियों ने डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर के इस विचार का कि 'कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है' एक स्वर में समर्थन किया।

प्रसार की दृष्टि से यह काव्य 'इहलोक' को छोड़कर परलोक की ओर आकृष्ट हुआ! कारण—'परलोक' की ओर उन्मुख होने पर कल्पना को अबाध गति मिली। वह उन्मुक्त होकर आकाशचारी बन गई। और कविता इतनी स्वच्छन्द हो उठी कि कई स्थलों पर नीति विद्रोह भी कर उठी। बचन के 'हालावाद' तक ही सन्तुष्ट न होकर एक कवि ने तो यहाँ तक लिख डाला—

'यों भुजकर हिये लगाना है क्या कोई पाप।
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप कलाप॥'

पर इन कवियों की एक मुख्य विशेषता थी। धर्मान्धता का बहिष्कार तो किया, पर० 'पुरातन' के प्रति उनके हृदय में सदा सम्मान तथा श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित होता रहा। 'प्रसाद' के रचना-क्षेत्र से इसका निश्चित प्रमाण प्राप्य है। क्या काव्य और क्या नाटक सभी के कल्पना का क्षेत्र अतीत के गौरव से ही अनुप्राणित हैं। कविवर पन्त आज के अनैतिक वातावरण से क्षुब्ध होकर लिखते हैं—

'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल।'

काव्य का समाज से सदा का सम्बन्ध रहा है। पर छायावाद में जिस काव्य का हमें परिचय मिलता है, वह समाज का अनुवाद नहीं था। इसका सम्बन्ध समाज के स्थूल विषयक वस्तु चित्रण से न होकर उसके कार्य-कलापों में निहित प्रेरणा से है। क्योंकि सम्पूर्ण छायावादी कविता ही स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से अनुप्राणित है। पहले के तथ्य-परक कविता के स्थान पर भावपरक शैली ने अपना स्थान ग्रहण किया। क्या हुआ जो 'गुप्त' जी की तरह देश भक्ति से प्रेरित कवियों ने भारतवर्ष की सीमायें निर्धारित नहीं की! प्रसाद का स्वर—

'हिमालय के आँगन में उसे
प्रथम किरणों का दे उपहार....।'
या 'हिमाद्रि तुङ्ग-शृँग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती....'

तथा माखन लाल की वाणी

'मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक
मातृ-भूमि पर शीष चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।'

क्या उच्च देश भक्ति से अनुरञ्जित नहीं?

छायावाद ने समाज की अन्य समस्याओं का भी सूक्ष्म निरक्षण किया। व्यक्तिवाद स्वयं एक सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिक्रिया की देन है। युग-युग से उपेक्षित नारी जो पहले भोग की वस्तु समझी जाती थी, माया-मोह और अन्धकार की जीवित प्रतिमा के रूप में अङ्कित होती आई थी — वह छायावाद के दृष्टि-ताप से पिघल कर पवित्र बन चमक उठी। 'प्रसाद' की

'कामायनी' में काम-गोत्रजा श्रद्धा, नारी-भावना की पूर्णता की द्योतक है। कवि के ही शब्दों में—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग-पग-तल में····।'

तुलसी ने जहाँ नारी को 'सहज अपावन नारि' कहा है, वहाँ पन्त की दृष्टि उसके पवित्र रागमय चित्र से हटकर कहीं भटकी नहीं। उनकी लेखनी से फूट कर निकल पड़ी 'तापस बाला गङ्गा निर्मल'। चिर उपेक्षित एवं प्रताड़ित 'विधवा' निराला की दृष्टि में किसी देवी से कम नहीं। तभी तो उन्होंने 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी' कहकर उसकी मर्यादा की महत्ता को स्वीकार किया है।

ऊपर दिये गये वर्णन से यह निःसन्देह प्रतिपादित हो जाता है कि लोगों का आक्षेप कि छायावाद पलायनवादी कविता है—नितान्त भ्रामक एवं आधारहीन है। वस्तुतः अगर निरपेक्ष भाव से देखा जाय तो इसने प्रायः समाज के सभी उपेक्षित अङ्गों पर विचार किया है। यह दूसरी बात है कि छायावाद में वस्तु वर्णन न होकर वस्तु में अन्तर्निहित भाव का वर्णन होने लगा। प्रकृति निर्जीव न होकर सजीव हो उठी। गुप्त जी के स्पन्दनहीन प्राकृतिक दृश्य—

'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अङ्ग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।'

और महादेवी की चेतन प्रकृति

'आँखों में रात बिता जब
बिधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा।

में कोई साम्य ही नहीं। एक जब तथ्य निरूपण में ही शिष्ट हो नीरस और शुष्क है तो दूसरा मानवीयकरण के माध्यम से अपने प्राणों की स्फूर्ति ले आँखों के समक्ष एक जीता जागता चित्र बनाने में समर्थ है।

शैलीजन्य तथा छन्दगत इसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं। भाव पोषित शब्द तथा कोमल-कान्त पदावली जिसमें सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास हो और जो अपने भावों में तीव्र उत्कण्ठा एवं तड़प पैदा कर दे—इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। अगर कॉलेरिज की व्याख्या ठीक है कि "काव्य सर्वोत्तम क्रम में (विन्यस्त) सर्वोत्तम शब्द की संज्ञा है तो छायावाद अपने काव्य-क्षेत्र में अनूठा है। लाक्षणिकता (आभ्यांतर वर्णन हेतु नई भाव-भंगिमा) इसका विशेष गुण है। शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में लिखा—"आभ्यंतर प्रवाह-साम्य के आधार पर लाक्षणिक एवं व्यञ्जनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्यशैली की असली विशेषता है।" (आठवां संस्करण पृ० ६७१) कवियों ने प्रतीकों का स्वच्छन्द रूप से सहारा लिया। निराला की 'जूही की कली' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। पन्त ने भी लिखा है—

'सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर।'

जीव वैज्ञानिक इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि पक्षी कभी स्वप्न नहीं देखते। यथार्थतः कवि ने प्रकृति पर मानव चेतना का आरोप किया है।

किसी भी वस्तु के दो पक्ष होते हैं। दिन के प्रकाश के साथ रात्रि का अन्धकार भी पाया जाता है। इन विशेषताओं के साथ छायावाद की अपनी कुछ सीमायें भी हैं। यथार्थ रहित कल्पना का बाहुल्य होने के कारण कविता का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। सूरदास ने भी बाल-लीला का वर्णन किया है और पन्त ने भी। अन्तर केवल इतना है कि सूर ने बचपन का चित्र अङ्कित किया है और पन्त ने बचपन द्वारा देखी हुई भावाकुल सृष्टि का। अतिशय व्यक्तिवादी प्रणाली भी काव्य को एकांगी बना देती है। कविता सामूहिक चेतना है, व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं।

श्री नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में इन सब असङ्गतियों का

(शेष पृष्ठ ३७१ पर देखिए)

गुप्तजी के नारी पात्र

श्री त्रिलोचन पाण्डेय एम० ए०

प्रोफेसर धर्मेन्द्र का कहना है कि गुप्तजी ने नारी पात्रों के प्रति पक्षपात किया है। मुझे तो वे सूरदास की तरह नारी स्वभाव के विशेषज्ञ तथा मनोविज्ञान के पण्डित मालूम पड़ते हैं। करुणा भावना को व्यापक रूप में देखने वाला कवि उनका चलता हुआ वर्णन कर भी कैसे सकता था ?

एक समान तथ्य प्रत्येक श्रेष्ठ कवि की कृतियों में मिलता ही है—नारी की प्रधानता। वह चाहे कालिदास हो, शेक्सपीयर, वाल्मीकि हो या तुलसी, मिल्टन हो या गेटे तथा और कोई ही, उसकी रचनाओं में नारी को महत्त्व पूर्ण स्थान मिलेगा। न्यूमैन का तो यहाँ तक कहना है—"If the soul is to go into higher spiritual blessedness, it must become a woman····" वस्तुतः नारी ही मूल प्रेरक शक्ति होती है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा उसका स्थान ऊँचा हो जाता है। गुप्तजी ने नारी को पुरुष के विकास में निरन्तर सहायक माना है। पन्त की तरह "देवि, माँ, सहचरि, प्राण—" उसके अनेक रूप हैं।

एक कारण यह भी है कि काव्य की उपेक्षिताओं पर उनका ध्यान निरन्तर बना रहा। हिन्दी कविता की सुदीर्घ परम्परा में वीर गाथा काल से लेकर १९वीं सदी तक नारी का उच्च व अनुकरणीय रूप सामने आया ही नहीं। विद्यापति वयः सन्धि, दूतिकाभिसार में ही लगे रहे और नारी का रति-क्रीड़ा वाला रूप प्रधान रहा। चारण कवियों ने अपने आश्रय दाताओं की मधुर भावनाओं को जगाने के लिए उनका प्रणयन किया। निर्गुण सन्तों की हठयोग साधना में नारी प्रधान न रह सकी, तुलसी ने कामिनी रूपमें उसका खण्डन किया लेकिन पार्वती, कौशल्या, सीता आदि पात्रों द्वारा वे नारी महत्त्व का संकेत मात्र कर सके। महाकाव्य की सीमाएँ भी थीं। सूर की गोपियाँ दार्शनिक पक्ष में "पुष्ट जीव" का प्रतीक बनाई गईं, जिनके लिए मर्यादा का त्याग विधेय ठहराया गया। रीति-काव्य में नारी का विकास रूप निखरा, कवि गण ताक-झाँक में लगे रहे। जहाँ-जहाँ सुन्दरी पग स्पर्श करती थी, वे स्थल त्रिवेणी की तरह पवित्र हो जाया करते थे।

गुप्तजी ने इस प्रवृत्ति को समझा और अपने काव्य में नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पैरों के बल खड़ा कर दिया जो पुरुषों के बराबर कदम बढ़ा कर चल सकें। इस कल्पना को मूर्तिमान करने में गुप्तजी को भारत की प्राचीन नारियों से प्रेरणा मिली। नारी आधिभौतिक पक्ष में 'रति' का प्रतिरूप है, वह विश्व की मधुर कल्पना है और भारतीय परम्परा में पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रकट हुई है। साथ ही बौद्धिक, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वह उच्च है। हृदय की विशालता, सहानुभूति उसके आभूषण रहे हैं। गुप्तजी भी मनुष्य पर नारी का उपकार मानते हैं—

"दीन न हो गोपे, सुनो
हीन नहीं नारी कभी,
भूत दया मूर्ति वह मन से, शरीर से,
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से····।"

गुप्तजी के जितने भी काव्य हैं, इसी उपयोगिता के कारण नारी उनमें सदैव उज्ज्वल रूप में मिलती है। पहली रचना 'रङ्ग में भङ्ग' ही नव बधू को त्याग और वीरत्व की भावनाओं से समन्वित करती है। 'जयद्रथ बध' की उत्तरा पहले क्षत्राणी रूप में अभिमन्यु को युद्ध के लिए प्रेरित करती है। 'शकुन्तला' में नारी सम्मान दृष्टिगोचर होता है जो प्रौढ़ हो कर व्यापक होता गया है। 'सैरन्ध्री' में नारी असहाय हो कर भी

आत्म-सम्मान नहीं खोती। 'द्वापर' में यशोदा, कुब्जा और गोपिकाओं का हृदय खोला गया है। जहाँ तक यशोधरा का प्रश्न है, उसका विरह, पत्नी रूप, मातृत्व, स्वाभिमान सभी कुछ अपूर्व है। जीवन के इन द्विविध रूपों का चित्रण गुप्तजी की विशेषता है। 'साकेत' में सीता, उर्मिला, कौशल्या, सुमित्रा का उज्ज्वल पक्ष तो वर्णित है ही, युगों से उपेक्षित कैकेयी को भी उठा दिया है। सारा दोष दासी मन्थरा के सिर भी नहीं, परिस्थिति का है। यह विशेषता उसे सहानुभूति का पात्र बना देती है। उर्मिला-सीता का स्थिति-वैषम्य दो पंक्तियों में व्यक्त कर दिया है—

> "सीता ने अपना भाग लिया,
> पर इसने वह भी त्याग दिया।"

'भारत-भारती' में नारी की वर्तमान स्थिति पर भी प्रकाश है। कृषक स्त्रियाँ कोल्हू के बैल की तरह कार्य करती हैं लेकिन भर पेट अन्न प्राप्त नहीं होता। आज नारी कलह-कुशल है। जहाँ दो रहीं कि वाग्बाण बरसने आरम्भ हुए। कुल, शील, मर्यादा का कोई ध्यान नहीं, पति से अधिक आभूषणों पर ध्यान रखती हैं। उनकी इस शोचनीय स्थिति का उत्तरदायित्व गुप्तजी ने पुरुष पर रखा है। समाज में भी नारी की स्थिति सन्तोषजनक नहीं। विधवा वृन्द की संख्या बढ़ती जाती है, फिर भी बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह होते जा रहे हैं। कन्या-विक्रय तक होने लगा है, इसलिए सन्तोष-समृद्धि दूर होती जा रही है।

> "ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे,
> अपना किया अपराध उनके शीष पर हैं धर रहे।
> भागें न क्यों हम से भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ,
> पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियाँ।"

नारी पात्रों की इस अनेक रूपता में विविधता भी मिलती है और एकता भी। जहाँ तक स्वभाव का प्रश्न है सभी नारी पात्रों का विश्लेषण एक सा है जिनके हम तीन प्रधान वर्ग निर्धारित कर सकते हैं—

१—मातृरूप—मीनलदे, कुन्ती आदि।
२—प्रेमिका रूप—उर्मिला, यशोधरा आदि।
३—सामान्य—इन्द्राणी, मन्थरा आदि।

नारी चित्रण सम्बन्धी गुप्तजी की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा सकता है। इन्हें हम कह सकते हैं—(१) नारी का आदर्श रूप, (२) हृदय पक्ष की प्रधानता, (३) वात्सल्य भाव की मुख्यता, (४) अन्तर्द्वन्द्व की प्रवृत्ति, (५) मनोवैज्ञानिकता, (६) व्यवहार कुशलता, (७) जीवन में क्रियाशीलता, (८) रूप-सौन्दर्य, (९) करुणा की अन्तर्धारा और (१०) उत्तरोत्तर विकास।

चूँकि गुप्तजी नारी को मुख्य शक्ति के रूप में अधिष्ठित करते हैं, उसका चित्रण भी आदर्श मूलक करते हैं जो दूसरों के लिए उदाहरणीय बन सके। नैन नचाने वाली या छाले पड़ने के डर से गुलाबी झँवा का प्रयोग करने वाला स्वरूप यहाँ नहीं मिलेगा। रीति काव्य में व्याप्त विलास ग्रस्त नारी को उठा कर साधना, तपस्या के उच्चासन पर बिठा देना उनकी विशेषता है। गुप्तजी ने रीति काव्य की सड़ी गली संकुचित गलियों में भटकती हुई नारी को पुनः भारतीय गौरव से मण्डित कर दिया।

गुप्तजी के नारी पात्रों में हृदय की भावनाएँ अधिक व्यक्त हुई हैं। वे पुरुष की भाँति बुद्धि-प्रधान नहीं, इसलिए छल, कपट, द्वेष, ईर्ष्या के दुर्गुणों से दूर हैं। प्रेम की कई कोटियाँ (Degrees) होती हैं। रानकदे कहती है—

> "चुप चुप कामी चुप ! नाम न लो प्रेम का,
> प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय सी।
> सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है,
> मर के जिलाता वह, जीता नहीं मार कै।"

प्रेम की कसौटी है विरह, इसलिए उर्मिला, यशोधरा दोनों ही उसमें तप कर स्वर्ण सी निखर उठी हैं। विशेषता यह है कि अबला जीवन बिताती हुई ये नारियाँ अवसर पड़ने पर घोर सबला हो जाती हैं। उनका स्वभाव चरम सीमा पर जाने का होता है, निरन्तर आँसू बहाने वाली घोर से घोर कष्ट सह लेती हैं। द्रौपदी तो सिर के बाल खोल कर भीमसेन को

प्रतिशोध भावना से उद्दीप्त कर देती है। जितनी गहराई प्रेम में है, उतना ही उठाव मान में है।

वात्सल्य की प्रधानता प्रायः सभी नारी पात्रों में मिलेगी। वह तर्क प्रधान होती है, इसलिए भाव प्रवण होने से अन्तः सङ्घर्ष स्वाभाविक है। उसके जीवन में बाहर की हलचल नहीं है। बाह्य पक्ष गम्भीर और समुद्र सा अतल है जिसकी हलचल समझना कठिन है। बीसवीं सदी की हिन्दी कविता में इस क्षेत्र में या तो जयशङ्करप्रसाद को सफलता मिली है या फिर गुप्तजी को। उसकी एक-एक मनोवृत्ति को कैमरा के सत्य की तरह सामने रख दिया है। यह अन्तर्द्वन्द्व एकान्त में भी प्रस्फुटित हुआ है तथा सखियों से वार्तालाप करते समय भी। नारी जिस तथ्य को छिपाना चाहती है, छिपा भी लेती है। इस तुलनात्मक दृष्टि का उदाहरण रानकदे व सिद्धराज के वार्तालाप में देखा जा सकता है। यशोधरा कभी वियोग को कोसती है, कभी प्रियतम के अविश्वास पर क्षुब्ध होती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है उर्मिला। सङ्घर्ष होता है—इनसे क्या कहूँ? मैं क्या करूँ? चलूँ कि रहूँ? इसी निश्चय, अनिश्चय में नारी का हृदय पल्लवित होता है और कवि की पूर्णता भी इसी में है कि वह पात्र-विशेष के मन में उतर कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। अन्त में उर्मिला ने अपना कर्तव्य निश्चित कर ही लिया—

"कहा उर्मिला ने—हे मन,
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा,
है अनुराग विराग भरा।"

गुप्तजी ने उपेक्षित नारियों को तो अपने काव्य में अमर किया ही, उनका स्तर भी उठा दिया। भाव परिवर्तन जहाँ भी हुआ है उसका मानवीय आधार दिया गया है। मन्थरा, कैकेयी आदि पात्र इसके अन्तर्गत हैं। राम को कौशल्या से भी अधिक प्यार करने वाली कैकेयी आखिर क्यों इतनी निष्ठुर बन गई? सिर झुका कर चलने वाली द्रौपदी क्यों छाती तान कर खड़ी हो गई? यह दोष व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि मानव स्वभाव का है जो न तो बिल्कुल श्वेत होता है, न बिल्कुल श्याम! गुण-अवगुण, पूर्णता-न्यूनता सब में होती हैं। अनुकूल वातावरण पाकर कभी एक पक्ष उभरता हैं, कभी दूसरा। यह विश्लेषण हम गुप्तजी के नारी चित्रण में पाते हैं। कैकेयी के मन में द्वन्द्व चलता है, क्या वात्सल्य का जीवन में कोई अधिकार नहीं? जिसको जो कहना है, कहे, लेकिन वह अपना मातृ पद बनाए रखना चाहती है।

पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करने में, उच्च-नीच से पदानुसार व्यापार करने में नारी पात्र सजग हैं। सूर की गोपियों जैसा वाक् चातुर्य तो उनमें नहीं है, पर मौन या दीन-हीन वे नहीं हैं। 'साकेत' की कौशल्या कहती है, उनके मन में राम-भरत के लिए भेद नहीं है किन्तु सुमित्रा का स्वभाव भिन्न है जो सिंहिनी के समान गरज उठती है। गुप्तजी के नारी पात्रों में कोई निष्क्रिय नहीं मिलेगा। विरह भी है तो दो कोस का नहीं है। दैनिक कार्य न तो यशोधरा छोड़ती है, न उर्मिला। इस कारण उनका प्रेम कर्म-क्षेत्र की विविधता में अभिव्यक्त होता है। सीता भी कहीं बन में फूल लगाती है, कभी पर्णकुटी बनाने में सहायक होती है और जीवन का आनन्द प्राप्त करती है।

'सिद्धराज' में नारी पात्र अतिथियों का सत्कार करने में बड़े कुशल हैं। पशु-पक्षियों तक की सुधि रखते हैं। गाँव भर की सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती हैं और सामाजिक कार्य न रहने पर घर का उद्यान गोड़-सींच कर व्यायाम तथा काम करती है। इन नारी-पात्रों को तो 'आल-राउण्ड' कहना चाहिए। कितना भव्य सा ज्ञात चित्र गुप्तजी ने उपस्थित किया है—

'आश्विनी के ऊपर सुभव्य भाव भरिणी,
कृत्तिका सी वामियों के ऊपर चढ़ी हुई।
वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिए, दाहिने,
हाथ में लगाम धरे, बाँए हाथ में कसे।

क्षीण कटि, जटित विचित्र कटि बंधों से,
पीठ पर बाल छोड़े ढाल के से ढँग से····।"

ये नारी रूप-लावण्य में भी कम नहीं हैं। इस जगत में बाहरी साज सज्जा के स्थान पर भीतर का सौन्दर्य मिलेगा जो शरीर का कम है, आत्मा का अधिक है। अरुण पट पहने उर्मिला पर तो कवि की दृष्टि है ही जिसका अङ्ग-अङ्ग शाण पर चढ़ रहा है, उसकी भावुक दृष्टि सीता माता की सुघड़ता पर भी गई है। विशाल कच भार से जिसकी एड़ियाँ धँसती हैं और अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता है। प्रसाद ने ऐसे ही चरणों को चूम लेने की आकांक्षा प्रकट की थी। "गोल-गोल गोरी बाँहें" सदा से ही सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक रही हैं। गुप्तजी जब किसी काव्य में प्रधान नारी पात्र का स्थान निश्चित करते हैं तो आरम्भ में रूप सौन्दर्य की चर्चा भी अवश्य करते हैं। रानकदे पल्वल में हेम-नलिनी की तरह फूलती है, चारों ओर उसकी चर्चा है। वह अपने गीत गाने में इतनी तन्मय है कि—

"पालित मयूर वहाँ आता और देखता,
वीणा छोड़ वाणी वृत्त रचना में लीन है।"

तो काञ्चनदे का प्रतिबिम्ब ऐसा दिखाई देता है मानो चाँदी के सलिल में सोने की कमलिनी नत हो कर अरुण को पुलक पाद्य दे रही हो। वही नारी कभी पुरुष को बलपूर्वक आकृष्ट करने की चेष्टा करती है। बर्नार्ड शॉ ने भी नारी को मकड़ी जैसा माना है जो मनुष्य को अपने जाल में फाँस कर मक्खी जैसी चूसती रहती है।

इतना होने पर भी नारी-जीवन में करुणा की अन्तर्धारा मिलती है जो किसी पात्र में तीव्र हो गई है, किसी में बीच-बीच में परिलक्षित होती है। सुखी-शान्त जीवन व्यतीत करने वाली नारियों में भी करुण अवसर आये हैं और सुख में भी खेद, अवसाद के भाव उत्पन्न होते हैं। वे कहते हैं कि शोचनीय प्रसङ्ग उन्हें अच्छे लगते हैं—

'रुदन भी ऐसे समय में लगता बड़ा प्यारा हमें,
हे हरे! निर्मल करे यह नेत्र जल धारा हमें।"

सम्भवतः करुणा की यही अन्तर्धारा उनके नारी पात्रों को अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है। पाठक के मन में उसका चित्र हमेशा के लिए जम जाता है और 'यशोधरा' में तो कवि ने स्वयं अबला जीवन को आँचल में दूध व आँखों में पानी की करुण कहानी घोषित कर दिया है! अंग्रेजी कवि शैली ने भी यही कहा था—

"Our sweetest songs are those
That tell us of the saddest thought!"

जिस प्रकार गुप्तजी की काव्य-कला में धीरे-धीरे विकास हुआ है, उसी प्रकार नारी-चित्रण भी स्थूल से सूक्ष्म होता गया है। 'रङ्ग में भङ्ग' नारी का जो रूप प्रस्तुत करता है वह 'द्वापर' या 'सिद्धराज' में नहीं मिलेगा। उसकी रूप-रेखा 'पञ्चवटी' से निश्चित रूप ग्रहण करती है। अभी तक ऐसा प्रतीत होता है मानो गुप्तजी नारी पात्रों में भावों के प्रयोग कर रहे हों—कौन किसमें 'फिट' बैठता है। बाद में लेखक इतना अधिकार प्राप्त कर लेता है कि नारी पात्र ही क्रमशः प्रधान होते जाते हैं।

'पञ्चवटी', 'अनघ' तक स्त्री पात्र प्रायः गौण हैं; 'साकेत', 'यशोधरा' में उनका प्राधान्य हो गया है; 'सिद्धराज' और 'नहुष' में स्त्री ही पुरुष पर विजय प्राप्त कर लेती है—उसी की एक मात्र सता सभी पात्र स्वीकार करने लगते हैं। कवि स्वयं उनकी शक्ति का वर्णन नहीं करता—जैसा पहले करता था—अपितु काव्यात्मक रूप से व्यञ्जित कर देता है।

पात्र-निर्माण की दृष्टि से गुप्तजी को नारी पात्रों की सृष्टि में ही सफलता मिली है। 'हरिऔध' को 'राधा' के नवीन मानव रूप का गौरव है; प्रसाद 'श्रद्धा' और 'देवसेना' देकर हिन्दी साहित्य में अमर हो गए हैं तो मैथिलीशरण गुप्त 'उर्मिला', 'यशोधरा' की सृष्टि कर नारी-स्वभाव के विशेषज्ञ पद के स्वतः अधिकारी बन गए हैं।

साहित्य परिचय

आलोचना

मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)—लेखक–श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, प्रकाशक–विद्यामन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर। पृष्ठ २२२, सजिल्द, मूल्य ५)

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में डा० वासुदेवशरण लिखते हैं—"इसकी स्थापना चौंका देने वाली है।" द्विवेदीजी ने प्रस्तुत पुस्तक में ग्वालियरी-भाषा और उसके साहित्य का अनुसन्धान किया है। उन्होंने बताया है कि जिस भाषा को आज 'ब्रजभाषा' के नाम से अभिहित किया गया है वह वास्तव में मात्र ब्रज-प्रदेश की भाषा कभी नहीं रही—उसका प्रदेश सम्पूर्ण मध्यदेश रहा है। नाम को अधिक महत्त्व न देकर वे लिखते हैं—"आज समस्त मध्यदेशीय साहित्य की भाषा को ब्रजभाषा नाम देने को परम्परा ही नहीं चल पड़ी है, वरन् समस्त मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की भाषा को मथुरा-गोकुल के संकुचित क्षेत्र की स्थानीय शब्दावली, व्याकरण तथा प्रयोगों के मापदण्ड से परखने की रीति भी चल पड़ी है। यह भयङ्कर ऐतिहासिक विपर्यय है। ××× हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मान कर चलने वाली काव्य-भाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा।" इसमें सन्देह नहीं, द्विवेदीजी ने बड़े स्पष्ट, सोदाहरण और तर्क-सङ्गत ढङ्ग से अपनी स्थापनाएँ उपस्थित की हैं; पर० जब तक उनकी स्थापनाओं पर भाषा-शास्त्री अपने निष्पक्ष मत व्यक्त नहीं करते, तब तक वे स्थापनाएँ सम्भवतः मान्यता प्राप्त न कर सकें। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पुस्तक किसी भी कारण से विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित नहीं रहनी चाहिए। —महेन्द्र भटनागर

महादेवी की काव्य साधना और नीरजा—लेखक–श्री सत्यपाल बुध एम० ए०, प्रकाशक–भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली ५। पृष्ठ ३४५, मूल्य ५॥)

इस पुस्तक में महादेवीजी की भावधारा का वर्णन करते हुए उनके आधारभूत विचारों का विश्लेषण किया गया है। लेखक ने महादेवी जी के सम्बन्ध में इस भ्रान्त धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया है कि वे पद्य लिखने में पलायनवादिनी हैं और गद्य में शोषण और पीड़न के प्रति विद्रोहिनी हैं। लेखक ने मीरा और महादेवी जी का अन्तर बतलाते हुए कहा है कि मीरा में वैयक्तिक वेदना है और महादेवी के विरह में संसार के प्रति संवेदना भी है। यह पुस्तक महादेवी वर्मा की कृतियों के विशेषकर 'नीरजा' के, भावपक्ष और कलापक्ष को एक कलामय भाषा में समझाने में सहायक होगी।

साहित्यकार का दायित्व—सम्पादक गोपाल कृष्ण कौल, प्रकाशक–दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन। पृष्ठ ५०, मूल्य १)

साहित्यकार, नाटककार, उपन्यासकार, कवि, आलोचक और पत्रकार—इन छः तरह के लेखकों का क्या दायित्व है, इस विषय पर क्रमशः राहुल जी, उदयशङ्कर भट्ट, जैनेन्द्र कुमार, नरेन्द्र शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, बनारसीदास चतुर्वेदी के विचार इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। प्रथम विषय पर एक लेख सम्पादक का भी है।

कविता

विद्यापति के देश में—सम्पादक–श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, प्रकाशक–विद्यापति गोष्ठी, लहेरिया सराय, (दरभंगा) पृष्ठ १५२, मूल्य २)

मिथिला की भूमि साहित्य व दर्शन दोनों के लिए उर्वरा रही है और अब भी है। १६४८ में स्थापित विद्यापति-गोष्ठी के तत्त्वावधान में प्रकाशित यह संग्रह इसका प्रमाण है। इसमें अनेक प्रसिद्ध अप्रसिद्ध कवि हैं। रचनाएँ साधारण भी हैं असाधारण भी। परन्तु रचनाओं के साथ-साथ गोष्ठी के मन्त्री का वक्तव्य भी आकर्षक है। हिन्दी भाषा-भाषियों में कई दल हैं, किसी दल या व्यक्ति विशेष द्वारा उपेक्षित होने पर कोई जनपद कैसे क्षुब्ध होता है, यह मंत्री जी के वक्तव्य से स्पष्ट है। मंत्री जी को इस बात से तो सन्तोष होना ही चाहिए कि हिन्दी साहित्य के इतिहास पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है। क्या गोष्ठी मिथिला के हिन्दी-लेखकों का एक संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत नहीं कर सकती। उपेक्षा के साथ-साथ अज्ञान भी कारण हो सकता है। प्रतिभा व कवित्व को कोई नहीं दबा सकता। आज नहीं, कल उसका उल्लेख होगा।

मंत्री जी के इस वक्तव्य को हिन्दी के बृहत् इतिहास के लिखने वाले न पढ़ेंगे यह असम्भव है। हिन्दी का जो व्यक्ति जनपदीय भाषा के महत्त्व को नहीं समझता, वह हिन्दी का ही नहीं, संस्कृति का भी शत्रु है, परन्तु ऐसे तो बहुत से लोग हैं। मंत्री जी ने यह संग्रह प्रकाशित कर जो कार्य किया है, वह तो स्तुत्य है ही और भवभूति की पंक्तियाँ भी उन्हें स्मरण होंगीं तब चिन्ता क्या? संग्रह में केसरी, व्रजकिशोर वर्मा, अशान्त आदि कई कवियों की कृतियाँ सुन्दर हैं।

राधा-कृष्ण—लेखक–राजेश्वर नारायण सिंह, प्र०–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली। पृष्ठ १५०, मू० २॥)

हिन्दी में भावना से उच्छ्वसित गीतियों के साथ साथ कथात्मक काव्य भी बहुत से लिखे जा रहे हैं। कथा का सूत्र रहने से वर्णनों व अनुभूतियों का हार व्यवस्थित हो जाता है, स्वयं गुप्त जी इस कला में पटु हैं और 'राधा-कृष्ण' का कवि भी इस दिशा में सफल हुआ है। कर्त्तव्य व स्नेह का द्वन्द्व इस कृति में कई स्थलों पर मनोहर बन पड़ा है। शैली में भी प्रौढ़ता है परन्तु संस्कृत की तत्सम पदावली के प्रति कहीं कहीं अधिक मोह के कारण रुक्षता भी आ गई है। कवि का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

साधना—लेखक–उदयराज उपाध्याय 'उदय', प्रकाशक–भारतीय साधना समिति, अमरावती (म० प्र०) पृष्ठ १०६, मूल्य १)

'उदय' जी की काव्य-साधना का यह प्रथम पुष्प है। ऐसा लगता है कि उद्गारों ने बाँध तोड़ डाला है। ऐसी अवस्था में भाषा व अभिव्यक्ति के सँवारने सुधारने की ओर ध्यान जा ही कैसे सकता है। तूफान के अप्रतिहत वेग जैसा वेग इन कविताओं में मिला। 'पाल का रुख फेरो, वह देखो, आता ज्वार' पंक्ति गवाह है। जिन्दगी की परिभाषा में यहाँ मसान प्रस्तुत किया गया है जो ठीक ही है। राजदूत व कवि अपव्यय की चिन्ता न करें, यह शोचनीय है या अशोचनीय यह तो पाठक ही जानें। 'उदय' की साधना के इस 'अभ्युदय' से भी हमें आशान्वित तो रहना ही चाहिए, हरिऔध जी कह गए हैं—'आशा मेरे हृदय मरु की मंजु मन्दाकिनी है।'

रश्मि-हास—लेखक–श्री आनन्दवर्धन रामचन्द्र रत्नपारखी, प्रकाशक–सौ० इन्दुलेखा रत्नपारखी, विनय-नगर, नई दिल्ली। पृ० १५२, मूल्य २॥)

इस कविता संग्रह की प्रथम विशेषता है कि कवि

की कविता की प्रकाशिका स्वयं कवि की धर्मपत्नी हैं। आज के युग में यह बड़ी बात है। सहृदयता का परिचय घर से ही प्रारम्भ हो यह और भी अच्छा है। रत्नपारखीजी को शब्दों के रत्नों की परख इतनी अधिक है कि उनकी कविता में 'शष्पाञ्चित, चिरहरित पृष्ठ पर' पंक्तियाँ भार बन गई हैं। विना किसी अच्छे संस्कृत हिन्दी कोश के अर्थ समझना असम्भव है।

सप्त-दान—ले.–श्री 'आदर्श', प्रका.–श्री आदर्श प्रकाशन मन्दिर, दारागञ्ज, प्रयाग। पृ० ५८, मू० १।)

'आदर्श' जी की यह कृति कथा के पतले सूत्र पर कलाकारों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करने के लिए लिखी गई है। विद्यादान, जलदान, भूमिदान, तनदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान और प्रेमदान ये सप्तदान इस कृति के विषय हैं परन्तु कवि का स्वर शिक्षात्मक होने के कारण ऐसा लगता है कि यह कवि श्रमदान में कविता दान-कर रहा है। पुस्तक का समर्पण सन्त विनोवा भावे को हुआ है और सन्त ने प्रचार को 'आतङ्क' कहा है। साहित्य प्रेरक होता है, इस प्रकार कि पाठक अपने आप अनुभव करे कि उसे सप्तदान करना चाहिए। कवि यदि शिक्षक बनने का प्रयत्न कम करता तो यह कृति अधिक सफल हुई होती।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

उपन्यास

गुण्ठन—लेखक–श्री गुरुदत्त, प्रकाशक–भारतीय साहित्य-सदन, नई दिल्ली। पृ० ३७३, मूल्य ५)

श्री गुरुदत्त पुराने लेखक हैं। अब तक सोलह-सत्रह उपन्यास लिख चुके हैं। वे प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के समर्थक हैं। इसलिए अपने उपन्यासों में वे वर्तमान राजनीति, समाज और धर्म की दशा से विरोध प्रकट कर भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे अपने उपन्यासों में कथा ऐसी चुनते हैं जिससे उन्हें अपने पक्ष के मण्डन और विपक्ष के खण्डन में सुविधा रहे। प्रस्तुत उपन्यास को ही लीजिए। इसमें संयुक्त परिवार-प्रथा की स्थापना उनका ध्येय है। एक हिन्दू परिवार उन्होंने लिया है, जिसके संरक्षक-व्यवस्थापक हैं श्री भगवतस्वरूप। वे एक फर्म में नौकर हैं, और जब से नौकर हुए हैं उसी में रहे हैं। उनके पाँच बच्चे हैं—दो लड़के विनोद और भूषण और तीन लड़कियाँ, कान्ता, केला और शोभन। विनोद की शादी के मामले को लेकर उपन्यास आगे बढ़ता है और विनोद एक मद्रासी ईसाई की लड़की नलिनी-जोजफ से शादी कर के अलग रहने लगता है। कान्ता और भूषण कालिज में पहुँच जाते हैं। कान्ता का परिचय नलिनी के भाई जार्ज से होता है। लगता है जैसे कान्ता भी जार्ज से बँधेगी पर जार्ज दूसरी क्रिश्चियन लड़की से शादी कर लेता है। छोटा लड़का भूषण भी एक क्रिश्चियन लड़की मीनाक्षी से प्रेम करने लगता है लेकिन अपने बड़े भाई विनोद की जब वह इस स्थिति को देखता है कि उसकी पत्नी नलिनी एक 'सोसाइटी गर्ल' है तो उसका मन बदल जाता है। वह मीनाक्षी से तब शादी करता है जब वह भारतीय बन जाती है। विनोद अपनी पत्नी के शरीर के मूल्य पर बहुत ऊँचा पद पाता है पर अन्त में उसे निराशा ही हाथ लगती है। कान्ता की शादी एक व्यापारी के पुत्र के साथ होती है। कला के पीछे गोविन्दप्रसाद नामक एक सम्भ्रान्त युवक भ्रमर की भाँति घूमता है। पर वह उसे राखी बन्द भाई ही बना पाती है। अन्त में होता यह है कि नलिनी जोजफ, मीनाक्षी दोनों भगवतस्वरूप के परिवार में आती हैं। लड़के भी सँभल जाते हैं। उपन्यास लेखक ने संयुक्त परिवार का चित्र यों खींचा है—"जो भी सम्बन्धी परिवार में रहना चाहेगा वह रह सकेगा। परिवार के सदस्य दो प्रकार के रहेंगे। एक वे जो धनोपार्जन करेंगे और दूसरे वे जो सब सदस्यों के खाने, पहनने और सुविधा का प्रबन्ध करेंगे। स्कूल, कालिज जाने वालों के अलावा कोई सदस्य ऐसा न होगा, जो नित्य के कार्यक्रम में परिवार के लिए कुछ न कुछ न करता हो।" परिवार के मुखिया के अधीन इस प्रकार की व्यवस्था में सम्मिलित सम्पत्ति को लेकर ही सबका काम चलेगा।

उपन्यास का दृष्टिकोण अति हिन्दूपन की धुन में

क्रिश्चियनों के प्रति पक्षपात पूर्ण हो गया है। हर ईसाई लड़की को या हर ईसाई परिवार को ऐसा घृणित नहीं समझना चाहिए। 'सोसाइटी गर्ल' आज हिन्दू समाज में भी कम नहीं हैं। इतना होते हुए भी उपन्यासकार का शिल्प-विधान पूर्ण है। ऐसे संयुक्त परिवारों की स्थापना हो सके तो समाज का कल्याण हो सकता है पर वर्तमान अव्यवस्थित और घटना-संकुल जीवन में यह कठिन ही लगता है। लेखक की यह कृति उसकी श्रेष्ठ कृतियों की शृंखला की एक नूतन कड़ी है।

सीधा रास्ता—लेखक–श्री ज्योतिप्रकाश। प्रकाशक–कान्ति प्रभा प्रकाशन, डालटन गञ्ज (बिहार) पृष्ठ संख्या ६४, मूल्य १।)

हिन्दी में यह पहला सफल उपन्यास है, जो किशोरों के लिए लिखा गया है। एक साधारण स्टेशन मास्टर का लड़का हरीलाल अपनी सेवा-भावना और देश-प्रेम से अपने स्कूल में नया जीवन फूँकता है। उसके प्रभाव में आकर रायबहादुर बाबू गङ्गाधर का लड़का सुरेश और लड़की वीणा खद्दर पहनने और ग्राम सेवा करने में जुटते हैं। सुरेश अपने मित्र परमा के साथ जूआ जैसे कुव्यसन में फँसा था पर हरीलाल के चरित्र से प्रभावित होकर वह सब कुछ छोड़ देता है। हरीलाल के जीवन में दीप्ति का दर्शन तब सबसे अधिक होता है, जब एक प्रसिद्ध राष्ट्र-नेता के स्वागत की तैयारियों में स्कूल का हैड मास्टर बाधक बनता है। और लम्बी हड़ताल सफलता पूर्वक चलती है। हैड मास्टर को अन्त में लड़कों के समक्ष झुकना पड़ता है। उसके बाद वे एक गाँव को स्वर्ग बनाने के लिये जुटते हैं और वर्ष भर के भीतर उसको नया रूप दे देते हैं।

जिस बात को लाख व्याख्यान बालकों के मन में नहीं बिठा सकते उसे यह उपन्यास सहज ही समझा देता है। हमारे देश के किशोर-किशोरियों के लिये यदि कोई कल्याण पथ है तो वह यह कि वे सच्चे गांधीवादी, रचनात्मक कार्यकर्ता की भाँति दीनहीनों और गरीबों की सेवा करें। वे सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ें और शिक्षा से बचें, समय का सदुपयोग करें। इसमें प्रेम का हल्का स्पर्श कहीं नहीं है। उपन्यास का छात्रोंमें अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये।

—कमलेश

बैंगनी ब्लाउज—ले०–श्री भविष्यभूषण गौड़, प्रकाशक–देशसेवा मण्डल, ५४ हीवेट रोड, प्रयाग। पृष्ठ २००, मूल्य १॥)

यह एक जासूसी उपन्यास है जिसमें रोमांस के साथ वैज्ञानिक जादूगरी भी दिखाई गई है। आकर्षण खूब है।

विद्रोह—लेखक–श्री गिरीश बी० ए०, प्रकाशक राष्ट्र-सेवक मण्डल, आगरा। पृष्ठ २६८, मूल्य २)

यह एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें शिक्षित नवयुवक और नवयुवतियों के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। उपन्यास रोचक है।

कहानी और रेखाचित्र

अमावस—लेखक–श्रीबल्लभ अग्रवाल। प्रका०–अग्रवाल प्रिंटिङ्ग प्रेस, फर्रुखाबाद। पृष्ठ १६०, मू० २)

प्रस्तुत कहानी-संग्रह लेखक की वैविध्य-प्रियता तथा कहानी-कला के शास्त्रीय ज्ञान का परिचायक है। पन्द्रह कहानियाँ, पन्द्रह विभिन्न शैलियों में लिखी गयी हैं। कथानक रोचक सुपरिचित व प्रतिदिन की घटनाओं से लिया गया है। यद्यपि कुछ कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं तथापि लेखक की शैली व प्रकाशन-कला अभी अविकसित दशा में है। भाषा सीधी-सादी व सरल है। लेखक को न उर्दू से 'परहेज' है न अंग्रेजी से 'शिकायत'। सभी से शब्द चुन कर 'विद्यार्थी-वर्ग की भाषा' का प्रयोग किया गया है।

जिन्दगी बोलती है—लेखक–श्री रामस्वरूप, प्रकाशक–मेघराज अग्रवाल, शतदल प्रकाशन, कलकत्ता ७। पृष्ठ १६४, सजिल्द, मूल्य २॥)

तेरह कहानियों के इस संग्रह में जिन्दगी के विभिन्न पहलुओं को तथा-कथित यथार्थ के रँगों में चित्रित किया गया है। यथार्थ के तथाकथित होने

का कारण है अतिरञ्जना। चोर, दहकते अङ्गारे, रहस्यमयी, हमराही आदि कहानियाँ इसकी प्रमाण हैं। वर्णनाधिक्य को अधिक महत्त्व न देकर, कहानियों को यदि जीवन का यथातथ्य चित्र ही बना दिया जाता तो अधिक सङ्गत होता।

दो-चार कहानियों में पाश्चात्य कहानीकार सुश्री वर्जीनिया वुल्फ की कहानी-कला की छाया मिलती है। परन्तु है वह केवल छाया-मात्र ही; उसमें जीवन व स्पन्दन का अभाव है। कहानीकार ने अन्तर्जगत को प्रकाश में लाने का और 'कल' को 'आज' बनाने का असफल प्रयास किया है। भाषा सुबोध व सहज तथा शैली आडम्बर रहित होने पर भी, कहानीकार की कला अभी अविकसित रूप में ही है।

इतना होते हुए भी कहानियाँ पठनीय हैं। कारण, वे पाठकों को उन्हीं के जीवन की एक झाँकी दिखलाती है; उन्हें आगे बढ़ने व जीवन में सुधार करने का संकेत देती हैं। चोर, दहकते अङ्गारे जैसी कहानियों द्वारा लेखक ने सामाजिक कुरीतियों व कुत्सित व्यवस्थाओं का निदर्शन किया है।

धूप और छाया—लेखक–श्री ज्योतिप्रकाश, प्रकाशक–कान्तिप्रभा प्रकाशन, डाल्टन गञ्ज, बिहार, पृष्ठ ६७, मूल्य १।।=)

पन्द्रह कहानियों का यह संग्रह लेखक की जीवन-सम्बन्धी विचार-धाराओं का स्रोत-रूप है। कहानियों में ठोस अनुभूतियों का समावेश है। समाज को कहानी-कार ने अपनी पैनी व विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा है और प्राप्त सामग्री को 'अपने' ढङ्ग से सँजोया-सँवारा है। कहीं-कहीं कल्पना की कूँची से यथार्थ में आकर्षण, रोचकता व सरसता लाने में लेखक बहुत सफल रहा है। शैली संयत, स्वच्छन्द व भाषा सुगठित व प्राञ्जल है।

दिल की गहराई से (प्रथम भाग)—लेखक–ज्योतिप्रकाश, प्रकाशक–कान्तिप्रभा प्रकाशन, डाल्टन गञ्ज, बिहार। पृष्ठ ७६, मूल्य १।।)

पच्चीस रेखा-चित्रों (?) का यह संग्रह हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन प्रयास है, नया कदम है। जीवन-दर्शन में पगे हुए लेखक के विचार उसकी मँजी हुई लेखनी से स्वतः ही फूट पड़े हैं। चित्रण यथा रूप सरस हैं; परन्तु कहीं-कहीं तथ्यों का निरूपण अत्यधिक यथार्थ होने से, वे कुछ नीरस हो गये हैं।

लेखक की प्रवृत्ति आदर्शोन्मुख यथार्थ की ओर झुकी जान पड़ती है। इसी के कारण, कहीं-कहीं तो यथार्थ आदर्श से पूर्णतः आच्छादित हो गया है। 'स्वर्ग क्या नरक क्या', 'भिखारी, रोटी, कुत्ता', 'जब धर्म सो गया था' आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। इन्हें पढ़ कर ऐसा ज्ञात होता है कि पाठकों को, कुछ नसीहत दी जा रही है; उन्हें जीवन के पराभव व साफल्य का रूप दिखाया जा रहा है।

—तपेश चतुर्वेदी

नाटक

नारी की साधना—लेखक–श्री अभयकुमार 'यौधेय', प्रकाशक–शशाङ्क प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ ६० मूल्य १।।)

यह एक दो अङ्क वाला सामाजिक नाटक है। इसमें भारतीय नारी की कष्ट सहिष्णुता, धैर्यमत्ता और साधना की पुरुष की क्रूरता पर विजय दिखाई गई है। पतिदेव राजेन बाबू अंग्रेजी रँग में रँगे हुए अपनी पत्नी करुणा की भारतीय रहन-सहन से असन्तुष्ट ही नहीं वरन् रुष्ट होकर घर से चले जाते हैं। दुनिया की टक्करें खा कर घर लौटते हैं तभी उनको अपने कर्तव्य का अनुभव होता है और करुणा से क्षमा माँगते हुए कहते हैं 'कर्तव्य के सम्मुख नारी से पूर्व पुरुष को नतमस्तक होना पड़ेगा। इसके पुरुष पात्रों में केवल 'भैया' का बलिदान चिरस्मरणीय रहेगा। स्त्री-पात्र विशेष कर गौरी सभी आदर्श और त्यागमय हैं। शेष पुरुष पात्रों में दूषित यथार्थ के दर्शन होते है। पतिदेव पाशविकता से हृदय परिवर्तन द्वारा मानवता में दीक्षित हो जाते हैं। यही इस नाटक की विशेषता है।

—गुलाबराय

धर्म

कुरान और धार्मिक मत भेद (मौलाना आज़ाद लिखित 'तर्जुमानुल कुरआन' का हिन्दी अनुवाद)—अनुवादक—सय्यद जहूरुल हुसैन, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृ० ८७, मूल्य २)

आज देश के लिए सबसे अधिक घातक तत्त्वों में प्रमुख हैं—साम्प्रदायिकतावाद व प्रान्तीयतावाद। प्रतिदिन तीव्र हो रहे वर्ग-सङ्घर्ष को, सामान्य जनता की बुनियादी एकता को नष्ट करने के लिए स्वार्थी-वर्ग साम्प्रदायिकता व प्रान्तीयतावाद की शरण लेता रहा है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए ही नहीं, सचाई की पहचान के लिए यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति को पढ़नी चाहिए। कुरान की आयतों के अर्थ हिन्दी में देने से पुस्तक का मूल्य और भी बढ़ गया है।

—वि० ना० उपाध्याय

अर्थशास्त्र

राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—लेखक—श्री गोरखनाथसिंह, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। पृष्ठ ४२, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य १॥)

स्वतन्त्रता प्रति के बाद हिन्दी राष्ट्रभाषा हो जाने के कारण ऐसे सैकड़ों विषय हैं, जिनकी जानकारी के लिए हिन्दी भाषा में पुस्तकें निकालने की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक ऐसे ही एक विषय की पूर्ति के लिए बिहार राष्ट्रभाषा परिषद का सफल प्रयत्न है। बजट बनाने में व्यय का किस प्रकार प्रबन्ध किया जाता है, उसके सिद्धान्त क्या हैं—इन्हीं बातों का वर्णन इस पुस्तक में है। पुस्तक में सैद्धान्तिक विवेचन है, विवरणात्मक नहीं। पुस्तक अपने विषय की मौलिक और महत्त्वपूर्ण है तथा परिषद की प्रकाशन परम्परा की प्रतिष्ठापक है।

आर्थिक समीक्षा—उपर्युक्त नाम से एक पाक्षिक पत्र अ० भा० कांग्रेस की ओर से दिल्ली से विगत पाँच वर्ष से निकल रहा है। आर्थिक विषयों की इस पत्र में बड़ी मार्मिक चर्चा रहती है। अभी ११ फरवरी को इसका एक विशेषांक, 'अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। लगभग ३०० पृष्ठ के सुन्दर छपे इस विशेषाङ्क में लगभग १०० लेख हैं। जिनमें २५ कविताएँ हैं। कविताएँ ओजस्विनी और भावपूर्ण हैं। लेखों में आवडी कांग्रेस और उसके पश्चात विभिन्न कार्यों में हुई भारत की उन्नति की चर्चा आँकड़ों और विस्तार के साथ दी गई है। कांग्रेस के सम्बन्ध में भी कई महत्त्वपूर्ण लेख हैं। अङ्क सभी दृष्टि से उपादेय और संग्रहणीय है। ऐसे सुन्दर पत्र का वार्षिक मूल्य केवल पाँच रुपया है।

ज्योतिष-विज्ञान

नीहारिकाएँ—ले०—डा० गोरखप्रसाद, प्रका०—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना। पृ. ७१, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ३॥)

डा० गोरखप्रसाद गणित और ज्योतिष शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उनकी लिखी 'सौर-परिवार' नामक पुस्तक यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इसी विषय पर यह उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें ज्योतिष पिण्ड नीहारिकाओं का वर्णन है। 'नीहारिकाएँ उन आकाशीय वस्तुओं को कहते हैं जो तारों की तरह ही चमकीले हैं। परन्तु बिन्दु सरीखे न हो कर कुछ दूर तक विस्तृत हैं।' इन्हीं नीहारिकाओं के विषय में पूरा वर्णन इस पुस्तक में दिया गया है। इनकी दूरी, इनकी जातियाँ और इनकी उत्पत्ति का भी वर्णन है। जिन यन्त्रों से इनकी दूरी आदि जानी जाती है—उनका भी वर्णन पुस्तक में दिया गया है। इस प्रकार यह पुस्तक ज्योतिषियों के ही नहीं, सर्व साधारण के भी ज्ञान बढ़ाने में सहायक होगी और इस दृष्टि से इसका हम सहर्ष स्वागत करते हैं। नीहारिकाओं के २० बड़े-बड़े चित्रों ने पुस्तक की उपयोगिता और उसका मूल्य बहुत बढ़ा दिया है।

गृह-नक्षत्र—ले०—श्री त्रिवेणीप्रसादसिंह, प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना। पृष्ठ ११८, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ४)

परिषद ने ज्योतिष शास्त्र की यह दूसरी मौलिक

पुस्तक हिन्दी जगत को दी है। इसमें आकाश की चारों दिशाओं की रूप-रेखा और सभी ज्योतिष पिंडों का वर्णन है। एक ग्रह अथवा नक्षत्र का दूसरे से क्या सम्बन्ध है, किस ऋतु में आकाश की क्या दशा रहती है, किस काल में सौर-जगत के सम्बन्ध में क्या-क्या धारणाएँ रहीं, ज्योतिष विद्या के कौन विद्वान कब हुए और उन्होंने इस शास्त्र सम्बन्धी क्या दान दुनिया को दिया—यह सब बातें इस पुस्तक में सरलता पूर्वक बताई गई हैं। अन्त में पारिभाषिक शब्द-कोश ने उसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। विषय को समझाने के लिए पचासों चित्र और मानचित्र भी दिए गए हैं। इस प्रकार यह पुस्तक ज्योतिष के ज्ञान के लिए बहुत लाभकारी है।

जीवनी

सङ्घर्ष और विकास—लेखक—श्री प्रेमनारायण अग्रवाल एम० ए०, प्रकाशक—नारायण पब्लिशिङ्ग हाउस, अजीतमल (इटावा)। पृष्ठ १२८, सचित्र मूल्य १॥)

राजकुमार प्रफुल्लचन्द्र यन्त्रदेव (संसद सदस्य), श्री मूलचन्द्र अग्रवाल बी० ए० (पत्रकार) और श्री पं० ठाकुरदत्त शर्मा (वैद्य) तीन विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन-वृत्तान्त की इस पुस्तक में यह दिखाया है कि अपने जीवन में किस प्रकार घोर सङ्घर्ष करके इन लोगों ने इतना भारी विकास करके देश में अपना स्थान बनाया है। पुस्तक ओजपूर्ण है और पठनीय है। चित्रों ने उसका महत्त्व बढ़ा दिया है।

विज्ञान

रबर—लेखक—श्री फूलदेवसहाय वर्मा, प्रका०—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना। पृष्ठ २२९, चित्र ६१, आकार बड़ा, सजिल्द, मूल्य ७॥)

इस पुस्तक के लेखक वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वाले हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। आपने रबर के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी देने वाली यह अपूर्व मौलिक और गवेषणापूर्ण पुस्तक देकर हिन्दी जगत का बड़ा उपकार किया है। इससे पूर्व इस विषय पर कोई पुस्तक नहीं छपी। रबर की उत्पत्ति से लेकर उसके विभिन्न व्यापारों और उपयोगों की चर्चा इसमें की गई है। रबर से बनने वाली सभी वस्तुओं की इसमें चर्चा है, कौन चीज रबर से कैसे बनती है, यह विस्तार से इसमें बताया और चित्रों द्वारा सरलता पूर्वक समझाया गया है। अभी अपने देश में रबर और रबर की बनी हुई वस्तुओं का उत्पादन बहुत बढ़ने की आवश्यकता और सम्भावना है। अतएव इस पुस्तक को पढ़ कर व्यापारी लोग इस धन्धे की ओर आकृष्ट होकर अपना और देश का भला कर सकते हैं। इसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।

इतिहास

सांस्कृतिक भारत—ले०—श्री भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक—सर्व श्री राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली। पृ० २०२, मूल्य ३॥)

इस पुस्तक में भारत का सांस्कृतिक इतिहास आर्य-पूर्वकाल से लेकर आधुनिक-युग तक का है। यह पुस्तक विकासवाद के दृष्टिकोण से लिखी गई है और इसमें राजनीतिक पृष्ठभूमि संस्कृति के विभिन्न अङ्गों का जैसे सामाजिक संस्थाएँ, धर्म ग्रन्थ और कला-कृतियों का विकास दिखाया गया है। मुसलमानों और अंग्रेजों की दैन को उदारतापूर्वक स्वीकार किया गया है। मुसलमानों के विरुद्ध केवल यही कहा गया है (जो ठीक भी है) कि मूर्ति कला का उस काल में ह्रास हुआ है, उनके अभाव में स्थापत्य और चित्र-कला का विशेष विकास हुआ। और अंग्रेजों के सम्बन्ध में कहा है—उनकी कुछ न देने की इच्छा होते हुए भी हमने उनसे बहुत-कुछ ले लिया है और उन्होंने भी स्वयं बहुत-कुछ होदिया जिसमें इतिहास का ज्ञान मुख्य है। लेखक को संस्कृति के सम्बन्ध में यह धारणा है कि वह कृत्रिम होते हुए भी स्वाभाविक हो जाती है। वह संस्कृतियों के मिश्रण का पक्षपाती है।

बाल-साहित्य

बालकों के चलन—ले०—श्री सन्तराम 'विचित्र', प्र०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृष्ठ १४४, मू२)

बालकों में अच्छी आदतें डालने की शिक्षा का कोई प्रबन्ध आजकल स्कूलों में नहीं है। उसके लिए उपयुक्त साहित्य भी नहीं है। इस पुस्तक के द्वारा इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है। ऐसी पुस्तकों का अधिकाधिक प्रचार हो, इसके लिए उनका मूल्य यथाशक्ति कम रखना चाहिए। इतना अधिक मूल्य रखने पर पुस्तक का प्रचार अधिक नहीं हो सकता।

भूत भाग गया—लेखक–अरुण एम० ए०, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६। पृष्ठ ३५, सचित्र, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में बच्चों के मनोरञ्जन के लिए ९ सचित्र कहानियाँ दी गईं हैं जो अपने उद्देश्य को सार्थक करती हैं।

आत्म-निर्माण—लेखक–श्री विष्णुप्रसाद व्यास एम० ए०, प्रकाशक–साहित्य प्रकाशक मन्दिर, गवालियर। पृष्ठ १२८, मूल्य १।।)

हमारे बालकों और युवकों में ज्ञान वृद्धि के साथ चरित्र निर्माण की भावना भी जाग्रत हो और उसका महत्त्व समझें, इस दृष्टि से इस पुस्तक का निर्माण हुआ हैं। २६ विषयों पर चरित्र-सङ्गठन सम्बन्धी उपयोगी बातों का इसमें वर्णन है।

गांधी पथ—संपादक श्री फूलचन्द जैन 'सारङ्ग' एम० ए०, प्रकाशक–गोरधन दास जैन एण्ड संस, आगरा। पृष्ठ ११२, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा गांधी के जीवन और उनके उपदेशों पर प्रकाश डाला गया है। गांधी नीति, गांधी जी का रचनात्मक कार्य-क्रम, गांधी विचार-सारणी और गांधी वाणी—इन चार अध्यायों में गांधी जी के उपदेश और उनके विचार संग्रहीत किए गए हैं। गांधी जी के विचारों को प्रकट करने में लेखक को सफलता मिली है।

बड़ों का बचपन—लेखक–श्री रमेशचन्द एम० ए०, प्रकाशक–राष्ट्रसेवक प्रकाशक मण्डल, आगरा। पृष्ठ १०४, मूल्य १)

१३ भारतीय और २ विदेशी महापुरुषों के बाल्य जीवन पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत के अनुसार बड़ों के बचपन में ही ऐसी विशेषताएँ होती हैं जिनमें उनका उज्ज्वल भविष्य दिखाई देता है। पुस्तक बालकों और युवकों के लिए बहुत उपयोगी है।

प्राप्ति-स्वीकार

प्रेरणा—लेखक–श्री लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक–शास्त्री बुक स्टोर्स, ढाका (चम्पारन) पृ. ७२, मू. ।।।=) पाँच उद्योत का यह छोटा सा खण्ड काव्य है।

मत्स्य पालन—लेखिका–सरस्वती डी. पांडे और रुक्मिणी सुमिरधिनी, प्रकाशक–मत्स्य पालन शिक्षणालय जयपुर (राजस्थान)। पृष्ठ ५६। विषय स्पष्ट है।

अब्राहम लिंकन—लेखक–श्री इन्द्रनाथ मदान, प्रकाशक–राजकमल पब्लिकेशन लि० बम्बई। पृष्ठ २४, मूल्य ।।।=) सचित्र जीवन चरित्र।

आठ महान अमरीकन—सचित्र जीवनियाँ–अमरीका के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना—प्रकाशक–पब्लिकेशन डिवीजन, दिल्ली ८। पृष्ठ ४०, मूल्य ।=) योजना की संक्षिप्त प्रारम्भिक रूपरेखा।

यज्ञबल्क्य से नेहरू—लेखक–श्रीराम श्रीवास्तव, प्रकाशक–पुस्तक निकुंज लखनऊ। पृष्ठ ८०, मूल्य १।।) १५ भारतीय महापुरुषों के जीवन चरित्र।

वीर कुँवर सिंह (जीवनी)—लेखक श्री बालकृष्ण, प्रकाशक–पांडेय छात्र पुस्तक भण्डार, औरङ्गाबाद (गया)। पृष्ठ २३, मूल्य ≡)

हिन्दी शब्द निर्णय—लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी, प्रकाशक–हिमालय एजेन्सी, कनखल। पृष्ठ ३२, मूल्य ।=) हिन्दी के विद्यार्थी खास तौर से अहिन्दी भाषा भाषियों के लिए अत्यन्त उपयोगी।

सहायक ग्राहक बनकर

साहित्य सन्देश मुफ्त प्राप्त कीजिएगा

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनाने की इस योजना से इधर पिछले वर्षों में हमारे ग्राहकों को विशेष लाभ रहा है। हम चाहते हैं कि हमारे अधिक से अधिक ग्राहक इससे लाभ उठावें।

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनने के लिए हमने कोई विशेष नियम नहीं रक्खे हैं। ग्राहक को एक बार १००) हमारे यहाँ जमा कराने होते हैं। रुपया मिलने पर उन्हें कार्यालय से टिकिट लगी हुई पक्की रसीद मिलेगी। जब तक उनका रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा उनका नाम साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहकों में लिखा रहेगा और उन्हें प्रतिमास विशेष संस्करण (अच्छे कागज) का अङ्क निःशुल्क भेजा जायगा। ग्राहक चाहे जब अपना पूरा रुपया वापस मँगा सकते हैं। रुपया लौटाने के बाद अङ्क भेजना बन्द कर दिया जायगा।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि पिछले १७ वर्षों से साहित्य-सन्देश हिन्दी और हिन्दी प्रेमियों की अधिक से अधिक सेवा कर रहा है।

आशा है कि हमारे समर्थ ग्राहक महोदय सहायक ग्राहक बनने के लिए रुपया भेज कर हमें सहयोग देंगे।

सञ्चालक—

साहित्य सन्देश कार्यालय,

साहित्य कुञ्ज, आगरा।

REGD. No. A. 263 MARCH 1956. LICENSE No. 16
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment.

स्कूल कालेजों में पुस्तकों की खरीद—

मार्च के महीने तक ही होगी

सरकारी बजट इस महीने में ही समाप्त हो रहा है और उन्हें अपने बजट की पुस्तकें इस महीने में ही खरीदनी हैं—मार्च के महीने में बहुत से स्कूल-कालिजों में वार्षिक परीक्षाओं की तैयारी में काफी समय लग जायगा अतः हमारा निवेदन है कि वे पुस्तकें भी खरीद लें जिससे उनके बजट का एक पैसा भी न मारा जाय।

जितनी जल्दी आप पुस्तकें खरीद लेंगे, उतनी ही आपको अपनी मन-पसन्द पुस्तकें मिल जायँगी। जितनी आप देरी करेंगे उतनी ही आपको अच्छी पुस्तकें कम मिल पावेंगी, क्योंकि मार्च के महीने में अधिकांश में स्टॉक प्रायः समाप्त हो जाता है और फिर अच्छी पुस्तकें नहीं मिल पातीं।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि इस महीने में पुस्तकों की इतनी अधिक बिक्री रहती है कि बहुत सी पुस्तकें प्रायः समाप्त हो जाती हैं। इसलिये आर्डर भेजते समय कृपया अपने बजट का पूरा रुपया भी लिख दिया करें जिससे हम उतने मूल्य की पुस्तकें आपको भेज दिया करें। इससे आपका बजट भी पूरा हो जाय—हाँ जो पुस्तकें आपको पसन्द न हों उन्हें हमसे बाद में बदल भी सकते हैं।

कृपया आज ही हमारा बड़ा सूचीपत्र निशुल्क मंगायें तथा आर्डर भेजें।

सञ्चालक—

साहित्य-रत्न-भण्डार,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

१७

अङ्क १०

मूल्य ५)]   आगरा—अप्रैल १९५६   [साधारण संस्करण ४)

इस अङ्क के लेख

ी विचार-धारा	सम्पादक
विकास पर संक्षिप्त दृष्टि	श्री सन्तकुमार टण्डन 'रसिक' बी० ए०
ी में वीर-काव्य की परम्परा	श्री वीरेन्द्र
की भाषा	श्री दानबहादुर पाठक एम० ए० (प्र०), सा०
धुनिक हिन्दी गीति-काव्य	श्री यदुनाथसिंह 'निराश'
साहित्य और जीवन	श्री अमरबहादुर सिंह 'अमर'
रामकुमार वर्मा और चारुमित्रा	श्री कन्हैयालाल गौतम बी० ए०, साहित्य-रत्न
क में अनुकरण की समस्या	प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०
ाङ्क का हरिश्चन्द्र काव्य	श्री विश्वेश्वरय्या, बी० ए० 'प्रवीण'
के लोकप्रिय कवि जि० जाषुवा	श्री दुर्गानन्द साहित्य-रत्न
हित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की १० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिये। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिये जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार रहता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन मार्च १९५६

आलोचना

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—डॉ० उदयनारायण तिवारी	११)

कविता

मोर के सपने—घनश्याम अस्थाना	१।।)

उपन्यास

धूपलता—इलाचन्द जोशी	३)
पथ से दूर—कमल शुक्ल	२)
लुढ़कते पत्थर—गुरुदत्त	५।।)
मानव— ,,	५)
चञ्चला—रञ्जन वर्मा	२।।)
देवदासी—बालकृष्ण भगवन्त बोरकर	२)
दाखुन्दा—राहुल	५)
सन्ध्याराग—सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ	३।।)

नाटक

दो फक्कड़—के० एम० मुन्शी	३।।)

संस्मरण

निहाई की चिनगारियाँ—के० एम० मुन्शी	२।)

चरित्र-निर्माण

मृत्यु पर विजय—राजेन्द्रसिंह गौड़	१)

स्त्रीपयोगी

सती के तेज—राजेन्द्रसिंह गौड़	३।।)

विज्ञान

धरती और आकाश—छोटा भाई	१।)

ज्योतिष

अङ्कज्योतिर्ज्ञान—हरिनारायण चतुर्वेदी	२।।)

विविध

पञ्चायत राज—विद्यासागर शर्मा	३।।)
गान्धी श्रद्धाञ्जलि ग्रन्थ—राधाकृष्णन	३)
भारतीय जीवन की समाजवादी समीक्षा—बैजनाथसिंह	२)

बालोपयोगी

	।=)
रत्नावली—	१।)
बाल सोमनाथ—के० एम० मुन्शी	१।)
बाल परशुराम— ,,	१।)
बाल पृथ्वीवल्लभ— ,,	१।)
बाल-लोमहर्षिणी— ,,	१)
हमारी लोक कथाएँ २ भाग—	२।)
मनोरञ्जक लोक कथाएँ २ भाग—	२।)
निमाड़ी की लोक कथाएँ २ भाग—	१।)
मुद्रा राक्षस—ठाकुरदत्त मिश्र	१।)
वेणी संहार— ,,	१।)
रत्नावली— ,,	१।)
चारुदत्त— ,,	

हमारी प्रकाशित पुस्तकों की सूची

आलोचना

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—डा० सत्येन्द्र	८
कला कल्पना और साहित्य— ,, ,,	४।)
प्रेमचन्द उनकी कहानी कला— ,, ,,	३)
साहित्य की झाँकी— ,, ,,	१॥)
गुप्तजी की कला— ,, ,,	२)
प्रसादजी की कला—गुलाबराय एम० एम०	४)
हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—,,	३।)
साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र	३॥)
सुमित्रानन्दन पन्त— ,,	३)
आधुनिक हिन्दी नाटक— ,,	२)
लिपि विकास—राममूर्ति मेहरोत्रा	॥)
रसज्ञ रञ्जन—महावीरप्रसाद द्विवेदी	१।)
भाषा भूषण—जसवन्तसिंह	१)
प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी—कृष्णकुमार सिन्हा	१)
हिन्दी गीति काव्य—ओमप्रकाश अग्रवाल	३)
कालिदास उनका रघुवंश—	१।)
गङ्गावतरण दीपिका—रामचन्द्र श्रीवास्तव	१॥)
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	६॥)
हिन्दी गद्यकार उनकी शैलियाँ—रामगोपालसिंह चौहान	४)
परीक्षार्थी प्रबोध (चतुर्थ खण्ड)—	३)

कविता

अवकाश के क्षण—शकुन्तला वर्मा	॥।)
नैवेद्य—चातक	१॥)
प्रतिच्छाया—होमवती	॥)
रघुवंश (पद्यानुवाद)—	१॥)
पूजा (खण्ड काव्य)—रामप्रसाद विद्यार्थी	१)
शुभ्रा ,, ,, ,,	॥)
संक्षिप्त गीतावली—गो० तुलसीदास	॥)
देवार्चन (महाकाव्य)—करील	५)

नाटक

सत्य हरिश्चन्द्र (सटीक)—	॥।)
सुदामा चरित्र (सटीक)—नरोत्तमदास	॥=)
चुङ्गी की उम्मीदवारी—बद्रीनाथ भट्ट	।=)
मुद्राराक्षस (सटीक)—भारतेन्दु	१॥)
शकुन्तला नाटक—राजा लक्ष्मणसिंह	१॥)

हास्यरस

न नर न नारी—	॥।)

ग्रामोपयोगी

गाँव की बोली—रमेश वर्मा	॥।)
गाँव की बातें— ,,	॥)
ढोरों का इलाज— ,,	॥।)
घरेलू इलाज— ,,	॥।)
गाँव के गीत (पुरुषों के)	॥।)
गाँव के गीत (स्त्रियों के)	॥।)
गाँव की सेहत—रमेश वर्मा	॥।)
गाँव का जीवन ,,	॥।)
गाँव की कहानियाँ —,,	॥।)
खेती व घरेलू धन्धे— ,,	॥।)
संयोगिनी का डोला—,,	॥।)

स्त्रियोपयोगी

गृहदेवी—सूरजभान वकील	॥=)

बालोपयोगी

सत वैज्ञानिक—कृष्णमूर्ति मेहरोत्रा	॥=)
बच्चों के बापू—डा० सत्येन्द्र	॥)
बुद्धि परीक्षा (दो भाग)—राममूर्ति मेहरोत्रा प्रत्येक	।=)
समझ के खेल (दो भाग) ,, ,, ,,	।=)
दिमागी खेल (५ भाग)— ,, ,, ,,	।=)

विविध

मूल रामायण—प्रो० हरिदत्त शास्त्री	।=)
दान कथा—	॥)

कहानी

पुष्प छटा—प्रो० विमल	२॥)

राजनीति

भारतीय राष्ट्रीयता—देवदत्त विद्यार्थी—	१॥।)

सभी प्रकार की पुस्तकों के मिलने का स्थान—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

सस्ता साहित्य मण्डल द्वारा प्रकाशित

१९५५ का कुछ चुना हुआ

विशिष्ट साहित्य

'मण्डल' से अब तक ३५० पुस्तकें निकल चुकी हैं। उसमें से सन् १९५५ में प्रकाशित पुस्तकों में से कुछ नमूने ये हैं :—

१. गांधीजी की छत्रछाया में (घनश्यामदास बिड़ला)

गांधीजी के साथ लेखक का पत्र-व्यवहार तथा गांधी-युग का छिपा हुआ इतिहास। मूल्य १॥) सजिल्द २॥)

२. मैं भूल नहीं सकता (कैलासनाथ-काटजू)

वकील जीवन के रोचक एवं मर्मस्पर्शी संस्मरण। मूल्य २॥)

३. तट के बन्धन (विष्णु प्रभाकर)

हमारे सामाजिक जीवन पर चोट करने वाला उपन्यास। मूल्य २)

४. जय अमरनाथ (यशपाल जैन)

काश्मीर-स्थित तीर्थ अमरनाथ की यात्रा के रोचक एवं रोमाञ्चकारी संस्मरण। मूल्य १॥)

५. हमारी लोक-कथाएँ (शिवसहाय चतुर्वेदी)

हिन्दी प्रदेश की लोक-कथाओं का मूल भाषा में अर्थ सहित चयन। मूल्य २॥)

६. कृषि-ज्ञान-कोष (डा० नारायण दुलीचन्द व्यास)

खेती सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रामाणिक जानकारी देने वाली पोथी। मूल्य ४)

७. गांधी-श्रद्धाञ्जलि-ग्रन्थ (स० राधाकृष्णन्)

राष्ट्रपिता को अर्पित की गई हृदयग्राही श्रद्धाञ्जलियाँ। मूल्य ३)

८. कहावतों की कहानियाँ (महावीरप्रसाद पोद्दार)

कहावतों पर लोक-सुलभ भाषा में लिखी गई रोचक कहानियाँ। मूल्य २)

९. लद्दाख-यात्रा की डायरी (सज्जनसिंह)

तिब्बत की सीमा से मिले बौद्ध-प्रदेश लद्दाख की यात्रा का आकर्षक वर्णन। मूल्य २॥)

१०. प्रकाश की बातें (ब्रह्मानन्द—नरेशवेदी)

विज्ञान की लोक-सुलभ सचित्र पोथी मूल्य १॥)

११. देवदासी (बा० भ० बोरकर)

गोआ की पृष्ठभूमि पर लिखा गया हृदयस्पर्शी मराठी उपन्यास। मूल्य २)

१२. धरती और आकाश (छोटू भाई)

आकाश के ग्रह और नक्षत्र का परिचय देने वाली सरल सचित्र पोथी। मूल्य २)

ये ही नहीं, मण्डल का समूचा सत्साहित्य व्यक्ति, संस्था, पुस्तकालय आदि के लिए बहुत ही उपयुक्त, पठनीय एवं संग्रहणीय है।

इन तथा अन्य प्रकाशनों को अपने शहर के पुस्तक-विक्रेता से मँगाइये या लिखिये:—

सस्ता सहित्य मण्डल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली।

रेल यात्रियों के लिये

क्या आपके सामान में हीरे-जवाहरात, बहुमूल्य मणि-माणिक्य, घड़ियाँ, रेशमी वस्त्र, शाल-दुशाले, कैमरे, वाद्ययन्त्र, अथवा अन्य वर्जित वस्तुयें हैं ?

यदि हैं तो आपको यह सलाह दी जाती है कि जब आप ऐसी वस्तुयें रेल से ले जाते हों और एक पेटी या सन्दूक में बन्द ऐसी वस्तुओं का मूल्य ३००) रुपये से अधिक हो तो आपका चाहिये कि—

१—बुकिङ्ग के समय लिखित रूप में उनका मूल्य बतलायें,

२—इस प्रकार बतलाये हुये मूल्य पर एक नियत प्रतिशत रकम सामान्य भाड़े के दामों के अतिरिक्त और भी दें।

ऐसा नहीं करने पर रेलवे ऐसी वस्तुओं के खो जाने, नष्ट होने अथवा बिगड़ने की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेगी, उपरोक्त वस्तुओं तथा ऐसी अन्य कई चीजों के नाम आपको समय तालिका पुस्तक 'टाइम-टेबिल' में वर्जित वस्तुओं की सूची में मिलेंगे।

पूछताछ करने पर निकटवर्ती स्टेशन मास्टर से आपको इस विषय में पूरी जानकारी मिल सकेगी।

मध्य और पश्चिम रेलवे

हमारे अत्युपयोगी प्रकाशन

१. प्रबन्ध प्रदीप (द्वितीय संशोधित संस्करण) प्रो० भारत भूषण 'सरोज' एम० ए० साहित्य-रत्न (Shridhar Gold Medalist)

'सरोज' जी का हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। दर्जन से भी अधिक आपकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और सभी को पाठकवृन्द ने बड़े चाव से अपनाया है। इस पुस्तक में १०३ से भी अधिक साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक तथा सभी प्रकार के आधुनिकतम विषयों पर निबन्ध दिये गये हैं। बी० ए० तथा प्रभाकर और अन्य समकक्ष परीक्षाओं में जो निबन्ध पूछे जाते रहे हैं उनमें से अधिकांश निबन्धों का समावेश इस पुस्तक में है। निबन्ध सूची में यह भी दिया गया है कि कौन सा निबन्ध किस परीक्षा में किस सन् में आया था। किसी किसी विश्वविद्यालय में प्रायः निबन्ध से पूर्व परीक्षार्थी से रूपरेखा भी लिखा लेते हैं। अतः इसमें प्रत्येक निबन्ध के पूर्व उसकी रूपरेखा भी दी गई है। विषयानुकूल निबन्धों का क्रम से विभाजन भी सुन्दर है। प्रभाकर तथा अन्य समकक्ष छात्रों के लाभ के लिए पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट रूप में रचना भाग भी दिया गया है। यह निस्सन्देह, आज तक की सभी निबन्ध पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ है। सजिल्द सुन्दर आवरण पृ० संख्या ६४०, मूल्य ५)

२. सूर एक सरल अध्ययन (द्वितीय संस्करण) प्रो०—मनमोहन गौतम एम० ए० साहित्यरत्न (Gold Medalist)

हिन्दी साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी श्री मनमोहन गौतम जी के नाम से परिचित है। सूरदास आपका विशेष विषय है। इसी विषय पर आपकी रिसर्च अभी जारी है। यह पुस्तक विशेषतया एम० ए० और साहित्यरत्न कक्षा के विद्यार्थियों के लिए तैयार कराई गई है। इसमें सूरदास विषयक सभी आलोचनात्मक प्रश्न और उनके उत्तर सुचारु ढङ्ग से दिए गए हैं। अन्त में कुछ प्रसिद्ध आवश्यक पद और उनके अर्थ भी दिए गए हैं। मूल्य २॥)

३. हिन्दी के गौरव ग्रन्थ प्रो०—मनमोहन गौतम एम० ए० साहित्यरत्न।

आधुनिक काल गद्यकाल ही कहा जाता है। पहले काव्य ग्रन्थों के ही गम्भीर अध्ययन और अनुसंधान हुआ करते थे, पर आजकल गद्य ग्रन्थ गम्भीर अध्ययन और अनुसंधान के विषय बनते चले जा रहे हैं। इसी उद्देश्य से इस पुस्तक में ऐसे गद्य ग्रन्थों पर प्रश्नोत्तर दिये गये हैं जो वास्तव में हिन्दी के गौरव-ग्रन्थ कहे जा सकते हैं और जो साहित्य रत्न एवं भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में निश्चित हैं। अतः इस पुस्तक में प्रमुख गद्य ग्रन्थों पर समीक्षा, आलोचना और प्रत्यालोचना है। इस प्रकार पुस्तक साहित्य के विद्यार्थी के लिए निस्सन्देह उपयोगी है। मूल्य ३)

प्रत्येक प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मिलने का सर्वोत्तम स्थान—

हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली।

N. B.—सूचीपत्र हमसे बिना मूल्य मँगाइए। हमारी सभी पुस्तकें निम्न पते पर भी मिलती हैं।

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

भाग १७] आगरा—अप्रैल १९५६ [अङ्क १०

हिन्दी-आलोचना के खतरे—

जब किसी भाषा का अपना आलोचना-शास्त्र नहीं होता तो 'उपजीवी' व 'विदेशियों के मानस-पुत्र' आलोचकों की बन आती है। उपजीवी आलोचक वह है जो चुपचाप किसी देशी-विदेशी विचारक की विचार-धारा को अपने नाम से छपाया करता है और विदेशियों का मानस-पुत्र वह है जो सम्पत्तिवान होने पर भी अपने को अकिञ्चन मानकर अपनी सांस्कृतिक देन को एक ओर रखकर अपने राष्ट्र के प्रयत्नों पर विचार न कर किसी राजनैतिक या अन्य कारण से विदेशियों के गीत गाकर विडम्बना बनता है। हिन्दी में इन दो प्रकारों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार है जिसे हम 'सनसनीवाद' (Sensationalism) कह सकते हैं। ऐसे आलोचक आवेश, व्यंग्य व कटुता, वक्रता, तथा कुत्सितता का ऐसा आडम्बर खड़ा करते हैं कि आलोचना में उपन्यास जैसा रस उत्पन्न हो जाता है और 'परनिन्दा रस' जो आज के युग का सबसे बड़ा 'रस' है, पाठकों का मनोरञ्जन करता है, तर्क व बुद्धिहीनता को छिपाने में सनसनीवाद हिन्दी का अहित करने में सबसे अधिक सफल सिद्ध हुआ है। इसे हम 'निषेधवाद' भी कह सकते हैं।। निषेधवादी आलोचक शीघ्र ही नाम पाने के लिये पूर्वजों पर कीचड़ उछालते हैं, लेखक की सदाशयता में कभी भी विश्वास नहीं करते, किसी सिद्धान्त को आधार बनाकर आलोचना नहीं करते। व्यक्तिगत आक्षेप ही इनका मूलमन्त्र है और निर्लज उच्छृङ्खलता ही इनका धर्म है। सन्तुलन व गम्भीरता से इन्हें चिढ़ है। सनसनी उत्पन्न करने के कई नुस्खे हैं जिनका ये लोग प्रयोग करते हैं, सनसनीवादियों का एक दल चिल्ला रहा है कि हिन्दी में गतिरोध उत्पन्न हो गया है, इन्हें उपन्यासों में न तो 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशङ्कर भट्ट), जहाज का पंछी (इला जोशी), मैला आँचल (रेणु), निशिकान्त (विष्णु प्रभाकर), अधूरा किला (रांगेयराघव) आदि क पता है न काव्यों में 'पार्वती' (रामानन्द शास्त्री) जय भारत (गुप्तजी), मानस मूर्च्छना (रामसक

हिन्दी साहित्य कोश—

हिन्दी को सर्वसम्पन्न और उन्नत बनाने के अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। वे अपनी-अपनी दिशाओं में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। ज्ञान मन्दिर लिमिटेड बनारस के तत्त्वावधान में एक हिन्दी साहित्य कोश निकल रहा है। जिसका सम्पादन डा० धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान) डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० धर्मवीर भारती, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० रघुवंश करेंगे। इस कोश में अन्य बातों के साथ निम्नलिखित विषय रहेंगे—

१—प्राचीन साहित्य-शास्त्र—रस, ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि।

२—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र।

३—साहित्य के विविध रूप—प्राचीन और नवीन।

४—साहित्य में प्रयुक्त दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त।

५—साहित्य के विविध वाद तथा प्रवृत्तियाँ-प्राचीन और आधुनिक।

६—साहित्य में प्रयुक्त अन्तर्कथाएँ।

७—लोक-साहित्य।

८—हिन्दी भाषा और उसकी जनपदी बोलियाँ।

उपर्युक्त विषयों के सम्बद्धित शब्दों पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी हुई टिप्पणियाँ रहेंगी। यह पुस्तक विद्यार्थी और अध्यापकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगी। अध्यापक लोग भी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विषयों का यथार्थ ज्ञान नहीं रखते। उच्च साहित्य में दार्शनिक शब्दों की जैसे अभिहितान्वयवाद, अन्विताविधानवाद, विवर्तवाद, सत्कार्यवाद, साध्युपक्ष आदि पारिभाषिक शब्द आते रहते हैं। इसी प्रकार प्राचीन भूगोल और इतिहास से सम्बद्धित शब्द भी आते रहते हैं। बहुत से अध्यापक यह नहीं जानते कि कौन सी ऋतुएँ किन-किन राशियों में पड़ती हैं? बहुत सी अन्तर्कथाओं की भी व्याख्या नहीं होती। इस कोश के सहारे ये सब कठिनाइयाँ दूर हो सकेंगी। इसका हम हृदय से स्वागत करते हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन—

अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रयागस्थ साहित्यिकों की गुटबन्दी के कारण क्या दुर्दशा हुई है—यह कौन नहीं जानता। आज पाँच वर्ष से सम्मेलन को हथियाने को एक मुकदमा अदालत में चल रहा है जिसका अभी तक कोई फैसला नहीं हुआ है। सम्मेलन का सञ्चालन अदालत से नियुक्त एक रिसीवर कर रहे हैं। सौभाग्य से रिसीवर एक सज्जन और सम्पन्न तथा योग्य वकील हैं जो सम्मेलन के काम में काफी दिलचस्पी लेते हैं। यदि ऐसा न होता तो सम्मेलन की क्या हालत होती यह कौन कह सकता है। इस बीच में कई बार इस बात का उद्योग हुआ कि यह झगड़े समझौते से समाप्त हो जायँ। अभी भी इसके लिए बड़ा उद्योग हुआ था परन्तु उसमें सफलता नहीं मिल पाती। ऐसी दशा में हमें यह जान कर हर्ष हुआ कि प्रदेशीय सरकार ने एक विधेयक बनाकर सम्मेलन को पुनर्जीवन देने का निश्चय कर लिया है। यह बहुत ही आवश्यक और सम्मेलन के हित के लिए बहुत शुभ निश्चय है।

हिन्दी की क्षेत्रीय भाषा उर्दू—

दिल्ली के कुछ उर्दू प्रेमी यह चाहते हैं कि वहाँ की क्षेत्रीय भाषा उर्दू हो। इस सम्बन्ध में हिन्दी में भाषण देते हुए सेठ गोविन्द दास जी ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही। आपने बताया कि दिल्ली के स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या के आंकड़ों से विदित होता है कि वहाँ ९० प्रति शत विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते हैं और केवल १० प्रतिशत विद्यार्थी उर्दू पढ़ते हैं। जहाँ हिन्दी पढ़ने वालों का अनुपात इतना अधिक हो वहाँ उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने की मांग करना हास्यास्पद ही है। केवल मुसलमान उर्दू के हिमायती होते तो हमें आश्चर्य नहीं होता। हमें आश्चर्य और खेद तो तब होता है जब हम देखते हैं कि कुछ पञ्जाबी और सिक्ख भाई इस मांग के पक्ष में हैं—वे जिनके गुरुओं ने अपनी अधिकतर वाणी हिन्दी में लिखी है।

छन्द-विकास पर संक्षिप्त दृष्टि

श्री सन्तकुमार टण्डन 'रसिक', बी० ए०

'छद' धातु से 'छन्द' शब्द का सम्बन्ध बतलाया जाता है। 'छद' का अर्थ है आच्छादित करना। वैदिक काल में भाँति-भाँति की प्राकृतिक विपदाओं से मानव त्रस्त था। आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने मन्त्रों की रचना की होगी—ऐसा विश्वास किया जाता है। निश्चय ही मंत्रों के 'छन्द' की संज्ञा देने के मूल में कारण स्वरूप यही विशेषता रही होगी। छः प्रसिद्ध वेदांगों में 'छंद' भी अङ्गीकृत है। वैदिक छन्दों में गायत्री, त्रिष्टुध आदि कुछ प्रमुख हैं। इनकी रचना का आधार है ध्वनि तथा अक्षर-गणना। अक्षरों के लघु गुरू (मात्राओं) का विचार इनमें नहीं किया गया। वैदिक छन्दों की यह विशेषता है कि वे कठोर नियमों द्वारा शासित नहीं हुए। नियमों के अपवाद उनमें पाए जाते हैं। वैदिक छन्दों की गति का स्वरों के आरोह-अवरोह पर आधारित होना ही इसका कारण है। गीतात्मक-स्वराघात का भी इनमें विधान है।

पिंगल ऋषि छन्दों का विस्तृत तथा व्यवस्थित अध्ययन करने वाले प्रथम मान्य आचार्य हैं। पिंगलाचार्य के 'छन्द शास्त्र' में वैदिक छन्दों का गौण तथा संस्कृत छन्दों का विशेष विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लघु-गुरु वर्णों की गणना को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से दस संकेताक्षरों का भी विचार विधान हुआ है। संस्कृत वृत्तों का निर्माण इन्हीं गणों (तीन वर्णों के समूह) के प्रयोग से होता है। इस व्यवस्था से परिणाम विशेष लक्षित हुआ। संस्कृत छन्दों की गति का स्वरूप सुनिश्चित प्रणालियों में बँध गया। उनमें भावी विकास की सम्भावनाएँ प्रायः कुण्ठित हो गईं। इस प्रवृत्ति में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन आचार्यों के निर्दिष्ट निकाय-निर्देशों की उपेक्षा हुई। छन्दों में प्रयुक्त ध्वनियों के लिखित और उच्चरित रूप में भी अंतर प्रकट हुआ। प्राकृत अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों के विकास का कारण सम्भवतः यही प्रवृत्ति है। मात्रिक छन्द में मात्रा के आधार पर ध्वनि के उच्चारण में कम या अधिक समय लगने पर मात्रा को लघु या गुरु (।, ऽ) कहते हैं। अपभ्रंश कविता में मात्रिक छन्दों के विकास के साथ ही कड या कडवक छन्दों का प्रयोग भी होना शुरू हुआ। अपभ्रंश के चरित-प्रधान काव्यों में यह द्रष्टव्य है। कडवक की रचना चार पद्धड़िया छन्दों के पश्चात् एक घत्ता छन्द जोड़कर होती है। इसे ध्रुवा तथा ध्रुवक संज्ञा भी देते हैं। कारण यह है कि पद्धड़िया छन्द के अन्त में घत्ता कर स्थिति ध्रुव अथवा निश्चित मानी जाती है। अपभ्रंश काव्य में छन्द प्रयोग के सम्बन्ध में वास्तव में पर्याप्त स्वतंत्रता का व्यवहार रहा। दो छन्दों को मिलाकर तीसरे छन्द का निर्माण भी कर लेते थे। इन्हें मिश्रित छन्द कहते हैं। उदाहरणार्थ छप्पय और कुण्डलियाँ। चार और छः पद वाले छन्दों का प्रयोग दो पद वाले छन्दों के ही समान हुआ। पज्झटिका या पदाकुलक छन्द चतुष्पदी वर्ण का है। समान मात्राओं के चार चरणों की इकाई होती है। अपभ्रंश कवियों ने दो पंक्तियों की इकाई निर्मित करली। यद्यपि संस्कृत के वर्ण वृत्तों का भी प्रयोग इन्होंने किया किन्तु मात्रिक की अपेक्षा कम। द्विपदी के समान ही इन्होंने वार्णिक वृत्तों का प्रयोग किया। ऐसे सभी प्रयोग यमक तथा अन्त्यानुप्रास-संयुक्त होते हैं।

मध्य युगीन हिन्दी काव्य में अपभ्रंश छन्दों की सम्पूर्ण विशेषताएँ लक्षित हैं। चन्द के रासो में प्रयुक्त छन्दों की संख्या ६२ है। इनमें लगभग आधे मात्रिक छन्द हैं। इनमें भी चतुष्पदी अधिक हैं। अर्ध सम-चतुष्पदी में छोटा सांख्य का प्रयोग सर्वाधिक है।

अपभ्रंश का सर्व-प्रिय छन्द दोहा ही रहा है। यद्यपि अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों में इनका प्रयोग न होना आश्चर्य जनक है। हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसे मात्रिक छन्दों का प्रयोग मिलता है जो बिल्कुल नए हैं। बरवा आदि कुछ ऐसे ही छन्द हैं। लोक गीतों की लय के आधार पर इनकी रचना का अनुमान करते हैं। सूफियों, मानस तथा सूरसागर में अपभ्रंश के कड़वक छन्दों का प्रयोग मिलता है। जायसी ने चौपाई कड़वक में चौदह चरण अर्थात् सात अर्धाली का विधान रखा है। अन्त में धत्तों के स्थान पर इन्होंने दोहे प्रयोग किए हैं। तुलसीदास सामान्यतः शास्त्रीय परम्परा के अनुसरणकर्ता है, किन्तु कभी कभी उन्होंने भी यह नियम भङ्ग किया है। (उदा०—बालकाण्ड दोहा ४) पद-शैली में भी मात्रिक छन्दों की रचना हुई है। बौद्ध सिद्धों के गानों में इनकी परम्परा मिलती है; इनमें गीति-तत्त्व का अभाव है, क्योंकि विषय विवेचन और खण्डन-मण्डन के हेतु पदों का प्रयोग हुआ है। गीति-तत्त्व की प्रतिष्ठा भक्त कवियों के पदों में हुई है। अपभ्रंश साहित्य में पदों में प्रबन्ध-काव्य की रचना भी नहीं हुई है। इसमें पदों का वह रूप दुर्लभ है, जो पद रूप में प्रबन्धत्व निर्वाह सूरसागर में बड़े सुन्दर रूप में हुआ है।

वर्णिक छन्द—संत-भक्त-प्रेमाख्यानात्मक-काव्य धारा को लीजिए। वर्ण वृत्तों का इसमें बहुत ही कम प्रयोग है। त्रोटक, भुजङ्गप्रयात आदि का प्रयोग मानस में हुआ है। सुन्दरदास की कविता में छः वार्णिक वृत्त मिलते हैं। कलाकालीन या रीतिकालीन कवियों में संस्कृत वर्ण वृत्तों का अभाव है। केशव ने इस ओर उदारता दिखाई है। घनाक्षरी, सवैया आदि को रीतिकारों ने विशेष अपनाया है। इन छन्दों का विकास इन्हीं का प्रसाद प्रतीत होता है। देव एक घनाक्षरी के जन्मदाता हैं जो देव घनाक्षरी प्रसिद्ध है। वार्णिक सवैया में लघु गुरु के प्रयोग में स्वतन्त्रता का व्यवहार हुआ है। उदाहरण के लिए दुर्मिल सवैया।

आधुनिक काल में आइए। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के प्रयास प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत के वार्णिक वृत्तों का पुनः उद्धार हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश आशातीत सफलता के अभाव में इन्हें शीघ्र ही भुला दिया। उर्दू बहरों के सफल प्रयोग श्री नाथूराम 'शङ्कर', लाला भगवान दीन, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने किए। 'हरिऔध' जी के 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' का अच्छा स्वागत हुआ। इन पंक्तियों के लेखक ने इसी शैली में 'चटकीले चौपदे' की रचना की जो अभी अप्रकाशित है। उर्दू की सभी बहरें प्रायः हिन्दी के मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत गृहीत हो सकती हैं। लय की दृष्टि से हिन्दी वर्णिक तथा मात्रिक के अन्तर्गत में आ सकती है। १९१८ के बाद मुक्त छन्द ने हिन्दो कविता संसार में प्रवेश किया। प्रत्येक पंक्ति में मात्रा भिन्न होती हैं। उदा० पन्त की 'परिवर्तन' शीर्षक प्रसिद्ध कविता है। पश्चात रबर, केंचुआ, स्वच्छन्द, कंगारू आदि छन्द आये। इनमें पंक्तियों को छोटा बड़ा रख लिया गया। छन्द की लय और भाव की लय सुरक्षित है। 'निराला' इन छन्दों के जनक हैं। भाव संवेदनात्मक होते हैं। इनमें भावधारा स्वच्छन्दतापूर्वक पल्लवित की गई। एक नवीनतम रूप है जिसमें छन्द है ही नहीं। इसके पोषक लय की आवश्यकता भी नहीं अनुभव करते। इस विचार की सत्यता और इस रूप की सफलता विश्वसनीय नहीं। लय की उपेक्षा सम्भव नहीं। इसके विधान की अनिवार्यता स्वीकार करनी पड़ेगी। गद्य और पद्य में अन्तर रखना ही पड़ेगा। पद्य में गद्य से भिन्न गति वांछनीय है। कविता में भावावेश में निःसृत वचन होते हैं। इस निःसृति में लय की प्रतिष्ठा स्वाभाविक धर्म है।

हिन्दी में वीर-काव्य की परम्परा

श्री वीरेन्द्र

हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव के समय हिन्दू-राज्य आपस में एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बने हुए थे और हृदय की भावना अपने प्रतिद्वन्दी को पराजित करने के लिए उत्तेजना एवं वीरता से ओत-प्रोत रहती थी। ऐसी अवस्था में उद्वेलित हृदय की भावनाओं को जिस भाषा में व्यक्त किया गया उनका ओजपूर्ण होना स्वाभाविक था। युग की परिस्थितियों को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि उस समय केवल वीरगाथाओं से सम्बन्धित रचनायें ही उन्नति कर सकती थीं। उस समय कन्या हरण की प्रथा व्यवहार में थी। अतः चारण राजाओं को कन्या-हरण के हेतु उत्तेजित करने के लिए, कन्या के शृङ्गार-पूर्ण सौन्दर्य का भी वर्णन करते थे, जिससे काव्य में शृंगार का भी पुट मिलता है।

हिन्दी-साहित्य के अभ्युदय काल में राज्य एक राजा के आधीन न होकर कई राजाओं में विभक्त हो गया था अथवा यों कहा जाय कि किसी एक केन्द्रीय सत्ता का अभाव था। वस्तुतः जिनमें ओजपूर्ण हृदय की उद्वेलित भावनाओं को अतिरञ्जना के साथ अभिव्यक्त करने की क्षमता थी, उन्होंने सम्पत्ति हस्तगत करने तथा राजहृद को उत्तेजित करने के लिए राज्याश्रय लिया। ये अभिव्यक्ति कुशल चारण युद्धों में अपने आश्रयदाताओं के साथ रहते थे और सामन्त तथा सेनापति का कार्य करते थे। वे अपने आश्रयदाताओं को प्रतिद्वन्दियों के प्रति उत्तेजित करने के लिए उनके पूर्व पुरुषों की वीरता का ओज तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, जो बड़े ही मार्मिक एवं सजीव होते थे। ऐसे ही लिपिबद्ध ग्रन्थ वीर-काव्य कहलाये जिनसे वीरकाव्य की परम्परा चल पड़ी।

इस युग का विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न नामकरण किया। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने वीरकाव्यों की प्रधानता देखकर 'वीरगाथा-काल' कहा तो डा० रामकुमार वर्मा ने ग्रन्थों के प्रणेता चारणों के होने से चारणकाल का नाम दिया और किसी लेखक ने हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था की अस्पष्टता के कारण 'अन्धकार-काल' के नाम से अभिहित किया। इस युग में काव्य के दो रूप पाये गये १ – प्रबन्ध-काव्य, २—मुक्तक या वीरगीत। प्रबन्ध-काव्य में चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो मात्र ही है और खुमान रासो, नरपति नाल्ह रचित बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज विजय आल्हाखण्ड आदि हैं जो वीरगीत में आते हैं।

हिन्दी में वीरकाव्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ खुमान रासो माना जाता है। इतिहासकारों के मत से इस पुस्तक का रचनाकाल आठवीं-नवीं शताब्दी है। परन्तु इसमें १६वीं १७वीं शताब्दी तक के वृतान्त मिलते हैं; जिससे ज्ञात होता है कि समय-समय पर इसमें विषय सामग्री जोड़ी गई। 'खुमानरासो' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत होने के कारण और इस पुस्तक के सम्बन्ध में विशेष खोज न होने के कारण कोई निश्चित मत स्थापित करना उचित नहीं। अगरचन्दजी नाहटा ने इस ओर कुछ प्रयत्न किया है फिर भी इसकी पूर्ण खोज अपेक्षित है।

पृथ्वीराज रासो हिन्दी का सर्व प्रथम प्रबन्ध-काव्य तथा महाकाव्य है। इस रासो के अनुसार चन्द्रवरदाई पृथ्वीराज का राजकवि होने के साथ-साथ सखा व सामन्त था। रासो में कृतिकार ने अपने को पृथ्वीराज का समकालीन बनाने का प्रयास किया है जबकि वर्ण्य-विषय तथा उसमें उल्लिखित संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों से कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। यह ग्रन्थ भी गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा के शब्दों में 'भाटों की कल्पना मात्र' से परे नहीं हैं। तत्कालीन

संस्कृत-ग्रन्थ 'हम्मीर महाकाव्य' तथा प्राप्त शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज के समय चन्द नामक कोई कवि नहीं था। हो सकता है पृथ्वीराज के आगे होने वाले वंशजों के आश्रय में चन्द नामक कोई कवि हुआ हो और आश्रयदाता के कहने से पृथ्वीराजरासो की रचना कर ख्याति प्राप्ति के लिये पृथ्वीराज का समकालीन बन बैठा हो क्योंकि पृथ्वीराज के बाद हिन्दू साम्राज्य के ह्रास का समय था तथा उसे ख्याति प्राप्ति की कोई आशा परिलक्षित न हुई हो।

साहित्य-सिद्धान्त की कसौटी पर कसने से हिन्दी के प्रारम्भिक युग को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इसका रचयिता छन्द-शास्त्र का ज्ञाता था। रस-योजना का सफल उपयोग हैं। इसमें शृङ्गार तथा वीर-रस का समावेश है। कहीं-कहीं पर व्याकरण की अशुद्धि तथा प्रबन्ध-काव्य के सिद्धान्तों का ध्यान नहीं रक्खा गया है। भाषा प्राचीन पश्चिमी हिन्दी, डिङ्गल व अपभ्रंश का प्रभाव एवं परवर्ती कवियों की आधुनिकता को लिए हुए है। स्पष्ट है कि समय-समय पर इसमें परिवर्तन होते रहे हैं। इसकी भाषा को देखकर कई विद्वानों को राजस्थानी का भ्रम हुआ है। परन्तु इसमें उस समय की पश्चिमी हिन्दी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें राजस्थानी शब्दों का भी प्रभाव है क्योंकि वे वीर रस के उपयुक्त हैं। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसकी भाषा राजस्थानी है।

दूसरे ग्रन्थ 'वीसलदेव रासो' में प्रबन्धकता का अभाव है। वीरगीत कहना ही उचित होगा। इसका रचयिता नरपति नाल्ह है जो रासो के अनुसार वीसलदेव का समकालीन था। वीसलदेव रासो का रचना-काल इस प्रकार है—

बारह सै बहोत्तर मझारि,
जेठ वदी नवमी बुधवार।

इस निर्माण तिथि के विषय में विद्वानों के दो मत हो गये। शुक्लजी तथा डा० श्यामसुन्दरदास जी ने संवत विक्रमी बारह सौ बारह माना है। इसके विपक्ष में हीराचन्द ओझा तथा अगरचन्द नाहटा ने संवत् विक्रमी बारह सौ 'बहोत्तरा' माना है। इसकी निर्माण तिथि भी संदिग्ध ही है। अब भी 'बहोत्तरा' शब्द बारह के स्थान पर प्रयुक्त होता है। मेरी समझ से संवत् विक्रमी बारह सौ बारह ही समीचीन होगा।

कथानक की ऐतिहासिकता भी संदिग्ध है। इतिहास में चार विग्रहराज हुए जो वीसलदेव भी कहलाये। परन्तु रासो में यह नहीं वर्णित है कि रासो का नायक कौन वीसलदेव था। ग्रन्थ-निर्माण-तिथि के अनुसार विग्रहराज चतुर्थ ही तेरहवीं सदी के आदि काल में हुआ। परन्तु रासो में वीसलदेव के साथ भोज की कन्या राजमती का विवाह लिखा है, जबकि भोज का समय बारहवीं सदी का आदिकाल है। अतः सौ वर्ष बाद वीसलदेव का विवाह राजमती से होना सम्भव नहीं। विग्रहराज तृतीय ही भोज का समसामयिक ठहरता है जिसकें साथ राजमती का विवाह सम्भव है। ओझाजी ने विग्रहराज तृतीय को ही रासो का वीसलदेव माना है और यह उचित भी है। वीसलदेव रासो तत्कालीन वस्तु स्थिति से दूर है और कवि वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग कर समकालीन बनने का लोभ नहीं संवरण कर सका। वीसलदेव रासो की भाषा उस समय की प्रचलित प्रारम्भिक हिन्दी का स्वरूप है। इस पर स्थानीयता का प्रभाव है। रस परिपाक की दृष्टि से वीरगीत का रूप देने में कुछ झिझक तो अवश्य होती है, क्योंकि वियोग शृङ्गार की ही प्रधानता है।

वीरगाथा काल में पृथ्वीराज विजय तथा आल्हाखण्ड वीरगीत में रचे गये। प्रचार की दृष्टि से आल्हाखण्ड का प्रचार अधिक हुआ। यह भाटों को कंठाग्र रहा करते थे और वे इसको गा-गाकर धनोपार्जन किया करते थे। अब भी उत्तर प्रदेश में आल्हा सुनाने वाले मिलते हैं। आल्हखण्ड तत्कालीन समय में लिपिबद्ध नहीं किया गया और भाटों तक ही सीमित रहा। इसमें कुछ अंश भाटों ने अपनी ओर से जोड़ दिए और कुछ भाव लुप्त हो गये। अब यह अपने वास्त-

विक रूप में नहीं पाया जाता है। इसमें वीररस का उपयोग कुशलता से हुआ है। महोबा के राजा एवं पृथ्वीराज के मध्य हुए युद्ध का इतना भावपूर्ण वर्णन है कि सुनते अथवा पढ़ते ही हृदय वीरता की उमङ्गों से भर जाता है। इस काल की अन्य कृति विजयपाल रासो हैं। 'जयचन्द प्रकाश' तथा शारङ्गधर द्वारा 'हम्मीर रासो' के रचने का अनुमान किया जाता है परन्तु उपलब्ध नहीं है। वीरगाथा काल की खटकने वाली बात ग्रन्थों का अभाव है। इसका कारण सङ्घर्षपूर्ण जीवन में अवकाश की कमी हो सकती है। दूसरी ओर वीरगीतों का मौखिक प्रचार चारणों एवं भाटों में होने के कारण वे लिपिबद्ध न किये जा सके कालान्तर में वे वीरगीत लुप्त होते गए और ग्रन्थों का अभाव छोड़ गये।

इस समय तक मुसलमान सम्राटों का प्रभुत्व भारत पर छाने लगा था उनके राज्य के आदिकाल में राज्य की ओर से किसी प्रकार का प्रोत्साहन इन कवियों को नहीं मिला और सामाजिक स्थिति इन मुसलमान बादशाओं के अत्याचार से त्रस्त हो चुकी थी। उनके लिये भगवदशरण जाने के अतिरिक्त कोई चारा न था। कवियों की वाणी से भगवान की पुकार सुनाई पड़ने लगी और भक्ति की रचनायें की जाने लगी। वीरगाथा काल की परम्परा कुण्ठित हो गई जिसका स्थान भक्तिकाल की परम्परा ने ले लिया। परन्तु वीरगाथा काल की परम्परा कुंठित हो जाने पर भी वीर काव्य की परम्परा बनी रही।

भक्तिकाल में वीरकाव्य ग्रंथों की रचना तो नहीं हुई परन्तु कभी-कभी भगवान के चरित्र का वर्णन करते समय उनकी वीरता का वर्णन किया गया। सूरदास के एक दो पद वीरता के हैं। तुलसी ने भी दोहों चौपाइयों में रामचन्द्र जी के शौर्य का वर्णन किया। इसके अतिरिक्त वीरकाव्य की रचना नहीं की गई। भक्तिकाल के अन्त तक मुसलमानों के अत्याचार बन्द हो चुके थे और उनकी प्रवृत्ति विलासिता की ओर अग्रसर हुई। ऐसी अवस्था में शृंगारिक रचनाओं को अधिक प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप रीति ग्रंथों का निर्माण हुआ। इस काल में शृंगारिक-ग्रन्थ रचनाओं के साथ वीर काव्य की भी रचना हुई। भक्तिकाल का अन्त तथा रीतिकाल का श्री गणेश केशव के द्वारा हुआ। केशव ने बावन छन्दों में रतन बावनी नामक वीरकाव्य की रचना की।

वीरकाव्य के प्रणेताओं में केशव के समकालीन 'राजविलास' की रचना करने वाले मान अथवा मण्डान कवि के सम्बन्ध में अधिक पता नहीं लगा। कवि ने इस ग्रन्थ में जगतसिंह के पुत्र महाराणा राजसिंह के युद्धों का वर्णन किया है। 'राज विलास' में कुछ घटनायें कल्पित हैं और ऐतिहासिक घटनाओं को बढ़ा चढ़ाकर कहा गया है। अतः यह अर्द्ध ऐतिहासिक ग्रंथ कहा जा सकता है। काव्य की सजीवता देखने से ज्ञात होता है कि कवि युद्ध-स्थल में उपस्थित था। वीर रस का अच्छा काव्य है, भावपूर्ण वीर स्थल देखने योग्य है। वीरगाथा काल की अपेक्षा परिष्कृत भाषा ग्रंथ में पाई जाती हैं।

रीतिकाल में ही भूषण जैसे वीरकाव्य के प्रणेता हुए। औरङ्गजेब ने कूटनीति छल दम्भ आदि का सहारा लेकर हिन्दुओं का दमन प्रारम्भ किया। ऐसी ही अवस्था में शिवाजी का अविर्भाव हुआ। हिन्दुओं की गिरती हुई दशा देखकर शिवाजी के हृदय में वड़वाग्नि जलने लगी। भूषण ने उस जलने वाली अग्नि को ओजपूर्ण वाणी द्वारा बाहर छिटकाना प्रारम्भ किया जिससे शिवाजी को अत्यधिक उत्साह मिला। इनकी कविता में राष्ट्रीयता की भावना निहित हैं। इन्होंने हिन्दू सत्ता को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। भाषा ब्रज है, तद्भव शब्दों का छूटकर प्रयोग किया गया है। भाषा में प्राचीनता एवं नवीनता का समन्वय हैं। भूषण ने 'शिवराज भूषण' 'शिवाबावनी' 'छत्रसाल प्रशंसा' आदि ग्रन्थ लिखे। यद्यपि 'शिवराज भूषण' अलङ्कार ग्रन्थ है किन्तु शेष ग्रन्थ ओज गुण सम्पन्न हैं और उनमें वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

वीरकाव्य के प्रणेताओं में छत्रसाल के दरबारी कवि गोरेलाल अथवा लाल का उच्च स्थान है। इनके द्वारा रचित 'छत्रसाल-प्रकाश' मात्र ही उपलब्ध है। इनकी भाषा पूर्ववर्ती कवियों से परिष्कृत है। इनके युद्ध-वर्णन को पढ़कर हठात् ही कल्पना की आँखों से युद्ध का दृश्य दिखाई देने लगता है।

वीरगाथा काल के 'तड़ातड़ भड़ाभड़' का प्रभाव इस युग के कवि सूदन पर पड़ा। सूदन ने केवल सुजान चरित्र की रचना की। इसमें सत जङ्ग सर्गों की भाँति हैं। प्रत्येक जङ्ग अङ्कों में विभाजित हैं। इसमें वर्णित घटनायें सं० १८०२ वि० से सं० १८१० विक्रमी तक की हैं। कवि ने अङ्कों के अन्त में ऐसी पंक्तियों को बनाया है जिससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक अङ्क बना-बनाकर दरबार में सुनाया गया। यथा—

'ताकौ चरित्र कछुक सूदन, कह्यौ छन्द बनाइकैं।
सजि सैन सूरज* चढ़ि ढयो कहि प्रथम अङ्क सुनाइकैं ॥'

मिश्र बन्धुओं ने ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १८१० वि० के उपरान्त ही माना है, परन्तु यह मत ठीक नहीं ज्ञात होता। इसके प्रमाण में कवि की अङ्कों की अन्तिम पंक्तियाँ हैं। ग्रन्थ अर्द्ध ऐतिहासिक है। इसमें सूरजमल जाट के शौर्य का विशद वर्णन है। ग्रन्थ ब्रजभाषा में रचा गया है। परन्तु काव्य में ओज लाने के लिये शब्दों का विकृत रूप बनाया गया है। शुक्लजी ने इनकी भाषा को 'तड़ातड़ भड़ाभड़' की संज्ञा दी है जो मन को उबा देने वाली है।

भूषण, लाल, तथा सूदन के सम्बन्ध में मिश्रित रूप से कुछ कहना अनुचित न होगा। इन तीनों कवियों में दो कवि भूषण और लाल समकालीन रहे और उनके आश्रयदाता शिवाजी और छत्रसाल उस समय की गिरती हुई हिन्दुओं की दशा को सम्हालने वाले थे। इन दोनों कवियों ने उनका गुणगान कर चारण परम्परा का निर्वाह तो किया परन्तु उनकी तरह अतिशयोक्ति पूर्ण न रहा और यदि कहा जाय कि मात्र अतिरञ्जना के लिए तथा धन लाभ के लोभ से ही किया हो तो ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं रही। परवर्ती कवि सूदन के विषय में भी यही कहा जा सकता है। तीनों कवियों की शैली भी लगभग एक रही। उद्देश्य भी एक रहा और उसमें वास्तविकता रही। वर्ण्य विषय की दृष्टि से "युद्ध की तैयारी में सूदन, युद्ध-वर्णन में लाल और आतङ्क एवं भागने के वर्णन में भूषण प्रायः सर्व श्रेष्ठ हैं।"

वीर गीत के रूप में प्राप्त 'जङ्गनामा' के लेखक श्रीधर की केवल एक यही छोटी सी रचना प्राप्त है। सर्गों के स्थान पर ग्रंथ चार जङ्गों में विभाजित है। ऐतिहासिकता का अभाव है। ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है और वीर काव्य की परम्परा में ही आता है।

इस युग में जोधराज ने प्रबन्ध काव्य रचने का प्रयास किया। नीमराणा के राजा चन्द्रभानु की आज्ञा से एक ऐतिहासिक काव्य 'हम्मीर रासो' को रचा जिसमें अल्लाउद्दीन तथा हमीर के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से ग्रंथ का कोई महत्त्व नहीं। कवि ने जनश्रुतियों एवं कल्पना के आधार पर काव्य-रचना की है। इसकी भाषा परिष्कृत, सरल व बोधगम्य है। रस की दृष्टि से वीर तथा शृङ्गार दोनों रसों का समागम है।

रीतिकाल में ही प्रसिद्ध नायिका भेद के ग्रंथ 'जगद्विनोद' के रचयिता पद्माकर ने 'हिम्मत बिरदावली' नामक वीर काव्य लिखा। इसमें राजधान के गुसाई उपनाम 'हिम्मत बहादुर' के युद्धों का वर्णन है। ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। नायक की प्रशंसा झूठमूठ लिखी गई है। 'हिम्मत बहादुर' के कई लड़ाइयों में हारने का वर्णन नहीं किया गया है। ज्ञात होता है कि कवि में धन लोभ की इच्छा वर्तमान थी, क्योंकि आश्रयदाता का गुणगान अतिशयोक्ति पूर्ण कर ऐतिहासिकता को ढका गया सा प्रतीत होता है। छन्द तथा भाषा-योजना पर भूषण का प्रभाव पड़ा है। शब्दों को तोड़ा मरोड़ा गया है। उपमा तथा अनुप्रास अलङ्कार का समावेश है।

---

* सुजान का ही दूसरा नाम सूरजमल जाट था।

रीतिकाल में अन्य ऐसी रचनायें मिलती हैं जिन्हें हम वीरकाव्य की परम्परा में ही मानेंगे। 'हम्मीर-हठ' के रचयिता चन्द्रशेखर कई राजदरबारों में आश्रय-दाताओं के यहाँ घूमे। अन्त में ये पटियाला नरेश कर्मसिंह के यहाँ जीवन पर्यन्त रहे। कर्मसिंह के पुत्र नरेन्द्रसिंह ने चित्रावली के आधार पर 'हम्मीर हठ' काव्य रचने के लिए कहा। चन्द्रशेखर ने चित्रावली के आधार पर इस काव्य की रचना की। व्रजभाषा में यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें ऊबा देने वाली नीरसता नहीं, शृङ्गारिकता का समावेश है। हम्मीर सम्बन्धी काव्यों में यह एक अच्छा वीर-गीत ग्रन्थ है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने 'हम्मीर रासो' की भूमिका में ग्वाल कवि द्वारा एक हम्मीर सम्बन्धी काव्य रचने का उल्लेख किया है जो प्राप्त है किन्तु प्रकाशित नहीं है। इस युग में अन्य कोई वीरकाव्य नहीं मिलता है।

वीरगाथाकाल एवं रीतिकाल के वीररस पूर्ण ग्रन्थों की प्रवृत्तियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि जहाँ राजाओं के कामोद्दीपन के लिए शृङ्गार का वर्णन किया गया वह उस काल में वीर रस के काव्य-ग्रन्थों की भी रचनायें हुईं। इसके साथ ही साथ इन दोनों रसों की विशेषता रही कि जब कवि राज्याश्रित रहे हैं, दोनों रस साथ-साथ व्यवहृत हुए। दोनों कालों में राजनैतिक परिस्थितियाँ समान रहीं। वीरगाथा-काल में केन्द्रित सत्ता का अभाव रहा और रीतिकाल में भी औरङ्गजेब की कूटनीति सफल न हो सकने के कारण उसका राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, सामन्तशाही बढ़ने लगी। इन्हीं अवस्थाओं के मध्य वीर तथा शृंगार रस में काव्य-रचनायें हुईं। हाँ काव्यों में यह अन्तर रहा कि वीरकाव्यों में शृङ्गार को आश्रय मिला परन्तु रीति-ग्रन्थों में वीररस को यह श्रेय नहीं मिला।

हिन्दी-साहित्य के चौथे युग आधुनिक-युग में पद्य-साहित्य यथार्थ वर्णन की ओर उन्मुख हुआ। किन्तु आधुनिक काल की काव्य-प्रणालियों रहस्यवाद, छायावाद आदि के मध्य वीर काव्यों की भी रचनायें हुईं। वियोगी हरि द्वारा लिखित 'वीर सतसई', श्यामनारायण पाण्डेय की 'जौहर' तथा 'हल्दीघाटी' इस युग के वीर काव्य की स्मृति-सज्जाएँ हैं। साथ में दोहों एवं चौपाइयों का महाकाव्य 'कृष्णायन' भी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह विशेषता रही है कि काल परम्परा की प्रगति के स्थगित हो जाने के उपरान्त भी उस काव्य की परम्परा अन्य कालों में भी बनी रही यद्यपि प्रधानता किसी एक परम्परा की ही रही। वीरकाव्य की परम्परा भी विभिन्न कालों में इसी प्रकार बनी रही और प्रकारान्तर से आज भी जीवित है। कवियों का ध्यान इधर भी जाना साहित्यिक-परम्परा के जीवन के लिए उपयुक्त होगा।

उत्तम और आकर्षक छपाई

मासिक पत्र, मैगज़ीन, पुस्तकें, प्रश्नपत्र और फुटकर सब तरह की छपाई के लिए आप हमें लिखिए—

साहित्य प्रेस, ५, साहित्य कुञ्ज, आगरा।

सूर की भाषा

श्री दीनबहादुर पाठक एम० ए० (प्र०), साहित्य-रत्न

सूर ने अपने काव्य के लिये अपने इष्टदेव की विहार भूमि व्रज की ही भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में व्रजभाषा का जो परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप मिलता है, उससे ऐसा आभास होता है कि व्रज भाषा कई शताब्दियों पूर्व से ही काव्य-भाषा रही होगी। सूरदास ने उसे ही सुसंस्कृत बना कर साहित्यक रूप प्रदान किया होगा। खेद है कि इनके पूर्ववर्ती कवियों का साहित्य उपलब्ध नहीं है जिससे इनकी रचना का तारतम्य जोड़ा जा सके। फिर भी अपभ्रंश मिश्रित डिंगल या सधुक्कड़ी भाषा के रूप में जो साहित्य प्राप्त है उससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सूरदास से पूर्व भाषा का रूप व्यवस्थित न था, संत कवियों के पद व वानियों से यह स्पष्ट है। इस प्रकार सूरदास साहित्यिक-व्रजभाषा के आदि कवि ठहरते हैं।

सूरदास ने बोलचाल की भाषा को ही व्यापकता दी। यह शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप थी। इसमें माधुर्य पहले से ही विद्यमान था, दैवयोग से उसे सूर के कोमल कण्ठ और उगती हुई विकासोन्मुख नववयी प्रतिभा का संयोग भी मिल गया। संगीतात्मकता अपने आप आ गई।

ब्रज भाषा के ठेठ शब्दों के साथ ही साथ सूर ने संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द भी प्रचुर मात्रा में अपनाये। इससे उनकी भाषा को व्यापकता मिली और वह केवल व्रज की न रहकर समस्त भारत की धर्म-भाषा बन गई। शब्दों के धनी सूर ने एक ही प्रसंग को विभिन्न ढंगों से व्यक्त किया। भावानुकूल शब्द चयन उनकी अपनी विशेषता रही है।

सूर का भाषा-विषयक दृष्टिकोण उदार था। इसलिये उन्होंने प्रसंगानुकूल खड़ी बोली, पूर्वी, पञ्जाबी तथा बुन्देली और गुजराती आदि भाषाओं के शब्दों को भी अपनाने में किसी प्रकार की झिझक या संकोच का अनुभव नहीं किया। मुसलमानों का संसर्ग हो गया था, अतः अरबी, फारसी के शब्दों के लिये भी उनका काव्य-द्वार खुला रहा। इस तरह सूर ने देशी विदेशी विविध भाषाओं के मेल से अपनी भाषा विषयक जो खिचड़ी तैयार की वह स्वादिष्ट होने के साथ-साथ बल और स्फूर्ति प्रदायिनी भी हुई। उदाहरण के लिये हम कुछ शब्द नीचे दे रहे हैं:—

व्रज के ठेठ शब्द—छाक, कनियाँ, भौड़ा, अवसेर।

फारसी शब्द–खसम, जवाब, बकसौ, जहाज, खर्च।

अवधी शब्द—खोइस, सोइम, होइस, इहवाँ, मोर, तोर।

पञ्जाबी शब्द—प्यारी (मूल्यवाली)।

गुजराती शब्द—वियो।

बुन्देलखण्डी शब्द—गाहिबी, साहिबी।

प्राकृत शब्द—सायर।

तत्सम शब्द—मुकुन्द, मकरन्द, पीयूष, अमी, विभावरी, भृङ्ग, इन्दु, सिन्धु, सम्भ्रम।

तुक के प्रेमी होने के कारण सङ्गीतात्मकता की रक्षार्थ सूर ने छन्दों की गति के अनुसार शब्दों को कहीं-कहीं तोड़ मरोड़ भी दिया है, पर उनसे आकर्षण में वृद्धि ही हुई है :—

'कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ तें, लवनी लिये खवावत।'

तत्सम शब्दों के प्रयोग में स्वाभाविकता लाने के लिए उन्होंने उन्हें सरल बनाया है और यथाशक्ति उच्चरित ध्वनियों के निकट लाने का प्रयास किया है। इसी कारण वे करुणा को 'करुना' तथा दारिद्रय को 'दारिद' कहना अधिक पसन्द करते हैं।

भाषा में लोकोक्तियों और मुहाविरों के प्रयोग से भाषा की व्यञ्जना शक्ति बढ़ जाती है और यथेष्ट सजीवता तथा प्रभावोत्पादकता भी आजाती है। किसी

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

भाव को हृदय पर ठीक-ठीक छाप बिछाने के लिए मुहाविरे अपना जोड़ नहीं रखते और जन-साधारण में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव-विशेष के स्पष्टीकरण में रामबाण है। सूरदास ने दोनों का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहाविरे तथा लोकोक्तियों द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है जो कई पदों से भी संभव नहीं था। लोक प्रचलित उपमाओं, मुहाविरों और लोकोक्तियों का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा को अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिये कितनी उपयुक्त बना लिया है, इसे नीचे के पद में देखें जिसमें प्रेम-विह्वला ब्रज-बालायें असह्य उपदेश देने वाले उद्धव पर सीधी-सादी भाषा में ऐसा चुटीला व्यंग करती हैं कि वे अवाक् रह जाते हैं—

आये जोग सिखावन पाँड़े !
परमारथी पुराननि लादे, ज्यों बनजारे हाँड़े।
हमरे गति-पति कमल-नयन की जोग सिखै ते राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिगे, एक म्यान दो खाँड़े।
कहु षटपद कैसे खैयतु है, हाथिन के संग गाँड़े।
काकी भूख गई बयार भखि, विना दूध घृत माँड़े।
सूरदास तीनो नहि उपजत, धनियाँ, धान कुम्हाँड़े॥

इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण दिये जा सकते हैं—

(१) सोने के पानी मढ़ौं चोच अरु पाँखि।

(२) प्रेम ठगोरी लाय।

(३) डारि गये गर फाँसी।

(४) कहा कथन मौसी के आगे जानत नानी नानन।

प्रवाह भी उनकी भाषा का एक गुण है। भावों की अभिव्यक्ति के लिये किस तरह उपयुक्त शब्द आकर रचना को प्रवहमान कर देते हैं, नीचे की पंक्तियों में देखते ही बनता है—

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये श्याम रवितनया के तट,
अङ्ग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा,
नैन विशाल, भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे,
बेनी पीठि रुलत झकझोरी।
संग लरिकिनी चलिइत आवति,
दिन थोरी, अति छवि तन गोरी
'सूर' स्याम देखत ही रीझे,
नैन नैन मिलि परी ठगौरी॥"

वर्णन की सजीवता में चित्र मूर्त हो उठा है। गीत व्यञ्जना तो सूर-काव्य का प्राण है। समस्त भ्रमर गीत व्यञ्जना का कोष कहा जा सकता है। अलङ्कार उनके द्वार पर स्वयं हाथ बाँधे खड़े हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के प्रति उन्हें विशेष मोह है,

प्रमुख रूप से शृङ्गार एवं वात्सल्य का वर्णन करने के नाते सूर की भाषा में प्रसाद और माधुर्य गुण का अपूर्व समावेश है।

(१) चलौ किन माननि कुञ्ज कुटीर।

(२) मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।

यों सूर व्याकरण की अशुद्धियों से मुक्त नहीं हैं, परन्तु वे भाषा की अपार-गुणराशि के सम्मुख नगण्य हैं।

सम्पूर्ण सूर-साहित्य का अध्ययन कर लेने के उपरान्त हम सूर को तीन रूपों में पाते हैं—भक्त, गायक और कवि। अतः उनकी भाषा भी तीनों रूपों में बदलती हुई जान पड़ती है। प्रथम रूप में भाषा की गति प्रवाह, भाव और शक्ति के रूप में ऐसी निखर आई है कि आश्चर्य होने लगता है। अपने तीसरे रूप में तो वे साधिकार प्रवेश ही करते हैं। सरसता, लालित्य और मधुरता के साथ-साथ अपूर्व प्रभावोत्पादकता आदि उनकी भाषा के गुण हैं। वह पूर्ण संयत, परिष्कृत तथा हर प्रकार के भावों को व्यक्त करने में सक्षम हैं। सूर की भाषा ने उनके भावों की नवीनता और मौलिकता में मणि-कांचन संयोग किया है।

कोमलकान्त पदावली, भावानुकूल शब्द चयन, सार्थक अलङ्कार योजना, धारावाही प्रवाह, सङ्गीतात्मकता और सजीवता से युक्त सूर की भाषा सूर के ही योग्य थी।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आधुनिक हिन्दी गीति-काव्य

श्री यदुनाथसिंह 'निराश'

काव्य-साहित्य में प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य अधिकतर साथ-साथ चले हैं। यद्यपि प्रबन्ध-काव्य में कवि की दृष्टि जीवन के व्यापक तत्त्वों की ओर अधिक ठहरती है। परन्तु मुक्तक काव्य इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो, ऐसा नहीं—अँग्रेजी के 'लीरिक्स' और उमर खैयाम की रुबाइयाँ इसका प्रमाण हैं। विज्ञान के वर्तमान युग में कुछ तो व्ययस्ता और कुछ यथार्थ के प्रति अत्यधिक लगाव के कारण प्रबन्ध की ओर कुछ उदासीनता सी दिखाई जाने लगी है। युग-चेतना गीतों की ओर अधिक उन्मुख होती जाती है। यद्यपि प्राचीन काल में भी गीतों की रचना हुई और जयदेव विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी इत्यादि अपने गीति-काव्य के लिए हिन्दी-साहित्य में अमरता प्राप्त कर सके परन्तु इन्होंने प्रबन्ध-काव्य को भी समादर प्रदान किया। प्रबन्ध के लिए एक सधी हुई दृष्टि और निश्चित विचार-धारा की आवश्यकता होती है जबकि आज मानव-मन प्रतिपल नवीन दृश्यों एवं विचारों से प्रभावित एवं आन्दोलित होता रहता है। उसे एक दृश्य या विचार पर ठहरने का समय ही नहीं मिलता है। आज के युग में आदमी में वह शक्ति ही नहीं कि तुलसी और सूर की तरह एक ही विचार और भाव को लक्ष्य बनाकर हजारों पृष्ठ के विशालकाय प्रबन्ध-काव्यों का सृजन कर सके। ऐसी अवस्था में पल पल पर होने वाली नवीन भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए गीत अनुपयुक्त नहीं।

गीत—'भावावेशमयी-मनोदशा-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए की गई सङ्गीत-प्रधान शब्द-योजना का नाम है।' सामान्य भाव-भूमि से ऊपर उठकर कवि सुख-दुख के अमर सङ्गीत से परिपूर्ण विश्व को अपनी प्रतिभा और रागमयी कल्पना के प्रकाश में कुछ भिन्न रूप में देखता है और उसे कुछ चुनी हुई रेखाओं के सहारे थोड़े से शब्दों के माध्यम से व्यक्त कर देता है। कोमलकान्त, संक्षिप्त एवं इतिवृत्त से सर्वथा उन्मुक्त, काव्य के नियमों से परे, पदावली, कवि के निश्छल आत्म-निवेदन, सहज स्फुरित उद्गार एवं सङ्गीत से समन्वित होकर अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं मनोमुग्धकारिणी हो जाती है। इसी पदावली का नाम गीत है।

हिन्दी-काव्य-साहित्य के वर्तमान युग को गीतों का युग कहा जा सकता है। विभिन्न विचारों एवं सिद्धान्तों (वादों) की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर गीत आशातीत शक्ति प्राप्त कर चुका है और करता जा रहा है। जयदेव ने जिसके द्वारा अपनी भक्ति, विद्यापति ने शृङ्गार-भावना, सूर ने अपने इष्ट की लोकरञ्जक लीलाओं, तुलसी ने अपना आत्मनिवेदन और मीरा ने प्रियतम के वियोग में अपनी कातर वेदना को अभिव्यक्त करके पूत बना दिया था, रीति-काल में कविता के राज्याश्रित होते ही वह लुप्त ही हो गया। परन्तु स्वदेश-प्रेम की एक लहर दौड़ते ही अगणित आत्मायें गीतों के रूप में मुखर हो उठीं और काव्य के एक नवीन युग, आधुनिक युग को जन्म दिया।

आधुनिक युग में सौन्दर्यमयी भावनाओं के अद्भुत काव्य की रचना हुई। शान्त और वात्सल्य रस प्रायः लुप्त से हो गए और करुण एवं विप्रलम्भ शृङ्गार आदि रसों का बाहुल्य हुआ। छन्द के बन्धन तोड़कर, अतुकान्त, मधुरावेष्टनमयी, कोमल-कान्त पदावली उत्पन्न हुई। भारतेन्दु युग में भक्ति तथा शृङ्गार से मिश्रित गीतों की रचना हुई। साथ ही देश प्रेम के वीर रस प्रधान गीतों की भी रचना हुई। निराला और पन्त ने लय और सङ्गीत के आधार पर रचना की। जहाँ पन्त ने अपने गीतों में कोमल और उदात्त

भावनाओं का अभिव्यञ्जन किया वहाँ प्रसाद के गीतों में रहस्य और दार्शनिकता को प्रधानता मिली। कल्पना प्रधान गेय गीतों की प्रणाली पर लिखी गई कविता की मनोमुग्धकारिता और प्रभावोत्पादकता रीतिकालीन छन्द-बहुल कविता से सैकड़ों गुनी अधिक है। उसकी संक्षिप्तता और स्वच्छन्दता ने उसे और अधिक आकर्षक बना दिया है।

भारतेन्दु युग के बाद प्रसाद ने हिन्दी-काव्य साहित्य में नवीन युग को जन्म दिया। उनके काव्य में काव्य-विषयों की नवीनता, भाव-जगत का संस्कार, मानवीय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण, भाव-सौन्दर्य की स्थापना, रहस्यवाद, छायावाद एवं प्रेम-साधना आदि विशेषताओं के साथ ही साथ गीतों का पर्याप्त महत्त्व है। आप ने अतुकान्त छन्द तथा सॉनेट (Sonnet) पद्धति पर गीत लिखे। उनके गीतों में कल्पना तथा सङ्गीतात्मकता की प्रधानता है—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही,
तारा-घट ऊषा नागरी।
खगकुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा।
लो यह लतिका भी भर लाई,
नवल मुकुल-रस-गागरी।"

प्रसाद के अधिकांश गीतों में छायावाद और गम्भीर दार्शनिकता के पुट मिलते हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रसाद-युग के गीतिकारों में प्रमुख हैं। उनके गीत हिन्दी-काव्य की विशेष निधि हैं। उनके गीतों में भावना ही नहीं शब्दावली भी गीतात्मक एवं मुखरित हो उठी है। उसमें भावों का तीव्र वेग है, तन्मयता है और तल्लीनता है। भाव और भाषा का समन्वय हमें उनके ही गीतों में देखने को मिलता है। उनमें हमें उनके प्रेम और भक्ति की कोमलतम भावनाओं का सहज-स्पन्दन और उनके अद्वैतवादी उद्धरणों का तन्मय राग मिलता है। 'परिमल' उनकी ऐसी ही मार्मिक और हृदयभेदी रचनाओं का संग्रह है। इन गीतों के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ करुणा और सहानुभूति के आधार पर खड़ी हैं। उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' में हुआ है। इन गीतों में विषय-वैविध्य अधिक है। कुछ गीतों में जिज्ञासा का भाव है, कुछ में भक्तिपूर्ण उद्गार हैं और कुछ में देशभक्ति है, कुछ में कवि की आशावादिता की अभिव्यक्ति है।

सुमित्रानन्दन पन्त का गीति-काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। उन्होंने कई गीत हिन्दी-साहित्य को ऐसे दिये हैं जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से बेजोड़ हैं। 'मौन-निमन्त्रण' उनका अमर गीत है। उसका एक-एक पद भावपूर्ण है। उसकी हृदय पर अमिट छाप पड़ती है। कल्पना की उत्कृष्टता और अज्ञात की अनुभूति में कवि को प्रकाश में, सघन मेघों में, वसुधा के यौवन में, उद्वेलित सिन्धु में, विश्व के अनन्त-सौन्दर्य में और तुमुल तम में जाने कौन रह-रह कर मौन-निमन्त्रण देता है। भावना के साथ भाषा भी व्यञ्जक है। 'छाया' भी उनका एक प्रसिद्ध गीत है। विस्तृत होने के कारण उसका सौन्दर्य बिखर सा गया है। 'गुञ्जन' में उनके छोटे-छोटे गीत अवश्य हैं परन्तु उनमें जीवन की दार्शनिक अभिव्यञ्जना अधिक हुई है इसलिए वे शुष्क और नीरस हो गए हैं। "लाई हूँ फूलों का हार लोगी मोल, लोगी मोल" भी उनका एक अच्छा गीत है। इसी प्रकार "सिखा दो ना हे मधुप कुमारि मुझे भी अपने भोले गान" भाव और भाषा की दृष्टि से अच्छा गीत है।

वस्तुतः पन्त के काव्य में गीतों की प्रचुरता नहीं है परन्तु उनके जो गीत हैं वे अत्यन्त सरल और सुन्दर हैं। भाषा की मृदुलता उनमें अपार है। कहीं-कहीं अलंकृत भाषा और कल्पना के आधिक्य से उनके गीत कुछ नीरस से हो गए हैं।

महादेवी वर्मा का गीति काव्य हिन्दी साहित्य की अमर-विभूति है। उनके गीतों में मीरा की सी विरह कातर बेदना है, प्रियतम के अभाव में अनन्त-रुदन है और इस रुदन में परम-ज्योति की सुखद-अनु-

भूति है। यह अनुभूति ही उनके लिए उल्लास-रेखा है और आत्म-परितोष की क्षितिज है। उनके गीत गतिशीलता, आत्म-विस्मृति, भाव-विदग्धता और सङ्गीत में अद्वितीय हैं। उन्होंने ही आज के युवकों को गीतों की भाव-भाषा दी है। "नीहार" और "रश्मि" में उनके वेदना-प्रधान गीत हैं और "नीरजा" तथा "सांध्यगीत" में वेदना के साथ ही रहस्यमय आत्म-परितोष भी है। उनके गीतों में चिर-अनन्त का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति का सरल भाव-चित्रण भी। उनमें काव्य-कला का मनोहर सौष्ठव भी है। एक उदाहरण देखिये—

"मेरे गीले पलक छुओ मत,
जग की आँसू लड़ियाँ देखो।
मेरे हँसते अधर नहीं,
जग की मुरझाई कलियाँ देखो॥

उमर खैयाम के जीवन दर्शन के आधार पर 'हालावाद' के प्रवर्तक, हरिवंशराय 'बच्चन' के गीत अपनी सरलता और सरसता के लिए प्रसिद्ध हैं। "सतरङ्गिनी" के गीतों में नाम के अनुकूल ही सौन्दर्य विविध वर्णों की रेखाओं में निखर सा उठा है। "प्रणय पत्रिका" के शीर्षकों में प्रकाशित गीत अनन्त-विहारिणी कल्पना और सौष्ठव के लिए सदैव अमर रहेंगे। सरलता और सरसता निम्न पंक्तियों में साकार हो उठी है—

"आज संगिनि प्रीति के तुम गीत गाओ।
सिसकियाँ बीता समय लेता रहेगा,
धमकियाँ संसार तो देता रहेगा,
आज तुम रसवाद में रसना डुबाओ।

× × ×

नरेन्द्र और भगवतीचरण वर्मा के गीतों में प्रगतिवाद की कठोरता होते हुए भी भावों में आत्मिक पूर्णता है। डा० रामकुमार वर्मा, 'अञ्चल', 'सुमन', 'नीरज', सुमित्रा कुमारी सिन्हा प्रभृति गीतिकारों ने भी अपनी-अपनी पृथक राहों पर चलकर गीति साहित्य की समृद्धि में अपार योग दिया है।

तरुण कवि रामनाथ अवस्थी के गीत बड़े ही भावनामय और हृदयस्पर्शी हैं। उनका निम्न गीत सदैव अमर रहेगा—

"मैं तुमसे इतनी दूर चाँद से जितनी दूर सितारे;
मैं पास तुम्हारे जैसे विद्युत के सङ्ग घन कजरारे।"

× × ×

श्री गोबिन्द प्रसाद त्रिपाठी 'अनल' के नवीनतम गीत अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के हैं। पहले तो वे कुछ निराश से होकर कहते हैं—

"कविता के युग बीत चले हैं मैं क्या गाऊँ,
अपने मधुमय गीत चले हैं कैसे पाऊँ ?"

परन्तु पुनः आशा के बिखरे हुए तारों को संजोते हैं शान्ति के माध्यम द्वारा—

"शान्ति का शृङ्गार भीख"

× × ×

'अनल'जी के गीतों में सङ्गीतात्मकता की प्रधानता है। 'ज्योतिष्क' में सङ्कलित उनके गीत बिल्कुल नये ढङ्ग के हैं। उनकी सरलता, सरसता, संक्षिप्तता और सङ्गीतात्मकता उन्हें अत्यन्त आकर्षक बना देती है। निम्न गीत उनका एक उत्कृष्ट गीत है—

बादल छाये सांध्य-गगन में तुम नहिं आये मेरे प्रियतम।
आशा के गृह-दीप जलाये,
बैठी हूँ प्रिय पलक बिछाये,
याद तुम्हारी रह रह आती,
कब की उर में रही छिपाये,
रे पल युग से बीत रहे हैं, तुम नहिं आये मेरे प्रियतम।

इस समय गीत लिखने वालों की एक बाढ़ सी आ गई है। पत्र-पत्रिकायें इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रही हैं। परन्तु हिन्दी में अभी एक ऐसी पत्रिका का अभाव है जो केवल चुने हुए गीत प्रकाशित करे जैसा कि साहित्य के अन्य अङ्गों के प्रकाशनार्थ पृथक पृथक पत्रिकाएँ हैं।

लोक-साहित्य और जीवन

श्री अमरबहादुरसिंह 'अमर'

साहित्य जीवन की जगत सम्बन्धी अनुभूतियों की चित्ररेखा है । कल्पना और भावना उसके दो चरण हैं । जिनके द्वारा चलकर साहित्य अपने गन्तव्य आदर्श या सत्य तक पहुँचता है । हमारे देश का जीवन साहित्य के इतना निकट रहा है और वह दैनिक जीवन में इतना घुला मिला रहा है कि उसको जीवन से अलग रखने की कोई गुञ्जाइश ही नहीं है । प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में दो प्रकार की भाषायें पाई जाती हैं—साहित्यिक भाषा और जन-भाषा । साहित्यिक तो वह भाषा होती है जिसमें बिद्वन्मण्डल अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है, साहित्य की रचना करता है और जो शिक्षितों तक ही सीमित रहती है परन्तु वह हमारी दैनिक भाषा नहीं होती, वह तो एक कृत्रिम भाषा होती है, वह एक स्टैंण्डर्ड भाषा होती है परन्तु हमारे जीवन के हर क्षेत्र में, हमारी हर साँस के साथ बोली जाने वाली एक और ही भाषा होती है जिसे जन भाषा कहते हैं; इसे बोली भी कह लेते हैं । यह जन-भाषा या बोली हमारी अपनी बोली होती है जिसे हम अपने सगे-सम्बन्धियों—माता-पिता भाई-बन्धु के बीच बोलते हैं । अपने देश के प्राचीन कालीन महान् पुरुष लोक जीवन के बीच रहते थे । उस समय नगरों का अभाव था, बस्तियों को पुर कहा जाता था, लौकिक शब्द का प्रयोग उस समय केवल लौकिक संस्कृत के ही साथ था । जो हो यद्यपि इसका निश्चित इतिहास कब से प्रारम्भ होता है कहना कठिन है अवश्य, किन्तु इसके उद्भव के विषय में इतना तो निस्संकोच कहा ही जा सकता है कि सृष्टि की प्रथम प्रभात में यदि मनुष्य ने कुछ गाया था तो वह लोक गीत था क्योंकि वह अपनी नैसर्गिक वाणी थी, वह अपनी बोली थी जिस पर कृत्रिमता का आवरण नहीं था ? यह लोक-साहित्य शताब्दियों का सम्बल है, यह युगों की देन है जिसमें हमारी संस्कृति, हमारा जीवन, हमारे आँसू और हास सुरक्षित हैं । यह साहित्य हमारी हर साँस के साथ निकलने वाला है, जीवन के अत्यन्त निकट से लिखा गया है । इसकी तरंगें "यावत चन्द्र दिवा करौ" हमारे जीवन को प्रभावित करती रहेंगी ।

जो भी हो आज भी हमें नाना-नानी की कहानियों में, जिनमें कतिपय मन-गढ़न्त और कल्पनातीत बातें रहती हैं, उतना ही आनन्द आता है जितना आदि मानव को आया होगा । उन्हें सुनकर हमारे मन में जिज्ञासा का जन्म होता है, हममें एक प्रकार का कौतूहल उत्पन्न होता है, उन असम्भव बातों के पीछे क्या रहस्य है, इससे जानने और ढूँढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है । कितना निश्छल, कितना पावन, कितना महान् और कितना ऊँचा होता है इनका आदर्श, यह कहना कुछ कठिन सा है । इस प्रकार की राजारानी की कहानी, उड़न खटोले की कहानी, दैत्य की कहानी, नाई और बाघ की कहानी क्यों लिखी गईं, इनके पीछे क्या भावना है और थी ? इसके अध्ययन की आवश्यकता है । इन कथाओं और कहानियों में जीवन है, रस है और नैसर्गिकता है । पञ्चतन्त्र और हितोपदेश तथा कथासरित्सागर की कहानियाँ जिसमें जानवर और पक्षी तक पात्र बनाये गए बहुत कुछ इन्हीं कहानियों के आधार पर हैं ।

परम्परा मौखिक होने के कारण इनका गेय रूप ही अधिक मिलता है । प्रायः ये कहानियाँ छोटे बच्चों को सुलाने के लिए घर की दादी उन्हें सुनाया करती हैं । देहात के जीवन में तो यही हरियाली है—शीत-की सैरदी में सन्ध्या को अलाव के पास बैठ कर चिलम में तम्बाकू भर कर तरह-तरह की कहानियाँ कहना । इनके जीवन के समस्त आमोद-प्रमोद इसी

प्रकार के होते हैं। हमारे पूर्वज इसी प्रकार अपने परिवार के बीच में कहानियाँ कहते रहे होंगे जिसकी परम्परा आज भी वर्तमान है। जीवन में कृत्रिमता की बाढ़ के साथ इनकी परम्परा लुप्त होती जा रही है। शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति अभी तक भूल कर रहे थे, आज की आधुनिकता तो इनसे अछूती रह जाती है परन्तु प्रत्येक घर की बूढ़ी औरत कम से कम एकाध कहानी प्रत्येक सन्ध्या को अवश्य सुनाती है फिर बच्चों के कौतुकी स्वभाव की परितृप्ति भी तो होनी चाहिए। इन कहानियों में बीच-बीच में गा-गा कर कहे जाने वाले अंश बहुत पाए जाते हैं। इसका एक कारण है कि कविता में होने के कारण इनकी श्रुति परम्परा को बनाये रखने में बड़ा सहारा मिलता है। कतिपय कथानक तो पूरे के पूरे पद्य में ही होते हैं और उनको लोगों ने कण्ठस्थ कर लिया है। इनके आदर्श बड़े महान् हैं। किसी उच्च भावना का प्रतिपादन करते हुए उनका अन्त होता है। प्रायः भरत वाक्य में इनका अन्त होता है जहाँ कथाकार को यह कह देना पड़ता है कि "जैसा इनका दिन लौटा वैसा भगवान् सब का लौटाये।" यह है अपने देश का आदर्श, यह है हमारी लोक गीतों की सदाशयता और यह है उनका महत्त्व। अधिकांश कहानियाँ सुखान्त होती हैं, जहाँ राजा अपनी रानी या अभिलषित वस्तु को पाता है, प्रेमिका अपने प्रेमी को पाती है। इसी प्रकार उन कथाओं के माध्यम से कथाकार सुनने वालों को सतत प्रयत्नशील और सच्ची लगन से प्रयास करने की शिक्षा देता है।

बन्ध्या स्त्रियों का जीवन कितना दुखी होता है, समाज में उनको कितनी भर्त्सना मिलती है, उसका मुख देखना कितना अपशकुन और अशुभ माना जाता है इसका एक दृष्टान्त एक कथा से लीजिये। एक बन्ध्या स्त्री अत्यन्त दुखी है। भगवान् ने उसे निस्सन्तान बनाया है, स्त्रियों के लिये इससे बढ़कर ग्लानि की वस्तु दूसरी हो ही नहीं सकती। उसकी पड़ौसिनें उसको देखकर नाक-भौंह सिकोड़ती हैं, उसे ग्लानि होती है, वह एक नागिन की बिल पर जा बैठती है कि नागिन निकल कर काट ले और सारा दुख तथा कलङ्क सदा के लिए दूर हो जाय। नागिन निकलती है और उसके बैठने का कारण पूछती है और उसे उत्तर देती है कि यदि मैं तुम्हें काट लूँगी तो मैं भी बन्ध्या हो जाऊँगी अतः तुम शीघ्र मेरे सामने सामने से हट जाओ। मेरे नागदेव तुम्हें देखकर मेरे ऊपर कोप करेंगे। माथे पर हाथ रखकर वह उठती है और एक शेरनी के पास जाती है, शेरनी भी उसे खाने से अस्वीकार कर देती है और कहती है कि तुम्हें खाने से मैं भी बन्ध्या हो जाऊँगी अतः तुम यहाँ से चली जाओ, कहीं मेरे राजा तुम्हें देख लेंगे तो मेरे ऊपर अप्रसन्न होंगे। वह अपने भाग्य को रोती बिलपती हुई गंगा के किनारे जाती है और डूब मरने का उपक्रम करती है। गंगा की उफनकर बहती हुई धारा संकुचित हो जाती है, लहरें शान्त हो जाती हैं और उफान ठण्डा। गंगाजी उसकी कहानी सुनने के लिए प्रश्न करती हैं। वह पुनः कहती है कि बन्ध्या होने के कारण परिवार में, घर में, सर्वत्र उसका अपमान है, वह अपनी आकुलता तरङ्गों में शान्त करना चाहती है, डूबकर आत्म विसर्जन करना चाहती है। इस पर गंगा की धारा और भी शान्त हो जाती है और कहती है कि यदि तू मुझ में डूबेगी तो मैं भी बन्ध्या हो जाऊँगी तू कहीं अन्यत्र जा। निराश, हतोत्साह और दुखी होकर वह स्त्री वापस हो जाती है। वह समझती है कि बन्ध्या होना वास्तव में महान् कष्ट है। वह विलाप करती जा रही है, वन भी उसके विलाप पर आँसू गिरा देता है, समीर उसके अवसाद पर हाँफ जाता है किन्तु वह रोती ही जाती है। पार्वती जङ्गल में उसका रुदन सुनती हैं और कारण पूछती हैं। वह सभी बातें बतला देती है। वह सर्वत्र ठुकराई गई है, ठुकराई ही नहीं अपमानित भी की गई है। उसके हृदय को ठेस पहुँची है। पार्वती उसको शङ्कर भगवान की शरण में जाने के लिए कहती हैं, वहाँ जाने पर उसकी मनोकामना पूर्ण होती है, वह

प्रसन्न होकर घर आती है। यह है अपना जीवन। उस हतभाग्या की सहायता के लिए तुरन्त शङ्कर पार्वती आ जाते हैं। कितनी निश्छलता है, हमारे देवी देवताओं में। वे हमारे हैं, हर साँस के साथ वे हमारे निकट हैं, जागने के समय जागते हैं, दुःख में हमारी पुकार सुनते हैं और प्रसन्नता में पूजा कराते हैं। यह समस्त कथा गेय है। 'सोहर' में लिखी गई है। उसका विलाप सुनकर हृदय कचोटने लगता है गला भर आता है, क्यों? इसका एकमात्र कारण है कि यह अपने दैनिक जीवन की वस्तु है। हमारे जीवन में ऐसी बातें बराबर देखने को आया करती हैं। इनका उद्भव हमारे जीवन से हुआ है और होता है। इन कथाओं में कितना जीवन है, कितनी सार्वजनीन अनुभव की व्यापकता है। अपनी ही नहीं विश्व के समस्त लोक-साहित्यों में इस प्रकार के रत्न-कण बिखरे हैं जो परम्परा से हमारे हैं, जो हमारे जीवन की प्रत्येक साँस को अपने में समेटे हैं। हमारे द्वारा विलास, करुणा-क्रन्दन सबको अपने में सम्मिलित किये हैं।

अपने देश में स्त्री पति की सर्वस्व होती है। पति के साथ मरने और जीने में, दुःख और आनन्द उठाने में सब प्रकार का सुख और सन्तोष उसे मिलता है। वह चाहती है कि पति के चरणों की दासी रहे बस। इससे बड़ा आदर्श हो ही क्या सकता है। नीचे एक गीत कुछ इन्हीं रूपों को लिए हुए दिया जा रहा है—

जेठ बैसाख की गरमी, गरमी बहुत लागै री।
राजा पानन बँगला छवावौ दुवौ जने रहबै हो।
रानी तुम्हीं मोरी रनियाँ, तुहैं मोरी रनिया हो।
रनियाँ हम तौ चकटिया चलि जैवै लवटि नाहीं आइबै हो।
रनियाँ मैके को भेजौ सँदेसो बिरन तोरे आवै रे।
सासु की करकै कुटौनी, ननद की पिसौनी रे।
राजा तुम्हरी त चेरी है रहवै नैहर नाहीं जईबै हो।
नाम न चलै सासुर जी क औरों जेठ जी का हो।
राजा तुम्हरी त चेरिया कहइबै नैहर नाहीं जइबै हो।
एतना बचन सुनि रजवा त घोड़वा से उतरि पड़े रे।
रानी अब मोरे नैन जुड़ाने चकटिया न जइबै हो।
है कये नगर केरे मजुरा तु हँकरि बोलाओ हो।
मजुरा पानन बँगला छवाबौ दुनउ जनें रहबै हो।

[पत्नी कहती है कि हे स्वामी जेठ और बैसाख में बहुत गरमी पड़ती है और बहुत गरमी लगती है, आप पानों से बङ्गला छवाइये और उसी में दोनों प्राणी रहेंगे। पति कहता है, हे रानी, तुम तो मेरी रानी हो, मैं तो नौकरी पर चला जाऊँगा और उमर भर नहीं वापस आऊँगा। हे रानी! तुम अपने मैके से अपने भाई को बुला लो और वहीं चली जाओ। इस पर पत्नी कहती है कि मैं सास की कुटौनी करूँगी (कुटौनी-अनाज का कूटना) और ननद की पिसौनी (चक्की चलाना) करूँगी, आपकी दासी बनकर रहूँगी किन्तु मैके नहीं जाऊँगी। मेरे ससुर और जेठउत का नाम बहुत बड़ा है, मैं आप की चेरी कहाऊँगी किन्तु नैहर नहीं जाऊँगी। इतनी बात सुनकर पति देवता घोड़े से उतर पड़ते हैं और कहते हैं कि हे रानी अब मेरे नेत्र ठण्डे हुए, मैं नौकरी करने नहीं जाऊँगा। शीघ्रता से शहर से मजदूर बुलवाओ और मजदूरों से पानों से बङ्गला छवाओ जिसमें दोनों प्राणी रहेंगे।]

प्रस्तुत गीत प्राचीन होते हुए भी आज के ग्राम्य जीवन से दूर नहीं। आज भी स्थिति वही है। आज भी पति को रुपये के लिये विदेश जाकर नौकरी करनी पड़ती है। आज भी समाज में ससुर-सास जेठउत आदि की वही स्थिति है जो पूर्वकाल में थी। सास और ससुर की सेवा, ननद की पिसौनी, ननद भावज का झगड़ा आदि बहुत प्राचीन बातें हैं। भारतीय नारी का आदर्श है कि वह विवाहोपरान्त पति के दुख में दुखी और सुख में सुखी हो और सब में साथ साथ रहे। वह ससुराल में किसी भी अवस्था में रहने के लिए प्रस्तुत है किन्तु मैके में जाकर रहना उसे पसन्द नहीं। पति भी अपनी इतनी स्वात्म-परायणा पत्नी की वाणी सुनकर पिघल जाता है और उसे

(शेष पृष्ठ XXX पर देखिए)

डा० रामकुमार वर्मा और चारुमित्रा

श्री कन्हैयालाल गौतम बी० ए०, साहित्य-रत्न

डॉ. वर्मा की लेखनी को, काव्य की रस-स्निग्ध धारा बहाने में तथा साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक समालोचना को अभयदान देने में, मान्यता प्राप्त हो चुकी है किन्तु उनके एकाङ्कीकार का रूप सर्वाधिक अभिनन्दनीय है। आधुनिक एकाङ्की का जन्म सन् १९२९ में 'एक घूँट' से माना जाता है किन्तु एक घूँट में कला की जिस परम्परा का अनुसरण किया गया है, वह संस्कृत के 'अङ्क' नामक रूपक की कला की प्रतिकृति है और आज के एकाङ्की का विकास पाश्चात्य एकाङ्की नाटक (One Act play) की कला-परम्परा के आधार पर हुआ है। कहना न होगा कि डॉ. वर्मा कला के इस रूप के जन्मदाता हैं। १९३० में सर्व प्रथम डॉक्टर साहब का 'बादल की मृत्यु' नामक एकाङ्की प्रकाश में आया। तब से आज तक उनकी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकसित रूप एकाङ्की-जगत में देखा जा सकता है। उनकी सभी रचनाओं में 'चारुमित्रा' का प्रमुख स्थान है जो कई दृष्टियों से हिन्दी साहित्य की एक अभिनव कृति है। स्वयं लेखक ने लिखा है—"पाठकों ने चारुमित्रा को बहुत पसन्द किया अतः उसके लगभग पन्द्रह संस्करण हो गये हैं। उसका अनुवाद अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में हो चुका है।" हिन्दी के प्रमुख एकाङ्कीकार पं० उदयशङ्कर भट्ट एकाङ्की एवं पूर्ण नाटक की कला का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"बड़ा नाटककार अशोक को अहिंसावादी बनाने के लिये उसका पूर्व स्वभाव, उस समय की राजनीति, प्रजा की अवस्था, कलिङ्ग की लड़ाई, हिंसा की उग्रता देशकाल की परिस्थिति आदि सभी बातें रखेगा लेकिन एकाङ्की लेखक कलिङ्ग-युद्ध के रणस्थल का दृश्य दिखाकर अशोक के स्वभाव परिवर्तन और प्रतिक्रिया रूप से अहिंसा-प्रेम को जागरूक कर देगा।" निश्चय ही यह उदाहरण 'चारुमित्रा' की उत्कृष्ट एकाङ्की-कला का ध्यान रखकर दिया गया है। हर्ष का विषय है कि एकाङ्कीकार रामकुमार ने नाटककार रामकुमार के रूप में अशोक के जीवन से सम्बन्धित विस्तृत कथानक के आधार पर 'विजयपर्व' की रचना की है जो शीघ्र ही प्रकाश में आने वाला है। मेरा यह निश्चित मत है कि उसके प्रकाशित होने के उपरान्त भट्टजी के कथन की पुष्टि के लिए आदर्श एकाङ्की के साथ एक पूर्ण नाटक भी प्राप्त हो सकेगा।

डा० रामकुमार वर्मा एक सफल आलोचक भी हैं। अतः एकांकी-कला के सम्बन्ध में उनकी कुछ निजी मान्यताएँ हैं जिनका ध्यान करके ही उनके किसी नाटक पर विचार करना समीचीन होगा। डा० नगेन्द्र के अनुसार मूलतः एकांकी को कला की दृष्टि से दो वर्गों में बाँट सकते हैं—एक में विकास प्रधान तत्त्व होता है और दूसरे में उद्घाटन। डा० साहब के एकांकी विकास-प्रधान हैं जिनमें कथा शीघ्रता से प्रारम्भ होती है और कुतूहल के वेग से गतिशील होती चलती है। जहाँ एक कुतूहल की समाप्ति होती है दूसरे की सृष्टि होती है और इस प्रकार नाटक चरम सीमा पर पहुँचता है जहाँ उसका अन्त हो जाता है। चरम सीमा आजाने के उपरान्त एकांकी को और आगे घसीटना डा० साहब के मत से ठीक नहीं है। डा० वर्मा ने चरम सीमा को एकांकी का प्रमुख तत्त्व माना है जिसका वैभव उनके सभी नाटकों में दर्शनीय है। साथ ही उनका यह मान्य मत है कि एकांकी की कथा पूर्ण कथा का एक पार्श्व मात्र होती है। जहाँ से इसका कथानक प्रारम्भ होता है, उसके पूर्व बहुत सी घटनाएँ बीत चुकी होती हैं, अतः एकांकी के कथानक में ऐसी व्यञ्जना शक्ति का समावेश होना चाहिए कि कथा के पूर्वापर का सम्बन्ध स्थापित रहे। कथानक में व्यञ्जना शक्ति की आवश्यकता को उन्होंने कविता की भाषा में "दो आँसू, एक हँसी और आधा चुम्बन" के रूप में व्यक्त किया है जिसमें वर्षों के कथानक की व्यञ्जना छिपी हो।

'चारुमित्रा' में हम इन सभी मान्यताओं का समुच्चय पाते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस

एकांकी को लिखते समय सहृदय एकांकीकार का आलोचक मस्तिष्क भी चैतन्य रहा है। कथा कलिङ्ग की युद्ध-भूमि में अशोक सम्राट के अन्तरङ्ग सैन्यागार में खुलती है। चारु एवं तिष्य की बातचीत में दो वर्ष से चलते हुए युद्ध की व्यञ्जना पाठक पर होती है। कलाकार ने उस दो वर्ष के युद्ध का परित्याग करके संवेदना के उस मर्मस्पर्शी बिन्दु को अपना केन्द्र बनाया है जहाँ से समुचित लक्ष्य-भेद हो सके। कथा के इसी अंश में कुतूहल का प्रबल प्रारम्भ होता है। तिष्यरक्षिता चारु से कहती है 'महाराज ने जब से तेरे देश कलिङ्ग पर आक्रमण किया है।" इस कथन के साथ ही साथ दर्शक अथवा पाठक के मन में एक साथ कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। साथ ही चारु की देशाभिमान की उक्तियों को सुनकर पाठक या दर्शक को यह आशङ्का-सी होने लगती है कि यह कलिंग-बालिका कहीं अशोक को प्रवंचित तो नहीं कर देगी। यह जानकर कि वह अशोक की आजन्म सेविका के संस्कारों से ओत-प्रोत है कुशल अन्तर्द्वन्द्व का निर्वाह होता है। दूसरा कुतूहल चारु के पैरों में अभी एक नूपुर रहते ही अशोक का प्रवेश करके उसे नाचने का दण्ड विधान करने वाली घटना द्वारा उत्पन्न होता है। तीसरा स्त्री द्वारा अशोक की अमङ्गल कामना व्यक्त करते हुए प्रलाप करने के साथ व्यक्त हुआ है। इन कुतूहलों से गतिशील घटना "कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित होती हुई" चारु के बलिदान के साथ गरजती चरम सीमा पर पहुँचती है। अशोक के हृदय पर पहली चोट स्त्री की आत्म हत्या वाली घटना द्वारा करायी जा चुकी थी, अब चारु के बलिदान की मार्मिक चोट सहने की उसमें क्षमता नहीं थी और वह वहीं अपनी अहिंसा-नीति घोषित कर देता है जो एकाङ्की का अन्त है।

एकांकी की शिल्प-विधि का एक अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भी यह एकाङ्की उत्तरार्द्ध में प्रभावान्विति के समय कला की दृष्टि से कुछ डगमगाता हुआ अवश्य दीख पड़ता है। डा. सत्येन्द्र ने इसकी आलोचना में लिखा है "........नाटककार पहले अंश को जितना प्रबल बना सका है उत्तरार्द्ध को उतना नहीं....अशोक के तत्कालीन अन्तः संघर्ष का बहुत कम चित्रण हुआ है, जैसे अशोक तैयार ही बैठा था कि वह अपनी घोषणा सुनाएँ। उपगुप्त ने जिस ढङ्ग से चारुमित्रा की कथा सुनायी है वह भी कला के उत्कर्ष को ठीक स्थान पर शिथिल कर देती है।" नाटककार को भी इस बात का पता था कि कथा बढ़ रही है जिसका पता उपगुप्त के इस कथन से लगता है कि—'महाराज यदि चारुमित्रा के चरित्र-गान में कुछ विलम्ब लग जाय तो क्षमा करें।' किन्तु चारुमित्रा के बलिदान के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए कथा का इतना विस्तार आवश्यक था। हाँ यहाँ तक उनका कथन ठीक है कि उस समय अशोक और तिष्यरक्षिता में जिस अन्तः संघर्ष एवं करुण मनोदशा का चित्रण होना चाहिये था उसकी उपेक्षा हुई है और उनका चारु के प्रति प्रेम-प्रदर्शन कुछ व्यङ्ग सा प्रतीत होने लगता है। डा. सत्येन्द्र ने एक दूसरी बाल की खाल यह निकाली है कि अशोक के सत्रह सवारों के साथ निरीक्षण में जाने और सम्पूर्ण घटना के बाद लौट आने में उतनी ही देर सम्भव नहीं जितने में उपगुप्त और तिष्यरक्षिता में बातचीत होती है। निश्चय ही नाटककार यदि चाहता तो पहले ही दूसरे सैनिक के समक्ष उसकी आत्म-हत्या दिखाकर इस अस्वाभाविकता का परिहार कर सकता था, किन्तु इस प्रकार की नगण्य अस्वाभाविकताएँ देखना मेरी दृष्टि में बाल की खाल निकालना है।

इस एकाङ्की की कथावस्तु ऐतिहासिक है। डा. वर्मा को ऐतिहासिक कथावस्तु से विशेष प्रेम है। इस सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक कथानक में उन्होंने अपनी कल्पना का समुचित पुट देकर जो भव्य निर्माण किया है और अशोक के विचार परिवर्तन के पीछे जो अभिनव मनोवैज्ञानिक पीठिका घटना के रूप में रखी है, वह अत्यन्त उत्कृष्ट है।

चरित्र-चित्रण भी इस एकाङ्की में अत्यन्त कलात्मक एवं वैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है। अशोक के युद्धप्रिय एवं कठोर स्वभाव के उत्कर्ष को पूर्ण निखार पर पहुँचाने के लिए तिष्यरक्षिता के कोमल, कलाप्रिय और उदार चरित्र की व्यवस्था की गई है। जिसमें नारी-हृदय सुलभ कोमलता, सुकुमारता एवं आर्द्रता अपनी परम-सीमा पर पहुँची हुई है। वह अपने चित्र द्वारा अशोक के स्वभाव में परिवर्तन लाना चाहती है किन्तु अशोक की कठोरता और प्रखर हो जाती है। क्योंकि उसमें पूर्वजों के संचित वीरोचित संस्कार परम्परा से प्राप्त हैं। वह चित्र के वृक्षों से निकलते हुए रक्त को रंग से भरा देखकर कहता है—तिष्य! इन्हें वास्तविक रक्त से भर दो जो वहाँ पर्याप्त उपलब्ध था। वह अनावश्यक ढङ्ग से चारुमित्रा पर अविश्वास करने लगता है। उसकी कठोरता चरम सीमा पर पहुँची हुई है। ऐसे व्यक्ति में परिवर्तन उपस्थित करने में डा० रामकुमार वर्मा का ही कौशल अपेक्षित था जिसमें पूर्वजों के वीरोचित संस्कार बद्धमूल हैं तथा वातावरण भी उन्हें प्रखर करते गये हैं। किन्तु परिस्थिति का भी चरित्र-निर्माण में अत्यधिक हाथ होता है। नाटककार ने दो घटनाओं की परिस्थिति उत्पन्न की एक द्वारा उसे एक झटका लगता है और दूसरे द्वारा उसमें महा परिवर्तन होता है। इस प्रकार अशोक के ऐतिहासिक चरित्र की सुरक्षा के साथ ही उसमें मनोवैज्ञानिकता की सृष्टि की गई है। इन दो चरित्रों के बीच में चारुमित्रा का कल्पित चरित्र इतने प्रखर आत्माभिमान, सेवाभाव, त्याग-बलिदान, वीरत्व एवं कला-प्रेम से समन्वित हुआ है कि उसके प्रकाश में अन्य सभी चरित्र धूमिल पड़ जाते हैं और हठात् उसके ही नाम पर एकाङ्की का नामकरण भी हो जाता है। इसमें कुल मिलाकर चार पात्र हैं जो अपने-अपने स्थान पर खड़े होकर अपनी आवश्यकता का तथा एकाङ्की की सफलता का उद्घोष करते हैं।

संवाद अत्यन्त छोटे-छोटे और चुभते हुए हैं। डा० साहब के इस एकाङ्की में संवादों की जितनी मार्मिकता और सफलता लक्षित होती है उतनी उनके अन्य एकाङ्कियों में नहीं। इसमें लम्बे-लम्बे व्याख्यानों का प्रायः अभाव है तथा ध्वन्यात्मकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सम्पूर्ण वार्तालाप स्वाभाविक है केवल उपगुप्त ने कुछ उपदेश दिये हैं जो उनके लिए पात्रानुकूल ही कहा जायगा। नाटककार ने किसी पात्र के मुख से अपना विचार नहीं व्यक्त कराया है।

अन्त में अभिनेयता की दृष्टि से विचार करना शेष रह जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि डा० साहब का ध्यान उसकी अभिनेयता पर सर्वदा रहता है क्योंकि अभिनेता तथा निर्देशक के रूप में उन्होंने नाटक की अभिनेयता सम्बन्धी कठिनाइयों का स्वयं सामना किया है। इस एकाङ्की का सफल अभिनय प्रयाग विश्वविद्यालय में हो चुका है। नाटक के प्रारम्भ में जिस लम्बे अभिनय निर्देश की व्यवस्था की गई है, उससे तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि होती है तथा अभिनय-कर्ताओं का बहुत सा कार्य हल्का हो जाता है। अभिनय की दृष्टि से एकाङ्की में सङ्कलनत्रय का बहुत स्थान है जो पूर्ण नाटक में प्रायः तिरस्कृत हो चुका है। इस दृष्टि से वर्माजी अद्वितीय कलाकार हैं। उनका 'दस मिनट' इस कला-प्रदर्शन के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। चारुमित्रा नाटक में भी इन तीन संकलनों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। स्थान की दृष्टि से जहाँ नाटक खुलता है वहीं समाप्त भी हो जाता है। अन्य घटनाओं की सूचना निर्देश अथवा वार्तालाप द्वारा देदी गई है। काल भी अत्यन्त संक्षिप्त है और दो साल की पृष्ठभूमि को व्यञ्जित मात्र कर दिया गया है। घटना का तो पार्श्वमात्र लिया गया है जो अपने आप में सुगठित है। और उसमें कदापि 'लता की भाँति फैलने की उश्रृंखलता नहीं है'। इस प्रकार हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि 'चारुमित्रा' कलाकार की लेखनी का विजय-चिन्ह है।

नाटक में अनुकरण की समस्या

प्रो० गोपीनाथ तिवारी एम० ए०

अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में नाटक या कविता को 'अनुकरण' माना है। भारत में भी यही स्वर गूँजा है। "अवस्थानुकृति नाट्यम" (नाट्य शास्त्र) भरत मुनि का कथन है कि 'अवस्था का अनुकरण नाट्य है।' अनुकरण का क्या अर्थ है? सिसरो अरस्तू के शब्दों की व्याख्या करता हुआ कहता है "नाटक जीवन की प्रतिलिपि है, यह रीति रिवाजों का दर्पण है। पश्चिम में 'अनुकरण' को पकड़ कर काफ़ी उछल कूद हुई। एक दल उन विचारकों का उत्पन्न हुआ जो कहने लगा कि नाटक में वास्तविक जीवन प्रतिबिम्बित होना चाहिए। जीवन की वास्तविकता से दूर का नाटक, नाटक नहीं। हम नाटक में वही देखें जो जीवन में प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है। वेशभूषा ही वास्तविक न हो वरन् शब्द और संवाद भी वास्तविक हो। यदि प्रेम करने में हम गद्य का प्रयोग करते हैं तो क्यों नाटक में पद्य प्रयुक्त हो? यदि क्रोध में भर हम रुकते-रुकते गद्य में अपने भावों को व्यक्त करते हैं या धारा प्रवाह फटकार सुनाते हैं तो क्यों हम नाटक में पद्य में क्रोध के भाव व्यक्त करें? प्रिया के विरह में नायक रोकर कुछ अस्पष्ट और टूटे फूटे शब्द कहे तो क्यों जबरदस्ती उसके मुख में एक सुन्दर कविता या मार्मिक गीत भरा जाय? यह वास्तविकता से दूर है। अतः यह वास्तविक अनुकरण नहीं। अनुकरण का अर्थ है, हूबहू चित्र। जैसे फोटू में मुख का घाव भी उतर आता है, टेंढ़ी नाक सीधी नहीं हो जाती, उसी प्रकार नाटक में जीवन के फोटू वाले चित्र खींचे जाय। यही है अनुकरण।

किन्तु क्या वास्तव में जीवन का सच्चा अनुकरण रङ्गमञ्च पर उपस्थित किया जा सकता है? क्या नाटक में वे ही शब्द पत्नी-पति के मुख से कहलाये जा सकते हैं जिन्हें वे कामुकता के अतिरेक में बक जाते हैं? क्या दो सौतें जिन शब्दों में गाली देकर झगड़ती हैं उनको हूबहू नाटक में लिखा जा सकता है? क्या नाटककार कागज पेंसिल लिये द्रुत गति से लिखने बैठेगा! दूकानदार जिन शब्दों से गाहक को फँसाता है क्या वे ही शब्द नाटक में आ सकते हैं? क्या एक खोंमचे वाला जिस खिचड़ी भाषा का प्रयोग करता है वही भाषा बोली जायेगी? संयुक्त राष्ट्र के मञ्च पर चीनी, रूसी, अंग्रेजी, अरबी, भारतीय और सिंघली जिन भाषाओं में बैठे बातें कर रहे हैं क्या नाटककार उन सबको उसी रूप में अपनायेगा?

स्पष्ट है न ऐसा हो सकता है, न वांच्छनीय है। यह असंभव है कि ठीक ठीक शब्दों को नाटककार याद करले या लिखले जब तक कि वह शब्द ग्राहक-यन्त्र साथ साथ लिये न घूमे। फिर यह वांछनीय भी नहीं। यदि नाटककार दो भंगिनों की लड़ाई उन्हीं के शब्दों में पेश करेगा तो कौन उस पुस्तक को पढ़ेगा, कौन उनमें रस लेगा? यदि नाटककार दो मित्रों की गाली गलौज भरी मस्ती की बात चीत, जिसमें साले, उल्लू, अहमक, गधे का बहुत बाजार खुला है, नाटक में देने लगेगा तो भांड की भड़ैती ही होगी, कला दूर से नमस्कार कर लेगी।

वास्तव में नाटककार वास्तविक अनुकृति न दे कलात्मक अनुकृति देता है। वह फोटू न खींच चित्र सजाता है। वह जैसे के तैसे शब्द या दृश्य न देकर ऐसे देता है जो जीवन के अनुरूप दिखलाई देते हैं। वास्तव में अनुकृति का अर्थ अनुरूपता है। हम नाटक में जीवन की नग्न वास्तविकता नहीं चाहते, जीवन ऐसा हो सकता है या ऐसा सम्भाव्य है, इसकी आशा करते हैं। नाटक का कृषक संसार में भी ऐसा ही है, इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। हम अधिक से अधिक यही कहेंगे, कृषक ऐसे ही होते हैं या हो

सकते हैं। नाटककार अपनी कला की शान पर चढ़ा कर वस्तुओं, पात्रों और शब्दों पर आब चढ़ा सामने लाता है। कला का अर्थ है कल्पना या प्रतिभा।

नाटककार अपनी कल्पना का प्रयोग कर पात्रों को सँवारता है। उनके शब्दों में तेज या सरसता भरता है। वह यह कार्य ऐसी निपुणता से करता है कि वे जीवन में सम्भाव्य प्रतीत हों। यदि किसी पात्र को देख दर्शक ने कह दिया, यह तो असाधारण है, जीवन में ऐसा नहीं होता। वहाँ ही नाटककार की सफलता फिसल पड़ती है। उसे जीवन के अनुरूप आकार और प्रकार देने पड़ते हैं, परन्तु वे जीवन की हूबहू तस्वीरें नहीं हैं। नाटककार जीवन के निर्जीव शब्दों और चित्रों को ले अपनी हृदय की चित्रशाला में ले जाकर उन्हें रङ्गता है, आवश्यकता हुई तो काट-छांट करता है। नाटक में ये सजीव चित्र ही 'अनुकृति' हैं।

भारतीय मनीषियों ने आरम्भ से ही इस पर बल दिया है। अतः कोरा यथार्थ जीवन नाटकों में होना चाहिए, इसको लेकर वाक् युद्ध नहीं हुआ। नाट्यशास्त्रकार अवस्था की अनुकृति को नाट्य कहता है। दश रूपककार का भी यही मत है। साहित्य दर्पणकार इसी बात को दूसरे शब्दों में कहता है "भवेदनिमयोऽवस्थानुकारः" अवस्था शब्द पर जोर है। इससे स्पष्ट है कि राम का अनुकरण नहीं करता है, उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुकरण करना है। अवस्था सापेक्ष होगी, निरपेक्ष नहीं। दुष्यन्त विरही है तो यह विरह अकेला नहीं हो सकता, किसी के सम्बन्ध से होगा। अवस्था का सम्बन्ध हृदय से अधिक है। नाटक में इसी कारण इसका महत्त्व है। नाट्यशास्त्र अन्यत्र कहता है "नाट्य भावानुकीर्तनम" (१,१०४)। भावों का अनुकीर्तन नाट्य है। वास्तव में यह अधिक व्याख्यात्मक परिभाषा है। नाटककार वास्तविक जीवित नर-नारियों के भावों का कीर्तन करता है, अपने शब्दों में कथन करता है। भावों से ही अवस्थाएं पैदा होती हैं। हृदय जैसा चलाता है, मनुष्य चलता है। इस भाव का जिसका बाह्यरूप अवस्था है, अपने शब्दों में कथन ही नाट्य है। यहाँ स्पष्ट है कि नाटककार अपना व्यक्तित्व भरता है, अपने शब्दों में भाव को गाता है।

रूपक की परिभाषा से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत में रूपक शब्द सभी प्रकार के नाटकों के लिये प्रचलित था। हिन्दी में रूपक के स्थान को नाटक ने ले लिया है। रूपकं तत्समारोपाद् (दसरूपक तद्रूपारोपात्तु रूपकम् (सा० दर्पण) आरोपण के कारण इसे रूपक कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि नाटककार की दृष्टि में नाटक खेलने वाले पात्र प्रधानता लिये हुये हैं। वह राम का वास्तविक जीवन देता है। परन्तु वास्तविकता इतनी ही है कि जैसा नट कार्य कर रहा है, राम भी ऐसे ही थे। नट स्वयं राम नहीं, वह राम के समान दिखलाई देता है। इसी प्रकार जो कुछ नाटककार देता है वह जीवन के समान या अनुरूप है। हूबहू जीवन नहीं। अतः अनुकृति का अर्थ भारतवर्ष में सदा 'अनुरूपता' के अर्थ में लिया गया है, कोरी नग्न वास्तविकता के अर्थ में नहीं।

अतः नाटककार को ध्यान रखना पड़ेगा कि जीवन को संवाद का अनुरूप बनाये, कलात्मक जीवन दे, न कि प्रतिदिन का वह जीवन जिससे हम ऊबे बैठे हैं, एक मानसिक व्यथा सँभाले बैठे हैं। इस दृष्टि से देखने पर नाटकों में कविता, गीत, कल्पना और विचारों का महत्त्व प्रतिपादित होगा।

साहित्य-सन्देश के सहायक-ग्राहक आप भी बन सकते हैं। आपको बिना मूल्य पत्र मिलेगा और हमें उसकी उन्नति के लिए सहायता।

राघवांक का हरिश्चन्द्र काव्य

श्री विश्वेश्वरय्या, बी० ए० 'प्रवीण'

दक्षिण भारत का राजनीतिक क्षितिज बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दियों में समर संतप्त था। किन्तु इन शताब्दियों की यह विशिष्टता रही कि विच्छिन्न भूखण्डों के शासक एवं सामन्त भी साहित्य, सङ्गीत एव कला के प्रति निष्ठावान् थे। बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरणों में ही बसवण्णा हुए जिन्होंने वीर शैव धर्म का नवीन रूप से सङ्गठन किया। वैदिक धर्म का निरादर करते हुए, सामान्य जनता को धार्मिक एवं सामाजिक शृंखलाओं से विमुक्त करने का प्रयास किया गया। धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता की उद्घोषणा ही क्रान्ति का उद्देश्य था। धर्मोपदेश में बसवण्णा का उद्देश्य यद्यपि काव्य की ओर न था, तथापि उनकी रसवाणी में जो भी अभिव्यक्त हुआ, उसमें काव्य-सौन्दर्य की कमी नहीं। साहित्य की गतिविधियों में क्रांति का रङ्ग चढ़ गया। इसी बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में वीर शैव परम्परा के समर्थक महाकवि हरिहर हुए। हरिहर, 'हरिश्चन्द्र काव्य' के प्रणेता राघवांक के मातुल एवं गुरु दोनों थे। ऐसी क्रान्ति के त्रिवेणी-सङ्गम में राघवांक का प्रादुर्भाव-कन्नड साहित्य क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी चमत्कार समझना चाहिए। कवि ने अपने काव्य की वस्तु ऐतरेय ब्राह्मण, सांख्यायन श्रौत सूत्र, वेदार्थ दीपिका एवं पुराण ग्रंथों से ली है। किन्तु, इस काव्य में हरिश्चन्द्र की पार्थिव दानशीलता एवं सत्यनिष्ठा की अपेक्षा दानशीलता की स्थिर मनोवृत्ति तथा 'सत्यं' की अपार्थिवता के स्वरूप को महत्त्व दिया गया है। अपने संस्कारों से अनुभूत एक अनल विशिष्टता कर्नाटक संस्कृति को प्रदान करना कवि का लक्ष्य रहा होगा।

राघवांक का समय निश्चित न होते हुए भी सभी विद्वान् ई० ११६५-१२८० के बीच मानते हैं। कहा जाता है कि उन्होंने हम्पे के देवराज के दरबार में 'हरिश्चन्द्र काव्य' को पढ़ा था और उनको 'शरभभेरुण्ड', 'उभय कवि कमल रवि' और 'अदट कवि निकरचोदन्त' की उपाधियाँ दरबार से प्राप्त थीं। उनके छः ग्रन्थ हैं—(१) 'हरिश्चन्द्र काव्य' (२) 'वीरेश चरिते' (३) सिद्धराम पुराण' (४) 'सोमनाथ चरिते' (५) शरभ चरित्र' और (६) 'हरिहर महत्त्व'। 'हरिश्चन्द्र काव्य' एवं 'सिद्धराम पुराण' का ही साहित्यिक महत्त्व है। हमें राघवांक की धार्मिक उदारता एवं स्फुट प्रतिभा का परिचय 'हरिश्चन्द्र काव्य' में ही मिल सकता है।

अब तक संस्कृत लक्षण ग्रन्थों के पदचिह्नों पर चलते हुए ही कन्नड़ में काव्य-प्रणयन होता था। किंतु राघवाङ्क की अनुभूति की अग्नि में राजनीतिक एवं धार्मिक संस्कार सम्मिश्रित हो गये थे। फलतः उन्होंने काव्य-सुन्दरी को अनेक साम्प्रदायिक शृङ्खलाओं से मुक्त कर नित्य नवीनता के पथ पर अग्रसर किया। इन्होंने ही 'षट्पदि' की रूप-रेखा निश्चित कर कन्नड़-काव्य में उसका प्रचलन किया। इस दिशा में कविकुलगुरु का 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नवीन मित्येव न चाप्य वद्यम्' कवि का आदर्श रहा होगा। काव्य के प्रति कवि ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए काव्य के आरम्भ में ही कहा है—"रसजीव, भावमोडल, अर्थवव्यव, शब्दविसखेनुडि, अलंकारवे तोडिगेवु, तवे सुलक्षणवे लक्षण, विभक्त पदन्यास नडे, रीति सुकुमारते"।

काव्य में रस ही आत्मा, भाव, उत्तमाङ्ग, अर्थ उसके अवयव, शब्द विस्तार, उसकी वाणी, अलङ्कार, उसकी पोशाक, अमल पदयोजना, उसका चलन और सुकुमारता ही उसकी रीति है।

'हरिश्चन्द्र काव्य' में कवि का प्रभूत पाण्डित्य,

एवं महाकवित्व का संश्लिष्ट रूप देख सकते हैं। निस्सन्देह यह काव्य-अध्येता के लिए रस-सम्पत्ति का आगार है ही, साथ ही गम्भीर विचार-वीक्षक के लिए प्रगति-सेरु भी। अनुप्रास या तुकबन्दी के लिए राघवाङ्क ने न कहीं कवायद की है और न कहीं च्युति-संस्कृति का दोष ही पाया जाता है। भाषा उसकी ललित एवं सहज अनुगामिनी है। सरल शब्दों में गुम्फित भावों का आह्वान एवं मांसल अभिव्यक्ति कवि की अपनी विशेषता है। अलङ्कार एक भी फालतू नहीं, सभी भाव की परिपुष्टि के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। वैसे तो नवरसों का भी उल्लेखनीय स्थान इस काव्य में प्राप्त हैं, तथापि वीर रस (दानवीर) प्रधान हैं; तथा करुणरस पूरक।

मानव के आन्तरिक समर की प्रायः सभी दशाओं का वर्णन किया गया है। कभी-कभी कवि पात्र की मनोवृत्तियों की सतह में बैठकर ज्ञाता एवं ज्ञेय की एकता का उद्घाटन कर देते हैं, जो पाठकको विस्मय-विह्वल कर देता है। वीसवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक शास्त्रीय सिद्धान्त ढूँढ़ना तो लड़कपन होगा, क्योंकि कवि का काम शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रकाशन नहीं होगा, अतः ऐसे स्थलों पर रमणीय भावों की परिपुष्टि भी दृष्टिगोचर होगी।

'हरिश्चन्द्र काव्य' में प्रबन्ध पटुता, सहृदयता एवं संविधान कौशल का समाहार मिलता है। कथावस्तु का निम्नग्रहण रूपमें ग्राह्य बनाने के लिए कवि ने सब विधानों का प्रश्रय लिया है, जैसे—संविधान की कल्पना में संवाद-पद्धति का, वातावरण के चित्रण में चित्रकथन शैली का। स्थल-सङ्कोच से संवाद-पद्धति का एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया जायगा। (इन्द्र-सभा में वशिष्ठ-विश्वामित्र के बीच हरिश्चन्द्र की सत्य-स्थिरता की परीक्षा लेना तय हो गया है। उन दो मुनियों के बीच संवाद चल रहा है।) 'येन्दु भूवरनं परीक्षिसुवेयेन्न मन बन्द दिनवेनितु सूलातनी घरेयौ लिप्यन्तु तनकावात्र परियोलु सहस्र विधदोलु दिटवे दिटवेन्द्रे ने....' ('किस दिन राजा की परीक्षा लोगे ? जिस दिन मेरा जी चाहेगा; अवधि का समय वह जब तक इस पृथ्वी पर जीवित रहे; किन-किन विधियों से ? सहस्र विधानों; सच ? हाँ सच')।

आचार्य शुक्लजीने लिखा है—'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं।' कवि की भावुकता की सचाई को परखने के लिए इस कसौटी पर भी देखें! कथावस्तु हरिश्चन्द्र का जीवन है, जो प्रभूत सत्यनिष्ठा से परिव्याप्त है और इसी कारण कथा आकर्षक है। कवि ने उसकी दिव्य सत्य-श्रद्धा का दिग्दर्शन कराने के लिए जीवन की गम्भीरतम घटनाओं का, जब कि मानव के उन प्रलोभनकारी परिस्थितियों के गर्त में गिरकर प्रतारित होने की सम्पूर्ण सम्भावना है, आयोजन किया है, अतः वे जीवन के मार्मिक स्थल हैं। इस काव्य में—(१) चण्डाल कन्याओं से सम्वाद, (२) राज्य सर्वस्व दान, (३) राज्य समर्पण, (४) पत्नी-पुत्र विक्रय, आत्म विक्रय, (५) रोहिताश्व का मरण, (६) चन्द्रमति का दुःख आदि प्रसङ्गों को विस्तृत रूप से रस सिञ्चित किया गया है। ऐसे स्थलों में, पात्रों का अपने गम्भीर आदर्श की निश्चल-निष्ठा में विपुल विपदाओं का और भीषणतम परिणामों का सामना करना बहुत सुन्दर हैं। चन्द्रमति अपने शिरच्छेद के क्षणों में भी इतनी अचञ्चल, 'कलि हरिश्चन्द्रराय सत्यंवेरसि बाललि, मगं मुक्तनागलि, राज्यदोडेव विश्वामित्र नित्यनागलि, हरके, होडेयेन्दलु।' (वीर हरिश्चन्द्र सत्य के साथ जियें, पुत्र मुक्त हों, राज्य का स्वामी विश्वामित्र नित्य हों, यही मनौती, मारो)। 'वही मनौती', मारो',—में चन्द्रमति के अन्तःकरण की निष्कलङ्कता ही नहीं, अपितु उसके सतिधर्म का हृदय बोल रहा है।'

स्थिरनिष्ठ हरिश्चन्द्र की एकाध क्षण के लिए मानसिक प्रवृत्तियाँ निस्पन्दित रहीं, तुरन्त सम्भलकर—

"हरकेयं केलि हव्वने हारि ... पतियाते उलिदडे साकेनुत'—[मनौती सुन कर, मानसिक क्रियाओं

की सरपट में उछल कर ''''''अलम् है, प्रभु की आज्ञा पूर्ण हो तो'''''''']—तलवार अपनी धर्मपत्नी चन्द्रमति की गर्दन पर रख दी। (हरकेयं केलि हव्वने हारि' का यद्यपि ठीक अनवाद प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, फिर भी विज्ञ पाठक देखें कि शब्द की गति मैत्री में ही मानसिक संघात-विघात निहित है।)

कथावस्तु में कवि ने अपने इच्छानुसार संस्कार करने में कवि-स्वातन्त्र्य का आश्रय तो लिया ही बावजूद इसके अपनी तत्कालीन सङ्कीर्ण धार्मिक परम्परा से ऊपर उठ चुके हैं। ऐसे परिवर्तनों से कवि की मौलिकता जगमगा उठी है। कवि शैव चेतना का अग्रदूत था, जब कि नायक वैष्णवाग्रणी। किन्तु हरिश्चन्द्र की तेजस्व सत्य-प्रियता की ओर कवि की सहानुभूति आकृष्ट हुई। फलतः कवि ने अपनी रुन्द्र धर्मनिष्ठा पर आघात न करते हुए उस वैष्णवाग्रणी को सजीव शैव-चेतना के संस्कार में ढाल दिया। वह तो कवि की अपनी बात हुई किन्तु सहृदय पाठक को ऐसे प्रसङ्गों में लगता है कि कवि इस सांसारिक भावभूमि को पार कर एक दिव्य उर्वर भावभूमि पर पहुँच चुका है, जहाँ विभिन्नता में एकता की और विषमता में समरसता की उद्घोषणा है। इस आनन्द की ढलकाऊ भूमि पर द्वन्द्व का अवकाश नहीं, सन्देह का अवसर नहीं। कवि का यह वचन 'हरनें बुदे, सत्य, सत्यवें बुदे हरनु, एरडिल्लवेंदु श्रुतिसार तिरल ''' [शिव ही सत्यं है, सत्यं ही शिव है, द्वैत का अवस्थान नहीं—यह श्रुति घोषणा है] संवेद्य है।

वशिष्ठजी का निवास पम्पा क्षेत्र में ही दर्शित किया गया है। कवि का अपना क्षेत्र एवं इष्टदेव के प्रति अपार प्रेम है। इसीलिए उसने कहा—''तुङ्गभद्रेये गंगे; हम्पेयेकाशी; विरूपाक्षने काशीपति, कन्नडिगट तपोभूमि कन्नडनाडु''।

[तुङ्गभद्रा ही भागीरथी है; हम्पे ही वाराणसी है; विरूपाक्ष ही काशीपति; कर्नाटकों की तपोभूमि ही कन्नड राष्ट्र है'।]

जैसे पहले ही लक्षित किया गया है, नवीन धार्मिक क्रान्ति का प्रभाव कवि पर पड़ चुका था। हरिश्चन्द्र से चण्डाल कन्याओं की वाग्वैखरी वर्णव्यवस्था पर एक प्रघात ही है। उक्त कन्याओं की तार्किक सरणि में जो भी सबलता व्यक्त है, वह कवि की अस्पृश्यों के प्रति सहानुभूति ही है। उनके द्वारा जिस विचारधारा का उद्घाटन किया गया है, वह अखण्ड मानवता की भूमि पर है। बीसवीं शताब्दी के जो मानवतावादी सुधारक एवं आलोचक हैं, उनसे 'हरिश्चन्द्र काव्य' की ओर संकेत करना ही हमारा निवेदन है। उन अस्पृश्य कन्याओं का यह तर्क द्रष्टव्य है।

(१) ''हाडनोलिदालिसिद किविगे होलेयिल्ल, माताडि होगलिद बायो होलेयिल्ल, रूपनेरे नोडिद विलोचन के नेरे होलेयिल्ल, मैय मुडिगलिं सुलिव तंगालियिंतीडुव सुगंधमं दासिसिद नासिक के नाडे होलेयिल्ल, सोंकिंगे होलेयुंटाटते—कूडिद पञ्चेन्द्रियंगलोल, नाल्कधम दोन्द्रधिकमे येन्दरु।''

['संप्रीति से गीत सुने कानों को मेल नहीं; संभाषण कर प्रशंसा किये मुँह को मेल नहीं; रूप का अधिक वीक्षण किये विलोचनों को मैल नहीं; अंग और कच पर से चलित सुगन्ध संवाहित मन्दानिल को आघ्राणित नासिका को अधिक मेल नहीं; स्पर्श के लिए मेल का डावा? संसक्त पञ्चेन्द्रियों में चार अधर्म और हैं एक अधिक ?]

(२) ''वडतनद होत्ताने दोरकि फलवेनु, नीरडसिर्द हीत्ताज्य दोरक्कि फलवेनु, रुजेयडसि केडेदिंह हीत्तु रम्भे दोरकोंडल्लि फलवेनु साव हीत्तु वोडवियोडेतन दोरकि फलवेनु, कडुविसिलु हीडेदु वेडागि बीलवेमगे नीनोलिदु मणिदो डिगेगलनित्तु फलवेनु'' ? —आदि

[दीन दरिद्रता के समय हाथी मिले तो क्या उपयोग ? तृषित क्षणों में घी का क्या उपयोग ? रोग की सड़न के अवसर रम्भा की सम्प्राप्ति का क्या लाभ ? मृत्यु सन्निकट क्षणों में पृथ्वी के प्रभुत्व से क्या लाभ ? तीक्ष्ण रवितास से आक्रान्तित हो मूर्च्छित हम को पुरस्कृत करते हुए आभूषण दें तो क्या लाभ ?]

इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं किया जा सकता। चूँकि हरिश्चन्द्र श्रुति-पुराण प्रसिद्ध व्यक्ति था, जोकि वैदिक काल से हिन्दू मात्र को सत्य के प्रकाश को अनुप्राणित किये रहने वाला संबल है।

प्रकृति की विभूतियों की ओर कवि मुग्ध हुआ तो है ही, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हुए, उसकी शोभा पर भी मुग्ध है। किन्तु अधिक स्थलों पर हमें लगता है कि उस वर्णन के पीछे पृष्ठभूमि के रूप में मानवीय व्यापार हैं।

शील-चित्रण के तो राघवाङ्क प्रवीण हैं। 'हरिश्चन्द्र काव्य' में (१) हरिश्चन्द्र, (२) चन्द्रमति, (३) वशिष्ठ, (४) विश्वामित्र और (५) चण्डाल कन्याएँ प्रमुख पात्र हैं। मार्मिक परिस्थितियों में तो केवल कवि का शील विश्लेषण संश्लेषित हो जाता है। अतः संसक्त दूसरे पात्र के शील की व्यञ्जना भी उसमें रह जाती है। जैसे—(इन्द्रसभा में क्रोधाविष्ट विश्वामित्र वशिष्ठजी से कहते हैं कि आप अपने शिष्य को अटल रहने को कहदें, तब वशिष्ठजी का यह वचन संवेद्य है)।

१—"तरणि तेजंगेडदिरग्नि बिसुपारदिरु, सरसिरुहवैरि तंपं विडदिरेले मग्दखे चलिसदिरेन्दु बोधिसल देके निजबलिववे सुम्मनिग्लु। वर हरिश्चन्द्र सत्यंगेडदिरेन्दु बोसरिमुवंतागि........।"

[हरिश्चन्द्र से सत्यच्युत न होओ कहना उतना ही सङ्गत है जितना कि द्युमणि से अपनी तेजस्विता से रहित न हो, अग्नि से अपनी दह्यमानता से रहित न हो, चन्द्रमा से अपनी शीतलता से रहित न हो, और वृक्ष से अपनी अचलता से रहित न हो—कहना]

(हरिश्चन्द्र जङ्गल में एक भारी दुःस्वप्न से व्याकुल एवं विभ्रान्त हैं। चन्द्रमति अपने पतिदेव से प्रार्थना करती हैं)।

२—"मुनियबेड, मंत्रिगे, मगंगेनगे राज्यवेक चतुरंग सेनेगे सकल भण्डार के। नगरक्के सर्व परिवार के तेज दे लगेगे, निन्न हरणबके केडुबन्दडे वरलि, मिगे सत्यवं बिडु केडदिरु........।"

["क्रोधाविष्ट न हों, सचिव को, पुत्र को, मुझे, राज्य को, चतुरङ्ग सेना को, नगर और समूचे परिवार को, तेज की अग्नि के लिये तथा तुम्हारे जीवन-हरण के लिए सङ्कट आ पड़े तो आये, सत्य से भ्रष्ट न होओ।]

(हरिश्चन्द्र ने अपने राज्य सर्वस्व का दान कर दिया है। एक एक राजन्य सम्पत्ति के पास भी मुनि विश्वामित्र को ले जाकर परिचय के साथ सौंपा गया है। प्रजा कर्तव्य विभ्रान्त और दुःख-विह्वल हो गई है। वह अपने पितृ-तुल्य राजा की जगह विश्वामित्र को मानने को तैयार नहीं और विश्वामित्र तो, राजा को (जैसे भी) सत्य-विभ्रष्ठ करने की ताक में हैं। हरिश्चन्द्र अपनी प्रजा से विनय करते हैं)--

३—'मनदोलगे मरुगदिरि, चिन्तिसदिरि ललदिरि, मुनियदिरि, नोयदिरि, धृतिगेडदिरीगलेटउनेय शिवनेनिव कौशिकनोडेय, नादनातन वादपङ्कजक्के येनगे बेसगैवन्ते बेसगैबुदंजुवुदु, दिनयमं नुडिवुदोलैसुतिहु देन्दु परिजन के कैमुगिदेरदं बेडिकोंडं।" ['आप मन में व्यथित न हों, चिन्तित न हों, भीत न हों, क्रोधित न हों, दुःखित न हों, धृतिच्युत न हों, शिवस्वरूप कौशिक प्रभु हुए हैं। जैसे आप मेरे विनीत थे, उसी प्रकार उनके पद-पङ्कजों की सेवा करें, विधित रहें, विनीत वाणी से बोलें—मैं अञ्जलिबद्ध आप से प्रार्थना करता हूँ।']

कर्नाटक संस्कृति से अवगत होने वालों को महाकवि राघवांक के इस काव्य का अनुशीलन आवश्यक है।

साहित्य-सन्देश आपका सच्चा हितैषी है।
उसका प्रचार बढ़ा कर आप उसकी सहायता कर सकते हैं।

तेलुगु के लोकप्रिय कवि जि० जापुवा

श्री दुर्गानन्द साहित्य-रत्न

जापुवा जन्मजात कवि हैं। उनका व्यक्तित्व मुखरित है। कबीर के व्यक्तित्व और उनकी विश्रृङ्खल तथा विद्रोहकारिणी प्रतिभा के कवि जापुवा हैं। जापुवा उसी तरह समाज पीड़ित हैं जिस तरह मध्य-युग में कबीर पीड़ित थे। लेकिन इस पीड़न पर बीसवीं शती का अर्थ दंशन भी है। मध्य-युग की जीर्णित तथा दम तोड़ने वाली साम्प्रदायिकता का मानों जापुवा आखिरी ग्रास हैं। अर्थ और जाति के तीव्र किनारों वाले भयङ्कर सिन्धु में मन्थन करके हलाहल की ज्वाला जापुवा का जीवन है और उसकी निचली तहों से निकलने वाला अमृत कण इनकी कविता है। कविता और जीवन का अभङ्ग आत्मैक्य इनमें प्राप्य है।

मानव जीवन की बलिष्ट-समस्याओं में ये उलझ जाते हैं पर इनकी कला बहुत सुलझी हुई तथा स्पष्ट है छायावादी कवियों से ये विढ़ते हैं। जनता को जो कुछ बताना हो वह उसी तरह बताया जाय कि उसे वह पकड़ ले, जो कविता उसकी समझ में नहीं आयेगी वह उसकी नहीं। कविता जनता को सस्ती भावुकता में रङ्ग कर उससे वाहवाही लेने को आतुर न हो और इस तरह दुरूह या दुरारूढ़ भी न हो कि वह बिलकुल पकड़ में न आवे। कविता का पक्षी उड़ता हुआ, कभी नीचे आता हुआ इस तरह दौड़े कि लोग उसे उठ-उठकर कभी थक कर तथा रीझ खीझकर पकड़ सकें। जापुवा में यही एक अद्भुत शक्ति है कि उन्होंने लोगों को मुग्ध किया है। उनकी कविता पढ़ते-पढ़ते जनता अपने को खो जाती है। इस खो जाने पन पर ईर्ष्या करते हुए कुछ अहंम्मन्य विद्वान और कवियों ने कहा कि जापुवा की कविता में केवल चमत्कार व आकर्षण है, पांडित्य नहीं। वे चाहते हैं कि कविता के अखाड़े में पदों की और समासों की अलग-अलग कुश्तियाँ हों, लेकिन जापुवा अपनी कविता को अखाड़ा या अजायबघर बनाना नहीं चाहते। उनकी कविता स्वस्थ शरीर की भाँति है जिसके लिये कला की सारी शक्तियाँ एक अच्छे संतुलन में खपकर जीर्णित हो गई हैं।

यथार्थ और आदर्श को साथ मिलाकर जापुवा की कविता उसी तरह चली है जिस तरह प्रेमचन्द की कला कहानियों और उपन्यासों में चली है। मैं कहूँगा तो जापुवा तेलुगु के पद्य-प्रेमचन्द हैं। कला और जीवन के बीच के साहित्य-भाव को मिटाना, जीवन-धारी बदलकर जीवनदर्शी हो पीड़ित जनता के हँसने-पिसने, उठने-गिरने की भिन्न-भिन्न ध्वनियों पर कान डालकर मर्माहत हो जाना, समस्याओं के सुलझाव में सिद्धान्तों की शुष्कता को उभरने न देना, भाषा पर विजातीय रङ्ग देकर उसे कटु-तिक्त बनाना, सुधारना, माँजना तोड़-मरोड़ कर, ठोक पीट कर दृढ़ बनाना आदि सभी में जापुवा प्रेमचन्द की भाँति है। जापुवा अपने भावना-लोक से अतीत को इस फैसले पर बैठ कर देखते हैं कि वहाँ के खिंचे चित्रों में, रङ्ग ही नहीं, प्रायः वे भी श्वास भरते दिखाई देते हैं, इसलिये अलौकिक जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल उनकी कविता में पद पद पर दृष्टिगत होते हैं।

"अधोमुख ऊर्ध्व-पृष्ठ होकर ये पहाड़ के झरने,
सूखे नद को वाह! क्षणों में लगे आप भरने,
बने भँवर भी हाय! पांथ के प्राण निकाल चुगने,
तेरी कविता चिद्विलास! अतिरोचक है अब सुनने।"

प्रकृति के ऐसे चित्रों में परा-सृष्टि की अन्तर्वृत्ति भी साक्षात् होती है।

जापुवा अपनी भाषा में वह विशेषता लाये हैं जिसके कारण उनकी कविता उनके पूर्ववर्ती कवियों से अधिक आकर्षक बनी है। वह है भाषा का विश्लेषण-विधान। तेलुगु के प्राचीन तथा जापुवा के पूर्ववर्ती

कवियों में पदों का और समासों का वही गठबन्धन पाया जाता था जो संस्कृत तथा प्राचीन तेलुगु की साहित्य-परम्परा में रूढ़ और भावों में स्थूल था और नयी उत्तेजना या भाव-स्फूर्ति के लिए वह अलङ्कार निष्ठ प्रणाली, कोमल-कान्त-पदावली और संश्लिष्ट योजना जड़ तुल्य तथा मृत प्राय भी थी। पुरानी छन्द योजना के बीच रह कर (छन्द-भङ्ग करने वाले छायावादियों की बात अलग है) नये विचारों के और बदले दृष्टिकोण के अनुसार भाषा बना लेने का साहस उनमें नहीं रहा था। इस ओर जाषुवा ने बड़ी हिम्मत के साथ कदम उठाया है। उनके पद्यों में एक-एक अक्षर, शब्द और वाक्य स्पष्ट और तुला हुआ है।

फिरदौसी-काव्य में मुहम्मद गजनवी की लूट के बाद का वर्णन है—

गाङ्ग जल में धोकर खूनी तलवार,
जीत की भेरी लेकर अष्टादश बार,
गुलामी का देकर दुस्सह भार,
चला देश होकर वापस अनुदार।

यहाँ 'नेतुटि कत्ति' (खूनी तलवार) का उपयोग कर कविवर ने रक्त-सिक्त खड्ग के पुरानेपन को मिटा दिया है। इस तरह संश्लेषण प्रिय तेलुगु-भाषा का पद-पद का विश्लेषण कर के तेलुगु-साहित्य को उन्होंने नूतनता प्रदान की है। साहित्य-भाषा को ब्रज और अवधी से उठा कर खड़ी बोली में रखने से हिन्दी में यह विश्लेषण-कार्य सम्पन्न हुआ है। फिर हिन्दी आधुनिक भावों को आधुनिक कण्ठ में व्यक्त करने में समर्थ हुई। हिन्दी के विषय में यह बोली का अन्तर है। लेकिन तेलुगु में शैली का अन्तर है। क्योंकि तेलुगु में हिन्दी की तरह भिन्न-भिन्न बोलियाँ नहीं हैं। जाषुवा का यह कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है।

[illegible] के अतिरिक्त शैली में भी नयापन है जिसके लिए उन्होंने लम्बे समय से रगड़ खाई परम्पाराओं और कवि-समयों से अपना चञ्चु-पुट ऊपर उठा कर नये आसमान की ओर ताका और साँस ले ली। यह पश्चिमी आसमान नहीं बल्कि पूर्वी है। जाषुवा फारसी साहित्य से खास कर उमर खय्याम के साहित्य से बहुत प्रभावित हो गये हैं। उनके 'फिरदौसी' काव्य से ही यह बात स्पष्ट होती है।

"गुलाब के जल मैंने लोमी को नहलाया
वञ्चित हूँ नकली जरियों से स्वर्ण कभी आया।"

इस तरह उन्होंने सादृश्य का संभार विदेशी लेकर अलङ्कार-विधान में नव्यता समाविष्ट की। इतना होने पर भी उमर खय्याम के अनात्मवाद या भोगवाद का प्रभाव जाषुवा पर नहीं पड़ा। क्योंकि जाषुवा आस्तिक भारतीय हैं। शैली में फारसी रङ्गीन प्रकृति मिलेगी और विचारों में भारतीय गुरुता। अतः उनकी कविता जहाँ आकर्षक है वहाँ गम्भीर भी। धर्म से ईसाई, आत्मा से भारतीय, स्वभाव के निरंकुश, जाति के अस्पृश्य, अर्थ के शोषित, पीड़ित विक्रान्त जाषुवा की कविता में इस तरह के कटु-मधुर स्वाद का आना स्वाभाविक ही है। मानव जीवन की परख, विश्लेषण तथा उसके भव्य चित्र उनके कला निर्माण में पद-पद पर मिलेंगे। बीते युग के भग्न खण्डहरों पर, राजा से लेकर रङ्क तक को अपने क्रोड में छिपाये रखने वाली सुनसान श्मशान को समाधियों पर, लीला जगत् के प्रकृति-नेपथ्य में रहकर ब्रह्माण्डों से हँसी-मजाक करने वाले जगन्नाटक-धारी के मौन संकेतों पर, इतिहासों के पृष्ठों से वञ्चित अभागों के अश्रु-जल पर और जीवन के एटीम-जहाज पर सफर करते हुये जन्म-मरण के बंदरगाहों पर चढ़ने उतरने वाले असंख्य मुसाफिरों की व्यग्रता पर कवि की दृष्टि हर्ष विमर्ष के आवेग में आकर गीली हो, आँसू बहाती दिखाई देती है। यही जाषुवा की काव्य कला है। ये हैं तेलुगु के वर्तमान साठ साल के प्रौढ़ वृद्ध कलाकार जाषुवा के कविता-लोक के आलोक-स्तंभ। जाषुवा तेलुगु के अजेय कवि हैं। उनकी कविता में गर्मी है, कल-कूजन है, बिजली, फुफकार, चीत्कार सभी है।

आपके चार खण्ड काव्यों (फुटकर कविताओं के संग्रह) के अतिरिक्त 'फिरदोसी' 'चमगीदड़' 'कादिशीक' 'मुम्ताज' उत्कृष्ट काव्य हैं।

सभी काव्य अपने-अपने गुणों के लिये प्रसिद्ध ही हैं। फिर भी 'फिरदौसी' काव्य मानवीय तथा प्राकृतिक उज्ज्वल चित्रों से भरा-पूरा है। फारसी कवि फिरदौसी इस काव्य का कथा-नायक है। इसमें फिरदौसी ने मुहम्मद गजनवी के प्रलोभन में आकर तीस वर्ष के कठिन परिश्रम से 'शाहनामा' बृहद् ग्रन्थ बनाया। इसके बदले में कविवर की गर्दन पर क्रूर बादशाह की नङ्गी तलवार नाचने गई। निराशा पीड़ित हो फिरदौसी खूब रोया। पद्य-पद्य में उसकी सिसकियाँ हैं, गर्म उसासें हैं।

"पद्य पद्य पर बूँद बूँद मैंने शोणित की देदी
असत्यसन्ध को कुलीन जान कर काव्य सृष्टि मैंने करदी",

इस तरह कवि का कथन कहीं बन्द नहीं हुआ। इस महा दुख से जर्जरित होकर कविवर ने अन्य गुजरे भूपतियों के सङ्ग समाधि की मृत्यु शैय्या में सदा के लिए आराम ले लिया है। कवि-जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाले म्लेच्छ बादशाह मुहम्मद अन्तिम समय में अपने पश्चात्तापपूर्ण खिन्न कण्ठ को उठाकर चिल्लाते हैं, पागल की तरह रोते हैं और इतने में काव्य समाप्त हो जाता है। 'फिरदौसी' में मानव जीवन तथा प्रकृति के भव्य-चित्र अङ्कित हैं। अनमोल काव्य है।

फिरदौसी के बाद जाषुवा के 'चमगीदड़' ने तेलुगु में बड़ी हलचल पैदा करदी है, वह राष्ट्रीय-आन्दोलन की मार्मिक व्याख्या भी है। इस काव्य में कवि ने एक विचित्र वस्तु चुन ली है। यह काव्य महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। जिस तरह यक्ष ने अपनी विरह कहानी यक्षिणी तक लेजाने की प्रार्थना मेघ से की है, उसी तरह यहाँ एक अन्त्यकुलज चमार ने अपने तैलदीप की बत्ती बुझाने वाले चमगीदड़ के सामने अपना दुखड़ा रोया। उस विचित्र पक्षी से कवि चमार कहता है—'रानी चमगीदड़! जाओ महादेव को मुझ गरीब की दुख-कहानी सुनाओ।' चमगीदड़ के जाने के लिये कवि कैलास तक भारत देश में से एक रास्ता बनाते हैं। रास्ते में झाँसी, देहली जैसे इतिहास प्रसिद्ध स्थानों में उतरने तथा वहाँ की विशेषताएँ देखने की भी सलाह देते हैं। मेघदूत में यक्ष विरह-विधुर है तो इस काव्य का नायक कुलहीनता तथा अर्थहीनता से तड़पने वाला भारत-माता का नीचतम पुत्र और क्षुधा-पीड़ित चमार है। उसको अपना सन्देश भेजने के लिए आषाढ़ मास का मेघ कहाँ मिलेगा? अतः अपनी कुटी के एक कोने में टिमटिमाती हुई बत्ती को बुझाने वाला चमगीदड़ ही मिला है। यह काव्य अंग्रेजी में 'The bat' नाम से अनूदित हो रहा है। इस काव्य में आन्ध्र तथा भारत की संस्कृति का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। कथानक की कल्पना अनूठी है। तेलुगु साहित्य को इस पर गर्व है। जाषुवा के विचार अत्युत्तम हैं! 'मुमताज' में मुमताज के मृत्यु-वर्णन को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है मानो सांसारिक विभूतियों में मौन क्रांति उत्पन्न हो रही है। कवि पाठक को, किसी वैराग्य भूमि में ले जाकर छोड़ता है। इस काव्य में संगृहीत शृङ्गार-रस की सामग्री से विषय-तृष्णा विवर्धित नहीं होती बल्कि पारिवारिक जीवन के उज्ज्वल चित्र साक्षात् होते हैं।

वस्तु, भाव, स्वभाव आदि तमाम दृष्टियों से देखें तो हमें मालूम होता है कि जाषुवा का दुख हवाई या बातूनी नहीं है। आँतड़ियों में आग लगा कर प्राणों को भभकाने वाला है। मानव जाति जिन मर्मस्थलों में चोट खाकर कराह रही है, उनमें प्राण फूँकने के लिये ये अपना सञ्जीवन रस ले जाते हैं और चिकित्सा करते हैं। दुख में आपकी असली कला का रूप प्रत्यक्ष होता है। सभी रसों के भाव ये लेते हैं, लेकिन इन भावों को फिजूल, अनुचित और अप्रासङ्गिक परिकरों से उद्दीप्त कर न वे रसास्वादन ही चाहते हैं और न काव्यत्व-सिद्धि ही। आपकी कला-साधना यदि काव्य न बने, सिर्फ जीवन बने, यही पर्याप्त है। जाषुवा से कवि केवल तेलुगु जाति को ही नहीं बल्कि सारी मानव जाति को भव्य संदेश दे सकते हैं, उस जाति का सौभाग्य है जो ऐसे महान् पुरुषों को जन्म देकर संसार के सामने सगर्व खड़ी होती है।

साहित्यपरिचय
काव्य

आलोचना

शरत् के नारी पात्र—लेखक—श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २५०, मूल्य ४।।)

जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट है बँगला के विश्वविख्यात उपन्यासकार श्री शरच्चन्द्र चटर्जी के उपन्यासों के नारी-पात्रों का विश्लेषण प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। जहाँ तक हमारा विचार है, हिन्दी में यह पहली पुस्तक है, जो परिश्रम और गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ के साथ किसी उपन्यासकार के नारी-पात्रों को लेकर लिखी गई है। लेखक ने शरत् की सभी कृतियों में पात्रों का चरित्र चित्रण कर, परिशिष्ट में नारी पात्रों सम्बन्धी सामाजिक पृष्ठभूमि, सामान्य प्रवृत्तियों आदि पर विचार किया है। हिन्दी में अनुसन्धान करने वालों के लिये यह पुस्तक अनुकरणीय है। गम्भीर विवेचन के साथ ऐसी सरसता इस पुस्तक में है कि लेखक को बार बार बधाई देने को जी चाहता है। पुस्तक विद्वानों के तो काम की है ही शरत की रचनाओं की आत्मा में बैठने की इच्छा रखने वालों के लिये भी उपयोगी है।—कमलेश

कविता

सेतु-बन्धन—लेखक—श्री भारतभूषण अग्रवाल, प्रकाशक—रामचरनलाल, ६८ दरभङ्गा कालोनी, प्रयाग, २। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

'सेतु-बन्धन' तीन काव्य-रूपकों का संग्रह है, मिलनतीर्थ, शान्तिपथ और सेतु-बन्धन। रूपक सांस्कृतिक हैं, जिससे वर्तमान समस्याओं का समाधान प्राचीन दृष्टिकोण से किया गया है। प्रवचन-पद्धति का प्रयोग अधिक है। लेखक को 'सिद्धनाथकुमार' के "सृष्टि के साँझ तथा अन्य काव्य-रूपक" का अध्ययन करना चाहिए। परन्तु 'सेतु-बन्धन' में पद्यों के लिखते समय 'प्रवाह' अवश्य मिलता है, भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति लेखक की अगाध श्रद्धा भी है किन्तु सांस्कृतिक महत्त्व जीवन के चित्रण के माध्यम से व्यक्त होना चाहिए अथवा कोरा सन्देश व घोषणाएँ काव्य-रूपक को न काव्य रहने देती हैं न रूपक। लेखक की निष्ठा निश्चय ही भविष्य में अधिक सजगता के साथ व्यक्त होगी।

प्रेरणा—लेखक—श्री दानबहादुर पाठक 'वर', प्रकाशक—स्वयं लेखक (पयागपुर, बहराइच)। पृष्ठ ५०, मूल्य १।)

इस कविता संग्रह के गीत "तुम्हें देख कर कल्पना जागती है" को पढ़ कर सोचा था कि यह कवि भी सस्ती रोमानी भावनाओं के व्यापारी होंगे परन्तु आगे पढ़ा—

सघन कुञ्ज में बादलों की घटा को
चिकुर जाल की कालिमा देखता हूँ।

तो मन-मयूर नृत्य कर उठा। न जाने हिन्दी में

कितने धूलि भरे हीरे हैं किन्तु चर्चा होती है केवल उनकी जिन्होंने अपनी पार्टी बना रखी हैं। दलबन्दी से दूर रह कर कवि की मौन साधना भविष्य में और फलवती होगी क्योंकि इस संग्रह में कई गीत प्रेम की करुण अनुभूति व सफल अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं—"सरोजिनी अगोरती रही न वह मधुर घरी मिली, न चाँद व्योम आ सका, न रात चाँदनी खिली !" पंक्तियों को ही देखिए। आलोचकों के वरदान भले ही बदल जाएँ परन्तु कवि की पूजा के गीत अमर होंगे, इस संग्रह को पढ़ कर यही विश्वास होता है "पूजा के मेरे गीत अमर, तेरे वरदान भले बदलें"। "तुम्हारी शपथ मैं तुम्हारा नहीं हूँ" में रञ्जजी के गीत का आधार लिया गया। कवि यदि अपना मार्ग स्वयं बनाए तो अच्छा रहता है। हम कवि को उसकी सफलता के लिए बधाई देते हैं।

प्रथम सुमन—लेखक सत्यवती शर्मा, प्रकाशक–आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ४४, मू० १)

'प्रथम सुमन' प्रकृति सम्बन्धी, कुछ राष्ट्रीय तथा कुछ मन की आन्तरिक स्थितियों को व्यक्त करने वाली कविताओं का संग्रह है। कोमलता व ममत्व इन कविताओं में इतना है कि प्रकृति व कवियित्री के हृदय में अन्तर ही प्रतीत नहीं होता। मन की इसी अवस्था में ही कविता के स्वर हमें द्रवित कर पाते हैं। कलाकार स्वयं भूलकर ही दूसरों को तन्मय कर सकता है।

छायावादी स्पर्श अधिक होने से ये कवितायें प्रकृति के प्रति विस्मय व जिज्ञासा को बार-बार व्यक्त करती हैं। सत्यवती जी की अन्य रचनायें और भी उत्कृष्ट होंगी, इस संग्रह को पढ़कर कोई भी कह सकता है। —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

उपन्यास

सागर, लहरें और मनुष्य—लेखक–श्री उदयशङ्कर भट्ट, प्रकाशक–नसिजीवी प्रकाशन–नई दिल्ली। पृष्ठ ३११, मूल्य ४॥)

श्री उदयशङ्कर भट्ट के 'नये मोड़', 'वह जो मैंने देखा' आदि उपन्यासों के बाद उनका यह 'सागर, लहरें और मनुष्य' उपन्यास क्षेत्र में एक नया प्रयोग है। इसमें मछलीमारों (मछुओं) के जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। बम्बई के पास मछुओं का एक गाँव 'बरसोवा' है। सारा घटना-चक्र इसी 'बरसोवा' व बम्बई नगर के बीच घूमता रहता है। मछुआ अशिक्षित, असभ्य और आधुनिक संस्कारों से रहित जाति है। उनके अपने रीति रिवाज और जीवन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण हैं। आधुनिक सभ्यता के विषम जालों (complexes), ऐंठनों, आत्मछलनाओं व प्रदर्शनों से दूर इस जाति की कुरूपता के भीतर जो मानवीय सौन्दर्य है उसे देखने की आवश्यकता थी। लेखक ने इस उद्देश्य को पूरा कर एक बड़ा काम किया है। क्या ही अच्छा हो यदि विभिन्न जातियों के जीवन पर ऐसे ही उपन्यास लिखे जायँ? धूलि और कीचड़ से सनी भारत की अनेक जातियों के भीतर जो जातीय आत्मा व्याप्त है, सङ्घर्ष करने की जो क्षमता छिपी हुई है, उसे देख कर हम लोग भी इन जातियों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। जातियों व प्रदेशों के विषय में जानकारी बढ़ाने के लिए तो इतिहास हैं, समाज-शास्त्र के विवरण हैं परन्तु उनमें जीवन के मार्मिक-पक्ष उभर कर नहीं आ पाते जो इस उपन्यास की विशेषता है।

उस उपन्यास की शैली भी नवीन है। नायिका रत्ना, नायक माणिक तथा प्रतिद्वन्दी यशवन्त इन तीन पात्रों के नाम से उपन्यास को तीन भागों में बाँट दिया गया है। किन्तु पात्र विशेष की अपने भागों में प्रमुखता रहने पर भी कथा का विकास बराबर होता रहता है और ऐसा नहीं लगता कि उक्त तीन पात्रों की ये अलग-अलग जीवनियाँ हैं। किन्तु खण्डों में बाँट कर लिखने से पात्रों के ~~बिखरे जीवन~~ को समझाने के लिए पुनरावृत्ति करनी पड़ी है। परन्तु फिर भी कथा का सूत्र बराबर चलता रहता है। कथा को चरमसीमा पर पहुँचाया गया है जो अप्रत्याशित होने से आकर्षक हो गई है। फिर भी उपन्यास का मुख्य आकर्षण चरित्र-चित्रण व

चित्रित-जीवन है, ऐसा लगता है कि मछुआ लोगों के बीच में खड़े हो कर ही हम सब देख रहे हैं। वातावरण के चित्रण में लेखक न सिद्धान्त बघारता है न मनोवैज्ञानिक बनने का दम्भ करता है, पात्रों को सहज गति से बढ़ने देता है।

जातिवाद, छूआछूत, समाज-सुधार आदि समस्याओं को चित्रण के द्वारा व्यञ्जित कराया गया है। स्त्री के उपेक्षित, अपमानित, लांछित तथा निरीह जीवन से खेलने वाले बम्बई के भेड़ियों को देख कर जहाँ हम स्तम्भित रह जाते हैं वहीं मछुवा, कोलियों की वीर नारियों की जीवट को देख कर प्रसन्नता भी होती है। 'साहस' ही तो मुक्ति का सब से बड़ा साधन है, यही इस उपन्यास का सन्देश है। पूँजीवादी सभ्यता के द्वारा उत्पन्न भ्रमों के नाश के लिए 'रत्ना' व डा० पाण्डुरङ्ग का जीवन पठनीय है।

भट्टजी व उनके प्रकाशक इस उपन्यास के लिए बधाई के पात्र हैं। आंचलिक उपन्यासों के लिए यह उपन्यास आदर्श कहा जा सकता है।

—वि० ना० उपाध्याय

बुझते दीप—ले०—श्री दयाशङ्कर मिश्र, प्रका०—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६। पृष्ठ १७०, मूल्य ३)

प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का केन्द्र एक कम्यूनिस्ट है, जिसके आस-पास समस्त घटनायें घूमती हैं। वह क्रान्तिकारी और कलाकार है। उसकी प्रेरणा का स्रोत स्त्रियाँ हैं। उसने दो शादियाँ की हैं। वह योरुप भी घूमा है और मजदूरों में रहकर काम करता है। एक मिल मालिक की लड़की लिली उसकी ओर खिंचती है और उसकी सहानुभूति गरीबों के प्रति होती है। नीलिमा नामक उसका प्रेमिका है, सुधीबाबू के लिये अपने जीवन को मिटा देती है। लिली के पिता रामनाथ ने एक भिखारिन को उसके शिशु सहित शरण दी और पीछे उससे रामनाथ का अवैध सम्बन्ध हुआ। परिणामस्वरूप लिली की माँ चल बसी और भिखारिन घर की मालिक बनी पर रामनाथ ने उससे विधिवत विवाह नहीं किया था अतः जब उसका पुत्र योरोप से लौटा तो उसने एक ओर सुधीबाबू को और दूसरी ओर रामनाथ को मरवाने का प्रयत्न किया। सुधीबाबू ने अपनी कुशलता से सब परिस्थितियों पर विजय पाई और रामनाथ द्वारा मिल के मालिक बन गये। लिली उनके पीछे पागल थी ही। एक पात्र और है रामनाथ का पिता जो भिखारिन के रख लेने पर रूठा हुआ था और जिसे लेखक ने रामनाथ की भतीजी राजलक्ष्मी को एक गुण्डे द्वारा शरीर बेचने पर मजबूर करने के कारण काश्मीर में भिजवाया है। वह तब आता है जब भिखारिन को रामनाथ घर से निकाल देता है।

उपन्यास में कथावस्तु बुरी नहीं है पर लेखक के पास शिल्प नहीं है। एक भी चरित्र निखरा नहीं है। सब अधूरा-अधूरा लगता है। यह तो है कि लेखक में उपन्यास-लेखक की प्रतिभा है पर वह जल्दबाजी में सारा काम बिगाड़ लेता है। वह चाहता तो इसे सफल उपन्यास बना सकता था पर उसने ऐसा नहीं किया। हमें आशा है, भविष्य में वह अवश्य ध्यान रखेगा। हाँ, उसकी विचार-धारा में अवश्य बल है और शैली भी मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। एक 'स्टण्ट पिक्चर' का-सा प्रभाव पाठक पर न पड़े इसका लेखक को पग-पग पर ध्यान रखना चाहिये।

परिवार—लेखक—श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक—साहित्य-प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ३२६, मूल्य ५॥)

श्री यज्ञदत्त शर्मा ने कुछ दिनों में ही प्रथम श्रेणी के उपन्यासकारों में अपना स्थान बना लिया है। उनके उपन्यास प्रेमचन्द की भाँति आदर्शवाद को लिये यथार्थ चित्रण से पूर्ण होते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी कथानक एक गाँव से उठाया गया है और दिखाया यह गया है कि किस प्रकार प्रेम, सहानुभूति त्याग और भोलेपन पर आधारित किसी समय का ग्राम्यजीवन सभ्यता के अभिशाप और पूँजी के प्रताप से पारस्परिक ईर्षा, कलह, आपाधापी और कपट का पुञ्जीभूत रूप प्रस्तुत करता है। कहानी यद्यपि मेरठ जिले के एक गाँव की है और लेखक ने उस जिले की

प्राकृतिक सुषुमा के साथ ग्राम्यजीवन के अच्छे चित्र दिये हैं पर जो सन्देश उपन्यास में हैं वह कोटि-कोटि भारतीय ग्रामीण जनता के जीवन की व्यथा-कथा है। श्री नरोत्तम नागर ने भूमिका में जो विचार व्यक्त किये हैं वे अक्षरशः सत्य हैं। यह मनोविश्लेषण के नाम पर रति-क्रीड़ा में प्रदर्शन वाले उपन्यासों से निस्सन्देह अलग है और स्वस्थ साहित्यिक देन के रूप में पाठकों को लाभान्वित करेगा।

पहली हार—लेखक-श्री रघुवीर शरण मित्र। प्रकाशक—भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ ३१६, मूल्य ५)

प्रस्तुत उपन्यास में शहाबुद्दीन गोरी और पृथ्वीराज चौहान की कथा है। पारस्परिक फूट के कारण पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गोरी गजनी लेगया था और यहाँ कुतुबुद्दीन ऐबक वायसराय के रूप में मुगलों को स्थायित्व देने के लिये नियुक्त हुआ था। चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' में जिस विस्तार और गाम्भीर्य से इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है, 'पहली हार' में भी वैसा ही है। लेखक ने उपन्यास का नामकरण भी सुन्दर किया है और जिन कारणों से हमें हारकर मुगलों की दासता स्वीकार करनी पड़ी उनका बड़ा ही रोचक और प्रामाणिक वर्णन है। उपन्यास ऐतिहासिक होते हुए भी कहीं शुष्क नहीं हो पाया, यह लेखक की कला की विशेषता है। ऐसी सुन्दर कृति के लिये लेखक बधाई का पात्र है।

मुक्ति-दूत—लेखक-श्री अभयकुमार यौधेय। प्रकाशक—शशाङ्क प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ ३१२, मू० ५)

यह युग गणतन्त्र का है, अतः लेखक ने अपने इस ऐतिहासिक उपन्यास में गणतन्त्र की आदर्श रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों के अग्रणी बाबू वृन्दावनलाल वर्मा की भाँति लेखक ने दन्तकथाओं से कथावस्तु लेकर उसे इतिहास की खोजों से प्रमाण-पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया है। उपन्यास के स्त्री और पुरुष पात्रों में कर्मशीलता के तत्त्वों की अधिकता है, जो नव भारत के निर्माण के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भारतीय संस्कृति के अनुकूल गणतन्त्र की स्थापना के स्वरूप का स्पष्टीकरण ऐसी ही कृतियों से हो सकता है। हिन्दी उपन्यासकार नये पथ खोज रहा है और यौधेय जैसे लेखक उस पथ को प्रशस्त करने का स्तुत्य प्रयत्न कर रहे हैं। 'मुक्तिदूत' एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास है और लेखक ने उलट फेर के लिये अपने निवेदन में जो क्षमा चाही है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उपन्यास का सन्देश स्पष्ट है और यही कला की खूबी है।

गँदला पानी—लेखक-श्री प्यारेलाल आवारा, प्रकाशक—रूपसी प्रकाशन, बाई का बाग, इलाहाबाद ३। पृष्ठ, १६० मूल्य २॥)

स्त्रियों में सस्ते रोमांटिक उपन्यासों की भरमार का जिनको श्रेय है और जो खूब बिकते हैं, ऐसे लेखकों में श्री प्यारेलाल आवारा प्रमुख हैं। कथा का सम्बन्ध ले देकर वही भारतीय समाज के अत्याचार से पीड़ित नारी और वेश्यालय से है। उपन्यास में रोचकता तो है, पर ऐसे उपन्यासों से अब हिन्दी को बचाया जाय यही शुभ है। —कमलेश

कहानी

कला का पुरस्कार—लेखक-श्री बेचन शर्मा 'उग्र', प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ १६०, मूल्य ३)

उग्रजी की तीखी, चुभती हुई और उग्र शैली ही से नहीं उनकी विद्रोही विचार-धारा से भी पाठक परिचित हैं। 'कला का पुरस्कार' उनकी १५ कहानियों का संग्रह है। 'कला का पुरस्कार' प्रथम कहानी का नाम है जिसमें कलाकार की असाधारण कला की प्रशंसा प्राप्ति के साथ-साथ उसकी असाधारण इच्छा के लिए उसे प्राण-त्याग करने पड़े। ~~अन्य कहानियों~~ में सभी कहानियाँ भिन्न-भिन्न भावनाओं को व्यक्त करती हैं। 'उसकी माँ' में क्रान्तिकारियों की कहानी है और 'महाराज कुमारी को नींद आई' में साधन-सम्पन्नता होने पर भी मानसिक अशान्ति का चित्रण

है। 'बाँके पीर' में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के पीछे रहने वाली मनोवृत्ति का वर्णन है। 'चाँदनी' में सामन्ती विलास का क्रूर चित्रण है। इस प्रकार विविध मानसिक दशाओं व समस्याओं को ये कहानियाँ उपस्थित करती हैं परन्तु इनसे भी अधिक आकर्षक है उनकी शैली। समाज में छिपे भेड़ियों के प्रति जितनी घोर घृणा उग्रजी में है और वह जितने तीखेपन के साथ दमन, शोषण व उत्पीड़ा के अनेक रूपों को काटती हुई चलती है, वह इन कहानियों में दर्शनीय है।

—वि० ना० उपाध्याय

प्राप्ति-स्वीकार

धरती के आँचल से (कविता)—लेखक और प्रकाशक—श्री शेखर, प्रभात सदन, सरदारपुरा, जोधपुर। पृष्ठ ४४, मूल्य ॥)

बची-खुची सम्पत्ति (कहानी संग्रह)—लेखक—श्री भवभूति मिश्र, प्रकाशक—सन्त साहित्य-सदन, कटेयाँ (शाहाबाद)। पृष्ठ ६७, मूल्य १)

सुबोध हिन्दी व्याकरण तरङ्ग—लेखक—श्री के० ए० चारी, प्रकाशक—हिन्दी सरल साहित्य सागर पब्लिकेशन, दोडिपटला, वाया पालापोल (दक्षिण भारत)। पृष्ठ ६०, मूल्य ॥)

महाभारत की कहानियाँ (कहानी संग्रह)—लेखक—श्री रामावतार झुनझुन वाला, प्रकाशक—आनन्द प्रेस, भागलपुर २। पृष्ठ ८७, मूल्य ॥)

चन्द्रगुप्त के विशिष्ट स्थानों की शास्त्रीय व्याख्या (आलोचना)—लेखक—श्री शैलेन्द्र ठाकुर, प्रकाशक—एजूकेशनल बुक सिलीकेट, चेतगंज—काशी। पृष्ठ ९८, मूल्य १॥)

छत्तीस गढ़ की लोक कथायें (कहानी)—लेखक—श्री चन्द्रकुमार अग्रवाल, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। पृष्ठ ४८, मूल्य १)

हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लेखक—श्री शर्मनलाल अग्रवाल, प्रकाशक—चन्द्रालोक प्रकाशन, मथुरा। पृष्ठ ४८, मूल्य ॥=)

संसार की झलक—लेखक—श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा, प्रका—भारत भारती प्रकाशन, मेरठ। पृष्ठ २३४ मू० ३)

संसार के इतिहास को बहुत ही संक्षेप में वर्णन किया गया है।

बापूजी की अमर कहानी—लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त। पृष्ठ ५०, मूल्य ॥|)

आल्हा छन्द में वीरत्व पूर्ण महात्मा श्री गान्धी का अमर जीवन चरित्र।

सर्वोच्च न्यायालयीन निर्णय—सम्पादक—श्री हरिहर प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—मध्य भारत लॉ जर्नल प्रकाशन, गवालियर। पृष्ठ ५२, मूल्य १)

सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये निर्णयों को हिन्दी में अनुवाद करके इस पुस्तक में छापा गया है। यह पुस्तकमाला के रूप में प्रकाशित की जायगी।

(पृष्ठ ४०५ का शेषांश)

नौकरी पर जाना स्थगित कर देना पड़ता है। इसका कारण है पति और पत्नी एक साथ रहकर बड़े से बड़ा दुःख हँसकर झेल सकते हैं किन्तु दूर रह कर सुखी रहना भला कब सम्भव? कितना जागरुक है भारतीय ~~आदर्श और~~ कितने सचेष्ट हैं हमारे गार्हस्थ्य जीवन के साथी। इन गीतों में जीवन है, इनमें हमारे वसन्त के मादक सपने हैं और पतझड़ के सूखे गान भी।

जीवन के हर क्षेत्र में गीत हैं, हर अवसर पर गीत गाए जाते हैं। सावन की फुहार में जब लहराते हुए तालों में चलकर ग्राम युवतियों को धान की रोपाई करनी पड़ती है, उस समय उनके हृदय में कितना उत्साह होता है, मन में कितनी उमंगें होती हैं। वे हर लहर के साथ आनन्दित होकर पौधे लगाती जाती हैं और उसी के साथ कजली की तान छेड़ती हैं।

आया सावन मास महीना पिया घर नाहीं रे हरी।

प्रत्येक कार्य करते समय, चक्की पीसते समय, तीर्थ-स्थान जाते समय, खेतों में कार्य करते समय, सोते समय और जागते समय प्रतिपल तो वे गाती हैं और हर पल के लिए उनके पास प्रचुर साहित्य है।

अपने स्कूल की पत्रिकाएँ हमसे छपवाइये

इस वर्ष हमने विशेष रूप से विद्यालयों की पत्रिकाएँ प्रकाशित करने के साधन रक्खे हैं—अब तक कितने ही विद्यालयों की पत्रिकाएँ हमारे पास छपने आ चुकी हैं।

अच्छे कागज पर पत्रिकाएँ छपवाने के लिये कागज बाजार-भाव होगा, ब्लॉक भी हम बनवा देंगे, रेट भी हमारे सस्ते हैं—

❀ कागज, छपाई, बँधाई के साथ ❀

पेज का नाप १०″×७″

दर ५०० प्रतियों के लिए····प्रति पेज ४), १००० प्रतियों के लिए····प्रति पेज ५)

समय—३२ पेज के लिए केवल ४ दिन, आर्डर भेजकर समय निश्चित करा लें।

सस्ते में शुद्ध और आकर्षक छपाई देना हमारा ध्येय है।

प्रश्न-पत्र १।) पेज (गोपनीय की गारण्टी है।)

हम समय के पूरे पाबन्द हैं। विशेष जानकारी के लिए पत्र-व्यवहार करें।

साहित्य-प्रेस, ५, गांधी-मार्ग, आगरा।

हमारी आलोचनात्मक पुस्तकों के संशोधित एवं परिवर्तित संस्करण

तथा

नई प्रकाशित पुस्तकें

१—हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए० ६।)

२—हिन्दी गद्यकार और उनकी शैलियाँ—श्री रामगोपालसिंह चौहान ४)

३—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—श्री गुलाबराय एम० ए० ३।)

४—प्रसादजी की कला— ,, ४)

५—साकेत एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र २॥)

६—सुमित्रानन्दन पन्त— ,, २)

प्रकाशक—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

REGD. No. A. 266
Sahitya Sandesh, Agra.
APRIL 1956.
LICENSE No. 16
Licensed to post without Prepayment

सहायक ग्राहक बनकर

साहित्य सन्देश मुफ्त प्राप्त कीजिएगा

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनाने की इस योजना से इधर पिछले वर्षों में हमारे ग्राहको को विशेष लाभ रहा है। हम चाहते हैं कि हमारे अधिक से अधिक ग्राहक इससे लाभ उठावें।

साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहक बनने के लिए हमने कोई विशेष नियम नही रक्खे हैं। ग्राहक को एक बार १००) हमारे यहाँ जमा कराने होते हैं। रुपया मिलने पर उन्हें कार्यालय से टिकिट लगी हुई पक्की रसीद मिलेगी। जब तक उनका रुपया हमारे यहाँ जमा रहेगा उनका नाम साहित्य-सन्देश के सहायक ग्राहकों में लिखा रहेगा और उन्हें प्रतिमास विशेष सस्करण (अच्छे कागज) का अङ्क निःशुल्क भेजा जायगा। ग्राहक चाहे जब अपना पूरा रुपया वापस मँगा सकते हैं। रुपया लौटाने के बाद अङ्क भेजना बन्द कर दिया जायगा।

यह बताने की आवश्यकता नही है कि पिछले १७ वर्षों से साहित्य-सन्देश हिन्दी और हिन्दी प्रेमियों की अधिक से अधिक सेवा कर रहा है।

आशा है कि हमारे समर्थ ग्राहक महोदय सहायक ग्राहक बनने के लिए रुपया भेज कर हमें सहयोग देंगे।

सञ्चालक—

साहित्य सन्देश कार्यालय,
साहित्य कुञ्ज, आगरा।

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

र्ष १७
अङ्क १

ंक मूल्य ५)]   आगरा—मई १९५६   [साधारण संस्करण

इस अङ्क के लेख

मारी विचार-धारा	सम्पादक
ली और व्यक्तित्व	श्री रवीन्द्रकुमार जैन एम० ए०
कहानी की सीमायें	श्री महीधर नाग
ीर-रस का स्थायी-भाव	श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित
ीर-रस का स्थायी-भाव	श्री मालारविन्दम् चतुर्वेदी
नानन्द-कवित्त का कला-पक्ष	प्रो० शिवबालक शुक्ल बी० ए० ऑनर्स, एम०
ामानन्द स्वामी का जीवन-काल	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव एम. ए., पी-एच.
नार : एक अध्ययन	प्रो० सत्यभूषण एम० ए०
ुरु गोविन्दसिंहजी की कुछ हिन्दी रचनायें	प्रो० महीपसिंह एम० ए०
ाहित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की १० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

४. किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिये। विना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिये जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार रहता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन अप्रेल १९५६

आलोचना

साकेत सौरभ—नगीनचन्द सहगल	१०)
वृन्दावनलाल वर्मा उपन्यास और कला—शिवकुमार गुप्त	६)
हिन्दी के अर्वाचीन रत्न—डा. विमलकुमार जैन	७)
आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—नामवर सिंह	२॥)
कबीर साहित्य समीक्षा—शिवकुमार गुप्त	४।)
संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर	१५)
पद्मावत—वासुदेवशरण अग्रवाल	१५)
महादेवी का वेदना भाव—जयकिशन	३॥)
सार सञ्चयन—राजनाथ शर्मा—	६)

कविता

कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—	॥=)
,, ,, महादेवी वर्मा—	॥=)
,, ,, कालिदास—	॥=)
,, ,, सुमित्रानन्दन पन्त—	॥=)
,, ,, भास—	॥=)
,, ,, मैथिलीशरण गुप्त—	॥=)
कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'—	॥=)
छत्र मसाल—लालधर त्रिपाठी	६)
झाँसी की रानी—श्यामनारायण प्रसाद	४)

कहानी

हाथ में हाथ—हंसराज रहबर	४)

उपन्यास

गुमनाम—एंटेन चेखव	३॥)
काला ब्राह्मण—श्रीशरण	३॥)
फूल और कगार—कमल शुक्ल	३)
विस्मृत यात्री—राहुल	५॥)
छोटी बहू—दयाशङ्कर मिश्र	३॥)
अंधेरा सबेरा—यादव चन्द जैन	४)
चट्टानें—परदेशी	३)

इतिहास

प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास—रतिभानु सिंह 'नाहर'	१०)

स्त्रियोपयोगी

आपका शिशु—हेमाङ्गिनी जोशी	३॥)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

भाग १७] आगरा—मई १९५६ [अङ्क ११

साहित्य में दायित्व व अधिकार : श्लील और अश्लील का वितण्डावाद—

इधर आलोचनात्मक पत्रों में उपर्युक्त प्रश्नों पर बड़ी अप्रत्याशित गम्भीरता से विचार किया गया है। 'आलोचना' के सम्पादकों ने साहित्यकार के स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में स्वयं भी बहुत कुछ कहा है और अन्य सभी वर्गों और सम्प्रदायों के लेखकों के विचारों को प्रकाशित किया है।

किसी भूल की पुनरावृत्ति करते रहने पर वह भूल एक समस्या के रूप में उपस्थित हो जाती है। हिन्दी में सजग विचारकों (?) का एक दल है जिनका यही कार्य है कि वे किसी भूल को बार-बार दुहराते हैं और जब वह समस्या के रूपमें उपस्थित हो जाती है तो उस पर इतनी अधिक गम्भीरता से विचार करते हैं कि लिखते समय उनकी चेतना समस्या के गौरव से आक्रान्त हो जाती है, और चूँकि "पुनरावृत्ति" को ये लेखक कौशल के रूपमें अपनाते हैं अतः लिखते समय बार-बार दुहराने पर भी उनकी शैली हकलाने लगती है। सत्य केवल मूर्त और स्पष्ट ही नहीं होता सहज भी होता है। सत्य एक तेजोमय पदार्थ है, जो अपने प्रकाश से स्वयं व्यक्ति की चेतना में उभर आता है। सृजन की प्रक्रिया में यही सत्य भावोन्मेष में, तर्क करते समय यही सत्य नवीन तर्क-पद्धति में, खोज करते समय यही सत्य तथ्य में, तथा विच्छिन्न व विश्लेषित ज्ञान खण्डों में यही सत्य संश्लेषण बन कर सम्मुख आजाता है। सत्य का यही स्वभाव है।

साहित्यकार के दायित्व व अधिकार पर जो लम्बी-लंबी दस्तावेजें प्रकाशित हुई हैं, उनमें सब इस सत्य से परिचित हैं कि साहित्यकार का समाज के प्रति दायित्व होता है, सृष्टि निरुद्देश नहीं होती और उद्देश्य सर्वदा सर्वजनीन और सापेक्ष होता है। 'सार्वजनीन सत्य' व्यक्ति के माध्यम से उसकी रचना-प्रक्रिया में साहित्य का स्वरूप धारण कर समाज के सम्मुख आता है। अतः व्यक्ति को सर्वजनीनता व निजता के बीच संतुलन का ध्यान प्रक्रिया में भी रखना पड़ता है, इसीलिए व्यक्ति का सुख समाज के सुख में बदल

जाता है : स्वान्तः सुखाय व पर सुखाय में द्वन्द्व नहीं रहता। यह तो आदर्श स्थिति हुई, परन्तु व्यक्ति की अपनी सीमाएँ होती हैं। व्यक्ति की ये सीमाएँ समाज से टकराने पर दायित्व का प्रश्न उत्पन्न होता है। सुना था कि टैनीसन को एक कवि ने बहुत ही सुन्दर परन्तु अश्लील कविता सुनाई। टैनीसन ने प्रशंसा की परन्तु पीछे से कहा, कवि! इस कविता को प्रकाशित मत कराना क्योंकि तुम केवल कवि ही नहीं नागरिक भी हो। यहाँ व्यक्ति की असामाजिक इच्छा को सामाजिक बनाने का दृष्टान्त है। अतः आदर्श सृष्टि, मध्यम व क्षुद्र सृष्टि में बराबर अन्तर रहता आया है और बराबर क्षुद्र, अश्लील, जघन्य, कुत्सित और इसलिए असामाजिक साहित्य की निन्दा होती रही है।

प्रश्न होगा कि व्यक्ति व समाज में द्वन्द्व कहाँ से प्रारम्भ हो जाता है ? इसका निर्णय कौन करेगा ? कहाँ तक श्लील है और कहाँ अश्लील हो जाता है ? इसका निश्चय कैसे होगा ? इसका एकमात्र उत्तर है कि बुद्धि को छोड़ कर इसका निर्णय और कोई नहीं कर सकता और इस सम्बन्ध में दस्तावेजों के लेखक यह बात जानते हैं कि बुद्धि विचार करती है और साथ ही अपनी विचार-प्रक्रिया की परीक्षा भी करती चलती है। भाव के उद्रेक के समय जब ऐन्द्रिक आनन्द जाग्रत होता है तब भी यही सूक्ष्म बुद्धि बताती चलती है कि यह श्लील है यह अश्लील है। सामाजिक व्यवस्था विशेष का 'समग्र-चेतन-तत्त्व' (Social Consciousness as a Whole) व्यक्ति के अन्तर्मन को स्वतः बताती रहती है कि यह श्लील है, यह अश्लील है। इतिहास व समाजशास्त्र व मनोविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन से बुद्धि को निर्णय देने में सहायता मिलती है। अतः समाजशास्त्र को पढ़िये और तब स्वतः बुद्धि कह देगी कि क्या श्लील है क्या अश्लील है। परन्तु इन प्रश्नों की गम्भीरता से सोचने के लिए प्रेरित करने वाले सभी समाज-शास्त्री हैं, तब श्लील को अश्लील और अश्लील को श्लील क्यों समझते हैं ? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि ये लोग विवेक की उपेक्षा करते हैं, इनके मस्तिष्क असन्तुलित हैं और इनकी रुचि कुत्सित है। अपनी कुत्सित रुचि की रक्षा के लिए सच्चाई को समझते हुए भी ये लोग नाना तर्क पद्धतियाँ गढ़ते हैं परन्तु जैसा हमने कहा कि सत्य का तेजोमय स्वरूप स्वतः प्रकट हो जाता है, तर्क के ईंधन से अग्नि को सहायता ही मिलती है।

परन्तु दायित्व व अधिकार तथा श्लील व अश्लील के सम्पादकों ने सत्य पर इतना ईंधन डालने का प्रयत्न किया है कि सत्य की अग्नि को बदहज्मी हो गई है। सत्य सहज है, स्पष्ट है, उसे साफ साफ कहिए। पहेलियाँ बुझाने से 'सिद्धों' को केवल क्षणिक यश मिला था। 'आलोचना' के क्षेत्र में आलोचकों की जगह 'सिद्धों' की जमात बराबर बढ़ती जा रही है। हम आगे के अङ्क में "व्यक्ति पर समाज के अंकुश" पर विचार करेंगे।

हिन्दी को समृद्ध बनाइये—

केन्द्रीय गृह-विभाग के मन्त्री श्री एन० दातार ने दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वसन्तोत्सव का सभापतित्व करते हुए हिन्दी-लेखकों से अपील की है कि वे हिन्दी को सरल, सुगम और सम्पन्न भाषा बनाने के अपने राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन करें। उन्होंने कहा कि जहाँ तक सरकार का काम है वह उत्तरोत्तर हिन्दी को बढ़ाने और व्यवहार में लाने का अपना काम जारी रखेगी, लेकिन हिन्दी को समृद्ध बनाने में लेखक और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी संस्थाएँ कहीं ज्यादा काम कर सकती हैं। चूँकि हिन्दी अब केवल हिन्दी भाषा-भाषियों की ही नहीं बल्कि समस्त देश की भाषा बनने वाली है, इसलिए उसको ऐसी स्थिति में लाने की आवश्यकता है जिससे वह न केवल राजकीय जरूरतों को ही, बल्कि वैज्ञानिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके। आपने कहा कि भारतीय संविधान में निर्धा-

रित १५ साल की अवधि के अन्दर हिन्दी सारे देश की राजकाज की भाषा बन जाएगी। उन्होंने कहा कि हमारे आत्म-सन्मान और स्वाभिमान का यह तकाजा है कि हिन्दी जल्द से जल्द अंग्रेजी की जगह ले ले और अंग्रेजी यहाँ केवल अन्तर्राष्ट्रीय कामों के लिए अध्ययन की भाषा बन कर रहे।

गान्धीजी पर काव्य—

इसी अवसर पर लोक-सभा के अध्यक्ष श्री अनन्त शयनम् अय्यङ्गार ने समारोह का उद्घाटन करते हुए हिंदी कवियों से वर्तमान युग के अवतार महात्मा गांधी पर वैसा ही सुन्दर काव्य तैयार करने की अपील की जैसा कि महाकवि तुलसी ने रामचरितमानस के रूप में दिया है। उन्होंने कहा कि खास तौर से इस देश का और आम तौर से सारी मानवता का जितना कल्याण गान्धीजी ने किया है, उतना किसी अवतारी महापुरुष ने नहीं किया होगा। श्री अय्यंगार ने कहा कि अंग्रेजी सरकार से जिसके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था, अपने देश की आजादी को छीनना एक चमत्कार से कम नहीं था।

देव पुरस्कार—

हिन्दी साहित्य के सच्चे प्रेमी ओरछा नरेश ने बहुत वर्ष पहले देव पुरस्कार देना प्रारम्भ किया था जो फिर बन्द हो गया था। विन्ध्य प्रदेश की सरकार ने इस पुरस्कार को पुनः देना चालू करके साहित्यिक दृष्टि से बड़ा पुण्य कार्य किया है। यह सरकार और भी कई पुरस्कार देती है पर उसमें धन-राशि इतनी कम है कि उसका अधिक महत्त्व नहीं। देव पुरस्कार में २१००) दिए जाते हैं जो अभी तक के सभी पुरस्कारों से अधिक है। इस वर्ष यह पुरस्कार प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री उदयनारायणजी तिवारी को उनकी बहुमूल्य खोजपूर्ण ग्रन्थ "भोजपुरी भाषा और साहित्य" पर दिया है। यह ग्रन्थ सचमुच इस पुरस्कार के योग्य है। हम इसके लिए विन्ध्य सरकार और तिवारीजी दोनों को बधाई देते हैं।

नवलकिशोर पुरस्कार—

ब्रज साहित्य मण्डल के हाथरस अधिवेशन पर उसके स्वागताध्यक्ष श्री रामबाबूलालजी ने अपने पूज्य पिता श्री नवलकिशोरजी के नाम पर एक हजार रुपया प्रतिवर्ष का एक पुरस्कार ब्रजभाषा साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ पर देना स्वीकार किया था और उसी अवसर पर डॉ० सत्येन्द्रजी को उनके ग्रन्थ 'ब्रजलोक साहित्य के अध्ययन' पर प्रथम पुरस्कार राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी के करकमलों द्वारा प्रदान किया गया था। द्वितीय वर्ष का यह पुरस्कार प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० जगदीश गुप्त को उनके ग्रन्थ 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन' पर देना निश्चित हुआ है। श्री गुप्त को इस उपलक्ष में हम अपनी ओर से बधाई देते हैं।

हिन्दी के अध्ययन के लिए—

भारतीय संसद में प्रश्नोत्तर के द्वारा यह जानकर हमें हर्ष भी हुआ और खेद भी कि सरकार अहिन्दी भाषी प्रान्तों के १२ विद्यार्थियों को हिन्दी का विशेष अध्ययन करने के लिए अच्छी छात्र वृत्ति देना चाहती थी पर उसमें से केवल ८ छात्रवृत्तियों का ही उपयोग हो पाया। सरकार ने दूसरी पञ्च वर्षीय योजना के अन्त तक ऐसी छात्र वृत्तियों की संख्या बढ़ाकर ५०० करने का सङ्कल्प किया है। हम इससे प्रसन्न अवश्य हैं पर हमें बहुत ही खेद होगा यदि इन छात्र-वृत्तियों का उपयोग करने वाले छात्र न मिले। इस गरीब देश में छात्र वृत्ति लेने वाले पैदा न हों, यह तभी सम्भव है जब इस योजना का सम्यक प्रचार न किया जाय। यदि प्रचार ठीक तरह किया जायगा तो ५०० की जगह ५००० उम्मेदवार पैदा होजायेंगे।

सेना में हिन्दी—

भारत के प्रतिरक्षा विभाग के मन्त्री श्री महावीर त्यागी ने गत मास भारतीय संसद में यह सूचना दी थी कि भारतीय सेना के ६४ प्रतिशत जवान हिन्दी सीख गए हैं। उनकी इस सूचना का भारत में बड़ा

हर्ष के साथ स्वागत किया गया और सभी हिन्दी हितैषियों ने त्यागी जी को इसके लिए बधाई दी। हम भी इस अवसर पर त्यागी जी को बधाई देने के साथ एक प्रश्न करते हैं। यदि विगत पाँच वर्ष में भारत के ९४ प्रतिशत जवान हिन्दी सीख सकते हैं तो केन्द्र में और विभागों के हजारों आदमी अब तक हिन्दी क्यों नहीं सीख पाए? हमारी समझ में इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि उस ओर शिक्षा मन्त्रालय ने कोई विशेष दिलचस्पी नहीं ली। हमारा विश्वास है कि सेना के अधिकारी भी यदि शिक्षा सञ्चालक के भरोसे रहते तो वहाँ भी अब तक दस बीस प्रतिशत ही उन्नति दिखाई देती।

हमारा अगला विशेषाङ्क—

जुलाई १९५६ में 'साहित्य सन्देश' अपने १८ वें वर्ष में प्रवेश करेगा। इस अवसर पर १ अगस्त १९५६ को 'साहित्य-सन्देश' का एक विशेषाङ्क निकाला जायगा। यह विशेषाङ्क आधुनिक उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में होगा। कई वर्ष हो गये जब हमने साहित्य सन्देश का एक विशेषाङ्क निकला था जिसका नाम था उपन्यास अङ्क। इस अङ्क में उपन्यास सम्बन्धी सैद्धन्तिक चर्चा और प्रेमचन्द काल तक के उपन्यासों की आलोचना थी। इन दस वर्षों में उपन्यास साहित्य में बहुत वृद्धि हुई है और उसकी टेकनीक में बहुत परिवर्तन हुआ है। इसकी विस्तार से चर्चा बहुत कम हुई है और आधुनिक उपन्यास की गति विधि से हमारा साधारण पाठक अपरिचित सा है। इस कमी को पूरा कर करने और आधुनिक उपन्यास साहित्य की टेकनीक और उसकी गतिविधि का अपने पाठकों को परिचय देने के लिए ही यह विशेषाङ्क निकाला जा रहा है। इस विशेषाङ्क की प्रस्तावित रूपरेखा निम्न भाँति है। इसमें इन विषयों अथवा ऐसे ही अन्य विषयों पर लेख रहेंगे—

१—प्रेमचन्द के उपन्यासों की टेकनीक और विकास।
२—आधुनिक उपन्यासों की समस्याएँ।
३—उपन्यासों का स्वरूप।
४—उपन्यासों का विकास।
५—उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श।
६—उपन्यासों में यथार्थ की अभिव्यक्ति।
७—उपन्यास और मनोविज्ञान।
८—उपन्यास और दर्शन।
९—उपन्यासों में चरित्र चित्रण।
१०—भाषा और शैली के नए प्रयोग।
११—भारतीय उपन्यासों पर विदेशी काल का प्रभाव।
१२—क्या उपन्यास साहित्य में गतिरोध है?
१३—प्रेमचन्द के बाद के प्रतिनिधि उपन्यासकार।
१४—उपन्यास कला के मूल्याङ्कन की नई कसौटी।
१५—विदेशों में उपन्यासों का विकास।
१६—हिन्दी के उपन्यासकारों की कलम से।
१७—मनोविश्लेषण सिद्धांत पर उपन्यासों का स्वरूप।
१८—विविध राजनैतिक वाद और उपन्यास।
१९—उपन्यास और नैतिकता।
२०—उपन्यास और भाषा प्रयोग।
२१—उपन्यास और मानवता।
२२—आज के उपन्यास (सैद्धान्तिक प्रश्न)।

हम अपने स्नेही लेखक बन्धुओं से निवेदन करेंगे कि वे इनमें से किसी विषय पर अथवा इनसे सम्बन्धित किसी अन्य विषय पर अपना लेख भेज कर हमें आभारी करें। हम चेष्टा यह कर रहे हैं हमारा यह विशेषाङ्क हमारे गत सभी विशेषाङ्कों से अच्छा रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमें विद्वान लेखकों का पूरा सहयोग मिले। हमें पूर्ण आशा ही नहीं विश्वास है कि यह सहयोग हमें बराबर मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

शैली और व्यक्तित्व

श्री रवीन्द्रकुमार जैन एम० ए०

राष्ट्रीयता—जहाँ साहित्यकार अपनी शब्द योजना एवं प्रवाह युक्त शैली द्वारा वर्ण्य विषय के साक्षात् चित्र से प्रस्तुत कर देता है, वहीं उसका स्वयं का गम्भीर, सरल, स्थिर अथवा प्रवहमान व्यक्तित्व भी उसकी लेखन शैली द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है, भाषा का अध्ययन कितना ही छिछला क्यों न हो, इस बात को स्पष्ट कर देता है कि जब हम शैली के सम्बन्ध में चर्चा करें तो हमें राष्ट्रीय चरित्र की उन विशेषताओं का ध्यान रखना होगा जो कि किसी राष्ट्रीय भाषा में सन्निहित हैं। हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत और अंग्रेजी में शब्द-विन्यास एवं भाव-प्रकाशन की पद्धति कुछ और ढङ्ग की है। यदि दो व्यक्ति एक से ही शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक धरातल के, एक ही समय एक सी ही सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न हों—और फिर विभिन्न भाषाएँ पढ़ें और आगे चलकर वे व्यक्ति यदि साहित्य द्वारा संसार को सन्देश देना चाहें तो उनका सन्देश ठीक एकसा नहीं हो सकता है। प्रत्येक मातृभाषा की कुछ प्रमुख विशेताएँ अवश्य ही भाव-प्रकाशन में कुछ निश्चित सीमाएँ निर्धारित कर देती हैं; भले ही दोनों व्यक्तियों के विचार बिल्कुल समान या मिलते-जुलते ही क्यों न हों।

प्राकृतिक पृथकता—हम ऐसे दो मनुष्यों की कल्पना भी नहीं कर सकते जो एक-सी शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक स्थिति में एक ही समय और एकसी ही सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न होने पर भी एक-सी भाषा का प्रयोग करें। वे दोनों एक दूसरे के सन्निकट होंगे, उन्होंने जो कुछ भी कहा होगा उसमें शब्द-योजना भी ठीक एकसी ही सम्भवतः होगी। इसी विचित्र विचार से हमें शैली द्वारा व्यक्तित्व परखने का एक दूसरा गुण भी मिल जाता है। शैली केवल उन राष्ट्रीय सामान्य विशेषताओं की सूचिका नहीं है जो किसी व्याकरण-बद्ध भाषा में होती हैं—साथ ही किसी जाति की तथाकथित योग्यता को समर्थित करती हैं। शैली उन व्यक्तिगत विशेषताओं का परिणाम भी है जिनसे मनुष्य की मेधा की निर्मिति होती है। मनुष्य अपने हृदय अथवा मस्तिष्क से जो कुछ भी कहता है उससे उसके चरित्र की सूचना मिल जाती है। व्यक्ति जितना ही विद्वान् प्रतिभाशाली एवं अध्यवसायी होगा, उसकी भावाभिव्यक्ति सामान्य मनुष्य की अपेक्षा उतनी ही भिन्न होगी। परन्तु; संसार के साधारणतम मनुष्य की भी एक स्वतन्त्र शैली होती है—यदि उसके हृदयोद्गारों को लिपिबद्ध किया जाय तो वह भी सहज में ही स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत साहित्य में कालिदास का सारल्य एवं लालित्य, माघ का आलङ्कारिक वैभव एवं उत्प्रेक्षणता, भारवि का अर्थ गाम्भीर्य तथा भवभूति की भावप्रवण-सुकुमारता और हृदय को झकझोर देने वाली संवेदन शीलता सुविख्यात है। इन विशेषताओं से इन कवियों की क्रमशः शृङ्गारिकता, प्रदर्शनप्रियता, विचारकता तथा भावशाद्वल स्वाभाविक सुकुमारता स्पष्ट झलकती है। जिस प्रकार एक ही शाखा के कोई भी दो पत्ते बिल्कुल एक नहीं हो सकते उसी प्रकार दो व्यक्तियों (चाहे वे एक ही क्षण के उत्पन्न हुए दो भाई ही क्यों न हों) की शैलियाँ भी एक नहीं हो सकतीं।

शैली एक कला—प्रश्न हो सकता है कि क्या किसी व्यक्ति के भावप्रकाशन की एक विशेष पद्धति उसके पूर्ण चरित्र की तालिका हो सकती है? वास्तव में शैली किसी की मानसिक पद्धति (मस्तिष्क की बनावट-विचारधारा) को समझने की एक कला है। मनुष्य के सभी कार्य और बातें उसके निजी व्यक्तित्व को स्पष्ट नहीं करते। हम किसी मनुष्य के साथ वर्षों रहें फिर भी उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं पा

सकते। कोई भी मनुष्य स्वयं को भी पूर्णतया नहीं जानता है।

कृत्रिम सतर्कता और प्रेम इसके अपवाद हैं—कृत्रिम सतर्कता और प्रेम के अपवाद के साथ शैली मनुष्य के अन्तः स्वभाव की विशेषताएँ स्पष्ट करती है। बहुधा कहा जाता है (Style is the man) अर्थात् शैली में मनुष्य का अन्तः वाह्य पूर्णतया प्रकट हो जाता है। परन्तु कभी कभी लेखक एक कृत्रिम एवं छलपूर्ण शैली को अपना लेता है, वह बहुत से सत्य आवृत कर लेता है, उन्हें एक छल पूर्ण अथवा व्यङ्ग्यात्मक ढङ्ग से रखता है। ऐसी कृत्रिमता की स्थिति में हम यह कदापि नहीं कह सकते कि किसी लेखक की रचनाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण उसकी पूर्ण विशेषतायें स्पष्ट करने में हमारी सहायता करेगा। कारण, लेखक ने अपनी शुद्धान्तः-करण की विचारधारा को छिपाकर झूठे विचारों का प्रदर्शन किया है।

नैतिक-भावुक सीमाएँ—मानव स्वभाव की नैतिक एवं भावुक परिधि को भी उसकी साहित्यिक शैली द्वारा देखा जा सकता है। भाषा में हमारी भावनाएँ और विचार स्पष्ट करने की जितनी सामर्थ्य होती है उतनी ही उन्हें छिपाने की भी सामर्थ्य होती है। बात बढ़ा-चढ़ा कर कहना (अतिशयोक्ति) स्वानुभव की चर्चा, किसी एक पक्ष पर बल देकर लिखना, गम्भीरता के साथ सीमित शब्दावली का प्रयोग करना, नीरस, अनाकर्षक एवं अनलंकृत शैली में लिखना, दरिद्र तथा प्रश्नात्मक वाक्यावली इन सभी पद्धतियों से विशाल मस्तिष्कता, शान्ति प्रियता तथा प्रदर्शन प्रियता इन तीन प्रकार के शैली लेखकों का पता चलता है।

नाटककार की शैली—साधारणतया शैली द्वारा लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है; परन्तु नाटककार के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, उसे स्वयं को व्यक्त करने का नाटक में अवसर ही नहीं मिलता। अच्छे नाटककार स्वयं को रचना-चरित्रों से दूर ही रखते हैं; परन्तु कुछ नाटककार किसी न किसी प्रकार स्वयं को व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वह ठीक भी नहीं है।

मानसिक चिन्तकों की शैलियों में भी अन्तर देखा जा सकता है। एक भाव-प्रधान विचारक और दूसरा वस्तु-तत्त्व का विचारक ये दोनों परस्पर में भिन्न होते हैं। दोनों के शब्द-चयन में बड़ा अन्तर रहता है। एक गहरा होने का प्रयत्न करता है, दूसरा एकदम स्पष्ट होने का। व्यास-प्रधान से समास प्रधान, क्रान्तिकारी से रहस्यमय, तार्किक से कल्पनाकार, वैज्ञानिक से कवि की शैली निश्चित रूप से भिन्न होगी।

शारीरिक और सौन्दर्य सम्बन्धी विशेषताएँ-लेखक की शारीरिक एवं सौन्दर्य सम्बन्धी विशेषताएँ भी उसकी शैली द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं। घर बैठने वाला व्यक्ति उन्हीं अलङ्कारों का प्रयोग नहीं करता जिनका स्वाभाविक प्रवाह एक स्वस्थ एवं मैदान के खेलों से प्रेम करने वाला करता है। यदि लेखक रङ्गों का प्रेमी है तो उसकी रचनाएँ रसीली-रंगीली होंगी। उसकी शैली अभिराम होगी ही। यही बात प्रकाश अथवा ध्वनि के प्रेमी लेखक की होती है। अंग्रेजी कवियों में कीट्स रंगों पर मुग्ध था; शेली प्रकाश का प्रेमी था; वर्ड्सवर्थ ध्वनि का प्रेमी था; टेनीसन भी ध्वनि-चित्रण में आनन्द लेते थे। बाल्टर पेटर की रुचि बनावट पर टिकती है। बहुत से लेखक सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी रुचि और इन्द्रिय साक्षात्कार को दृष्टि में रखकर अपनी रचनाएँ करते हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकार बाण की वर्णन-विविधता विश्व विख्यात है। शब्द शिल्प और वर्णों (रंगों) की चमत्कारी छटा भी बाण में अपनी पराकाष्ठा पर है। लेखक की व्यक्तिगत रुचि उसकी वृत्ति में अवश्य उभरती है। उसकी इन्द्रियां उसकी रुचि की सामग्री जहाँ भी देखती हैं, उसकी स्मरण शक्ति मुग्ध हो उन दृश्यों के चित्रण में लग जाती है। समुद्र, पर्वत, शहरी जीवन, ग्रामीण धन्धे, फूल, नदी, झरने, कीमती प्रस्तर-खण्ड, सुगन्ध, पशु, पक्षी, कीटाणु,

भोजन के प्रकार वायुमण्डल इत्यादि बातें उसकी शैली में अपना प्रभाव छोड़ती हैं जिनसे उस लेखक की रुचि का पता चल सकता है।

पूर्व प्रभाव—लेखक की जन्मजात रुचि और स्वभाव के समान उसकी संसार से ग्रहण की गई अच्छी बुरी आदतें, प्राप्त बाह्य ज्ञान, प्राचीन लेखक, कवि, शिक्षा-पद्धति इत्यादि—पूर्व प्रभाव भी उसकी शैली में किसी न किसी रूप में उभरते ही हैं।

प्रयुक्त शब्द और रुचि—लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्दों से उसकी प्रकृति की सरलता, कर्कशता, मिलनसारिता, एकान्त-प्रियता, झक्कीपन, आवेश, आलसीपन इत्यादि बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं। समास-प्रधान वाक्यावली, व्यास-प्रधान वाक्यावली, अलङ्कारों की बहुलता, अभिधा शक्ति अथवा लक्षणा-व्यञ्जना में लिखना, उद्धरणों को संक्षेप अथवा विस्तार से लिखना इत्यादि द्वारा भी लेखक की रुचि और प्रकृति को समझा जा सकता है।

लिखावट—लेखन-शैली की भाँति मनुष्य की लिखावट भी उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में सहायक होती है। अक्षर मलिन, कुरूप, छोटे-बड़े आते हैं, पंक्तियाँ प्रायः टेढ़ी ऊँची-नीची छोटी और बड़ी हो जाती हैं; योग्यता होने पर भी प्रायः अशुद्ध लेखन होता है, कुछ का कुछ लिख दिया जाता है इत्यादि। इन सब के पीछे सरलता, असावधानी तथा सौन्दर्य के प्रति अरुचि की भावना व्यक्त होती है। इसके विपरीत सुन्दर आकृति के अक्षर, स्वच्छ अक्षर, एकसी पंक्तियाँ, यत्र-तत्र सुन्दरता-वर्धक छोटे-बड़े अक्षरों के प्रयोग इत्यादि बातें लेखक की सौन्दर्य-रुचि, प्रदर्शन-प्रियता, सतर्कता तथा बाह्याकर्षण को द्योतित करती हैं।

प्रायः बहुत से लेखक आरम्भ में स्वच्छता का ध्यान रखते हैं पर ज्यों-ज्यों उनका लेख बढ़ता जाता है लेखन सम्बन्धी स्वच्छता भी समाप्त होती जाती है और अन्त तक तो 'आप लिखें और बाँचे खुदा' वाली बात चरितार्थ होने लगती है। बहुत से लेखक स्वच्छ अथवा मलिन जैसा भी लिखते हैं आद्यन्त एकसे ही रहते हैं। ऐसी लिखावटों से अस्थिर और स्थिर तथा विश्वसनीय विचारधारा का पता चलता है।

विराम—अल्प-विराम, अर्ध-विराम, डैश (—), पूर्ण विरामों की अधिकता आदि चिह्न भी लेखक की जीवन सम्बन्धी एक विशेष रुचि को व्यक्त करते हैं। बहुत से लेखक अधिक विरामों के आदी होते हैं और कुछ लेखक कम-से-कम विरामों में ही आनन्द लेते हैं। आठ-दश पंक्तियों तक और कभी-कभी पूरे पृष्ठ तक एक वाक्य ही चलता रहता है। पत्र के पत्र निकल जाते हैं अर्ध-विराम अथवा अल्प-विराम का नाम तक नहीं आता। वाक्य-समाप्ति पर पूर्ण-विराम ही मिलता है। अधिक विराम लेखक के समय मूल्य की सूचना देते हैं। वह समय के ध्यान के साथ (विश्राम के साथ) जीवन में गतिशीलता चाहता है। पथिक थक कर विश्राम लेता है और फिर चलता है। इसी प्रकार विराम भी लेखक की यथावसर विश्राम के साथ गतिशील जीवन-क्रिया के परिचायक हैं। दूसरी ओर विरामों का अभाव यह स्पष्ट करता है कि चाहे पथिक चलते-चलते गिर ही पड़े परन्तु रुकने का नाम न लेगा। पृष्ठ-व्यापी वाक्य में भले ही भाषा और भाव अस्त-व्यस्त हो जाय परन्तु विराम का नाम न होना चाहिए।

साहित्यकार की शैली बुद्धि और तर्क की अपेक्षा भावना, मधुरता और उत्सुकता से अधिक प्रभावित रहती है। दार्शनिक की ठीक इसके विपरीत बुद्धि और तर्क से। प्रत्येक मनुष्य की मानसिक, नैतिक एवं सौन्दर्य सम्बन्धी विचारधारा निश्चित रूप से पृथक्-पृथक् होती है, अतः उसकी शैली भी पृथक्-पृथक् होगी ही।

आत्म-कथाओं, पत्रों तथा सामान्य चर्चाओं द्वारा भी व्यक्ति के गुणों का ज्ञान बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है।

यदि लेखक ने जानबूझ कर छद्म वेष धारण नहीं किया है तो उसकी शैली निश्चित रूप से उसके व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करने में पूर्ण समर्थ होगी। क्या कहा गया से कैसे कहा गया, कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कहानी की सीमाएँ

श्री महीधर नाग

साहित्य के जिस अंश को कहानी कहा जाता है वह अपने आप में पूर्ण होने के कारण उपन्यास का एक परिच्छेद नहीं, क्योंकि जीवन को सर्वाङ्गीण रूप से घेर लेने वाली उपन्यास की विशदता उसमें कहाँ? उपन्यास और कहानी में आकार का ही नहीं प्रकार का भी भेद है। उपन्यास किसी प्रश्न को उठाकर अन्त में उसका सन्तोषप्रद उत्तर देता है। कहानी प्रश्न उठा देती है, शङ्का व विचार-पुञ्ज का अंकुर उत्पन्न कर देती है, प्रश्न का उत्तर नहीं देती, समाधान नहीं करती। उपन्यास में कथानक प्रधानता लिये हुए होता है, बिना कथानक के एक उपन्यास को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, सफल नहीं कहा जा सकता, वह कथानक कहानी में हो भी सकता है और नहीं भी। बहुत सी कहानी कथानक को किंचित प्रधानता देती हैं जबकि साहित्य-जगत में बिना इसकी प्रधानता के कोई भी उपन्यास नहीं लिखा गया है। ऐसे उपन्यास को सफल नहीं कहा जा सकता।

कहानीकार का एक निश्चित उद्देश्य मात्र होता है और वह अन्य तत्त्वों व उपकरणों को लिये ही फलागम तक पहुँच जाता है। उपन्यासकार के लिये यह सम्भव नहीं। उसे इस चरित्र को सम्मुख रख कर उनका सर्वतोमुखी चित्रण करना होता है, जीवन का प्रत्येक अंश, घटना उसके दृष्टिकोण में रहता है। कहानीकार चरित्र की एक विशेषता को तथा उसी के सम्बन्ध की अन्य योग्यताएँ वर्णित करता है। उसका लक्ष्य जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालना नहीं होता। वह तो किसी अभिनयात्मक, नाटकीय परिस्थिति को दृष्टि-पथ में लाकर और उसके सम्यक् विकास द्वारा चरित्रगत किसी एक ही विशेषता को अंकुरित कर, पाठकों के हृदय में एक हलचल पैदा कर निकल जाता है। उसका एक प्रभाव पाठक के दिमाग में टकराता रहता है। कथा के वेग में लेखक के पात्र पाठक को अपना रोमाञ्चपूर्ण परिचय दे, उसके विचारों की उलझन में खो जाते हैं। यही आधुनिक सफल कहानी की मुख्य विशेषता है।

आधुनिक समय के वेगपूर्ण जीवन में सैकड़ों पृष्ठों के उपन्यास को पढ़ने का समय किसे मिलता है। आज तो पाठक थोड़े समय का मनोरञ्जन चाहता है जिसे आधुनिक कहानी उसकी मनस्तुष्टि कर देती है। ऐसी अवस्था में इन कहानियों का व्याप्त होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अब उपन्यास की कोई गणना ही नहीं। जीवन के सर्वतोमुखी परिचय के लिए, जिसमें चरित्र का उचित रूप से विकास हो सके, उपन्यास की ऐसी आवश्यकता सदा बनी रहेगी।

प्रभाव प्रेषणीयता के लिए उद्देश्य की एकता की आवश्यकता है जैसा कि कहानी के लिये कहा जा चुका है। कहानी के पात्र और पाठकों के रागात्मक सम्बन्ध में कोई बाधा न पड़े और पाठक के हृदय में एक अमिट छाप अङ्कित करदे, लेखक का ध्यान इसी ओर अधिक होना चाहिए। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' की अनेक कहानियों में उद्देश्य की एकता नहीं, किन्तु वे प्रभाव की तीव्रता बहुतायत से लिये हुए हैं। कहानी लेखक का सोचा समझा उद्देश्य कहानी की सारी रूप-रेखा स्पष्ट कर देता है। यदि लेखक उद्देश्य-पथ से भटक गया तो कहानी का ढाँचा भी नियमित, व्यवस्थित न रह सकेगा।

कहानी लिखने के तरीके एक लेखक के अनुसार केवल तीन हैं। प्रथम तो किसी कथानक को लेकर उसमें पात्रों को फिट कर सकते हों, या किसी पात्र को लेकर चरित्र उज्ज्वलता के लिए परिस्थितियाँ या घटनाएँ

चुन सकते हो अथवा किसी वातावरण विशेष की प्रभाव प्रेषणीयता के लिए घटना और पात्र इकट्ठे कर सकते हो, किन्तु सच्ची कला के लिए यह उचित नहीं। कहानी की सफलता तो चित्रों के समूह और उनमें जीवन सञ्चार करने वाले भावों की उलझन से उत्पन्न होने वाले सङ्घर्ष से है। यदि कहानी में घटना को ही बढ़ाया जाय तो चरित्र-विकास सम्भव नहीं और चरित्र चित्रण की ओर ही बढ़ा जाय तो कथा-वेग गति पूर्ण नहीं रहेगा।

हमारे यहाँ कहानियाँ अधिकतर शिक्षाप्रद और नैतिक ही होती हैं। लेखक अपने विचारों को पाठकों पर लादना चाहता है और इसके लिए वह कहानी का सहारा लेता है। किन्तु कहानी कला का उद्देश्य केवल नैतिक शिक्षा देना ही नहीं वरन् वह एक कला होने के नाते नैतिकता की सीमा और लेखक के स्वयं अपने विचारों, उपदेशों में नहीं बांधी जा सकती। यदि किसी को उपदेश, शिक्षा और ज्ञान ही प्राप्त करना है तो कहानी ही पढ़ने क्यों बैठेगा, धर्म की पुस्तकें पढ़ेगा। कहानी-लेखक को क्या अधिकार है कि वह कला को एक सुधार, उपदेश के प्रोपेगेन्डा का साधन बनाये, इसके माध्यम से? रवीन्द्रनाथ की कहानियों में, टॉल्स्टाय की कहानियों में, मोपासा, चेखब, गोर्की किसी की भी कहानियों में जो कि सफल कहानी लेखक माने गये हैं, शिक्षा को स्थान नहीं मिला है।

प्रेमचन्द की कहानियों की सफलता उनमें शिक्षा देने की प्रवृत्ति के अभाव में ही है। शरच्चन्द्र जीवन की सत्यात्मक अभिव्यंजना करके ही सतुष्ट हो जाते हैं। इसलिये कहानी में किसी शिक्षा को स्थान देना अभीष्ट नहीं। प्राचीन काल के लेखकों का उद्देश्य अब से भिन्न था। उस काल में धर्म के कर्त्ता-धर्त्ता निष्कर्षों को विशद रूप देने के लिये ही कहानी बनाते थे। उनका उद्देश्य होता था शिक्षा देना और उनके पढ़ने वालों का, सुनने वालों का कर्तव्य था शिक्षा लेना। किन्तु आज का पाठक केवल मनोरञ्जन चाहता है। अतः कहानीकार को भी केवल कहानी, कहानी के लिये ही देनी चाहिये। कहानी की ओट में शिक्षा नहीं, व्यक्तिगत विचारों का बोझ नहीं।

श्री जैनेन्द्र के विचार देखिए—"हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं, कहानी एक खोज के प्रयत्न का उदाहरण है। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। वह एक उत्तर ही नहीं दे देती, अपितु कहती है कि उत्तर शायद इस रास्ते से मिले। पद-सूचक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिन्तन क्रिया के द्वारा इस सूझ को ले लेते हैं।"

यदि कहानीकार उत्तर देने का अधिकार रखता है तो वह सीमोल्लंघन करता है। वह सुझा ही सकता है, लाद नहीं सकता। कहानी-कला की सीमा सुझाने तक ही है।

ऐतिहासिक नाटककार, उपन्यासकार अपने कथा प्रकाशनार्थ ऐतिहासिक घटनाओं को अनुकूल झुका लेते हैं, इससे कथा सत्य से भटक भले ही जाय परन्तु वह तीव्रता, रोमान्स निहित होती है।

कहानी लेखक घटनाओं को निष्कर्षित कर सार तत्व ग्रहण कर सकता है। कहानीकार को इससे अधिक न बढ़ना चाहिए। ऐतिहासिक सत्यों को छिपाकर वह चिरन्तन सत्यों का लोप नहीं कर सकता। उसे कहानी में प्राण भी भरना होगा और सीमा भी रखनी होगी।

कोई घटना, किसी के द्वारा, किसी विशेष समय और परिस्थिति में होती है। यदि इन तीनों में कुछ ऐतिहासिक सत्य भी हुआ तो पाठक का सम्बन्ध कहानी से और भी दृढ़ हो जाता है। और इतिहास सूत्र एक अलग ही रोचकता ला देता है, जो कोरी कल्पनाएँ नहीं होतीं।

नाटक की तरह उपन्यास में प्रस्तावना, संघर्ष, चरम सीमा, इत्यादि पाँच अंग होते हैं किन्तु कहानी

और एकाङ्की नाटक में ये पाँचों आवश्यक नहीं। प्रस्तावना और उपसंहार कहानी की सीमा के परे हैं। कहानीकार संघर्ष से ही प्रारम्भ करता है और चरम तक, फलागम तक पहुँच कर रह जाता है। अङ्कों वाले नाटक अथवा उपन्यास की तरह धीरे-धीरे कथा को उलझा कर और उसी प्रकार सुलझाने के लिये कहानी में अवकाश नहीं। कुछ पाश्चात्य कहानीकारों ने समय, स्थान और कार्य की एकता को भी या सङ्कलनत्रय की मर्यादा निश्चित की है किन्तु इसकी कुछ अवहेलना ही हुई है।

कहानी की सबसे बड़ी सफलता उसके अन्त में है। यही उसकी पराकाष्ठा (क्लाइमेक्स) है। कहानी को सौन्दर्य की एक झलक का रस कहा गया है। कहानी में सम्पूर्ण मानव को चित्रित नहीं किया जाता वरन् उसके चरित्र का एक अंश दिखाया जाता है। टेकनीक के सम्बन्ध में लेखकों का मत है कि "वर्तमान कहानी का प्रारम्भ एक था" और अन्त "जैसी उनकी बीती वैसी सबकी बीते" से नहीं होता वरन् आधुनिक कहानीकार कहानी को उस स्थल से आरम्भ करता है जहाँ से वह समझता है कि पाठक को सबसे अधिक आकृष्ट और प्रभावित कर सकेगा और अपनी कथा को अधिक से अधिक बल और सौन्दर्य प्रदान कर सकेगा और अन्त भी इस ठिकाने पहुँचा कर कर देता है जहाँ हमारे हृदय पर स्थायी से स्थायी रेखा, अमिट से अमिट छाप उत्कीर्ण हो जाय, अङ्कित हो जाय।

कहानी की सबसे बड़ी कसौटी उसके तथ्य की व्यापकता है। जितना ही कहानी का सत्य व्यापक होगा कहानी उतनी ही स्वस्थ होगी। कहानी में बाह्य-जगत का चित्रण मुख्यतः यथार्थ शैली पर होता है और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण प्रायः भाव-मूलक शैली द्वारा किया जाता है।

'प्रेमचन्द' पहली शैली में सिद्धहस्त थे और 'प्रसाद' दूसरी में।

कई विद्वान लेखकों व आलोचकों ने जैसे श्री गुलाबराय ने कलाकार में तीन गुण आवश्यक बतलाये हैं—अनुभूति, सहानुभूति और अभिव्यक्ति। इनका सम्बन्ध क्रमशः सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से है। दार्शनिक सत्य को देखता भर है, कलाकार सत्य के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। सच्चे कलाकार की सहानुभूति, मानव दुर्बलता और मानवता के प्रति अनास्था के चित्रण में भी पीछा नहीं छोड़ती जो अत्याचार में दिखाई पड़ती है। वह अत्याचार दुराचार के आकर्षण के लिये चित्रित नहीं करता वरन् सौजन्य व सदाचार के निखार के लिये करता है।

कहानी का मूल्य-निरूपण उसके उपादानों की महत्ता, कथानक की सम्बद्धता, पात्रों के सशक्त व बलवान होने, अनुकूल देश काल के उचित चित्रण और मनोरञ्जक शैली पर निर्भर है। आधुनिक-साहित्य में कहानी-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो रहा है परन्तु कला-पूर्ण उनमें कम है। कहानी लिखना और कहानी पढ़ना जितना सरल समझा जाता है वास्तव में उतना है नहीं।

यदि कहानी, साहित्य का एक अंग माना जाता है तो उसकी निश्चित कसौटी भी होनी चाहिए।

उत्तम और आकर्षक छपाई

मासिक पत्र, मैगजीन, पुस्तकें, प्रश्नपत्र और फुटकर सब तरह की छपाई के लिए आप हमें लिखिए—

साहित्य प्रेस, ५, साहित्य कुञ्ज, आगरा।

वीर रस का स्थायी-भाव

* १ *

श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित

साहित्य-सन्देश के गत नवम्बर के अङ्क में श्री महेन्द्र प्रताप एम. ए. ने 'वीर रस का स्थायीभाव' शीर्षक लेख प्रकाशित किया है। विद्वान् लेखक ने तर्क पूर्ण ढङ्ग से गम्भीरता पूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन किया है और दिखलाया है कि उत्साह एक सञ्चारी भाव मात्र है। वास्तव में वीर रस का स्थायी-भाव साहस को मानना चाहिये क्योंकि साहस एक शक्ति कुञ्ज (पुञ्ज) है और मन का स्थायी तत्त्व भी।

मैं वीर रस को रस-राज मानता हूँ उक्त लेखक भी इसी पक्ष के समर्थक जान पड़ते हैं तथा वीर रस का स्थायी भाव उत्साह मानकर ही अपनी रचनाओं में इसका विवेचन किया है। जो सज्जन तथा आचार्य शृङ्गार रस को रस-राज मानकर चले हैं उन्होंने अपने इस कार्य से भारतीय समाज तथा देश की राष्ट्रीय-भावना को गहरी ठेस पहुँचाई है, तथा देश भर को स्त्रैणता के जाल में ला फँसाया है। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा देश ही शृङ्गारिक भावनाओं में विलीन होकर विषयासक्त बन गया है। इसी कारण क्रमशः ह्रास होता हुआ देश बुरी तरह दासत्व शृङ्खला में जकड़ता गया था। बाहरी शत्रुओं के आक्रमण भी लगातार इसी कारण होते चले आये थे जिसने हमारे समाज को ही अत्यन्त जर्जर एवं छिन्न-भिन्न कर दिया है। वैदिक काल में वीर रस की प्रधानता होने से हम में उत्साह की उत्ताल तरंगें बड़े वेग से प्रवाहित हो रही थीं। जिसके अभाव से कालान्तर में हम पतनोन्मुख होते गये हैं। अब हमें विचारना यह है कि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह मानना चाहिये अथवा साहस। इन दोनों शब्दों पर विचार करने से विदित होता है कि उत्साह का अर्थ सजीवता भरने वाली मानसिक शक्ति है जो नव-जीवन का संचार करती है तथा साहस का भाव होता है पुञ्जीभूत वीरत्व जो कि उत्साह को सङ्गठित व केन्द्रित कर किसी महान कार्य में अपने को नियोजित करता है। अतः स्पष्ट है कि दैनिक जीवन के लिये स्फूर्ति भरने में उत्साह ही हमारा सबसे बड़ा सहायक हो सकता है। साहस का आश्रय लेने की तो हमें कभी-कभी ही आवश्यकता पड़ती है जो कि सङ्कट काल में अथवा विशेष स्थिति में मन को कार्य के लिये आगे बढ़ाता है। मुख्यतया संकोच या हिचकिचाहट के अवसर पर एड़ लगाकर कार्य में संलग्न कर देना ही साहस का प्रधान काम समझा जाता है। अतः वीर रस का स्थायी भाव उत्साह ही हो सकता है, साहस नहीं।

महेन्द्र प्रताप जी ने उत्साह के विवेचन पर कुछ प्रश्न भी उठाये हैं। आप कहते हैं क्या उत्साह जीवन का कोई स्थायी तत्त्व है? फिर इसमें स्वयं शङ्का पैदा करते हुये कहते हैं क्या कोई व्यक्ति जीवन में चौबीसों घण्टे उत्साही रह सकता है? आपने यह ध्यान नहीं दिया कि यह बात केवल उत्साह के सम्बन्ध में ही नहीं है वरन् सभी रसों के स्थायी भावों में यही बात पाई जाती है कि चौबीसों घण्टे लगातार एक रस की व्याप्ति किसी में नहीं रहती। न कोई व्यक्ति लगातार चौबीसों घण्टे प्रेम-भावना में ही लिप्त रह सकता है और न क्रोध, भय, घृणा, हँसी आदि में ही लगा रहता है। अतः स्थायी भाव तो अपने-अपने रस के अनुकूल अवसर पर ही प्रवाहित होता है। इसलिये उत्साह के प्रति इस प्रकार का आक्षेप ठीक नहीं है। फिर साहस के बारे में तो उक्त प्रकार की भावना का और भी कम समावेश हो सकता है अतः इस विचार-सरणी में साहस को वीर रस का स्थायी भाव ठहराने के लिये नाम को भी गुञ्जायश नहीं है। इस प्रकार से मन का स्थायी तत्त्व वीर रस के लिये उत्साह ही ठहराया जा सकता है। स्थायी का अर्थ चौबीसों

घण्टों उत्साह में लिप्त रहना नहीं है वरन् वीर रस का उत्साह से सम्बन्ध स्थायी है यही इसका आशय है।

आपने एक उदाहरण द्वारा उक्त शङ्का का स्पष्टीकरण भी किया है। आप कहते हैं कि नवविवाहित दम्पति के अहोरात्र फूट रहे उल्लास को आप क्या नाम देंगे ? स्पष्ट है कि वह उल्लास, उमङ्ग, प्रेमोन्मत्तता, मोहान्धता आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है पर वह उत्साह कदापि नहीं हैं जो कि जीवन को ह्रासोन्मुख करता है, उत्साह का शृङ्गार और उसके स्थायी भाव प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं है। उत्साह की भावना केवल सजीवता में ही प्रयुक्त की जाती है अधोगति में नहीं, यह निर्विवाद है।

यह ठीक है कि उत्साह शब्द का एक व्यापक अर्थ भी लिया है परन्तु वीररस के स्थायी भाव रूप में उसका पारिभाषिक अर्थ लेना ही समीचीन है। साहित्यकारों और आचार्यों का इस सम्बन्ध में यही लक्ष्य माना गया है। अतः उत्साह शब्द के प्रयोग में अतिव्याप्ति दोष की अनुभूति ठहराना उचित नहीं है। नायिका के यहाँ नायक के दसों चक्कर काटना आसक्ति का ही द्योतक है, उत्साह का नहीं। यह ठीक है कि आचार्यों ने वीररस के अन्तर्गत शृङ्गार रस की स्थिति को भी स्वीकार किया है परन्तु उनके विश्लेषण का प्रकार दूसरा ही है। भूषण महाकवि ने इस पर विचार करते हुए एक छन्द में बतलाया है उसे अवलोकन कीजिये :—

> मेचक कवच साजि बाहन बयारि बाजि,
> गाढ़े दल गाजि उठे दीरघ दलन के।
> भूषन भनत समसेर सोई दामिनी है,
> महा मद कामिनी के यान के कदन के॥
> पैदरि बलाका धुरवान की पताका देखि,
> दौरि उठीं ब्रज बधू देखे श्याम घन के।
> न करु निरादर पियासों मिलु सादर ये,
> आये वीर बादर बहादुर मदन के॥
>
> शि. भू. फुटकर छन्द ४९

इस छन्द में महाकवि भूषण ने शृङ्गार रस को वीर रस के रूपक में ढालकर इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष कर दिया है कि वीर रस के साथ शृङ्गार रस की व्याप्ति सम्भव है परन्तु नायक-नायिका के मादन भाव को उत्साह के रूपमें चित्रित करने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि भूषण ने उत्साह और साहस के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में दिये हैं। शिवाबावनी में साहस का चित्रण प्रचुर मात्रा में किया है तथा शिवराज भूषण में उत्कृष्ट उदाहरणों की संख्या अत्यधिक है। यही नहीं इस महाकवि ने उत्साह के विवेचन में अपनी प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण भाग समर्पित किया है, अतः हम सरलतया उत्साह व साहस के अन्तर तथा उनके प्रयोग को भली भाँति समझ सकते हैं।

महेन्द्रप्रतापजी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि मनोभाव और मनोवृत्ति में बड़ा भेद है। प्रथम का सम्बन्ध मानसिक मूलतत्त्व से है और प्रवृत्तियाँ बाह्यपरक होने से परिवर्तनीय हैं। इसीलिये हिंसा और युद्ध-लिप्सा प्रवृत्तियाँ हैं।

इसमें भी सन्देह नहीं है कि वीरता का सम्बन्ध प्राचीन काल से अब तक युद्धों से अवश्य रहा है और युद्धों में ही वीरता की पराकाष्ठा दिखलाई देती है, फिर ये युद्ध चाहे आग्नेय हों अथवा शस्त्र-सञ्चालित। विध्वंस और विनाश का समावेश हिंसा में हो जाता है अतः इन कार्यों को वीर-रस के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसे शक्ति का दुरुपयोग ही कहा जायगा। उत्साह भरने वाली भावना ही वीर-रस के भीतर समझी जानी चाहिये। विनाश और विध्वंस से जहाँ एक ओर क्रोध की मात्रा का सीमातिरेक दिखलाई देता है, वहाँ निर्दयता की भावना भी कम नहीं रहती तथा दूसरी ओर जुगुप्सा व घृणा का समावेश होने से यह कार्य और भी गर्ह्य समझा जावेगा। अतः ऐसे अवसर के वर्णन में वीर रस की निष्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

महात्मा गान्धी की अहिंसा और गीता की निष्काम कर्म-भावना में समन्वय करना कुछ अनुचित

तो नहीं है। अहिंसा एक आध्यात्मिक भावना है जो कि आत्म-दर्शन तथा ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये यम-नियम के अन्तर्गत सर्वप्रथम सीढ़ी बतलायी गयी है। इसके बिना हम आध्यात्मिक मार्ग में एक पग भी आगे बढ़ने में समर्थ नहीं हो सकते। भगवान् कृष्ण ने सांसारिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करने के विचार से ही निष्काम कर्म का समावेश गीता में किया है। ताकि आसक्ति न होने से हम पाप-पुण्य के भागी भी न होंगे तथा कर्तव्य कर्म की प्रवृत्ति से भी हमारा अलगाव न होगा। वैदिक भावना भी हमें इसी पथ का अनुसरण करने का आदेश देती है।

महात्मा गान्धी ने तो अपने राजनीतिक संग्राम के लिये अहिंसा और सत्य को प्रमुख अस्त्र ही ठहरा दिया था। इसी सत्य और अहिंसा के सहारे से वे देश को बहुत आगे तक बढ़ा ले गये थे। इस प्रकार से श्रीकृष्ण और गान्धीजी की कार्य-प्रणाली में कुछ सामञ्जस्य ठहराया जा सकता है। फिर भी इन दोनों महानुभावों की गतिविधियों में जो अन्तर था वह तो सब को प्रत्यक्ष ही है।

अब यहाँ पर एक दूसरी दृष्टि से भी इस वीर रस पर विचार कर लेना चाहिये। राणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी ये दो वीर नायकों के उदाहरण हमारे सामने हैं। ये दोनों ही महान वीर और परम साहसी महापुरुष थे। इन दोनों की प्रणालियों और गतिविधियों पर दृष्टि डालने से जो अन्तर दोनों में पाया जाता है, उसे ही असफलता व सफलता की कुञ्जी समझना चाहिये।

राणा प्रताप वीरता व साहस में शिवाजी से कम नहीं थे। वरन् शारीरिक गठन, रण-शिक्षा, शक्ति और साहस में वे शिवाजी से कुछ ऊँचे ही थे फिर भी राणा प्रताप को असफलता मिली और शिवाजी को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। इसका कारण क्या था? गम्भीरता से विचार करने पर, इस भेद के दो कारण जान पड़ते हैं। राणा प्रताप को बादशाह अकबर से सामना करना पड़ा, था जो कि एक परम चतुर शासक और रण-कुशल योद्धा था। अकबर ने सांस्कृतिक समन्वय के साथ राजपूतों से विवाह सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे तथा हिन्दू-मुसलमान सभी के साथ सहानुभूति स्थापित करके उन्हें अपना विश्वास-पात्र बना लिया था। जबकि राणा प्रताप अपने भाई तक को भी न अपना सके थे। अतः तत्कालीन परिस्थिति राणा के अनुकूल न थी। तथा शासन की सुरक्षा व समयोचित सूझ-बूझ की भी इनमें कमी जान पड़ती है। फिर भी वंश गत प्रभाव से उनकी महत्ता को जो बल मिला था उसे निभाने में वे अंशतः अवश्य सफल कहे जा सकते हैं। वह उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव समझना चाहिये। इतना होते हुए भी वे उक्त कारणों से अपने जीवन में असफल ही माने गये। छत्रपति शिवाजी का औरङ्गजेब से मुकाबला था जो कि एक महान तास्सुबी, व धर्मान्ध शासक था। इस बादशाह ने हिन्दू-मुसलमान दोनों पर ही घोर अत्याचार किये थे। अपने भाइयों को कत्ल करा कर गद्दी पर बैठा था, इस कारण हिन्दू मुसलमान दोनों ही इससे घृणा करते थे। अतः स्वभावतः ही जनता की सहानुभूति शिवाजी के साथ थी, जो कि उसके शासन को उखाड़ फेंकना चाहते थे और राष्ट्रोद्धार में संलग्न थे। फिर शिवाजी ने बड़ी ही बुद्धिमानी से कार्य किया तथा एक सर्कुलर निकाल कर यह आज्ञा प्रचारित करदी थी कि मुसलमानी धर्म पुस्तक कुरान को कोई अपवित्र न करे और न मसजिद को हानि पहुँचावे। यदि कोई मुसलमान स्त्री किसी को मिल जावे तो इज्जत के साथ उसके स्थान पर पहुँचा देना चाहिये। इस कारण मुसलमानों की सहानुभूति भी शिवाजी के प्रति हो गई थी। अतः सभी शिवाजी को बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे। इस भावना ने इन्हें बहुत बल दिया। फिर यह एक चतुर व दक्ष शासक भी था और सदैव सूझ-बूझ से काम लेता था अतः सफलता इन्हें सदैव जयमाल पहिनाती रही। इस प्रकार से तत्कालीन परिस्थिति शिवाजी के पूर्णतया अनुकूल बन गई थी तथा सभी

औरङ्गजेब के क्षय की कामना करते थे। उसके मित्र भी मन में सशंकित रहते थे। अतः शिवाजी की सफलता में इन सब बातों ने पूरा सहयोग दिया था। साहस, शौर्य और सङ्गठन में भी वह अद्वितीय था।

शिवाजी को तो अपने कार्य में सफलता मिली ही थी परन्तु उसी आदर्श पर चलने के कारण महाकवि भूषण ने मुगलिया शासन को ही समाप्त कर दिया था। भूषण का सङ्गठन छत्रपति शिवाजी की कार्यप्रणाली और भावना के आधार पर ही हुआ था।

अब हम सरलतया अनुमान कर सकते हैं कि छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप में हमारा कौन आदर्श ठहराने योग्य है यद्यपि ये दोनों ही भारत के रत्न तथा उच्चकोटि के महानु पुरुष थे, फिर भी भूषण ने शिवाजी को आदर्श बनाकर भारत के अनेकों राजाओं में उत्साह की लहर दौड़ादी थी और उन्हें भी सफलता दिलाने में सहायता प्रदान की थी।

अब विचारना यह है कि उत्साह और साहस में वीर रस का स्थायी भाव कौन सा है। यह बात प्रत्यक्ष है कि उत्साह जीवन के प्रत्येक कार्य में अग्रसर होने का प्रमुख साधन है। वही नव जीवन सञ्चरित करके प्राणियों में सजीवता भर देता है तथा कार्य में संलग्नता उसी के द्वारा प्रभाव डालती है। अतः उत्साह को ही वीर रस का स्थायी भाव माना जा सकता है।

अब साहस को लीजिये। जब युद्ध आदि में विशेष परिस्थिति वश हमें अपने को किसी महान कार्य में नियोजित करना पड़ता है तभी हम उत्साह को सङ्गठित रूप देकर बड़े साहस के साथ उस महान कार्य में सफलता पाने के लिये जुट जाने को सन्नद्ध कर देते हैं। अतः उत्साह और साहस के अन्तर को हम सरलतया समझ सकते हैं।

दानवीर, कर्मवीर, धर्मवीर, परीक्षावीर आदि शब्दों में वीर रस की अवतारणा तो अवश्य होती है और उत्साह भी इसमें काम करता है। परन्तु वीर रस का स्पष्ट स्वरूप युद्ध वीर में ही माना जाता है। अतः उत्साह की भावना का उद्रेक भी इसी से प्रस्फुटित होने की आशा की जा सकती है। फिर साहस की प्रक्रिया का स्वरूप भी युद्ध की विशेष परिस्थिति में ही अधिक महत्त्वपूर्ण दिखलाई देता है। इस प्रकार से दानवीर, कर्मवीर आदि की अपेक्षा युद्ध में ही हमें उत्साह व साहस के उत्कर्ष स्वरूप के दर्शन होते हैं। फिर भी उत्साह को इस कार्य में प्राथमिकता देना निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है और यही वीर रस का स्थायी भाव कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं।

इसी सम्बन्ध में उत्तेजना व जोश के बारे में भी कुछ विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। यह भी वीर रस के अन्तर्गत भावना मानी जाती है। शिवाबावनी में भूषण ने इसके भी वर्णन को काफी महत्त्व दिया है। सेना जब किसी युद्ध के लिये तैयार खड़ी हो फिर भी सब की मनोवृत्तियाँ एक मार्गी न देखकर उनमें जोश भरने के विचार से सद्यः फल देने वाली रचना सुनाना श्रेयस्कर होता है। भूषण कवि इस कला में भी अत्यन्त दक्ष प्रतीत होते हैं। अवधूतसिंह रींवा नरेश की सेना जब बुन्देलों पर आक्रमण करने को प्रस्तुत थी तब भूषण महाकवि ने एक अत्यन्त उत्तेजनात्मक रचना सुनाकर सारी सेना में जोश की एक लहर दौड़ा दी थी। इस कविता को छत्रपति साहू के सम्मुख सुनाना भी उन्होंने गौरवपूर्ण समझा था जो कि शिवा बावनी के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष हुई थी। ऐसी रचनायें भी शिवाबावनी में कई प्रस्तुत हैं। अतः उत्साह, साहस और उत्तेजक रचनाओं को अवसर के अनुसार प्रस्तुत करने में हमारा यह महाकवि सब से अधिक दक्ष था। यही भूषण की विशेषता थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वीर रस के स्थायी भाव उत्साह के साथ उत्तेजक व साहसपूर्ण रचनाओं की भी आवश्यकता होती है। यही नहीं वीर रस के सहयोगी भय का संचार शत्रुओं में करने की भी भावना इस कवि में पर्याप्त रूप से मिलती है। क्रोध और भय इसीलिये वीर रस के सहयोगी माने जाते हैं फिर भी वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की महत्ता सर्वोपरि है, यह निर्विवाद है।

वीर रस का स्थायी-भाव

* २ *

श्री मालारविन्दम् चतुर्वेदी

भारतीय काव्य-शास्त्र में यह बात निश्चित रूप से मानी जाती है कि वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है। यह बात भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक ही नहीं, वरन हिन्दी काव्य-शास्त्र के मान्य आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल तक मान्य रही है। परन्तु हाल में ही प्रकाशित निबन्ध "वीर-रस का स्थायी भाव" में माननीय लेखक श्री महेन्द्र प्रताप जी एम० ए० ने यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है कि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह न होकर साहस है। उनका कहना है कि "वीर भाव की मूल भित्ति है साहस" परन्तु विचार करने से मालूम पड़ता है कि वीर भाव की मूल भित्ति साहस न हो कर उत्साह ही है।

यह समझने से पूर्व कि वीर रस का स्थायी भाव क्या है, यह समझ लेना—कि उत्साह और साहस में क्या अन्तर है—अधिक समीचीन होगा आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्तामणि' प्रथम भाग में उत्साह की परिभाषा देते हुए कहा है कि "साहस पूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम उत्साह है।" यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्साह में उमङ्ग होती है जिसमें क्रिया शीलता अनिवार्य है, साथ ही साहस भी वहाँ अंग रूप में रहता है। वीर-कार्यों के लिए जिस उत्साह की आवश्यकता होती है, वह यही उत्साह है। क्योंकि केवल कष्ट सहना ही वीरता नहीं कही जा सकती जब तक कि उसमें आनन्द पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग न हो।" आगे शुक्ल जी उत्साह और साहस का अन्तर बताते हुए कहते हैं कि "बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सह कर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी और धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जाय जिसके कारण उसे इतना कष्ट सहना पड़ता है। सारांश यह कि आनन्द पूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन हो सकता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं।" इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अगर कोई सैनिक युद्ध-क्षेत्र में निश्चेष्ट खड़ा रह कर चाहे अपने सम्पूर्ण साहस का परिचय दे डाले, तो भी हम उसे वीर नहीं कह सकते जब तक कि उसकी युद्ध-चेष्टाओं में आनन्द की लहर न दीखे।

इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम मनोविज्ञान का सहारा ले सकते हैं जिसके अनुसार साहस और उत्साह को ध्यान में रखते हुए, हम मानव जाति को तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम ऐसे व्यक्ति जिनमें साहस होता है परन्तु उत्साह नहीं, द्वितीय ऐसे व्यक्ति जिनमें उत्साह होता है परन्तु साहस नहीं एवं तृतीय ऐसे व्यक्ति जिनमें उत्साह और साहस दोनों होते हैं। प्रथम दो प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं तथा तृतीय प्रकार के व्यक्तियों को हम पुनः तीन भागों विभक्त कर सकते हैं। प्रथम ऐसे व्यक्ति जिनमें साहस अधिक और उत्साह कम, द्वितीय ऐसे व्यक्ति जिनमें उत्साह अधिक और साहस कम तथा तृतीय ऐसे व्यक्ति जिनमें साहस और उत्साह दोनों समान होते हैं। अब हम देखेंगे कि इन तीन प्रकार के व्यक्तियों में वीर कौन कहला सकता है। जिस व्यक्ति में साहस तो है मगर उत्साह है ही नहीं, और अगर है भी तो बहुत थोड़ा, तो ऐसा व्यक्ति अगर युद्ध क्षेत्र में भेजा जाय तो वह चला तो जाय और डरे

भी नहीं, परन्तु युद्ध-कर्म से अवश्य उदासीन रहेगा, एवं जब तक उसपर कोई आक्रमण नहीं करेगा वह चुपचाप खड़ा रहेगा। ऐसी अवस्था में हम उसे वीर नहीं कह सकते चाहे वह कितना भी साहसी या अपराजेय क्यों न हो। ठीक इसके विपरीत उक्त द्वितीय एवं तृतीय प्रकार का व्यक्ति उसमें साहस हो या न हो, अगर युद्ध-क्षेत्र में जाता है तो अवश्य ही आनन्द-पूर्ण उमङ्ग के साथ चेष्टायें करेगा। तभी हम उसे वीर कह सकते हैं। परन्तु याद रहे कि सच्चा वीर उत्साह साहस एवं प्रज्ञा का सुन्दर समन्वय होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि वीर पुरुषों में साहस एवं उत्साह दोनों होते हैं परन्तु साहस से अधिक महत्ता उत्साह की है। क्योंकि ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जहाँ असाहसी पुरुष भी कभी-कभी ओजपूर्ण शब्द या वीरतापूर्ण दृश्य देखकर, अपने में इतने अधिक उत्साह का अनुभव करते हैं कि वे हमारे सम्मुख एक वीर के रूप में अवतीर्ण हो जाते हैं और उनके कार्य-कलापों को किसी प्रकार भी 'वीरता' का नाम देने से सङ्कोच नहीं कर सकते। अतः स्पष्ट है कि बिना साहस के वीरता सम्भव है परन्तु बिना उत्साह के वीरता सम्भव नहीं हो सकती। पलङ्ग पर पड़े हुए साहसी को, जिसमें शत्रु के प्रत्येक वार सहने की शक्ति एवं साहस है, क्या हम उसे वीर कह सकते हैं? उसे हम या तो ढोंगी कहेंगे या ऐदी वीरकदापि नहीं।

श्री महेन्द्रप्रतापजी साहस के विषय में लिखते हैं कि "साहस जीवन के साथ खेल जैसा व्यवहार कर सकने का नाम है।·······साहस वह मनोबल है जो अपने ढाई हाथ के शरीर के प्रति एकदम निर्मोही हो कर जीता है। वहाँ आशङ्का, भय, उद्वेग, निराशा और चिन्ता जैसे जीवन क्षयकारी रोगों को कोई स्थान नहीं।" अस्तु अगर हम इस कथन की समीक्षा करें तो मालूम पड़ेगा कि इन सब बातों के होते हुए भी (अर्थात् आशङ्का आदि से रहित पूर्ण साहस के होते हुए भी) वीरता सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि वहाँ उत्साह न हो। हम जानते हैं कि एक सच्चा सन्यासी पूर्ण साहसी होता है, क्योंकि उसे मृत्यु तक का भय नहीं होता, क्योंकि उसे जीवन से मोह नहीं होता। कहने का आशय यह कि श्री महेन्द्रप्रतापजी द्वारा निर्दिष्ट सभी बातें एक सच्चे सन्यासी में विद्यमान होती हैं, फिर भी हम उसे वीर नहीं कह सकते। जबकि इन सब बातों के साथ केवल उत्साह के और होने से हम उसे वीर कह सकते हैं। सन्यासी संसार से उदासीन होता है अतः उसमें उत्साह की सम्भावना असम्भव है।

कुछ आगे चल कर महेन्द्रप्रतापजी ने कहा है कि "जिस विषय का साहित्य होगा, उसी विषय का साधारणीकरण होगा।" यह बात तो ठीक है। परन्तु देखना यह है कि वीर रसात्मक काव्य हमारे अन्दर क्या उत्पन्न करता है? वीर रसात्मक काव्य हमारे अन्दर साहस उत्पन्न नहीं करता वरन् करता है एक प्रकार का उत्साह। वीर-काव्य को सुनते ही हम फड़क उठते हैं, क्योंकि उत्साह में एक प्रकार की उछाँह होती है, उमङ्ग होती है और होती है एक प्रकार की चञ्चलता, जब कि साहस में एक प्रकार की स्थिरता होती है, और होती है अडिगता, जिसमें सहन करने की अदम्य क्षमता होती है। अतः स्पष्ट है कि वीर-काव्य के पठन या श्रवण से साहस उत्पन्न न हो कर, उत्साह उत्पन्न होता है जो हमारे अन्दर एक प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न कर देता है, फिर चाहे हम में साहस हो या न हो। क्योंकि वास्तव में उत्साह ही वीर-रस का स्थायी भाव है। जैसा कि स्वयं श्री महेन्द्रप्रतापजी के वाक्य से व्यञ्जित होता है। आप कहते हैं कि "चमकती हुई रक्त-पिपासू दोधारी तलवार की नोंक के ऊपर प्राण रखे हुए निर्मोही योद्धा वीर-भाव की प्रतिमूर्ति बनी कर रह जाता है और हमें उसका उफनता उत्साह देख कर लगता है कि बस यही तो वीर-रस खड़ा है", न कि किसी को तलवार का वार साहस-पूर्वक सहते हुए देख कर।

यहाँ तक हमने देखा कि उत्साह ही वीर-रस का स्थायी भाव हो सकता है साहस नहीं। क्योंकि साहस

वीरता का अनिवार्य एवं मौलिक भाव नहीं है। अब कुछ उन प्रश्नों का उत्तर भी दे लें जो श्री महेन्द्रप्रतापजी ने उत्साह को वीर-रस का स्थायीभाव मानने के पूर्व पूछे हैं। प्रश्न है कि "क्या उत्साह जीवन का कोई स्थायी तत्त्व है ?" उसका उत्तर है 'हाँ'। वैसे तो कोई भी भाव हमारे सिर पर हमेशा सवार नहीं रहता, वह चाहे फिर रति हो या साहस अथवा उत्साह। परन्तु जब-जब भाव विशेष को उद्दीत करने वाला विषय हमारे सामने आता है तब-तब भाव विशेष मन की ऊपरी सतह पर आ जाता है और हम अनुभव करते हैं कि अमुक भाव अब जागृत है। मनोविज्ञान के द्वारा वह बात सिद्ध हो चुकी है कि प्रत्येक मनोभाव प्रत्येक व्यक्ति में सदा अपने मूलरूप में स्थायीरूप से रहता है, और जब-जब भाव विशेष का उत्तेजक विषय सम्मुख आता है वह भाव-विशेष जागृत हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि न साहस न उत्साह और न कोई अन्य भाव ही चौबीसों घण्टे मनुष्य में जागृत रहता है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के ये सब भाव स्थायी तत्त्व अवश्य हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि जब सब भाव मनुष्य में स्थायी रूप से रहते हैं तब हम क्यों किसी रस विशेष में किसी एक ही भाव विशेष को स्थायी भाव मानते हैं ? एवं अन्य भावों को क्यों सञ्चारी भाव मानते हैं ? बात स्पष्ट है कि 'प्राधान्येनव्यपदेश।' आशय यह कि जिस भाव की प्रधानता हो और जिस भाव में अन्य भावों का उदय एवं अवसान भी होता हो उस भाव विशेष को स्थायी भाव और अन्यों को सञ्चारी भाव मानते हैं। जैसे कि शृङ्गार रस में उत्साह, लज्जा, क्रोध, भय आदि जितने भी भाव आते हैं उन सब को हम सञ्चारी भाव कहते हैं क्योंकि इन सब का उदय एवं अवसान रति में ही है। अतः रति ही स्थायी भाव हो सकता है। इसी प्रकार वीर रस में क्रोध, साहस आदि जितने भी भाव आते हैं सब सञ्चारी भाव कहलायेंगे जबकि उत्साह प्रधान रूप में होने की वजह से स्थायी भाव कहलायेगा। "एक नवविवाहिता दम्पत्ति के अहोरात्र फूट रहे उल्लास को" हम रति का सञ्चारी कहेंगे, क्योंकि उस उल्लास का कारण रति है और अवसान भी रति में ही होगा।

ऊपर किये गये विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध-वीर रस का स्थायी भाव उत्साह ही हो सकता है साहस नहीं। इसके अतिरिक्त दान वीर, दया वीर तथा धर्म वीर में भी यही उत्साह स्थायी भाव के रूप में रहता है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल दिखावे आदि के लिए किया गया दान आदि रस कोटि में नहीं पहुँच सकता। वहाँ वीर ही नहीं अन्य कोई भी रस सम्भव नहीं हो सकता। हाँ ! दिखावे में किये गये दान आदि में एक प्रकार की रति होती है प्रसिद्धि, ख्याति के प्रति। अतः वहाँ रसाभास या भावाभास ही सम्भव हो सकता है।

जहाँ तक "परीक्षावीर" का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि परीक्षार्थी के अन्दर जो उत्साह होता वह परीक्षा के प्रति न हो कर परीक्षा-फल की ओर होता है। अगर परीक्षार्थी को यह मालूम पड़ जाय कि परीक्षक उसे अनुत्तीर्ण करने वाला है तो उस परीक्षार्थी में उत्साह नहीं रहता। जब कि हम जानते हैं कि वीर यह जानते हुए भी कि वह युद्ध में पराजित होने वाला है, उसी उत्साह से लड़ता रहता है जिस उत्साह से एक विजयी सैनिक। इस चर्चा से स्पष्ट है कि सकाम उत्साह वीर रस का स्थायीभाव नहीं हो सकता, वहाँ तो निष्काम उत्साह चाहिए जो आगे अनुभाव विभाव आदि द्वारा रस में निष्पत्त होकर सात्विक आनन्द प्रदान करता है।

साहित्य-सन्देश के सहायक-ग्राहक आप भी बन सकते हैं। आपको, विना मूल्य पत्र मिलेगा और हमें उसकी उन्नति के लिए सहायता।

घनानन्द-कवित्त का कला-पक्ष

प्रो० शिवबालक शुक्ल बी० ए० ऑनर्स, एम० ए०

महाकवि घनानन्द की प्रेम व्यञ्जना पर पीछे विचार किया जा चुका है, किन्तु द्रोपदी का वह चीर प्रसङ्ग की उस कुण्डली में नहीं समा सका है।* उसका कारण यह है कि कवि ने अपनी विरह व्यथा को अभिव्यक्त करने के हेतु वैसी ही भाषा का प्रयोग किया है और वह मेरे द्वारा अभी तक अस्पष्ट है। उसमें "भाव अनूठो चाहिये भाषा कोऊ होय" वाली बात नहीं वरन् गुप्तजी की 'योग्य अधिवासी के लिए हो योग्य गेह भी' उक्ति चरितार्थ हुई है। किसी अंग्रेज लेखक ने कहा है—

"Language is the mirror of the world of circumstances and of thought in which a child or adult lives"

कहना न होगा कि घनानन्द की भाषा विरही की भाषा है, उसमें फोटोग्राफर की कला नहीं, जो प्रतिच्छवि में व्यक्ति के ऊपरी वेश-विन्यास दिखाने में ही समर्थ होती है, वह हृदय का एक्सरे है। आज के वैज्ञानिकों ने बैरोमीटर, थर्मामीटर भले ही बना लिए हों, किन्तु हृदय व्यथा मापक यन्त्र घनानन्द ने ही तैयार किया था। चोरों की भाषा होती है, दलालों के इशारे होते हैं। इन विरहियों का एक संसार है जिनकी भाषा अलग है। घनानन्द-कवित्त के कलापक्ष पर विचार करते समय हम भाषा अलङ्कार पर ही दृष्टि निक्षेप करेंगे। छन्द विधान पर कुछ कहने की आवश्यकता इसलिए नहीं समझता कि इस निबन्ध में 'घनानन्द-कवित्त' पर ही विशेषतया विचार किया गया है जिसमें घनाक्षरी, मनहरण और सवैया छन्द ही प्रयुक्त हुये हैं।

घनानन्दजी की भाषा की अनेक विशेषताएँ हैं। कवि ने अधिकतर अपनी वियोग-व्यथा का चित्र चित्रित किया है और चूँकि वह स्वभावतः दब्बू रहा है, अतएव उससे कहीं भी कठोर वाक्यों, पदों की तो बात ही क्या (कठोर) शब्दों और वर्णों तक का प्रयोग नहीं किया है। अतएव घनानन्द की भाषा माधुर्य-गुण उपेत है। हाँ, यदि अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने की क्षमता पर विचार किया जाय तो उसमें ओज का अभाव नहीं। शब्दात्मा की पूरी पहचान कवि को है और शब्द यथास्थान पर प्रयुक्त भी हैं। उनकी चित्रमयी भाषा सजीवता सम्पन्न है। प्रस्तुत विधान के अन्तर्गत हावानुभावों के चित्र कितने साफ हैं देखिये—

गोरी बाल थोरी बैस, लाल पै गुलाल मूठि,
तानि कै चपल चली आनन्द उठान सौं।
बाये पानि घूँघट की गहनि चहनि ओट,
चोटनि करत अति तीखे नैन बान सौं।

शब्दों के इस चित्र को देखकर दयालु हृदय में एक गुदगुदी पैदा हो जाती है। सुन्दरी गोरी भी है, उस पर श्यामा। लाल पर गुलाल फेंकना चाहती है। उसके दाहिने हाथ में गुलाल है और बाँये में घूँघट का एक छोर। नेत्र भी अटके हुये हैं वाणों का काम जो कर रहे हैं। शब्द की आत्मा की परख के लिये यह पंक्ति देखिए—

"मो अबला तकि जान!
तुम्हें बिन यों बल कै बलकै जु बलाहक"

'अबला', 'बलाहक' भाषा-भामिनी के कलर को मैच करने वाले सूट की भाँति हैं। शब्द मुँह ताकते रहते हैं कि उनके द्वारा प्रयुक्त हो धन्य हो सकेंगे।

अबला के समक्ष बल प्रदर्शित कर के बलशाली बादल शेखी कर रहा है। अपने से कमजोर पर ही धौंस जमाते बनता है। परिकरांकुर का निर्वाह भी

---

* देखिए (१) परीक्षार्थी प्रबोध भाग ३ 'घनानन्द का काव्य सौष्ठव' शीर्षक लेख (२) वीणा अप्रैल ५५ में प्रकाशित 'महाकवि घनानन्द' शीर्षक निबन्ध।

मुढङ्ग से हुआ है। पं० विश्वनाथ मिश्र ने कहा है—

"घनानन्द की रचना में तो भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ की सम्पत्ति से समृद्ध हो कर सामने आती है। वाक्य-ध्वनि, पद-ध्वनि तो दूर रहे उन्होंने पदांश-ध्वनि से भी जगह-जगह काम लिया है।"

मिश्रजी से "मेरो मनोरथ हू बहिये" का उदाहरण दिया है। मैं कुछ अन्य उदाहरण दे कर अपने कथन की पुष्टि करूँगा।

"लखि सूनो सकै कित, रावरो ह्वै,
बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ।"

जिन महानुभावों ने गीतावली के विश्वामित्र द्वारा दिये हुए राम के परिचय को जो जनक को दिया गया था, सुना है वे 'रावरे' में अन्तर्हित ध्वनि को बहुत पसन्द करेंगे, वह इस प्रकार है—

"राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये,
रावरे हू सतानन्द पूत भये माय के।"

हाँ तो विरहा रावरो है। योग्य व्यक्ति की सुयोग्य सम्बन्धी जैसे अच्छे पिता का सुपुत्र। अतः जैसे आप मुझे चैन नहीं लेने देते उसी प्रकार मैं आपका विरह सूना नहीं देखना चाहता। यह पद-ध्वनि का उदाहरण है।

बादल पानी देते हैं अतः उन्हें जीवनदायक कहा जाता है। शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आव वेनिस' की मर्सी वर्षा की भाँति बादल भी सर-ऊसर का विचार नहीं करते। अतः विरही कवि ने श्लेष के प्रश्रय से एक निवेदन किया—

घन आनँद जीवन दायक हौ
कबौं मेरीऊ पीर हिए परसौ।

इस पंक्ति में 'ऊ' शब्द ही घनानन्द की भेद-भाव हीन कृपा की ओर सशक्त संकेत करता है और साथ ही गहरी आत्म-व्यथा का मुखरण। लगे हाथ भाषा की सङ्गीतात्मकता भी देख लीजिए—

ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वीरी
तो सों और कौन, मनै दरकौंहीं बानि दै
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान
घनआनँद-विधान सुखदान दुखदानि दै।

दूसरी पंक्ति में आचार्य शुक्ल को मृदंग का सा स्वर सुनाई दिया था। कवि ने पौन को 'जगत के प्रान' कह कर उस पर प्रत्येक व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार बता दिया किन्तु सखी के साथ 'वीर' पर लोगों को आपत्ति होती है। बेचारे पद्माकर को तो उनके साले के मुँह से इसी एक शब्द के प्रयोग से रघुनाथ राव पेशवा के दरबार में मुँह की खानी पड़ी थी।

यदि वीर शब्द का अर्थ सखी न भी किया जाय तो भी हानि नहीं, स्वार्थ-सिद्धि के हेतु असुर गुरु शुक्राचार्य ने तो मिथ्या कथन को भी पाप नहीं बताया और यहाँ तो सच्ची प्रशंसा है। दौड़ में प्रथम आने वाले लड़के से कह देते हैं "शाबाश बहादुर" बस घनानन्द ने कहा तुमसे अन्य कौन है। बीरी का बीड़ा उठाने वाला अर्थ संगत ही है। पाठान्तर में वारी और वारि दोनों शब्द आये हैं "मैं तुम पर बलि जाऊँ तनिक मुझ पर भी दया करना" यह अर्थ भी हो सकता है। परन्तु एक अर्थ और ध्वनित होता है 'सखे पवन! तुम्हारा प्रवेश सर्वत्र है, अतः मेरे पर्दानशीन प्रिय के यहाँ तुम जा सकते हो। तुम से और बारी (छोटी) संदेश वाहिकाएँ मिलेंगी कहाँ। पर्दा करने वाले घरों में ग्यारह वर्ष से अधिक वयस वाले लड़कों का प्रवेश निषेध रहता है। तुलसी ने इस 'बारे' शब्द का इस अर्थ में कई बार प्रयोग किया है—

सकल सुत बारे बारे

मुहाविरे भाषा की जान हैं। घनानन्द जी मुहाविरों के चुस्त प्रयोग के कारण अपनी जुबादानी के हेतु प्रख्यात हैं। उन्होंने मुहाविरों के प्रयोग दो रूपों में किये हैं। (क) प्रकृत रूप (ख) किसी अलङ्कार के प्रश्रय से।

गोपी-कृष्ण संवाद मुहाविरेदार भाषा में ही है। और एक से बढ़ कर एक चोटें दोनों पक्ष एक दूसरे पर करते हैं। झगड़े की भाषा भी बड़ी स्वाभाविक है—

जीभ संभारि न बोलत हौ,
मुँह चाहत क्यों अब खायो थपेरें।
ज्यों ज्यों करीं कछु कानि-करौड़,
त्यों मूढ़ चढ़े बढ़े आवत नेरें।
खाय कहा फल माय जने,
जिय देखो बिचारि पिता तन तेरें।
कछ . क्रनेरनि फेर बड़ो घन,
आनन्द न्यारे रहौं कहौं टेरें।

रेखांकित पदावली ने छंद में जान डाल दी है। क्रोध में ऐसे ही मुहाविरों का प्रयोग होता है। मजे की बात यह है कि 'खाय कहा फल माय जने' जैसे मुहाविरे से माता-पिता की भी खबर ली गई है।

वियोग-व्यथा वर्णनातीत होती है। शब्दों की साधारण कालिमा उसका चित्र नहीं चित्रित कर सकती। उस दुःख को वे दिन रात ही समझ सकते हैं जिनमें वियोग व्यथा का सामना प्रेमी को करना पड़ा है। यदि उस व्यथा का कथन किया गया तो दुःखानुभूति वर्णित स्थिति से बिल्कुल मेल न खायगी उसमें दिन रात का अन्तर हो जायगा। मुहाविरे के सहारे यह बात यों कही गयी है—

जो मुख देखति हौ घन आनन्द
रैन दिना बिन जान सुतंतर
जानें कोई दिन राति बखाने
तैं जाय परै दिन राति को अन्तर

बाहर जाने पर जब कोई बहुत दिन हो जाने पर चिट्ठी-पत्री तक नहीं लिखता तो प्रिय जन झुंझला कर कहते हैं "वे वहीं जाकर छाये हैं यहाँ पर एक न एक विपत्ति पड़ती रहती है।" पर कवि ने अपने नाम श्लेष से यह बहुत बड़ी बात सार्थक सिद्ध करदी है—

"वे घन आनन्द जाय छये उत"

इसी प्रकार एक दूसरे मुहाविरे का दुहरा अर्थ देखिए। पवन से एक मनुहार है—

पर-दुख-दल के दलन को प्रभञ्जन हौ,
दरकौहौ देखि कै विकस बकि परी मौन।
इत की असम दसा लै दिखाय सकत जु,
लालन सुबास सौ मिलाय हू सकत पौन।

'गन्ध मिलना' मुहाविरा है। यहाँ 'लालन सुबास' लालन का पता या गन्ध अर्थ कवि को अभिप्रेत है। ऊपर वाली पंक्ति में प्रभंजन शब्द आया है। प्रभंजन का अर्थ अंधड़ है और तोड़ने वाला या नष्ट करने वाला भी। दूसरों के दुख दल (समूह-पत्तों) को नष्ट करने वाला आदि। यह शब्दात्मा की परख है। एक मुहाविरा और देखिए—

'आवत ही मन जान सजीवन,
ऐसो गयो जु करी नहीं लौटनि'

ऊपर मुहाविरों के प्रयोग श्लेषाश्रमण से दिखाए गए हैं। परिसंख्या, परिकरांकुर संवलित मुहाविरे देखिए—

'मीडिबे के लेखे कर मीडिबोई हाथ लग्यो
सो न लगी हाथ रह्यौ सकुचि सखान सौं।'

मलने के (अंग मर्दन के लिए) स्थान पर नायक को हाथ मलना (पछतावा) हाथ लगा। मुहाविरा और परिसंख्या कितनी सुन्दर बन पड़ी है। परिकरांकुर की छटा देखिए—

'नावँ परयौ अबला घन आनन्द
ऐंठति ग्वैंठति भौंह किते बल'

'भौंह के बल' (तेवर) और फिर भी अबला। एक ओर परिकरांकुर तथा दूसरी ओर मुहाविरा द्रष्टव्य है।

अब भाषा की लक्षणा शक्ति के भी दो-एक उदाहरण लीजिए। विपरीत लक्षणा की बहार यत्र-तत्र देखते ही बनती है। विरह-विशीर्णा का सारा शरीर मुष्टिमेय हो गया। लिखते हैं—

इतै अनदेखै देखिवेई जोग दसा भई
तैं तो आनाकानी ही तैं बाध्यों दीठि तार है।

आपके न देखने से (कृपा दृष्टि न डालने के कारण) उस वियोगिनी की दशा कृशता के कारण देखते ही बनती है। बेचारी देखें भी देखी नहीं जाती कुछ ऐसी क्षीण हो गई है वह।

विरोधाभास एवम् विपरीत लक्षणा का एक सुन्दर उदाहरण और लीजिए—

झूठ की सचाई छाक्यो त्यों हित कचाई पाक्यो,
ताके गुन गन घन आनन्द कहा कहौं।

मेरे एक मित्र हैं जो किसी भी सोसायटी, सभा, पार्टी आदि में आज तक भूले से भी निश्चित समय से (कम से कम १½ घण्टा बाद से) पहले कभी नहीं पहुँचते, मैं प्रायः उनसे कहता हूँ—

You are regularly irregular and punctually unpunctual.

झूठ की सचाई, कचाई की पकाई तथा गुनगुन भी ऐसे ही हैं। गुनगन का अर्थ विपरीत लक्षणा से दुर्गुण पुञ्ज होगा।

घनानन्द की खण्डिता बिहारी की अप्रगल्भ खण्डिता सी दुनाली नहीं दागती। बड़े संयत ढङ्ग से अच्छे अच्छे विशेषण प्रयुक्त करती है और हज़रत पानी पानी हो जाते होंगे। नायक महाशय सवेरे आ पाये फिर क्या था हलकी फुहार पड़ी—

छवि निखरे हौ खरे नीकेई लगत पड़ी
आनँद के घन गूढ़ गाँसनि सौं गसे हौ।
भोर भये आए भाँति भाँति मेरे मन भाये
ए हो घर बसे आज कौन घर बसे हौ॥

निखरे, खरे, नीकेई लगत तथा आनंद……हौ (रति-रण में क्षत-विक्षत किये हुये) और भोर भए आने वाले की भाँति भाँति मन भाए। कितना विरोध है मन भाए (वे) और भी—

'सुधाधँर बान प्यारे भले ही हसत हौ'

इसमें असूया, संचारी और विपरीत लक्षणा द्रष्टव्य हैं। इनकी लक्षणा पद्धति की प्रशंसा करते हुये आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर बहुत कम पैर बढ़ाया। एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुये हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई।

अब उनकी विरोध मूलक प्रकृति लीजिए। वस्तुतः घनानन्द की विरोध मूलक प्रणाली एक स्वतन्त्र लेख का विषय है अतः यहाँ स्थाली-पुलाक न्याय का ही आश्रय लिया जा रहा है।

प्रिय जाकर दूर बस गया। अतः प्रेमी को सारा संसार सूना दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही है। इस स्थिति का चित्रण कवि ने ये कह कर किया है—

'उजरनि बसी है हमारी अँखियाँन में'

निष्ठुर प्रिय की रुखाई देखिये—

'हाय सनेही सनेह सो रूखे,
रुखाई से हौ चिकने अति सोहौ'

रुखाई से चिकने कितने मार्के की बातें है। कोई आदमी रूखा, उस पर चिकना फिर उस पर काबू पाना अतीव कठिन हो जाता है, चिकने घड़े पर पानी जो नहीं ठहरता। प्रार्थना की जाती है किन्तु चिकने प्रिय पर कुछ असर ही नहीं पड़ता।

तनिक और बढ़िए दिल जले के वे शब्द भी सुनिये—

कहौ कछु और करौ कछु और,
गहौ कछु और लखावत औरै।
मिलौ सब रंग, कहूँ नहिं संग,
तिहारी तरंग तकै मति कौरै।
गढ़ौ बतियानि, मढ़ौ छतियानि,
उढ़ौ छतियान निदान की होरै।
महा छल छाय खुले हौ बनाय,
किते घन आनँद चातक दौरै।

वाह रे निदान करने वाले, दवा देना तो तुम्हें आता ही नहीं, हाँ, 'मर्ज में मुब्तिला करना' जानते हो परन्तु तुम्हारा वास्तविक रूप कपट के पट पर पट पड़े होने पर भी खुल गया। छल छाय फिर भी खुले हौ बनाय (पूर्ण रूपेण)

जब प्रिय का संयोग होने पर भी मिलन सुख प्राप्त न हो तो कैसा संयोग और कैसा वियोग दोनों एक समान हैं। 'जैसे कन्ता, घर रहे तैसे रहे विदेस'।

मिलन तिहारो अनमिलन मिलावत है,
मिले अनमिले कछु करि न सकौ तरक।

और भी एक बात है, 'हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लह्यौ'। ऐसे प्रेमियों का पंथ सचमुच 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' है। शान चढ़े चाकू की पैनी धार सदृश तीखी तथा दुर्गम, अजीब मुश्किल है। शकील बदायूँनी ने ठीक ही कहा है—

जो नकाबे रुख उठादी तो यह कैद भी लगा दी,
उठे हर निगाह लेकिन कोई बाम तक न पहुँचे।

प्रेमी छटपटा कर रह जाता है। कपोत-व्रत धारण कर लेता है, किन्तु इस दशा में भी सुख है, आनन्द है, झुँझलाहट है, खीझ है परन्तु उससे प्यार भी।

प्रिय के वियोग में प्रेमी का एकमात्र अवलम्ब आँसू हैं। होता क्या है आँखें बादलों को भी मात दे देती हैं। विरोधाभास के प्रश्रय से घनानन्द ने यह तथ्य इस प्रकार प्रकट किया है—

"बदरा बरसै रितु में घिरि कै,
नित ही अखियाँ उघरी बरसैं।"

यहाँ सूर के निसि-दिन बरसने वाले नेत्रों की धारा से घनानन्द की 'अँखियों' की वारिधारा अधिक वेगवती है और उर्दू शायर की चुलबुलाहट प्रगल्भतात्मक पंक्ति से उपमित ही क्या की जाय। शायर ने कहा—

बढ़ के बरसे हैं मेरे दीदए गिरियाँ इनसे,
यही बाअस है कि बादल को घटा कहते हैं।

यह सबब (बादल को घटा कहा जाने का) खयाली है, शायराना है परन्तु घनानन्द के यहाँ एक-एक शब्द उनकी व्यथा को अङ्कित कर रहा है। 'रितु, घिर कै' का सम्बन्ध बदरा से है और अखियों का सम्बन्ध नित उघरी से है। अयाँ रा च बयाँ (स्पष्ट को और क्या स्पष्ट किया जाय)।

शेली की स्काईलार्क प्रेम तो करती है But never knew love's sad satiety. किन्तु प्रेम का पश्चात् परिणाम यहाँ देखिए—

लगी है लगनि प्यारे पगी है सुरति तो सौं,
जगी है विकलताई ठगी सी सदा रहौं।
जियरा उड़्यौ सो डोलौ हियरा धुक्योई करै,
पियराई छाई तन सियराई दौ दहौं।
ऊबो भयो जीवो अब सूनो सब जग दीसै,
दूनो-दूनो दुख एक एक दिन में सहौं।

देव की विरहिणी के चारों ओर का आकाश और उपर्युक्त पंक्ति का सूनो जग तुलनीय है। वियोग की भट्ठी में पड़ कर स्वर्णनिर्मित 'जिय' और 'हिय' कुछ ऐसे पिघल गये कि दोनों क्रमशः 'जियरा' और 'हियरा' हो गये। लोहे का सेर पानी में डूब जाता है परन्तु जहाज नहीं।

बस जियरा हल्का होकर उड़ने लगा और श्वास वायु से सुतराम् संकुचित होने पर हियरा में धुकधुकी उठने लगी। सियराई, दौ और खोइबो लहा में विरोध देखते ही बनता है। घनानन्द की दुनिया में ठण्डी आग लग जाती है और खोने में पाने का सौदा मिलता है। पं० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में—

"वाणी के द्वारा अलेख का भी लेख हो सकता है और मौन की भी पुकार सुनी जा सकती है। घनानन्द ने इसी विरोधमूलक प्रणाली से या वक्रोक्ति पद्धति पर अनेक सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन किया है।" कवि ने दावे के साथ अपना अभिमत प्रकट किया है—

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत,
सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है,
भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै॥
बात की बात सुबात बिचारिबो,
है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे,
घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

वियोग की स्थिति में सारा संसार कष्टप्रद दिखाई देता है। परमात्मा तक को इन विरहियों ने कोसने से किसी प्रकार न छोड़ा। निर्दयी प्रिय के द्वारा ढाये गये जुल्मों को याद कर प्रेमी एक बार झुँझलाकर 'दई' को भी खरी-खोटी सुनाये बगैर नहीं रहता—

एते गुन पाय हाय छाये घनआनँद यों,
कैधों मोहि दीस्यो निरगुनि ही उघरि रे।
जरी विरहागिनि मैं करौं हौं पुकार का सों,
दई गयो तू हू निरदई और ठौरि रे॥

इस निबन्ध को समाप्त करने से पूर्व कवि की अलङ्कार-योजना पर भी विचार कर लिया जाय। उनकी कविता-कामिनी का विरोधाभास किसी सुन्दरी की अनामिका या कनिष्ठिका की मुद्रिका है जो हर समय प्रत्यक्ष रहती है। उसकी श्री संवृद्धि करती हुई सहृदयों का मन मोह लेती हैं। यहाँ हम पहले उन अलङ्कारों की ओर दृष्टिपात करना चाहते हैं जिन्हें आज छायावाद युग की देन समझा जाता है जैसे विशेषण विपर्यय, पर्सोनीफिकेशन, अपास्ट्राफी (Apostrophe), पैथेटिक फैलेसी (Pathetic Fallacy)—सवेदना का हेत्वाभास।

विशेषण विपर्यय के लिए प्रायः उद्धृत पंक्ति देखिए—

'ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी आनन्दघन'

पर्सोनीफिकेशन या मानवीकरण का उदाहरण—

'मीचौ मरि गई आसरो न जित टूकिये'

और भी

'जासों प्रीति ताहि निठुराई सौं निपट नेह'

यहाँ मीच और निठुराई दोनों निष्प्राण वस्तुयें (abstract things.) सजीव दिखाई गई हैं। दूसरी पंक्ति को पढ़ कर भर्तृहरि का 'मयि सा विरक्ता' स्मरण हो आता है।

बेकरारी को करार मुश्किल से आता है और उर्दू की इस शैली पर लट्टू भी कम लोग नहीं हैं। घनानन्द की 'उत ऊजरु पायँ लगी मेंहदी' में जहाँ एक ओर ऊजरु प्राणवान बना दिया गया है वहीं पैरों में मेंहदी लगना (मुँह में दही जमना) मुहाविरा सुढङ्ग और चुस्ती के साथ प्रयोग किया गया है। अँग्रेजी और हिन्दी (लोकोक्ति) अलङ्कारों का यह सङ्कर सुन्दर बन पड़ा है।

अपास्ट्राफी वह अलङ्कार है, जहाँ कवि या लेखक किसी ऐसी वस्तु को सम्बोधित करता है जो उसके अन्तर्मन पर पूर्ण अधिकार कर लेती है। सुजान कृत अपराधों का सारा दायित्व इसी मन पर है अतएव मन ही यहाँ अपास्ट्रोफाइज्ड है, चेतन रूप में मानकर सम्बोधित किया गया है—

'ए मन मेरे कहा करि तैं तजि दीन,
चल्यौ जु प्रवीन ह्वै तो सौं।'

संवेदना का हेत्वाभास अनुमान और अपन्हुति का सांकर्य यहाँ देखिये—

बूँदे न परति मेरे जान जान-प्यारी! तेरे.
बिरही को हेरि मेघ आँसुनि झरयौ करै।

मैं समझता हूँ कि छायावादी अथवा प्रयोगवादी रचनाएँ अपना परोक्ष उत्स घनानन्द की इस शैली में देख सकती हैं। बोतल नई अवश्य है पर शराब पुरानी ही उसमें भरी गई है, और यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि नीति कविता की दाग बेल हिन्दी में घनानन्द ने ही लगाई थी। टेढ़ी मेढ़ी ईंटें रखने वाले गीतकारों के घनानन्द जी धन्यवादार्ह अवश्य हैं। अस्तु

भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष पर अलग-अलग विवेचन करने पर विदित होता है कि घनानन्द की कविता का अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों संपुष्ट हैं जैसा भाव वैसी भाषा। इस वश्यवाक् द्वारा प्रयुक्त वर्ण सुवर्ण हो जाते हैं। शब्द अहमहमिकया प्रयुक्त हो कर भाव बनने के हेतु समुद्यत रहते हैं।

हिन्दी भाषा के विशाल और अगाध अंबुधि में घुस कर मिश्रबन्धु नव-रत्नों को ही ला सके थे, स्यात् यह रत्न अपेक्षाकृत अधिक गहरे जल में रहा था। इधर अतल गहराई में पड़े हुए इस रत्न को श्रद्धेय पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र बाहर लाये हैं। सँजोने का कार्य बहुगुणाजी और श्रीमती त्रिवेदी ने तो किया ही है, सुना है क्रिसी भाई के मनोहरलाल ने उसका मूल्याङ्कन सुढङ्ग से किया है।

रामानन्द स्वामी का जीवन-काल

डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव, एम० ए०, पी-एच० डी०

रामानन्द स्वामी के जीवन-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत भेद है। वस्तुतः उनके जीवन-वृत्त से सम्बन्धित कुछ समस्यायें इतनी जटिल हैं कि बिना उनका पूर्ण समाधान किए उनके जीवन-काल के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित मत नहीं दिए जा सकते। इन भिन्न-भिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए विभिन्न विद्वानों ने स्वामी जी का जीवन-काल ईसवी सन् की १३ वीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ करके ईसवी सन् की १६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक माना है। नीचे हम प्रमुख मतों की आलोचना करके एक सम्भाव्य निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास करेंगे।

स्वामीजी की सबसे प्राचीन जन्म तिथि सं. १३५६ वि०—कलि के ४४०० वर्ष बीतने पर माघ कृष्ण सप्तमी, चित्रा नक्षत्र, सिद्धि योग, कुम्भ लग्न, दिन के सात दण्ड चढ़ने पर, गुरुवार को मानी जाती है। इस मत का आधार है 'अगस्त्य संहिता' का भविष्योत्तर खण्ड और इस मत के समर्थक हैं—सर्व श्री मानियर विलियम्स, जे. सी. कैम्पबेल ओमन, सर भण्डारकर, परशुराम चतुर्वेदी, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० रामकुमार वर्मा, रामानन्द सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् भगवदाचार्य और रूपकला जी। इस मत के समर्थन में विद्वानों ने नाभादास कृत 'भक्तमाल' का भी साक्ष्य लिया है जिसके आधार पर रामानन्द, रामानुज-परंपरा में पाँचवें आचार्य ठहरते हैं। डा० बड़थ्वाल का मत है कि प्रत्येक पीढ़ी के लिए ३०–३० वर्ष समय मान लेने पर रामानन्द का समय वही आता है जो 'अगस्त्य संहिता' को भी मान्य है। यही नहीं रामानन्द स्वामी की इस जन्म-तिथि को प्रमाणित मानकर पं० परशुराम चतुर्वेदी और उनके पूर्व डा. बड़थ्वाल ने कबीर का समय सं० १४२५ वि० से सं० १५०५ वि० तक स्थिर भी किया है। इस मत के समर्थन में कनिघम द्वारा निर्धारित पीपा का समय (सं. १४१७ वि०-१४४२ वि.) भी रखा जाता है। इन तर्कों के अतिरिक्त सर भण्डारकर के मत से रामानन्द ने अपने भाष्य में 'वेदान्त कल्पतरु' (अमलानन्द सन् १२४७-६०) का भी उल्लेख किया है।*

रामानन्द के सम्बन्ध में यह तिथि सम्प्रदाय के अधिकांश विद्वानों को मान्य है।

द्वितीय मत के समर्थक हैं श्री जे. एन. फर्कुहर। इनके अनुसार स्वामीजी का समय सन् १४०० ई० से सन् १४७० ई० तक था। इस मत के समर्थक विद्वानों में सर्वश्री एच. एच. विल्सन, एफ. ई. की, मेकालिफ, और डा. ताराचन्द आदि प्रमुख हैं। डा. फर्कुहर ने नामदेव (१४०० ई.–१४६०) को पूर्ववर्ती मानकर, पीपा का समय सन् १४२५ ई., कबीर का सन् १४४० ई. और रैदास का १४७० ई. स्थिर किया है। अपने मत के समर्थन में डा० ताराचन्द ने रूपकलाजी का साक्ष्य लिया है जिनके अनुसार रामानन्द रामानुज-परम्परा में इक्कीसवें आचार्य थे।

तृतीय मत के प्रवर्तक हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। इसके अनुसार रामानन्द का समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल के मत से तक्की और सिकन्दर लोदी (सं० १५४६—७४ वि०) रामानन्द के समकालीन थे। रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह के साक्ष्य पर सेन का समय शुक्लजी ने सं० १५७५-८० वि० के लगभग माना है। शुक्लजी

---

* लेखक 'आनन्द भाष्य' को रामानन्द कृत नहीं मानता (दे० हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६ अङ्क ४)। आनन्द-भाष्य में भी उसे 'वेदान्त कल्पतरु' का कोई उल्लेख नहीं मिला। इस भाष्य के अतिरिक्त रामानंद के नाम पर अन्य कोई भाष्य प्रचलित नहीं है।

ने 'रामार्चन-पद्धति' की गुरु-परम्परा को प्रामाणिक मानते हुए रामानन्द को रामानुज परम्परा में १४ वाँ आचार्य माना है।

उपर्युक्त मतों की समीक्षा—उपर्युक्त मतों में द्वितीय मत केवल तर्काश्रित है। कबीर और पीपा की जन्म-तिथियाँ अभी तक प्रामाणिक रूप से निर्धारित नहीं की जा सकीं, अतः उन्हें आधार मान कर स्वामी जी का जीवन-काल निर्धारित कर लेना अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। डा० ताराचन्द का यह मत भी कि स्वामी रामानन्द रामानुज-परम्परा में २१वें आचार्य थे, प्रामाणिक कथन नहीं है। वस्तुतः रूपकलाजी ने रामानन्द की गुरु-परम्परा न देकर केवल राममन्त्र राज-परम्परा ही दी है।

आचार्य शुक्लजी का मत भी जन-श्रुतियों पर ही आधारित है। तभी लोदी और रामानन्दजी के समकालीन होने के सम्बन्ध में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक नहीं उपलब्ध हो सका है। इसके विपरीत डा० रामप्रसाद त्रिपाठी जैसे इतिहासविदों ने कबीर और सिकन्दर लोदी के समकालीन होने में भी सन्देह प्रकट किया है। त्रिपाठीजी के मत से कबीर का समय १४वीं शताब्दी का उत्तरकाल और सम्भवतः १५वीं शताब्दी का पूर्वकाल मानना अधिक युक्तिसङ्गत है। रीवाँ नरेश के साक्ष्य पर सेन का समय निर्धारित करना भी युक्ति संगत नहीं, क्योंकि रीवाँ नरेश रघुराजसिंह तो इस बात में भी विश्वास करते हैं कि स्वयं कबीर ने आकर उनके पिता को उपदेश दिया था। यह भी संभव है कि ये सेन प्रसिद्ध सेन नाई से भिन्न हों। 'शिवसिंह सरोज' में गन्धवगढ़ के सेन का परिचय देते हुए लिखा गया है, 'सेन कवि नापित गन्धवगढ़ के सं० १५६० में उपस्थित। हजारे में इनके कवित्त हैं। यह कवि रामानन्द के शिष्य थे। किन्तु इस उक्ति पर टिप्पणी देते हुए पं० रूपनारायण पाण्डेय ने लिखा है, "इस रीवां वाले सेन का जन्म-काल सं० १५४७ के लगभग है। सं० १५६० वाला सेन दूसरा है।" इस प्रकार रीवाँ नरेश द्वारा लिखित सेन कदाचित् भिन्न व्यक्ति हों। 'श्री रामार्चन-पद्धति' में उद्धृत गुरु-परम्परा भी नितान्त प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। यद्यपि यह ग्रन्थ स्वामी रामानन्द की कृति होने से एक प्रामाणिक रचना है, फिर भी साम्प्रदायिक विचारों के कारण कुछ पाठ-भेद भी जान-बूझकर इस प्रकार के ग्रन्थों में किया जा सकता है। अस्तु।

प्रथम मत के पक्ष में न केवल सम्प्रदाय के ही अधिकांश विद्वान् हैं, अपितु इसे भारतीय दर्शन एवं इतिहास के अनेक प्रमुख विद्वानों का भी बल प्राप्त है। इसका मुख्याधार 'अगस्त्य-संहिता' है जो निर्विवाद रूप से 'भक्तमाल' से प्राचीन तो नहीं कही जा सकती, किन्तु अपनी सीधी-सादी निष्पक्ष शैली के द्वारा एक प्रामाणिक एवं प्राचीन रचना के रूप में अवश्य स्वीकृत की जा सकती है। फिर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने पर भी सं० १३५६ वि० में स्वामीजी का जन्म और सं० १४६७ में उनकी मृत्यु मान लेना अनुचित नहीं जान पड़ता। 'भक्तमाल' के अनुसार रामानन्द रामानुज-परम्परा में पाँचवें आचार्य थे। रामानुज की मृत्यु सं० ११९४. वि० में हुई थी। यदि नाभाजी ने बीच के आचार्यों में कुछ को छोड़ भी दिया हो तो भी दोनों आचार्यों के बीच १६२ वर्ष का अन्तर अधिक नहीं प्रतीत होता। उत्तर-भारत को समस्याओं के सुलझाने में असमर्थ रहा। श्री सम्प्रदाय को इतने समय में रामानन्द जैसे प्रखर प्रतिभाशील एवं सच्चे सुधारक की आवश्यकता भी पड़ सकती है।

दूसरी बात यह है कि मध्ययुग के सन्तों की जन्म-तिथियाँ प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में अभी स्वयं ही सन्दिग्ध हैं। अतः उनको प्रमाण मानकर स्वामीजी की तिथियाँ नहीं निर्धारित की जा सकतीं। इसी कारण नए विद्वानों ने कबीर की जन्म-तिथि सं० १४२५ और मृत्यु तिथि सं० १५०५ वि. में निर्धारित की है। पीपा का समय कनिंघम के आधार पर सं० १४१७ वि० से १४४२ वि० तक माना गया है और

इस आधार पर डा० बड़थ्वाल ने उनका जीवन-काल सं० १४१० से १४६८ वि० तक माना है। ये तिथियाँ पीपा एवं कबीर को रामानन्द के शिष्य होने पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगातीं। इनके अतिरिक्त नामदेव और त्रिलोचन भी स्वामीजी के सम्बन्ध से इस तिथि को मान लेने पर उनके पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। नामदेव का समय सं० १३२६-१४०७ तक और त्रिलोचन का जन्मकाल सं० १३२४ वि० में माना जाता है।

इन उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त रामानन्द सम्प्रदाय की कुछ प्रमुख गद्दियों से प्राप्त गुरु परम्पराएँ भी भी हमारे मार्ग में सहायक हो सकती हैं। 'भक्तमाल' के अनुसार नाभादास रामानन्दकी शिष्य परम्परा में पाँचवें भक्त थे। नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे। स्वामीजी की मृत्यु सं. १४६७ वि. में मान लेने पर नाभादास उनसे लगभग १५० वर्ष बाद अवतरित माने जा सकते हैं। पाँच आचार्यों के लिए यह समय अधिक नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार रैवासा, गलता, खेलना (भोलास), आकोर आदि रामानन्द सम्प्रदाय की प्राचीन गद्दियों में प्रत्येक स्थान में लगभग २० महन्त सं. १९७७ तक हो चुके थे। यदि इनमें से प्रत्येक का कार्य-काल कम से कम २५ वर्ष भी माना जाय तो भी स्वामीजी का जीवन काल १५ वीं शताब्दी का मध्यकाल ही ठहरता है।

रामानन्द सम्प्रदाय में यही तिथियाँ (सं. १३५६ वि० में जन्म और सं. १४६७ वि. में मृत्यु) मान्य हैं। 'भक्तमाल' के अनुसार स्वामीजी ने बहुत काल तक शरीर धारण कर प्रणत जनों को पार किया था। सं० १३५६ में उनकी जन्म-तिथि स्थिर हो जाने पर उनका जीवन-काल लगभग १११ वर्ष का ठहरता है, जो भक्तमाल के उक्त कथन के प्रकाश में असम्भव नहीं प्रतीत होता। 'अगस्त्य संहिता' के अनुसार वैशाख शुक्ल तृतीया को सं० १४६७ वि० में स्वामी जी का स्वर्गवास हुआ था। हिन्दी के प्रमुख इतिहासकारों ने इस तिथि को प्रामाणिक तिथि के रूप में स्वीकार भी कर लिया है अतः कुछ दृढ़ता के साथ ही रामानन्द का जीवन-काल सं. १३५६ वि. से सं. १४६७ वि. तक माना जा सकता है।

(पृष्ठ ४५३ का शेषांश)

थी। वक्षस्थल हर श्वास-प्रश्वास के साथ चञ्चल सा हो रहा था, उठ उठ कर गिरता था।……" अथवा, "'हूँ' कहकर दिलीपसिंह ने दाँत पीसे और दूसरा ओर मुँह कर लिया।

शैलीगत सौन्दर्य और प्रभविष्णुता के लिये अलङ्कारों का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। कचनार की आँखें ओले सी सफेद और ठण्डी हैं।' (दुलैयाजू) अत्यन्त सलोनी हैं। घूँघट उघाड़ते ही ऐसा लगता है जैसे केसर बिखेर दी हो। कचनार को देखने पर ऐसा जान पड़ता है जैसे चौक पूर दिया गया हो।' मुहावरों और कहावतों का प्रयोग बहुत कम है। व्याकरण की भूलें खोजी जा सकती हैं पर अधिक नहीं।

लेखक ने भूमिका में लिखा है—"उससे ऊपर बड़ी एक सहज, स्वाभाविक और स्वच्छ चहल-पहल थी, गोंडो का एक जन-राज्य था।………उसको देखता है और वही हमारे लिए कुछ महत्त्व रखता है।…… परन्तु कचनार में केवल इसी के दिग्दर्शन का प्रयत्न नहीं है।" इन पंक्तियों से दो बातें स्पष्ट हैं कि उपन्यासकार गोंड-राजा के जन-जीवन की झाँकी हमारे सम्मुख उपस्थित करना चाहता है। सम्पूर्ण कथा धामोनी के राजगोंड परिवार के साथ सम्बद्ध है और उसी की पीठिका पर कचनार के चरित्र का विकास उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह लेखक को अपने उद्देश्य में सफलता मिली है।

कचनार : एक अध्ययन

प्रो० सत्यभूषण वर्मा एम० ए०

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की विकास-शृङ्खला में श्री वृन्दावनलाल वर्मा का स्थान अद्वितीय है। उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का हिन्दी-साहित्य में प्रायः अभाव ही रहा है और श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास इस अभाव की एक बहुत बड़ी पूर्ति कर रहे हैं।

कचनार श्री वर्माजी के प्रथम कोटि की रचनाओं में से है। इस उपन्यास की कथा का सम्बन्ध धामोनी के राजगोंड राज-परिवार के साथ है। ऐतिहासिक दृष्टि से धामोनी एक महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है। एक परम्परा के अनुसार अकबर के मन्त्री फैजी का जन्म स्थान धामोनी है। यहीं पर फैजी के गुरु बाज़तीशाह की कबर बनी हुई है जिसके लिए औरङ्गजेब ने दो गाँव जागीर में लगा दिये थे। औरङ्गजेब दक्षिण के आक्रमण के लिये धामोनी को ही अपना पहला शिविर बनाता था सांस्कृतिक दृष्टि से धामोनी के खण्डहरों में राजगोंडों के जन-जीवन की स्मृतियाँ सुप्त हैं। आज यह स्थान एक उजाड़ बीहड़ है परंतु कभी यहीं पर एक सहज, स्वाभाविक और स्वच्छ चहल-पहल से युक्त गोंडों का जन-राज्य था जिसे सामन्तीय ढाँचे ने कुछ ढाल अवश्य दिया था किन्तु परिवर्तित नहीं कर पाया था। इस उपन्यास में राजगोंडों के उसी जीवन की एक झाँकी को प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न है यद्यपि लेखक के अपने शब्दों में 'कचनार में केवल इसी के दिग्दर्शन का प्रयत्न नहीं है।"

कचनार का कथानक अपने आप में निराला है। धामोनी के राजा दिलीपसिंह के घोड़े से गिरकर सिर में बड़ी चोट आई। रिश्ते के भाई मानसिंह ने न जाने कौनसी ऐसी जड़ी खिलाई कि ज्वर बढ़ा और राजा की मृत्यु हो गई। परन्तु आँधी-पानी आजाने के कारण शव को जलाया न जा सका और उसमें प्राणों का स्पन्दन देखकर गोसाईं अचलपुरीजी उसे उठा कर ले गये। राजा की चोट अच्छी होगई पर उसकी स्मृति नष्ट होगई और वह एक बच्चे की तरह व्यवहार करने लगा। इधर मानसिंह ने दिलीपसिंह की विधवा कलावती से विवाह कर लिया और उसकी दासी कचनार को भी अपनाना चाहा। कचनार राजा दिलीपसिंह से प्रेम करती थी। एक शाम वह किले से भाग निकली और उसने गोसाईं अचलपुरी के यहाँ शरण ली। सुमन्तपुरीजी में दिलीपसिंह की आकृति देख कर वह उसके प्रति कोमल भाव रखने लगी। अचलपुरी के प्रयत्नों से सुमन्तपुरी (दिलीपसिंह) के स्वभाव में विकास होता रहा। धामोनी पर गोसाइयों के आक्रमण करने पर मानसिंह की पराजय हुई। दिलीपसिंह के सिर में फिर चोट लगी। अच्छी होने पर उसकी पूर्व स्मृति लौट आई। उसने मानसिंह को क्षमा कर दिया और कचनार से विवाह कर लिया।

इस कथा की सृष्टि में लेखक ने इतिहास और परम्परा दोनों का आश्रय प्राप्त किया है। सन् १८०५ में प्रकाशित तत्कालीन गवर्नर-जनरल की पुस्तक—"Notes on the transaction of the Maratha Empire", श्री एलविन की "The Rajgonds" और सर यदुनाथ सरकार की "Fall of the Moghal Empire" आदि पुस्तकों में तत्कालीन इतिहास के उल्लेख मिलते हैं। लेखक के शब्दों में "उपन्यास में वर्णित सभी घटनाएँ सच्ची हैं। केवल समय तथा स्थान का फेर है।" डरू की घटना जो उसके भाई के वध से सम्बन्ध रखती है, धामोनी की नहीं बल्कि ओड़छा राज्य स्थित डबोरा ग्राम से सम्बन्धित है। शेष घटनाएँ—जैसे डरू का कर्नल हो जाना, पिण्डारों द्वारा सागर की लूट में भाग लेना आदि ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। जनरल मालकम के

अनुसार असली डरू जल्लादों के हाथों मारा गया था। उपन्यासकार ने डरू को दिलीपसिंह से क्षमा याचना दिलवा दी है। यह परिवर्तन सम्भवतः नायक के चरित्र की रक्षा के लिए किया गया है। महन्त अचलपुरी और उनका अखाड़ा उस युग की एक वास्तविकता है। उस में गोसाईं सैनिकों के समूह पराक्रम के विकास और धनोपार्जन की लालसा से देश के मध्य-भाग में घूमा करते थे। इतिहास के इन स्थूल तथ्यों के अतिरिक्त लेखक ने किंवदन्तियों का भी आश्रय लिया है। दिलीपसिंह का पूर्व-जीवन को विस्मृत कर देना और पुनः चोट लगने पर स्मृतियों का जाग्रत हो उठना—इस विलक्षणता को लेखक ने सम्भव माना है। इसकी पृष्ठभूमि में कलकत्ता हाईकोर्ट के किसी भवाल सन्यासी के मुकदमे की कहानी ने भी लेखक की कल्पना को एक आधार प्रदान किया है। कचनार, मानसिंह आदि पात्र ऐतिहासिक हैं पर उनके चरित्रों के विकास में रूप-रङ्ग भरने का कार्य लेखक की कल्पना ने किया है। कलावती, ललिता, मन्नू आदि पात्रों की सृष्टि सम्भवतः लेखक की अपनी कल्पना है। इस प्रकार एक सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार की कुशलता के साथ वर्माजी ने इतिहास के स्थूल और नीरस तथ्यों में अपनी कल्पना की कूँची से विविध रङ्ग भर इतिहास के कङ्काल में रक्त-माँस का सञ्चार किया है।

कचनार और दिलीपसिंह की कथा उपन्यास की मुख्य कथा कही जा सकती है। कचनार के धामोनी प्रवेश के साथ ही उपन्यास का आरम्भ होता है और दिलीपसिंह-कचनार के विवाह के साथ उपन्यास की समाप्ति। समस्त उपन्यास का मूल-केन्द्र कचनार है। मानसिंह की लालसा भी उसी के लिए है। वही दिलीपसिंह के जीवन की सिद्धि है। उसी के जीवन के उतार-चढ़ाव के चित्रण के लिए ही शेष घटनाओं एवं पात्रों की अवतारणा की गई प्रतीत होती है। उपन्यास का नामकरण भी उसी को मुख्य-केन्द्र स्वीकार करता है। अतः कचनार ही उपन्यास का मुख्य पात्र है और उसकी जीवन-धारा और उससे सम्बद्ध कथा ही उपन्यास की मुख्य कथा है। मानसिंह और कलावती, डरू-मन्नू, गोसाईं अचलपुरी और उसके अखाड़े की कथाएँ गौण अथवा सहायक कथाएँ कही जा सकती हैं। तीनों ही कथाएँ मूल-कथा को गति देती हुई घटनाओं की सृष्टि में सहायक होती हैं। सागर, भोंसले, होल्कर, पिंडारों आदि के चित्र तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि का चित्रण करते हैं। पुस्तक के आरम्भ में चित्रित काकाजू सोनेशाह और बैजनाथ का द्वन्द्व उपन्यास के सङ्घर्ष की पीठिका का काम करता है। यद्यपि इसका मुख्य कथा के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं पर कथा का यही भाग डरू को घर से भगा कर पिंडारों तक पहुँचाता है। इसी कथा के द्वारा सर्वप्रथम हम कचनार के प्रति राजा के हृदय की दुर्बलता का परिचय प्राप्त करते हैं और यहीं से मानसिंह और राजा के बीच की दूरी का आरम्भ होता है। कलावती और राजा के सम्बन्धों में भी यह घटना एक दरार डालने का काम करती है। इस प्रकार साधारण दृष्टि से अप्रासङ्गिक दिखाई देने वाली यह घटना ही समस्त उपन्यास की भित्ति बन जाती है। उपन्यास की कथा अपने आप में काफी रोचक और गतिपूर्ण है। घटनाओं की प्रधानता है और कौतूहल कथा के समस्त सूत्रों को आबद्ध किये हुए है। कहानी का अन्त भी काफी सरस, हृदय-ग्राह्य एवं प्रभावोत्पादक है।

वर्माजी के अन्य उपन्यासों की भाँति कचनार भी स्त्री-पात्र प्रधान उपन्यास है। 'कचनार' उपन्यास की नायिका अथवा प्रमुख पात्र है जिसके चरित्र-चित्रण में लेखक को अत्यन्त सफलता प्राप्त हुई है। कलावती और ललिता की तुलना में उसका चरित्र और भी निखर उठा है। उसमें गम्भीरता, संयम, आत्म-गौरव एवं हार्दिक-स्नेह का अपूर्व मिश्रण है। उसके वैराग्यमय गम्भीर जीवन में विनोद भी प्रवृत्ति की अन्तःसलिला की भाँति अनुकूल अवसरों पर प्रकट होकर उसके चरित्र के रङ्ग को और भी गहरा बना देती है। कञ्चनपुरी के रूप स्मृति-लाभ कर लेने के पश्चात् राजा को 'कचनार' से मिलने के लिए जिस प्रकार वह

भरमाती है, उसमें उसके विनोदशील स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है। कचनार, कलावती एवं ललिता तीनों की अपनी-अपनी चरित्रगत विशेषताएँ हैं। पुरुष-पात्रों में महंत, मानसिंह, डरू एवं दिलीपसिंह के चरित्रों की रेखाएँ सजीव हैं। गोसाईं के आश्रम में आने के पश्चात् पूर्व-स्मृति के लौटने तक दिलीपसिंह के बालोचित स्वभाव का अच्छा निर्वाह किया है। सभी पात्र प्रायः स्थिर कोटि के अन्तर्गत आते हैं जिनमें विकास का अधिक अवकाश नहीं। दिलीपसिंह के जीवन के अन्तिम चित्र में कुछ विकास का अधिक अवकाश नहीं। दिलीपसिंह के जीवन के अन्तिम चित्र में कुछ विकास दिखाई देता है। बैजनाथ की मृत्यु के बाद उसके चरित्र का परिवर्तित रूप अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है पर उसके बीज पहले से ही उसके चरित्र में विद्यमान थे, घटनाचक्र ने उनके विकास को अनुकूल अवसर प्रदान कर उसे विकसित कर दिया है। मानसिंह के चरित्र की दुर्बलताओं और उसकी कामुकता का भी लेखक ने कुशल खाका खींचा है। मलू की हँसी उसके चरित्र का प्रमुख उपादान है। फिर भी 'कचनार' के चरित्रों में वह विविध उदात्तता नहीं जो 'झाँसी की रानी' अथवा 'मृगनयनी' के पात्रों में मिलती है। 'कचनार' उपन्यास का सबसे प्रबल पात्र 'कचनार' है पर 'झाँसी की रानी' अथवा 'मृगनयनी' में ऐसे अनेक सबल पात्रों की अवतारणा हो चुकी है जो उपन्यास साहित्य की अमर-निधि कहे जा सकते हैं।

कथोपकथन की कुशल सृष्टि में लेखक को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। संवादों की कुशलता उपन्यास में नाटकीय वातावरण की सृष्टि करती हुई उपन्यास की रोचकता और प्रभाव-क्षमता की वृद्धि करती है? 'कचनार' में लेखक की इस कुशल-शक्ति को भली-भाँति देखा जा सकता है। कचनार की कथा का एक बहुत बड़ा भाग कथोपकथन अथवा वार्तालाप द्वारा ही गति प्राप्त करता है? वर्माजी के संवादों में सरलता, संक्षिप्तता और स्वाभाविकता-तीनों गुण मिलते अवसरानुकूल विनोद और व्यङ्ग की सृष्टि करने में भी वर्माजी चूकते नहीं हैं। दिलीपसिंह और कलावती की प्रथम मिलन-रात्रि का एक चित्र है—

दिलीपसिंह—"नीचे खण्ड में स्त्रियाँ गारही है—'कचनार की कली, बेला फूल की कली, दूल्हा सोवत अटरिया', तुम भी गाओ।"

कलावती—"परन्तु आप सो कहाँ रहे हैं?"

दिलीपसिंह—"मैं सो जाऊँ तो गाओगी?"

कलावती—"फिर सुनेगा कौन?"

कचनार में तत्कालीन देश-काल का भी अत्यन्त सजीव चित्रण मिलता है? धामौनी, सागर, सिंधिया, ग्वालियर आदि की राजनीतिक अवस्था और आवश्यकतानुसार उनके भौगोलिक सम्बन्धों का लेखक ने पूर्ण परिचय दिया है? स्थान स्थान पर यथावसर उस युग के रीति-रिवाजों, मान्यताओं, परम्पराओं आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वर्माजी की भाषा अत्यन्त सरल और परिमार्जित है। अत्यन्त सीधे ढङ्ग से वे कहानी कहना जानते हैं। उनकी भाषा में प्रेमचन्द की सी गत्यात्मकता नहीं पर विषय के प्रतिपादन में और भाव की अभिव्यक्ति में वह पूर्ण समर्थ हैं। व्यर्थ की साहित्यिक जटिलता या संस्कृत-गर्भित प्रयोग वर्माजी के उपन्यासों में नहीं मिलते। शब्द-चयन में वे पर्याप्त उदारता से काम लेते हैं। बुन्देलखण्ड के स्थानीय प्रयोग उनके उपन्यासों में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। उपन्यास वर्णन-प्रधान है और इसमें घटनाओं की प्रधानता है। चित्राङ्कन-क्षमता कचनार की शैली की विशिष्टता है।
मानवीय मनोभावों की बाह्य-चेष्टाओं के अत्यन्त
चित्र कचनार में मिलते हैं—"मैं
बिना मुस्कान के बोली औ
लिया। उसके कपोल
माथे पर बहुत
मानि

गुरु गोविन्दसिंहजी की कुछ हिन्दी रचनाएँ

प्रो० महीपसिंह एम० ए०

गुरु गोविन्दसिंह एक धार्मिक सन्त परम्परा के उत्तराधिकारी थे किन्तु परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने एक सांसारिक लोकनायक का स्वरूप भी ग्रहण किया था। उनके व्यक्तित्व में एक सन्त और योद्धा का, एक आध्यात्मिक और लौकिक पुरुष का ऐसा अद्भुत समन्वय हुआ है जो अन्यत्र ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ केवल आध्यात्मिक चिन्तन तक ही सीमित नहीं हैं वरन् वीररस का परिपाक भी उनमें अपनी तीव्रतम अवस्था में हुआ है।

गुरु गोविन्दसिंह की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—(१) मौलिक, (२) अनूदित। मौलिक रचनाओं में जाप, अकाल स्तुति, विचित्र नाटक, शस्त्रनाम माला, रामावतार, कृष्णावतार आदि अवतारों की कथा तथा अनूदित रचनाओं में चण्डी-चरित्र (प्रथम), चण्डी-चरित्र (द्वितीय), ज्ञान-प्रबोध, गोविन्द गीता, सर्व लोह प्रकाश और प्रेम सुमार्ग आदि हैं।

विषयों की दृष्टि से इनका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) विशुद्ध भक्तिपूर्ण—जाप, अकाल-स्तुति, स्फुट पद।

(२) वीररस पूर्ण—चण्डी-चरित्र (प्रथम), चण्डी-चरित्र (द्वितीय), विचित्र नाटक (आत्म-चरित्र), शस्त्रनाम माला, रामावतार, कृष्णावतार तथा अन्य अवतारों की कथा।

(३) ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथा अनुवाद—ज्ञान-प्रबोध, गोविन्द गीता, प्रेम सुमार्ग आदि।

(४) नीतिपूर्ण—त्रिया-चरित्र।

रचनाओं का संक्षिप्त परिचय—जाप, अकाल-स्तुति, चण्डी-चरित्र (प्रथम और द्वितीय), विचित्र नाटक, शस्त्रनाम माला, और स्फुट पदों को छोड़ कर उनकी कही जाने वाली शेष रचनायें प्रामाणित नहीं हो सकी हैं कि वे वस्तुतः उन्हीं की हैं अथवा उनमें से कुछ उनके दरबारी कवियों की भी हैं, जिनकी संख्या ५२ कही जाती है। इस विषय में अभी पर्याप्त खोज की आवश्यकता है।

जाप—निराकार, अजन्मा परब्रह्म की स्तुति में गाए हुए पदों का संग्रह 'जाप' नाम से प्रसिद्ध है। गुरु ग्रन्थ साहिब का प्रारम्भ जिस प्रकार गुरु नानकदेव की सुप्रसिद्ध वाणी 'जपुजी' से होता है उसी प्रकार दशम ग्रन्थ का आरम्भ इससे होता है। इस रचना के प्रथम पद में परमेश्वर के प्रति रचयिता की धारणा इस प्रकार व्यक्त की गई है—.

चक्र चिह्न अरु वरन जाति अरु पाति नहिन जिह।
रूप रङ्ग अरु रेख भेख कोऊ कहिन सकत किह॥
अचल मूरति अनुभउ प्रकाश अमितोज कहिज्जै।
कोटि इन्द्र इन्द्राणि साहि साहाणि गणिज्जै॥
त्रिभुवण महीप सुर नर असुर नेत नेत बन त्रिण कहत।
तब सरब नाम कथै कवन करम नाम बरनत सुमत ॥१॥

इस रचना में कुल १९९ पद हैं। परमेश्वर को विभिन्न नामों, विशेषणों, अनेक रूपों में सन्निहित एक रूप में बड़ी ही प्रवाहमयी और शक्ति-पूर्ण भाषा में स्मरण किया गया है। छन्दों का क्रम बन्दना की ओज के साथ-साथ परिवर्तित होता जाता है। छप्पै, भुजङ्ग प्रयात, चाचरी, चरपट, रुयाल, हरि बोल मना आदि विभिन्न छन्दों में तरुण और योद्धा भक्त ने परब्रह्म के चरणों में अपना आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया है।

अकाल-स्तुति—जाप के समान ही परमेश्वर की बन्दना में उच्चारित पदों का 'अकाल स्तुति' में संग्रह है। रचना के नाम से ही प्रकट है कि अकाल पुरुष परमेश्वर की उसमें सर्वत्र स्तुति है। इस रचना का विषय और वर्णन क्षेत्र जापु से अधिक विस्तृत है। अनेक दार्शनिक विचारों, सामाजिक कुरीतियों, ईश्वर

के नाम पर संसार में चलने वाले बाह्याचारों और पाखण्डों का वर्णन भी स्थान-स्थान पर मिलता है। इस रचना में कुल २७१ पद हैं और चौपाई, कवित्त, सवैया, तोमर, लघु निराज, भुजङ्गप्रयात, त्रिभङ्गी आदि अनेक छन्दों का सम्पूर्ण रचना में प्रयोग हुआ है।

अकाल स्तुति की भाषा बड़ी ही ओजपूर्ण, परिमार्जित और प्रवाहमयी है। ओ३म् अथवा प्रणव—जो सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में सृष्टि का उत्पादक और ब्रह्म का वाचक माना गया है—के सर्वप्रथम स्मरण से ही यह स्तुति आरम्भ होती है—

प्रणवो आदि एककारा।
जल थल महिअल कियो पसारा॥
आदि पुरख अविगत अविनासी।
लोक चतुर्दस जोति प्रकासी॥

वह ब्रह्म जिसकी ज्योति से चौदहों लोक प्रकाशित हो रहे हैं, कैसा है?

"हस्त कीट के बीच समाना।
राव रंक जिह इक सर जाना॥
अद्वै अलख पुरख अविगामी।
सब घट घट के अन्तरजामी॥
अलख रूप अछै अनभेखा।
राग रंग जिह रूप न रेखा॥
वरण चिह्न सबहूँ ते न्यारा।
आदि पुरख अद्वै अविकारा॥

इस प्रकार विविध रूपों में परमेश्वर के गुणों का वर्णन अकाल स्तुति में हुआ है। अनेक पदों में समाज में प्रचलित बाह्याचारों, पाखण्डों और कर्मकाण्डों की निन्दा कर विशुद्ध हृदय से भगवान् के प्रेम में निमग्न होने की प्रेरणा दी गई है—

"तीरथ नहान, दया तप दान सु,
संजम नेम अनेक बिसेखे।
बेद पुरान कतेब कुरान,
जमीन जमान सबान के पेखे॥
पउन अहार जती जत धार,
सबै सुबिचार हजारक देखे।
श्री भगवान भजे बिनै भूपति,
एक रती बिन एक न लेखे॥

विचित्र नाटक—विचित्र नाटक गुरु गोविन्दसिंह की सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त रचना है। इस रचना में चौदह अध्याय और लगभग ४५० पद हैं। इसे उनका आत्म-चरित भी कहा जा सकता है। अपने वंश का पूर्व इतिहास, अपने जन्म के पूर्व का वर्णन, अपने जन्म-धारण का उद्देश्य और पहाड़ी राजाओं तथा मुगल सेनाओं से लड़े गए कुछ एक युद्धों का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

प्रथम अध्याय के १०१ पदों में ब्रह्म के रौद्र रूप श्री कालजी की स्तुति है। प्रथम दोहे में ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए शक्ति के प्रतीक खड्ग को नमस्कार किया गया है।

"नमस्कार श्री खड्ग कउ, करी सु हितु चितु लाइ॥
पूरन करी ग्रन्थ इह तुम मुहि करहु सहाय॥

ब्रह्म के रौद्र रूप काल, दुर्गा, शक्ति या भगवती का प्रगट रूप गुरु गोविन्दसिंहजी तलवार को ही समझते थे। उस काल रूप खड्ग की स्तुति में विचित्र नाटक का यह दूसरा त्रिभङ्गी छन्द वीर रस साहित्य का अनुपम रत्न है—

"खग खण्ड बिहण्डं खल दल खण्डं,
अति रण मण्डं बरबण्डं॥
भुज दण्ड अखण्डं तेज प्रचण्डं,
जोति अमण्डं भानु प्रभं॥
सुख सन्ता करणं दुरमति दरणं,
किल बिख हरणं असि सरणं॥
जय जय जग कारण सृष्टि उबारण,
मम प्रति पारण जय तेगं॥

इसी अध्याय के अन्य अनेक छन्दों में स्वयं शस्त्रों या शस्त्रों से सुसज्जित महाकाल की वन्दना बड़ी ओजस्वी भाषा में की गई है—

यथा— "नमो देव देवं नमो खड्ग धारं॥
सदा एक रूपं सदा निर्विकारं॥

नमो राजसं सातकं ताम से अं ॥
नमो निरविकारं नमो निरजुरेअं ॥

और इस शस्त्र वन्दन का चरमोत्कर्ष इस प्रकार है—

जिते शस्त्र नामं । नमस्कार तामं ॥
जिते अस्त्र भेयं । नमस्कार तेयं ॥

महा काल का रौद्रमयी रूप देखिए—

करं बाम चापियं कृपाणं करालं ॥
महातेज़ तेजं विराजै बिसालं ॥
महा दाड़ दाड़ं सु सोहं अपारं ॥
जिनै चर्बीयं जीव जग्यं हजारं ॥

दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में अपने वंश का वर्णन है। किस प्रकार सूर्य वंश की उत्पत्ति हुई, उसमें कौन कौन से प्रतापी राजा हुए, किस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के पुत्रों 'लव' और 'कुश' ने पञ्जाब में लवपुर (लाहौर) और कुशपुर (कसूर) नगर बसाए उनकी सन्तानों में आपस में युद्ध हुआ, कुश की संतान काशी विद्याध्ययन करने चली गई और वह बेदी कहलाई, लव की सन्तान सोढ़ी कहलाई। उसी बेदी कुल में गुरु नानक देव और सोढी कुल में गुरु गोविन्दसिंह का जन्म हुआ।

पञ्चम अध्याय में अपनी परम्परा के नौ पूर्व गुरुओं का वर्णन है, अपने पिता गुरु तेगबहादुर के बलिदान का इतिहास है। षष्टम अध्याय में अपने जन्म के पूर्वावस्था का उल्लेख है, उस अकाल ध्वनि की ओर संकेत है जिसने इन्हें संसार में धर्म की रक्षा और अधर्म नाश करने के लिए भेजा। सप्तम अध्याय में अपने जन्म तथा नवम्, दसम्, एकादश, त्रियोदश अध्यायों में पहाड़ी राजाओं तथा मुगल सेनाओं से लड़े गए युद्धों का बड़ा ही वीर रसोत्पादक ओजस्वी भाषा में वर्णन है। अन्तिम अध्याय में उपसंहार और 'चण्डी चरित्र' ग्रन्थ के निर्माण की ओर संकेत है।

बिचित्र नाटक कवि की प्रखर कल्पना शक्ति, रसव्यञ्जना और अलङ्कार योजना का प्रतीक है और उसकी सर्वोत्तम रचनाओं में से एक है।

चण्डी-चरित्र—(प्रथम और द्वितीय) संस्कृत साहित्य में उपलब्ध दो चण्डी-चरित्रों के आधार पर गुरुगोविन्दसिंह ने अपने चण्डी-चरित्रों की रचना की। तत्कालीन परिस्थिति में चण्डी-चरित्र ऐसी वीरभावोत्पादक रचनाएँ ही समाज में वीरता, आत्मविश्वास और चैतन्य के भाव निर्माण कर सकती थीं गुरुगोबिन्दसिंह इन चरित्रों के माध्यम से अपनी परिस्थिति, जिसमें प्रतिरोधी शासक वर्ग पुराणकालीन दैत्यों की भाँति क्रियाशील था, हिन्दू जनता को उस युग का स्मरण कराना चाहते थे जब उनके पूर्वजों—देवों ने चण्डी के सफल नेतृत्व में दैत्यों को परिस्थिति में बड़ा साम्य था। जन-जन को स्वातन्त्र्य युद्ध के निमित्त खड़ा करने के लिए अपने पूर्व का, विजयों से भरा हुआ गौरवशाली इतिहास स्मरण करने की तीव्र आवश्यकता थी। कदाचित इसीलिए उन्होंने इन चरित्रों की रचना तत्कालीन राष्ट्र भाषा ब्रज में ही नहीं वरन् पञ्जाब की जन-भाषा पञ्जाबी में भी की। पञ्जाबी भाषा में रची गई उनकी 'चण्डी दीवार' पञ्जाबी वीर साहित्य की अनुपम रचना है।

प्रथम चण्डी चरित्र का कथाधार मार्कण्डेय पुराण में वर्णित दुर्गा की कथा है। इस रचना में कुल २३३ पद हैं और आठ अध्यायों में पूर्ण हुई है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ उस कवि की रचना है जो स्वयं अत्याचारियों और दुष्टों का संहार करने के लिए कृत सङ्कल्प है। जिसके समय की परिस्थिति पूर्णतः पौराणिक स्थिति के समान है जिसमें दैत्यातङ्क से सम्पूर्ण समाज पीड़ित था। समाज में वीर भावों का स्फुरण ही सम्पूर्ण रचना का उद्देश्य है। ग्रन्थ के अन्तिम पद में कवि की अभिलाषा इस रूप में व्यक्त हुई है—

देह शिवा वर मोहि इहै,
सुभ करमन ते कबहूँ न टरौं।
न डरौं जब अरि से जाइ लरौं,
निसचै करि अपनी जीत करौं॥
अरु सिख हौं आपने मन कौ इह,
लालच हउगुन तउ उचरौं।

जब आव की अउध निदान बनै,
अति ही रण में तब जूझ मरौं ॥

दूसरा चण्डी-चरित्र देवी भागवत में लिखी कथा पर आधारित है। इस रचना में कुल २६२ पद हैं। और यह भी आठ अध्यायों में समाप्त हुई है। प्रथम पद में उस परिस्थिति का वर्णन है जब महिषासुर दैत्य ने इन्द्र पर विजय पा ली थी, तीनों ही लोकों पर उसका अधिकार प्रस्थापित हो गया था, सभी देवगण भयत्रस्त और आतङ्कित हो कर कैलाश पर्वत पर जा बसे थे और अस्त्र-शस्त्र त्याग कर भगवे वस्त्र धारण कर चुके थे। कवि के शब्दों में—

महिखदैत सूरयं। बढ़ियो सु लोह पूरयं ॥
सु देवराज जीतयं। त्रिलोक राज कीतयं ॥१॥
भजे सु देवता तबै। इकत्र होइकै सभै ॥
महेसरांचल बसे। बिसंख चित मो त्रसे ॥२॥
जुगेस भेस धारिकै। भजे हथियार डारिकै ॥
पुकार आरतं चले। बिसर सूरमा-भले ॥३॥

सम्पूर्ण रचना में देवों और दानवों के युद्ध का बड़ा तेजस्वी वर्णन है। ग्रन्थ की ओजमयी भाषा सुषुप्त नाड़ियों में रक्त का तीव्र प्रभाव निर्माण करने वाली है। नवीन उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की योजना स्थान-स्थान पर बड़ी ही कलामय और मनोरम है। उदाहरणार्थ निम्न पद का रूपक दृष्टव्य है—

"कोप कै चण्ड प्रचण्ड चढ़ी इत,
क्रुद्ध कै धूम्र चढ़ी उत सैनी।
बान कृपानन मार मची तब,
देवी लयी बरछी करि पैनी ॥
दौर दयी अरि के मुख पै,
कटि ओठ दिए जिम लोहे की छैनी।
देत गंगा जमुना तन स्वाम सौं,
लोहू बह्यो जिहि भाँति त्रिवेनी ॥

ज्ञान-प्रबोध—इस ग्रन्थ में भक्ति, नीति, दर्शन और इतिहास का अद्भुत् समन्वय है। सम्पूर्ण रचना में ३३६ पद हैं और आधार महाभारत की उत्तर कथा है। प्रारम्भ के लगभग १२५ पदों में ब्रह्म का उसके अनन्त रूपों और विशेषणों में आराधना है। तत्पश्चात् युधिष्ठिर के राज्य, उनके धर्म-शासन, राजसूययज्ञ, परीक्षित, जनमेजय और दासी-पुत्र अजयसिंह के राज्य और कार्यों का वर्णन है। प्रारम्भ का एक आराधनापूर्ण छन्द दृष्टव्य है—

नमो नाथ पूरे सदा सिद्ध करमं।
अछेदी अभेदी सदा एक फरमं ॥
कलंक बिना निहकलंकी सरूपे।
अछेदं अभेदं अखेदं अनूपे ॥

चौवीस अवतार—विष्णु के २४ प्रमुखतः १० (मत्स्य, कच्छ, बराह, नरसिंह, बावन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि) अवतारों के सम्बन्ध में विस्तृत साहित्य दशम ग्रन्थ में संग्रहित हैं। अनेक विद्वान इसे गुरु गोविन्दसिंहजी की रचना मानते हैं और कुछ उसे उनके दरबारी कवियों की कृति बतलाते हैं। अभी तक इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण शोध कार्य नहीं हुआ है इसलिए पर्याप्त अध्ययन और अनुसन्धान के पश्चात् ही इस दिशा में कुछ निश्चित कहा जा सकता है।

चौवीस अवतारों में राम और कृष्ण के चरित्रों का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। रामावतार में ८६४ और कृष्णावतार में २४९१ पद हैं। रामावतार को 'गोविन्द रामायण' के नाम से पटियाला के श्री संत इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ने टीका सहित हिंदी में प्रकाशित करवाया है। रचना पर एक क्षण के लिए भी किया हुआ दृष्टिपात उसे हिंदी साहित्य के राम काव्य की शृङ्खला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। सम्पूर्ण रचना में राम-चरित्र के वीर पक्ष का निदर्शन बड़ी ही कुशलता और मार्मिकता से हुआ है। युद्ध-अवसरों पर कवि की बड़े ही मनोयोग से प्रदर्शित की हुई प्रतिभा विशेष दृष्टव्य है। ताड़का वध, परशुराम-संवाद, विराट राक्षस-वध, खरदूषण-वध और सम्पूर्ण लङ्का काण्ड में वीर रस का अनुपम परिपाक हुआ है। कवि ने राम को एक दैवी पुरुष मानकर जन साधारण से बहुत दूर नहीं किया है वरन्

उसने उनमें एक राष्ट्र-पुरुष का दर्शन किया है जो संतों के उद्धारक और दैत्यों के प्राणघातक हैं, यथा—

राम परम पवित्र हैं रघुवंश के अवतार।
दुष्ट दैत्यन के संहारक संत प्राण-अधार॥

अपनी वीर वृत्ति के कारण कवि को अधिकांश वीर उपमाएँ ही सूझती हैं। कैकेयी के मुख से राम को बनवास की बात सुन कर दशरथ की क्या दशा हुई—

"राम नाम श्रवणहिं सुन्यो, उठ थिरभयो सुचेत॥
जनु रण सुभट गिरयो उठै, गहि असि निडर सुचेत॥"

रामावतार के रचयिता के राम एक निश्चित कार्य-साधन हेतु उत्पन्न हुए हैं और इसलिए सम्पूर्ण कार्यों और घटनाओं की योजना उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही हो रही है। यथा—राम के वन गमन से देव और मानव आदि सभी प्रसन्न हो रहे हैं—

"राजिव लोचन राम कुमार चले
वन को सङ्ग भ्रात सुहायो॥
देव अदेव, नक्षत्र, शचीपति
चौंक चके मन मोद बढ़ायो॥"

भरत राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट में राम से मिले। किन्तु राम के वनगमन का कारण एकमात्र पिता की आज्ञा ही नहीं है वरन् वे किसी निश्चित उद्देश्य से भी प्रेरित हैं। राम की घर लौटने की अस्वीकृति से भरत दुःखातिरेक में अचेत हो रहे हैं तो राम उन्हें किस प्रकार सान्त्वना देते हैं—

"पान पियाय जगाय सुवीरहिं,
फेरि कह्यो हँसि श्री रघुवीरहिं।
त्र्योदश वर्ष गए फिर आवहिं,
जाहु हमें किछु काज किवैहँहिं॥

राम के ये वचन सुनकर सबको उनके उद्देश्य का आभास हो गया—

जान गए चतुरा चित यों सब,
श्री रघुवीर कही अस कै जब।
मात समोध सु पाँवर लीनहि,
और बसौं पुर औध न चीनहि॥

स्फुट सवैये और पद—गुरु गोविन्दसिंहजी के व्यक्तित्व, उद्देश्य और सिद्धांतों की यथोचित जानकारी उनकी स्फुट रचनाओं से ही मिलती है। वे कवि तो थे ही, उससे भी बढ़कर वे एक महान लोकनायक थे। लोक नायक पीड़ित, पददलित और उपेक्षित मानवता का उन्नायक होता है। सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को वह उन्नत बनाता है और इस कार्य में वह अपने सर्वस्व की बाजी लगा देता है। समाज और राजनीति के तत्कालीन ठेकेदारों का उसे विरोध सहन करना पड़ता है किन्तु बस उनका प्रतिरोध करता हुआ निरन्तर अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता जाता है। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने समय की पराधीन, पीड़ित और दलित जनता की समुन्नति के लिए व्यापक संगठन और जनान्दोलन किया था। उन्हें अपने समय के शासक और धर्म के ठेकेदार, दोनों का विरोध सहना पड़ा। गुरु गोविन्दसिंह ने अपने सङ्गठन में नीच कही जाने वाली जातियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और ऊँच-नीच के भेद भावों को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया। उच्च वर्णों के विरोध का उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—

युद्ध जिते इनही के प्रसाद,
इनही के प्रसाद सु दान करे।
अघ ओघ टरै इनही के प्रसाद,
इनही की कृपा द्रुति धाम भरे॥
इनही की प्रसाद सुविद्या लयी,
इनही की कृपा सब शत्रु मरे।
इनही की कृपा से सजे हम हैं,
नहिं मो सों गरीब करोर परे॥

गुरु गोविन्दसिंह की ऐसी ही स्फुट रचनाओं की संख्या लगभग एकसौ है।

गुरु गोविन्दसिंह की सम्पूर्ण रचनाएँ विशुद्ध ब्रजभाषा में होने के बाद भी अभी तक हिन्दी-साहित्य में प्रकाश में नहीं आई हैं। गुरु गोविन्दसिंह की इन रचनाओं के प्रकाश में आने से मध्य युग के हिन्दी-साहित्य में जातीय और वीररस की रचनाओं की न्यूनता खटकना कम हो जायगा।

साहित्य परिचय

कविता

प्रथम-प्रयास—लेखक—श्री वीरेन्द्र मृदु, प्रकाशक—अग्रवाल प्रेस, फर्रुखाबाद। पृष्ठ ४७, मूल्य १॥)

'प्रथम-प्रयास' काव्य संग्रह में मृदुल भावनाओं व एक किशोर कवि (मैं यह अनुमान से ही कह रहा हूँ) के किशोर हृदय की आशा, उल्लासों का वर्णन है। कुछ कविताएँ तो इतनी मृदुल हैं कि पन्तजी की 'वीणा' का स्मरण हो आता है—

मेरी उँगली पकड़ चलो माँ!
धरती में छिपकर परछाईं, मेरे पैर पकड़ लेती है।

परन्तु अधिकतर रचनाओं में किशोर-प्रेम के सपने हैं जो मीठे, सरल और कोमल हैं। वीणा का चातुर्य व छल अभी 'मृदु' से दूर है। कुछ रचनाओं में कवि को अच्छी सफलता मिली है—

अपनी हार मान ली मैंने।
मानस के मोती चुन-चुन नित,
अर्चन तुम्हें चढ़ाने आया।
नित्य समर्पण करते-करते,
थका मगर वरदान न पाया।
चढ़ा-चढ़ा करके मैंने हर,
पुष्प माल बेकार मान ली।

कवि का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि वह कहाँ तक इस सरलता की आगे रक्षा कर पाता है, साथ ही अभिव्यक्ति को कहाँ तक उसके अनुरूप बना पाता है।

प्रवाह—लेखक—खूबचन्द भाटी तरुण, प्रका०—कला निकेतन, चूरू (राजस्थान)। पृष्ठ ७२, मू० १।)

प्रवाह तथाकथित प्रगतिशील रचनाओं का संग्रह है। कवि की वर्ग-चेतना का क्रुद्ध रूप वर्गवादी समाज के विरुद्ध हृदय की पूरी घृणा के साथ व्यक्त हुआ है, यहाँ तक कि वह 'गाली गलौज' तक पर उतर आता है। ईश्वर के प्रति 'विद्रोह' शीर्षक कविता देखिए—

मुझको कागज पत्थर के,
इस ईश्वर पर विश्वास नहीं।
जगदम्बा सीता, लक्ष्मी का,
अपहरण किया जब मुगलों ने।
कर लिए हरम अपने रोशन,
तब पाजी ईश्वर उठा नहीं।

साथ ही "मदहोशी ले आ साकी" जैसी रचनाएँ भी हैं। कवि यदि आक्रोश को संयत कर सके तो 'नारेबाजी' के स्थान पर सच्ची प्रगतिशीलता अवश्य जाग्रत होगी क्योंकि कवि में भावना की ऊष्मा विद्यमान है।

समुद्र-मन्थन—लेखक—श्री विश्वनाथ 'शैदा', प्रकाशक—कृष्णमोहनलाल अस्थाना, आजमगढ़। पृष्ठ ११६, मूल्य १॥)

"समुद्र-मन्थन" की कथा को काव्य रूप देकर, तथा 'रत्नों' के प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत कर कवि ने इतिवृत्तात्मक द्विवेदी-युगीन शैली द्वारा पुनः पाठकों को पुराने ढङ्ग की कविता का स्मरण दिलाया

है। प्रवाह व तुकप्रियता भी अपूर्व है। यदि संस्कृत के अप्रचलित शब्द कम रहते तो कविता का सौन्दर्य घटता नहीं। शैदाजी इस काव्य के लिए बधाई के पात्र हैं।

—वि० ना० उपाध्याय,

उपन्यास

चिनगारी—लेखक—इरिक मेरिया रिमर्के, अनुवादक—पं० छविनाथ पाण्डेय, प्रकाशक—ग्रन्थ-माला कार्यालय, पटना ४। पृष्ठ २६५, मूल्य ३॥)

प्रस्तुत उपन्यास Spark of life का अनुवाद है। इस उपन्यास में जेलों से भी बदतर नाजियों द्वारा स्थापित कैदखानों में पड़े हुए मनुष्यों की जीवन-दशा बड़ी ही सहृदयता से चित्रित की गई है। हिटलरी शासन में कैदियों पर इतने अत्याचार होते थे, यह देखकर रोमांच हो उठता है और कैदियों के प्रति ममता उमड़ पड़ती है। हत्यारे नाजी कैदियों को कष्ट देने के लिए क्या-क्या उपाय सोचते थे, यह देखकर आश्चर्य होता है। मनुष्य साम्राज्य-लिप्सा में इतना पतित हो सकता है यह देखते ही बनता है, किन्तु इसके साथ ही बड़े से बड़े कष्ट सहकर भी मनुष्य जीवित रहने की आशा नहीं छोड़ता। जीने की तीव्र लालसा मनुष्य में क्रूर परिस्थितियों पर विजय पाने के दुर्दमनीय संकल्प को उत्पन्न कर देती है उपन्यासकार इस भावना के निर्वाह में पूर्ण सफल हुआ है।

वि० ना० उपाध्याय।

कहानी

हमारी लोक कथाएँ—सङ्कलन कर्ता—श्री शिवसहाय चतुर्वेदी, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ १२२, मूल्य १॥)

हिन्दी के विविध क्षेत्रों (जनपदों) में कही जाने वाली लोक कथाओं का वहीं की बोलियों में संग्रह कर उनका हिन्दी अनुवाद राष्ट्रभाषा में करके इस पुस्तक का सङ्कलन किया गया है। इस प्रकार राजस्थानी और भोजपुरी में तथा बुन्देलखण्डी और मराठी में क्या अन्तर है और इन बोलियों का राष्ट्रभाषा हिन्दी से कितना निकट सन्बन्ध है—यह इस पुस्तक से स्पष्ट प्रकट हो सकेगा। इस दृष्टि से यह पुस्तक बड़ा महत्त्व रखती है। ग्यारह बोलियों में ग्यारह कहानियाँ हैं। अन्त में इनके लेखकों का परिचय भी दे दिया गया है।

कहावतों की कहानियाँ—लेखक—श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ १५८, मूल्य ५)

हिन्दी की ११५ कहावतों पर लिखी गई कहानियों की यह पुस्तक अपने ढङ्ग की अनूठी है। पोद्दारजी हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध लेखक हैं। उनकी लेखनी में जोर है उनकी कलम से यह कहानियाँ अच्छी बन गई हैं। अनेक चित्रों ने पुस्तक की शोभा और भी बढ़ा दी है। बच्चों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

जीवनी और संस्मरण

मेरी जीवन-यात्रा—लेखिका—श्रीमती जानकीदेवी बजाज, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ २०४, मूल्य २)

राष्ट्र के पुराने सेवक स्व॰ सेठ जमनालाल बजाज की धर्म पत्नी श्रीमती जानकीदेवीजी के अपने जीवन निर्माण की यह रोचक कथा है। कितने ही राजनीतिक पुरुषों की भी चर्चा प्रसङ्ग वश पुस्तक में आ गई है। कई नेताओं का भी जिक्र है। इसमें श्रीमती बजाज की जेल-यात्रा का भी वर्णन है। पुस्तक भावपूर्ण और रोचक है।

मैं भूल नहीं सकता—लेखक—डा० कैलाशनाथ काटजू प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल—नई दिल्ली। पृष्ठ १८२, मूल्य २॥)

डॉ० काटजू के लिखे हुए इन संस्मरणों के निबंध उन्हीं के शब्दों में 'इनमें से कई-एक लेख अदालती मुकदमों के सम्बन्ध में हैं....कुछ लेखों में इस बात की मिसाल पेश की गई है कि बहस-मुबाहिसे में सही और संक्षेप में बोलने का कितना लाभ होता है।'' 'दैनिक समस्यायें और उनका समाधान' में

"मैंने पारिवारिक जीवन को सुखी और शांत करने का उपाय बताया है।" 'जवाहर लाल नेहरू वकील के रूप में' में "जवाहरलाल की अदालत के दिनों की दिल चस्प कहानी है।" इस संग्रह में आपके कुल बीस लेख हैं, सभी पठनीय और रोचक हैं।

गाँधी श्रद्धाञ्जलि ग्रन्थ—ले०—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल—नई दिल्ली। पृष्ठ २१६, मूल्य ३)

महात्मा गाँधी के निधन पर संसार के प्रायः सभी गण्यमान्य व्यक्तियों ने अपनी शोक-श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की थीं। ऐसे ही कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की लिखी हुई सम्मतियाँ इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। इन श्रद्धाञ्जलियों को पढ़ने से बापू के महान जीवन पर संसार के महापुरुषों और नेताओं के विचार ही नहीं मिलते, अनेक स्थानों पर राजनीति की गम्भीर बातें भी पढ़ने को मिल जाती हैं। राजनीति और दर्शन के उद्भट विद्वान राधाकृष्णन् के सम्पादन से निश्चय ही पुस्तक का मूल्य बढ़ गया है और उनकी भूमिका काफी महत्त्व रखती है।

गांधीजी की छत्र छाया में—लेखक—श्री घनश्यामदास विड़ला, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४१६, मूल्य १॥)

विड़लाजी का महात्मा गान्धी से बहुत सम्पर्क रहा और घनिष्ट सम्पर्क रहा। इस पुस्तक में विड़लाजी ने गान्धीजी के साथ हुए पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कर दिया है। इसके अतिरिक्त आपने अनेक अन्य संस्मरण भी इस पुस्तक में दिये हैं जो कितने ही मामलों में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। विड़लाजी की लेखनी में बड़ा आकर्षण और प्रभाव है। इस पुस्तक में भी उसके दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। जितना कम मूल्य इस पुस्तक का रक्खा गया है उतना ही कम मूल्य और भी सब पुस्तकों का रक्खा जाय तो निश्चय ही साहित्य का बड़ा उपकार हो पर शायद यह सम्भव नहीं है।

कहानी-साहित्य

अफ्रीका का आदमी—लेखक—श्री सत्यप्रकाश संगर, प्रकाशक—विजय प्रकाशन, भोपाल। पृ० ११८, मूल्य २॥)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की नौ कहानियाँ—अफ्रीका का आदमी, अपना पराया, डलहौजी, पश्चादाप, महेन्द्र के पत्र, पहल गाम से चन्दन वाड़ी, भीगी बिल्ली, याद, देवता—का संग्रह है। यह पुस्तक का द्वितीय संस्करण है। सभी कहानियों में कथानक वर्तमान जन-जीवन से लिया गया है और उसका प्रस्तुतीकरण अत्यन्त ही सजीव ढङ्ग से किया गया है जिससे मानव की चारित्रिक विशेषताएँ स्वतः ही उभर कर स्पष्ट हो जाती हैं।

केसर के फूल—लेखक—श्री मोहन कृष्ण दर; प्रका.—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली। पृ. ११४; मू० २)

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की नौ कहानियाँ लालारुख, काश्मीर विजय, चित्रलेखा, रोटी का सवाल, घास का माया जाल, जहाँगीर की अन्तिम घड़ी, आर्त, शंकरलाल की दीवाली, निशात बाग का नायक का संग्रह है। सभी कहानियों में काश्मीर के अतीत जीवन का, वहाँ के सुरम्य प्राकृतिक सौन्दर्य के कवित्त्व पूर्ण वर्णन के साथ ऐसा चित्रण प्रस्तुत किया गया है कि काश्मीर का जीवन बोल उठता है। प्रस्तावना प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखी है। पुस्तक पठनीय है।

धूल के बादल—लेखक—श्री कमल शुक्ल, प्रका.—ओरियन्टल बुक डिपो, दिल्ली। पृ० २५३, मूल्य ४)

यह पुस्तक श्री कमल शुक्ल का एक नवीन सामाजिक उपन्यास है। इसमें लेखक ने सामाजिक जीवन में प्रेम-विवाह की झकझोर, प्रेम-विवाह की समस्या में मनुष्य का ईर्ष्या-द्वेष, नैतिक-पतन, प्रेम की सात्विक भावना और शुद्ध सात्विक प्रेम की आँच में तप कर मानव-जीवन के कञ्चन बनने की बड़ी मार्मिक कहानी कही गई है। निर्धन पराग और कुसुम के सात्विक और पवित्र प्रेम की आँच में ईर्षालु, पतित,

ईर्षा से अभिभूति हो पशु बना हुआ और वासना को ही प्रेम समझ उसे पैसों की कालिख से मैला करने वाला, रम्भा के सात्विक प्रेम को अपनी वासना के जोश से ठुकराने वाले राजीव का चरित्र तप कर कञ्चन बन जाता है। यह यथार्थ सामाजिक समस्याओं पर आधारित एक आदर्शवादी उपन्यास है।

नाटक

गौतम नन्द—ले.–श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', प्रका०–साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर। पृ. १२५, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक इतिहास प्रसिद्ध गौतम बुद्ध के कनिष्ठ भ्राता गौतम नन्द के त्याग पूर्ण जीवन पर आधारित तीन अङ्कों का नाटक है। जैसे रामायण में राम-सीता के चरित्र के सम्मुख लक्ष्मण और उर्मिला का त्याग पूर्ण अनुपम चरित्र उपेक्षित हो गया था उसी प्रकार गौतम बुद्ध के सम्मुख गौतम नन्द का चरित्र भी; यद्यपि उनका त्याग किसी प्रकार कम नहीं था। उर्मिला के चरित्र की उपेक्षा का निराकरण गुप्तजी ने किया, तो गौतम नन्द के चरित्र की उपेक्षा का निराकरण मिलिन्दजी ने। इस नाटक में लेखक ने विवाह, नवगृह प्रवेश तथा राज्याभिषेक के अवसर पर गौतम नन्द के द्वारा वैभव और भोग को त्याग कर भिक्षु बन लोक कल्याण के मार्ग पर प्रस्थान की कथा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटक का तीसरा संस्करण ही इसकी उत्तमता का साक्षी है।

कला की दृष्टि से यह लेखक की एक प्रौढ़ रचना है। 'प्रताप प्रतिज्ञा' तथा समर्पण के बाद यह लेखक का तीसरा नाटक है और कला विकास में तीसरा चरण भी।

चार अभिनव एकांकी—ले०–डा० कृष्णदत्त भारद्वाज, प्रका०–साहित्य प्रकाशन मन्दिर ग्वालियर। पृ. सं. १२१, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तक डा. भारद्वाज के चार एकांकियें प्रह्लाद, वृन्दा, सोने की वर्षा तथा मिथिला का संग्रह है। 'प्रह्लाद' में पुराण प्रसिद्ध भक्त प्रह्लाद का चरित्र नाटक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'वृन्दा' में भारतीय गृहों में पूजनीय बिरवा तुलसी की महत्ता को नाटकीय रूप दिया गया है। 'सोने की वर्षा' में पुराण प्रसिद्ध रघु से सम्बन्धित कथानक है। और 'मिथिला' में रामायण के आंशिक कथानक को लेकर उसे नाटक रूप से प्रस्तुत किया गया है। कला की दृष्टि से सभी एकांकी सफल और सुन्दर हैं।—रामगोपालसिंह चौहान

इतिहास

चौलुक्य कुमारपाल—लेखक–श्री लक्ष्मीशङ्कर जी व्यास एम० ए०, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस। पृष्ठ २८७, मूल्य ४)

चौलुक्य वंशी सम्राट् कुमारपाल ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। बारहवीं शताब्दी में गुजरात प्रदेश में इस प्रतापी नरेश ने ३० वर्ष राज्य किया। सम्राट् अशोक और हर्षवर्द्धन के पश्चात् कुमारपाल का शासन बहुत ही प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रहा है। इसी नरेश का वृत्तान्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इस पुस्तक में किया गया है। इसके लेखक प्रसिद्ध पत्रकार और इतिहास के प्रेमी हैं। कुमारपाल के जीवन, उसकी शासकीय योग्यता, राज्य-विस्तार आदि पर पर्याप्त प्रकाश इस पुस्तक में डाला गया है। पुस्तक दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में ग्रन्थ के लिए प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री की चर्चा है। दूसरे तीसरे अध्याय में चौलुक्य-वंश की उत्पत्ति और विकास तथा कुमारपाल के प्रारम्भिक जीवन की चर्चा है। चौथे अध्याय से विदित होता है कि कुमारपाल का नरेश के रूप में निर्वाचन राज्याभिषेक के पूर्व हुआ जिसका अर्थ यह है कि उस समय बारहवीं शताब्दी में भी राजा का निर्वाचन योग्यता के आधार पर होता था और कुमारपाल को तीन व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ समझकर ही राज्याभिषेक किया गया था। इसके पश्चात् दो अध्यायों में साम्राज्य-विस्तार के लिए हुई लड़ाइयों और शासन-व्यवस्था की चर्चा है। आगे तीन अध्यायों में आर्थिक और सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथा धर्म और कला की तत्कालीन

अवस्था का वर्णन है। अन्तिम अध्याय में कुमारपाल की महानता बताई गई है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से सम्राट् कुमारपाल के राज्य और सम सामयिक अवस्था का सुन्दर वर्णन इस पुस्तक में है।

पुस्तक से यह भी विदित होता है कि कुमारपाल के जीवन पर उनके प्रसिद्ध जैन गुरु साहित्य-स्रष्टा आचार्य हेमचन्द्र का कितना भारी प्रभाव था और साहित्यिक व्यक्तियों को उस समय कितना आदर और सम्मान प्राप्त था।

आयुर्वेद का इतिहास—लेखक-श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। पृष्ठ २५४, मूल्य ३॥)

आयुर्वेद के इतिहास पर बड़े प्रामाणिक ढङ्ग से लिखी यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें आयुर्वेद के जन्म, विकास और उसके प्रमुख पृष्ठ पोषक आचार्यों का पूरा वर्णन दिया गया है। आयुर्वेद के मुख्य-मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थों की भी चर्चा इस पुस्तक में है। पुस्तक अपने ढङ्ग की अपूर्व और अत्यन्त खोज पूर्ण है। एसी सुन्दर पुस्तक निकालने और लिखने के लिए प्रकाशक और लेखक बधाई के पात्र हैं।

यात्रा

जय अमरनाथ—लेखक-श्री यशपाल जैन, प्रकाशक-सस्ता-साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ११०, मूल्य १॥)

श्री यशपाल जैन हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। इस यात्रा की पुस्तक में भी आपने अपनी उस कला का सुन्दर उपयोग किया है। अमरनाथ और कैलाश की यात्रा का वर्णन इसमें इतना रोचक, साथ ही जानकारी देने वाला है कि इसे पढ़ने से पाठक को मनोरञ्जन और ज्ञानार्जन दोनों का लाभ होगा। आर्ट पेपर पर छपे कितने ही सुन्दर चित्रों ने पुस्तक की उपयोगिता और उसका मूल्य बहुत बढ़ा दिया है। पुस्तक यात्रा-साहित्य में अच्छी वृद्धि करती है।

लद्दाख यात्रा की डायरी—लेखक-कर्नल सज्जनसिंह, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ १८०, मूल्य २॥)

मण्डल ने यात्रा सम्बन्धी यह दूसरी सुन्दर पुस्तक हाल ही में प्रकाशित की है। इसके लेखक जून १९३६ में हिमालय के दुर्गम प्रदेश लद्दाख की यात्रा पर गए थे। आपने इस यात्रा की दैनिकी (डायरी) रखी थी, जिसे अब प्रकाशित किया है। डायरी का वर्णन कहीं-कहीं तो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। इससे पहाड़ी जीवन की सुन्दर झलक मिलती है। चित्रों ने पुस्तक की शोभा और भी बढ़ा दी है। पुस्तक पठनीय है।

काश्मीर और उसके लोग—लेखक-ओमप्रकाश 'मन्त्री', प्रकाशक-लाला रुप प्रकाशन, श्रीनगर (काश्मीर)। पृष्ठ १६४, मूल्य २।)

प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से काश्मीर के समान, सुन्दर और दूसरा कोई स्थान नहीं, इसे कवियों ने पृथ्वी पर स्वर्ग तक कहा है। आज ही नहीं, शताब्दियों पहले से उसकी ऐसी ही ख्याति चली आ रही है। तभी तो मुगल बादशाहों ने भी इसे अपना रमण-स्थल बनाया था। उनके बनाए हुए बाग आज भी 'मुगल गार्डन्स' के नाम से हजारों दर्शकों को आकर्षित कर सब का मन मोहा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इसी काश्मीर का वर्णन है—प्राकृतिक, राजनैतिक, साहित्यिक, कला-कौशल सभी दृष्टियों से काश्मीर का भव्य और मनोमोहक स्वरूप इसमें मिलता है। यात्रियों की जानकारी के लिए अन्त में ऐसी बातें दे दी गई हैं जिनसे उन्हें बड़ा लाभ होगा। पुस्तक सचित्र है। चित्र सभी सुन्दर हैं—आर्ट पेपर पर छपे हैं।

विज्ञान

प्रकाश की बातें—लेखक-श्री ब्रह्मानन्द गुप्त, एवं नरेश वेदी, प्रकाशक-सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४४, मूल्य १॥)

मण्डल ने प्रसिद्ध विद्वान डा० सत्यप्रकाश के सम्पादकत्व में विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए एक माला निकालना प्रारम्भ किया है उसकी यह पहली पुस्तक है। इसमें प्रकाश सम्बन्धी

सभी प्रकार की जानकारी सरल भाषा में चित्रों के साथ दी गई है। चित्र भी बड़े सुन्दर बनाए गए हैं।

धरती और आकाश—लेखक–छोटभाई सुथार, अनु०–अशोक, प्रकाशक–सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ ४८, मूल्य १)

सुलभ विज्ञान माला में ही यह पुस्तक भी निकाली गई है। इसमें ज्योतिर्मंडल का वर्णन बहुत रोचक और सरल ढङ्ग से किया गया है और पृथ्वी से उनका सम्बन्ध बताया गया है। चित्रों द्वारा विषय को अच्छी तरह समझाया भी गया है। लेखक गुजराती के प्रसिद्ध शिक्षक हैं। उनकी यह पुस्तक सचमुच बहुत उपयोगी है।

प्राप्ति-स्वीकार

मन की बातें (कविता)—ले० एवं प्रका०–श्री तारिणीचरणदास चिदानन्द एम० ए०, प्रका०–उत्कल राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक १। पृष्ठ ३२, मू० ॥)

अधूरे गीत (कविता)—ले० एवं प्रका०–श्री कान्तप्रसादसिंह, नई सड़क, बड़हिया, जि० मुंगेर। पृष्ठ ४७, मू० ॥≡)

जैन धर्म सर्वोदय तीर्थ है (धर्म)—लेखक–जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रकाशक–अ० भा० दि० जैन परिषद, पब्लिशिङ्ग हाउस, दरीबा कलां, दिल्ली। पृष्ठ १३।

जैन धर्म और वर्ण व्यवस्था—ले०–पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक वही। पृष्ठ १६।

जैन मन्दिर और हरिजन—ले०–प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक वही। पृष्ठ १८।

वीर शासन की उदारता—ले०–जयभगवन जैन, एडवोकेट, प्रकाशक वही। पृष्ठ २०।

हरिजन मन्दिर और प्रवेश सम्बन्धी स्पष्टीकरण—लेखक–गणेशप्रशाद वर्णी, प्रकाशक वही। पृष्ठ १२।

नैतिक पुनरुत्थान एवं अणुव्रत क्रान्ति—प्रणेता–आचार्य श्री तुलसी एवं मुनि श्री नगराजजी, प्रकाशक–अणुव्रत समिति (बङ्गाल शाखा) ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता १। पृष्ठ १२, मू० =)

समझौता (सामाजिक नाटक)—लेखक एवं प्रकाशक-चावलि सूर्यनरायण मूर्ति, एम. ए., १०, मैलेय रंगनाथ मुदालियर स्ट्रीट, त्यागरायनगर, मद्रास १७। पृष्ठ ७६, मूल्य ॥।=)

दरिद्रनारायण (एकांकी नाटक)—लेखक–शिवलखण महतो, प्रकाशक–रामदेवसिंह, ग्राम झम्मन बिगहा, पो. भैरव, गया। पृष्ठ २०, मूल्य ।)

साहित्य सार—लेखक–श्री श्यामबिहारी शर्मा, प्रका.-श्री श्यामसुन्दर त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य शिक्षालय, नयागञ्ज, कानपुर। पृष्ठ ५८, मूल्य ।॥)

इसमें हिन्दी साहित्य के विभिन्न अङ्गों का मौलिक विवेचन है।

जीवन के पथ पर (कहानी संग्रह)—ले०–श्री चिरञ्जीलाल माथुर, प्रका.–राधाकृष्ण कावरा, केन्द्रीय कुमार साहित्य परिषद, जोधपुर। पृ. ६३, मूल्य १)

डगमगाते कदम (कहानी संग्रह)—लेखक–अनुज शास्त्री, प्रकाशक–भारती प्रकाशन भागलपुर २। पृष्ठ ६३, मू० १।)

पुस्तकालय-आन्दोलन—ले.–अनुज शास्त्री, प्रकाशक–भारती प्रकाशन, भागलपुर २। पृष्ठ २७, मूल्य ।।)

वर्गीकरण सूचीकरण—ले.–अनुज शास्त्री, वही। पृष्ठ ९७, मूल्य ।।)

गाँव का पुस्तकालय—लेखक–अनुज शास्त्री, प्रकाशक वही। पृष्ठ ५६, मूल्य १)

बापू के बताये राह—लेखक एवं प्रकाशक–शिवलखण महतो, चन्दई, मखदुमपुर (गया)। पृष्ठ २०, मूल्य १)

राष्ट्रीय आल्हा—लेखक–रुद्रदत्त मिश्र, प्रका०–ओमप्रकाश मिश्र, नवयुग प्रेस, नया बाजार, लश्कर। पृष्ठ १७, मूल्य ।)

प्रस्थान—लेखक–यदुनाथ पाण्डेय, प्रकाशक–शान्ति निकेतन, ४८ पौनप्पा चेट्टी स्ट्रीट, पार्क टाउन, मद्रास ३। पृष्ठ ५५, मूल्य १)

हमारे कुछ उपयोगी प्रकाशन

१. नाटक की रूपरेखा (प्रो० दशरथ झा)

इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य में नाटक के इतिहास का विस्तृत विवेचन है। नाटक का क्रमिक विकास चार्टों से भी बड़े सरल और सुबोध ढङ्ग से समझाया है। मू० ३)

२. प्राचीन कवि और काव्य

(प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०)

इसमें भूषण, बिहारी, देव, मतिराम आदि प्राचीन कवियों एवं इनकी रचनाओं पर आलोचना और प्रत्यालोचना है। प्राचीन डिंगल साहित्य, पृथ्वीराजरासो और वीसलदेव रासो पर भी प्रश्न उत्तर हैं। एक प्रकरण अलंकारों और रसों पर परस्पर तुलना का भी दिया गया है जिसमें इन्हीं कवियों की रचनाओं को जांचा गया है। मूल्य ३)

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में) (द्वितीय संस्करण)

(प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०)

यह पुस्तक कोई मौलिक रचना नहीं है, केवल उच्च कक्षा के परीक्षार्थियों के लिये तैयार की गई है। उनके अध्ययन को सरल बनाने के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रश्नों और उत्तरों में प्रस्तुत किया गया है। परीक्षोपयोगी पूरी सामग्री देने के लिए लेखक ने प्रभाकर और साहित्यरत्न के ही नहीं वरन् इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा, दिल्ली और पंजाब विश्वविद्यालयों के गत कई वर्षों के एम. ए. के प्रश्न पत्र लिए हैं और प्रश्नों को इतिहास के काल के अनुसार विभाजन कर फिर उनके उत्तर लिखे हैं। सभी प्रश्नों के उत्तर आलोचनात्मक हैं। आधुनिक काल पर विशेष ध्यान रखा है। जहाँ तक हो सका है सभी प्रकार के प्रश्नों का संकलन इसमें किया गया है जिससे इतिहास सम्बन्धी सारी सामग्री एक ही स्थान पर परीक्षार्थी को मिल जावे।

प्रत्येक प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मिलने का स्थान—

हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क दिल्ली।

सूचीपत्र मुफ्त मँगाएँ। हमारी पुस्तकें निम्न पते पर भी मिलती हैं :—

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

हमारी आलोचनात्मक पुस्तकों
के
संशोधित संस्करण
तथा
नई प्रकाशित पुस्तकें

१—हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—
श्री विश्वम्भरनाथ उपा० एम० ए० ६॥)

२—हिन्दी गद्यकार और उनकी शैलियाँ—
श्री रामगोपालसिंह चौहान एम.ए. ४)

३—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—
श्री गुलाबराय एम० ए० ३॥)

४—प्रसादजी की कला—
श्री गुलाबराय एम० ए० ४)

५—साकेत एक अध्ययन—
डा० नगेन्द्र ३॥)

६—सुमित्रानन्दन पन्त— ,, ३)

७—आधुनिक हिन्दी नाटक— ,, २)

८—शकुन्तला नाटक—
राजा लक्ष्मणसिंह १॥)

९—सप्त एकांकी—कृष्णमूर्ति मेहरोत्रा ।॥)

१०—मधुशाला—रावत हिम्मतसिंह ।॥)

प्रकाशक—

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

REGD. No. A. 263. MAY 1956. LICENSE No. 16
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment

साहित्य सन्देश के पाठकों से आवश्यक

निवेदन

प्रिय महोदय,

आप साहित्य-सन्देश के प्रेमी पाठक हैं। आगामी एक माह पश्चात् आपका साहित्य-सन्देश जुलाई ५६ से १८ वें वर्ष में प्रवेश करेगा, विगत १७ वर्षों में साहित्य-सन्देश ने जो हिन्दी की सेवा की है वह सर्व विदित है। इतने कम मूल्य में अन्य पत्रिका आपको इतनी ठोस और उपादेय सामिग्री नहीं दे सकती।

अब तक हम साहित्य-सन्देश को ४) लेकर न्यूजप्रिन्ट पर छापते थे जिसमें हमारे बहुत से ग्राहकों का यह आग्रह था कि साहित्य-सन्देश का मूल्य बढ़ाकर उसमें अच्छे कागज का प्रयोग किया जाये परन्तु हमने विद्यार्थियों की दृष्टि से यह उचित न समझकर पृथक से ५) वाला एक विशेष संस्करण छापना प्रारम्भ कर दिया है जिसमें साहित्य-सन्देश की छपाई और कागज पर विशेष ध्यान रक्खा गया है। इसमें आपको अङ्क सफेद और बढ़िया कागज पर छपा हुआ मिलेगा। इधर १ अप्रैल से कागज पर टैक्स और रजिस्ट्री के चार्ज बढ़ जाने से साहित्य-सन्देश को ४) में छापकर देना हमारे लिये बड़ा कठिन है। फिर भी हम शुल्क बढ़ाने के पक्ष में न जाकर अपने ग्राहकों से यह निवेदन करेंगे कि वह विशेष संस्करण के लिये ही अपना वार्षिक शुल्क ५) भेजें वी० पी० मँगाने में आपको ॥-) रजिस्ट्री आदि के और देने होंगे। अतः आपको मनी आर्डर भेजने में ही लाभ रहेगा आपके इस सहयोग से हम साहित्य-सन्देश को उन्नत कर सकेंगे।

आशा है कि आप ४) के स्थान पर ५) का ही मनी आर्डर भेजने की कृपा करेंगे।

निवेदक—सञ्चालक
साहित्य-सन्देश

रामचरनलाल ने साहित्य[illegible] आगरा से प्रकाशित किया।

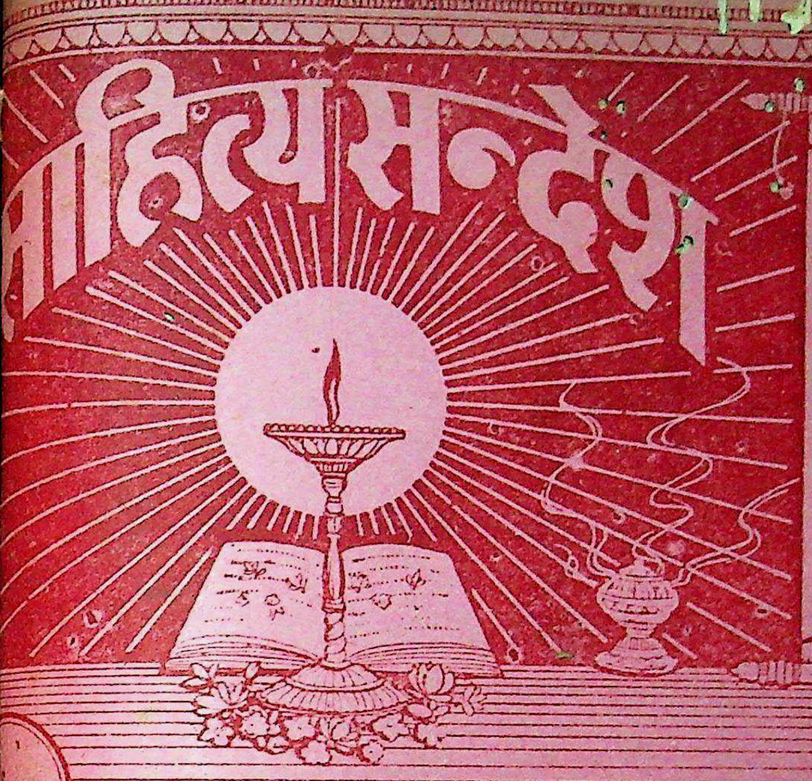

साहित्य सन्देश

सम्पादक
गुलाबराय एम० ए०
सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
महेन्द्र

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

मुद्रक
साहित्य-प्रेस, आगरा।

१७

अङ्क १

क मूल्य ५)] आगरा—जून १९५६ [साधारण संस्करण

इस अङ्क के लेख

मारी विचार-धारा	सम्पादक
कसाहित्य : परिभाषा	डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०
ाचार्य भिखारीदास—रीतिकालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्य	श्री राधाकृष्णदास एम० ए०
कार दौलतराम	श्री रवीन्द्रकुमार जैन एम० ए०, सा० रत्न
रिभाषिक शब्द-कोष	डॉ० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, पी-एच०
दी के सामाजिक नाटक	प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री, एम० ए०
हिन्दी का प्रगतिवाद मार्क्स-दर्शन की देन है ?	श्री कृष्णाकान्त चौधरी, एम० ए०
कविता पर लोक गीतों का प्रभाव	श्री मुरलीमनोहरप्रसादसिंह
नाटक का दास वांग्मय	श्री टी० श्रीनिवास
विशाल दोहा संग्रह—'दूहा-सार'	श्री अगरचन्द नाहटा
ावत : एक परिशीलन	डॉ० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्०
ाहित्य-परिचय	

साहित्य-सन्देश के नियम

१. साहित्य-सन्देश प्रत्येक माह की १ तारीख को निकलता है।

२. साहित्य-सन्देश के ग्राहक किसी भी महीने से बन सकते हैं, पर जुलाई और जनवरी से ग्राहक बनना सुविधाजनक है। नया वर्ष जुलाई से प्रारम्भ होता है। किसी भी महीने से ग्राहक बनने पर पूरे १२ अङ्क मिलेंगे।

३. महीने की १० तारीख तक साहित्य-सन्देश न मिलने पर १५ दिन के अन्दर इसकी सूचना पोस्टआफिस के उत्तर सहित भेजनी चाहिये, अन्यथा दुबारा प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

किसी तरह का पत्र-व्यवहार जवाबी कार्ड पर मय अपने पूरे पते तथा ग्राहक संख्या के होना चाहिये। बिना ग्राहक संख्या के सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।

५. फुटकर अङ्क मँगाने पर चालू वर्ष की प्रति का मूल्य छः आना और इससे पहले का ॥) होगा।

६. साहित्य-सन्देश में कविता, कहानी आदि नहीं छपते। केवल आलोचना विषयक लेख ही छापे जाते हैं। अस्वीकृत लेख वापिस कर दिये जाते हैं।

७. साहित्य-सन्देश में प्रकाशित लेखों पर प्रकाशक का पूर्ण अधिकार रहता है।

हिन्दी का नया प्रकाशन मई १९५६

आलोचना

साहित्य वार्ता—गिरजादत्त शुक्ल गिरीश ५॥)
हिन्दी अलङ्कार साहित्य—डा. ओम्प्रकाश ६)
विचार और निष्कर्ष—वासुदेव एम० ए० ७॥)
काव्य समीक्षा—सुरेशचन्द्र गुप्त ४)
डिंगल साहित्य में नारी—हनुवन्तसिंह देवड़ा २)

खण्डकाव्य

मेघदूत—सत्यकाम विद्यालङ्कार २)

कहानी

केसर के फूल—मोहन कृष्ण दर २)

उपन्यास

महामूर्ख (अनु.)—शिवदानसिंह चौहान ८)
सुनन्दा—जगदीश दीक्षित ३॥।)
साथी—महावीरशरण २।)
नींव की मिट्टी—शिवसागर मिश्र ३)
सङ्घर्ष—के० एम० पणिक्कर ३)

नाटक

अपूर्व बङ्गाल—बी० बी० बरेरकर ३।)
समाज के स्तम्भ—सीताचरण दीक्षित २)
आदिम युग—उदयशङ्कर भट्ट ४)

राजनीति

मैकयावली नरेश—राधानन्द चतुर्वेदी ३)

बाल साहित्य

काश्मीर की लोक कथाएँ—नन्दलाल चण १।)
प्रसन्न राघव—ठाकुरदत्त मिश्र १)
सुभद्रा और धनञ्जय— ,, १)

मनोविज्ञान

शिक्षालय सङ्गठन—रायबर्न ४।)
अध्यापन के सिद्धान्त—,, ५)
मनोविज्ञान और शिक्षा—जीवनायकम ५)
शिक्षा-शास्त्र— ,, ६)
सामाजिक मनोविज्ञान—गिन्सबर्ग ५)

स्फुट

गप्पों का खजाना—अरुण २)

सभी प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा

भाग १७] आगरा—जून १९५६ [अङ्क १२

हमारी विचार-धारा

प्रो० बरान्निकोव का एक पत्र—

प्रो० बरान्निकोव हिन्दी-उर्दू के लेनिनग्रेड में प्राध्यापक हैं। ये उन प्रोफेसर बरान्निकोव के सुपुत्र हैं जिन्होंने कि रूसी भाषा में प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' का रूसी अनुवाद किया था। उस अनुवाद की भूमिका की श्री केशरीनारायण द्वारा किये गये अनुवाद की आलोचना हमारे 'साहित्य-सन्देश' के जून १९५५ के अङ्क में निकली थी। वह आलोचना प्रो० बरान्निकोव के पास भेजी गई थी। उसके उत्तर में आये हुये पत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। इन अंशों में रूसी जनता की भारतीय संस्कृति की ओर रुचि तथा उनकी भारतीय भाषाओं के पठन की प्रवृत्ति और पुस्तकों की खपत का पता चल सकता है :—

"आपकी भेजी हुई पत्रिकाएँ मुझे मिलीं। इनके लिये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए। इससे पहले मुझे आपकी एक पुस्तक भी मिली। इस पुस्तक का नाम "हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास" है। आपकी पुस्तक पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इस पुस्तक को मुझे एक मेरे भारतीय मित्र ने भेजा था। इनका नाम श्री रामनरेश त्रिपाठी है। वे कानपुर के रहने वाले हैं। इनसे हमारी मुलाकात लेनिनग्राड में हुई। वे एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के मेम्बर थे।

हम रूसी लोगों को भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य बहुत-बहुत पसन्द हैं। हम लोग प्राचीन वैदिक साहित्य से आधुनिक साहित्य तक सभी से बहुत प्रेम करते हैं। इसी से हमारे देश में बहुत से भारतीय साहित्य की कृतियों के रूसी अनुवाद प्रकाशित होते जाते हैं। परन्तु महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के पहले हमारे यहाँ केवल प्राचीन भारतीय भाषाओं का अध्ययन होता था, और नये भारतीय भाषाओं को कोई भी नहीं जानता था। मगर इंकलाब के बाद मेरे पिताजी (जिनका १९५२ में स्वर्गवास हो गया) अलेक्सेय प्रेत्रोविच बरान्निकोव ने आधुनिक भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ किया। तबसे हमारे कई विश्वविद्यालयों और इंस्टिट्यूटों में भारतीय भाषाओं की पढ़ाई होती जाती है। मैं और मेरी पत्नी रीम्मा लेनिनग्राड के विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं, साहित्य तथा इतिहास का अध्यापन करते हैं। हमारे यहाँ हर

एक विद्यार्थी हिन्दी और उर्दू जानता है। हमें अच्छी तरह मालूम है कि हिन्दी और उर्दू मूल में एक ही जबान है। इसलिये दोनों लिपियाँ सीखकर वे आसानी से हिन्दी और उर्दू पढ़ और लिख सकते हैं। अब मैं लेनिनग्राड के विश्वविद्यालय में हिन्दी और उर्दू पढ़ाता हूँ। इसके अलावा कई कोर्स भी पढ़ाता हूँ, जैसे भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण, हिन्दी-उर्दू लेक्सीकोलाजी (Lexicology) आदि। मेरे पिताजी ने भारतीय साहित्य के कई रूसी अनुवाद किये थे। इनमें से सबसे प्रधान है—'रामायण' तुलसीदास कृत और लल्लूजीलाल का 'प्रेम सागर'। इसके सिवा इन्होंने एक दो सौ (दो सौ से ज्यादा) वैज्ञानिक निबन्ध और पुस्तकें लिखीं। वे सब भारतीय साहित्य, भाषाओं और संस्कृति के विषय पर हैं। आजकल मेरे पिताजी के अनेक शिष्य इनके काम को आगे चलाते हैं। मैं अपनी पत्नी के साथ भी इस काम में हिस्सा लेता हूँ। उदाहरणार्थ हम श्री कामताप्रसाद के 'हिन्दी व्याकरण' का रूसी अनुवाद तैयार करते हैं। मेरी पत्नी कई हमारे मित्रों के साथ श्री यशपाल की 'दिव्या' का रूसी अनुवाद तैयार कर रही हैं। मेरे पिताजी हिन्दी-उर्दू कोर्स की पुस्तक तैयार कर रहे थे, मगर इनके देहान्त से सब काम रुक गया। अब हम इस काम को आगे चलाते हैं। हमें पूरा विश्वास है कि कुछ महीनों में यह पुस्तक प्रकाशित हो जायगी।

आजकल भारतीय साहित्य के अनुवाद का काम जल्दी से आगे चलता जाता है। प्राचीन या आधुनिक भारतीय लेखकों की कृतियाँ प्रकाशित होती जाती हैं। जैसे प्रेमचन्द, यशपाल, कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास की पुस्तकों के अनुवाद निकले हैं या शीघ्र ही निकलेंगे। कालिदास, रवि ठाकुर की कृतियाँ भी प्रकाशित हैं। आदरणीय पंडित श्री जवाहरलाल नेहरू की दो पुस्तकें भी (An Autobiography) और (The Discovery of India) रूसी में प्रकाशित हुई हैं। सभी भारतीय लेखकों की किताबें हमारे यहाँ बहुत-बहुत लोकप्रिय हैं। इसलिये लाखों प्रतियों में प्रकाशित होने पर भी भारतीय किताबों के रूसी अनुवाद सिर्फ कई घण्टे दूकानों में रहती हैं और फिर अप्राप्य हो जाती हैं! मेरे ख्याल में यह बात सबसे ज्वलन्त प्रमाण है हमारे दोनों देशों की जनता के मित्रता का और भारतीय साहित्य और संस्कृति से रूसी जनता के अटल प्रेम का!

अनावश्यक कोप—

श्री यज्ञदत्त शर्मा लिखित 'परिवार' उपन्यास की एक आलोचना जिसे श्री कमलेशजी ने लिखा है अप्रेल के साहित्य सन्देश में प्रकाशित हुई है। इसी अङ्क के सम्पादकीय में एक टिप्पणी छपी है जिसमें आधुनिक उपन्यासों की चर्चा करते हुए 'परिवार' की भूमिका के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि परिवार एक असामान्य रचना नहीं है जैसा कि भूमिका में बताया गया है। इन दोनों बातों को पढ़कर श्री यज्ञदत्तजी ने चार पृष्ठ का एक पत्र साहित्य सन्देश के सम्पादकों के नाम प्रकाशित करके बाँटा है जिसमें इस बात पर बड़ी नाराजी प्रकट की है कि साहित्य सन्देश एक स्थान पर आलोचक द्वारा उसकी प्रशंसा करता है, दूसरे स्थान पर सम्पादकीय कलम से उसकी बुराई करता है। इसी सिलसिले में आपने ट्रिब्यून आदि की प्रशंसात्मक आलोचनाएँ भी 'परिवार' के सम्बन्ध में छापी हैं।

हमें खेद है कि श्री यज्ञदत्तजी के इस कार्य को हम ठीक नहीं समझते। आलोचना करने वाले की सम्मति से पूर्णरूपेण सम्पादक सहमत हो ऐसी बात नहीं है। उसमें मतभेद की गुञ्जायश रह ही सकती है। ऐसी दशा में आलोचक पुस्तक की प्रशंसा करे और सम्पादक उससे सहमत न हो, यह सर्वथा सम्भव है। फिर यहाँ तो ऐसी बात भी नहीं कि आलोचक के विरुद्ध कोई मत प्रकट किया गया हो। टिप्पणी में तो 'परिवार' की भूमिका-लेखक से असहमति प्रकट करते हुए केवल यह लिखा गया है कि 'परिवार'

असामान्य उपन्यास नहीं है। उसे 'जहाज के पन्छी', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'मैला आँचल', 'निशिकान्त' के साथ नहीं रक्खा गया है। इतनी सी बात पर नाराज होना कहाँ तक उचित है, यह श्री यज्ञदत्तजी स्वयं विचारें।

उनसे एक निवेदन और है। सनसनीवाद Sensationalism का अनुवाद है और उसकी परिभाषा सम्पादकीय में दी हुई है। हिन्दी में कुत्सित समाज शास्त्रीय आलोचना (Vulger Socialistic Criticisn के लिए सनसनीवाद काफी सीमा तक उत्तर दायी है जिसका एक रूप आपके उपन्यास की भूमिका में देखने को मिलता है। इस सनसनीवाद का ही विरोध सम्पादकीय में किया गया है, उपन्यास की बुराई नहीं की गई है। और यदि बुराई भी की जाय तो लेखक को उसपर अपना सन्तुलन तो नहीं खो देना चाहिए। क्योंकि विभिन्न लेखकों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ऐसी दशा में पुस्तक की प्रशंसा होने पर प्रसन्न होना और जरासी खरी आलोचना होने पर सम्पादकों को कोसना उचित नहीं। "साहित्य सन्देश" प्रारम्भ ही से अपनी नीति निष्पक्ष रखता रहा है। पार्टीवन्दी के दल-दल से वह सदा दूर रहा है और आगे भी वह अपनी इस नीति में परिवर्तन नहीं करेगा। श्री यज्ञदत्तजी के सन्तोष के लिए इतना ही लिखना यथेष्ट है।

मद्रास सरकार की हिन्दी नीति—

वित्त-आयोग के अध्यक्ष श्री के० सन्तानम् ने मद्रास के एक हिन्दी विद्यालय में भाषण देते हुए कहा—कि हिन्दी के अध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए। हिन्दी बड़ी तीव्र गति से भारत की राष्ट्र-भाषा का पद ले रही है। जो लोग इन नर्म और स्वाभाविक तरीकों से हिन्दी को अखिल भारतीय भाषा के रूपमें स्थापित होने से रोकते हैं वे भूल करते हैं। यह प्रस्ताव बड़ा कमजोर है कि हिन्दी का शिक्षण माध्यमिक अवस्था तक ही सीमित रखा जाय और उसमें भी उसे 'ऐच्छिक विषय' बना दिया जाय। इससे हरिजनों और अवनत वर्गों को मुख्यतः बड़ा आघात पहुँचेगा। अंग्रेजी को ५वें स्टेण्डर्ड से अनिवार्य कर दें और उसके साथ हिन्दी अध्ययन की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि यह योजना जिन तर्कों के आधार पर बनाई गई है वे तर्क भ्रमपूर्ण हैं। यह आशा की जाती है कि अधिकांश लोग अपनी शिक्षा प्रारम्भिक अवस्था में ही खत्म कर देंगे और उच्च प्रारम्भिक शिक्षा का प्रमाणपत्र लेकर रह जायँगे। इनको थोड़ा-सा अंग्रेजी ज्ञान जहाँ बेकार होगा, वहाँ थोड़ा-सा हिन्दी का ज्ञान बहुत ही उपयोगी होगा, क्योंकि हिन्दी इस समय देश भर की लोकभाषा बनी हुई है। केवल दक्षिण के थोड़े-से लोग उसे नहीं जानते; किन्तु जल्दी ही वह सारे देश में फैल जायेगी। जो लड़के और लड़कियाँ आरम्भिक अवस्था में ही अपनी शिक्षा खत्म कर देंगे क्या उनको अंग्रेजी सिखाना समय और शक्ति का अपव्यय नहीं है? और यदि वे स्कूलों में हिन्दी न सीख सकेंगे तो बाहर उसका कोई अवसर नहीं। इससे वे केन्द्रीय सरकार की नौकरी में कभी प्रवेश न पा सकेंगे, मुख्यतः गजटेड नौकरियों में। इस प्रकार नौकरियों में उन्हें जो प्रतिनिधित्व मिला हुआ है उसका लाभ वे न उठा सकेंगे।

आगामी विशेषाङ्क—

साहित्य सन्देश का आगामी अङ्क उसका विशेषाङ्क होगा। जैसा विगत अङ्क में प्रकट किया जा चुका है—यह अङ्क आधुनिक उपन्यास अङ्क होगा और इसमें प्रेमचन्द-उत्तर-कालीन उपन्यासों की विशेष रूप से चर्चा होगी। इस अङ्क में प्रकाशित होने वाले लेखों की एक सूची गत अङ्क में हमने प्रकाशित की थी। यह सूची तो केवल इस सम्बन्ध में निर्देश मात्र है, लेखक अपनी इच्छा से आधुनिक उपन्यासों से सम्बन्धित किसी भी विषय पर अपना लेख भेज सकते हैं। हम चाहते यह हैं कि नए उपन्यासों, नए लेखकों और उपन्यास के नए विषयों पर स्वतन्त्र लेख

विशेषरूप से इसी अङ्क के लिए लिख कर भेजे जायँ। तुलनात्मक लेखों को हम प्राथमिकता देंगे। हिन्दी के लेखकों के साथ दूसरी भाषा के लेखकों से तुलना करने वाले लेख भेजे जायँगे तो हम उनका भी स्वागत करेंगे।

हम इस अङ्क को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि हमारा यह अङ्क विगत सभी विशेषाङ्कों से श्रेष्ठतर होगा। इसके लिए अपने सभी लेखकों से सहयोग की हमें पूरी आशा है। हमारा निवेदन है कि वे अपने लेख हमें जल्दी से जल्दी भेजने की कृपा करें।

अपने प्रेमी ग्राहक महानुभावों से भी हमारा निवेदन है कि वे हमें अपना शुभ सहयोग देकर अपना मूल्य मनिआर्डर से भेज दें जिससे हमें वी० पी० भेजने की आवश्यकता न पड़े। मूल्य यथा सम्भव १५ जुलाई तक आजाना चाहिए। यह भी निवेदन है कि प्रत्येक प्रेमी ग्राहक और पाठक इस अवसर पर हमें कम से कम एक नवीन ग्राहक देने की कृपा करे। साहित्य सन्देश को और भी उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी ग्राहक संख्या और भी बढ़ाई जाय। यदि पाठक चाहें तो एक नया ग्राहक बना देना कोई कठिन नहीं है। हम यह भी चाहते हैं कि ग्राहक गण पाँच रुपए भेजें जिससे अच्छे कागज का विशेष संस्करण उनके पास भेजा जा सके। जो सज्जन यह पाँच रुपया वार्षिक भी बचाना चाहें वे १००) एक साथ भेज दें। जब तक यह १००) जमा रहेगा—पत्र उन्हें विना मूल्य मिलता रहेगा।

प्रकाशन में नियमितता—

हमें यह लिखते हुए बड़ा हर्ष है कि विगत दो वर्ष 'साहित्य-सन्देश' का प्रकाशन बहुत ही नियमित रूप से हो रहा है। उसका प्रत्येक अङ्क हर महीने की पहली तारीख को प्रकाशित होकर रवाना होता है। भारत के बहुत कम पत्र इतने नियमित रूप से निकलते होंगे। आगे भी हमारी चेष्टा यही रहेगी कि पत्र पहली को ही निकल जाय। इससे पाठकों और ग्राहकों को बड़ी सुविधा रहती है। उन्हें कई दिन तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती और यदि ठीक समय पर उन्हें पत्र नहीं मिला तो वे उसके सम्बन्ध में कार्यालय को लिख सकते हैं। विदेशों में उच्चकोटि के सभी मासिक पत्र समय पर निकालते हैं। हमारे देश में अधिकतर मासिक पत्र अभी इस स्तर पर नहीं पहुँच पाए हैं। हम आशा करते हैं कि पत्र सञ्चालक इसके लिए चेष्टा करेंगे और यदि चेष्टा की गई तो निश्चय ही उन्हें सफलता मिलेगी।

पुरस्कारों पर एक नया सुझाव—

अप्रैल के अङ्क में 'नया साहित्य' ने एक टिप्पणी में सरकार को यह सुझाव दिया है कि लेखकों को पुरस्कार में नकद रुपया न देकर पुस्तक की प्रतियाँ खरीद लिया करे। निश्चय ही सरकार उन्हीं पुस्तकों पर पुरस्कार देती है जिन्हें अच्छा समझती है। और अच्छी पुस्तकों पर लेखक को, अधिकतर रायल्टी मिलती है। सरकार यह नियम कर सकती है कि पुरस्कृत सभी पुस्तकों पर लेखकों को रायल्टी देना अनिवार्य होगा। इससे दो लाभ होंगे। लेखक को तो रायल्टी रूप में पुरस्कार मिल जायगा और वह सरकार के दिए हुए रुपये से कम न होगा। दूसरा यह लाभ होगा कि विक्री न होने के डर से जो पुस्तकें छपने से रह जाती हैं वह भी सरकार की खरीद की आशा में छप जाया करेंगी और प्रकाशक भी रकम अटक जाने के डर से बच जायगा। आज जो लेखक प्रकाशक के अभाव में मनमारे बैठा रहता है—सैकड़ों लेखक अपनी अमूल्य कृतियाँ अपने यहाँ दबाये पड़े हैं—वे भी प्रकाश में आ सकेंगी। इससे निश्चय ही साहित्य को बड़ा लाभ होगा। पुस्तकों का प्रकाशन और प्रचार बढ़ेगा, फलतः लेखक को पैसा अधिक मिलेगा।

लोक साहित्य : परिभाषा

[डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०]

लोक-साहित्य शब्द हमारा परिचित है। लोक विशेषण से विशेषित साहित्य के सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ देने लगेगा इसमें कोई सन्देह नहीं। वह अर्थ क्या है और हम आज लोक साहित्य से क्या समझते हैं, यह जानना आवश्यक है। इसके लिए लोक शब्द के अभिप्राय को हमें ठीक-ठीक समझना होगा।

शब्द कोषों में लोक शब्द को कितने ही अर्थ मिलेंगे, जिनमें से साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिससे इहलोक परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसङ्ग में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं। दूसरा अर्थ लोक का होता है। सामान्य जन इसी का हिन्दी रूप लोग है। इसी अर्थ का वाचक लोक शब्द साहित्य का विशेषण है। किन्तु इससे लोक का वह अभिप्राय विदित नहीं हो पाता जो साहित्य के विशेषण के रूप में प्रदान करता है।

वास्तव में साहित्य को यह एक नया विशेषण मिला है। भाषा की दृष्टि से साहित्य का भेद हमें विदित है। हम हिन्दी साहित्य, बंगला साहित्य, अंग्रेजी साहित्य कहने और समझने के अभ्यस्त हैं। वैसे ही स्थल भेद में साहित्य हमारे लिये अपरिचित नहीं—भारतीय साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि। भाषा और स्थल के भेद भौगोलिक हैं। किन्तु यह लोक साहित्य किस प्रकार का साहित्य है। लोक विशेषण किस अन्य प्रकार के साहित्य की सम्भावना मानता है? ये प्रश्न हैं। भारतीय साहित्य में हमें परम्परा से लोक और वेद का कुछ विभेद विदित होता है। लोक परिपाटी और वेद परिपाटी जैसे दो प्रथक परिपाटियाँ हों। महाभारत में लोक वेद विधि के विरोध को बताने वाले कई वाक्य मिलते हैं:—

वेदाश्रो वेदिका शब्दाः सिद्धालोकाच्च
मौलिकाः प्रिय तद्धि[illegible]
दाक्षिणात्या यथा लोके वेदे चेति
प्रयोक्तत्येयथा लौकिक, वैदिकोविति प्रयुंजते।

भगवत गीता में—

अतोऽस्मि लोके वेदच प्रथितः पुरुषोत्तमः
आदि

लोक वेद का यह पुराना अन्तर यह बताता था कि जो वेद में स्पष्टतः नहीं है, वह यदि लोक में हो अथवा जो वेद में हो अथवा जो वेद में है उसके अतिरिक्त लोक में हो वह लौकिक है, लोक अथवा लौकिक भारतीय साहित्य में किसी अवहेलना अथवा उपेक्षा का भाव प्रकट नहीं करता। किन्तु लोक साहित्य का लोक वेद से इस भिन्नता को प्रकट करता हुआ भी उस अर्थ को नहीं प्रकट करता जो लोक साहित्य में करता है। यहाँ वैदिक से भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलायेंगी। कलिदास का शकुन्तला नाटक, भारवी, माघ, भवभूति की रचनायें सभी लौकिक कोटि की होंगी। किन्तु लोक साहित्य के अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता।

वस्तुतः इसके लिए हमें अन्यत्र देखना होगा। क्योंकि लोक साहित्य शब्द अंग्रेजी का अनुवाद है। यह अंग्रेजी के जिस शब्द का अनुवाद है वह है फोक लिटरेचर। फोक का पर्याय लोक है और लिटरेचर का साहित्य।

इस फोक के विषय में एनसाइक्लो पेडिया ब्रिटानिका ने बताया है····आदिम समाज में तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं, और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य राष्ट्र की समस्त जन संख्या को भी अभिहित किया जा सकता है

किन्तु सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली की सभ्यता के लिए (ऐसे संयुक्त शब्द में जैसे लोक वार्ता (फोक-लोर) लोक सङ्गीत (फोक म्यूजिक) आदि इसका अर्थ संकुचित होकर केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से मुख्यतः परे हैं। जो निरक्षर भट्टाचार्य है अथवा जिन्हें मामूली सा अक्षर ज्ञान है ग्रामीण और गँवार।

हम अपनी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहङ्कार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोक तत्त्व कहलाते हैं।

लोक-तत्त्व—(लोक-साहित्य)····ऐसे लोक का साहित्य ही लोक साहित्य है, साहित्य शब्द भी कुछ जटिल ही है। संस्कृत में इसका अर्थ वह नहीं था जो आज इसका अर्थ है। वहाँ पहले इसका अर्थ काव्य शास्त्र लिया जाता था। आज यह शब्द अंग्रेजी लिटरेचर का पर्याय है। साहित्य के विस्तृत अर्थ में आज मनुष्य की वह समस्त सार्थक अभिव्यक्ति सम्मिलित मानी जायगी जो लिखित हो या मौखिक हो किन्तु जो व्यवसाय क्षेत्र की न हो, ऐसी समस्त लोक अभिव्यक्ति लोक साहित्य के अन्तर्गत होगी।

लोक साहित्य का क्षेत्र—इस दृष्टि से लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत होजाता है। आभिजात्य साहित्य तो आज प्रायः समस्त ही लिपि बद्ध हो चुका है, और अब तक वही आदर की वस्तु माना जाता था, यह समस्त साहित्य भी विशाल विश्व और उसकी परम्परा को देखते हुए बहुत थोड़ा है और इसका क्षेत्र सीमित है। यह बात लोक-साहित्य के सम्बन्ध में नहीं।

लोक-साहित्य में लोकाभिव्यक्ति होती है। इस लोकाभिव्यक्ति के दो भेद हमें स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। यथार्थतः तो तीन भेद हैं।

१—शरीर तोषिणी 'व्यवसाय प्रधान'····ऐसी अभिव्यक्ति जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के उपयोग में आती है, भोजन, आच्छादन, शरण और भोग सम्बन्धी।

२—मनस्तोषिणी····ऐसी अभिव्यक्ति जो मन को तोष प्रदान करे। आदिम अवस्था में मन के तोष की अभिव्यक्ति भी व्यावसायिक कोटि की होती थी। मन में दो भाव मौलिक हैं, आश्चर्य का और भय का। ये प्रकृति सम्पर्क जात है पर-प्रकृति विषयक, इनसे भिन्न एक मौलिक भाव सहज होता है। यह है रति का, यह स्तनपान का प्रारम्भिक रूप ग्रहण करता है। प्रकृति सम्पर्क जात दो भावों में से आश्चर्य का परिणाम था। ज्ञान और साधन था उत्साह अथवा वीर भाव, भय का आधार था अज्ञान, इसी भय के निवारण के लिये जो अभिव्यक्ति का स्वरूप हुआ वह मनस्तोषी ही कहा जायगा। इसने अनुष्ठान का रूप धारण किया। आज के भी टोटके टमन्ने लोक विधि आदि इसी मनस्तोषिणी अभिव्यक्ति के रूप हैं। तीसरी अभिव्यक्ति मनस्तोषिणी से आगे मनमोदनी भी होती है। यह वह अभिव्यक्ति है जिसका मनुष्य की मोद वृत्ति से सम्बन्ध है, तोषण से नहीं। मानस की तीन ही प्रधान वृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं—पोषण-तोषण तथा मोदन की। पोषण तोषण और मोदन की लोक अभिव्यक्तियों का वाणी रूप लोक-साहित्य के अन्तर्गत आता है, अहं चैतन्य व्याख्या चाहता है, निर्माता में निर्माण के अहं का चैतन्य जब जाग्रत रहता है तब ही वह साहित्य शिष्ट साहित्य में आता है।

इस साहित्य की ऊपरी सीमा शिष्ट-साहित्य को स्पर्श करती है और निचली सीमा घोर जङ्गली अभिव्यक्ति को।

आज का मानव समाज केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही भूत से सुसम्बद्ध नहीं। उसका आज का विश्व-रूप भी भूत को वर्तमान किए हुए है। घोर जङ्गली मानव समाज के आदिम रूप का ही प्रतिरूप माना जा सकता है। मनुष्य का इतिहास उसके स्थापत्य

(शेष पृष्ठ ४७१ पर देखिये)

आचार्य भिखारीदास—रीतिकालीन सर्वश्रेष्ठ आचार्य

[श्री राधाकृष्ण राय एम० ए०]

रीतिकालीन आचार्यों में भिखारीदासजी का नाम आदर के साथ लिया जाता है। उनके मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना ने उनकी कीर्ति को अक्षय बना दिया है। कुछ आलोचकों ने तो भिखारीदासजी को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ आचार्य मान लिया है। भिखारीदासजी केवल एक सिद्धहस्त आलोचक ही नहीं बल्कि एक कुशल काव्यकार भी थे। कवित्व और आचार्यत्व का सुन्दर सामञ्जस्य इनकी प्रतिभा का विशेष गुण है। जिस खूबी के साथ इन्होंने छन्दों में अपने ललित भावों को अनोखी कल्पना का पुट दे कर बाँधने में अपनी कवित्व-कला का कमाल दिखलाया है उसी खूबी के साथ काव्यगत् विशेषताओं पर प्रकाश डालने में अपने आचार्यत्व की प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। इनके पास कवि का भावुक हृदय भी था और आलोचक का गम्भीर मस्तिष्क भी। जब ये काव्य-क्षेत्र की ओर मुड़ते थे तो इनकी लेखनी की नोक से भावों के मोतियों की झड़ी लग जाती थी; और जब ये आचार्यत्व के कर्तव्य-पालन का बीड़ा उठाते थे तब इनकी लेखनी पाण्डित्य गरिमा से गम्भीर बन कर विचारों के मोती बरसाने लगती थी।

मिश्रबन्धुओं ने रीतिकाल को दो भागों में विभक्त किया है—पूर्वालंकृत और उत्तरालंकृत। उनके अनुसार प्रथम काल के प्रमुख आचार्य चिन्तामणि माने गए हैं और दूसरे काल के प्रधान आचार्य भिखारीदासजी को बतलाया गया है। हिन्दी-समालोचक-सम्राट पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक कह दिया है कि काव्याङ्गों के निरूपण में दास जी को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। शुक्लजी की यह सम्मति निश्चय ही सार्थक है। क्योंकि आचार्यत्व के क्षेत्र में जो भी काम भिखारीदास ने किया है वह अन्य आचार्यों की तुलना में निश्चय ही महान् और अधिक है।

रीतिकाल में आचार्य तो बहुत हुए। यहाँ तक कि उस काल में जिसने भी लेखनी उठाई आचार्यत्व और कवित्व के क्षेत्र में उसने समान अधिकार रखने का दावा किया, किन्तु जो ख्याति दास को सहज ही में सुलभ हुई वह अन्य आचार्यों को लाख हाथ मारने पर भी हाथ नहीं लग सकी। 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' के प्रणेता डा० भगीरथ मिश्र ने अपने ग्रन्थ में दासजी को रीतिकाल का सब से बड़ा आचार्य माना है। उनका कहना है कि 'भिखारीदास की गणना उन आचार्यों में थी जो काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ उससे अधिक काव्य-शास्त्र का ज्ञान लेकर लिखने बैठे थे।' स्वनाम धन्य आलोचक श्री गुलाबराय ने भी अपने ग्रन्थ—'सिद्धान्त और अध्ययन' की प्रस्तावना में दासजी के आचार्यत्व की गुरुता को स्वीकार किया है।

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी इनका ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' विशेष उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में काव्य के सभी अङ्गों-उपाङ्गों का सम्यक् विवेचन एक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य की भाँति किया गया है। इस ग्रन्थ को श्री गुलाबराय ने रीतिशास्त्र का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ माना है। भिखारीदासने 'काव्य-निर्णय' में काव्याङ्गों पर प्रकाश डालने में 'काव्य-प्रकाश' का ही दृष्टिकोण अपनाया है, परन्तु कई स्थलों पर मौलिकता का भी पुट मिलता है। उदाहरण के लिए भाषा पर की गई विवेचना को ही ले सकते हैं। यह विवेचना अपने में पूर्ण तथा अत्यन्त ही मौलिक और सुलझी हुई है।

'काव्य-निर्णय' में वर्णन का ढङ्ग बड़ा ही स्पष्ट और मनोहर है। उसकी शैली सरल सुलझी हुई है, कला पक्ष में रञ्जनकारिणी और भाव पक्ष में मनोहारिणी है। यह ग्रन्थ काव्य सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डालने में अत्यन्त ही मौलिक दृष्टि रखता है। इस

मौलिकता का कारण है दासजी की अनोखी सूझ और अद्भुत पाण्डित्य प्रतिभा। काव्य की भाषा पर दासजी ने जिस कुशलता से प्रकाश डाला है वह उस समय के काव्यशास्त्र के लिए एक नयी चीज थी। भिखारीदासजी के इस ग्रन्थ को डा० भगीरथ ने ढङ्ग से [illegible] और वैज्ञानिक ढङ्ग का ग्रन्थ माना है।

भिखारीदासजी का दृष्टिकोण अलङ्कार आदि के सम्बन्ध में बहुत दूर तक 'साहित्य दर्पणकार' का सा ही रहा है। 'काव्य निर्णय' में रस को काव्य का प्रमुख अंग माना गया है। परन्तु दासजी ने 'साहित्य दर्पणकार' का साथ पूर्ण रूप से नहीं दिया है। क्योंकि 'काव्य निर्णय' में रस को काव्य की आत्मा नहीं माना गया है। रस और गुणों के बीच का सम्बन्ध उन्होंने मौलिक ढङ्ग से स्पष्ट किया है। दास ने इनके सम्बन्ध की चर्चा करते हुए एक स्थान पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

"ज्यों जीवात्मा में रहै धर्म सूरता आदि।
त्यों रस ही में होत गुण, बरनै गनै सवादि॥"

अर्थात् जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार गुण रस के धर्म हैं। गुणों का एकमात्र कार्य है रस का उत्कर्ष करना। गुण रस के ही अचल स्थित धर्म हैं। वे शब्द-अर्थ के धर्म कदापि नहीं माने जा सकते। सौन्दर्य आदि अन्ततः अङ्गी आत्मा के गुण हैं अङ्गभूत शरीर के नहीं। इसीलिए तो दास ने इन पंक्तियों में इस विचार को स्पष्ट कर दिया है—

'रस ही के उत्कर्ष को अचल स्थिति गुन होय।
अङ्गी धरम सुरूपता अंग धरम नहीं कोय॥"

इस प्रकार दासजी ने रस और गुण के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

अलङ्कार ठीक उसी प्रकार काव्य का बाह्य आभूषण है जिस प्रकार हारादि मानव शरीर का। उपमादि अलङ्कार पहले शब्द-अर्थ के ही धर्म माने जाते हैं। अलङ्कार से सचमुच पहले शब्द-अर्थ का ही उत्कर्ष होता है। इसीलिए दास ने अलङ्कार की स्थिति रस के पृथक् भी सम्भव बतलाया है—

"अलङ्कार बिनु रसहु है, रसहु अलङ्कृत छडि।"

श्री गुलाबराय ने अपने ग्रंथ सिद्धान्त और अध्ययन' की प्रस्तावना में एक स्थान पर दास जी की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'काव्य निर्णय' में अलङ्कारों का स्वतन्त्र महत्ता नहीं दी गई है। परन्तु डा० नगेन्द्र ने 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' में दास जी के सम्बन्ध में लिखा है कि इन्होंने अलङ्कार की स्थिति रस के बिना भी सम्भव माना है। मुझे इन दोनों सुविज्ञ पण्डितों के कथन में विरोध का कोई आभास नहीं मिलता। क्योंकि डा० नगेन्द्र के कथनानुसार अलङ्कार की स्थिति भले ही सम्भव हो परन्तु गुलाब राय जी के अनुसार अलङ्कार को स्वतन्त्र रूप से महत्ता नहीं मिल सकती। क्योंकि श्रेष्ठ काव्य तो दास ने भी उसे ही बतलाया है जिसमें प्रधानता व्यंग की हो न कि अलङ्कार की।

गुणों के सम्बन्ध में दास जी ने जो निर्णय दिया है उस पर विद्वानों का मत प्रायः एक ही है। डा० नगेन्द्र ने दासजी के गुण वर्णन को रीति काल के अन्य सभी आचार्यों से मूल्यवान बतलाया है। गुण वर्णन पर जिस अधिकार के साथ दास जी ने अपना निर्णय दिया है वह निश्चय ही महत्वपूर्ण है। इस प्रसङ्ग पर दास जी का विचार अत्यन्त ही स्वतन्त्र और मनोयोग पूर्ण है। दास जी ने गुणों के सम्बन्ध में बतलाया है कि—

'ज्यों सतजन हिय ते नहीं सूरतादि गुन जाय।
त्यों विदग्ध हिय में रहें, दस गुन सहज समाय॥'

अतः जिस प्रकार सज्जनों के हृदय में शूरतादि गुणों का निवास सदा बना रहता है, उसी प्रकार भावुक जनों के हृदय प्रांगण में दसो गुण प्रकाश की ज्योति बिखेरते हैं। दास का यह विचार निश्चय ही परम्परा से विद्रोह करता हुआ जान पड़ता है। क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भावों के सम्बन्ध में ऐसा कहा है कि वे वासना के रूप में सहृदयी सज्जनों के हृदय में सन्निहित रहते हैं। डा० नगेन्द्र ने इस विचार-वैरोध्य

का समाधान करते हुए एक स्थान पर सुन्दर तथा मान्य तर्क दिया है। उनका कहना है कि 'गुण रस के धर्म हैं अतः उनका वासना के साथ भी सहज सम्बन्ध है। इसलिए दास जी ने गुणों की स्थिति को भी वासना के सदृश्य ही मान लिया है।

परम्परागत मान्य दस गुणों में एक गुण सौकुमार्य भी है। परन्तु आचार्य दास ने सौकुमार्य गुण को छोड़कर 'पुनरुक्ति प्रकाश' नामक नए गुण की कल्पना की है। सौकुमार्य गुण को छोड़कर एक नए गुण का आविष्कार दासजी ने क्यों किया इसका उत्तर डा० नगेन्द्र ने देने का सार्थक प्रयास किया है। आचार्य वामन ने शब्द-सौकुमार्य गुण का अर्थ स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि 'शब्द गत् अपारुष्य—इस दृष्टि से पुनरुक्ति-प्रकाश की रुचिर पदावृत्ति को सौकुमार्य का साधन माना जाता है। सौकुमार्य का यह रूप अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विशिष्ट था।' शायद इसीलिए दासजी ने गुणों में इसका एक स्वतन्त्र स्थान दिया है। गुणों के वर्णन में दासजी ने मम्मट का अनुकरण किया है। पूर्वाचार्यों के द्वारा वर्णित दस गुणों की चर्चा करके दास ने मूलतः तीन ही गुणों की प्रधानता दी है।

देव की तरह इनमें ऊँची आकांक्षा और विस्तृत कल्पना का परिष्कार नहीं मिलता है। [illegible] इनकी रचना असफलता तथा अस्पष्टता के कठोर आघातों से सर्वथा वञ्चित रह गई है। काव्यों का रूप-निरूपण दासजी ने अत्यन्त ही कुशल ढङ्ग से किया है। दासजी की सर्वाङ्गीण सफलता पर अपनी सम्मति देते हुए स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी ने कहा है कि 'दासजी ने काव्य भाषा के स्वरूप का जो निर्णय दिया है वह कोई सौ वर्षों की काव्य-परम्परा के पर्यालोचन के उपरान्त।' सुतरां निश्चय ही उनके स्वरूप-निरूपण में सुदृढ़ता और प्रौढ़ता लाने में दासजी ने बाजी मार ली है। अतः ये हिन्दी काव्य-शास्त्र के सर्व-श्रेष्ठ आचार्यों में विशेष प्रतिष्ठा के पात्र हैं।

(पृष्ठ २६८ का शेषांश)

शिल्पतत्त्व में ही निहित नहीं, जङ्गली मानवों से शिष्ट मानवों तक में विद्यमान मौखिक अभिव्यक्तियों की परम्पराओं में भी है। जहाँ इस परम्परा के प्रवाह को छोड़कर पूर्ण अहं चैतन्य से युक्त होकर जो साहित्य निर्मित किया जाता है वही लोक साहित्य से भिन्न कोटि का होता है।

इस प्रकार लोक साहित्य का क्षेत्र बहुत विशद है। अत्यन्त आदिम जङ्गली अभिव्यक्तियों से लेकर शिष्ट साहित्य की सीमा तक पहुँचने वाली समस्त अभिव्यक्ति लोक साहित्य के अन्तर्गत है।

लोक साहित्य के प्रकार—निर्माता में अहं चैतन्य का आकस्मिक ही उदय नहीं होता। अहं चैतन्य का एक क्रम समाज में विद्यमान है। जङ्गली अवस्था में अहं चैतन्य नितान्त शून्य होता है। आत्यन्तिक सभ्य अवस्था में यह चैतन्य पराकाष्ठा पर होता है। इस चैतन्य का सम्बन्ध कुछ जीविका साधन से है, ऐसा विदित होता है। यह सिद्धान्त तो नितान्त निराधार नहीं माना जा सकता कि सभ्यता का विकास उत्पादन के साधनों के विकास से सम्बद्ध है। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक ऐसा वर्ग जो किसी साधन विशिष्ट से जीविकापार्जन कर रहा है एक विशिष्ट अहं चैतन्य का प्रतिनिधि माना जायगा। आज भी ऐसे वर्ग हैं जो किसी ऐतिहासिक साधन को जीविका का आधार बनाये हुए हैं। इतिहास से मानव विकास के क्रम में हमें विदित होता है कि मनुष्य आरम्भ से ही शिकार पर निर्भर करता था। फल और घास मिलते थे पर उन्हें उद्योग नहीं कहा जा सकता था। शिकार के उपरान्त पशुपालन, तब कृषि और तब मशीन उद्योग। आज शिकार करने वाली जातियाँ भी हैं, ये बहुधा जङ्गलों में हैं। पशुपालन और कृषि का सम्बन्ध गाँवों से है, मशीन उद्योग नगर में स्थित है। फलतः मोटे रूप में अहं चैतन्य की तीन अवस्थायें ही होती हैं जङ्गली, ग्रामीण तथा नागरिक। अहं चैतन्य की इस क्रम स्थिति में कितनी ही अन्य स्थितियाँ होना स्वाभाविक ही है।

गद्यकार दौलतराम

[श्री रवीन्द्रकुमार जैन एम० ए०, साहित्य-रत्न]

हिन्दी जैन कवियों, गद्यकारों एवं अनुवादकों में कविवर पं दौलतरामजी का स्थान अत्यन्त उच्चकोटि का है। आपका कृतित्व परिमाण और वैशिष्ट्य दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी संसार में श्लाघ्य एवं वरेण्य है। श्रेय एवं प्रेय का उसमें अलौकिक सम्मिलन है।

जीवनी—कविवर पं० दौलतराम जी की जन्म-भूमि बसबां (जयपुर) थी। आपकी जाति खण्डेलवाल जैन और गोत्र काशलीवाल था। आपके पिता आनन्दरामजी जयपुर राज्य के किसी ऊँचे पद पर थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के आप विशिष्ट विद्वान थे। कवि ने अपनी रचना-प्रशस्तियों में जो भी थोड़ा बहुत परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वे जयपुर नरेश सवाई जयसिंह के पुत्र माधवसिंह के मन्त्री पद आसीन रहे हैं। ऐसी स्थिति में राज्यकार्य से अवकाश पाते ही वे सरस्वती सेवा में लग जाते होंगे। साधनों की भी परिपूर्णता होगी। अपने दैनिक, गार्हस्थिक और धार्मिक कार्यों का भी सुन्दर निर्वाह उन्होंने किया होगा। इस सबसे उनका सद् गृहस्थ, विद्वान एवं विद्या-व्यसनी होना निश्चित होता है। आपकी अगाध विद्वत्ता के साक्षी आपके रचित ग्रन्थ हैं। यद्यपि कविवर के जन्म और मरण के निश्चित समय का अभी तक कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिल सका है, तथापि वे दीर्घजीवी थे, इतना उनकी रचनाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है। पं० दौलतरामजी की सबसे पहली रचना "पुण्याश्रव कथाकोष" की हिन्दी वचनिका है। यह रचना पं० जी ने वि. सं. १७७७ में पूर्ण की थी। कवि ने हरिवंश पुराण की हिन्दी वचनिका वि. सं. १८२६ में समाप्त की थी। आपकी उपलब्ध रचनाओं में से तीन की रचना-समाप्ति का समय नहीं दिया गया है। अन्य रचनाएँ वि. सं. १७७७ से १८२६ की अवधि के भीतर की ही रची हुई हैं। अतः १७७७ से १८२६ तक के मध्यवर्ती ५२ वर्ष उनके निश्चित कार्य-काल के वर्ष हैं। अब यदि उनकी आदि रचना 'पुण्याश्रव कथा कोष वचनिका' के समय उनकी आयु लगभग ६५ वर्ष की ही मानी जाय, और जिन रचनाओं पर समय नहीं दिया गया है, उन्हें भी इसी समय के अन्तर्गत मान लिया जाय तो भी कवि की अवस्था लगभग ७५ वर्ष की अवश्य ही ठहरती है। इस प्रकार उनका जन्म १८ वीं शताब्दी का आरम्भिक काल ही निश्चित होता है। भाई बहिन आदि के सम्बन्ध में इतिहास और खोजें अब तक मौन हैं। उदयपुर, जयपुर तथा आगरा से आपका जीवन अधिक सम्पृक्त रहा है।

रचनायें—कवि की रचनायें काल क्रमानुसार इस प्रकार हैं :—

संख्या	ग्रन्थ	रचनाकाल
१	पुण्याश्रव कथाकोष हिन्दी वचनिका	वि. सं. १७७७
२	क्रियाकोष पद्य रचना	,, १७९५
३	अध्यात्म बारह खड़ी	,, १७९८
४	वसुनन्दि श्रावकाचार हिन्दी	,, १८०८
५	पद्म-पुराण हिन्दी वचनिका	,, १८२३
६	आदि-पुराण ,, ,,	,, १८२४
७	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय* ,,	,, १८२७
८	हरिवंश पुराण हिन्दी वचनिवा	वि. सं. १८२६
९	परमात्म प्रकाश ,, ,,	,, अज्ञात
१०	आत्मबोध	,, अज्ञात
११	श्रीपाल चरित्र	,, अज्ञात
१२	अनेक पद, भजन, मुक्तक गीत	,, जीवनभर

---

* इस ग्रन्थ का अनुवाद पं० टोडरमल ने आरम्भ किया था परन्तु उनके असमय में ही दिवङ्गत हो जाने पर दौलतराम जी ने उसे १८२७ में पूर्ण किया।

रचनाओं की लोकप्रियता—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना, दिल्ली, विन्ध्य प्रदेश इत्यादि हिन्दी भाषी प्रदेशों में तो जनता (विशेष रूप से जैन जनता) सर्वोपरि रुचि से कविवर दौलतराम जी के ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा प्रवचन द्वारा रसास्वादन करती ही है, परन्तु गुजरात, दक्षिण और बम्बई प्रान्तों में भी जनता ने आपके ग्रन्थों से पर्याप्त आत्म-लाभ लिया है। भाषा इतनी सुबोध है कि अहिन्दी भाषा-भाषी भी सरलता से उसे समझ सकें। आपकी रचनाओं की स्थायी कीर्ति और इतनी लोकप्रियता का मूल कारण कठिन, शुष्क, गम्भीर और अल्प परिचित अथवा अपरिचित विषय को सरस, सरल, सुवह और सुपरिचित बनाना है। आठ-दस वर्ष के बालक से लेकर ८०-८५ वर्ष के वयोवृद्ध व्यक्ति तक अपनी ग्रहण शक्ति के अनुसार आपकी कृतियों का आनन्द लेते हैं। आज ऐसा कोई भी जैन-मन्दिर तथा पुस्तकालय नहीं है जहाँ पं० दौलतराम जी कृत रचनायें न हों। आपके ग्रन्थों में कुछ ऐसा दिव्याकर्षण है कि आपकी अध्यात्म रस-शाला में जिसने एक बार प्रवेश किया उसकी रुचि अन्यत्र नहीं जाती।

भाषा—कवि की भाषा के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उनका सम्पर्क जयपुर, उदयपुर के साथ आगरा से भी रहा है। साथ ही राज्य पदाधिकारी होने से मुगल साम्राज्य के प्रभाव से उर्दू की प्रचलित शब्दावली भी भाषा में मिल चुकी थी। संस्कृत, प्राकृत के वे विद्वान् थे ही। इस प्रकार राजस्थानी ब्रज, उर्दू, खड़ीबोली (हिन्दी) तथा संस्कृत के शब्द उनकी भाषा में मिलते हैं। जयपुर में ही उनका अधिक समय व्यतीत हुआ अतः जयपुरी अर्थात् ढूंढारी भाषा का अधिक प्रयोग उन्होंने किया है। इस ढूंढारी में खड़ी बोली और ब्रज का इतना मार्मिक मेल किया गया है कि सभी इसे अपनी-अपनी भाषा बताते हैं। सरल, चलती हुई, सरस एवं शिष्ट शब्दावली आप में आद्यन्त मिलती है। आपकी भाषा गम्भीर से गम्भीर और बोझीले भावों का भी अनायास वहन करने में सिद्धहस्त है। आपकी भाषा भावों को प्रकाशित करती है —स्वयं को नहीं।

शैली—सुलझा हुआ मस्तिष्क एवं उदात्त प्रतिभा स्वयंमेव सरल, सरस एवं उदात्त अभिव्यक्ति पा लेते हैं। कविवर पं० दौलतरामजी के अनुवादों तथा रचनाओं में प्रयत्न साध्य भाषा अथवा शैली का सर्वथा अभाव है। अति गम्भीर एवं दार्शनिक अनुभूति की भी अभिव्यक्ति सर्वत्र सरल ललित हुई है। शैली और भाषा सभी रचनाओं में भावों की मृदु-संवातिकाएँ रही हैं; उनके अवरोधक कदापि नहीं। एक छोटे से वाक्य में हम कह सकते हैं कि कवि की आत्मा को प्रकट करने के लिए इससे अच्छी देह न मिल सकती थी। इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि संस्कृत और प्राकृत में आबद्ध पुराणों को यदि पं० दौलतराम की भाषा और शैली न मिली होती तो इतनी लोक प्रियता के साथ इन ग्रन्थों का प्रसार कदापि न हो पाता और यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में मूल ग्रन्थों की अपेक्षा अनुवाद पर्याप्त मात्रा में आकर्षक हो सके हैं।

विषय—सम्पूर्ण जैन आम्नाय का वाङ्मय चार भागों में विभक्त है:—प्रथमानुयोग, चरनानुयोग, करणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग। प्रथम में कथा साहित्य है। द्वितीय में आचार तथा चारित्र्य सम्बन्धी चर्चाएँ हैं। तृतीय में लोक और गतियों (नरकादिक) का वर्णन है तथा चतुर्थ में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्यों का वर्णन है। कविवर दौलतरामजी ने प्रथमानुयोग को ही अपनाया है। इसमें प्राचीन महापुरुषों के जीवन चरित, उनकी पुण्यमयी धार्मिक, लोकोपकारी घटनाएँ कथाबद्ध होती हैं। जनसाधारण से लेकर उच्चकोटि के विद्वान भी इन कथाओं द्वारा अपने आत्म कल्याण का मार्ग बड़ी सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। कथाएँ वास्तव में जलनिधि-सागर हैं - जिस घट में जितनी सामर्थ्य है उतना जल भरले। विषय का चुनाव भी लेखक अथवा

कवि की योग्यता की बहुत बड़ी कसौटी है। हरिवंश पुराण, पद्मपुराण और आदि पुराण सरस, हितकर एवं पीयूष वर्षी कथाओं के ऐसे अक्षय कोष हैं कि हिन्दी का भण्डार इनके अभाव में अधूरा ही रह जाता। चक्रवर्ती भरत, बाहुबलि राम, कृष्ण और आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की पावन जीवन घटनाएँ सहस्रों, मनोरम प्रासङ्गिक घटनाओं के साथ इन पुराणों में अनुस्यूत हैं।

इसके अतिरिक्त कवि ने अनेक अध्यात्म-प्रधान शान्तरस पूर्ण मार्मिक पदों-भजनों की भी रचना की है। अस्थायी, नश्वर तथा इन्द्रिय-शैथिल्य एवं अर्था-भाव के साथ ही कटु प्रतीत होने वाले सांसारिक इन्द्रियजन्य सुखों को अपनी रचनाओं में महत्त्व न देकर, आत्म-शक्ति के प्रकाशक, स्थिर सुखों के उद्-घाटक चिरन्तन अध्यात्म वैभव को ही अपनाया है। कवि के एक-एक शब्द में सत्यं शिवं सुन्दरम् का अलौकिक समन्वय है—

मान ले या सिख मोरी।
इनको त्यागि विरागी जे जन, भये ज्ञान-वृष धोरी॥
तिन सुख लह्यो अचल अविनाशी, भव फाँसी दई तोरी
रमैं नित संग शिव गोरी॥
भोगन की अभिलाष हरन को, त्रिजग सम्पदा थोरी।
यातैं ज्ञानानन्द दौल अब पियौ पियूष कटोरी॥
मिटे भव व्याधि कठोरी॥
मानले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी॥

इस पद को देखकर कबीर, सूर और तुलसीदास के अध्यात्म पद सहसा दृष्टि में उतर आते हैं। आत्म-तत्त्व की इतनी मार्मिक व्यञ्जना अनुभव-प्रवण पारखी कविवर दौलतराम द्वारा ही सम्भव है।

इन्द्रिय-भोगों में लिप्त मन के प्रति कितनी चुटीली व्यञ्जना है—

रे मन! तेरी को कुटेव यह करन-विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तें. निज स्वरूप न लखावै है॥
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है

अनादि काल से इन्द्रिय-विषय, आत्म-सुख जागृति के अवरोधक रहे हैं फिर भी यह मानव मन दुराग्रह पूर्वक उनके पीछे ही दौड़ता है।

इसी प्रकार के अनेकों अध्यात्म रत्नों से कवि ने हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य में एक स्थिर अध्याय जोड़ा है। हिन्दी गद्य के विकास में पं० दौलतराम का कृतित्व सर्वदा अग्रगण्य रहेगा। उनके समय तक उन जैसी परिमार्जित हिन्दी के दर्शन एक दो अप-वादों को छोड़कर नहीं मिलते हैं। एक-एक हजार पृष्ठों के विशाल ग्रन्थों को स्थिर जीवन देने का कार्य असाधारण व्यक्ति का ही हो सकता है। लाखों श्लोक प्रमाण गद्य द्वारा आपने हिन्दी साहित्य की वृद्धि में अद्वितीय योगदान दिया है। ऐसे उत्तम साहित्य-मनीषी का अब तक उपेक्षा के गर्त में दबा रहना महान् खेद की बात है।

आज तो कुछ विद्वानों ने जैन साहित्यकारों द्वारा रचित साहित्य में पैठने का श्रीगणेश भी किया है, अन्यथा अति धार्मिकता अथवा साम्प्रदायिकता की छाप लगाकर इसके प्रति उदासीनता ही दिखाते आये हैं। यदि अध्यात्म की चर्चा, भोगों, इन्द्रिय विषयों का विरोध भी साम्प्रदायिक और धार्मिक है तथा ललित और उत्तम साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता तो हम भक्तिकालीन साहित्य के स्तम्भ कबीर, सूर और तुलसी के साहित्य को भी निरा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कहकर क्या स्वयं के बुद्धि विवेक और 'परिमार्जित रुचि' के दिवालियापन का परिचय न देंगे? साम्प्रदायिक साहित्य वह है जिसमें बाह्याडम्बर, निष्प्राण अति आचार, क्रियाकाण्ड आदि की कट्टरता के साथ विवरण प्रधान नीरस चर्चा मात्र हो। यद्यपि ऐसे ग्रन्थ सभी धर्मों में हैं परन्तु हम उन्हें ललित साहित्य के अन्तर्गत कदापि स्थान नहीं देते, वे सामान्य साहित्य में ही आते हैं। वास्तव में उत्तम साहित्य वही है जो क्षणिक सस्ता मनोरञ्जन न देकर शाश्वत सत्य का कला के माध्यम से उद्घाटन कर सके। इस कसौटी पर दौलतराम जी की रचनायें खरी उतरती हैं।

पारिभाषिक शब्द-कोश*

[डा० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, पी-एच० डी०]

पारिभाषिक कोश-निर्माण का सबसे पहला प्रयत्न काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १८९८ में किया गया। महामहोपाध्याय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी तथा पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि के सहयोग से लगभग ८ वर्ष बाद यह कोश बनकर तैयार हुआ। तत्पश्चात् सन् १९३१ में इस कोश का परिवर्द्धित एवं परिमार्जित संस्करण प्रकाशित हुआ। बनारस विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभाग के अध्यापकों द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। उस समय डा० सेठी, प्रिन्सीपल शुकदेव पांडे आदि विद्वानों की एक पारिभाषिक शब्द कमेटी ने इस कोश के प्रत्येक शब्द की छानबीन की थी।

इस अनुष्ठान में बराबर एक संस्कृत पण्डित की सहायता ली गई ताकि कोई शब्द व्याकरण की दृष्टि से दूषित न हो।

आगे चलकर सभा द्वारा "राजकीय पारिभाषिक शब्द कोश का प्रकाशन हुआ तथा वनस्पतियों और उद्भिदों पर भी एक कोश उक्त सभा ने ही प्रकाशित करवाया।

प्रयाग की विज्ञान परिषद्, श्री दयाशङ्कर दुबे की अर्थ परिषद् आदि ने भी इस दिशा में आरम्भिक कार्य किया। कचहरियों में व्यवहृत होने वाले शब्दों के हिन्दी पर्याय प्रस्तुत करने में उत्तर प्रदेश की सरकार और उसके द्वारा नियोजित श्री गोपाल चन्द्र सिंह ने भी अच्छा प्रयत्न किया। श्री सुख सम्पत्तिराय भण्डारी ने भी पारिभाषिक कोश निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनके द्वारा निर्मित कोश कई खण्डों में प्रकाशित हुए।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की अवधानता में तैयार किये गए श्री राहुल सांकृत्यायन के 'पारिभाषिक शब्द कोश' का उल्लेख यहाँ विशेषतः आवश्यक है। क्योंकि इस कोश में देश-भाषाओं और जनपदों में प्रचलित शब्दों का चयन करने की भी चेष्टा की गई है।

पारिभाषिक शब्द निर्माण के सम्बन्ध में राष्ट्रीय अस्मिता जगाने का श्रेय डा० रघुबीर को है। उनका 'वृहत् आँग्ल भारतीय कोश' चार जिल्दों में छपा जिसका संक्षिप्त संस्करण सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ। रसायन-शास्त्र विषयक सम्पूर्ण शब्दावली तो वे सन् १९४४ में ही निकाल चुके थे। उक्त कोशों के अतिरिक्त दूसरे विद्वानों की सहकारिता से भी डा० रघुवीर ने सांख्यिकी, वाणिज्य, प्रशासन आदि से सम्बन्ध अनेक शब्द-कोशों का निर्माण किया। भारतीय संविधान के हिन्दी अनुवाद में भी उन्होंने प्रमुख भाग लिया।

पारिभाषिक कोश निर्माण के सम्बन्ध में भारतीय शिक्षा मंत्रालय की ओर से जो काम किया गया है, उसका उल्लेख भी यहाँ नितान्त आवश्यक है इसी वर्ष वनस्पति शास्त्र, रसायन, भौतिकी, गणित और सामाजिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक शब्दों की प्रामाणिक एवं अधिकृत तालिकाएँ प्रकाशित हुई हैं जो उच्च-माध्यमिक कक्षाओं के छात्रों के लिये उपयोगी सिद्ध होंगी।

इन तालिकाओं के निर्माण करने में अन्य बातों के साथ-साथ सरलता की ओर विशेष ध्यान दिया गया है तथा उच्चारण क्लिष्ट और समास-बहुल शब्दों से बचने का यथा साध्य प्रयत्न किया गया है। ये तालिकाएँ ५ पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हुई हैं और इनमें कुल मिलाकर ५,५०० पारिभाषिक शब्दों का आकलन हुआ है।

पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य केवल

---

* आल इण्डिया रेडियो, जयपुर के सौजन्य से।

हिन्दी में ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी हुआ है। बङ्गीय साहित्य-परिषद् और कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने भी इस दिशा में कार्य आरंभ किया था। उस्मानिया विश्व विद्यालय के तत्वावधान में ६०,००० शब्द निर्मित किए गए थे।

अञ्जुमन-तरक्की-ए-उर्दू, दिल्ली की ओर से मौलवी अब्दुल हक साहब ने दो सौ पेशेवर लोगों की सूची बना कर उनके पारिभाषिक शब्दों का सङ्कलन कराया था जिसे १० भागों में प्रकाशित करने का उनका विचार था। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के सम्बन्ध में सब से उल्लेखनीय कार्य गुजरात विद्यापीठ ने किया है जिसकी स्थापना गांधीजी द्वारा सन् १९२० में की गई थी। गुजराती में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का यह कार्य कोई २० वर्ष पहले स्कूलों और कालेजों के शिक्षकों की सहायता से प्रारम्भ किया गया था और इसके लिए एक समिति भी बनाई गई थी। अब तक गुजरात विद्यापीठ की ओर से गणित, पदार्थ विज्ञान, रसायन शास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र विषयक शब्दावलियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इन शब्दावलियों को गुजरात में अच्छी मान्यता प्राप्त हुई है और हाईस्कूलों के लिए पुस्तकें लिखने वाले अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं में उनका ही उपयोग किया है।

पारिभाषिक कोश-निर्माण का प्रश्न भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के माध्यम की समस्या से सम्बद्ध है। यदि भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय भाषाएँ शिक्षा का माध्यम बनती हैं तो क्या वे स्वतन्त्र पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेंगी अथवा हिन्दी के लिए जिन पारिभाषिक शब्दों का निर्माण होगा उन्हीं शब्दों को वे भी स्वीकार कर लेंगी? इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किये जाने की आवश्यकता है।

भाषा वैज्ञानिकों ने दो प्रकार की भाषाओं का उल्लेख किया है—

(१) आकर-भाषाएँ (Building languages),

(२) ऋण-ग्रहण करने वाली भाषाएँ (Borrowing languages)।

ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी, फारसी आदि आकर भाषाएँ हैं तथा हमारे देश की बँगला, मराठी हिन्दी, गुजराती आदि भाषाएँ पारिभाषिक शब्द-निर्माण के सम्बन्ध में संस्कृत से पूर्ण होने वाली भाषाओं में से है। संस्कृत भाषा की सहायता से चाहे जितने शब्द बनाए जा सकते हैं; यह वह अमृत स्रोत है जिसमें से चाहे जितना शब्दामृत निकाल लेने पर भी यह कभी नहीं सूखेगा। इसकी ताजगी और इसका माधुर्य सदा अमिट बना रहेगा। धातु, प्रत्यय, आकृति-गण, उणादि आदि की दृष्टि से ग्रीक और लैटिन दोनों को मिलाकर भी संस्कृत अधिक समृद्ध है। योरुप की भी लगभग १०% शब्दावली संस्कृत से निकली है। बहुत से ग्रीक और लैटिन शब्दों तक में संस्कृत के तत्त्व पाये जाते हैं। हमें लगभग बीस-लाख तक वैज्ञानिक शब्दों की आवश्यकता पड़ सकती है। इस संख्या के नाम से ही बहुत से लोग भयभीत हो उठते हैं कि इतने शब्द आखिर आयेंगे कहाँ से। किन्तु संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा जिस देश के पास हो उसे हिम्मत हारने की आवश्यकता नहीं है।

जब उर्दू को छोड़ सभी क्षेत्रीय भाषाएँ पारिभाषिक शब्द सामान्यतः संस्कृत से ग्रहण करती हैं, तब विभिन्न राज्यों में उच्च शिक्षा के लिये विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी समान पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया जा सकता है। उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए भारत के शिक्षा मन्त्रालय ने भी इसी उद्देश्य से वैधानिक शब्दावलियाँ तैयार की हैं कि देश के सभी स्कूलों में उनका प्रयोग हो और वे सर्वत्र प्रचलित हो जायँ। कालेज कक्षाओं के लिये भी इस कार्य को आगे बढ़ाया जा सकता है किन्तु हमारे देश में विचारकों का एक दूसरा दल भी है जो यह मान कर चलता है कि जिस तरह हिन्दी की अपनी प्रकृति है, उसी तरह हमारी अन्य भाषाओं की भी अपनी

प्रकृति है। इसलिये पारिभाषिक शब्द पहले हिन्दी में बना लिये जायँ और फिर ज्यों के त्यों दूसरी भाषाओं में दाखिल कर लिये जायँ, इससे काम नहीं चलेगा। सभी भाषाओं में पारिभाषिक शब्दों की समानता हो यह अवश्य वांछनीय है किन्तु इन विचारकों के मतानुसार हमारा प्रमुख उद्देश्य तो अपनी-अपनी भाषाओं का उपयोग शुरू करना और उनमें विज्ञान के विचारों को प्रकट करना है। इस प्रकार के विचारकों में 'हरिजन' के सम्पादक श्री मगन भाई देसाई का नाम उल्लेखनीय है।

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रकार के विचार समय-समय पर सुनने को मिलते हैं—.

पहला तो यह है कि सारे पारिभाषिक शब्द हम अंग्रेजी के ही ज्यों के त्यों लेलें जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक जगत से हमारा बौद्धिक सम्बन्ध बना रहे। वैसी स्थिति में वैज्ञानिक ग्रन्थों की भाषा एक अजीब खिचड़ी बन जायगी, उसमें कारक, क्रियापद और अव्ययों को छोड़कर अपना कहने को कुछ नहीं रह जायगा। किन्तु यह स्थिति कभी भी वांछनीय नहीं कही जा सकती। अगर हमने अंग्रेजी का वैज्ञानिक शब्दावली रखी तो लाखों विदेशी शब्दों को हमें लेना होगा। दूसरी बात यह है कि अंग्रेजी में ग्रीक और लैटिन से ली हुई जिस अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग होता है, वह अंग्रेजी जानने वालों के लिए भी ग्रीक और लैटिन ही रहता है, उसका रटा-रटाया अर्थ ही वे समझते हैं, वास्तविक अर्थ वे नहीं समझते। हमारे देश में जिस वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण होगा, संस्कृत की प्राचीन परम्परा के कारण उसके कुछ संस्कार तो देशवासियों के मस्तिष्क पर पड़ेंगे और वे अपने ही देश की भाषा में सोचने-विचारने लगेंगे। एक भ्रान्त धारणा का निराकरण भी यहाँ आवश्यक है। कुछ लोग समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शब्द अपने मूल रूप में दुनियाँ के .. भागों में प्रचलित हैं। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय शब्द कहा जाता है, वे केवल पश्चिमी यूरोप तक सीमित शब्द हैं। पूर्वीय यूरोप, रूस, चीन, जापान और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनुवादित शब्दों का प्रयोग होता है। हाँ, उनके सर्वमान्य अन्तर्राष्ट्रीय शब्द अवश्य हैं जो जर्मन, फ्रैंच, इटैलियन, रशियन, स्पैनिश, अंग्रेजी, चीनी, ईरानी तथा अरबी आदि में एक ही रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। ऐसे पारिभाषिक शब्दों को हम भी ज्यों के त्यों अपना सकते हैं।

हमारी अपनी पारिभाषिक शब्दावली हो, अब इस ओर लोगों का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। कहते हैं कि एक बार किसी ने गान्धी जी से कहा था कि हम अपनी समस्त वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेजी की ही रख लें तो क्या हर्ज है? गान्धी जी ने उत्तर दिया कि जब अंग्रेजों ने इस देश पर एक शती से भी अधिक समय तक शासन किया है तो हम सदा के लिये उन्हीं के शासन में क्यों न रहें? फिर तो हमारे देश के लिये भी स्वतन्त्र होने की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि कुछ समय के लिये भले ही हम विदेशी शब्दावली का आश्रय लें, अन्त में हमें अपनी पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करना होगा और जितना शीघ्र हम यह काम कर लेंगे, उतनी ही उच्च-शिक्षा के माध्यम की समस्या हल होती चली जायगी।

दूसरा रास्ता यह है कि क्षेत्रीय भाषायें अपनी-अपनी वैज्ञानिक शब्दावलियाँ तैयार करें। किन्तु इस प्रकार की छूट देने से एक बड़ा अनर्थ यह होगा कि भारत की ही एक भाषा में किये गये अध्ययन और ज्ञान से दूसरी भाषा वाले लाभ नहीं उठा सकेंगे। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री मुंशी तो यह चाहते हैं कि समस्त भारत में हिन्दी ही उच्च-शिक्षा का माध्यम बने। यदि समूचा देश इस सिद्धान्त को स्वीकार करले तो फिर विभिन्न राज्यों में अलग-अलग पारिभाषिक शब्दाबलियों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

३—तीसरी विचारधारा यह है कि उच्च शिक्षा का माध्यम चाहे राष्ट्र-भाषा हिन्दी हो, चाहे देश के

विभिन्न राज्यों में वहाँ की क्षेत्रीय भाषाएं माध्यम बनें, देश में सर्वत्र समान परिभाषिक शब्दावली का व्यवहार हो। और इसमें कठिनाई भी नहीं होनी चाहिये क्योंकि भारत की प्रायः सभी भाषाएँ पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के लिए सामान्यतः संस्कृत की ओर ही उन्मुख होंगी। हाँ, पारिभाषिक शब्द निर्माण करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाय कि यदि क्षेत्रीय भाषाओं में सरल और अर्थगर्भित शब्द उपलब्ध हों तो उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिये। शिक्षा-मंत्रालय द्वारा तैयार की गई शब्दावलियों में इसी नीति का आश्रय लिया गया है। शब्द-निर्माताओं ने 'Memorandum' के लिए 'यादी' मराठी से, Bracket लिये 'बन्धनी' बँगला से, Debit के लिए 'नामे डालना' मारवाड़ी से और Legislative के लिए 'विधानाङ्ग' कन्नड़ से इसी आधार पर ग्रहण किये हैं। उक्त विचारधाराओं में से तीसरी विचारधारा ही राष्ट्र के लिए सबसे अधिक उपयोगी जान पड़ती है।

जिन सिद्धान्तों को आधारभूत मानकर पारिभाषिक शब्दावली के कार्य को आगे बढ़ाना चाहिये, उनकी भी कुछ चर्चा यहाँ अप्रासङ्गिक न होगी। उच्च माध्यमिक कक्षाओं में जिस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ हो, कालेजों में भी उन विषयों को पढ़ाने के लिए आधार के तौर पर उसी शब्दावली को कायम रखना चाहिए और आवश्यक अगली शब्दावली भी उसी को आधार मानकर बनानी चाहिए। शब्दों का उच्चारण क्लिष्ट, लम्बा तथा अटपटा न हो इसका भी ध्यान रखा जाय……न तो हिन्दी को संस्कृत बनाया जाय और न सर्वत्र संस्कृत को हिन्दी; अन्यथा 'बम्बई के दो टिकट' के स्थान में 'मोहमयी की दो मूल्य-पत्रिकाएँ' जैसे उपहासास्पद प्रयोग होने लगेंगे। टेलीफोन, रेडियो, डॉक्टर, मशीनगन आदि जो अन्तर्राष्ट्रीय शब्द जनता तक पहुँच गए हैं उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। चित्रकला, स्थापत्य आदि के सम्बन्ध में लोक प्रचलित शब्द भी ग्राह्य हैं। वैज्ञानिकों के नामों पर जो पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी आदि भाषाओं में चल रहे हैं, उनके हिन्दी-रूपान्तरों में भी वैज्ञानिक का नाम सुरक्षित रख लिया जाना चाहिए। जैसे "गेल्वैनाईज" से "गेल्वाना" क्रिया बन सकती है। इसी प्रकार "फारेनहाइट स्केल" के लिए "फारेनहाइट मापक्रम" रखा जा सकता है। संकेतों चिह्नों और सूत्रों के सम्बन्ध में अभी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति स्वीकार कर ली जाय। कभी-कभी मुख सुख, सरलता तथा……अन्तःप्रान्तीय सद्भावना की दृष्टि से संस्कृत प्रत्यय का प्रयोग न कर 'तेलट' (oily), साबट (soapy) रेशट (fibrous) जैसे शब्द प्रान्तीय भाषाओं के प्रत्ययों की सहायता से बनाए जा सकते हैं। (paleozoic) जैसे शब्दों के लिए समोच्चरित "पुराजन्तुक" जैसे संस्कृत शब्द भी आसानी से बन सकते हैं। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी शब्दों में संस्कृत प्रत्यय जोड़ कर carbonized से 'कार्बन कृत' जैसे शब्द भी बनाये जा सकते हैं। तुलसीदासजी ने भी 'टूट्यो सो जुरैगो शरासन महेसजू को, रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही' कहते समय अरबी 'शरीक' में संस्कृत का तो प्रत्यय जोड़ दिया था। "मौसम-शास्त्र" जैसे शब्दों में देशी विदेशी शब्दों का विचार नहीं करना चाहिए।

कोश निर्माण के सम्बन्ध में सब नियमों की गणना के लिये 'नेति-नेति' ही कहना होगा। तैरने वाला ही तैरने के सब नियम जानता है। पारिभाषिक कोशनिर्माण का कार्य भी समुद्र में तैरने के समान है। ज्यों-ज्यों हम शब्द महासागर का मन्थन करेंगे, नए-नए असंख्य शब्द-रत्न हमारे हाथ लगेंगे।

हिन्दी के सामाजिक नाटक

[प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री, एम० ए०]

पुण्यभूमि भारत का नाटककार था वह! राग, विराग और करुणा की अमर कथाओं का स्रष्टा। सत्य, शिव, सुन्दर का उपासक। आदर्श का पुजारी और कल्पना का सहचर। देवता, राजा या सद्वंश जात ही होते थे उसके नायक और स्वर्ग की अप्सराएँ रानियाँ या राजकुमारियाँ ही हो सकती थीं नायिकाएं। अधिकांश वह प्रेम के अमर लोक को पृथ्वी पर उतार लाता और ऐसे अपूर्व मधुचक्र का निर्माण करता कि वह अनन्त काल तक साहित्य-रसिकों को तृप्तिदान करने की सामर्थ्य ग्रहण कर लेता था। तभी अचानक उत्तरी क्षितिज से एक भयङ्कर तूफ़ान उठा, वह उसकी कल्पना, और उसकी लेखनी के जादू को किसी अज्ञात लोक को उड़ा ले गया। नाटककार अचेत हो गया।

और करीब आठ सौ वर्षों के बाद पश्चिमी सूरज के छाया तप में जब उसकी आँखें खुलीं, तब तक सारा संसार ही बदल चुका था, न मालूम कितने खण्ड प्रलय हो चुके थे। फिर भी उसने संस्कार वश 'अमर प्रेम का जयगान करना चाहा और कितनी ही चन्द्रावलियाँ रची। स्वर्णिम अतीत के प्रति श्रद्धा-भक्ति से नत होकर उसकी महत्प्रेरणा से वर्तमान को उज्वल बनाने के लिए पौराणिक एवं ऐतिहासिक महापुरुषों के पावन चरित्रों की एक दिव्य माला ही गूँथ डाली जिसमें हरिश्चन्द्र, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, प्रताप और शिवा जैसे रत्न जगमगा उठे। फिर भी न उसे ही सन्तोष हुआ, न युगमानस को।

और तब उसने अपने चारों ओर देखा। उसकी पैनी दृष्टि को समाज पर पड़े हुए मिथ्या गौरव, मर्यादा, व्यवस्था, नैतिकता आदि के आवरण नहीं रोक सके। उनको वेध कर उसने देखा कि धर्म, रूढ़ि, नैतिकता, राजनीतिक और आर्थिक गुलामी के शिकञ्जों में जकड़े हुए मानव त्राहि त्राहि कर रहे हैं। वह स्वर्ग को छोड़कर धरती पर आया। उसने आदर्श को यथार्थ पर स्थापित किया और कल्पना को वास्तविकता से रंगा। उसके प्राणों ने पीड़ितों की पीड़ा का अनुभव किया और उसका मन पीड़कों के प्रति आक्रोश से भर गया। उसने भावुकता को भुलाया और बुद्धि का पलड़ा पकड़ा; मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया, सच्चाई और व्यङ्ग को अपना अस्त्र बनाया। अन्याय अत्याचार का पर्दा फाश कर समाज के सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिए उसने रचना की सामाजिक नाटकों की, ऐसे सामाजिक नाटकों की जिनमें स्त्री और पुरुष के अधिकारों और कर्त्तव्यों की नये सिरे से विवेचना की गयी जिनमें समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों को नये बटखरों से तोला गया, जिनमें जीर्ण शीर्ण कुरीतियों और रूढ़ियों को त्याग कर नवीन आदर्शों की स्थापना की गयी, जिनमें पीड़ित जनता—नारियों, अछूतों, किसानों, मजदूरों आदि के दुखदर्द मुखरित हुए और उनके न्याय अधिकारों के लिए संग्राम-शङ्ख फूँका गया। संक्षेप में जिनमें गत संस्कृतियों के अभिशापों की होलिका जलायी गयी और आने वाले नवयुग की मङ्गल-आरती उतारी गयी.... उसका पथ प्रशस्त किया गया।

वैसे तो हिन्दी में भारतेन्दु युग से ही सामाजिक नाटक लिखे जाने लगे थे, किन्तु उस समय तीन नाटककारों की दृष्टि पौराणिक, ऐतिहासिक या प्रेम-प्रधान नाटकों की तरफ अधिक रही। जो थोड़े से सामाजिक नाटक लिखे गये उनमें सुधार की मनोवृत्ति काम कर रही थी, क्रान्ति की नहीं। दृष्टि स्थूल प्रश्नों तक ही सीमित थी, गहरे पैठ कर मूल प्रश्नों पर विचार नहीं किया गया था, शायद उस युग के लिए यह सम्भव भी न था। फिर भी यथार्थ चित्रण की

ओर प्रवृत्ति उन्मुख हो चली थी। स्वयं भारतेन्दु की अपूर्ण 'प्रेम-योगिनी' में काशी के मन्दिरों के पुजारियों, पण्डों, पण्डितों आदि का बड़ा सजीव यथार्थ-चित्रण हुआ है और उनकी थोथी धार्मिकता और आदर्श दिनचर्या पर मधुर छींटे कसे गये हैं। भारतेन्दु के अनुयायियों ने इनसे प्रेरणा पाकर बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन, जुआ, शराब, अंग्रेजों के अन्धानुकरण आदि के विरोध में तथा विधवा विवाह, नवीन शिक्षा, विदेशगमन आदि के पक्ष में दर्जनों नाटक एवं प्रहसन लिखे। गोरक्षा भी उन दिनों नाटकों का एक प्रमुख विषय था। इन नाटकों में कला कम और उपदेश की मात्रा बहुत अधिक थी। फिर भी राधाकृष्णदास की दुःखिनी बाला, राधाचरण गोस्वामी का 'तन, मन, धन, श्री गोसाईं जी के अर्पण' प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि को कुछ रूपक' आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-काल से सन् १९३० तक सामाजिक नाटकों की धारा दबी रही। प्रसाद के आगमन से हिन्दी नाटकों का अपूर्व विकास हुआ किन्तु उनका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि नाटक के क्षेत्र में ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों का बोल बाला हो गया। उनके बाद के प्रायः सभी नाटककारों में जिनमें आज के कतिपय प्रमुख सामाजिक नाटककार भी हैं, ऐतिहासिक पौराणिक नाटक लिखे। न केवल साहित्यिक नाटककार बल्कि रङ्गमञ्चीय नाटककारों ने भी बहुत बहुत बड़ी संख्या में ऐसे ही नाटक लिखे। जो थोड़े-बहुत सामाजिक नाटक लिखे भी गये उनमें नयी दृष्टि का अभाव है। एक कला की कसौटी पर भी वे खरे नहीं उतरते। विचारों की दृष्टि से प्रेमचन्द का संग्राम जो सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ था, एक अपवाद है। इसमें जमींदारों और किसानों का द्वन्द्व दिखाया गया है किन्तु प्रेमचन्द का उपन्यासकार उनके नाटककार-पर हावी हो गया है। नाट्यकला की दृष्टि से इसका कोई विशेष मूल्य नहीं है।

१९३० तक शिक्षित वर्ग की सामाजिक चेतना काफी उद्बुद्ध हो चुकी थी। पश्चिम के साहित्य और समाज का उन पर काफी प्रभाव पड़ चुका था। देश की राजनीतिक उथल-पुथल के कारण साधारण जनता में भी यथेष्ट जागृति आ चुकी थी। समाज की वर्तमान स्थिति के प्रति विशेषकर स्त्री-पुरुष के जड़ नियमों से जकड़े हुए, कठोर विधानों से बोझिल सम्बन्धों के प्रति नव-शिक्षित युवक वर्ग में तीव्र असन्तोष था। ऊँच-नीच, छुआछूत, वर्ण-व्यवस्था, मिथ्या धार्मिकता, समाज-सेवा, एवं देश-सेवा के नाम पर स्वार्थ-साधन, ढोंग, आर्थिक वैषम्य आदि के प्रति भी कम विरक्ति नहीं थी। इनका प्रकाशन तीक्ष्ण सामाजिक नाटकों के द्वारा हुआ। कतिपय सम्मान्य आलोचकों ने लिखा है कि इन नाटककारों ने इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी का अन्धानुकरण किया है। यह सत्य है कि उपर्युक्त विदेशी नाटककारों का प्रभाव आज के सामाजिक नाटककारों पर पड़ा है और काफी पड़ा है, किन्तु यह भी सत्य है कि स्वदेश की सामाजिक स्थिति भी ऐसे नाटक चाहती थी, उनका अभाव महसूस करती थी, तभी तो वह धारा दिन-प्रतिदिन वेगवती एवं लोकप्रिय होती जा रही है।

नयी दृष्टि से सामाजिक—समस्या नाटकों के लिखने का श्रीगणेश किया श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने। उन्होंने यौन समस्या पर बिना किसी झिझक या हिचक के कलम चलाई एवं चिरन्तन नारीत्व का विवेचन करने की चेष्टा की। अपने संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, सिन्दूर की होली, राजयोग आदि बड़े तथा कुछ एकांकी नाटकों में उन्होंने मन की पवित्रता पर तन की पवित्रता से कहीं अधिक जोर दिया है। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि समस्या को उभारने में वे जितने सफल हुए हैं, उतने हल देने में नहीं। उनके पात्र बुद्धिवादी होते हुए भी बहुत भावुक हैं, इसीलिए समस्याओं के हल साफ नहीं होते उलझे रह जाते हैं। पृथ्वीनाथ शर्मा का नाटक दुविधा आज की शिक्षिता नारियों की पति-निर्वाचन सम्बन्धी दुविधा पर आधारित है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध पर

कुछ अत्यन्त तीखे एकांकी नाटक लिखे हैं भुवनेश्वर ने। असफल विवाह की समस्या 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में तथा प्रेम और विवाह की समस्या 'प्रतिभा का विवाह' में उठायी गयी है। आधुनिक स्त्री अपने प्रेमी से विवाह भी करे, यह आवश्यक नहीं। कारवाँ संग्रह के प्रायः सभी नाटकों में पति-पत्नी और प्रेमी की त्रिमूर्ति कथानक का मूल केन्द्र बन जाती है। इनमें आज के समाज—विशेषकर आधुनिक शिक्षित समाज के दम्पत्तियों की विभिन्न समस्याओं को निर्ममता से उधेड़ कर रख दिया गया है। भुवनेश्वर ने कोई हल नहीं दिया है क्योंकि उनके मत में 'एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है' और "समस्या नाटक का केवल एक उद्देश्य है किसी समस्या को एक हास्यास्पद तुच्छता और असम्भवता बता देना।" उन्होंने यह किया है, अब यह समाज का काम है कि वह हल ढूँढ़ता फिरे।

व्यक्ति की समस्याओं के स्थान पर समाज की व्यापक समस्याओं को उठाया है सेठ गोविन्ददास ने। उनके नाटकों में राजनीति का पुट भी मिला रहता है। 'दुःख क्यों' में ढोंगी नेता यशपाल की पोल खोली गई है। ठीक इसी विषय पर श्री उदयशङ्कर भट्ट का एक सुन्दर एकाङ्की 'नेता' भी है। सेठजी ने 'बड़ा पापी कौन' में दिखाया है कि समाज उसे ही बड़ा पापी समझता है जो अपने दोषों को (चाहे वे साधारण ही क्यों न हों) छिपा कर नहीं रखता। बड़े से बड़े गुप्त पापों को करने वाला उसके लिए धर्मात्मा बना रहता है। 'सेवा-पथ' में गांधीवादी नीति की श्रेष्ठता तथा 'प्रकाश' में आधुनिक सभ्यता की चमक-दमक के पीछे छिपी हुई कालिमा प्रदर्शित की गई है।

डा० रामकुमार वर्मा के सामाजिक नाटक संयत और स्वाभाविक हैं। जीवन का एक-एक खण्ड चित्र उनके एकांकियों में निखरा है। लेखक का विश्वास है कि स्त्रियों की रक्षा के लिए पुरुष का अभिभावकत्व आवश्यक है जैसा कि 'रजनी की रात' से स्पष्ट है। स्त्री पुरुष के विकास और उन्नयन में सहायिका है, इस सत्य को 'रेशमी टाई' में चित्रित किया गया है।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'कैद' में भारतीय नारी की व्यथा मूर्त्त करदी है तो 'उड़ान' में भविष्य का वह स्वप्न देखा है जब नारी अपना स्वत्व पाकर पुरुष का खिलौना, सम्पत्ति या देवी न बन कर सहचरी बनेगी। अश्क के व्यंग्य बड़े मार्मिक हैं। आधुनिक प्रेम-विवादों पर 'स्वर्ग की झलक' में तथा आपके पुत्रों की पितृ-भक्ति पर 'छठा बेटा' में मधुर मर्मस्पर्शी व्यंग्य है। अश्क की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वे अन्य बौद्धिक सामयिक नाटककारों की तरह नीरस नहीं हो गये हैं। यहीं श्री सुमित्रानन्दन पन्त के उन काव्य-रूपकों का उल्लेख करना समीचीन होगा जिनमें उन्होंने सामाजिक समस्याओं को काव्य-सौष्ठव से मधुवेष्ठित कर उपस्थित किया है। 'ज्योत्स्ना', 'रजत-शिखर' आदि में उन्होंने अपनी कल्पना और स्वप्नदर्शिता से उस भावी समाज का स्वरूप अंकित करने की चेष्टा की है, जो आदर्श है, सब प्रकार की हीनताओं, कुण्ठाओं से मुक्त है। अन्य प्रतिभाशाली नाटककारों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर तथा भारती आदि प्रमुख हैं, जिनसे हिन्दी साहित्य को बहुत आशा है।

कर्मभूमि भारत का नाटककार है यह! मानवों के हास-रुदन, ईर्ष्या द्वेष, पापों और कमजोरियों की कथाओं का शिल्पी! सत्य का उद्घाटन कर भविष्य के शिव और सुन्दर का निर्माता! यथार्थ और बुद्धिवाद का अनुयायी! आफिसों के बाबुओं से घुरहू किसान तक को अपना नायक तथा काली, मोटी, बदशक्ल आया तक को नायिका बनाने वाला। आज का विद्रोही आगामी कल का स्वप्न द्रष्टा! इसे विश्वास है कि इसकी लेखनी से एक न एक दिन सच्ची मानवता उभरेगी, उभरेगी और जरूर उभरेगी।

—'आकाशवाणी, कलकत्ता के सौजन्य से'

क्या हिन्दी का प्रगतिवाद मार्क्स दर्शन की देन है ?

[प्रो० कृष्णकान्त चौधरी, एम० ए०]

वादों के विश्व में विवादों का होना अनिवार्य है। आधुनिक युग वादों का एक रङ्ग-मञ्च है। साहित्य हो या राजनीति, अर्थ हो या समाज, सर्वत्र कोई न कोई वाद काम करता हुआ परिलक्षित होगा। बड़े-से बड़ा राजनैतिक नेता हो या साहित्यकार, राजनीति का ज्ञाता हो या अर्थशास्त्र का वेत्ता सब वादों में उलझे दीख पड़ते हैं। लेकिन जो युग निर्माता होता है, युग स्रष्टा होता है वह वादों का निर्माण करता है, जन्म देता है। यह सत्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निहित है। समाजवाद हो या साम्यवाद, मार्क्सवाद हो या गाँधीवाद, अभिव्यञ्जनावाद हो या प्रयोगवाद, सभी का जन्मदाता कोई न कोई युग-निर्माता है, चाहे वह गाँधी हो या मार्क्स, क्रोचे हो या अञ्चल।

साहित्य के क्षेत्र में भी आज वादों का बाजार गर्म है। थोड़े ही समय में आप देखेंगे कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का जन्म क्रमशः होता गया है। सिर्फ चालीस वर्ष की अवधि में हिन्दी में चार-चार वादों का प्रयोग हुआ है।। इन वादों में प्रगतिवाद जन-जीवन के बहुत समीप रहा है। इसलिये अपनी छोटी-सी उम्र में ही प्रगतिवाद बड़ा विख्यात हो सका है। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद का जन्म १९३६ ई० में हुआ और आज तक उसका रूप बनता चला जा रहा है। कुछ-न-कुछ नित्य-प्रति प्रगतिवाद का रूप आज भी पुष्ट होता चला जा रहा है—चाहे वह गद्य में हो या पद्य में लेकिन यहाँ देखना यह पड़ेगा कि प्रगतिवाद के उत्स का कारण हिन्दी साहित्य में क्या है? कौन-सी ऐसी सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसकी नींव पर प्रगतिवाद की दीवाल खड़ी है। पहले के युग में प्रगतिवाद की रूप-रेखा क्यों नहीं स्थिर हो सकी? इन्हीं प्रश्नों के समाधान से यह स्पष्ट हो जायगा कि मार्क्सवाद की देन प्रगतिवाद में कहाँ तक है।

मानव समाज की कला तथा संस्कृति कुछ दिनों की देन नहीं है। किसी भी कला तथा संस्कृति का विकास क्रमशः ही हुआ होगा। धीरे-धीरे विकास होकर तब उसका एक रूप बना होगा। इस रूप के बनने में जलवायु, परिस्थिति, भूगोल और ज्ञान-विज्ञान से काफी मदद मिली होगी। स्थानीय वातावरण का प्रभाव अत्यधिक रूप में हमारी कला तथा संस्कृति के निर्माण पर पड़ा होगा। तब कहीं साहित्य की वर्तमान आकृति हमारे समक्ष चित्र रूप में अवतरित हुई होगी। अतः यह कहना कि प्रगतिवाद हमारे वर्तमान युग की साधना का सुफल एवं प्रयास है बिलकुल भ्रममूलक है। हाँ, वर्तमान युग की साधना के प्रयास की इस दिशा में उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। भारतीय इतिहास के अवलोकन से हमें सामाजिक तथ्यों की जानकारी होगी और प्रगतिवाद का यह बीज आज के रूपमें परिवर्तित होने में सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे। देश के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक इतिहास से प्रगतिवाद का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त आज की वैज्ञानिक प्रगतियों ने भी हमें प्रभावित, उत्प्रेरित, आन्दोलित और अनुप्राणित किया है। इस तरह राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों परिस्थितियों ने हमारे जीवन को प्रभावित किया है। परन्तु राष्ट्रीय जीवन का महत्त्व ही इस दिशा में ज्यादा रहा है। नब्बे प्रतिशत हमारा जीवन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही प्रभावित है। राष्ट्रीय विचारधाराओं में सिपाही विद्रोह, आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, गांधीवाद, रामकृष्ण तथा विवेकानन्द का अध्यात्मवाद आदि विशेष उल्लेनीय है। अन्तर्राष्ट्रीय विचार धाराओं में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद,

फ्रायड का मनोविज्ञानवाद तथा काम शास्त्र और पश्चिम का बढ़ता औद्योगिक आन्दोलन। वैसे तो फ्रान्स, अमरीका और रूस की राज्यक्रान्ति का भी प्रभाव अमिट है। यह कथन कि सिर्फ मार्क्स का द्वन्द्व-न्याय ही हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का मूल प्रेरक है अथवा गांधीवाद; भ्रामक तथा तर्क हीन है। यह कहना तो और भी भ्रम मूलक है कि अकेले मार्क्स के द्वन्द्वन्याय ने हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का जन्म दिया है। ऐसा विचार तो सिर्फ राजनीति के थोड़े से लोग ही रखते हैं।

ऐसा कहना कि मार्क्स के द्वन्द्वन्याय ने ही हिन्दी में प्रगतिवाद को जन्म दिया बिलकुल तर्क रहित, दंभपूर्ण और शत-प्रतिशत भ्रम मूलक है। तर्कशास्त्र या विज्ञान के दृष्टिकोण से यह दोषपूर्ण है। किसी घटना के घटित होने का सिर्फ एक ही कारण बताना अत्युक्तिपूर्ण एवं दोष युक्त है। किसी घटना के होने में एक नहीं अनेक कारण होते हैं। तर्क शास्त्र के अनुसार यह काकतालीय दोष है। किसी घटना की प्रत्येक पूर्ववर्ती अवस्था को कारण मान लेने से यह दोष उत्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'इसके बाद, इसलिए, इसके कारण'। उदाहरण के लिए अगर ऐसा कहा जाय कि राम स्टेशन गाड़ी पकड़ने जा रहा था पर स्टेशन पर पहुँचने के पूर्व ही उसकी गाड़ी चली गई थी। गाड़ी छूटने का कारण अगर मार्ग में तेली का मुँह देखना ही सिर्फ मान लिया जाय तो यह दोषपूर्ण होगा। तेली का मुँह देखना तो हमारे अन्धविश्वास की परम्परा है। गाड़ी छूटने के अनेक कारण हो सकते हैं—राम धीरे-धीरे जा रहा था, स्टेशन उसके घर से बहुत दूर था, रास्ते में वह मोहन से बात करने लगा और गाड़ी उस रोज ठीक समय पर आई और चली गई। ठीक इसी तरह कार्लमार्क्स के द्वन्द्वन्याय को हिन्दी प्रगतिवादी साहित्य का एकमात्र मूलकारण मान लेना दोषपूर्ण है। हाँ, इतना सत्य है कि बहुत से कारणों में द्वन्द्वन्याय भी एक कारण है। हिन्दी प्रगतिवाद का मूल कारण गान्धीवाद हो सकता है जिसका अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण है और जिसमें बुद्ध का भौतिकवाद तथा आध्यात्मवाद निहित है। भारतीय जन-जीवन गान्धीवाद से जितना और जिस अंश में प्रभावित एवं अनुप्राणित हुआ है इतना कार्लमार्क्स के द्वन्द्वन्याय से नहीं हुआ है और न आज होता ही दीख पड़ रहा है।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आधार वर्ग-सङ्घर्ष है और साध्य है आर्थिक समानता। वर्तमान समाज की आर्थिक विषमता ही वर्ग-सङ्घर्ष का कारण है। वर्ग-सङ्घर्ष आदिकाल से होता चला आ रहा है लेकिन आधुनिक युग में इसका रूप तीव्र हो गया है। वर्ग-सङ्घर्ष आज शोषक तथा शोषितों के बीच चल रहा है अर्थात् शोषक वर्ग पूँजीपति हैं और शोषित श्रमजीवी। इस वर्ग-युद्ध में जब श्रमजीवियों की विजय होगी तो श्रमिकों के अधिनायकत्त्व में श्रेणी-भेद मिट जायगा और विश्व में शान्ति एवं विकास का मार्ग खुल जायगा। श्रमजीवियों की विजय में मानव-समाज का कल्याण इसलिए निहित है कि श्रमिकों का कोई ऐसा निजी स्वार्थ नहीं है जिसकी वह रक्षा करे। मार्क्स के इस विचार से सम्बन्धित दो प्रश्न होते हैं। पहला प्रश्न है क्या वर्ग-युद्ध की समाप्ति सम्भव है? और दूसरा प्रश्न है क्या स्वार्थ श्रमिकवर्ग का न होगा?

पहले प्रश्न के उत्तर में यह निर्विकार रूप में कहा जा सकता है कि वर्ग-युद्ध कभी भी समाप्त नहीं हो सकता। वर्ग-सङ्घर्ष तो प्रकृति का एक स्वाभाविक रूप है। किसी न किसी रूप में वर्ग-सङ्घर्ष रहेगा ही। विश्व इतिहास भी यही बताता है। प्रकृति के आरम्भ से लेकर आज तक वर्ग-युद्ध चलता रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। विश्व और प्रकृति, मानव और समाज सभी की प्रगति रुक जायगी जिस दिन वर्ग-सङ्घर्ष न रहेगा। जीवन निष्क्रिय और स्पन्दन रहित हो जायगा। सम्पूर्ण विश्व का जीवन तब स्थितिशील (Static) होगा, गतिशील (Dynamic) नहीं। प्रकृति और जीवन का विकास (Evolution)

अवरुद्ध हो जाने पर मानव जीवन की कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी। इसलिये वर्ग-युद्ध का अन्त संभव नहीं है। माना मजदूरों का अधिनायकत्व कायम होगा। मजदूर वर्ग तब शासक बन जायगा। उसके हाथों में राज-सत्ता रहेगी। फिर एक ऐसा भी वर्ग उन्हीं मजदूरों के बीच होगा जो शासित कहलायेगा और शासक तथा शासित के दो वर्ग होगें ही और दोनों के बीच वर्ग-युद्ध किसी न किसी रूप में रहेगा। रूस का प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे समक्ष है।

लेकिन वर्ग-युद्ध का यह बाह्य रूप हुआ जो मानव के बाहर के जीवन में अर्थ संचय, शक्ति संचय के लिए होता है। वर्ग-युद्ध का एक आन्तरिक रूप भी है जो मानव के अन्तर में होता है। हमारी मनोवृत्तियों का भी सङ्घर्ष हमेशा से चल रहा है। मनोवृत्तियों के इस सङ्घर्ष में कभी हमारे उच्च भाव जग पड़ते हैं और कभी दब भी जाते हैं। इन्हीं आन्तरिक सङ्घर्षों के कारण हमारा बाह्य जीवन भी संघर्षरत होता और प्रभावित भी। अतः प्रगतिवादी साहित्य को अनुप्राणित करने वाला हमारा आन्तरिक सङ्घर्ष ही है। मार्क्स का यह कथन कि उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लेने के पश्चात् हमारा साहित्य, धर्म, संस्कृति और नैतिक गुण बदल जायँगे यह भी सत्य नहीं। इस सम्बन्ध में तो गांधीजी का यह विचार कि हृदय की शुद्धता ही हमारे दृष्टिकोण को बदलेगी और तभी हमारा समाज भी बदलेगा। इसी कारण सत्य, प्रेम और अहिंसा इस शुद्धता का प्रेरक समझा गया। इसी विचार से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न भी स्वार्थ विषयक है।

मार्क्स ने बताया है कि मजदूर वर्ग का निजी स्वार्थ कोई नहीं रहेगा। लेकिन इसमें भी सचाई नहीं दीख पड़ती है। स्वार्थ तो सभी का होता है चाहे वह मानव हो या दानव, सुर हो या असुर। तुलसी के शब्दों में स्वार्थ की परिभाषा है—'सुर नर मुनि सब की यह रीती। स्वारथ लाग करहिं सब प्रीती ॥' स्वार्थ तो प्रकृति प्रदत्त मानव की मनोवृत्ति है जिसका वास स्थान मनुष्य का हृदय है। इसको, मनुष्य की इच्छा शक्ति से भी अभिहित कर सकते हैं। तब यह इच्छा शक्ति कभी प्रबल होती है और कभी कमजोर। आखिर श्रमिकों के अधिनायकत्व में श्रमिकों का भी स्वार्थ होगा। फिर श्रमिक जो शासक बन जायेंगे अपने ही स्वार्थ की रक्षा करेंगे। उनके विरुद्ध अपना जो भी विचार पैदा करेगा वह उन्हें सह्य नहीं होगा। अतः इस स्वार्थ का दमन अपनी इच्छा शक्ति पर नियन्त्रण करके ही सम्भव है। अधिनायकत्व शक्ति की प्राप्ति होने पर भी अर्थ की समानता सन्तुलित नहीं हो सकती। रूस की वर्तमान राज्य व्यवस्था इसका सुन्दर उदाहरण है। इसलिए मार्क्स के द्वन्द्व न्याय ने हमारे प्रगतिवादी साहित्य का जन्म दिया ऐसा कथन सचाई से दूर होगा।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्वन्याय दर्शन में व्यक्ति के स्वार्थ से अधिक तथा उच्च स्थान समष्टि के स्वार्थ को दिया है। बताया है कि समाजवाद में समष्टि के स्वार्थ के लिए ही सब कुछ किया जायगा, जब मजदूरों का आधिपत्य उत्पत्ति के साधन पर होगा। यह विचार तो सोलहो आने ठीक है। सिद्धांत में तो ऐसा अवश्य कूत दिया जाता है लेकिन व्यवहार में ऐसा होता नहीं दीख पड़ता है। रूस की क्रान्ति की एक ही नजीर इस सम्बन्ध में काफी होगा। १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस में श्रमजीवियों का अधिनायकत्व स्थापित हुआ। हजारों व्यक्तियों को क्रान्ति के बाद कत्ल कर दिया गया; क्योंकि वे क्रान्ति में बाधक थे और श्रमजीवियों के अधिनायकत्व में उनका विश्वास नहीं था। राजनीति के क्षेत्र में इस तरह का कत्ल किसी एक वर्ग के स्वार्थ साधन के लिए सम्भव है लेकिन साहित्य के लिये यह गुनाह है। आखिर समाज के उन व्यक्तियों की हत्या मानवता की हत्या है। दूसरी ओर गांधी के सर्वोदयवाद में सब के लिये स्थान है। मानवता की क्रूर हत्या जानबूझ कर इसमें नहीं की जाती है। ऐसा इसलिए होता हैं कि गांधीवाद का सिद्धान्त व्यवहार पर अवलम्बित है। गान्धी ने अपने जीवन में जो

सिद्धान्त बनाया वह व्यवहार की कसौटी पर कस कर। इसलिए यह ज्यादा वैज्ञानिक है। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त पर व्यवहार को निमित किया है। पहले मार्क्स ने सिद्धान्त प्रतिपादन किया तदुपरान्त सिद्धान्त को व्यवहार रूप में लाने की कोशिश की। अस्तु, मार्क्स के द्वन्द्वन्याय का क्रम वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है। मार्क्स ने फुनगी से जड़ की ओर आने का उपक्रम किया है लेकिन गांधी ने जड़ से चोटी की ओर जाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए सर्वोदयवाद में मानवता का उच्च स्थान है लेकिन मार्क्सवाद में मानवता की हत्या की जाती है। एक वर्ग के स्वार्थ के लिए दूसरे वर्ग का सर्वनाश किया जाता है। यह क्षम्य हो सकता है कि एक वर्ग के स्वार्थ के लिए दूसरे वर्ग के स्वार्थ का अन्त हो। पर यह कभी भी क्षम्य नहीं कि किसी वर्ग के लिये दूसरे वर्ग के लोगों की ही हत्या करदी जाय।

मार्क्सवादियों का यह भी विचार है कि जिस साहित्य में श्रमजीवी वर्ग का ही चित्रण हो वही प्रगतिवादी साहित्य है। प्रगतिवादी साहित्य की यह परिभाषा भी दोष पूर्ण है। साहित्य किसी वर्ग विशेष का नहीं होता है। वह तो सम्पूर्ण समाज का होता है जिसमें जन-जीवन का चित्र समभाव में चित्रित हो। न किसी वर्ग का अत्युक्तिपूर्ण गीत गाया गया हो और न किसी वर्ग की उपेक्षा की गई हो। समाज में जितने भी वर्ग हों सभी का चित्र प्रगतिवादी साहित्य में आवश्यक है। यह चित्र यथार्थ रूप में चित्रित किया गया हो। हाँ, जब समाजवाद या सर्वोदयवाद की स्थापना होगी तब तो समाज में जो वर्ग शेष रह जायगा उसी का गीत गाया जायगा। इसीलिये सर्वोदयवाद में मानव राज्य की कल्पना की गई है जहाँ न कोई शासक रहेगा और न कोई शासित। वर्तमान समाज में तो जितने भी वर्ग हैं सभी का चित्र अपेक्षित है। यह सम्भव नहीं कि ऐसे समाज में सिर्फ अमीरों का अत्याचार अथवा जुल्म गरीबों पर होता हो। कुछ ऐसे भी अमीर अवश्य होंगे जिनके हृदय के कोने में गरीबों के लिए करुणा होगी और कुछ ऐसे निर्दय गरीब होंगे जिनकी तेज तलवार हमेशा अपने ही जैसे गरीब लोगों के सिर पर लटकती होगी। अस्तु, साहित्य के क्षेत्र में निष्पक्ष होना परमावश्यक है। प्रगतिवादी साहित्य में जहाँ 'सिगरेट की चमकीली पन्नी' का वर्णन हो, वहाँ—

"सोई थी तू स्वप्न नीड़ में,
पङ्खों के सुख में छिप कर।'

का भी वर्णन अपेक्षित है। तभी समाज तथा सामाजिक जीवन के प्रति न्याय होगा और हमारा साहित्य पूर्ण होगा।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य सिर्फ मार्क्सवाद की देन नहीं है बल्कि मार्क्सवाद से भी ज्यादा गांधीवाद की देन है। परन्तु इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अनेकों कारणों में मार्क्सवाद भी एक है। प्रगतिवादी साहित्य हमारे साहित्यिक तथा दार्शनिक विचारों की परम्परा में आबद्ध है जिस पर हमारी संस्कृति, समाज, भूगोल तथा स्थानीय वातावरण का प्रभाव अमिट रूप में है।

साहित्य-सन्देश बिना मूल्य—

जो सज्जन १००) एक बार जमा कर हमारे स्थायी ग्राहक बन जायँगे उन्हें साहित्य-सन्देश का विशेष संस्करण बिना मूल्य दिया जायगा। यह १००) जब ग्राहक न रहना चाहें तब लौटाया जा सकता है। जो सज्जन ५) वार्षिक की बचत करना चाहें वे १००) जमा कर सकते हैं।

—सञ्चालक

नई कविता पर लोकगीतों का प्रभाव

[श्री मुरली मनोहर प्रसादसिंह]

लोक गीतों में प्रभाव बड़ा व्यापक है। नई हिन्दी कविता इस प्रभाव से मुक्त नहीं है। सच तो यह कि हिन्दी की नई काव्यधारा लोकगीतों के दर्शन ध्वनि-प्रतीकवाद, औपम्य मूलक रूपक-योजना, नाद-सौन्दर्य, लयात्मक प्रस्फुटन और विभिन्न भाव-रूपों में के छविमय संश्लेसों से बहुत गहरे रूप में प्रभावित हुई है। इस प्रकार भाव-वस्तु और शिल्प-विधान दोनों ही दृष्टियों से नई काव्य-सरणियों में लोक-समाज की दैनिक भाव-गरिमा बेकाबू हो उठी है। हिन्दी में नए गढ़े गये गीत किसी प्रकार की आरोपित लय और सम के आधार पर नहीं चलते, बल्कि, भावों के भीतर निहित लयात्मकता को पहचान कर अपना ध्वनि-सौन्दर्य परिस्फुट करते हैं। नई कविता की प्रतीक-योजना पर लोकगीतों का प्रभाव अत्यन्त मुखर दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि लोकगीत में जिन प्रतीकों के सहारे सामाजिक जीवन की मर्म-छवियों को निखार दिया जाता है, वे दूरारूढ़ नहीं रहते हैं। प्रतीकात्मक चेतना के दूरारूढ़ नहीं रहने से पूरी जीवन-गाथा तन्मय होकर ढुलक पड़ती है। विशेषतः लोकगीतों की प्रेम-भावना में लोक-जीवन का विशिष्ट आकर्षण देखने योग्य है। लोकगीत में प्रणय-सम्बन्धों का सहसमुखी कमल दल इसी प्रकार की सहज प्रतीक-योजन से खिल पड़ते हैं। इसका एक उदाहरण देना ठीक होगा।

एक अवधी लोकगीत में लवैंगा को वियोग-व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है। इस गीत की मूल चेतना केवल इस बात पर सजीव बनी हुई है कि 'लवैंगा' आधी रात को खिल पड़ा है।* इस गीत-रचना का भाव है कि घर के पीछे लौंग की बगिया है और लौंग के फूल आधी रात को खिलते हैं। प्यारा प्रियतम कहीं दूरसे आकर उसी बगिया में लौंग की खिली कलियाँ चुन रहा है। घर के भीतर से प्रेयसी का भाई अपने बहनोई को नहीं पहचानने के कारण बाहर निकलता है और आने का कारण पूछता है। उसकी बहन अपने भाई को मान जाने को कहती है—कि तुम्हारे बहनोई वह हैं, उन्हें डाँटो नहीं, तुम्हारे फूल मैं जुड़ा दूँगी।

इस गीत में लौंग के फूल को एक प्रतीक का रूप दिया गया है। लौंग के फूल तुरही की तरह होते हैं। ये तुरही की शक्ल के फूल जैसे पति के आने के शुभ संवाद के रूप में बज उठते हैं। दूसरी बात यह है कि ये फूल आधी रात होने पर खिलते हैं। इससे यह संकेतात्मक ध्वनि उठती है कि प्रेयसी आधीरात तक वियोग में जगी पड़ी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऐसे गीतों में जितना गहरा संकेत मिलता है, अन्यत्र देखने को भी मिलना दुर्लभ है। भावाभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए लोक गीतों की ऐसी प्रतीक-योजना और मार्मिक जीवन-व्यञ्जना अत्यन्त आवश्यक है।

हिन्दी की नई कविता में लोकगीत के ऐसे प्रभाव-

---

* मोरे पिछवारे लवैंगिया की बगिया,
लवैंगा फूलै आधी रात।
तेहितर उतरे हैं दुलहा दुलरुवा,
तोरहिं लवैंगवा के फूल।
भितरा ते निसरे हैं बेटी के भैया,
हाथे धनुष मुख पान।
कस तुह आये मोर दरबजवा,
तोरहु लवैंगवा के फूल।
भितरा ते बोली बेटी छुलाछनि,
हथवा गजरा मुख पान।
जनि भैया डाँटौ आपन बहनोइया,
फुलवा मैं दे हौं बटोरि।

पूर्ण भाव-रूप खूब मुखर बने हैं। नई गीत-रचनाओं में कजरी, फाग, चैतावर तथा अन्य प्रकार के जनगीतों की धुन सुनाई पड़ती है। हिसावरी पूनो में जो अन्तर्वेद के गीत अपनी माधुरी लेकर लोक-कण्ठ में उभरने लगते हैं, ठीक वैसे गीतों की ही अनुगूँज पाकर हिन्दी में भी बहुत कविताएँ गढ़ी गई हैं। मुक्तक, फ्रीवर्स और सॉनेट में भी लोकगीतों के बन्द पर ठेठ सामाजिक यथार्थ को उभारने के लिए हिन्दी के नए कवियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। यही कारण है कि नई कविता की सम्भावनाएं अकूत हैं।

विभिन्न जनपदों के लोक-कण्ठ में बसने वाले लोकगीत हिन्दी की नई कविता पर छा गए हैं। बहुजन के कण्ठ में जिस सम्मोहन के साथ गीतों की रौ उठती है, ठीक उसी प्रकार की रौ केदारनाथ अग्रवाल, शिवमङ्गलसिंह 'सुमन', नागार्जुन, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, महेन्द्र भटनागर, रांगेयराघव, रामविलास शर्मा आदि में देखी जाती है। इन रचनाकारों के काव्य-कृतित्व में एक प्रकार की भावना-बहुल भाषा का प्रयोग हुआ है, जिससे आने वाली पीढ़ी के कृतित्व में नई रचना-शक्ति के तेज आलोड़न के उतरने की सम्भावना बढ़ गई है।

'अज्ञेय' ने अपनी कविता में लोकभाषा का प्रयोग धड़ल्ले से किया है। उनके कई अच्छे गीत भी हैं, जिनमें लोकगीत का सुर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। हिन्दी की नई कविता को लोक-साहित्य के जीवन-रस से अनुप्राणित करने के लिहाज से अज्ञेय का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु एक बात उनके साथ यह कही जाती है कि वह व्यक्ति-मन की कुण्ठा और मानसिक वर्जनाओं के आस्फालन से कभी मुक्त नहीं हो पाते। फिर इतनी सचाई है कि जहाँ भी वह यौन-विकृतियों से उबरे हैं, उनकी कविता में जान आ गई है। फूल कचनार के' तथा 'यह बसन्त की बदली आकर कहीं बरस ही जाय' आदि गीत खूब बन पड़े हैं। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य-कृतित्व में लोकगीत का प्रभाव एकदम स्पष्ट है। 'काटो, काटो करेंवी' और 'मारो, मारो हँसिया' तो लोक-समाज के दैनिक क्रिया-कलाप की टेक पर ही आगे बढ़ते हैं। 'हवा हूँ हवा में बसन्ती हवा हूँ' केदारनाथ अग्रवाल की मास्टरपीस रचना है। इस गीत में उन्होंने लोकगीत छन्द का सहारा लिया है। 'सरसों' के सयानेपन का किस्सा कहते समय भी वह लोकगीत की बड़ी मधुर ध्वनि ढाल देते हैं। रामविलास शर्मा का यह कथन एकदम सच है, 'अगर कविता में धरती की गन्ध आ सकती है, तो यह गन्ध केदार की कविताओं में आती है।' ('प्रगति और परम्परा'—पृष्ठ १३३) मुक्तछन्द की रचनाओं में भी 'जीवन का अनोखा ठाठ' रच देना केदार की अपनी विशेषता है। उनकी इस विशेषता के भीतर लोकभाषा का प्रवेश है, जो ग्रामीण लोक-जीवन का आयतीकरण करना चाहता है। 'खेत का दृश्य' शीर्षक कविता भी लोकगीत के बोधात्मक उदात्तीकरण से पूरित हो उठी है।*

शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' का स्थान प्रगतिशील रचनाकारों में अन्यतम है। उन्होंने ब्रजभाषा के मधुर शब्दों के माध्यम से लोकगीत के आस्थापरक प्रेम-सम्बन्धों को बड़ी मार्मिकता से हेर दिया है। 'आज की साँझ सलोनी बड़ी मनभावनी री' उनकी बड़ी गीत-

---

* आसमान की ओढ़नी ओढ़े
धानी पहने
फसल घंघरिया
राधा बनकर धरती नाची
नाचा हँसमुख
कृषक संवरिया !
माती थाप हवा की पड़ती
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया
जीभर फाग पखेरू गाते
ढरकी रस की
राग गगरिया !
—केदारनाथ अग्रवाल ('नयापथ' दिस. ५५)

प्रबन्ध रचना है, जिसमें मेघमय प्रकृति के परिपार्श्व में प्रेयसी की विरहाकुल चेतना का बड़ा सजीव अङ्कन हुआ है। 'ताल तलैया भरे चहुँओर' का स्वर कुछ इतना ऊँचा है कि वह लोकगान से भी आगे उठ-उभर जाता है। 'मैं अकेला और पानी बरसता है' में भी कवि ने अपनी मनःस्थिति की अभिव्यञ्जना की है, जिसका पूरा-पूरा संश्लेष ब्रज के लोकगीत से ग्रहण किया गया है।

नागार्जुन मैथिली और हिन्दी दोनों ही को समान रूप से अपनी प्रतिभा का दान देते रहे हैं। मैथिल जनपद के लोकगीत जितनी मधुराई लेकर उठ सकते हैं, उससे कहीं अधिक मधुराई लेकर नागार्जुन की कविता में लोकगीत उठ आए हैं। कविता के माध्यम से ही उन्होंने गीतात्मक भावधारा को लिरिकल बनाया है। 'सिन्दूर तिलकित भाल' में ग्रामीण जीवन की स्मृतियाँ लोकगान की विभिन्न कड़ियों की तरह उठती हैं। व्यंग्य करने के लिए भी नागार्जुन लोकगीत का टेर देते हैं, इसका स्पष्ट उदाहरण है 'नाक तेरी फाँक जैसी, गाल तेरे गोल रे। पतले हैं होठ तेरे, बोल अनमोल रे।' 'प्यार के दो बोल सुनने के लिए' जब वह तरसते रहते हैं, तब लोक-समाज की अबाध्य गीतमयता का ही सहारा लेकर वह घण्टों में बोल उभारते हैं। 'पूष मास की धूप सुहावन' क्या कम गीतात्मक है?

त्रिलोचन ने अवधी के लोकगीतों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। उनके सोनेट और छन्दयुक्त गीतों में भी ये लोकगीत डबडबाकर ढुलक आए हैं। नामवरसिंह ने एक दम सच कहा है कि त्रिलोचन की प्रतिभा का गहरा चमत्कार इस बात में निहित है कि उन्होंने सानेट जैसे मुश्किल काव्य-रूप में भी लोकगीतों का आयतीकरण किया है। 'माली के छोकरे, माली के छोकरे' त्रिलोचन का सबसे अच्छा और मार्मिक गीत है।* इसके अलावा उनके ढेर-से गीत और सानेट हैं, जिनमें लोकगीत की ध्वनि जन-चित्त में धँसती चली गई है। समाजवादी यथार्थवाद को थोड़ा सप्राण और मुखर बनाकर व्यञ्जित करने के लिए लोकगीत की आत्मा से आत्मीयता स्थापित करने में त्रिलोचन का अपना विशिष्ट ढङ्ग है। उनकी कविता में धरती के बेटों की ठेठ दैनिकी के सभी जीवन-पक्षों का अङ्कन हुआ है, इसे कोई नकार नहीं सकता। 'सतपुड़ा के घने जङ्गल' और 'पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री' जैसे स्फूर्तिप्रद गीत-रचना करने वाले भवानीप्रसाद मिश्र नई कविता के एक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। बात कहने का उनका अपना ढङ्ग है, उनके भावों और विचारों का अलग विन्यास है।

महेन्द्र भटनागर की कविता में वातावरण के परस्पर सम्पर्क से जो आस्थापरक आवेश उभरता है, उसे गीतात्मक गति से आगे बढ़ाने में जनगीतों का स्वर उठता है और अबाध्य फैले लोक-समाज के मुख पर सपनों का नया रङ्ग निखार देता है। उनकी कविता के छान्दसिक बोल किसी आर्द्र-भाव को व्यक्त नहीं करते। अगर वह आर्द्र-भाव है भी तो नैराश्य और शैथिल्य की परिधि से बरी है। उसकी तरङ्गी

(शेष पृष्ठ ४६२ पर)

---

* माली के छोकरे, माली के छोकरे,
फूल मुझे लादे बेले के।
बेल का कलियों के गजरे बनाऊँगी,
पाँच-पाँच लड़ियों के गजरे बनाऊँगी
हाथों में कगन गले बांच हार,
बालों में होगी लहरिया बहार,
पूनम शरद की रात आज आई है,
फूल मुझे लादे बेले के।
चली गईं मेरी सखियाँ सहेलियाँ,
फूलों से भर-भर आई हैं बेलियाँ,
छूटे घरौंदे छूटा गुड़ियों से प्यार,
छूट गए खेल-खिलौने अपार,
पूजा की साध आज मेरे मन जागी है
फूल मुझे लादे बेले के।
—त्रिलोचन (ज्ञानोदय, अक्टूबर ५४)

कर्नाटक का दास वांग्मय

[श्री टी० श्रीनिवास]

सारे भारतवर्ष में, मध्ययुग में भक्ति का आन्दोलन चला। तत्कालीन राजनैतिक दबावों के कारण लोगों की मानसिक स्थिति, प्रवृत्तिमार्ग से हटकर निवृत्ति मार्ग की ओर जा रही थी। इसके फलस्वरूप देश भर के कई भक्ति-पंथों का उदय हो रहा था। कर्नाटक में तेरहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक, शैव तथा वैष्णव भक्ति-परम्पराएँ चलीं।

वैष्णव भक्ति-पद्धति के प्रवर्तकों तथा पोषकों को 'दास' नाम से पुकारते है। इस दास परम्परा में सर्व श्री नरहरिदास, श्री पादराय, वादीराज तीर्थ, पुरन्दरदास कनकदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लगभग इसी समय उत्तर भारत में सगुण तथा निर्गुण भक्ति-शाखाओं का उदय हो रहा था। देश, भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से कितनी ही भिन्नताएँ क्यों न हों परन्तु भक्ति-तत्त्व की गहराई में पहुँचकर, हम दोनों शाखाओं में एक सुन्दर समभाव का रसास्वादन कर सकते हैं।

मुक्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं; ज्ञान, कर्म और भक्ति। मध्ययुगीन साहित्यकारों ने भक्ति को मुक्ति के लिए सर्वग्राह्य माना। भक्ति करना किसी को सिखाया नहीं जाता। भक्ति आत्मा की पुकार है। मनुष्य युग-धर्म से अथवा किसी महात्मा से प्रेरणा पाकर अपनी आत्मा में अहेतुक प्रेमानुभूति पाता है। उस समय वह अपने आराध्य देव के प्रति अपनी सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने जीवन को भी समर्पण करने को तैयार हो जाता है। मध्यकालीन भक्तों के हृदय में भक्ति की इस चरमावस्था के दर्शन मिलते हैं।

दासकूट के भक्त वैष्णव भक्त थे। इन्होंने राम और कृष्ण को आलम्बन बनाकर अपने हृदय के उद्गारों को गीतरूप देकर गाया। हिन्दी साहित्य में कबीर जैसे निर्गुणोपासक भक्त मिलते हैं। किन्तु दासकूट के भक्तों में निर्गुणोपासक नहीं थे।

कर्नाटक में दासकूट के प्रवर्तक कौन थे इस विषय पर मतैक्य नहीं। कुछ लोग श्री नरहरिदासजी को इसका प्रवर्तक मानते हैं। किन्तु निम्नलिखित एक पद के आधार पर श्री पादराय को इस श्रेय का पात्र मानना पड़ता है।

"नमः श्री पादराजाय। नमस्ते व्यासयोगिने
नमः पुरन्दरार्याय। विजयार्य ते नमः।"

इस प्रकार कहकर सबसे पहले श्री पादराय की स्तुति की गयी है।

श्री पादराय का समय पन्द्रहवीं शती का मध्यकाल था। लगभग इसी समय के आस-पास हिन्दी साहित्य के भक्त श्रेष्ठ सूरदासजी का उदय हुआ था इन दोनों भक्तवरेण्यों ने भगवान श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों की स्तुति की है। भक्ति के क्षेत्र में इन दोनों की पहुँच लगभग एकसी थी। दोनों ने अपनी अपनी भाषा में भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित बालकृष्ण की लीलाओं को छोटे छोटे गीत बनाकर गाया है। श्री पादराय के भ्रमरगीत, वेणुगीत, गोपीगीत, आदि गेय रचनाएँ हैं। सूरदासजी के भ्रमरगीत, मुरली-माधुरी आदि के समान ही ये भी भक्ति तत्त्व का बोध कराती हैं!

श्री पादराय के उपरांत, व्यासराय ने दास परम्परा का पोषण किया। पुरन्दरदास, कनकदास आदि व्यासराय के शिष्योत्तम हुए। व्यासराय के इन शिष्यों ने दास-कूट को भक्ति की चरमावस्था तक पहुँचाया।

पुरन्दर दास-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ भक्तों में एक माने जाते हैं। इनका जीवन-काल सोलहवीं शताब्दी के बीच का है। सोलहवीं शताब्दी कन्नड साहित्य का

स्वर्णयुग माना जाता है। इसका अधिक श्रेय निस्सन्देह पुरन्दरदास को ही मिलना चाहिए। सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य भी अपने उत्कर्ष पर था। सूरदास, तुलसीदास, जायसी आदि श्रेष्ठ भक्तों के स्वानुभवमूलक तथा आध्यात्मिक चिन्तन से युक्त ऊँचा साहित्य इस समय का मिलता है। इस समय के भक्तों ने अपने गृहीत भक्ति मार्ग को बहुत ऊँचा उठाया। पुरन्दर ने कोई प्रबन्ध रचनाएँ नहीं कीं, जो कुछ भी गाया 'पुरन्दर-विट्ठल' के नाम से ही गाया। साहित्यिक दृष्टि से आँकने पर पुरन्दर और तुलसी में कोई साम्यता दिखाई नहीं पड़ती। तुलसी की लगभग सभी रचनाएँ प्रबन्ध रचनायें थीं। मगर भक्ति की उत्कटता में दोनों को समान स्तर पर देखते हैं। दोनों आरम्भ में भगवान के सामने अपने अदम्य अपराध को स्वीकार करते हैं। पुरन्दर ने एक जगह पर "अपराध वेनगिल्ल अपराधिनानल्ल" कह कर अपनी निर्दोषिता का परिचय दिया है। किन्तु भक्ति की यह महोन्नत दशा है। भक्त की यह दशा अवर्णनीय है। स्वयं भक्त भी अपने को इस समय भूल जाता है। अतः पुरन्दर के उक्त वाक्यों में अनुभूति की सत्यता नहीं है। अन्य जगहों पर इन्होंने अपने अपने अपराधों को स्वीकार किया है। अपराधों की कीचड़ से मुक्त होने के लिए भगवान का दर्शन करना चाहते हैं। परंतु भगवान इतनी सस्ती चीज तो नहीं है कि किसी की आकांक्षा होते ही सामने आ जाय। इसके लिए अलौकिक प्रेम और भक्ति की आवश्यकवा होती है। सर्वार्पण के विना प्रेम और भक्ति असम्भव है। पुरन्दरदास ने सर्वप्रथम अपनी सारी सम्पत्ति, अपना परिवार, घर-द्वार आदि सब कुछ त्याग दिया। अनासक्त योग से इनको इष्ट सिद्धि की प्राप्ति हुई। तुलसीदासजी श्री रामचन्द्रजी के 'मङ्गल स्वरूप' का चित्रकूट में साक्षात्कार कर के कृतार्थ हुए। उसी प्रकार पुरन्दर को भी भगवान ने स्वप्न में अपना दिव्य स्वरूप दिखा दिया। 'कण्णारे कंडेनच्युतन, कण्डु-कण्डु कै बिडुवरे' अर्थात् "आँखों से भगवान को देखा" देख फिर भी फिर मुझे छोड़ दोगे क्या ? आदि जगहों पर इस बात की पुष्टि मिलती है। इष्टदेव का सान्निध्य पा कर दोनों भक्तों ने अमरता प्राप्त की। पुरन्दर और तुलसी के इस समन्वित स्वरूप के अन्दर एक सूक्ष्म भिन्नता है। पुरन्दर अपने इष्टदेव के दर्शन शीघ्र न होने के कारण खीझ कर उपालम्भ देने लगते हैं। परन्तु तुलसीदास अपने लोक मङ्गल-स्वरूप श्री रामचन्द्रजी के ऊपर भूल कर भी असन्तुष्ट नहीं होते।

अपने पूर्वकालीन जीवन में दोनों भक्त लौकिक जीवन की रुचि ले चुके थे। इसी कारण सांसारिक जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक-सा है।

धार्मिक जीवन के क्षेत्र में तुलसी ने परम्परागत संस्कारों को ग्राह्य समझा। लेकिन पुरन्दर ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के सामने जो कुछ भी दीख पड़े उसकी कटु आलोचना की। उनको वर्णाश्रम तथा कुलाचार सम्बन्धी विचारों पर कुछ भी आस्था नहीं थी। "आवकुलवादरेनु आवनदोनु, कुलविल्ल आनिगालिगे" आदि जगहों पर इनके इस स्वरूप के दर्शन पाते हैं। इनका भाव कबीरदास के निम्नलिखित दोहे से मिलता-जुलता है—

"जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥"

समाज के प्रति कबीर और पुरन्दर के विचार मिलते-जुलते हैं। किन्तु दोनों के भक्ति-पन्थ अलग-अलग थे। कबीर निराकर ब्रह्म के उपासक थे और और पुरन्दर साकार ब्रह्म के।

पुरन्दर ने सांसारिक जीवन से बाहर रह कर भी उसकी निन्दा नहीं की। "ईसबेकु इर्दु जैसबेकु, मानव जीवन दोड्डदु, संसार वेबंन भाग्य विरलि" (अर्थात् लौकिक जीवन को तैर कर पार करना चाहिए, मनुष्य का जीवन बड़ा है—पारिवारिक जीवन रूपी भाग्य बना रहे) आदि छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा अपने इस अभिमत को व्यक्त किया है। पारिवारिक जीवन के प्रति श्रद्धा, रामचरित मानस में, तुलसी ने भी दिखाई है।

पुरन्दर के कुछ ही समय के बाद भक्तों की श्रेणी में श्री वाहिराज तीर्थ हुए। इनका समय १५५० है। ये जितने ऊँचे भक्त थे उतने ही साहित्य के जानकार भी।

लगभग इसी समय के आस-पास भक्त वरेण्य कनकदासजी ने कर्नाटक में जन्म लिया। वे सभी धर्मों के सारग्राही परम भक्त थे। भक्ति के प्रति इनकी विचारधारा में परिवर्तन होता रहा। कुछ लोग इनकी विमर्शा करते वक्त इनको साम्प्रदायिक व्यक्ति ठहराते हैं। किन्तु यह बात तर्क शून्य है। वास्तव में कनकदास काल, देश और धर्मों से परे एक भाव जीवों के सर्वमत समदर्शी थे। इनकी समदर्शी भावना, एकान्त-भक्ति, नीतिधर्म का बोध और बाह्याचार तथा संकुचित मनोभावों के प्रति खण्डन आदि हिन्दी साहित्य के निर्गुण पन्थी भक्त कबीरदासजी की याद दिलाते हैं। लेकिन कनक कबीर के समान निर्गुणवादी नहीं थे। इनकी कई प्रबन्ध रचनाएँ हैं। जैसे "हरिभक्ति सार", 'रामधान चरित्र', 'नलचरित्र', 'मोहन तरङ्गिनी' आदि। ये सब षटपदी सांगत्य की रचनाएँ हैं। ये हरि भक्ति करते समय नाम विशेष को ले कर झंझट में नहीं पड़ते थे कभी कृष्ण की स्तुति तो कभी राम, विट्ठल, रंग आदि की। यहीं इनकी समदर्शी भावना की थाह मिलती है। पुरन्दर और अन्य दास भक्तों की रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का बहुत कम परिचय मिलता है। लेकिन कनक ही एक ऐसे परम भक्त हुए जिनकी कृतियों में पौराणिक कथा के द्वारा तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्रण मिलता है। उन्होंने लौकिक पक्ष को लेकर भी चिरन्तन भक्ति सन्देश को प्रवाहित किया। कनकदास उपमा और रूपकों द्वारा भावों को गढ़ने में सिद्धहस्त हैं। सूरदास के समान कहीं-कहीं सम्पूर्ण कीर्तन को रूपकों द्वारा रच डाला है।

जैसे तुलसी के बाद भी उत्तर-भारत में भक्ति-पंथ की एक अटूट धारा प्रवाहित होती रही, उसी तरह पुरन्दर और कनक के बाद भी वैष्णव-भक्ति का श्रोत कुछ दिनों तक दक्षिण भारत में लगातार बढ़ता रहा। उन सभी भक्तों का केवल नाम मात्र लेने से कई पृष्ठ भर जायेंगे। अतः 'दासकूट' की भक्ति-पद्धति की सामान्य विशेषताओं को संक्षेप में बता कर इस लेख को समाप्त करेंगे।

इन भक्तों का उद्देश्य अपने उपास्य देव की महिमा को घर-घर तक पहुँचाना था। इसलिए सभी भक्तों ने तत्कालीन लोक-भाषा को ही अपनाया। इन्होंने नीति-धर्म की शिक्षा द्वारा देश में एक नया चैतन्य पैदा कर दिया। भाषा की सरलता इनकी एक विशेषता है। हर एक ने अपने पदों में विष्णु की महिमा, भक्ति की श्रेष्ठता, विरक्ति की आवश्यकता, संसार की असारता, बाह्याडम्बरों की निरर्थकता आदि का वर्णन किया है। सभी भक्तों ने स्वान्तः सुखाय ही रचनाएँ कीं। सभी पहले भक्त थे बाद में कवि। हरिदास साधारणतः मध्व मत के अनुयायी थे और इनका गृहीतमत द्वैतमत था। लेकिन इस कारण से इनके साहित्य को द्वैत सिद्धान्त का मान बैठना इनको सही देखना नहीं है। कर्नाटक के इन दास भक्तों की रचनाओं में सुव्वादि, आभोग, कीर्तन, आदि मुख्य हैं। ये भाव-गीत के ही एक रूप हैं। कीर्तन, ताल, लयबद्ध होता है। आखिरी में दास का नाम अङ्कित रहता है। साहित्यिक भाषा से अनभिज्ञ लोगों को मानो इन कीर्तनों ने सङ्गीत रूप धारण करके, अमृत रस पिलाया।

हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भी उक्त सभी विशेषताएँ समान रूप से पायी जाती हैं। सिर्फ छन्द के सम्बन्ध में विवाद है। हिन्दी में रचना करने वाले भक्तों ने दोहा, चौपाई, आदि छन्दों को लिया। सूर का सूरसागर गीति-रचना है। ये कीर्तनों से मिलती-जुलती है।

प्राचीन कवियों तथा भक्तों की, अपने बारे में कुछ न कहने की प्रथा सी चल पड़ी है। फलस्वरूप इन भक्त कवियों की जन्म-तिथि तथा जन्मस्थान के बारे में ठीक-ठीक जानना मुश्किल है।

एक विशाल दोहा संग्रह—'दूहा-सार'

[श्री अगरचन्द नाहटा]

हिन्दी राजस्थानी, गुजराती, पञ्जाबी आदि प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में दोहा बहुत ही प्रसिद्ध छन्द है। अपभ्रंश काल से वह प्रारम्भ हुआ और छोटे से छन्द में एक पूरी बात कह देने की क्षमता रखने वाला होने से उसका प्रचार भी अत्यधिक हुआ। छन्द ग्रंथों में दोहा छन्द के अनेक भेद हैं। जैन कवि राजसोम ने अपने 'दोहा चन्द्रिका' ग्रन्थ में उसके ४४ भेद और उसके लक्षण और उदाहरण दिए हैं। राजस्थानी में तो दोहा-दूहे सबसे अधिक पाए जाते हैं। सैकड़ों कवियों ने दोहे बनाए, जिनके उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलते हैं, उनमें से कुछ प्राप्त हैं पर बहुत से भुला दिए गए हैं। फिर भी बीस हजार राजस्थानी दोहे बड़ी सुगमता से संग्रह किए जा सकते हैं। इनकी दो विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो चारण कवियों के दोहों में 'वैण सगाई' बहुत ही महत्त्व की है। दूसरी अनेक दोहों में जिन व्यक्तियों को सम्बोधित करके वे कहे गए हैं या जिन्होंने कहे हैं उनके नाम भी दोहों के अन्तिम चरण या अन्तिम शब्द में पाए जाते हैं। बहुत से दोहे तो कहावतों के रूप में प्रचलित हो गए हैं। कुछ कहावतों के पादपूर्ति के रूप भी बनाए गए हैं। उनकी चर्चा का यहाँ स्थान नहीं है यह तो एक थीसिस का विषय है।

राजस्थानी हिन्दी में दोहों के अनेक संग्रह भी मिलते हैं जिनमें से सतसई संग्रह सातसौ छन्दों का संग्रह तो बहुत प्रसिद्ध है। हाल रचित गाथा सतसई से उनकी परम्परा चली आ रही है। दोहा-शतक और दोहा-बावनी आदि छोटे संग्रह भी मिलते हैं। पर अभी तक ७०० या १००० दोहों से अधिक दोहों का कोई संग्रह-ग्रन्थ जानने में नहीं आया था। पर हाल ही में १७०० दोहों का एक संग्रह 'दूहासार' नामक ग्रन्थ की एक प्रति अवलोकन में आई जिसका आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि दोहासार समुद्धृत्य, क्रियते भावसंग्रहम्।
सर्वं ज्ञान दानाय, शिवदम् सुखं मोक्षदम्॥
असुर-कदन, मोहन मदन, वदन चंद रघुनंद।
सीया सहित बसियो सुचित, जय जय मय आनंद॥
नैन निकट काजर बसे, पय दरपन दरसाय।
ज्यों साधन सब संग निज, नाहिन आज उपाय॥
जगत जनायो जिह सकल, सो हरि जान्यों नाहि।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँख न देखी जाय॥
सब ही घट में राम है, ज्यों गिरसुत में गोत।
ज्ञान गुरू चकमक विना, कैसे परगट होत॥
हेतिय को पईयतु नहीं, करीयत बहुत उपाय।
जैसे अपने देहि की, छाँह गही नहीं जाय॥

इस ग्रन्थ के रचयिता का आदि अन्त में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वैसे इसमें अनेक कवियों के दोहे संग्रहीत हैं। उन कवियों के नाम बीच-बीच में आते हैं। जैसे तुलसी, शिवदास, वाजिद, समन, दादू, जमला आदि। इससे यह एक संग्रह ग्रन्थ सा प्रतीत होता है। पर जैसा कि प्रथम श्लोक में इसका उद्देश्य विविध भावों का संग्रह कर बतलाया है। तदनुरूप भावों में विभक्त करके यह ग्रन्थ तैयार किया गया है। इसमें बहुत से दोहे संग्रहकार के खुद के होंगे। पर उसने अपना परिचय नहीं दिया। सारे दोहों को पढ़ने पर सम्भव है विशेष नामों व उल्लेखों पर विचार करने पर संग्रहकर्ता का नाम व्यक्त किया जा सके। अन्त में ग्रन्थ की रचना का सूचित दोहा इस प्रकार है—

सतरह सो बीसो तरे, मास चैत्र गुरूवार।
शुक्लपक्षी. द्वितिया तिथौ, रचो जो दूहा सार॥

इसमें आए हुए ५४ विषय यानी भावों की सूची आगे दी जा रही है। सं० १८६१ चैत्र वदि २ के

दिन लिखी हुई इनकी गुटकासार संग्रह की प्रति अभी मेरे सामने है—उसी के आधार से यह परिचय दिया गया है—

परमार्थ साधुभाव दोहा ७२, वय संधि दोहा ७१, जोवन भाव २, अङ्गभाव ४१, अलख भाव २५, तिल भाव २७, नेण भाव २६, शृंगार भाव ४०, चेष्टा भाव १५, नेण लगन भाव ६५, नेण मिलण भाव १४, नेण बाण भाव १३, नेण गज भाव १७, मन गज भाव ४, मन सिकार भाव १५, प्रेम लगन भाव १३१, संभोग भाव २१, संजोग भाव ३२, अनख भाव ४, मान भाव ६२, रस तर्क भाव ७६, विछुरन भाव २६, नायका विरह भाव १९१, नेण विरह भाव २२, नायक विरह भाव १०, साधारण विरह भाव ८०, सुमन भाव ११, मिलन भाव २४, मन प्रकृति भाव १३, अविवेक भाव १, सज्जन भाव २६, दुर्जन भाव १५, कपट भाव ७, शठ भाव ७, शिक्षा भाव ९२, ज्ञान भाव ७, प्रस्ताव भाव २१६, फुटकर भाव ३९, ऋद्धि वर्णन भाव ६, वाय वर्णन भाव ४, बसन्त भाव १३, हास्य भाव ५, चातक भाव १९, चकोर भाव ९, भ्रमर प्रसङ्ग भाव २१, पतङ्ग भाव ६, चन्द्रोवित्त भाव ७, कर्म भाव २, मन विश्वास भाव ८, गूढ़ार्थ भाव १९, चौबोला भाव १४, विरोध भाव ४, हर लीला भाव १२ और वैराग्य भाव ४८।

(पृष्ठ ४८८ का शेषांश)

हौंस भविष्य की नई मुखाकृति को स्पष्ट करने में तन्मय है। महेन्द्र ने प्रेयसी के 'कुंकुम' को उड़ते देखकर उसके विराट् छविपट को उरेह दिया है, जिसके मूल में लोक-जीवन की रस-स्निग्ध गीतमयता है।

रांगेय राघव की ढेर-सी रचनाओं में लोकगीतों का सबल सशक्त मनोवृत्त हैं। 'आज झुके रघिया पपीहा के बोलन, आये हाय बीरन महेश वे अमोलन' उनकी बड़ी तगड़ी गीत-रचना है। इस कविता में उन्होंने लोक-जीवन के वैषम्यमूलक यथार्थ को स्वर दिया है। जनमुक्ति की मङ्गल-कामना से प्रेरित होने के कारण उनकी कविता हर क्षण लोकगीतों का प्राणमय उत्स हेरती चलती है।

रामविलास शर्मा ने सानेट में लोकगीत के छन्द को अपनाया है। 'सीतू-सीतू' करके बयार में बहने की ध्वनि स्फुट-परिस्फुट होकर रामविलास को कविता में लोकगीत के रूप में ढलती चली गई है। उनकी कविता की प्रधान विशेषता जीवन की नई अपराजेय आभा को उरेहने में है।

इन कवियों और रचनाकारों के अलावा नई पीढ़ी के और भी ढेर-से कवि हैं। नई पौध इस दिशा में बड़ी तीव्रता से आगे बढ़ रही है। लोकमत के सारे भाव-रूपों को जुदा लकीरों पर अभिव्यञ्जित करने के लिए हिन्दी की नई पीढ़ी एकदम सचेष्ट है। शम्भुनाथसिंह, नरेश मेहता, केदारनाथसिंह, रामदरश मिश्र, हरिनारायण मिश्र, विद्यावती कोकिल, नामवरसिंह, वीरेन्द्र मिश्र, वंशीधर पंडा, ठाकुर प्रसादसिंह, रमानाथ अवस्थी, राजनारायण बिसारिया, धर्मवीर भारती आदि कवि इस दिशा की ओर बड़ी सशक्तता से अभियान कर रहे हैं। सच तो यह है कि लोकगीत की सहस्रमुखी पुष्कल महिमा पाकर ही नई कविता में नई कोंपलें लख पड़ रही हैं, जिनका आगामी विकास तीव्र आवर्तनों को पाकर उठ-उभर जाने की आकुलता में है। नई कविता को लोक-समाज के वार्ता-तत्त्व और गीत-प्रवण जीवन-स्रोतों का रस मिलते रहना चाहिए जिससे काव्य-चेतना के नए-नए और आरक्त प्राण-बीज फल-फूल सकें।

पद्मावत : एक परिशीलन

[डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्०]

भारतीय साहित्य में भाष्य अथवा टीका की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इतिहास साक्षी है कि अनेक भाष्य मूल ग्रन्थों से अधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। व्याकरण शास्त्र के क्षेत्र में पतञ्जलि का महत्त्व पाणिनि की अपेक्षा और काव्य शास्त्र के क्षेत्र में अभिनव गुप्त का महत्त्व भरत अथवा आनन्दवर्धन की अपेक्षा किसी तरह कम नहीं है। काव्य के क्षेत्र में भी जब मल्लिनाथ यह गर्वोक्ति करते हैं कि कालिदास की भारती मृतप्राय पड़ी हुई थी, मैंने ही उसको सञ्जीवनी प्रदान की है तो हम इसे मिथ्या अहङ्कार नहीं मान सकते। टीका की यह परम्परा संस्कृत में अक्षुण्ण रही। हिन्दी में गद्य के अभाव के कारण इसका लुप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं था किन्तु फिर भी उत्तर मध्य युग के कवि पण्डित अपने अत्यन्त सीमित साधनों से इसका पोषण करते रहे, 'रामचरितमानस' तथा 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएँ इसका प्रमाण हैं। द्विवेदी युग में आकर हिन्दी गद्य के विकास के साथ टीका की परम्परा का भी पुनरुत्थान हुआ और लाला भगवानदीन, पडित पद्मसिंह शर्मा, कविवर रत्नाकर, पंडित रामेश्वर भट्ट तथा श्री वियोगी हरि जैसे समर्थ साहित्यकारों ने अपनी व्याख्याओं द्वारा केशव, बिहारी और तुलसी आदि के काव्य मर्म का अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उद्घाटन किया।

इसके उपरान्त पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी में आलोचना की ऐसी बाढ़ सी आगई कि टीका की क्षीण धारा, जो कि शताब्दियों से लुकती छिपती किसी-न किसी रूप में बहती आयी थी, अचानक तिरोहित हो गई। मैं यहाँ आलोचना का तिरस्कार नहीं कर रहा किन्तु टीका साहित्य के अभाव को निश्चय ही हिन्दी का दुर्भाग्य मानता हूँ।

ऐसी परिस्थिति में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल रचित पद्मावत की सञ्जीवनी व्याख्या निश्चय ही हिन्दी के इतिहास में एक घटना है। पद्मावत हिन्दी साहित्य का अति गम्भीर आकर ग्रन्थ है और व्याख्याता का गौरव भी मूल के अनुरूप ही है। काव्य वैभव की दृष्टि से ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक समृद्धि तथा भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी पद्मावत हिन्दी साहित्य का अक्षय रत्नकोष है। उधर भाष्यकार का व्यक्तित्व भी काव्य, संस्कृति और भाषा शास्त्र तीनों के ही गहन अध्ययन से व्युत्पन्न है। अतएव मेरी धारणा है कि उसे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल से अधिक अधिकारी व्याख्याता मिलना कठिन ही था। जैसा कि भाष्य लेखक ने स्वयं कहा है, जायसी का काव्य अन्य काव्यों की अपेक्षा कहीं अधिक क्लिष्ट है। उस कठिनाई के कई कारण हैं—सबसे बड़ी बाधा तो उसकी भाषा की ही है। एक तो वह अत्यन्त प्राचीन भाषा है और दूसरे अपने युग की जनभाषा। प्राचीन होने के कारण वह हिन्दी भाषा के वर्तमान रूपों से बहुत दूर है और जन भाषा होने के कारण उसमें विगत चार शताब्दियों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि आज के अवधी भाषी के लिए उसके अनेक प्रयोग सर्वथा अपरिचित बन गए हैं। दूसरी प्रमुख बाधा है जायसी की अतिशय प्रसङ्गगर्भा शैली। जायसी का जीवनानुभव अत्यन्त समृद्ध और उनकी अन्वीक्षण दृष्टि अत्यन्त प्रखर थी। सभी समर्थ कवियों की भाँति उन्होंने अपनी इस बहुज्ञता का पूरा-पूरा उपयोग किया है और उनकी शैली की लपेट में शत सहस्र ऐसे प्रसङ्ग आ गए हैं जो तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन के तो अभिन्न अङ्ग थे किन्तु आज प्रायः लुप्त हो चुके हैं। अनेक प्रकार की प्रथायें, अनेक प्रकार की शिल्प विधायें, अनेक प्रकार

के रीति विश्वास जो तुलसी युगीन भारत अथवा तुलसी पूर्व भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अत्यन्त जीवन अनुभव रहे होंगे, जायसी की अभिव्यञ्जना में सहज रूप में घुलमिल गये हैं। उस युग के अथवा किसी भी युग के प्रामाणिक सांस्कृतिक इतिहास के न होने से आज के साहित्यशोधक के लिए वे सर्वथा अज्ञात हैं। तीसरी कठिनाई है सांकेतिक और पारिभाषिक शब्दावली की। जायसी सिद्ध सूफी सन्त थे। इस्लाम, सूफी मत और इधर अपने युग में प्रचलित अनेक सम्प्रदायों से उनका घनिष्ठ परिचय था। स्वभावतः इन सभी की सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग उन्होंने अपने आध्यात्मिक काव्य में सचेष्ट रूप से किया है। इन सम्प्रदायों और इनमें प्रचलित अनेक साधना-पद्धतियों, रीति-रिवाज, पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य रहस्यात्मक संकेतों का आधार आज बहुत कुछ लुप्त हो चुका है। ऐसी स्थिति में इन रहस्यवीथियों में भटक जाना आज के साहित्यकार के लिए सहज सम्भव है और अन्त में, काव्य की दृष्टि से भी व्यञ्जना प्रधान होने के कारण पद्मावत के अमृत सरोवर तक पहुँचना प्रायः असम्भव ही है। यही कारण है कि पद्मावत का अध्ययन आज तक अपूर्ण ही रहा है। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रबल प्रशस्ति तथा मार्मिक भूमिका का बल उसे प्राप्त है और पिछले तीस वर्षों से उसका अध्ययन अध्यापन भी विधिवत् चल रहा है। इसका प्रमाण प्रस्तुत व्याख्या की भूमिका में उधृत कतिपय पाठ भेदों और अर्थ भेदों का सामान्य अवलोकन मात्र करने से मिल सकता है। उदाहरण के लिए केवल एक प्रसङ्ग पर्याप्त होगा। पद्मावती के जन्म का प्रसङ्ग है। शुक्लजी ने तत्सम्बन्धी अर्धाली का पाठ किया है—

चम्पावति जो रूप संवारी,
पद्मावति चाहै औतारी।

किन्तु डा० वासदेवशरण ने उसे ग्रहण न कर डा० माताप्रसाद गुप्त का यह पाठ स्वीकार किया है—

चम्पावति जो रूप उतिमाहां,
पदुमावति कि जोति मन छाहां।

और इसकी आगे की पंक्ति 'मैं चाहै असि कथा सलौनी' के आधार पर उसका इस प्रकार अर्थ किया है :—

वस्तुतः यहाँ जायसी ने अपनी कल्पना सोना साफ करने की प्रक्रिया से ली है।

शुद्ध सोने में जब शुद्ध चांदी का मेल हो जाता है तो वह सोना ओखा हो जाता है। स्वर्ण को आभूषण मुद्रा आदि के रूप में लाने के लिए ऐसा करना आवश्यक भी है। सोने का मैल रूपा है। उस मैल को निकाल कर पुनः शुद्ध सोना बनाने के लिए सोने को सलोनी नामक मसाले के साथ १८, २० बार आग में तपाते हैं। यह प्रक्रिया सलोनी करना कहलाती है। (आईन अकबरी, आईन ७) चम्पावती रूप में उत्तम आभावाली शुद्ध रूपा या चांदी के समान है। पदमावती रूपी शुद्ध ज्योति स्वर्ण के समान है। उसकी छाया चम्पावती के मन में पड़ी अर्थात् वह मातृकुक्षि में आई। दोनों का यह सम्मेलन ऐसे हुआ जैसे शुद्ध सोना चांदी के साथ मिल जाने से शोधनीय बन गया हो। पदमावती का माता के उदर में दस मास रहना, यही उसकी सलोनी प्रक्रिया है। विधाता का यही विधान है। आत्म ज्योति को प्रतिबिम्बित होने के लिए मातृ घट में आना ही पड़ता है।

मेरा विश्वास है कि उपर्युक्त एक उद्धरण ही यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा कि जायसी के विषय में कितनी भयंकर भ्रान्तियाँ रही हैं। विद्वान लेखक ने आचार्य शुक्ल के पाठ को ग्रहण न कर उपलब्ध अधिक से अधिक पांडुलिपियों के आधार पर डा० माता प्रसाद गुप्त के पाठ को ही अपेक्षाकृत प्रामाणिक माना है। उनका तर्क है कि क्लिष्टता के कारण ही जायसी के मूल पाठ में परिवर्तन होता रहा। प्रत्येक लिपि कारक अपनी बुद्धि के अनुसार क्लिष्ट प्रयोगों को सरल बनाता रहा। यहाँ तक कि

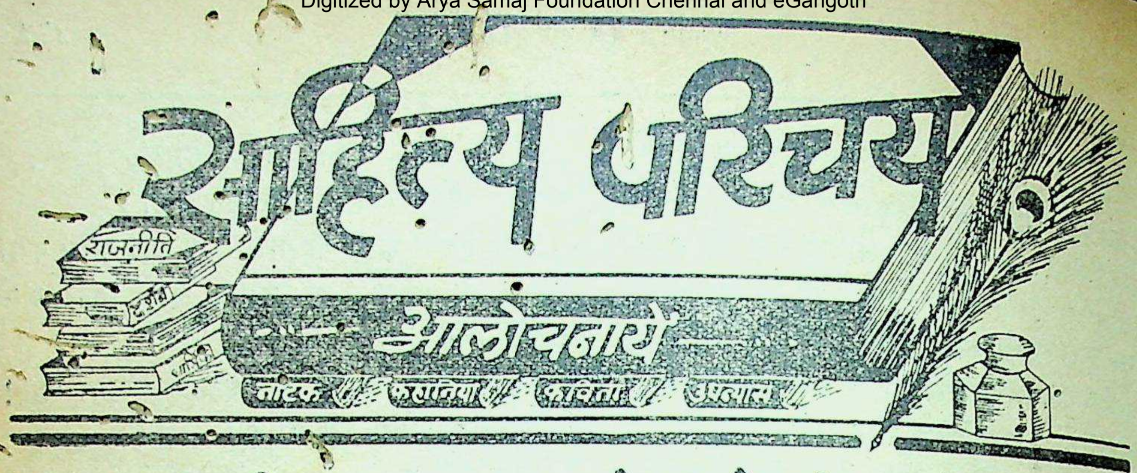

आलोचना

मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)—लेखक—श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, विद्यामन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर। पृष्ठ २३४, मूल्य ५)

इस पुस्तक में लेखक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि "ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली काव्य-भाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा" और "ग्वालियर और बुन्देलखण्ड की भाषा को ही उस समय काव्यभाषा का टकसाली रूप माना जाता था।"

इस स्थापना को सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि पहले "ग्वालियर और बुन्देलखण्ड की भाषा" का रूप समझा जाय, उसके व्याकरण और मूल शब्द भण्डार का अध्ययन किया जाय। फिर यह दिखलाया जाय कि उस समय की काव्यभाषा अर्थात् सूर, तुलसी, केशव, बिहारी आदि की भाषा है और वह किस तरह ब्रज में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न है। ब्रज और बुन्देलखण्डी का तुलनात्मक अध्ययन सूर-तुलसी आदि की काव्यभाषा का व्याकरण और मूल शब्द भण्डार की दृष्टि से विश्लेषण, बुन्देली तथा ब्रज से काव्यभाषा की तुलना—उपर्युक्त स्थापना को सिद्ध करने के लिए यह सब करना आवश्यक होगा।

दुर्भाग्य से लेखक ने यह सब नहीं किया। भाषा-विज्ञान के धरातल पर उसने इस समस्या का अध्ययन ही नहीं किया। इसलिये उसकी मूल स्थापना भी असिद्ध ही रह जाती है। यही नहीं, खड़ी बोली (हिन्दी) के विकास के पहले साहित्य में उसके पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने के पहले अनेक जनपदों की भाषाओं में जो साहित्य-रचना होती रही है उस जनपदीय भेद को भुला देने की प्रवृत्ति भी लेखक में विद्यमान है। उदाहरण के लिये उसका कहना है, "ग्यारहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक की मध्यकालीन हिन्दी भाषा को ब्रजभाषा कह लीजिए, अवधी कह लीजिये, भाषा

शुक्लजी के समय तक आते आते उसमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया और स्वयं शुक्ल जी ने विवेक के आधार पर सरल पाठ को ही ग्राह्य मान लिया। सामान्यतः इस तर्क को ग्रहण करने में थोड़ी कठिनाई होती है। और शुक्ल जी के प्रति श्रद्धामय पक्षपात के कारण आरम्भ में मेरे मन में भी यह बात नहीं जमी किन्तु डा० अग्रवाल की व्याख्या इस प्रकार के सन्देह का निराकरण सहज ही कर देती है और पाठक के सामने जैसे पद्मावत के अपूर्व सौन्दर्य रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है। क्या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से और क्या भाषा विज्ञान की दृष्टि से व्याख्याता ने मानो एक नया भण्डार हिन्दी के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार का अतलदर्शी गम्भीर अध्ययन केवल हिन्दी के लिए ही नहीं हमारे देश के साहित्य के लिए वरदान है। इस प्रकार के ग्रंथों का सहृदय समाज आकर ग्रन्थों के रूप में अध्ययन करेगा और निश्चय ही राष्ट्रभाषा में विद्या का मानदण्ड ऊँचा उठेगा।✻

✻ पद्मावत की यह टीका साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुई है। बड़े आकार के ७८२ पृष्ठ हैं। मूल्य है १५)। पुस्तक किसी भी पुस्तकालय की शोभा बढ़ावेगी और विद्वानों का रञ्जन करेगी।

कह लीजिये, चाहे हिन्दवी या हिन्दी कह लीजिये; महत्त्वपूर्ण बात है उसकी रूप परम्परा को समझने की।" सवाल एक वस्तु को विभिन्न नामों से पुकारने का नहीं है, सवाल है विभिन्न वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने का, उनकी विभिन्नता और समानता के विश्लेषण का। रामचरितमानस और कवितावली की भाषा की रूप परम्परा एक ही नहीं है।

लेखक ने ग्वालियर के सांस्कृतिक महत्त्व की ओर उचित ध्यान आकर्षित किया है। पुस्तक ग्वालियर के इस महत्त्व पर ही लिखी जाती तो बहुत सी अवैज्ञानिक कल्पनाओं की आवश्यकता न पड़ती। लेकिन लेखक का उद्देश्य ग्वालियर और बुन्देलखण्ड की भाषा को काव्यभाषा का टकसाली रूप सिद्ध करना है। इसलिए उसे इस तरह की स्थापनाएँ करनी पड़ी हैं जैसे कि जिन्होंने "मथुरा-गोकुल की बोली के रूप को अपनाया", उसमें "साम्प्रदायिक आग्रह" था। अकबर हिन्दुओं की स्वातन्त्र्यभावना से डरता था, इसलिए पुष्टिमार्ग को प्रोत्साहन देता था क्योंकि "हिन्दुओं के नैतिक स्खलन की जो भावना इसमें थी, उसमें मेवाड़ के राणाप्रताप जैसे मुगल सल्तनत के शूल अधिक उत्पन्न नहीं हो सकते थे।" इस दृष्टि से सूर का साहित्य नैतिक स्खलन नहीं तो उसकी सम्भावना का साहित्य जरूर ठहरता है! इस तरह के दृष्टिकोण से न तो साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है, न भाषा का।

जहाँ तक ग्वालियर के सांस्कृतिक महत्त्व का प्रश्न है, उस सबन्ध में यहाँ काफी रोचक सामग्री एकत्र की गई है, इसमें सन्देह नहीं।— डॉ० रामविलास शर्मा

हिन्दी-जैन-साहित्य परिशीलन—लेखक-श्री नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २५८, मूल्य २।।)

अभी तक जैन साहित्य का समुचित परिशीलन नहीं हो पाया है। सच तो यह है कि अधिकांश जैन साहित्य अभी तक प्रकाश में ही नहीं आया है। जो जैन ग्रन्थ छपे हैं, वे साम्प्रदायिक संस्थाओं के द्वारा ही छपे हैं और साहित्य संसार में उनकी गणना साम्प्रदायिक साहित्य में हो जाने से विद्वानों की उस ओर से उदासीनता रही है। यद्यपि यह भूल ही रही है, फिर भी इसमें दोष स्वयं जैनियों का अधिक रहा है जिन्होंने अपने ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का उद्योग करने के बजाय उन्हें छिपाने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में सात अध्यायों में विद्वान लेखक ने विषय का विभाजन किया है। पहले अध्याय में प्राचीन काव्य साहित्य की चर्चा करते हुए जैन-काव्य-साहित्य की स्थिति बताई है। जैन-साहित्य में जो खण्डकाव्य या कथा काव्य हैं उनका परिचय दिया है। दूसरे अध्याय में जैन गीति-काव्य का परिचय दिया गया है जिससे विदित होता है कि अध्यात्म-विषयक जैन-गीति-काव्य तद्विषयक किसी भी काव्य से टक्कर ले सकता है। अगले तीन अध्यायों में ऐतिहासिक गीति-काव्य, आध्यात्मिक रूपक काव्य और अन्य फुटकर काव्यों की चर्चा है। छठवें अध्याय में महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक की चर्चा है जो आत्म-कथा काव्य में सबसे प्राचीन और बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। अन्तिम अध्याय में जैन कवियों द्वारा रचे रस, अलङ्कार, पिङ्गल और कोश ग्रन्थों की चर्चा है। इस प्रकार इस पुस्तक में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की चर्चा हो गई है जिनके नाम अन्त में अनुक्रमणिका में देदिए गए हैं। परिशिष्ट में प्रमुख ग्रन्थकारों का परिचय भी दिया गया है। हिन्दी-जैन-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

शिवपूजन रचनावली—लेखक-श्री शिवपूजन-सहाय, प्रकाशक–बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। पृष्ठ ४१८, बड़ा आकार, सजिल्द, मूल्य ८।।)

बिहार के गण्यमान्य साहित्यिकों और हिन्दी के पुराने कर्णधारों में बाबू शिवपूजनसहाय का स्थान बहुत ऊँचा है। वे ऐसे तपस्वी हैं जिन्होंने तड़क-भड़क से दूर रह कर, एकान्त साधना से हिन्दी की अनवरत सेवा की है। उनका आदर बिहार में बड़ी निष्ठा के

113016

साथ किया जाता है। उनकी साहित्य-सेवा किसी भी लेखक के लिए सम्मान की वस्तु हो सकती है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद के आप प्रारम्भ से ही मन्त्री हैं और जिस लगन और योग्यता से आपने अल्प काल में ही उसको एक जीवित और जागरूक संस्था बना कर हिन्दी की अमूल्य सेवा की है, उसकी प्रशंसा सभी लोग करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आपकी तीन पुस्तकों का संग्रह है—बिहार का बिहार, विभूति और देहाती दुनियाँ। तीनों पुस्तकें अपने समय में ही यथेष्ट आदर अर्जन कर चुकी हैं।

प्रेमचन्द का गोदान—लेखक-श्री जितेन्द्रनाथ पाठक, प्रकाशक-सरस्वती मन्दिर, बनारस। पृष्ठ १६०, मूल्य २।)

प्रेमचन्द आज हिन्दी जगत् का वह देदीप्यमान नक्षत्र है जिसकी ओर सब की दृष्टि है। कोई परीक्षा ऐसी नहीं जिसमें प्रेमचन्द की कोई पुस्तक न हो। कोई आलोचक ऐसा नहीं जिसने किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द की चर्चा न की हो। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने प्रेमचन्द के जीवन और उनकी रचनाओं की आलोचना करते हुए विस्तार से 'गोदान' उपन्यास की चर्चा की है। विद्यार्थियों के काम की चीज है।

संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद—लेखक-श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ २४१, मूल्य ३)

इस पुस्तक में तीन अध्याय हैं। पहले में संस्कृत के १६ महान आचार्य लेखकों के ग्रन्थों से काट-छाँट कर उन श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें आयुर्वेद सम्बन्धी बातें आगई हैं या जिनसे यह प्रकट होता है कि संस्कृत के इन आचार्यों का आयुर्वेद की बातों का भी इतना ज्ञान था। तीसरे अध्याय में आयुर्वेद शास्त्र के रचयिताओं की कृतियों में साहित्य की चर्चा को खोजा गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि इन आचार्यों का साहित्य शास्त्र का भी इतना ऊँचा ज्ञान था। बीच के तीसरे अध्याय में साहित्य ग्रन्थों में वर्णित वनस्पतियों की चर्चा विषयक श्लोकों का सङ्कलन किया गया है। पुस्तक पढ़ने से साहित्य और आयुर्वेद दोनों का आनन्द मिलता है और यह प्रकट होता है कि लेखक ने कितने परिश्रम से इस सब सामग्री का सङ्कलन किया है।

भारतीय संस्कृति को गोस्वामीजी का योगदान—लेखक-डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, प्रकाशक-नागपुर विश्व विद्यालय। पृष्ठ ६५, मूल्य २)

विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में बड़े अच्छे ढङ्ग से यह सिद्ध किया है कि भारतीय संस्कृति को गोस्वामीजी ने अपनी कृतियों द्वारा विशेष कर रामचरित मानस द्वारा ऐसी एक देन दी है जो अपनी शानी नहीं रखती। पुस्तक बड़े महत्त्व की है। अपने स्कूल कालेजों में ऐसी पुस्तक पढ़ाई जायँ तो हमारा नैतिक स्तर निश्चय ही ऊँचा हो।

भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास—लेखक-श्री हरिदत्त वेदालङ्कार। पृष्ठ १८७, मू० ३॥)

भारतीय संस्कृति का सम्यक ज्ञान कराने के लिए इधर कई प्रयत्न हुए हैं—कई पुस्तकें लिखी गई हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी दिशा में लिखा गया एक सफल प्रयत्न है। इसमें वैदिक साहित्य, महाकाव्य और पौराणिक युग, भारतीय-दर्शन और जैनधर्म और बौद्धधर्म तथा भक्ति प्रधान हिन्दू-धर्म की चर्चा द्वारा भारतीय संस्कृति के विकास की चर्चा की है। गुप्तकाल, राजपूत काल तथा मुस्लिम काल की संस्कृति की भी चर्चा है। भारतीय शासन-प्रणाली, भारतीय कला, भारतीय शिक्षा-पद्धति—सभी का वर्णन है। अन्त में भारतीय संस्कृति की विशेषता वर्णित है। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है।

प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण—(दूसरा खण्ड)—सम्पादक-डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना। पृष्ठ २६०, मूल्य २॥)

बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद अन्य अनेक उपयोगी कार्यों में हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का भी एक

काम कर रही है। उसके द्वारा खोज कार्य की यह दूसरी रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। इस रिपोर्ट में गया के मन्नूलाल पुस्तकालय में और पटना के चैतन्य पुस्तकालय में स्थित पोथियों का परिचय दिया गया है। प्रत्येक पुस्तक का इतना विवरण दिया गया है जिससे उसका संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। अन्त में दी गई अनुक्रमणिका और परिशिष्ट खोज करने वालों के लिए बहुत उपयोगी साबित होंगे।

कविता

मेघदूत—लेखक–श्री नारायणसिंह भाटी, प्रकाशक–पीथल प्रकाशन, कचहरी रोड, जोधपुर। पृष्ठ १४०, मूल्य २॥)

संस्कृत साहित्य में ही क्या समग्र काव्य-साहित्य में महाकवि कालिदास के मेघदूत का मूर्द्धन्य स्थान है। इसके बीसियों अनुवाद हो चुके हैं। हिन्दी में ही लगभग एक दर्जन अनुवाद तो हमारे समक्ष आ चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इसी काव्य को राजस्थानी भाषा में रूपान्तर किया गया है। पहले काव्य पर कवीन्द्र रवीन्द्र ने जो कविता बँगला भाषा में लिखी थी उसे भावानुवाद सहित दिया है, फिर काव्य की महत्ता पर विचार किया गया है। तदुपरान्त संस्कृत काव्य और उसका गद्यानुवाद और राजस्थानी में पद्यानुवाद दिया गया है। राजस्थानी कविता भावपूर्ण है और उसमें मूल कविता का प्रायः सम्पूर्ण भाव आ गया है।

मधुमय—लेखक–श्री बजकिशोरनारायण, प्रकाशक–किताबघर, पटना। मूल्य २॥)

नारायणजी के कुछ मुक्तक छन्दों का करिश्मा इस पुस्तक में देखते ही बनता है। प्रत्येक पृष्ठ सजीव, सचित्र और सुन्दर है। पृष्ठों पर रेखाङ्कित सुन्दर चित्र और उनका एक-एक छन्द है। चित्र भावपूर्ण और कविता प्रेममय है।

अन्तराल—लेखक–श्री महेन्द्र भटनागर एम. ए., प्रकाशक–युवक साहित्यकार सङ्घ, धार। (म० भा०), पृष्ठ ८०, मूल्य १)

श्री भटनागर उन्नतमना लेखक और प्रगति शील कवि हैं। आपकी जितनी कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं सभी से आपकी योग्यता और कल्पना शीलता का परिचय प्राप्त होता है। प्रस्तुत पुस्तक में आपकी कुछ कविताओं का संग्रह है जिनमें भावुकता और प्रगति शीलता दोनों का अद्भुत संयोग है।

यवनिका—लेखक–अर्चना, प्रकाशक–साहित्यालय, अजमेर। पृष्ठ १२०. मूल्य २)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने अपने हृद्गत भावों को 'जिन्हें एकान्त क्षणों में कभी काव्य, कभी चित्रकला और कभी सङ्गीत की स्वरलहरी में बाँधा या साधा करता है' संग्रह किया है। सचमुच भावों का अच्छा उन्मेष है। प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर है।

नाटक

अ-पूर्व बँगला—लेखक–बी० बी० वरेरकर, अनुवादक–श्री र० श० केलकर एम. ए., प्रका०–आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६। पृष्ठ ७७, मूल्य १)

इस नाटक का सम्बन्ध १९४६ में नोआखली (बङ्गाल) में हुए उपद्रवों से है और यह लिखा गया है मराठी में। हिन्दी-अनुवाद भी एक मराठा सज्जन ने किया है पर अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि उसमें अनुवाद की गन्ध भी नहीं आती। सारे नाटक में एक जमींदार परिवार का चित्रण है। यह चित्रण—पहले अङ्क में—जहाँ अजित अचानक इस परिवार में पहुँच कर अपने आप मँगनी का प्रस्ताव करता है—कुछ अस्वाभाविक-सा हो गया है। परिवार के मुखिया जगदीश का चरित्र बहुत घृणित दर्शाया गया है। उपद्रवी लोग उसकी माँ, बहिन और स्त्री को उसकी उपस्थिति में पकड़ कर ले जाते हैं और जगदीश किवाड़ बन्द करके अपनी जान की रक्षा करता है और फिर "आत्मानं शततं रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि।" के शास्त्र वाक्य का आश्रय लेकर अपने धर्मात्मापन का ढोंग रचता है। पड़ोस के करीम नामक व्यक्ति का चरित्र बहुत सुन्दर है जो इस परिवार की रक्षा की चेष्टा अन्त तक करता है, अपनी जान हथेली पर रख कर करता है। उसके प्रयत्न से

जगदीश की बहिन और संयोग से जगदीश की मां और स्त्री फिर घर-पर आ जाती हैं पर धर्म का ढोंग रचने वाला जगदीश उन्हें धर्म भ्रष्ट बताकर फिर घर से निकाल देता है। नाटक का सबसे अच्छा अंश उसका अन्तिम अङ्क है जहाँ एक वेश्या के रूप में बैठी जगदीश की स्त्री और उसकी माँ के पास जगदीश आकर मिलता है। नाटक से उस समय के बङ्गाल की दशा का तो पता चलता ही है, जगदीश के रूप में ढोंगी धर्मात्माओं का भी स्वरूप भली प्रकार सामने आ जाता है।

राजनीति

(क्वेकरदल रूस में—सम्पादिका—कैथलीन लौन्सडेल, अनु०—डा० मनोरञ्जनप्रसाद गुप्त, पुस्तक-भण्डार पटना। पृष्ठ १६८, मूल्य ६।)

१९५१ में क्वेकर लोगों के एक दल ने रूस की यात्रा की थी। इस पुस्तक में उसी यात्रा का वर्णन है। ईसाइयों के एक सम्प्रदाय विशेष का नाम क्वेकर है। इनका दल अपना एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण लेकर रूस गया था। उसका उद्देश्य रूस और ब्रिटेन में सद्भावना उत्पन्न करना था। इधर भारत के अनेक शिष्टमण्डल रूस जा चुके हैं और वहाँ से भारत भी आ चुके हैं। दोनों देशों में मैत्री और सद्भावना बढ़ी है। साथ ही सोवियत संघ में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं। इसलिए इस पुस्तक की बहुत सी बातें शायद बहुत से पाठकों के लिए अब मौलिक सिद्ध न हों और बहुतों के बारे में उन्हें इस पुस्तक से अधिक जानकारी भी हो। फिर भी इस पुस्तक का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है और इससे बहुत सी ज्ञातव्य बातों का पता चलेगा।

पच्छिमी देशों में क्वेकर दल से जो सोवियत-सम्बन्धी प्रश्न किये गये, उनसे पता चलता है कि इन देशों में सोवियत-विरोधी प्रचार कितने दिन से और किस स्तर पर किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए लोगों ने उनसे पूछा, क्या आप लोगों ने कभी किसी को मुस्कराते देखा? क्या आप लोगों से वार्तालाप करने के पूर्व लोग चारों ओर यह देख लेते थे कि कौन सुन रहा है? क्या यह सच है कि सभी रूसी नंगे पाँव रहते हैं? (पृ० १२९)। वर्षों तक जो सोवियत-विरोधी प्रचार किया गया था, उसकी छाप इन प्रश्नों पर स्पष्ट है। झूठा प्रचार—सही आलोचना नहीं—द्वेष और युद्ध को जन्म देता है। क्वेकर दल ने इस द्वेष-भावना को दूर करने के लिए प्रशंसनीय कार्य किया है।

सोवियत संघ में क्वेकर दल एक गिरजाघर की उपासना में शामिल हुआ था। दल के एक सदस्य पौल केथरी ने उस उपासना के बाद अपनी डायरी में लिखा था "इसके पूर्व मुझे सर्वव्याप्त ईश्वर की उपस्थिति का इतना निकट ज्ञान कभी नहीं हुआ था और न भविष्य में फिर कभी होने की आशा है।" ऐसा रूस के एक गिरजाघर में क्यों हुआ? वास्तव में इसका कारण रूस की नयी मानवता है। कैडबरी को ईश्वर के दर्शन इसी मानवता में हुए। पुस्तक में आगे लिखा है "क्वेकर लोग प्रायः भावुक नहीं होते किन्तु रूसी लोग तो भावुक अवश्य होते हैं। फिर भी जब वे इन लोगों के हाथों को स्नेह से मसलते थे और चुम्बन लेते थे, तब हममें से कितनों का हृदय आत्मग्लानि से भर उठता था और आँखें सजल हो उठती थीं।" (पृ० ३७)। आत्मग्लानि का कारण क्या था? कारण वह द्वेष-पूर्ण प्रचार था जिसने अंग्रेज जनता को सोवियत रूस से घृणा करना सिखाया था। गिरजाघर से चलते समय का वर्णन यों किया है "हम लोग उनके बीच से बड़ी कठिनाई से बाहर हुए। उस समय हम लोगों की भावनाएँ आलोड़ित हो चुकी थीं और हम लोग अत्यन्त द्रवित हो उठे थे।" मानव-सहानुभूति कितनी व्यापक है और वह मानव-कल्याण के लिए कितनी बड़ी शक्ति बन सकती है, वह इन शब्दों से प्रकट है।

अपने देश से वहाँ के साहित्य की तुलना करते हुए क्वेकर दल ने लिखा है—"पुस्तकों की दूकानें हत्या एवं अपराध की सस्ती कथाओं से भरी हुई नहीं हैं।" (पृ. ६७)

113016

क्वेकर दल को यह बात पसन्द थी कि ब्रिटेन और अमरीका में जो लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हैं, उनकी आलोचना की जाय। फिर भी उनका कहना है कि "इस शान्ति आन्दोलन के पीछे शान्ति की सच्ची आकांक्षा एवं सच्ची सम्भावना विद्यमान है जिसकी उपेक्षा करना न तो उचित है और न बुद्धिमानी" (पृष्ठ १५२)। इस सम्बन्ध में भारतीय जनता की धारणा और भी दृढ़ और स्पष्ट है। यदि इसी प्रकार संसार के विभिन्न देशों में परस्पर विश्वास बढ़े और उनके बीच से द्वेष की दीवारें हटा दी जायँ तो मानव-जीवन अधिक सुखी हो और युद्ध की विभीषिका का भी अन्त हो जाय। —डॉ० रामविलास शर्मा

स्फुट

दतिया-दर्शन—सम्पादक-श्री हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, प्रकाशक-विन्ध्य प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दतिया। पृष्ठ ९५, मूल्य १)

विन्ध्य प्रादेशिक सम्मेलन के दतिया अधिवेशन के समय इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। इसमें ४७ लेख संग्रहीत हैं जो विभिन्न लेखकों के लिखे हुए हैं। इनमें कुछ कविताएँ भी हैं। पुस्तक से दतिया के साहित्यिक और ऐतिहासिक तथा सामाजिक महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐसी ही पुस्तकें और स्थानों के सम्बन्ध में भी निकल जायँ तो वे संक्षेप में वहाँ के गजेटियर का काम देंगी।

चीनी भाषा स्वयं-शिक्षक—लेखक-श्रीगौरीशङ्कर द्विवेदी, प्रकाशक-नया साहित्य मण्डल, मच्छोदरी पार्क, काशी। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। आज ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है, जिनके द्वारा विदेशी भाषाओं का ज्ञान हो सके। दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क तेजी से बढ़ रहा है। उनकी भाषाएँ सीखना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। इसी दृष्टि से इस पुस्तक का हम स्वागत करते हैं।

प्राप्ति-स्वीकार

कातिल—लेखक-के० डी० पागल, प्रकाशक-श्री सत्यदेवप्रसाद, उषा मन्दिर, समस्तीपुर। पृष्ठ ६८, मूल्य ||=) लेखक की रोचक कहानियों का संग्रह है।

सोमलता—लेखक-श्री सत्यमित्र विद्यालङ्कार, प्रकाशक-हिन्दी परिषद, निवारी। पृष्ठ ६२, मूल्य १)

लेखक की ४१ फुटकर कविताओं का संकलन है। कोई-कोई कविता काफी अच्छी बन गई है।

कलाकार का दर्पण—लेखक-श्री इन्द्रियदमन 'कौशिक', प्रका०-हिन्दी-साहित्यकार-संसद, दिल्ली ६, पृष्ठ ८०, मूल्य ३)

लेखक की १७ कविताओं का संग्रह। निरालाजी और मैथिलीशरणजी पर भी कविताएँ हैं। मूल्य देख कर डर लगता है।

प्रणतपाल—लेखक और प्रकाशक-श्री शास्त्र करण, मा० देवराज उपाध्याय, रियाजमञ्जिल, सरदारपुरा, जोधपुर। पृष्ठ ७३, मूल्य लिखा नहीं। लेखक की कविताओं का संग्रह है।

अलङ्कार, पिङ्गल और रस—लेखक-श्री हरिमोहनलाल श्रीवास्तव एम० ए०, प्रकाशक-साहित्य-भण्डार, दतिया। पृष्ठ ३२, मूल्य |=)

सन्नाटा—लेखक-श्री प्यारेलाल आबारा, प्रकाशक-रूपसी प्रेस एवं प्रकाशन, बाई का बाग, इलाहाबाद ३। पृष्ठ १२७, मूल्य २||)

उपन्यास है, जिसे हम किसी दृष्टि से भी पसन्द नहीं कर पाए।

राजस्थानी बाताँ (कहानी) और राजस्थानी गीत (कविता)—लेखक-श्री पुरुषोत्तमलालजी मेनोरिया, प्रकाशक-स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी, जोधपुर। पृष्ठ ३२ व ६४, मूल्य |=) व ||=) दोनों सुन्दर छपी और पठनीय पुस्तकें हैं।

आधुनिक समीक्षा (निबन्ध)—लेखक-डॉ० देवराज, प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली। पृ० १४६, मूल्य ४||)

आदर्श माता-पिता—लेखक-सावित्रीदेवी वर्मा अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ ६०, मूल्य १|)

शिव दोहावली—ले०-श्री गोविन्दराम बहोला, हिन्दी विद्यापीठ, गंगोह (सहारनपुर)। पृ. २६, मू. |=)

'सस्ता-साहित्य-मण्डल' का चुना हुआ साहित्य अवश्य पढ़िये और अपने यहाँ रखिये

निबन्ध, कथा, उपन्यास

१. कल्पवृक्ष—वासुदेवशरण अग्रवाल २)

भारतीय संस्कृति का दर्शन कराने वाले निबन्ध।

२. साहित्य और जीवन—

बनारसीदास चतुर्वेदी २)

जीवन और साहित्य का कितना सम्बन्ध है, इसका बोध कराने वाले विचार-प्रेरक निबन्ध।

३. अशोक के फूल—हजारीप्रसाद द्विवेदी ३)

शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास आदि विषयों पर विचारपूर्ण निबन्ध।

४. लोक-जीवन—काका कालेलकर ३॥)

ग्राम-सेवकों के लिए धार्मिक एवं सांस्कृतिक भित्ति पर मननीय निबन्ध।

५. जीवन-साहित्य—काका कालेलकर २)

समाज, संस्कृति एवं धार्मिक पर्वों पर रोचक तथा ज्ञान-वर्द्धक निबन्ध।

६. रूप और स्वरूप—

—घनश्यामदास बिड़ला ॥≈)

चार विवेचनात्मक निबन्ध।

७. पञ्चदशी—सम्पादक यशपाल जैन १॥)

उच्चकोटि के विद्वानों, विचारकों एवं साहित्यकारों के १५ निबन्ध।

८. महाभारत कथा—राजाजी ५)

महाभारत की कहानियाँ सरस भाषा में, नवीन दृष्टिकोण से।

९. मानवता के झरने—

ग० वा० मावलङ्कर ५)

बन्दी-जीवन की हृदयस्पर्शी घटनाएं।

१०. हमारी लोक-कथाएँ—

सम्पादक-शिवसहाय चतुर्वेदी १॥)

हिन्दी प्रदेश की मनोरञ्जक लोक-कथाएं मूल भाषा में, अर्थ-सहित।

११. मैं भूल नहीं सकता—

कैलासनाथ काटजू २॥)

भावपूर्ण संस्मरण तथा अदालती मामलों की उपन्यास जैसी रोचक कहानियाँ।

१२. तट के बन्धन—विष्णु प्रभाकर २)

सामाजिक जीवन के संघर्षों की झाँकी उपस्थित करने वाला मौलिक उपन्यास।

१३. देवदासी—बोरकर २)

गोआ की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया अत्यन्त भावपूर्ण उपन्यास।

भारतीय परिवार के प्रत्येक शिक्षित एवं सुसंस्कृत व्यक्ति को ये पुस्तकें पढ़नी चाहिए। गर्मी के अवकाश में ये पुस्तकें जरूर पढ़ डालिए।

कृपया पुस्तकें खरीद कर पढ़ने की आदत डालिए। उससे सत्साहित्य को प्रोत्साहन मिलेगा और आपके यहाँ एक चुना हुआ उपयोगी पुस्तकालय बन जायगा। मनुष्य का सर्वोत्तम साथी अच्छा साहित्य है।

उपरोक्त पुस्तकें अपने शहर के पुस्तक विक्रेताओं से खरीदिए। वहाँ न मिलें तो हमें लिखिए। इन तथा अन्य पुस्तकों के लिए एक कार्ड लिख कर हमारा बड़ा सूची-पत्र मँगा लीजिए।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली-१

सं० २०१३ सन् १९५६ ई० की

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

की

प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा की संक्षिप्त विवरण पत्रिकायें

मुफ्त मगायें

नोट—सम्मेलन की सम्पूर्ण विवरण पत्रिका के लिये १।।।) मनीआर्डर से भेजिये।
हिन्दी की सभी परीक्षाओं की पाठ्य तथा सहायक पुस्तकें हमारे यहाँ मिलती हैं।

साहित्य-रत्न-भण्डार

४, गान्धी मार्ग, आगरा।

हमारे कुछ उपयोगी प्रकाशन

१. **नाटक की रूपरेखा** (प्रो० दशरथ झा)—इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य में नाटक के इतिहास का विस्तृत विवेचन है। नाटक का क्रमिक विकास-चार्टों से भी बड़े सरल और सुबोध ढङ्ग से समझाया है। मूल्य २)

प्राचीन कवि और काव्य (प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०)—इसमें भूषण, बिहारी, देव, मतिराम आदि प्राचीन कवियों एवं इनकी रचनाओं पर आलोचना और प्रत्यालोचना है। प्राचीन हिन्दी साहित्य, पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो पर भी प्रश्न उत्तर हैं। एक प्रकरण अलङ्कारों और रसों पर परस्पर तुलना का भी दिया गया है जिसमें इन्हीं कवियों की रचनाओं को जांचा गया है। मूल्य ३)

३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में)** (द्वितीय संस्करण) (प्रो० मनमोहन गौतम एम० ए०)—यह पुस्तक कोई मौलिक रचना नहीं है, केवल उच्च कक्षा के परीक्षार्थियों के लिये तैयार की गई है। उनके अध्ययन को सरल बनाने के लिये हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रश्नों और उत्तरों में प्रस्तुत किया गया है। परीक्षोपयोगी पूरी सामग्री देने के लिये लेखक ने प्रभाकर और साहित्य-रत्न के ही नहीं वरन् इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा, दिल्ली और पंजाब विश्वविद्यालयों के गत कई वर्षों के एम. ए. के प्रश्न-पत्र लिये हैं और प्रश्नों को इतिहास के काल के अनुसार विभाजन कर फिर उनके उत्तर लिखे हैं। सभी प्रश्नों के उत्तर आलोचनात्मक हैं। आधुनिक काल पर विशेष ध्यान रखा है। जहाँ तक हो सका है सभी प्रकार के प्रश्नों का सङ्कलन इसमें किया गया है जिससे इतिहास सम्बन्धी सारी सामग्री एक ही स्थान पर परीक्षार्थी को मिल जावे।

प्रत्येक प्रकार की हिन्दी पुस्तकें मिलने का स्थान—**हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क दिल्ली।**

सूचीपत्र मुफ्त मँगाएं। हमारी पुस्तकें निम्न पते पर भी मिलती हैं :—

साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

REGD. No. A. 265. JUNE 1956. LICENSE No. 15
Sahitya Sandesh, Agra. Licensed to post without Prepayment

हिन्दी के आलोचनात्मक पत्रों में, सर्वाधिक प्रिय और प्रचारित

साहित्य-सन्देश का १८ वें वर्ष में प्रवेश

आधुनिक उपन्यास विशेषांक

* उपन्यासों का स्वरूप

* उपन्यासों का विकास

* उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श

* उपन्यास और मनोविज्ञान

* उपन्यास और दर्शन

* हिन्दी में आधुनिक उपन्यास

* हिन्दी के उपन्यासों और उपन्यासकारों का परिचय तथा आलोचना आदि।

यथार्थ में

उपन्यास के तत्त्वों और उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में सब कुछ इस विशेषाङ्क में होगा। लब्धप्रतिष्ठ तथा प्रमाणिक विद्वानों की लेखनी के प्रसाद के रूप में उपन्यास साहित्य पर विविध निबन्ध तथा ठोस और उपादेय सामग्री तथा प्रत्येक आवश्यक जानकारी इस विशेषाङ्क में आपको मिलेगी।

विशेषाङ्क आवश्यकतानुसार ही छपेगा। अतः अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिये आज ही वार्षिक शुल्क ४) साधारण संस्करण के लिये (जो रफ कागज पर छपा होगा) अथवा ५) विशेष संस्करण के लिये (जो सफेद बढ़िया कागज पर छपा होगा) मनीआर्डर द्वारा भेज कर स्थायी ग्राहक बन जायें। जो अभी रुपया भेज देंगे उन्हें उक्त विशेषाङ्क जिसका मूल्य डेढ़-दो रुपया होगा वार्षिक शुल्क में ही भेज दिया जायगा।

मनीआर्डर भेजने का पता—

साहित्य-सन्देश कार्यालय, साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

नोट—साधारण संस्करण और विशेष संस्करण में केवल कागज का ही अन्तर है। साधारण संस्करण रफ कागज पर और विशेष संस्करण सफेद बढ़िया कागज पर छपता है। जो सज्जन ५) भेजेंगे उन्हें पूरे वर्ष बढ़िया कागज वाला अङ्क मिलेगा। जो सज्जन पूरे वर्ष की फायल रखना चाहें उन्हें विशेष संस्करण ही मँगाना अच्छा रहेगा। हम साहित्य-सन्देश को और उन्नत करना चाहते हैं, अतः हमारा निवेदन है कि हमारे समर्थ ग्राहक ५) का ही मनीआर्डर भेजें। उनके इस सहयोग से हम साहित्य-सन्देश को प्रत्येक दशा में उन्नत कर सकेंगे।

—सञ्चालक

[illegible]चरनलाल ने साहित्य-[illegible] आगरा से प्रकाशित किया।

Compiled
1999-2000

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED